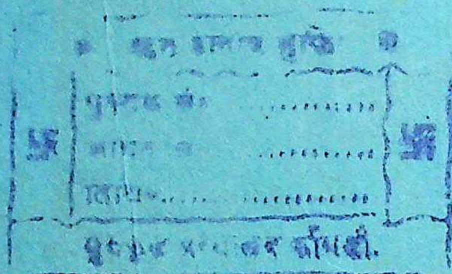
OCHNA

HINDI



LIB. G.K.V.



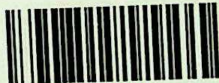


आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह





आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वर्ष १८ : नवांक ८, (पूर्णांक ४५) जनवरी-मार्च १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

ग़ालिब की याद में

जन्म : २७ दिसम्बर, १७९७
मृत्यु : १५ फरवरी, १८६९

'आलोचना' के वार्षिक ग्राहकों को सूचना

डाक विभाग द्वारा इस वर्ष पुनः रजिस्ट्री पैकेट की डाक-दर बढ़ा दिये जाने के कारण रजिस्ट्री से आलोचना के अंक भेजने की दरों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। अब पूर्णांक ४५ से रजिस्ट्री शुल्क सहित वार्षिक चन्दा १५ रुपये होगा। साधारण डाक से 'आलोचना' मँगाने पर वार्षिक शुल्क पूर्ववत् ही होगा।

व्यवस्था विभाग

आलोचना

वर्ष : १८

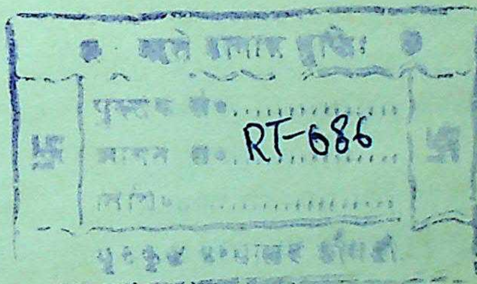
नवांक : ८

जनवरी-मार्च, १९६९

संपादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध संपादक
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६



आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वर्ष १८ : नवांक ८, (पूर्णांक ४५) जनवरी-मार्च १९६९, मूल्य ३.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००

विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी• ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

ग़ालिब की याद में

जन्म : २७ दिसम्बर, १७६७
मृत्यु : १५ फरवरी, १८६९

आलोचना

वर्ष : १८

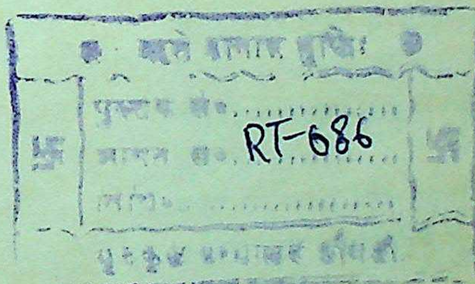
नवांक : ८

जनवरी-मार्च, १९६९

संपादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध संपादक
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६



एक ख़त, ग़ालिब के नाम

कैलाश वाजपेयी

लो फिर से फूट पड़ा लावा
बन्द भाप फट गई
ग़ज़लों की लपटें; छा गईं सर्द आसमान पर।
ख़ून में हरारत
आँखों में पारा भरे हुए
टूट पड़ी दिल्ली तुम्हारे मज़ार पर !
सुनो असद !
मैं एक अदना-सा शायर, या शायद खबरगो
ठीक सौ बरस बाद
तुम्हारे शहर का हाल लिख रहा हूँ !
जहाँ कहीं छोड़ी थी तुमने दिल्ली
दस क़दम आगे है अब तबाही में—
'रोज़ इस शहर में नया हुक्म होता है'
जैसा कुछ हुआ था
अठारह-सौ सत्तावन में
अब वैसा रोज़-रोज़ होता है।
तुम्हारे ज़माने में आया फिरंगी
गया नहीं—घुसकर
रहने लगा है सबके दिमाग़ में
सब सफ़ाखाने कसाईघर हो गए
बीमारियाँ—पैदा होती हैं बाग़ में।
और असद !
मरने के लिए इस शहर में
ज़हर अब ज़रा भी ज़रूरी नहीं रहा
हया ख़त्म हो गई दलबदल के साथ
शायरी करना
मजबूरी नहीं रहा !
शोहरत अब सिर्फ़ लफ़ंगों को मिलती है
यह कहना मुश्किल है
किसकी रोटी किससे चलती है।
तुम कहा करते थे 'बख़्श दो।'
मगर असद,
लोग—ख़ता भी करते हैं धौंस भी जमाते हैं
हर आने वाले मंत्री के साथ
पिछले सब वायदे गुड़ुप हो जाते हैं।
शहर अब ट्यूमर की तरह बढ़ गया है
हर दोस्त, एक घास ढकी खाई है
माँ-बाप, बच्चों से, छुट्टी के दिन सिर्फ़ मिलते हैं
हर ड्राइंग रूम—मुँहफाड़ जमुहाई है।
तुम ख़ुशक़िस्मत थे असद।
तुम्हारे ज़माने में
भीतर की पर्तों में लौटकर
मुमकिन था दर्द का एक रेशमी जाल बुनना
अपनी तकलीफ़ ख़ुद अपने से कहना
ख़ुद सुनना।
मगर सौ बरस बाद आज अब
महीन काम (शायरी) मुमकिन नहीं रहा
भीतर बाहर
इतना उखड़ उधड़ गया है आदमी
कि न ग़लत ग़लत रहा
न सही सही रहा।

१. सोलह फ़रवरी को ग़ालिब शताब्दी समारोह के सिलसिले में आयोजित कविगोष्ठी में पढ़ी गई इस रचना के कुछ अंशों को, आकाशवाणी ने अगले दिन कार्यक्रम प्रसारित करते हुए, आपत्तिजनक मानकर काट दिया।

ग़ालिब : मेरी दृष्टि में

शमशेर बहादुर सिंह

ग़ालिब ख़ुद एक बड़ा हीरो है अपनी व्यापकता के केन्द्र में, जो कि स्पष्ट एक आधुनिक चीज़ है। व्यक्ति का निर्वाध अपनापन। हर बात में अपने व्यक्तित्व को—अपने निजी दृष्टिकोण को सामने रखना। मैं ख़ुद किस पहलू से सोचता हूँ, किस ढंग से महसूस करता हूँ, यह उसके लिए महत्त्व की बात है।

हर बात की तह में जाने की—अपने विशिष्ट तौर पर उसका मर्म समझने की—उसकी कोशिश सर्वत्र प्रकट है।

उसकी मुसीबतें, उसका संघर्ष, जिसको वह कभी छिपाता नहीं···उसके शब्दों में हू-ब-हू आधुनिक-सा लगता है। अजब बात है। उसमें आज के, आधुनिक साहित्यकार की-सी, पूरी तड़प और वेदना के बीच, एक तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि है। उसका यथार्थवाद निर्मम है। मुक्तिबोध और निराला, अपने भिन्न संस्कारों के अस्त-व्यस्त परिवेश में, उसको कुछ-न-कुछ प्रतिबिम्बित करते हैं। निराला का यह प्रिय शेर था—

> **रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल**
> **जब आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।**

क्या ताज्जुब है जो उसके युग ने उसको नहीं पहचाना।

अगलों के काव्य-शिल्प को वह अन्दर से ग्रहण करता है : उस शिल्प की आंतरिक, प्रातिभ, योजना को मात्र शब्दों और मुहावरों को, उनके प्रयोग की रीतियों को, वह उस्तादों के जीवन्त प्रयोगों से ग्रहण करता था, अपने ख़ास तेवर के साथ।

लोगों ने सही कहा है कि जो शख़्स एक अर्से से अंग्रेज़ी अमलदारी और क़ानून-व्यवस्था और नीतियों को निकट से और विचारपूर्ण दृष्टि से देखता आ रहा हो, जो कलकत्ते के वातावरण को भी ख़ासी-अच्छी तरह सूँघ आया हो, वह जीविका के लिए मुग़ल दरबार से बँधा रहकर भी, अपनी चेतना में पिछले युग से कभी जुड़ा हुआ नहीं रह सकता। इस अर्थ में भी ग़ालिब अपने युग में अकेला था।

वह क़सीदे लिखता है तो अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति—जो क़सीदे का बहरहाल आवश्यक अंग है—उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होती। बल्कि अपनी प्रतिभा का ओज, काव्यकला पर अपना पूर्ण अधिकार, अर्थात् क़सीदे की विद्या का सांगोपांग पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करना—अपने समकालीनों को दिखाना : यह होता था उसका काव्यात्मक उद्देश्य।

कुछ जैसे निराला को रवीन्द्रनाथ से होड़-सी रही, ग़ालिब भी पूर्ववर्ती उस्तादों की श्रेणी में सगर्व अपने को रखता था।

कभी-कभी क्या, अक्सर ऐसा लगता है कि वह समाज में, अपने जीवन में, प्राय: हर ओर विरोधाभास देखता है। हर चीज़ एक विडम्बना का भाव लिये हुए होती है। हर वस्तु प्रश्न से चिह्नित। हर बात जो सही सोची जाती है, उलटी निकलती है।···ग़ालिब जैसे खरे और सच्चे लोगों के लिए क्या यही नियति है ? ईमानदारी का कोई मतलब नहीं ? निष्ठा का कोई अर्थ नहीं ? सौन्दर्य और प्रेम का भी अन्त क्या ? सारी व्यवस्थाएँ एक तमाशा जैसी हैं। रीति-नीति, आचार, दर्शन-दृष्टि, लौकिक संबंध···सब।

शायद एक चीज़ जो स्थायी है वह कला है—और वह है ग़ालिब के लिए ग़ालिब की अपनी कला। इस कला के मर्म में स्थित कवि पूर्णतया आश्वस्त निर्द्वन्द्व और अमर-सा दिखता है। कम-से-कम स्वयं को, अपनी दृष्टि में।···और बहुत बाद में हमको भी वह वैसा ही दिखता है।

ग़ालिब का सूफ़ी भाव सूफ़ियों की परम्परा से एकदम भिन्न और मात्र उसका एकदम अपना ही मालूम होता है। अगर ग़ालिब के सूफ़ी-भाव की स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो वह शायराना रिवायत क़तई न होते हुए भी, कहीं अनीश्वरवादी और कुछ-कुछ अस्तित्ववादी सूफ़ीवाद निकलेगा ! ! यह पारिभाषिकता आधुनिक है।

अपनी कला पर ग़ालिब का कितना दृढ़ विश्वास है। अपने सर्वोपरि होने में उसे किंचित् भी संदेह नहीं। देखिए उसका सेहरा देखिए। उसकी फ़ारसी ग़ज़ल, जिसमें उसने भविष्यवाणी की है कि आगामी युगों में ही उसकी सही पहचान हो सकेगी, हालाँकि तब बहुत से मूर्ख भी उसको समझने-समझाने का दावा करेंगे। अपने समकालीन विद्वान् मौलाना आज़ुर्दा को वह तमककर कहता है—अगलों के गुणगान करते तुम नहीं थकते, मगर तुम्हारी आँखों के सामने जो महाकवि बैठा अपनी अमर रचना सुना रहा है, उसको पहचानने की शक्ति नहीं रखते, कितने आश्चर्य की बात है ! [१]

मुझे ऐसा लगता है कि ग़ालिब की दिलचस्पी किसी भी प्रकार के आदर्शवाद में नहीं थी। थी तो केवल इन्सान में, उसके विडम्बनापूर्ण मगर हौसलेमंद जीवंत नाटक में। और इसलिए कि **आदमी को भी मोएस्सर नहीं इन्साँ होना !** वह स्वयं कितना बड़ा इन्सान था, हाली के मार्मिक शब्द इसकी पुष्टि करते हैं।

इतनी निर्भीकता से अपनी और अपने परिवेश की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट, ज्यों-का-त्यों, रखने वाला गद्यकार उर्दू में आगे फिर नहीं हुआ। और सबके यहाँ तकल्लुफ़ात के पर्दे हैं। एक केवल इसके यहाँ नहीं। उसके पत्र इसका सबूत हैं।

यह कम कौतुक की बात नहीं कि हिन्दी-संसार में ग़ालिब के लिए अलग ख़ाना है और शेष उर्दू के लिए अलग। जहाँ उर्दू से विलगाव की भावना है, ग़ालिब से नहीं। इतने दुरूह कवि होते हुए भी ग़ालिब हिन्दी-पाठकों के अपने हो गए ! ऐसा क्यों है; इसका जवाब देना आसान नहीं है।

१. तु श्रय् कि मह्‌वे-सख़न गुस्तराने-पेशीनी
मबाश मुन्किरे-'ग़ालिब' कि दर ज़मानए-तुस्त।

ग़ालिब की महत्ता

ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी

१५ फरवरी १८६९ का दिन हमारे साहित्य के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। इस रोज़ साहित्य-सम्राट् मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ 'ग़ालिब' स्वर्ग ही नहीं सिधारे, एक पूरा दौर, एक युग समाप्त हो गया—वह दौर जिसके प्रतीक हैं 'फ़ैज़ी' और 'रहीम' की काव्य-रचनाएँ, अब्दुस्समद के कलात्मक चित्र और सीकरी और ताजमहल की कला और सौन्दर्य। मिर्ज़ा ग़ालिब इस महफ़िल की आखिरी शमा थे। लेकिन वह 'एक युग का समापन ही नहीं करते, एक दूसरे नये युग का आरम्भ भी करते हैं।' साहित्य के जो नये आधार उन्होंने स्थापित किये, आज उन्हीं पर आधुनिक गद्य और आधुनिक काव्य के ऊँचे भवन खड़े हुए हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जिस समय होश की आँख खोली, मुगल साम्राज्य की शमा टिमटिमा रही थी। लार्ड लेक की फ़ौजें दिल्ली तक पहुँच गई थीं, अँग्रेज़ी शासन-व्यवस्था कायम हो चुकी थी, और अखिल संसार और उसके निवासियों के सम्राट् 'शहंशाहे-आलम ओ-आलमियाँ' का शासन लालकिले तक रह गया था। पुरानी व्यवस्था निरवलम्ब और जर्जर हो गई थी और नई का आधिपत्य दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा था। लेकिन पुरानी जीवन-पद्धति की मोहकता अभी कम न हुई थी बल्कि परिवर्तित स्थितियों ने पुराचीन के प्रति आकर्षण का भाव पैदा कर दिया था। ऐसी परिस्थिति का सहज परिणाम विरोध और संघर्ष था, जो इस्माइल शहीद से आरम्भ होकर सन् '५७ के विद्रोह में अन्त हुआ। ग़दर से मिर्ज़ा ग़ालिब की मृत्यु तक जीवन की पुरानी परिपाटी शिथिल से शिथिलतर तो होती गई लेकिन नई ने उसका स्थान नहीं लिया। पुराने मूल्य समाप्त तो होने लगे लेकिन नयों का आविर्भाव नहीं हुआ। इस समय भविष्य के पथ पर कोई प्रेरणा-संकेत नहीं उभरा था। जीवन गन्तव्यहीन था और लक्ष्यहीन। पराजय और अस्थिरता के इसी डावाँडोल युग में मिर्ज़ा ग़ालिब ने थके हुए हृदय को मादकता का सरूर दिया और निराश आँखों को नूर। उन्होंने जीवन की विडम्बनाओं पर दुखी होने के बजाय जीने के लिए एक हौसला और एक साहसिकता प्रदान की। उन्होंने घिरते अँधेरे में भी प्रभात का आभास खोजा और इस प्रकार समय की अन्धी चोट को सहन करने की हमें क्षमता दी।

●

ग़ालिब का लालन-पालन निहायत शानदार वातावरण में हुआ था जहाँ भौतिक ऐश्वर्य के सारे साधन उपलब्ध थे: विलास-कक्ष की शमए-मदिरा और सुन्दरी, और जुए के दांव। किन्तु समाज में शक्तिशाली होने और ऊपर उठने के लिए ऐसा वातावरण अनुकूल न था। सिपहसालारी का अवसर नहीं था। केवल सरस पटुता और वाक्चातुरी के लिए अवसर था। अतः अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्होंने साहित्य-साधना को ही अपना साधन बनाया, जिसके लिए ईश्वर ने उनको प्रचुर प्रतिभा देकर संसार में भेजा था। वह स्वयं कहते हैं: दर्पण को उजालना और अर्थ का रूप उसमें प्रकट करना, यही विशेष कार्य मेरा है। ("आईना ज़दूदन ओ सूरते-मानी नमूदन कारे-नुमायाँ अस्त।")

यही कारण है कि तूरानियों का अलम इनके क़लम की शक्ति में समा गया, और उस क़लम में तलवार की-सी तेज़ी और धार भी पैदा हो गई है। जिस निर्भीकता से मौलाना इस्माइल शहीद ने अपना सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ किया था, और आचार और परम्परा में गतानुगतिकता की प्रवृत्ति पर करारी चोट की थी, उसी निर्भीक चेतना के साथ ग़ालिब ने कोशकारों और काव्यकला के उस्तादों पर नुक़्ताचीनी की है। स्वयं कहते हैं: "हर पुरानी लकीर सीधा रास्ता नहीं होती।" और अगले महानुभाव जो कुछ कह गए हैं वही पूरी तरह सनद नहीं है। मिर्ज़ा ग़ालिब

ने काव्य की पूर्वसंचित पूँजी की उपेक्षा नहीं की, वर्तमान की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखी और भविष्य के लिए पथ का विस्तार किया। डॉ० अब्दुलहक़ ने सच ही कहा है कि अगर ग़ालिब न होते तो उर्दू के आधुनिक युग के प्रथम प्राचार्य हाली और दार्शनिक कवि इक़बाल भी न होते। वह यूनान के देवता जानुस के समान हैं, उनका एक मुख विगत युग की ओर देखता है और दूसरा भविष्य की ओर।

ग़ालिब असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी महानता का रहस्य उनकी तबीअत की रंगारंगी, उनके मोहक व्यक्तिवाद, उनके मानव-प्रेम और सर्वाशयी व्यापकता में छिपा हुआ है। वह महान् कवि होते हुए भी एक भरपूर इन्सान थे। उन्होंने कभी अपने व्यक्तित्व पर तह-बतह नक़ाब नहीं डाले, और पर्दे की गुलकारियों को यथार्थ कहकर लोगों से नहीं मनवाया। वह जैसे हैं, अपने-आपको वैसा ही प्रस्तुत करते हैं। उनकी यही निर्भीक सत्यनिष्ठा, मौज और मस्ती संस्कारी अनुराग और उनकी विनोदप्रियता उर्दू साहित्य की सबसे बड़ी पूँजी है। "उन्होंने नई व्यवस्था और नये युग का उस समय समर्थन किया जब मुसलमानों के आधुनिक सुधारक सर सैयद को भी ऐसा करने का साहस नहीं था।" उन्होंने उस समय के लोकप्रिय फ़ारसी कवि क़तील को, अहम्मन्य कोशकारों को और रियासत रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ को उत्तर-प्रत्युत्तर उसी आन से दिये हैं, जिस आन से कहा जाता है कि "तुर्क और तूरानी लड़ते हैं"! किसी भी अवसर पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व पर आँच नहीं आने दी।

●

उस उथल-पुथल के ज़माने में स्वयं मिर्ज़ा का जीवन बड़े संकटों के बीच से गुज़रा। वह आगरे के मनमौजी वातावरण में से निकलकर दिल्ली आए तो यहाँ शायरों के अखाड़े में उतरना पड़ा। प्रतिष्ठित कवि 'ज़ौक' के सहज भाषा वाले आन्दोलन को उन्होंने स्वीकृति दी, किन्तु उसमें दार्शनिक दृष्टि का भी समावेश किया। कलकत्ते गए तो वहाँ 'क़तील' के अन्धभक्तों से चोटें हुईं। और फिर वह उस ईरानी-हिन्दी विवाद में कूद पड़े जो अकबर और जहाँगीर के समय से, महाकवि 'फ़ैज़ी' और 'उर्फ़ी', और तदनन्तर शेख़ अली हज़ीं और ख़ान आरज़ू के युग से चला आ रहा था। मिर्ज़ा ने इस विवाद में भी सरगर्म हिस्सा लिया और अनेक ईरानी विद्वानों का समर्थन और प्रशंसा भी अर्जित की।

फिर इनकी पेंशन का किस्सा उठ खड़ा हुआ, जिसमें वह तीस बरसों तक उलझे रहे। यह केवल रुपये का मामला नहीं था, अपने वंशानुगत अधिकार और प्रतिष्ठा का भी सवाल था। उन्होंने अंग्रेज़ों की ख़िदमत में अर्ज़ियाँ भेजीं और हाकिमों को प्रसन्न करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न किया। लेकिन यहाँ भी प्रश्न अभिभावक की प्रशस्ति और गुण-गाथा से अधिक अपने मान-मर्यादा के प्रतीक 'जैगा, सरपेच और मुक्ता-माला' का था, या दरबार में स्थान-मर्यादा और ख़िलत का।

इस युग में वे सारी चीज़ें, जिनसे जीवन की अंधेरियों में रोशनी मिलती थी, एक-एक करके विलीन होती जा रही थीं। वे सारे मूल्य, जो मिर्ज़ा को अत्यधिक मान्य और प्रिय थे, एक-एक करके टूटते और बिखरते जा रहे थे। लेकिन इनके काव्य-लोक में कुण्ठा-विलाप या अराजक-विद्रोह का स्वर उत्पन्न नहीं हो सका था। और यह छोटी बात नहीं है। यदि 'गुलशने-हिन्द' की बात सच है तो इनके पूर्ववर्ती महाकवि मीर को तीन सौ रुपये प्रति मास मिलते रहे, लेकिन मिर्ज़ा ग़ालिब की 'व्यक्तिगत हैसियत' क्या है कभी स्पष्ट नहीं हुई और जब इसका वास्तविक मूल्य कूतने का समय आया, तो इसकी 'मालियत' बासठ रुपये आठ आने से अधिक न निकली। ऐसी परिस्थितियों में इनकी शायरी में वह निराश और विलापी स्वर कभी न आया कि जिससे वह 'आहे-जिगर-गुदाज़' और 'नालएदिलख़राश' को ही जीवन की सार-उपलब्धि समझने लगते।

●

मिर्ज़ा के व्यक्तित्व में जो चीज़ असाधारण रूप से आकर्षक और मोहक है वह है उनकी मनुष्यता। और इस पर उन्हें नाज़ है। उनके काव्य में सामान्य मानवीय समस्याओं और उलझनों का बयान है, और उन्हें यह स्पष्ट रूप से घोषित करने में किंचिन्मात्र संकोच नहीं होता था कि वह सामान्य मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर नहीं थे। श्री अकरम ने सर वाल्टर राले का कथन शेक्सपियर के सम्बन्ध में उद्धृत किया है कि "वह एक अत्यधिक दुष्प्राप्य चीज़ था, यानी एक पूरा इन्सान।" ग़ालिब भी कहते हैं: "खूए-आदम दारम। आदम-ज़ादा अम" (आदम की खू-बू रखता हूँ। आदम की औलाद हूँ।) महाकवि सादी की तरह इनके काव्य में भी एक विशेष प्रकार की होशमन्दी और

दुनियादारी है, जो हर एक को आकृष्ट करती है। काव्य के इस दर्पण में सब अपना ही सर्वांग देखते हैं, और उनके दिल की मर्मगाथा में सबको अपनी ही आप-बीती का आनन्द मिलता है। ग़ालिब का व्यक्तित्व गरिमा-मंडित और सम्मान्य मात्र नहीं, बल्कि वह हमारे "साहित्य की सबसे अधिक अन्तरंग हस्ती है।"

आप जिस रंग और जिस लिबास में भी वहाँ जायेंगे, वह साथी हस्ती आपको पहचान लेगी, आपके मर्म से अवगत होगी, और आपको आश्वासन देगी, तभी तो डॉ० बिजनौरी ने लिखा था कि अथ से इति तक मुश्किल से सौ पृष्ठ हैं, लेकिन कौन-सा राग है जो यहाँ नहीं है। इसका मूल कारण केवल मिर्ज़ा का अद्भुत और रंगारंग व्यक्तित्व है।

कुछ समालोचकों ने मिर्ज़ा को वली साबित करने की कोशिश की है, और कुछ ने शैतान। लेकिन सच्चाई यह है कि वह सिर्फ़ एक इन्सान था जो मानवीय दुर्बलताओं पर पर्दा नहीं डालता बल्कि "आँचे मी नुमायम् हस्तम्"—जो कुछ मैं दिखता हूँ वही हूँ—क़ा कायल है।

●

ग़ालिब से पहले उर्दू शायरी के पास भावनाओं का भण्डार था, अनुभूतियाँ थीं, और भाषा और शैली के चमत्कार थे। लेकिन वह हसीन और शोख बौद्धिकता नहीं थी जो शब्द के शरीर में प्राण फूंक देती है। यह मिर्ज़ा की विशिष्ट देन है, और इस पर उर्दू जितना भी गर्व करे, कम है। वह अपनी परंपरा की पूंजी से अवगत थे, लेकिन उसकी हर परिपाटी और बन्धन से बँधे नहीं थे। इसीलिए उनकी शायरी जंतर-मंतर और कपोल-कल्पना नहीं है। उसमें साँस की गर्मी है, और जिगर का खून। उन्होंने हमें नयी विचार-सरणियाँ दीं, उनकी अभिव्यक्ति की एक नयी शैली दी, और सोचने के लिए दार्शनिक अंदाज, और जाँचने के लिए आलोचनात्मक चेतना। उसमें मुग़ल चित्रकारी का ललित प्रस्फुटन, उसकी अर्थगर्भी संक्षिप्तता, उसका तुर्काना बांकपन है। यह अंदाज़ और यह शैली वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। ग़ालिब ने ग़ज़ल और कसीदे का बाह्य रूप-अलंकरण तो वही रखा है जो पहले था, लेकिन उनमें एक अंतर-क्रान्ति अवश्य पैदा कर दी है। लखनऊ में 'नासिख़' और दिल्ली में 'शाह नसीर' की दुनिया इन परिवर्तनों के महत्त्व को अच्छी तरह न समझ पायी, और ग़ालिब को यह कहना पड़ा—

"मेरे दावे पे य हुज्जत है कि
मशहूर नहीं।"

ग़ालिब की प्रेम-पारखी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि के विकास में उनकी विरासत, उनके व्यक्तित्व और उनकी जाति-वंश की विशेषताओं का बड़ा हाथ है। वह प्रेम के संयोग-रस को जीवन रूपी उद्यान में कौतुक वसंत का आगमन समझते हैं। और प्रस्तुत के आनन्द सुख-भोग को वास्तविक जीवन के लिए आवश्यक। उन्होंने जिन सत्यों का दिग्दर्शन कराया है, वे बौद्धिक क्रियाकलाप-जन्य नहीं, बल्कि अनुभव, अनुभूति और भावना से भरपूर होने के कारण ऐहिक-दैहिक एकदम भौतिक, और मानवीय हैं।

●

ग़ालिब का चरित्र और उनका आचरण आदर्श नहीं। उनमें बहुत से दोष हैं। तथापि, उनकी बौद्धिक सजगता का यह कमाल मामूली नहीं कि वह अपने परिवेश की असंगतियों से बेख़बर नहीं थे, और ह्रास और पतन के बाद नवनिर्माण को अवश्यंभावी मानते थे। उनके यहाँ जो पाश्चात्य संस्कृति की बरकतों का एहसास और अंग्रेज़ों के नये ज्ञान-विज्ञान, कानून-व्यवस्था और न्यायनिष्ठा की प्रशंसा मिलती है, वह इस बात का प्रमाण है कि वह सहज ही अपने वर्ग और परिवेश से ऊपर उठकर समस्याओं पर दृष्टिपात कर सकते थे। ग़ालिब ने कलकत्ते में कुछ दिन निवास किया था जो उस समय भारत में नयी सभ्यता का गहवारा था। आगरे के बाद दिल्ली ही उनका वतन था, जिसको पुरानी सभ्यता का प्रतीक कहना चाहिये। लेकिन यहाँ इनके समय में पुराने दिल्ली कालेज ने विज्ञान के विषयों को महत्त्व देकर एक नये क्षितिज का विस्तार प्रस्तुत कर दिया था। ग़ालिब की बौद्धिक चेतना के नक्शो-निगार इन्हीं दोनों नगरों के प्रति ऋणी हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने उर्दू शायरी ही को नया रंग और स्वर-साज नहीं दिया, आधुनिक उर्दू गद्य की बुनियाद रखने का श्रेय भी उन्हीं को है। उनके पत्रों में उनका व्यक्तित्व और उनके युग की आत्मा खुलकर बोल रही है। वही ताज़गी, उच्चाशयी दृष्टि और जीवन्तता जो उनके काव्य की विशेषता है, यहाँ भी देखने को मिलती है। जिस प्रकार उनकी ग़ज़ल व्यक्तिगत प्रेम-अनुभूति की टीका से आगे बढ़कर व्यापक जीवन के भाष्य का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, ऐसे ही उनके पत्रों में जीवन का खरा सोना पिघलता हुआ

नज़र आता है।

मिर्ज़ा अपना रास्ता स्वयं तय करते हैं। उनको किसी सहारे की आवश्यकता नहीं। ऐसी घाटियों में जहाँ उनके पाँव चलते-चलते जवाब दे गये हैं, वह सीने के बल रास्ता तय करना चाहते हैं। वह रस्म-रिवाज और परंपरा के पाबंद नहीं। शेख और ब्राह्मण उनकी दृष्टि में एक हैं, उनके यहाँ "अस्ल चीज़ अकीदे से बफ़ादारी है। मिल्लतें अहम नहीं हैं। उनके मिटने से जो ईमान बनता है, वह अहम है।" उनकी मानवता के दायरे में मंदिर और काबा और जनेऊ और तस्बीह का अन्तर मिट जाता है। यही लय उनके पत्रों में भी है: "मैं तो बनी-आदम को, मुसलमान हो या हिन्दू अपना भाई गिनता हूँ।" उनके दोस्तों में हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी, उनके 'स्नेह-निकुंज' में पूर्णिमा की चाँदनी के समान मिर्ज़ा हरगोपाल 'तफ़्ता' और 'आँखों के तारे' (नूरेचश्म) मीर महदी, और अंग्रेज़ भी, जिनमें कोई उनका उमीदगाह था, कोई मित्र, कोई यार और कोई शिष्य।

मिर्ज़ा का जीवन से सीधा संबंध था। वह दो बरस के थे कि पिता दिवंगत हुए। पाँच साल के हुए तो चाचा सिधार गये। इसके बाद निस्संदेह इनको ननिहाल में सुख-ऐश्वर्य का उन्मुक्त वातावरण मिला। लेकिन इसका उनको मूल्य भी बहुत चुकाना पड़ा। कर्ज़ख्वाहों से कभी उनको छुटकारा नहीं मिला। जिन्दगी के सबसे अच्छे वर्ष उन्होंने जागीर की दौड़-धूप में गुज़ार दिये। उनके भाई मिर्ज़ा यूसुफ़ पागल हो गये। पचास बरस की उम्र में स्वयं जेल गये। हज़ार अरमानों के बाद बादशाह के उस्ताद नियुक्त हुए, तो दो ही साल में न वह पैमाना रहा न वह साक़ी। लेकिन इन विपत्तियों को वह "अपने दरिया-ए-बेताबी की एक मौजे-खूँ समझकर बर्दाश्त करते रहे।" इस खेल को उन्होंने लड़कों का खेल समझा, और अपनी सुसंस्कृत विनोदप्रियता और प्रसन्न शालीनता से जीवन को संभाला भी और संवारा भी।

परेशानियों और मुसीबतों में स्वयं हँसना और दूसरे को हँसाना आसान नहीं है। यह निष्कपट विनोदप्रियता पत्रों में भी देखने को मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं:

"मुझको देखो, न आज़ाद हूँ न मुक़ैयद, न रंजूर हूँ, न तन्दुरुस्त, खुश हूँ न नाखुश, न मुर्दा हूँ न जिन्दा। जिये जाता हूँ। बातें किये जाता हूँ। रोटी रोज खाता हूँ। शराब गाह-गाह पिये जाता हूँ। जब मौत आयेगी, मर रहूँगा। न शुक्र है न शिकायत। जो तक़रीर है बर-सबीले हिकायत।"[१]

मिर्ज़ा हातिम अली 'मेहर' को मातमपुर्सी का खत लिखते हैं। कैसा नाज़ुक मौक़ा है. लेकिन देखिये:

"मिर्ज़ा साहब, हमको ये बातें पसन्द नहीं। किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क-अफ़शानी,[२] और कहाँ की मर्सिया-ख्वानी। आज़ादी का शुक्र बजा लाओ, और ग़म न खाओ। मैं जब बहिश्त का खयाल करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़रत हो गयी,[३] और एक क़स्त[४] मिला और एक हूर मिली—अक़ामत जाविदानी[५] है—और उसी एक नेक बख़्त के साथ जिन्दगानी है! इस खयाल से जी घबराता है, कलेजा मुँह को आता है। है-है, वह हूर अजीरन हो जाएगी, तबीयत क्यों न घबरायेगी। वही ज़मुर्दी काख़[६] और वही तूबाकी[७] एक शाख़! चश्मे-बद दूर, वही एक हूर। भाई होश में आओ, कहीं और दिल लगाओ!

मिर्ज़ा ग़ालिब का एक-एक वाक्य विचार को उभारा देता है। यथावत् चित्र खींचने में वह सिद्धहस्त हैं। यह अन्दाज़ पूर्ववर्ती उस्तादों (ज़हूरी और बेदिल) और उनके समकालीनों (तहसीन और रजब अली बेग 'सरूर') से बिलकुल भिन्न है—

"पाँच लश्कर का हमला पै-ब-पै[८] इस शहर पर हुआ। पहला बाग़ियों का लश्कर, उसमें अहले-शहर का एतबार लुटा। दूसरा लश्कर ख़ाकियों[९] का, इसमें जान ओ माल ओ नामूस[१०] ओ मकान ओ मकीन[११] ओ आसमान ओ ज़मीन को आसारे-हस्ती[१२] सरासर लुट गए।..."

मिर्ज़ा 'तफ़्ता' को लिखते हैं—

"तुमने रुपया भी खोया और अपनी फ़िक्र[१३] और मेरी इस्लाह[१४] को भी। हाय, क्या बुरी कापी है अपने अश्आर की। और इस कापी की मिसाल जब तुम पर खुलती कि यहाँ होते, और बेगमाते-क़िला को फिरते चलते देखते। सूरत माहे-दो-हफ़्ता[१५] की सी, और कपड़े मैले, पाँयचे लियर-लियर, जूती टूटी। यह मुबालग़ा[१६] नहीं। बल्कि बेतकल्लुफ़ 'सुबुलिस्ता'[१७] एक माशूक़ खूबरू है, लेकिन, बदलिबास।

एक और उद्धरण देखिए:

"महले तुमसे यह पूछा जाता है कि बराबर कई खतों में तुमको ग़मोअंदोह[१८] का शिकवागुज़ार, पाया है। बस, अगर

किसी बेदर्द पर दिल आया है, तो शिकायत की क्या गुंजाइश है। बल्कि यह ग़म तो नसीबे-दोस्तां दरख़ुर अफ़ज़ाइश[१६] है।···और अगर ख़ुदा-न-ख़ास्ता ग़मे दुनिया है तो, भाई, हमारे हमदर्द हो। हम इस बोझ को मर्दाना उठा रहे हैं। तुम भी उठाओ, अगर मर्द हो।"

इसमें कोई शक नहीं कि ग़ालिब ने इस रंज को मर्दाना-वार उठाया। उनके यहाँ आनन्द-लहरी संगीत भी है और विपत्तियों का मातम भी। "एक दार्शनिक का-सा भाव है, जिसमें दुःख और सुख दोनों के लिए गुंजाइश है।" और शायद दोनों की आरज़ू। इसने उनके जीने के बोझ को हलका कर दिया है। और यही उनका सन्देश है—अगर ग़ज़ल के गीत गाने वाले शायर का कोई 'सन्देश' हो सकता है।

●

मिर्ज़ा ग़ालिब को पद्य और गद्य दोनों पर समान अधिकार था। ऐसा कलावैशिष्ट्य, ऐसी महत्ता सामान्य बात नहीं। शेख़ सादी, ज़हूरी और मिल्टन के अतिरिक्त बहुत कम लोगों को यह गौरव प्राप्त है। काव्य में ग़ालिब की विलक्षण प्रतिभा की देन अपनी जगह निश्चय ही शाश्वत मूल्य की है। लेकिन अगर (मेरे मुँह में ख़ाक!) दीवाने-गालिब न होता, और केवल ग़ालिब के पत्र होते, तब भी उनका स्थान उर्दू साहित्य में वही होता जो आज है! ●

अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

१. मात्र दृष्टान्त-स्वरूप।
२. आँसू बहाना।
३. जीवन के पापों के लिए क्षमा मिल गई।
४. महल।
५. निवास अनंत तक।
६. लाल-जवाहर का महल।
७. कल्पतरु।
८. एक के बाद एक।
९. खाकी वर्दी वालों।
१०. इज़्ज़त।
११. मकान में रहने वाले।
१२. जीवन-चिह्न।
१३. काव्य-चिंतन, काव्य-रचना।
१४. संशोधन।
१५. पूर्णचन्द्र।
१६. अतिशयोक्ति।
१७. सुंबुल के जंगल की तरह लबर-झबर।
१८. दुख और पीड़ा।
१९. दोस्तों को सौभाग्य से मिलता है; इसकी बढ़ती हो!

ग़ालिब की आधुनिकता

अहमद हुसेन

प्रशंसा के लिए आप ग़ालिब से कहते कि "साहब, आप तो बड़े आधुनिक क़िस्म के आदमी हैं तो आप यक़ीन मानिए ग़ालिब ख़ुश न होते। ख़ुश होना तो दूर रहा, वह और उल्टे बिगड़ जाते। यद्यपि वह बड़े सज्जन पुरुष और सहज स्वभाव के आदमी थे और बुढ़ापे तक चिड़चिड़ेपन से इतनी दूर रहे कि 'बुरहाने कराते' की बहस में गंदी-गंदी गालियाँ खाते रहे और मुस्कराते रहे। पर आधुनिकता उस समय आज के समान कोई प्रशंसनीय बात नहीं बल्कि निंदनीय बात समझी जाती थी, क्योंकि वह ग़ालिब युग की करीब-करीब सारी प्रमुख मान्यताओं के विपरीत थी।

पर इससे ग़ालिब की आधुनिकता का कोई संकेत मिले या न मिले, उसकी सीमाओं का ज़रूर अन्दाज़ा हो जाता है और पता चल जाता है कि ग़ालिब अगर आधुनिक इंसान थे, या आधुनिक कवि थे, तो प्रयास से नहीं, आत्मनिर्णय से नहीं बल्कि अपनी चेतना के अनुसार उनके जीवन का जो कुछ भी स्पष्ट आदर्श था उसके बावजूद। मगर इसका परिणाम यह कम निकलता है कि उनकी आधुनिकता अधूरी और अधकचरी थी और यह ज़्यादा कि वह इतनी 'जेनुइन', सच्ची और तीव्र थी कि ग़ालिब के सचेत व्यक्तित्व को विवश करके कुछ उनके जीवन को बदले और बहुत-कुछ उनकी कला को, यहाँ तक कि गद्य में तो उनको एक विशेष शैली का निर्माता बनने पर बाध्य कर दे जिससे उत्तरी भारत में बेतकल्लुफ़ लेख के चलन का समारम्भ हो।

मगर उनका सचेत आदर्श था रूढ़िवाद जिसे बड़े गर्व से आज भी ग़ालिब के युग की तरह लोग 'वज़ादारी' कहते हैं। शेर में तो वे ख़ैर 'वज़ादारी' के प्रति अपनी श्रद्धा जगह-जगह व्यक्त करते ही हैं, जैसे—

वो अपनी ख़ू न छोड़ेंगे, हम अपनी वज्ज़ः क्यों छोड़ें

और

वाँ वो ग़ुरूरे-इज़्ज़तेनाज़, या ये हिजाबे पासे वज्ज़ः
राह में हम मिलें कहाँ बज़्म में वह बुलाए क्यों

लेकिन इससे कहीं ज्यादा वह जीवन में इसके पाबन्द थे, जिसका एक रूप यह है कि जिसको मित्र कह दिया, कह दिया, अब उसकी दोस्ती से फिर नहीं सकते, अगर फिरे तो बाक़ी संसार का अनादर तो बाद में भुगतना होगा, पहले तो आदमी अपनी आँख से गिर जाएगा। मगर उससे व्यापक और हानिकर रूप यह था कि परम्परा के अनुसार जो रीति-रिवाज निश्चित हैं उनमें भी परिवर्तन करना पाप है। बाप-दादा जो खाते थे, खाइए, जो पहनते थे पहनिए, यही नहीं बल्कि जैसे लोगों से मिलते थे, जो काम-काज किया करते थे, विद्या और ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रणाली अपनाते थे वही आप भी अपनाइए और वही सब आप भी कीजिए। चलिए यह भी हो गया मगर वज़ादारी का ग़लत परिणाम यहाँ तक पहुँचता था कि विचार, कल्पना और कला के क्षेत्र में भी आप सनातन रूप अपनाइए, बाप-दादा जैसे सोचते थे आप भी सोचिए, बुज़ुर्गों में जैसे शेर कहने का चलन था आप भी अपने काव्य को उसी साँचे में ढाल लीजिए।

और ग़ालिब ने इसकी पूरी-पूरी कोशिश की। ख़ुद इशारा करते हैं कि यह काम कितना कठिन था और इसमें उन्हें कैसा घोर परिश्रम करना पड़ा,

तर्ज़े बेदिल में रेख़्ता कहना
असदुल्लाह ख़ाँ क़यामत है

आसान डगर से कतराने और कठिन रास्ते पर चलने का ग़ालिब को शुरू ही से जो शौक था उसके अनुसार उनके लिए बेदिल की अत्यन्त कठिन मगर सुदृढ़ फ़ारसी शायरी का ही आदर्श सामने आ सकता था जो उनके पहले की शताब्दी से बुद्धिजीवी सम्प्रदाय पर छाई हुई थी। बेदिल को प्रेरणा के अधीन ग़ालिब अपनी शायरी को गोरखधन्धा बनाकर न सिर्फ

सन्तुष्ट रहे बल्कि शायद उनको इसका गर्व भी हो कि उनका हर शेर वह ताला है जिसे कोई आसानी से हर चाभी से नहीं खोल सकता। ख़ैर, बेदिल में तो मुश्किल होते हुए भी बड़ी जान है, मगर ग़ालिब पर तो करीब-करीब उसी युग के कहीं ज्यादा छिछले फ़ारसी शायरों का भी अच्छा-ख़ासा प्रभाव पड़े बग़ैर न रहा। प्रभाव के शक्तिशाली होने का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अपने लम्बे-चौड़े दीवान में से बहुत बड़ा भाग निकाल देने से भी, जो ज़ाहिर है इन्हीं लोगों का बिगाड़ा हुआ था, उर्दू के इस सबसे छोटे दीवान में श्री ख़ुर्शीदुलइस्लाम ने दिखाया है कि दर्जनों शेर ऐसे शेष रह गए हैं जो बिल्कुल इन्हीं गुंजलक और अस्पष्ट कवियों के समानान्तर मिलते हैं।

समय बदल जाने के बाद अपने और पिछले युग का ग़ालिब पर यह प्रभाव बहुत कम हो गया मगर बिल्कुल समाप्त बहुत अरसे तक नहीं हुआ और शायरी का वह रंग बीच-बीच में अक्सर उभरता रहा जिसका स्रोत बेदिल के यहाँ से फूटा था और जिसमें उनसे

शुमारे सुब्ह मर ग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया
तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया।

और

मेरे क़द्हे में है सहबाए आतशे पिन्हा
बरूए सुफ़रा, कबाबे दिले समन्दर खैंच

और

आगही दामे शुनीदन जिस क़दर चाहे बिछाए
मुद्दआ उन्क़ा है अपने आलमे तक़रीर का

कहलवाया था, (कोई उन्क़ा बुन्क़ा समझने वाला हो तो उससे चुपके से कहने का जी चाहता है कि मुद्दआ की तरह इन शेरों का मज़ा भी उन्क़ा है)

ये शेर बिल्कुल अर्थहीन नहीं हैं किन्तु काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ज़रूर हैं। इनमें ढूँढ-माल के ऐसे भी शेर मिल जाएँगे जो बिल्कुल बेनमक नहीं कहे जा सकते, जैसे :

नक्शे नाज़े बुते तन्नाज़ आग़ोशे रक़ीब
परे ताऊस पए ख़ामए मानी माँगे

मगर यह सब शेर ग़ालिब के उस विशेष रंग से वंचित हैं जिसने ग़ालिब को ग़ालिब बना दिया।

ग़ालिब ने यह कठिन मगर निष्फल और अलाभकर डगर क्यों छोड़ी इसके बहुत से कारण हैं जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है, संक्षेप में इतना ही कहना उपयुक्त है कि मूल कारण था देहली। दस साल वे आगरे में और रह जाते तो शायद ग़ालिब कभी ग़ालिब नहीं बन सकते थे, चाहे विद्वान बनते, चाहे विद्वान-कवि, भाषा-शास्त्र के विशेषज्ञ समझे जाते, मिर्ज़ा, नौशा और दबीरुलमुल्क की भाँति विभिन्न आदरों से सम्मानित किए जाते या केवल वही गुमनाम असदुल्लाह बनकर रह जाते। उस वक्त तो ख़ैर लौंडे थे, मगर पैसा भी था और स्वास्थ्य भी, हाथ-पैर भी बुरे न थे, रंग-रूप उससे भी अच्छा था और शौकीनी और रंगीनी सबसे बढ़ी हुई। मगर बड़ा गज़ब यह था कि दिमाग़ बला का पाया था और शिक्षा भी बचपन में ही युग के अनुसार प्रमुख विषयों में अच्छी-ख़ासी विस्तृत हो गई थी, इसलिए बुद्धि के स्तर पर किसी को अपने बराबर समझते ही नहीं थे, विशेषकर शाइरी में। समझते भी कैसे, लड़कपन में जिसे बेदिल की पहेलियाँ सुलझाने में रुचि हो उसके लिए नज़ीर अकबराबादी के आगरे वालों में, **"फिर देख बहारें होली की", "सब ठाट पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बंजारा"** और **"कल राह में हमको जो मिला रीछ का बच्चा"** वाली शायरी में, नगर की काव्यात्मा उसकी अति सरल लोक-प्रतिभा में क्या आकर्षण हो सकता था।

किसी ज़माने में जब नज़ीर के लोकवाद का ग़लत ढंग से पक्षपात करने की भावना आम थी। एक साहित्यिक गप्प यह भी उड़ी थी कि कुछ दिन मियाँ नज़ीर भी इन साहबज़ादे के गुरु रहे। यह सच है तो बड़े मियाँ को क़रीब से देखकर बददिमाग़ लौंडे के दिल से रहे-सहे आदर की भावना भी जाती रही होगी और अगर यह अनुमान एक निराधार अन्दाज़ा है तब भी कौन कह सकता है कि काव्य में ग़ालिब की मुश्किल-पसन्दी नज़ीर ही की घोर, 'बेसाज़' सरलता का प्रतिशोध नहीं था, क्योंकि यह सम्भव नहीं मालूम होता कि ग़ालिब जैसी हस्सास आत्मा में (वह नौ-दस का लड़का ही क्यों न रहा हो मगर उसकी काव्य-रुचि का अच्छा-ख़ासा विकास हो चला था) नज़ीर जैसे नगर के लोक जीवन पर छाए हुए कवि के प्रति कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। क्योंकि अपने युग बल्कि अपने जीवन के दूसरे प्रसिद्ध कवियों के सम्बन्ध में निष्पक्ष रहना ही ग़ालिब का आचरण होता तो वे यह क्यों कहते—

रेख़्ता के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
कहते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

और उससे भी आगे बढ़कर मीर की महानता के पक्ष में नासिख़ की गवाही क्यों दिलवाते—

ग़ालिब अपना ये अक़ीदा है बक़ौले नासिख़
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे मीर नहीं

इसलिए यह ख़याल होता है कि अगर शुरू जवानी में भी यह सरफिरा मगर योग्य युवक आगरे ही में रह जाता तो शायद उसका भटका हुआ चलन पक्का हो जाता। मगर ख़ैर क्या होता क्या न होता यह तो अब केवल विद्वानों का विवाद है। यथार्थ तो यह है कि दिल्ली पहुँचकर ग़ालिब को बदलना पड़ा।

दिल्ली के पास कोई जादू की छड़ी नहीं थी जो उसने उनके क़लम से हुई और बस उसमें ऐसा कायाकल्प हुआ और ऐसी केंचुल बदली कि "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला चल पड़ा। मानो प्रेरणा को इसी चरण की प्रतीक्षा थी जिस पर पहुँचकर एक-से-एक अछूते शेर क़लम के गिर्द प्रवेश करने और उसके चरणों को छूने लगे। यह तो नहीं था मगर ग़ालिब जैसे युवक के प्रशिक्षण की दिल्ली में बड़ी शक्ति थी क्योंकि उनके रुचि-सुधार के लिए मीर, सौदा और दर्द की शायरी की तरह की तमाम उचित सुविधाएँ उपलब्ध थीं और उनका ग़ुरूर तोड़ने के लिए मान्यता न देने वाले दरबार और दुश्मनी करने वाले कोतवाल से लेकर विदेश से आए हुए ग़ालिब के देश पर मनमाना राज करने वाले गोरों तक सारी आवश्यक सामग्री मौजूद थी।

देहली जो एक नाम था, एक परम्परा थी, सारे उत्तरी भारत को प्रभावित करने वाली एक देशव्यापी संस्था थी—जिसके साहित्यिक विचार और फ़ैसले को ग़ालिब क्या कोई भी नहीं टाल सकता था, अब उनके लिए एक शक्तिशाली यथार्थ बनकर सामने आई, एक ऐसा भारी पत्थर कि जिससे दूर के देखे हुए सारे स्वप्न टकराकर चूर हो जाते थे और ऐसा स्पष्टकारक और निठुर आईना जिसमें देखने वाली आँख को भारत वैसा ही नंग, घिनौना और लिथड़ा हुआ दिखाई देता था जैसा कि वह था (क्योंकि बनिया-राज के लिए बनी हुई शीशे की वह फूटी आँख बननी भविष्य में अभी बहुत दूर थी जिसमें मंत्रियों और नेताओं का कोई कलंक दिखाई ही नहीं देता, चाहे वह दो हाथों के बजाय अपने लड़के को मिलाकर चार-चार हाथों से लूटें और एक ज़बान की जगह, सारे हाई कमान को मिलाकर दस-दस ज़बान से झूठ बोलें)।

यह विचार बहुत व्यापक है कि दिल्ली में ग़ालिब को दुश्मनों ने टोक-टोक कर उनके काव्य की सारी मुसम्मेबाज़ी, मुश्किलपसन्दी और बेदिल के प्रति उनकी श्रद्धा नाक की राह निकाल ली, चुनांचे इन्हीं लोगों को उन्होंने झल्लाकर जवाब दिया कि **"गर नहीं है मेरे असआर में मानी न सही"**। इससे ज्यादा दोस्तों ने समझा-समझाकर सुधार किया। यह विचार वैसे तो ठीक ही है, क्योंकि दिल्ली की महानता के सामने उनका अहंकार इतना बड़ा थोड़ी रह गया था जितना बड़ा वह आगरे के कस्बाती समाज के आगे मालूम होता था और इसलिए अब वह दोस्त-दुश्मन की बात पर कान धरने को तैयार थे, मगर ग़ालिब में जो परिवर्तन आया वह केवल आलोचकों के बस की बात होती तो वह बिगड़ते ही क्यों और इस परिवर्तन की ज़रूरत ही क्यों पड़ती? सच्ची बात यह है कि दिल्ली का अस्तित्व खुद ही रुढ़िवाद के सारे ढकोसलों पर इतना सख्त प्रहार था कि पहेलीबाजी, ताले-कुंजी की शायरी और इस प्रकार के हर पागलपन का मुँह फेर दे। कोई टोकने वाला न भी होता तो मीर, दर्द और सौदा की दिल्ली में, मज़हर जाने जाँ की दिल्ली में कोई कब तक "शुमारे सुब्ह मरग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया" की शायरी कर सकता था। "तुम्हें याद हो कि न याद हो" वाले मोमिन "ज़बाने खल्क को नक्कार ए खुदा समझो" वाले ज़ौक और "मेरा रंग-रूप बिगड़ गया मेरा यार मुझसे बिछड़ गया" वाले ज़फ़र के साथ मुशायरों के मंच पर बैठकर कोई "तमाशाए बयक्कफ़ बुर्दने सद दिल पसन्द आया" की बड़ कब तक हाँक सकता था। और फिर दिल्ली वाले भी थे, जिनकी ज़बानों पर मीर और सौदा की ग़ज़लें अभी चढ़ी हुई थीं, दिल्ली की गलियाँ भी थीं, जिनमें कल्मे मुअल्ला के रात के मुशायरों में पढ़ी हुई ज़ौक और ज़फ़र की ग़ज़लें गूँजने लगती थीं।

अगर यह मार ग़ालिब के सुधार के लिए काफ़ी न थी तो इससे बड़ा कोड़ा यह था कि दिल्ली पर अधिकार उन लोगों का था जिनके लिए बेदिल, सायब और कलीम का क्या ज़िक्र है, उर्फ़ी व ख़ाक़ानी की भी कोई हस्ती न थी, सादी और फ़िरदौसी तक, एकाध के अलावा, बाकी सबके लिए केवल नाम ही नाम थे। उनमें जो हिन्दुस्तानी भाषा, साहित्य और काव्य पर अहसान करता था वह भी इतना कि मीर के शेर—

हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए
सब उसी ज़ुल्फ़ के असीर हुए

को अंग्रेज़िया कर—

ऐम ठा, दूमे ठा, एक ओर जेन्टिलमैन ठा
सब उसी काला कैडखाना में बैंड ठा

बना देता था। यह दिल्ली, "जहाँ ख़ल्क ख़ुदा की, मुल्क बादशाह का" तो था मगर "हुकुम कम्पनी बहादुर का" चलता था। फ़ारसी पढ़ने वालों को केवल तेल बेचने की आस्था देती थी। बादशाह के पीछे छिपे हुए अंग्रेज़ी राज की इस दिल्ली में पुरानी सभ्यता का, जिसे ग़ालिब भारतीय सभ्यता समझते थे, उसके आदर्शों का, उसकी मान्यताओं का, उसकी कला और उसके 'हुनर' का मूल्य गिरता जाता था, जिससे उन्हें तकलीफ़ तो बहुत होती थी और वे बार-बार 'हुनर' की ना-क़दरी का रोना रोते थे, जो उनकी अपनी व्यक्तिगत शिकायत तो थी ही, पर उससे कहीं ज़्यादा सारे साहबाने हुनर की ओर से की जाती थी, मगर इस सबके साथ वे यह भी समझते थे कि विदेशी शासकों का चूँकि हमारी कला से कोई सम्बन्ध नहीं, देश के वास्तविक अधिकारियों की सरपरस्ती अब उसके सर से उठ गई, इसलिए देशवासियों की भी इसमें अब वह रुचि नहीं रही। बल्कि ग़ालिब की आँखों को यह भी देखना पड़ा कि लोग उनके शेरों का मज़ाक उड़ा रहे हैं, 'शुमारे सुब्ह···' वाले शेर नहीं बल्कि एक-से-एक अछूते शेर का, क्योंकि फ़ारसी और उर्दू से मुँह फेरकर लोग अब अंग्रेज़ी की तरफ़ झुक रहे हैं। जब स्थिति यह हो कि ग़ालिब और उनके साथियों की शायरी का मज़ाक उड़ाया जाए और उन्हें ज़हर का घूंट पीकर कहना पड़े---

हमारे शेर हैं अब सिर्फ़ दिल्लगी के असद,
खुला कि फ़ायदा अर्ज़े हुनर में ख़ाक नहीं।

तो भला इस मेले में बेदिल वाली काग़ज़ की नाव कब तक चलती है।

मगर एक मूल कारण, जिसका महत्त्व सबसे अधिक है, ग़ालिब की अपनी आर्थिक स्थिति थी जिसमें केवल यही परिवर्तन नहीं हुआ था कि आगे की वह खाती-पीती हालत बल्कि अलल्ले-तलल्ले खत्म हो गए, लड़कपन से अभी जवानी में क़दम भी न रखा था—

मारा ज़माने ने असदउल्लाह ख़ाँ तुम्हें
वो वलवले कहाँ, वो जवानी किधर गई,

कहने की नौबत न आई थी कि एकदम से शादी हुई, घर का बोझ सर पर पड़ा और नौउम्र ग़ालिब अपने-आपसे पूछने लगे—

वो बादए शबाना की सरमस्तियाँ कहाँ

शादी के बाद ग़रीबी दबे पाँव नहीं बल्कि आँधी और तूफ़ान की तरह आई और ग़ालिब को ऐसा जकड़ा कि फिर ज़िन्दगी-भर न छोड़ा। अक्सर गद्य और पद्य में ख़ुद कहा है कि हर्ष और उल्लास का बस एक क्षण मिला था, मगर उसका दण्ड जीवन-भर झेला और फिर पूरा नहीं हुआ।

तो ग़रीबी तो आई मगर उसके साथ-साथ इतिहास के थपेड़े ने ग़ालिब को अशराफ़ या 'एरिस्टोक्रेसी' के वर्ग से बहाकर निचली मध्यम श्रेणी में ला पटका। ग़ालिब की मर्ज़ी से नहीं, वह तो उसी पुराने वर्ग में जमे रहने के लिए बहुत मचले, बहुत हाथ-पैर पटकते रहे, अधेड़ उम्र तक दौड़-भाग करते रहे, क्योंकि बाप-दादा की जाने दीजिए तो ख़ुद उनकी अपनी शादी इसी वर्ग में हुई थी, नवाब और राजा क़िस्म के लोग उनके सगे-सम्बन्धी थे और उन्हें देखकर दिल में हूक उठनी स्वाभाविक थी कि काश हम भी इन्हीं में शामिल होते।

मगर लाख जतन किए, अंग्रेज़ों से दोस्ती की, लन्दन तक चिट्ठी-पत्र दौड़ाए, गोरी चमड़ी के मामूली-से-मामूली चपरकनातिए से लेकर मल्का विक्टोरिया तक की प्रशंसा में कविताएँ लिखकर भेजीं, मगर सारी ज़िन्दगी पर मारने का फल रत्ती-भर न मिला। वह जो मोमिन ने कहा है, "आखिर तो दुश्मनी है दुआ को असर के साथ" उसका विस्तार ग़ालिब की पूरी ज़िन्दगी बन गई।

बादशाह की उस्तादी की सम्भावना तो ख़ैर बहुत बाद में पैदा हुई थी, मगर शुरू ही में राजों और नवाबों के साथ सम्मिलित होने के स्वप्न का ठोस परिणाम यह भी न निकला कि डेढ़-दो सौ बीघा ज़मीन ही मिल जाती और खाते-पीते जमींदारों में ही गिनती होने लगती। अन्त में रामपुर से पिन्शिन बँधने तक वही बावन रुपये मासिक की आय और ज़िन्दगी-भर का साथ। इस आमदनी में यूँ भी कौन-सा चैन था जो शराब की लत पड़ गई और उसने पैसे की मार को पेट की मार बना दिया। घर की सामग्री गिरौ रखने का कारण पेट की आग थी या मदिरा की प्यास, मगर यथार्थ यह है कि बर्तन-भाँडों के बाद कपड़े तक गिरौ रखने की

नौबत आने लगी, चुनांचे एक पत्र में, व्यंग्य के रूप में लिखते हैं (क्योंकि व्यंग्य की हँसी से जिगर के घाव छिपाने का हुनर ग़ालिब से अच्छा शायद कम लोगों को आया है) कि और लोग कपड़े पहनते हैं मैं कपड़ा खाता हूँ।

दारू की दौड़-भाग में पाँव जितने तेज़ हुए उतने ही हाथ बँधते गए, दिमाग खुलता गया और बावन रुपये की गरीबी का अहसास शायद उससे भी ज़्यादा बढ़ गया जितना कि उचित था, वरना यह बात कहीं समझ में आने वाली है कि ग़ालिब जैसा मर्यादा पर मर मिटने वाला आदमी जुए की सज़ा में जेल जाए, वह शख़्स जो ख़ुदा के दर के द्वार बन्द पाकर पता नहीं सचमुच पलट आता या न पलटता मगर अंग्रेज़ प्रिंसिपल के दर से जरूर पलट आया—और यह समझकर पलटा कि इस दर को फलाँगते ही बावन रुपए की ज़िन्दगी से मुक्ति है, अच्छे-ख़ासे पैसों की नौकरी है और कालेज के अध्यापक का आदर है।

इसी तंगा-तुर्शी पर, जिसने जुए में उलझाया, ग़ालिब ने ख़ुद बड़े व्यंग्य के साथ टिप्पणी की है कि "मियाँ बड़े शायर बनते हैं, आपकी सूरत तो देखिये, इनकी हक़ीक़त क्या है, बनिया चाहे तो भूखा मार दे, कर्ज़दार चाहे तो इज़्ज़त उतार ले···" ···इस तरह वह तो कड़वी-से-कड़वी बात फीकी हँसी हँस-हँसकर कहे जाते हैं मगर पढ़ने वाले को ज़ब्त करना मुश्किल हो जाता है और कहीं-कहीं तो आँखें भी रोते हुए दिल का साथ देने लगती हैं।

तो दिल्ली का मतलब था शासक वर्ग से कटकर मध्यम वर्ग में मिल जाना, हकीमों, मुंशियों, सरकारी अहलकारों, छोटे-मोटे अहलकारों, गर्ज़ यह कि सफ़ेदपोशों और आमतौर पर उन लोगों से मेल-जोल जिन्हें 'अहलेदुआ' और 'अहले-पेशा' कहकर सालहासाल तक ग़ालिब उनसे एक तरह की दूरी बनाए रखने की बेकार-सी कोशिश करते रहे, मगर कब तक ? रफ़्ता-रफ़्ता ऐसे घुल-मिल गए कि बिल्कुल एक हो गए जिसका पूरा-पूरा प्रमाण उनके पत्रों में मिलता है। वह इन पत्रों में अपने बहुसंख्यक मित्रों से जिस प्रकार खुले दिल से बात करते हैं, हर रुकावट, हर कृत्रिम भावना, हर तरह की ऊँच-नीच, हर प्रकार के ऐंच-पेंच, सावधानी और संकोच से मुक्त होकर हँसते और गले मिलते हैं वह ऐसा रूप है जो घर के बाहर नहीं घर के अन्दर सच्चे जनतन्त्र का चित्रण है।

उर्दू में पत्र-व्यवहार ग़ालिब ने बाध्य होकर किया। माना कि पत्र लिखने के लिए उन्हें कोई ख़ास मजबूरी नहीं थी जैसी जननी के समान एक शायर को होती है। जब उसकी चेतना पर शेरों की वर्षा होने लगती है, "आते हैं ग़ैब से ये मज़ामीं ख़याल में" का सिलसिला दिल की धड़कन तेज़ कर देता है, दिमाग़ की रगों में तनाव पैदा कर देता है और सारी आत्मा को गर्भवती की तरह बोझिल बना देता है। मगर यहाँ भी हुआ वही कि इस रास्ते पर वह लोगों की ख़ुशी के लिए चले और फिर इस पथ-गमन की प्रतिध्वनि से ख़ुद उनको ही लोभ हो गया और यद्यपि फ़ारसी के स्थान पर उर्दू में पत्र-व्यवहार का चलन उन्होंने ख़ासी उम्र में शुरू किया, थोड़े ही समय में ख़त लिखने-लिखाने की चाट-सी लग गई और "कासिद के आते-आते ख़त इक और लिख रखूँ" का वह सिलसिला बँधा कि पत्रों के बोझ से ग्रन्थ के ग्रन्थ तैयार हो गए। और चूँकि यह सारा सिलसिला ही प्रौढ़ आयु में प्रारम्भ हुआ इसलिए उनकी पूरी पत्रावली समतल प्रकार से असाधारण उच्च साहित्यिक स्तर पर दिखाई देती है जिसमें बहुत खोज लगाकर मानो अनुसन्धान के लिए कोई-आध सिकुड़न या झोल पकड़ में आजाए तो बड़े भाग्य की बात समझनी चाहिए।

इसलिए ग़ालिब को बदलना पड़ा। बेदिल के और अपने "नक्शे नाज़े बुते तन्नाज़···" वाले काव्य को हुनर समझते हुए भी बदलना पड़ा। लेकिन मीर, दर्द और सौदा की परम्परा, दिल्ली की भाषा की घुलावट, सुथरी शायरी में जनता के एक अच्छे-ख़ासे भाग की दिलचस्पी, यहाँ के उच्च साहित्यिक स्तर के प्रभाव दोस्तों की सलाह और दुश्मनों के टहोकों और फिर अँग्रेज़ी राज के कोलाहल के कारण एक बार जब उन्होंने बदलना शुरू किया तो इतनी तेज़ी से बदले कि कुछ बरसों में "शुमारे सुब्ह······" के दूर देश से

आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।

के अपने प्रिय प्रदेश में पहुँच गए। कहने का मतलब यह नहीं कि उन्होंने वह ग़ज़ल फ़ौरन कह दी जिसमें यह शेर आता है, न यह कि इसी प्रकार के शेर शीघ्र ही आम तौर पर कहने लगे, बल्कि यह कि अब उनकी शायरी का स्रोत जैहून के बजाय जमुना हो गई जिससे "आगे आती थी······" वाली शायरी फूटती है। अब उनका ध्यान ऐसी दिशाओं की ओर मुड़ गया जहाँ पहुँचकर कविता की ऊँची चोटियाँ नीचे दूर

तक फैली मालूम होती हैं।

चूँकि यह सुधार युग की माँग के अनुकूल था इसलिए समय बीतने के साथ-साथ यह सुदृढ़ होता गया और फिर एक प्रकार से दिल्ली से भी अत्यधिक प्रभावशाली एक नगर उनके जीवन में आया—कलकत्ता—जिसने सारे आन्तरिक जीवन में ग़ालिब की चेतना ही नहीं अर्धचेतना में भी एक क्रान्ति पैदा कर दी। दिल्ली में जो रास्ते उन्होंने अपनाये थे अब उन पर पक्के हो गए और नज़ीर के लोकवाद से भागने वाला कवि, लोकभाषा, लोकशैली, लोकस्वर और लोकध्वनि में बेदिल और उर्फ़ी के अर्थ अदा करने वाला सबसे कामयाब शायर बन गया:

हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।
आगे आती थी हाले दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।
है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ
वर्ना क्या बात कर नहीं आती।

और इसी के साथ लोक-भावना को बेदिल और उर्फ़ी बल्कि उनसे भी उच्चतम भाषा और शैली में प्रस्तुत करने का सलीका भी उसने कमाल को पहुँचा दिया:

एक नौ बहारे नाज़ को ताके है फिर निगाह
चेहरा फ़रोग़े मै से गुलिस्ताँ किये हुए।
माँगे है फिर किसी को लबे बाम पर हवस
ज़ुल्फ़ सियाह रुख़ पे परीशाँ किये हुए।

इन दो नगरों के अतिरिक्त दो व्यक्ति भी हैं जिनका कवि को आधुनिक बनाने में बड़ा हाथ था। एक का नाम था असदुल्लाह ख़ाँ और दूसरे का ग़ालिब। असदुल्लाह ख़ाँ गृहस्थ, दुनियादार और समझदार आदमी थे और ग़ालिब थे कलाकार अपने व्यापकतम अर्थों में।

मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ बहुत समझदार ही नहीं बल्कि कवि और कलाकार होते हुए भी खासे चालाक आदमी भी थे, बुरे मानों में भी और अच्छे मानों में भी, क्योंकि वे दूसरों का बुरा चेतने वालों में से बिल्कुल नहीं थे। उनकी चालाकी का प्रमाण अँग्रेज़ों के प्रति उनके रवैये से मिलता है जिनको उनका रोआँ-रोआँ कोसता था क्योंकि अँग्रेज़ों ने खुद उनकी पेन्शन करीब-करीब डकार ली थी, उनके भाई को जान से मारा था, उनके सैकड़ों अज़ीज़ों और दोस्तों को मारा था, उनके नगर के उसी भाग को, जो दिल्ली की जान था, गिराकर बिल्कुल ज़मीन के बराबर कर दिया था। मगर ग़ालिब ने कभी उनके विरोध में भूले से भी एक लफ़्ज़ नहीं लिखा, लिखना तो दूर रहा उनके ख़तों में भी इसका दूर-दूर कोई इशारा नहीं मिलता, इसलिए पता चलता है कि वे घनिष्ठ मित्रों तक से अपने दिल के इन ज़ख़्मों का कानाफूसी में भी भी ज़िक्र नहीं करते थे और इसीलिए भाई की मौत को जान-बूझकर बीमारी के कारण मशहूर कर दिया जिससे उन्हें विरोध फैलाने का दोषी न समझा जाए इस सबके पीछे डर से भी बड़ा कारण उनकी सावधानी थी, क्योंकि फ्रेज़र के क़त्ल पर नवाब शमसुद्दीन को फाँसी तो बाद में हुई (जिस पर लोगों को यह भी शुबहा था कि नवाब की शिकायत ग़ालिब ही ने की) मगर ग़ालिब इससे २०-३० वर्ष पहले ही अंग्रेज़ों के तेवर भाँप गए थे और यह रहस्य अच्छी तरह समझ चुके थे कि उनकी बाएँ ओर आए तो जान की अमान नहीं। इसी तरह अपनी समझदारी के कारण वे बहुत शुरू में ही समझ गए कि शायरी और अदब की हवा किधर की है और अंग्रेज को खुश रखने की कोशिश की तरह, यहाँ भी समय का साथ देने के लिए बदले तो कुछ बहुत खुशी से नहीं। खुशी तो जब हुई जब सच्ची कला के निर्माण से एक सच्चे कलाकार को मज़ा आने लगा।

एक ओर ज़माने और स्वयं मिर्ज़ा साहब की अपनी सूझ-बूझ और दूसरी ओर व्यक्तित्व पर परम्परा के प्रभाव में जो अन्तर्विरोध था, इस समस्या का समाधान कवि की कलात्मक आत्मा ने किया, काव्य-अहंकार ने अर्थात् शायरी के क्षेत्र में ग़ालिब के एक अत्युत्तम विशेष वाद ने। मगर यह समाधान दोनों विरोधी तत्त्वों में से किसी एक को अपनाकर और दूसरे को छोड़कर नहीं बल्कि दोनों फ़ीतों को एक साथ इस प्रकार बुनकर किया गया जिसमें परम्परा का रंग पृष्ठभूमि में चला गया और युग का आगे-आगे, और यही ग़ालिब की आधुनिकता है।

ग़ालिब के विशेष 'वाद' से हमारा क्या मतलब है? केवल यह कि ग़ालिब की इस अभिलाषा ने कभी एक क्षण के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ा कि वह अपना मार्ग अलग बनाए। पिटे हुए रास्ते पर चलने से उनके पग रुकते थे और चबाए हुए निवाले उगलने से उनकी आत्मा को सदा घृणा रही। इस प्रवृत्ति का कला तो क्या रोजमर्रा के जीवन पर भी इतना प्रभाव था कि जब बाल सफ़ेद होने के कारण दाढ़ी

मुड़ाना छोड़ी तो सर मुड़ाना शुरू कर दिया क्योंकि एक पत्र में खुद लिखते हैं कि दिल्ली में दाढ़ी तो एक यूनीफार्म बनी हुई है। सक्के और धोबी से लेकर बादशाह तक···बादशाह का ग़ालिब ने नाम तो नहीं लिया मगर उनके पत्र में इशारा इतना व्यापक है कि बहादुरशाह उसकी लपेट में आ ही जाता है—सभी दाढ़ी रखे हैं, इसलिए मित्रो मैंने दाढ़ी रखने के साथ बाल मुड़ाने शुरू कर दिए ताकि भिन्नता का कोई चिह्न तो हो। और आदमी जब अपना रास्ता अलग निकालता है, चाहे वह किसी क्षेत्र में हो तो उसे आगे देखना पड़ता है पीछे नहीं, वह आधुनिक बनता है रूढ़िवादी नहीं।

"शुमारे सभा···" से "हम वहाँ हैं जहाँ से हमको···" तक का अन्तर केवल कठिन और सरल, भाषा और शैली का अन्तर नहीं, बल्कि काव्य के प्रति कवि के रवैये का, वैदेशिकता और भारतीयता का, बिगड़े हुए बेदिल और बने हुए ग़ालिब का, दो शताब्दियों का नहीं दो युगों का अन्तर था। आश्चर्य यह है कि यह देखने में अपार अन्तर ग़ालिब ने इतना अविलम्ब कैसे तय कर लिया, यद्यपि आरम्भ में वह कोई बहुत स्वेच्छा से पग धरते भी नहीं दिखाई देते। पर यही उनकी प्रतिभा है कि इतने घोर दोदिलेपन के संकट में पड़े और दो युगों के बीच खिंचते रहे, जिसका शायद ही किसी भाषा में किसी भी कवि से सामना हुआ हो और शायद ही किसी को अपनी मातृभाषा के दीवान का बड़ा हिस्सा फाड़कर फेंकना पड़ा हो, मगर इस विकट संकट पर वह बहुत सफलतापूर्वक वर आए, और अपनी कला का स्वाभाविक स्तर उन्होंने जवानी में ही ढूँढ लिया। फिर इस नये रास्ते पर वह जितना आगे बढ़ते गए उतना ही उनके हृदय में विश्वास और पग में गति आती गई।

इस यात्रा में वह किन चरणों से गुज़रे यह बड़ी लम्बी कहानी हो जाएगी, इसलिए उसे यहाँ छोड़ने के सिवा कोई चारा नहीं, क्योंकि ग़ालिब की आधुनिकता के आरम्भ पर पहुँचते-पहुँचते इतना अधिक समय पहले ही बीत चुका है। यह इसलिए आवश्यक था कि इस परिवर्तन की समालोचना किये बिना न तो हम ग़ालिब की आधुनिकता के महत्त्व का अनुमान कर सकते थे और न उसका वास्तविक अर्थ समझ सकते थे।

और अब जो इस नये ग़ालिब से हमारा परिचय होता है तो वह पुराना सनातनवादी, कठिनतावादी, बुद्धिवादी, उच्चतावादी, जातिवादी ग़ालिब पहचाना भी नहीं जाता और उसकी जगह एक ऐसा सज्जन पुरुष मिलता है जो व्यक्तिवादी होते हुए भी मानववादी है और भरपूर मानववादी है। अभिजात अमीरों और सरदारों के कृत्रिम जीवन का उसके यहाँ ज़रा भी मैल नहीं बल्कि केवल मित्रता की स्वच्छता है, सबसे प्रेम है, भाईचारा है, अज्ञान की कड़ी-से-कड़ी आलोचना के बावजूद एक गलियारे दुश्मन के लिए भी इस हिमाकत पर हँसी है कि कम्बख्त को गाली देनी भी नहीं आती, बूढ़े ग़ालिब को जवानों जैसी गाली देता है।

ग़ालिब के किसी गम्भीर विद्यार्थी को इस पर विस्मय तो नहीं होगा पर इसकी क़द्र अवश्य करनी चाहिए कि इस परिवर्तन ने, चाहे वह कितना ही मौलिक रहा हो और कितना ही अल्पकालिक, किन्तु किसी सख्त झटके का नहीं बल्कि विकास ही का रूप धारण किया और एक प्राकृतिक प्रगति के साथ उत्पन्न हुआ। इसकी प्रकृति एक दबे हुए अर्ध-सचेत आंतरिक संकट से बढ़कर एक विनाशकारी संघर्ष की नहीं होने पाई। समाज के लिए तो झटके वाला परिवर्तन एक बिन्दु पर पहुँचकर अनिवार्य हो जाता है और इसलिए रचनात्मक होता है, लेकिन व्यक्ति को अधिकतर तोड़ देता है और अगले चरण पर पहुँचने के लिए कुकर्मक अंश कटकर अलग होते हैं तो साथ-ही-साथ श्रेष्ठ तत्त्वों को भी काफी हद तक त्यागना पड़ता है। किन्तु ग़ालिब को अपनी आत्मा के साथ सौभाग्यवश यह हिंसा नहीं करनी पड़ी और आत्म-मन्थन के किसी ऐसे संघर्ष से नहीं गुज़रना पड़ा जिसमें परम्परावादी और बेदिलीय या अन्य फारसी काव्य से प्रभावित मोहक तत्त्वों को अपने अन्दर समेटे हुए अपनी आत्मा के श्रेष्ठ भाग की बलि देनी पड़ती। उन्होंने केवल युग-संकट से गुज़रकर नये युग में प्रवेश किया तो अपने पूरे व्यक्तित्व को विघटन से मुक्त सही-सलामत बचा लाए। नये ग़ालिब में पुराने ग़ालिब का कोई अंश मरा नहीं केवल परिवर्तित हो गया। और इसलिए ग़ालिब की आधुनिकता का अध्ययन उनके अन्दर पड़ी हुई किसी दरार का अध्ययन नहीं, आधुनिकता और रूढ़िवाद की अलग-अलग परतों, अलग-अलग फीतों की अपेक्षा का प्रयास नहीं बल्कि सारे फ़ीतों के बुने हुए ताने-बाने का, पूरे-के-पूरे ग़ालिब का, उनके पूरे व्यक्तित्व और पूरी कला, पूरे गद्य और पद्य का अध्ययन है। क्योंकि पच्चीस और तीस वर्ष की आयु के बीच में इस परिवर्तन

का अभिप्राय भली-भाँति पूरा हो चुका था और भविष्य में उनको किसी विशेष आत्म-संकट का सामना नहीं करना था, जो भी था बाहरी संकट था, विशेषकर पैसे का संकट जो अन्त समय आ गया और न कटना था न कटा।

●

अभी जब हमने ग़ालिब की आधुनिकता के व्यक्तित्वव्यापी होने का ज़िक्र किया तो उससे हमारा अर्थ यह था कि उनके मानवीय जीवन का और उनकी सारी कला का ढंग ऐसा था जिसने उन्हें आधुनिक युग के, हमारे अपने युग के, काफ़ी समीप कर दिया। ऐसा मनुष्य आधुनिक नहीं तो और क्या कहलाएगा जो पिछली शताब्दी के भी पहले अर्द्ध भाग के आसपास बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों का क्या ज़िक्र है पत्रों के साधारण आवागमन के सम्बन्ध में भी समय का इतना लिहाज़ रखे कि किसी सम्बोधक का सप्ताह में उसके निश्चित दिवस पत्र न आए तो उसको सख़्ती से हिदायत दे कि भई तुम ख़त बैरंग भेज दिया करो, न इसके खोने का डर रहेगा न विलम्ब का?

इसे आप एक कलाकार की सनक कहकर नहीं टाल सकते क्योंकि हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक मामलों में ग़ालिब समझदार क्या ख़ासे दुनियादार आदमी थे और उनमें सनक-बनक नाम-मात्र भी नहीं थी। सनक तो आदमी ऐसी रखता है जिसमें दूसरे को कष्ट हो, अपने को नहीं, जबकि समय की पाबन्दी ऐसी चीज़ है जिसमें दूसरे को ही नहीं, अपने को भी उतना ही कष्ट देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो वह बैरंग ख़तों के पैसे अपनी जेब से देने को उठाने को, तैयार हैं। इसलिए यह कोई बनावट की या ऐसे ही बेध्यानी की फ़रमाइश नहीं है बल्कि गम्भीरता से की गई है जिससे मिज़ाज का एक स्थायी स्वभाव प्रकट हो रहा है। यह बात जानने के लिए कि समय की पाबन्दी में कितनी आधुनिकता है हम केवल वर्तमान भारत को देख लें जहाँ एक सौ दस रेलें चलने के बाद भी अभी समय के ध्यान से इतने ऊँचे हैं कि औरों का क्या ज़िक्र है एक बहुत बड़े प्रदेश के बहुत बड़े मुख्यमंत्री और केन्द्रीय गृहमंत्री दूसरी शताब्दी के दूसरे अर्द्ध भाग में रेलगाड़ी पर पहुँचने के लिए अक्सर चार-चार घण्टे अभी कभी-कबार छः-छः घण्टे तक विलम्ब से गए हैं!

यह तो हमने सिर्फ़ सामने की बात की और एक इशारा कर दिया जो किसी विस्तृत अध्ययन में एक प्रतीक का काम कर सकता है जिससे ग़ालिब के मस्तिष्क की एक हल्की-सी झाँकी मिल जाय। पर हम उनके जीवन के अन्य पहलुओं को भी देखें तो उनसे भी हमें आधुनिकता का निस्सन्देह संकेत मिलता है। और कुछ नहीं तो आप ग़ालिब के मित्रों ही को ले लीजिए। इसको छोड़िए कि ये भिन्न-भिन्न प्रकार के थे और यह भी भूल जाइए कि उनसे ग़ालिब के सम्बन्ध वही पुराने सामन्ती युग के थे या नये उद्योग युग के, बल्कि केवल उनकी संख्या को ले लीजिए। एक पत्र में ख़ुद लिखते हैं कि "सत्तर वर्ष की आयु में जनसाधारण से नहीं जन-विशेष से सत्तर हज़ार व्यक्ति नज़र से गुज़र चुके हैं।" इनमें सब तो नहीं, क्योंकि 'इन्सान-शनास' ग़ालिब को इन्सानों की पहचान थी और वह ख़ूब जानते थे कि इनमें जो जितना ज़्यादा विशेष है उतना ही निकम्मा और गिरा हुआ, पर सौवाँ भाग भी दोस्तों का हुआ तो सात सौ मित्र हो गए, पर उनके वास्तविक मित्रों का वृत्त, चाहे वह इस बात का अहसास न रखते हों, जन-विशेष नहीं जन-साधारण ही में थे, जैसा कि उनके पत्रों के सम्बोधकों से स्पष्ट है।

फिर पत्र-व्यवहार तो उन्हीं से कर सकते थे जो उनके गद्य की सरलता, उनकी वार्ता की शैली, उनके सम्बोधन की समीपता, उनके व्यंग्य की चोट और हास्य-विनोद के कौशल से प्रभावित और प्रसन्न होने की रुचि रखता हो। इनकी अपेक्षा कितने ही ऐसे होंगे जो सज्जन पुरुष होने के कारण ग़ालिब जैसे 'इन्सान-शनास' के मित्र तो रहे होंगे किन्तु उनसे पत्र-व्यवहार की या तो गुंजाइश नहीं थी या नौबत नहीं आई। इनमें बहुत बड़ी संख्या उनके सबसे घनिष्ठ मित्रों की है जो स्वयं दिल्ली में रहते थे और जिनमें बल्ली-मारान के हाताकाले साहब वाले काले साहब जैसे व्यक्ति भी थे जिनके यहाँ कारागार से आकर उन्होंने शरण ली और एक पत्र में लिखा कि "पहले गोरे की क़ैद में था, अब काले की क़ैद में हूँ।"

यह सब मिलाकर कितने हुए? हज़ार-डेढ़ हज़ार तो ज़रूर हो गए होंगे। चलिए इसे भी छोड़िए, केवल उन लोगों की सूची बनाकर देखिए कि कितनी लम्बी होती है जिनके नाम ग़ालिब के पत्र मुद्रित हो गए हैं। इतनी अधिक संख्या में और इतने विभिन्न प्रकार के, रुचि, वर्ग, बुद्धि और विचार, पेशे और धर्म, और सामाजिक स्तर के लोगों से हम उन्हें

बेतकल्लुफ़ वार्ता करते देखते हैं तो उनकी संख्या और विभिन्नता पर ही आश्चर्य होता है। इसको भी जाने दीजिए, केवल उन नगरों की सूची बना लीजिए जहाँ ये पत्र भेजे गए तो उत्तरी भारत का शायद ही कोई शहर रह जाय जिसका इसमें नाम नहीं आएगा।

इसी के साथ यह भी ध्यान रहे कि रेलें अभी नहीं बिछी थीं, उनके जीवन के अंतिम वर्षों में भी स्थिति ऐसी थी कि उनको रामपुर जो कई बार जाना पड़ा तो दिल्ली से सौ-सवा-सौ मील का यह फ़ासला तय करने में एक-एक सप्ताह लग गया और जवानी में कलकत्ते जो गए थे वो तो कई शहरों में रुकते-रुकाते पूरे साल भर में पहुँचे थे।

और तब हमें अंदाज़ा होता है कि इस आदमी का व्यक्तित्व मानवीय चरित्र की कितनी व्यापक दिशाओं पर छाया हुआ था। समय और स्थान की कितनी विस्तृत सीमाओं तक फैला हुआ था।

मगर इसमें आधुनिकता की क्या बात है? यही कि सामंती युग में दोस्ती का यह व्यापक विस्तार संभव ही नहीं था। और इसलिए राजा हो या भिखारी हर एक के बस दो-चार दोस्त होते थे, बहुत हुए तो दस-बारह। जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ उसके हद-से-हद चालीस-पचास मित्र हो गए, किन्तु इनमें भी निकट मित्रों की संख्या कम ही होती थी। आम तौर से जिसे जीवन में एक-डेढ़ दोस्त मिल जाता था, अपने को बड़ा भाग्यवान समझता था और इसकी पूर्ति के लिए अभिलाषा केवल यह रह जाती थी कि शत्रु भी उदार मिले, क्योंकि दोस्त और दुश्मन दोनों में कोई ऐसा अपार अंतर नहीं होता था, दोनों का पुरुष से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता था, जीवन-मरण का संबंध, क्योंकि मित्र अपने प्राण देकर भी मित्र की रक्षा करता था और शत्रु भी अक्सर ज़रा-सा बहाना पाकर साफ़-साफ़ मित्र ही बन जाता था।

स्पष्ट है कि जब तेज़ रौ परिवहन के साधन न हों तो दिल्ली से कलकत्ते तक किसी के दूर-दूर प्रदेश में इतने बहु-संख्यक दोस्त कैसे हो सकते हैं। मानव ग़ालिब की यह व्यापक श्रेणियों और दूर देश तक फैली हुई मित्रता, पहले ही से, आनेवाली रेलों और अन्य औद्योगिक गतिशीलता के युग की सूचना दे रही थी जिसमें लोग अल्प समय में कई गुना ज़्यादा व्यक्तियों से मिल सकेंगे, अतः उतने ही अधिक मित्र भी बना सकेंगे। मगर यह केवल मेल-मुलाकात के विस्तार और परिवहन की शीघ्रता का प्रश्न नहीं, बल्कि उससे ज़रा गहरा सामंती और नवीन स्वभाव और प्रवृत्ति का प्रश्न है।

सामंती युग के प्रतिनिधि औरंगज़ेब को देख लीजिए। जीवन-भर युद्ध-क्षेत्र में गतिशील रहा। उसके लिए परिवहन का क्या अभाव था जिसकी सुविधा डेढ़-दो सौ वर्ष बाद भी ग़ालिब को प्राप्त रही? परन्तु फिर भी चूँकि वह अपने चारों ओर बदलती हुई स्थिति के अनुसार अपने को नहीं बदल सकता था, अर्थात् सिकुड़ते हुए सामंतवाद के युग में अपने सिकुड़ते हुए व्यक्तित्व का रिश्ता भविष्य से नहीं जोड़ सकता था, इसलिए शायद उसका कोई मित्र न था, और तो और स्वयं उसे अपनी सन्तान पर भी विश्वास नहीं था।

इसकी अपेक्षा दारा शिकोह को देखिए जो सामंती प्रथा की उत्पत्ति होते हुए भी भारत की बदलती हुई गति की धमक को अपनी रगों में महसूस करता था अर्थात् राष्ट्रीयता की बिल्कुल प्रारंभिक कसमसाहट का विरोधी नहीं बल्कि उससे थोड़ी-थोड़ी सहानुभूति रखने वाला विद्वान् राजकुमार था और इसलिए उसके इतने मित्र थे कि जब उसे अपमानित करने के लिए औरंगज़ेब ने जलूस निकाला तो उसके अपने परिवार और दिल्ली के सूफ़ियों और पंडितों में ही नहीं बल्कि घर-घर में रोना था और सारे नगर में मातम।

हो सकता है मित्रता के विषय में इस दृष्टिकोण से कुछ लोग सहमत न हों और आपत्ति उठाएँ कि एक औरंगज़ेब और दारा शिकोह का इत्तफ़ाकी उदाहरण किसी सिद्धान्त का प्रमाण कैसे बन सकता है और सामंतवाद या उद्योग युग का मित्रता की घनिष्ठता या उसकी संख्या से क्या संबंध हो सकता है। मगर हम पुनः यह विनती करेंगे कि ये दोनों ऐसी दूर की बेजोड़ बातें नहीं और इनका संबंध पता चलाने के लिए किसी बड़े अनुसंधान की जरूरत नहीं है। सामंती युग की मित्रता इतनी घनिष्ठ होने के बावजूद इस अर्थ में एक प्रकार की बनिऔटी थी कि आप मेरी रक्षा के लिए जान दीजिए, मैं आपको बचाने के लिए बलि हो जाऊँ। इस मित्रता में कभी-कभी प्राण देने के अवसर भी आ जाते थे जिनकी कहानियों ने उसमें इतना रोमांचक आकर्षण पैदा कर दिया है कि अब तक हम इस मित्रता का गुणगान करते हैं। पर ग़ौर से देखिए तो इसका आधार स्वार्थ था, मानव के चरित्र का मूल्यांकन कम। मेरा मित्र चोर हो, डाकू हो, संसार के लिए कितना ही बुरा हो, किन्तु हर बुरे-भले में मेरा साथ देता है इस-

लिए उसके चरित्र की ओर से मेरी आँखें बंद हैं, मेरे लिए तो विश्व का श्रेष्ठतम नायक वही है। सामंती व्यवस्था में चूँकि सुरक्षा का अभाव था इसलिए मित्रता में प्रथम प्रश्न किसी व्यक्ति के विश्वासपात्र होने का, चाहे वह निष्ठा इसलिए हो कि लड़कपन का साथ था या इसलिए कि गाढ़े वक्त में साथ दिया, मानक और भाव वही था जो शेख सादी निश्चित कर गए थे कि :

दोस्त मांबाशद कि गीरद दस्ते दोस्त
दर परीशां हालिओ दर आंदगी।

(दोस्त वही है जो परीशान हाली में और विपदा में दोस्त का हाथ पकड़े।)

जीवन की किसी घटना या घटनाओं के फलस्वरूप दोस्त, दोस्त का दोस्त हो जाता था। किसी को मित्र प्राप्त हो जाए यह सुखद घटना सही क्योंकि शेख सादी या किसी और पैमाने पर नाप-तौलकर दोस्त का निर्वाचन नहीं होता था, जिस प्रकार गुन-अवगुन के आधार पर किसी नरेश का निर्वाचन नहीं होता था। गाँव, नगर, प्रान्त या देश के प्रशासक की अच्छाई-बुराई भी दोस्त के समान इस पर निर्भर थी कि उसके द्वारा सुरक्षा का प्रयोजन कहाँ तक उत्तम होता है।

मगर जब सामन्त-युग का अन्त होने लगा, सुरक्षा ख़ासी सुरक्षित हो गई, नए युग के नए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे, नई मान्यताएँ उभरने लगीं तो अब मित्रता का वह पुराना स्वार्थी आधार भी बदला। यह आधार यद्यपि नए सामाजिक सम्बन्धों की पेचीदगी के समान और इस पेचीदगी के कारण भी बहुत पेचीदा था, पर सरलीकरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि इस मित्रता का आधार था प्रेम और आदर। अब उन व्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनको जीवन-प्रवाह ने हमारे पास पटककर हमारे साथ मित्रता अथवा शत्रुता के बन्धन में बाँध दिया, अब समर्थन और विरोध के सम्बन्ध सहविचार और सहकारिता के सम्बन्ध, चरित्र और दुराचार के आकर्षण और अनाकर्षण के सम्बन्ध का भी पेचीदा होते हुए जीवन में महत्त्व होने लगा और यही सम्बन्ध विकसित दोस्ती और दुश्मनी का आधार बनने लगा। अब आदमी दोस्ती के सम्बन्ध में घटनाओं से बाह्य नहीं रहा बल्कि स्वभाव और आचार की अनुकूलता के अनुसार अपने दोस्त बनाने लगा, उनका निर्वाचन करने लगा, अपने प्रति किसी की निष्ठा की पूजा अर्थात् स्वयं अपनी ही पूजा करने की अपेक्षा दूसरों के गुन-अवगुन का मूल्यांकन करने लगा। आदमी की कद्र हुई, दारा के दिल में सेनापतियों और राजनीतिक शतरंज के मोहरों—शहज़ादों, रईसों और सरदारों—और निष्ठावान रक्षकों या सरबकफ़ सिपाहियों के अतिरिक्त संस्कृत के विद्वान् पंडितों और फ़ारसी के शायरों ही की नहीं, सरमद जैसे चरित्रवान् सूफ़ियों और फकीरों की कद्र पैदा हुई जिसके कारण वह लोकप्रियता में मुग़ल शहज़ादों में शायद सबसे आगे बढ़ गया और ग़ालिब को 'इन्सान शनासी' का ज्ञान मिला जिसके सहारे उन्होंने अपनी मित्रता का जाल सारे भारत में फैला दिया।

इतने बहुत-से आदमियों से बकौल पंजाबियों के 'राज़ी-ख़ुशी' होने की शक्ति मिजाज में इतना गुन कि कोई इतने विभिन्न लोगों से प्रसन्न हो और उन्हें प्रसन्न करे, क्या ये बातें युग धारा के विरोध के साथ सम्भव हैं? ये बातें रूढ़िवादी संकीर्णता की सूचक हैं या आधुनिक उदारता की।

इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि व्यावहारिक जीवन में जितनी आसानी से ख़ुश हो जाते थे, जिस खुले दिल से और जिस तरह दोनों हाथों से दोस्ती बाँटते और लूटते थे, उसी तरह और उतने ही वे कला के स्तर पर दुराराध्य भी रहे।

शायद इसी वजह से इतने प्रसिद्ध होने पर भी ग़ालिब शायरी में अपने कोई ख़ास शागिर्द नहीं बना सके, हालाँकि उस ज़माने में क्या दाग़ के ज़माने तक चलन था कि चेलों में जो ज़रा खाते-पीते होते थे वे अपनी ग़ज़लों के सुधार और संशोधन का पूरा एक-एक, दो-दो रुपया (वर्तमान मूल्य के अनुसार कम-से-कम पचास-पचास, सौ-सौ रुपया) पुरस्कार के रूप में दे दिया या भेज दिया करते थे और इससे बड़े-बड़े उस्तादों की अच्छी-ख़ासी आय हो जाती थी जिसकी तत्कालीन उस्तादों में ग़ालिब को सबसे अधिक आवश्यकता थी। वैसे ग़ालिब के पास भी इस्लाह के लिए कभी-कभार एकाध ग़ज़ल लिफ़ाफ़े में आ जाया करती थी मगर उसको भी जब वे बना-सँवारकर वापस करते थे तो ग़ज़लगों की ग़ज़ल से ज़्यादा उन्हें अपनी इस्लाहों पर विवाद छेड़ने में मज़ा आता था। यह भी कहा जाता है कि शायरी में हाली ग़ालिब के चेले थे। यह ऐसी ही बात है कि यदि शान्तिप्रिय द्विवेदी कवि भी होते तो सुमित्रानन्दन पंत के समालोचक होने के कारण बिना पूछे-गछे और बग़ैर सोचे-समझे हम यह भी मान लेते कि

द्विवेदी पन्त के चेले हैं चाहे उनकी कविताओं में पन्त का प्रभाव मिलता या न मिलता। यह अलग बात है कि सौभाग्यवश हिन्दी काव्य में गुरु-शिष्य की परम्परा ही नहीं है, इसलिए कोई किसी का चेला माना नहीं जा सकता।

भला बताइये कहाँ हाली की "ऐ माँओ-बहनो-बेटियो, दुनिया की इज़्ज़त तुमसे है" वाला प्रयोगी काव्य और कहाँ ग़ालिब की "दामाने बाग़बानो कफ़े गुलफ़रोश" वाली महकती हुई रंगीन ग़ज़ल गोई और विचार एवं भावना की तीव्रता के ताप की सूचक, "आबगीना तुन्दिए सहबा से पिघला जाए है" की दहकती हुई शायरी। सच यह है कि हाली ग़ालिब के रस्मी शागिर्द नहीं थे जो कुछ ग़ज़लों के क़ाफ़िए ठीक करा लेते और कुछ शेरों का झोल निकलवा लेते बल्कि वे उनके सच्चे शागिर्द थे और उनसे प्रभावित होकर उन्हीं के समान हाली ने गद्य और पद्य में अपने लिए बिल्कुल नई राह निकाली, जो नवीनता में शायद ग़ालिब से भी अधिक थी।

ज़रा ग़ौर करने से ग़ालिब के शागिर्दों के अभाव का रहस्य खुल जाता है। हर मिलने वाले आदमी को तो वे अपना मित्र बना लेते थे, शिष्य कहाँ से आते! हर आने वाले से, चाहे वह पहली बार आया हो, बिल्कुल घुल-मिल जाते और ऐसी संसार-भर की मज़े-मज़े की बातें करते कि घटिया क़िस्म की ग़ज़लों के एक-एक शेर को लेकर और पित्ता मारकर उसका सुधार करते अर्थात् उसके शब्दों की मक्खी-पर-मक्खी मारने के लिए धैर्य कहाँ से लाते। रह गया पत्र-व्यवहार द्वारा गुरु-शिष्य के सिलसिले का संचालन, सो वह और भी मुश्किल था। ऐसे अहमक और रुचिहीन कितने हो सकते थे जो ग़ालिब के अछूते और सर्वश्रेष्ठ पद्य को छोड़कर, उनके जीवित बोलते-चालते वार्तालाप को भूलकर अपनी ठस ग़ज़लों पर समय बर्बाद करते।

तो रोज़मर्रा के सामाजिक व्यवहार में उनकी आधुनिक प्रवृत्तियों के समान कला के क्षेत्र में भी ग़ालिब की प्रतिभा आधुनिक प्रतिभा थी। तबियत को बदमज़ा करने वाली औरों की शायरी का बोझ वह कवि क्या उठाता जिसकी समालोचक चेतना कला के क्षेत्र में इतनी जाग्रत थी और काव्य के मूल्यांकन के मामले में इतनी दृढ़ और कठोर कि खुद अपनी ख़ामियों को उसने माफ़ नहीं किया और अपने दीवान का बड़ा भाग नष्ट कर दिया। इस मामले में तो ग़ालिब पिछले युग से ही नहीं आजकल के कवियों से भी आगे हैं। जो अब तक एक-एक मिसरए तरह में दोग़ज़ले और सहग़ज़ले कहलाते हैं और फिर भी उनका जी नहीं भरता। यदि कोई यह कहे कि साहब! ग़ालिब को अपनी 'शुमारे सब्ह...' वाली शायरी तो नष्ट कर ही देनी चाहिए थी तो फिर इस कसौटी पर हमारे वर्तमान भाइयों के सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ शेरों की ग़ज़लें ही नहीं बल्कि पूरे-पूरे दीवान जला देने पड़ेंगे।

इतनी व्यापक मित्रता उनके भरे हुए अहंकार के साथ कैसे चल सकी, यह प्रश्न अक्सर किया गया है और उसी के साथ यह भी कि इस मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व किस स्तर पर था जो एक ओर मित्रता में नीचे बिछे हुए सागर की तरह फैला हुआ है और दूसरी ओर काव्य में पर्वत के शिखर के समान ऊँचा और दुर्गम है।

इन सवालों में एक भ्रम छिपा हुआ है जो रुककर ग़ौर करने से दूर हो जाता है। जहाँ तक बहुस्तरीय जीवन का सम्बन्ध है, यह तो इतनी साधारण बात है कि हर व्यक्ति के जीवन में, स्वयं हमें अपने जीवन में अनिवार्य रूप से मिल जाएगी, मगर हमको कभी अपने ऊपर सन्देह नहीं होता कि हमारी मानसिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई है, स्टीवेंसन के डॉ० जेकिल और मिस्टर हाइड की तरह हमारी आत्मा का विघटन हो गया है, बल्कि हर स्तर पर हमारा जीवन समतल रूप से वास्तविक और सत्य रहता है, शत्रु के साथ हमारी कठोरता के कारण बालकों के साथ हमारा कोमल व्यवहार असत्य नहीं बन जाता। फिर कवि के व्यक्तित्व की दशाएँ जनसाधारण से व्यापक ही होती हैं, उसकी गहराइयों को हम ऊँचाइयों के विपरीत क्यों मान लें, क्षणों और बिन्दुओं पर केन्द्रित उसकी कलात्मक तीव्रता को इतना हल्का क्यों समझ लें कि व्यावहारिक जीवन के तरल विस्तार में बहकर वह गुम हो जाएगी।

रह गया कलाकार के अहंकार के प्रति हमारा सन्देह, तो यह और भी बड़ा भ्रम है। कलाकार में कलाकार की हैसियत से अहंकार न हो तो वह कला की रचना कर ही नहीं सकता। यदि मैं अपनी ही दृष्टि से तुच्छ हूँ और अपनी कला का मेरे ही लिए कोई महत्त्व न हो तो फिर मैं व्यर्थ उसमें क्यों व्यस्त रहूँगा? रचना के लिए प्रेरणा कहाँ से आएगी, परन्तु इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि मैं कला की चेतना के द्वार खोल-कर और सब दरवाज़े बन्द कर लूँ और मैं बस अपनी कला के



एवरेस्ट पर हर समय चढ़ा रहूँ जिसमें सारी मानव-जाति चींटियों की तरह रेंगती हुई प्रतीत हो और कभी शायरी के हिमालय से उतरकर सरल जीवन से, जनसाधारण से किसी तरह कोई सम्पर्क स्थापित ही न करूँ। किसी का दोस्त न बनूँ, दुश्मन न बनूँ, किसी से सहानुभूति न रखूँ, किसी से सहयोग न करूँ, किसी के बराबर आकर अपने को नीचा और हल्का न बनाऊँ। गोया हिमालय के शिखर पर अपने काव्य-कुटीर को पूर्णतः काल-कोठरी में बदल कर दम लूँ।

जी नहीं, अहंकार का यह अर्थ बिल्कुल नहीं। अहंकार तो कलाकार का एक शस्त्र होता है और ग़ालिब के हाथों में तो यह बहुत तेज़ धार का और बहुत नुकीला ही नहीं बल्कि बहुत सजीला शस्त्र बन जाता है जिसका प्रयोग वह अपने मित्रों या जनसाधारण बल्कि दुश्मनों के विरुद्ध भी नहीं करता, क्योंकि उसकी कोई ज़रूरत नहीं इसलिए कि उनसे उसका कोई मुकाबला नहीं, अहंकार को कुचलने वाली कोई लड़ाई नहीं।

ग़ालिब के अहंकार की वज्रता का जब बखान किया जाता है तो इस लतीफ़े अथवा घटना का अवसर वर्णन होता है कि एक घटिया शायर के साथ 'असद' के तख़ल्लुस का साझा करने के डर के मारे उन्होंने अपना तख़ल्लुस ही बदलकर 'ग़ालिब' कर लिया, मगर जो घटना इससे कहीं अर्थपूर्ण है उसे भुला दिया जाता है। और फिर इस दूसरे 'असद' का वह शेर भी तो ज़रा देखिए कि कितनी उच्च कोटि का है जिसे बेचारे ग़ालिब के साथ मढ़ा जा रहा था :

'असद' इस जफ़ा पर बुतों से बफ़ा की
मेरे शेर शाबाश रहमत ख़ुदा की।

उस समय 'मरा आतुन नज़ीर' या 'रियायते लफ़्ज़ी' के अलंकार का इतना ज़ोर था कि नासिख़ की भाँति के सनातनी कवियों के पूरे काव्य का आधार बस इस पर निर्भर था कि पहले जो एक शब्द आया था उसकी रियायत से, अर्थात् उसके अनुकूल या विपरीत, दूसरे शब्द भी पंक्ति या शेर में साथ-साथ आ जायँ तो बस कवि ने कमाल कर दिया, चाहे शेर में और कोई वास्तविक सुन्दरता न हो, चाहे 'दरिया' के साथ उचित-अनुचित किसी प्रकार 'मगर' के शब्द को घसीटकर लाने और उसे शेर में ठूँसने की इस डंड-बैठक में शेर अर्थहीन ही रह जाय, लेकिन उस युग के दूसरे महान् कवि अनीस के समान ग़ालिब को भी अलंकार के इस दुरुपयोग से गहरी घृणा थी। तो जब उन्होंने इस शेर को, जिसमें 'रियायते लफ़्ज़ी' की भरमार है—ग़ालिब ने एक पत्र में इस ओर इशारा भी किया है और लिखा है कि 'असद' के अनुकूल 'शेर' और 'बुत' और 'जफ़ा' के विपरीत 'खुदा' और 'वफ़ा' को घसीटा गया है—और 'असद' की 'चोट' पर शेर के शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अरबी में 'असद' का अर्थ 'सिंह' का है तो यह है वह शेर जिसका पुरस्कार ग़ालिब को भेंट किया जा रहा था तो जब उन्होंने इस शेर को, जो न सिर्फ़ 'रियायते लफ़्ज़ी' पर निर्भर है बल्कि जिसमें 'वो मारा साले को! शाबाश बेटा!' वाला ऐसा बाज़ारी और अश्रेष्ठ स्वर अपनाया गया है जिससे उनके हस्सास कान झनझना उठे होंगे और उनकी चेतना पर प्रचंड प्रहार हुआ होगा क्योंकि 'शाबाश' का शब्द तो दूर रहा, जिसका शेर में उन्होंने शायद कहीं प्रयोग ही नहीं किया है और ख़तों में भी किया है तो केवल व्यंग्य के रूप में। ग़ालिब तो 'शा' और 'बा' की खड़ी-खड़ी आवाज़ों की दो भारी-भरकम बल्लियों की चोट अपने कानों पर खाना गवारा नहीं कर सकते थे न कि स्वयं ये लट्ठे अपने श्रोताओं की श्रवण शक्ति पर खेंच मारते।

ग़ालिब के यहाँ कान को बुरी लगने वाली बहुत मुश्किल से मिलेगी। सारा कलाम छान मारिए तब भी मजाज़ के इन मिसरों की तुलना-योग्य एक मिसरा नहीं मिलेगा

हर एक झोंका हवा का मौत का पैग़ाम लाता है
घटा की घन गरज से क़ल्बे गेती काँप जाता है

मजाज़ ने पहले मिसरे में 'आ' की आवाज़ को सात बार दुहराकर और दूसरे में 'ग' अथवा 'घ' की तकरार करने ('ग' की गमक की ताल कुछ ऐसी स्थापित होती है कि अंत का 'काँप' भी 'गाँप' ही के समान मुँह से निकलता है) दहशत का समाँ खींचने और शब्दों का भयंकर आडम्बर बनाने में ख़ैर कमाल कर दिखाया है मगर ग़ालिब को गज़ल में इसके समानान्तर अवसर क्यों पेश आने लगा था। इसलिए वह इस सिलसिले में बहुत ही आगे चले जाते हैं तो बस यहाँ तक पहुँचते हैं कि

एक तीर मेरे सीने पे मारा कि हाय हाय

जिसमें चूँकि 'मेरे' और 'सीने' की 'मे' की आवाज़ दबती है इसलिए आलोचकों ने आपत्ति को स्पष्ट करने के लिए यों पढ़ा है : **"एक तीर मीर सीन पे मारा कि हाय हाय।"** मगर इस दूसरे रूप तक में जिस आवाज़ की तकरार पर कान

चौंकता है वह 'ई' की आवाज़ है जिसकी अपेक्षा 'म' और 'र' की तकरार ज्यादा उभरने नहीं पाती और अन्त में तो दोनों बार 'ह' के खड़ेपन को 'ए' की नरमी से हल्का कर दिया गया है।

गोया एक अर्धबुद्धि ने 'मेरे शेर शाबाश···' वाले शेर का जो आरोप लगाया तो इस शेर की पृष्ठभूमि, वातावरण, आभूषण, अर्थ और आकार गरज़ यह कि इसका सारा संसार ग़ालिब के काव्य की पूरी कल्पना के ऐसा विपरीत था कि उन्हें ऐसा लगा मानो उनकी सारी शायरी पर कालिख थोपी जा रही है और यद्यपि वह स्वयं तो यह कहकर रह गए कि "असद' और 'शेर' और 'बुत' और 'खुदा' और 'जफ़ा' और 'वफ़ा' ये मेरी गुफ़्तार नहीं" लेकिन इस स्थिति में वह जो कुछ कर सकते थे उससे कम और क्या होता कि अपना तखल्लुस बदल लिया।

और जब अहंकार की अत्युक्ति के लिए इस घटना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है तो इन्साफ़ का तकाज़ा है कि आत्म-नम्रता की इतनी बड़ी घटना को भी याद रखा जाए जिसका उदाहरण शायद ग़ालिब के सिवा और किसी के यहाँ न मिलेगा और जिसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि यह घटना उस व्यक्ति से सम्बन्धित है जिसे अपने युग के सारे शायरों में ग़ालिब अपना अकेला प्रतिद्वन्द्वी मानते थे और इसलिए जिसके प्रति प्रेम और प्रशंसा की अपेक्षा अप्रसन्नता की भावना ज्यादा स्वाभाविक थी। [बल्कि उर्दू में तो सम-कालीन और समस्तर कवियों में बाक़ायदा लड़ाई-दंगे होते रहे हैं। आतश तो उस मुशायरे में जहाँ उन्होंने नासिख पर और उनकी रियासत पर चोट करने वाली गज़ल पढ़ी ("ज़ेरे ज़मीं से आता है जो गुल सो ज़र बकफ़। कारूँ ने रास्ते में लुटाया ख़ज़ाना क्या") इसमें बाक़ायदा क़राबीन या बन्दूक भर के लेकर गये थे।] मगर डाह की इस परम्परा के होते हुए भी मशहूर है कि मोमिन के एक शेर—

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।

से ग़ालिब इतने प्रसन्न थे कि इसके बदले अपना पूरा दीवान देने को तैयार थे।

मोमिन के अतिरिक्त ग़ालिब के साथ के दूसरे शायर थे ज़ौक। इनसे सरकारी कवि होने के कारण ग़ालिब की लाग-डाँट रहती थी। एक शहज़ादे का सेहरा कहने के सिलसिले में जब ग़ालिब ने अपनी स्वाभाविक सावधानी की बाग ज़रा ढीली छोड़कर मक्ते या अंतिम शेर में ज़ौक पर चोट कर दी कि—

हम सुखन फ़हम हैं ग़ालिब के तरफ़दार नहीं,
देखें इस सेहरे से बढ़कर कोई कह दे सेहरा।

तो यह हल्की-सी फ़बती न तो ज़ौक से सही गई और न उनके शागिर्द बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उनको माफ़ किया और आख़िर ग़ालिब को दरगुज़र के आवेदन के लिए अलग से क़ता लिखना पड़ा जिसमें माज़रत के तौर पर बिचारे ने कहा—

उस्तादे शह से हो मुझे पर ख़ास का ख़याल,
यह ताब यह मजाल यह ताक़त नहीं मुझे।

मगर ज़ौक की पदवी का ग़ालिब पर कोई रोब नहीं था। होता भी कैसे, वह तो बादशाह तक को जिसकी दी हुई पदवी का ज़ौक को गौरव हो सकता था, भली-भाँति समझते थे कि यह कैसा बेजान बुड्ढा है। अलबत्ता शायरी के आधार पर उनकी क़द्र कर सकते थे, तो यहाँ ज़ौक के पास बहुमूल्य मोती कम ही थे। इसीलिए ग़ालिब ज़ौक को अपने बराबर का नहीं समझते थे। फिर भी हमारे ख़याल में इसका कारण ग़ालिब का बढ़ा हुआ अहंकार नहीं बल्कि काव्य के वास्तविक मूल्य के प्रति उनकी वही रूढ़ चेतना है जो पराए को क्या अपने-आपको भी नहीं बख्शती थी, जैसा कि अभी हम देख चुके हैं। मगर ज़ौक की शायरी को महत्त्व न देने के बावजूद, जिसमें भविष्य ने ग़ालिब की राय की पूर्णतः पुष्टि कर दी है, ग़ालिब के व्यवहार ने कम-से-कम एक मौक़े पर तो यह भली-भाँति दिखा दिया कि ज़ौक के प्रति उनका रवैया मूलतः उनके समालोचनात्मक मूल्यांकन के कारण है, बढ़े हुए अहंकार के राक्षसी बल से पराजित होकर नहीं। ज़ौक का एक अच्छा शेर उन्हें सुनने को मिल गया—

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

तो उसकी तारीफ़ की और बहुत तारीफ़ की।

लेकिन बस तारीफ़ की, इसके बदले में अपना दीवान देने को तैयार नहीं हुए, यद्यपि इसकी भाषा इतनी सरल है कि इसका गद्य रूप कोशिश के बावजूद इससे सरल या भिन्न नहीं हो सकता।

स्वर में भी वह सहज स्वभाव है कि यह पता ही नहीं चलता कि कोई विशेष या महत्त्वपूर्ण बात कही जा रही है,

बल्कि यह भ्रम होता है जैसे रोज़मर्रा की वार्ता में कोई ऐसे ही बात-बात में एक बात कह गया है। भाषा और स्वर की यह सरलता और बेतकल्लुफ वार्ता की शैली खुद ग़ालिब को नसीब नहीं। उनके शेर तो क्या मिसरे भी ऐसे कम मिलेंगे जो इस शेर की तरह तवक्कुफ़ात से पाक हों, अड़चनों न सही तो रुकावटों से, बीच-बीच में ठहराव, 'कामा' और 'सेमि-कोलन', 'लफ़्फ़ोनस्र' के खंडन और कुछ नहीं तो साँस रोकने और बदलने के विभाजन से मुक्त हों। ग़ालिब की शायरी कल्पना और उससे बढ़कर विचार और उससे भी कहीं ज्यादा भावना के जिस तनावपूर्ण स्तर पर होती है उसमें ज़ौक के इस शेर की ऐसी रवानी, ऐसा तरल बहाव सम्भव ही नहीं है। वहाँ अधिकतम सरलता जो आ सकती है वह इतनी कि "आगे आती थी हाले दिल पै हँसी। अब किसी बात पर नहीं आती।" जिसे ज़ौक के शेर की-सी रवा रवी में पढ़ जाएँ तो आप उसके सौन्दर्य से प्रसन्न तो क्या होंगे शायद उसके असली अर्थ तक भी नहीं पहुँच सकें, शब्दों के नीचे बहुत तह में दबा हुआ व्यथा का वास्तविक अर्थ, क्योंकि जिस तरह ज़ौक का शेर वार्ता का शेर है ग़ालिब का शेर आत्मवार्ता का शेर है। इसको रुक-रुक के तो नहीं अगर धीरे-धीरे अधखुले होंठों से चिंताजनक अन्दाज़ में पढ़ना होगा, जैसे कोई आँसू और हँसी और विस्मय के बीच की स्थिति में कुछ कह रहा है, दूसरों से इतना नहीं जितना अपने-आपसे, बताने से ज्यादा शायद पूछने के खयाल से।

ग़ालिब ने छोटा-सा शेर कहा है जिसके शब्द संख्या में करीब-करीब ज़ौक के एक मिसरे ही के बराबर होंगे और हल्केपन में भी ज़ौक के शेर में आगे नहीं तो उसके बराबर ज़रूर हैं। परंतु इन हल्के-फुल्के शब्दों के बीच की खाली जगहों में भावना का भारी-भरकम मन-मन भर का ऐसा शब्दहीन अर्थ छिपा हुआ है कि ग़ालिब का यह छोटा-सा शेर आप खुद ही इतने विलम्ब से पढ़ेंगे कि इसमें ज़ौक के शेर का शायद दुगुना समय लग जाय।

यही नहीं बल्कि पहले मिसरे के अंत के बाद और दूसरे के आरंभ से पहले भी एक अच्छा-खासा अंतर देना होगा, कुछ तो यह संकेत देने के लिए कि दोनों मिसरे जिन अलग-अलग स्थितियों को व्यक्त करते हैं उनमें समय या शायद भावना का एक पूरा युग बीत चुका है, कुछ श्रोता (या स्वयं अपने-आपको भी) सूचित करने के लिए कि नई स्थिति कितनी भिन्न है, उसकी भावना के अनुसार सोच में डूबा हुआ जो स्वर चाहिए कंठस्तर को उस गहराई तक उतारने के लिए (चाहे आप शेर मन-ही-मन पढ़ रहे हों, क्योंकि आवाज़ के साथ पाठ के समानान्तर मन-ही-मन पढ़ने में भी स्वर का वही उतार-चढ़ाव बाक़ी रहता है)।

तो इन दोनों शेरों में ज़ौक और ग़ालिब की शायरी अपने शबाब पर है, यौवन पर है, और दोनों का वास्तविक अन्तर इनसे भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। मगर ग़ालिब का शेर बहुत भारी होते हुए भी और उनकी आम शायरी की अपेक्षा रवानी में अधिकतम होते हुए भी पाठ में वह तरल प्रवाह नहीं रखता जो ज़ौक के शेर में है।

और फिर इसका विषय भी कोई हल्का और मामूली नहीं। विषय में ग़ालिब के एक और शेर या कम-से-कम उसके प्रथम मिसरे "मुनहसिर मरने पर हो जिसकी उम्मीद" से बहुत करीब है। फिर भी ग़ालिब ने इसको मोमिन के शेर का स्थान नहीं दिया। क्यों? केवल इसलिए कि ज़ौक के यहाँ मोमिन वाले शेर की वह प्रेम की चाशनी नहीं है जो ग़ालिब ने दूर से सही और बहुत हल्की-सी सही, मगर अपने शेर में भी किसी-न-किसी तरह पैदा कर दी है: "मुनहसिर करने पर हो जिसकी उम्मीद नाउम्मीदी उसकी देखा चाहिए?" हमारे विचार में यह कारण बिल्कुल नहीं है, क्योंकि ज़ौक के शेर में भी यह चाशनी उतनी ही है जितनी खुद ग़ालिब के शेर में। यदि ग़ालिब के यहाँ 'नाउम्मीदी' प्रेम के विफल होने के कारण है तो ज़ौक के 'घबराने' के रहस्य की खोज भी प्रेम ही में लगाई जा सकती है।

ज़ौक के शेर की सुन्दरता को स्वीकार करते हुए भी उसे कोई विशेष महत्त्व न देने का अर्थ साफ़ है। मानो ग़ालिब कह रहे हैं कि ज़ौक का शेर केवल एक शेर है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं और मोमिन का शेर केवल शेर नहीं बल्कि पूरे दीवान पर भारी है। ज़ौक का शेर उनकी आम शायरी का प्रतिनिधित्व नहीं करता, उनके कलम से बस निकल गया है, एक इत्तिफ़ाक है, सुघटना सही मगर है तो फिर एक घटना। इसकी अपेक्षा मोमिन का शेर उनके आम रंग से बहुत दूर या भिन्न नहीं बल्कि उसी धरातल का है, वह एक शेर उनके एक मूल्यवान दीवान का प्रतिनिधि है इसलिए अतिशयोक्ति के रूप में जब मैं यह कहता हूँ कि अपने दीवान के बदले यह शेर लेने के लिए तैयार हूँ तो इसका अर्थ यह है कि इसे मोमिन के

श्रेष्ठतम काव्य का प्रतीक स्वीकार करता हूँ, इसको लेकर शायरी का एक ऐसा बहुमुखी कण ग्रहण करूँगा जिसका हर मुख मोमिन की शायरी की सुन्दरता से उज्ज्वल हो।

ज़ौक पर मोमिन को प्राथमिकता देने के पीछे भी ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क ही काम कर रहा है, क्योंकि जहाँ ज़ौक की सुन्दरता निखरती है वह क्षेत्र इस संसार का अंश नहीं मालूम होता :

ऐ शमा तेरी उम्रे तबीई है एक रात
हँसकर गुज़ार या इसे रोकर गुज़ार दे।

मगर मोमिन की शायरी विशेषकर उनके प्रेम में तो ग़ालिब से भी अधिक यथार्थ है, ऐहिकता है अर्थात् आधुनिकता है।

कभी हममें तुममें भी चाह थी, कभी हममें तुममें भी राह थी
कभी हम भी तुम भी थे आश्ना, तुम्हें याद हो कि न याद हो

ग़ालिब के दिल का इस आधुनिकता की ओर खिंचना बिलकुल स्वाभाविक था। और फिर प्रेम के अतिरिक्त भी मोमिन की शायरी मोटे तौर पर ग़ालिब की शायरी के बहुत समीप थी, बल्कि अपने विकास में भी करीब-करीब उन्हीं चरणों से गुज़री थी जिन्होंने ग़ालिब की कला को एक सदाबहार आधुनिकता के साँचे में ढाल दिया।

तो पता चला कि ग़ालिब का आधुनिक मस्तिष्क, उनकी अविलम्ब निर्वाचन करने वाली प्रौढ़ आलोचनात्मक चेतना केवल 'इन्सान-शनासी' तक सीमित नहीं थी जिस पर उन्हें गर्व था बल्कि उससे बहुत व्यापक थी और दोस्त-दुश्मन, अच्छे-बुरे ही में नहीं बल्कि कला और अकला, सुन्दर और असुन्दर में भी स्पष्ट विश्लेषण करती थी। मगर अन्त में उसकी विशेष शक्ति वही थी : मानव की पहचान, जिसका ग़ालिब ने दावा किया है, यद्यपि शायद इस शक्ति की कार्यान्विति, गहराई उससे भी अधिक थी जितने कि ग़ालिब स्वयं उसके प्रति सचेत हो सकते थे और आदमी के क़द को पूरी तरह नाप लेती थी कि वह कितना बड़ा या छोटा है।

ग़ालिब और सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति

कुँवर मोहम्मद अशरफ़

एक सामान्य इतिहासज्ञ मिर्ज़ा ग़ालिब के व्यक्तित्व से, ब-हैसियत एक श्रेष्ठ कवि, परिचित होगा; लेकिन एक इतिहासकार के रूप में, जिसे बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने मुग़लकालीन शासन का इतिहास लिखने पर नियुक्त किया था, शायद वह परिचित न हो। इसी प्रकार यह वास्तविकता भी संभवतः उस पर प्रकट न हो कि इस क़ौमी शायर ने विद्रोहियों के सत्तारूढ़ होने पर, न केवल यह कि दिल्ली में रहना पसन्द किया, बल्कि इस यादगार ज़माने की दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ भी क़लम बन्द कीं। इस रोज़नामचे का आरम्भ ११ मई, १८५८ को मेरठ के सवारों की आमद से शुरू होता है और २० सितम्बर को समाप्त होता है, जब ब्रिटिश फ़ौजें दिल्ली की विद्रोही शक्तियों के संघर्ष पर क़ाबू पाने में सफल हो गयीं। कुछ पहलुओं से यह रोज़नामचा लखनऊ की पराजय (जुलाई, १८५८ ई०) तक की घटनाओं को लिये हुए है।

यह बात बहुत स्पष्ट नहीं है कि आख़िर किन प्रेरक शक्तियों के कारण लेखक को इस रोज़नामचे के लिखने का ख़याल पैदा हुआ। ताहम इतना स्पष्ट है कि रोज़नामचा उस समय सामने आया जब अंग्रेजों को दिल्ली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। इसलिए हमारा यह सोचना ग़लत न होगा कि उस ज़माने की स्थितिजन्य अपेक्षाओं से अनुकूलता पैदा करने के लिए अस्ल पुस्तक पर नज़रेसानी की गयी होगी। प्रस्तुत रूप में ग़ालिब के इस रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज है वह सब अत्यन्त संक्षेप रूप में है; और इसमें बाज़ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का कोई ज़िक्र नहीं जिनकी जानकारी सबको थी। उस दौर की महत्त्वपूर्ण और परिणामकारी घटनाओं के बारे में इस रोज़नामचे का रवैया विशेष रूप से अनपेक्षित है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को रोज़नामचा दुबारा लिखने की फ़ुर्सत और इत्मीनान मोयस्सर नहीं था। इसलिए उसने अस्ल रोज़नामचे में दर्ज किये गए तथ्यों में कमी या काट-छाँट करने, और उसमें कुछेक बाद में आये विचारों को जोड़ने पर ही सन्तोष किया। स्पष्ट है कि अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए वह ऐसा करने पर मजबूर हुआ।

इस बीती का आरम्भ एक जोश और सरख़ुशी की मनःस्थिति से होता है। हर तरफ़ अवाम बग़ावत पर तुले हुए हैं, और बाग़ी फ़ौजें अंग्रेज़ी फ़ौजों से लड़ने और पीछा करने के लिए एक-पर-एक दाखिल हो रही हैं। लेकिन जैसे ही मुक़ाबला शुरू होता है—जो चार महीने और दस दिन तक जारी रहा—लेखक पर्दापोशी या भेद गुप्त रखने की ओर झुकता नज़र आता है। और कुछेक पंक्तियों के सामान्य-से विवरण के बाद हमें अचानक मालूम होता है कि कश्मीरी दरवाज़े पर ब्रिटिश फ़ौजों के भारी आक्रमण के परिणामस्वरूप हिन्दुस्तानी फ़ौजों को हारकर पीछे हटने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया है। इसके बाद वह असली विषय से कतराकर आगे बढ़ता है, और मुल्क में विद्रोहियों के संघर्ष की ओर कुछ असम्बद्ध लेकिन फिर भी कई दृष्टियों से अर्थपूर्ण इशारों के बाद वह अपने घरेलू मामलों की ओर ध्यान देता है, और उन सेवाओं का उल्लेख करता है जो उसके वंशजों ने आरम्भ में अंग्रेज़ों को अर्पित कीं।

लेखक ने बग़ावत की तफ़सील देने में जो संकोच दिखाया है और विदेशी विजेताओं से जैसी सोची-समझी वफ़ादारी व्यक्त की है—अगर हम उस ज़माने के बेझिझक और बर्बर क़त्ले-आम को ध्यान में रखें तो इसकी यथार्थता का अन्दाज़ा करने में कठिनाई न होगी। इस बग़ावत से उसके सम्बन्ध या सहानुभूति का ज़रा-सा भी शुबह उसे फाँसी पर लटका सकता था। इसके अलावा ग़ालिब की जीविका का आधार-मात्र एक पेन्शन थी। और पूर्व इसके कि हाकिमों को उसे दुबारा जारी करने के लिए राज़ी किया जाय, उसके लिए अपने

अधिकार—और अपनी निर्दोषता—को प्रमाणित करना आवश्यक था। यह बात एक ऐसे व्यक्ति के लिए और भी ज़रूरी थी जिसका सम्बन्ध अमीर-उमरा से रहा हो और जो दिल्ली मुग़ल शाहंशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' का उस्ताद, दरबारी और दोस्त रह चुका हो। केवल इतना ही नहीं बल्कि जिसने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन-काल की बरकतों का स्वागत करने के बावजूद अंग्रेज़ों की क्रूर और निर्मम कूटनीति विशेषकर अवध की सत्तापहरण पर मानसिक विरोध और असन्तोष की अभिव्यक्ति की हो। कुछ समय पश्चात् जब मार्शल लॉ की कठोरता कम हुई, शान्ति पुनः स्थापित हुई, तो ग़ालिब ने अंग्रेज़ों की क्रूरता और दमन-नीति का ज़िक्र अधिक स्पष्टता से खुलकर किया। उसने नये जागीरदार वर्ग की ख़ुशहाली में शरीक होने से इन्कार किया कि नये शासक राजनैतिक सत्ता में उनको हिस्सा देंगे। उसने खुले तौर पर अपने बाग़ी दोस्तों के कष्ट और यातनाओं से विशेषता, और पराजित उमरा से सामान्यतया, सहानुभूति प्रकट की।

वस्तुस्थिति जैसी भी हो, यह तो वास्तविकता है कि सितम्बर सन् १८५७ में जब परिस्थिति प्रतिकूल हुई तो उसने भी अपने बहुत-से दूसरे मित्रों के समान व्यक्तिगत सुरक्षा को दूसरी तमाम चीज़ों पर तरजीह दी। इसलिए सम्बन्धित हाकिमों के समक्ष शायर ने जिस तर्क-पद्धति का सहारा लिया और जैसी होशियारी से अपनी जान बचायी उसके लिए हम उसे दोषी करार नहीं दे सकते। उसने प्रमाणित किया कि उसका वंश आरम्भ से ही ब्रिटेन के प्रति वफ़ादार रहा है और उसी उपलक्ष में उसे आजीवन पेन्शन दी गई थी। उसने बग़ावत के दौरान में अपने-आपको शाही तरफ़दारों और बाग़ियों से बिलकुल अलग रखा; और अपने-आप मकान में बन्द रहकर एकान्तवास किया। शहर में ब्रिटिश फ़ौजों के दाखिल होने के बाद जब बहुत-से ऊँचे प्रतिष्ठित और पेन्शनयाफ़्ता लोगों ने पलायन का रास्ता अपनाया तो उसने शहर ही में रह जाना पसन्द किया। उसने अपनी निर्दोषता ('अपराधों' के घटनास्थलों से दूर रहने) के प्रमाण में हिन्दुस्तान और इंगलैंड के शीर्ष पदाधिकारियों को अपना फ़ारसी रोज़नामचा पेश किया। ऐसा उसने क्योंकर किया—इसका जानना कठिन नहीं। मुग़ल शासन-काल के साहित्य-मनीषियों को जैसी आलंकारिक और श्लेषात्मक शैली प्रिय थी उसमें वह निष्णात था। उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति होने के बावजूद अपनी भावनाओं को होशियारी के साथ उस अभिव्यक्ति की तहों में छुपा सकता था। अपनी वाक्यशैली और अर्थसन्दर्भों में दोहरे अर्थ का पुट भरने के लिए उसने अपने विशिष्ट विशुद्ध-फ़ारसी के दृष्टिकोण का सहारा लिया। सारांश यह कि उसने इस सिलसिले में हर प्रकार की सम्भव सतर्कता से काम लिया, और इस बात की कोशिश की कि उसके रोज़नामचे में जो कुछ दर्ज हुआ था वह उसके विरुद्ध या उसके उन साथी बन्धुओं के विरुद्ध इस्तेमाल न हो सके जिन्होंने बग़ावत में खुलकर हिस्सा लिया था।

इन सारी बातों के बावजूद 'दस्तम्बू' दिल्ली की बग़ावत से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं के लिए एक प्रामाणिक और मूल्यवान संदर्भ-ग्रन्थ की हैसियत रखता है। मुझे इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं कि वास्तविकता को यथार्थपरक दृष्टि से देखने का भाव और मानवता से गहरा प्यार (जो लेखक के व्यक्तित्व का विशिष्ट गुण हैं) उसकी दूसरी रचनाओं की तरह इस पुस्तक में भी उभरकर आते हैं। कतिपय ज्ञात कारणों के आधार पर निःसन्देह घटनाओं का वर्णन दोहरे अर्थ लिये हुए और 'निर्वैयक्तिक' है; लेकिन ग़ालिब का कतिपय नाटकीय संदर्भयुक्त घटनाओं और कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों की सरगर्मियों को बिलकुल छोड़ देना स्पष्ट ही उस राष्ट्रीय प्रतिरोध के महान् आन्दोलन की लोकप्रियता और कई ऐसी नयी सामाजिक शक्तियों की झलक दिखाता है जो इस आन्दोलन से सम्बद्ध थीं। फ़ारसी रोज़नामचे की इस प्रति को लिपिबद्ध करने में लेखक की मजबूरियाँ कुछ भी रही हों यह बात निश्चित है कि सन् १८५७ ई० की घटनाओं के हर संवेदनशील विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

अब हम पाठकों के समक्ष 'दस्तम्बू' के कुछ उद्धरण[1] प्रस्तुत करते हैं और उनके यथार्थ मूल्यांकन के बारे में राय क़ायम करने का काम ऊपर छोड़ते हैं।

१. जनसाधारण विद्रोह के लिए तैयार हैं :

शायर यह वस्तुस्थिति देखकर कुछ उलझन और परेशानी में मुब्तिला नज़र आता है :

"नौकरपेशा हाक़िमों से विद्रोह करें, सिपाही अफ़सरों को कत्ल करें, और खुशियाँ मनायें और किंचित् भी पश्चात्ताप का अनुभव न करें।"

२. ब्रिटेन से सहानुभूति रखने वालों की मजबूरी :

"इस वजह से कि तेज़ बहने वाले पानी को तिनकों से नहीं रोका जा सकता। अपने-आपको मजबूर समझकर हर शख़्स उदास और शोकग्रस्त अपने घर में बैठ रहा।"

३. मेरठ के सवारों का स्वागत :

"मेरठ की फ़ौज के कुछ बदनसीब और सिरफिरे सिपाही शहर में आये। निहायत ज़ालिम, फ़सादिये और नमकहरामी की वजह से अंग्रेज़ों के ख़ून के प्यासे। शहर के विभिन्न दरवाज़ों के रक्षक जो फ़सादियों के ही धन्धे वाले और भाईबन्द थे, बल्कि कुछ आश्चर्य नहीं कि पहले ही से इन संरक्षकों और फ़सादियों में साजिश हो गई हो। शहर की रक्षा की ज़िम्मेदारी और नमकहलाली—हर चीज़ को भूल गये; इन बिन-बुलाये या आमंत्रित मेहमानों का स्वागत किया। इन मदहोश सवारों और अक्खड़ प्यादों ने जब देखा कि शहर के दरवाज़े खुले हुए हैं और द्वार-रक्षक ही आमंत्रण देने वाले हैं—दीवानों की तरह इधर-उधर दौड़ पड़े।..."

४. बग़ावत बढ़ती और फैलती है :

"...दूर-दूर के शहरों से ख़बरें आयीं कि विभिन्न सेनाओं के विद्रोहियों ने हर छावनी में अफ़सरों की हत्या कर दी है—और नमकहरामों ने खुल्लमखुल्ला बग़ावत का शोर मचा रखा है। दल-के-दल सिपाही हों या ज़मींदार, सब एकदिल हो गये, और किसी पूर्वनिश्चित प्रोग्राम के बिना ही दूर और नज़दीक हर जगह एक ही काम के लिए कमर बाँध ली। और फिर कैसी मज़बूती से कमरें कसी थीं कि सिर्फ़ उस ख़ून के दरिया की मौजें ही उनको खोल सकती थीं जो कमरों से गुज़र जाए। विभिन्न स्थानों के लोग किसी योजना के बिना ही जिस तरह एक ही काम यानी क़त्ल और ख़ून में लग गये थे उससे ऐसा जान पड़ता था कि जिस तरह झाड़ू की बहुत-सी सींकों को एक ही बन्द से बाँधा जाता है, उसी तरह गिनती-शुमार से बाहर इन लड़ने वालों की कमरें भी एक ही 'कमरबन्द' से बँधी हुई हैं।

निस्सन्देह हिन्दुस्तान को आराम और सुख-सुविधा से इस हद तक ख़ाली करने के लिए अगर इन चीज़ों को ढूंढ़ा जाए तो एक घास के तिनके के बराबर भी निशान न मिले। ऐसी ही झाड़ू की ज़रूरत थी। बहुत-से लश्कर सेनानायकों के बिना ही तैयार हो गए। बहुत-सी फ़ौजें अफ़सरों के बिना ही लड़ाई के लिए उठ खड़ी हुईं।..."

५. ज़मींदार और अमीर-उमरा की बेबसी और बेचारगी :

"बड़े-बड़े प्रकांड विद्वानों और ख्यातनामा व्यक्तियों की आबरू मिट्टी में मिला दी गई। और जिन लोगों के पास न धन था, न कोई प्रतिष्ठा, वह अकूत ज़र-जवाहर और मान-प्रतिष्ठा के मालिक हैं। जिसका बाप गलियों की ख़ाक छानता फिरता था वह हवा को अपनी सेवा में प्रस्तुत समझ रहा है।...बड़े-बड़े बहादुरों का यह हाल हो जाए कि वे अपने साये से डरें; सिपाही बादशाह और फ़क़ीर हरेक पर हुकूमत करने लगें।..."

६. जनसाधारण के सिपाही (विद्रोही) दिल्ली में इकट्ठा होते हैं :

ग़ालिब लिखते हैं कि जैसे ही इन लोगों ने दिल्ली में प्रवेश किया उनके विभिन्न दस्तों (टुकड़ियों) ने सबसे पहले वह सोना और चाँदी शाही ख़ज़ाने में जमा कर दिया जो उनके पास था। उसके बाद वह बादशाह की सलामी के लिए लालकिले में गये, और फिर एक विजेता के रौब के साथ शहर में घूमने निकले।

"हर तरफ़ से फ़ौजें जमा होना शुरू हो गयीं और इसी धरती (दिल्ली) की ओर रवाना हो गयीं।...बस, यह इस ज़माने की एक अजीब स्थिति है।

"अब दिल्ली के अन्दर और बाहर लगभग पचास हज़ार सवारों और पैदल की फ़ौज पड़ी हुई है।..."

७. हिन्दुस्तानी रियासतों के शासकों पर जनता के इस आन्दोलन का प्रभाव :

फ़र्रुख़ाबाद के प्रसिद्ध सेनानी तफ़ज्जुल हुसैन ख़ाँ ने, जिनका बादशाह के साथ कभी कोई सेवा-सम्बन्ध नहीं रहा था, दूर ही से बादशाह की ड्योढ़ी को माथा नवाया और पत्र में अपने-आपको उनका पुराना सेवक घोषित किया।

"ख़ानबहादुर ख़ाँ, गुमराह, जो प्रसिद्धि चाहता था, और जो बरेली में कुछ लश्कर एकत्र करके सरदार बन बैठा था, एक-सौ-एक अशरफ़ियाँ, चाँदी के साज़-सामान से सजा हुआ हाथी और घोड़ा बादशाह की ख़िदमत में भेजा।...

"रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ बहादुर ने, जो इस इलाक़े में बाप-दादा के उत्तराधिकारी होने का दायित्व निभा रहे हैं और अंग्रेज़ी हुकूमत के साथ इनकी मैत्री का सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि ज़माना हज़ार बरस में भी किसी

तरीक़े से इसको नहीं तोड़ सकता—विवश होकर केवल ज़बानी सन्देश भेजकर लोगों की ज़बान को बन्द किया।

"लखनऊ में···शरफ़ुद्दौला ने, जो बड़े अनुभवी और मामलात को समझने वाले थे···वाजिदअली शाह के दस वर्ष के लड़के को गद्दी पर बिठाल दिया, और उसको हिन्दुस्तान के शाहंशाह का वज़ीर और अपने-आपको पेशकार और नायब-वज़ीर (उपमंत्री) मान लिया।···

"शाहंशाह की क़िस्मत का सितारा इतना ऊँचा उठ गया कि दुनिया वालों की दृष्टि से ओझल हो गया।"

८. ब्रिटिश सैनिकों से मुक़ाबला :

"रात-दिन दोनों तरफ़ से गोलाबारी होती है जैसे ऊपर से पत्थर बरस रहे हों। मई-जून की गर्मियाँ हैं। धूप की तेज़ी रोज़-रोज़ बढ़ती जा रही है।···विभिन्न स्थानों से आये हुए सिपाही दिन चढ़े शेरदिल अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए जाते हैं और सूरज डूबने से पहले ही वापस आ जाते हैं।···"

९. हकीम अहसनल्ला ख़ाँ की हवेली में आग लगा दी गयी :

हकीम अहसनल्ला ख़ाँ अंग्रेज़ों के खैरख़्वाह और तरफ़दार हैं···उनका घर, जो अपनी सुन्दरता और सजावट में चीन के किसी ललितकला मन्दिर के समान था, लूट लिया गया। छत को आग लगा दी गयी।"

१०. ब्रिटिश सिपाहियों का आक्रमण और बाग़ियों के पैर उखड़ जाना :

"सितम्बर की चौदह तारीख़ को पहाड़ी के दामन में बैठे हुए अंग्रेज़ों ने धूम-धड़क्के के साथ कश्मीरी दरवाज़े पर ऐसा हमला किया कि कालों की फ़ौज को भागते ही बना।···"

११. आख़िरी वक़्त तक जनता का आत्मरक्षात्मक संघर्ष :

ब्रिटिश सिपाहियों ने जब बाग़ी सिपाहियों से शहर छीन लिया तो जनता ने भी बाग़ियों का साथ दिया और गली-कूचों में आमने-सामने लड़ने और मुक़ाबिला करने लगे।

"दुष्ट और आवारा लोगों का यह गिरोह शेरदिल विजेताओं से उलझ पड़ा।···दो-तीन दिन तक कश्मीरी दरवाज़े से लेकर चौक तक तमाम रास्ते मैदाने-जंग बने रहे, दिल्ली दरवाज़ा, तुर्कमान दरवाज़ा, अजमेरी दरवाज़ा—ये तीनों दरवाज़े इस फ़ौज के अधिकार में रह गये।"

और जब दिल्ली पर ब्रिटिश सिपाहियों का अधिकार हो गया तो उसके परिणामस्वरूप—"अनगिनती मर्द-औरतों के गिरोह, जिनमें मामूली लोग भी थे और हैसियत वाले भी, इन तीनों दरवाज़ों से बाहर निकल गये।···"

१२. जनता की नैतिक दृढ़ता और साहसिकता :

ग़ालिब अपने मोहल्ले के निवासियों का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"अगर्चे गली का दरवाज़ा बन्द कर लिया गया था लेकिन अभी इतना हौसला बाक़ी था कि दरवाज़ा खोलकर बाहर चले जाते थे और खाने-पीने का सामान ले आते थे।"

१३. दिल्ली के आसपास और क़स्बों में आत्म-रक्षात्मक संघर्ष :

७ अक्तूबर सन् १८५७ को अन्तिम और निर्णायक रूप से दिल्ली पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया, उस समय भी आस-पास के देहातों में जनता का निवारक और आत्म-रक्षात्मक संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। ग़ालिब लिखता है :

"अभी बाग़ियों के बहुत-से गिरोह बरेली, फ़र्रुख़ाबाद और लखनऊ में जगह-जगह आग भड़काने और व्यर्थ ही मुक़ाबिला करने में जुटे हुए हैं। और उनके दिल, कि ख़ुदा करे ख़ून हो जाएँ, और उनके हाथ कि ख़ुदा करे बेकार हो जाएँ, इसी काम (लड़ाई) के लिए खुले हुए हैं।

"इधर सोहना और नूह के इलाक़े में मेवातियों ने बेतरह उपद्रव फैला रखा है, जैसे दीवाने ज़ंजीरों से मुक्त हो गये हों। तुलाराम नामक एक व्यक्ति···कुछ दिन रेवाड़ी में ऊधम मचाए रहा फिर शैतान ने ऐसी मति फेरी कि मेवातियों से मिल गया। यह गिरोह मैदानों और पहाड़ों में (अंग्रेज़) हाकिमों से लड़ रहा है। मालूम होता है कि हिन्दुस्तान की धरती पर हर तरफ़ तेज़ आँधियों और बढ़ती हुई आग का दौर-दौरा है।"

१४. एक घरेलू दृश्य : बारिश का पानी जमा करना :

१५ सितम्बर के बाद गल्ले की सब दुकानें बन्द कर दी गईं। मेहतर, धोबी, नाई और फेरीवाले शहर छोड़कर चले गए, जिसके फलस्वरूप दो दिन और दो रातों तक खाने और पीने को कुछ मयस्सर न हो सका। स्वाभाविक ही था, ग़ालिब की ज़िंदादिली के सोते सूखने लगे कि :

"एक दिन अचानक बादल आ गया, पानी बरसा, हमने (आँगन में) एक चादर बाँध ली और एक मटका उसके नीचे

रख दिया, और (इस तरह) पानी हासिल किया, कहा जाता है कि बादल समुद्र से पानी लेता है और ज़मीन पर बरसाता है (लेकिन) इस बार यह अलोप-सा बादल पानी कहीं अमृत कुण्ड से लाया, मानो सिकन्दर ने जो चीज़ अपनी बादशाहत के दौर में ढूंढी थी, मुझ परेशाँ हाल ने वह निधि (अमृत) (इस) तबाही और बर्बादी के आलम में पाई।"

१५. लूटमार, हत्याकांड आदि :

दिल्ली शहर पर ब्रिटिश सैनिकों का अधिकार हो जाने के बाद परिस्थिति ने जो नया मोड़ लिया उसे ग़ालिब ने हाकिमों का 'क्रोधाग्नि' (शोलए गज़ब) नाम दिया है।

"विजेताओं ने रास्ते में जिसको भी पाया, क़त्ल कर दिया। शहर के आली खानदान और मान-मर्यादा वाले व्यक्ति अपनी इज़्ज़त-आबरू की दौलत को बचाने के लिए घरों के दरवाज़े बन्द करके बैठे रहे।"

ग़ालिब ने अचानक देखा कि—

"चौक के आगे क़त्ल और ख़ून का बाजार गर्म है और रास्ता खतरनाक है।··· (हम लोग) बिल्कुल क़ैदियों की तरह ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। न तो कोई आता है कि कोई बात सुनने को मिले, न खुद बाहर जा सकते हैं कि अपनी आँखों से सारी घटनाओं को देखें।"

शहर में लूटमार का ज़िक्र करते हुए लेखक का बयान है—

"मैं जानता हूँ कि इस हमले में हुकुम यह है कि जो अधीनता स्वीकार कर ले उसे क़त्ल न किया जाए, माल छीन लिया जाय। और जो शख्स मुकाबला करे, माल के साथ उसकी ज़िन्दगी भी छीन ली जाय। जो लोग मारे गए उनके सम्बन्ध में यही खयाल है कि उन्होंने निश्चय ही अधीनता स्वीकार नहीं की, इसी वजह से उनको क़त्ल कर दिया गया।"

"ज्ञात हो कि दिल्ली की एजेण्टी के अधीन जो जागीरें हैं वे गिनती में सप्ताह के दिनों से कम या ज़्यादा नहीं हैं। झज्झर, बहादुरगढ़, वल्लभगढ़, लोहारू, फ़र्रुखनगर, दोजाना, पटौदी—इनमें से पांच जागीरों के हाकिम, जैसा कि मैंने कहा, किले में मौजूद हैं और शेष दो जागीरदार पटौदी और दोजाना में आतंक के तीर का निशाना हैं।"

इस हंगामे के बाद दिल्ली की स्थिति एक बड़े क़ैदखाने की तरह हो गई थी। 'दस्तम्बू' के लेखक के शब्दों में—

"इस शहर में क़ैदखाना शहर से बाहर है और हवालात शहर के अन्दर। इन दोनों में अनगिनती लोगों को भर दिया गया है। (इन सीमित स्थानों में संख्या की भरमार को देख-कर) ऐसा मालूम होता है कि आदमी में आदमी समाया जा रहा है। इन दोनों क़ैदखानों के जिन क़ैदियों को अलग-अलग दिनों में फाँसी दे दी गई है उनकी संख्या तो मौत का फ़रिश्ता ही जानता है। शहर में एक हज़ार से ज़्यादा मुसलमान नहीं पाओगे।···इस वीराने के वासी गिरोह में या तो वे लोग हैं जो शहर में रहने की इच्छा अभी लिये हुए हैं या बन्दी लोगों के सम्बन्धी हैं, या ख़ैरात पाने वाले यानी पेंशनदार हैं।"

१६. ग़ालिब की पीड़ा, निराशा और भविष्य-चिन्ता :

स्वाभाविक ही था कि इस 'शहरे ख़मोशाँ' (श्मशानवत नगर) को देखकर ग़ालिब का दिल बुरी तरह टूट गया था। वह शहर, जिसमें हज़ारों व्यक्ति उनको जानते-पहचानते थे और हर घर में, हर बस्ती में उनके साथी-संगी और दोस्त थे, उनके लिए यह सोचना भी बड़ी टीस पहुँचाता था।

"शहर मुसलमानों से ख़ाली हो गया है। लोगों के घरों में रात को चिराग़ नहीं जलता और किसी घर से धुआँ निकलता दिखाई नहीं देता।"

बेचारगी, पराजय और अभाव के इस आलम में शायर मुसलमानों को ग़रीबी, भूख और मौत की तरह बढ़ता हुआ देखता है। लेकिन फिर अचानक उसे इस घोर अन्धकारपूर्ण क्षितिज पर धुँधला-सा प्रकाश दिखाई देता है और वह एक सूफ़ी की-सी उम्मीद के साथ लिखता है :

चर गर कि ज़े-ज़ख्मा ज़ख्म बर-चंग ज़नद,
पैदास्त कि अज़ बह्‌र चे आहंग ज़नद।
दरपर्दए-नाख़ुशी ख़ुशी पिनहानस्त :
गाज़र न ज़े-ख़श्म जामा बर-संग ज़नद।

(वादक साज़ के तारों पर मिज़राब से चोट करता है और स्पष्ट है कि इससे उसका उद्देश्य क्या होता है। खुशियाँ मुसीबतों के पर्दे में छिपी हुई हैं, धोबी गुस्से में आकर कपड़े को पत्थर पर नहीं मारता।) ●

रूपान्तरकार : **शमशेरबहादुर सिंह**

१. उद्धरणों का प्रस्तुत हिन्दी रूप फ़ारसी से डॉ० क़मर रईस, (रीडर, उर्दू विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा किए गए उर्दू अनुवाद पर आधारित है।

मिर्ज़ा ग़ालिब—अन्तर्विरोधों के बीच

नईम अहमद

ग़ालिब एक महान् कवि और गद्यकार के अतिरिक्त उस्ताद भी थे। उन्होंने अपने शिष्यों की रचनाओं पर इस्लाहें की थीं वे आज इनके पत्रों की सूरत में मौजूद हैं। इन्होंने इन पत्रों में शायरी, ज़बान और अपने या किसी अन्य व्यक्ति के काव्य पर विचार प्रकट किये हैं, ये तमाम पांडुलिपियाँ ज्ञान का अमूल्य भण्डार हैं। इनसे कवि ग़ालिब के दृष्टिकोण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस लेख में ये नुकात एकत्रित करके प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

ग़ालिब हिन्दुस्तान के फ़ारसी विद्वानों, कोशकारों और कवियों को प्रामाणिक नहीं मानते थे। एक पत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि हिन्दुस्तानियों में हज़रत अमीर ख़ुसरो के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति की ज़बान को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता—

"अहले हिन्द में सिवाय ख़ुसरो देहलवी के कोई मुसल्ले-मुससुबूत नहीं, मियाँ फ़ैज़ी की भी कहीं-कहीं ठीक निकल जाती है, फ़रहंग लिखने वालों का मदार क़यास पर है, जो अपने नज़दीक सही समझा, वह लिख दिया। निज़ामी व सईदी वग़ैरह की लिखी हुई फ़रहंग हो तो हम उसको मानें—हिन्दियों को क्योंकर मुसल्लेमुससुबूत जाने। गाय का बच्चा बज़ोरे सहर आदमी की तरह क़लाम करने लगा, नबी इस-राइल उसको ख़ुदा समझे···।"[१]

ग़ालिब ने कई पत्रों में विभिन्न व्यक्तियों को अपने इस दृष्टिकोण से आगाह किया था। इसी राय के इज़हार की वजह से उन्हें 'क़तील' के जानने वाले यानी हिन्दोस्तान के विभिन्न फ़ारसीदानों के ख़िलाफ़ जिहाद भी करना पड़ा। हिन्दुस्तानी फ़ारसी के इन प्रेमियों का यह विचार था कि हमारी फ़ारसी भी ईरानियों की भाषा की भाँति न केवल दुरुस्त है बल्कि मुस्तनद है। ग़ालिब की दलील यह थी कि केवल उन लोगों की भाषा मुस्तनद हो सकती है जिनकी मातृभाषा फ़ारसी हो।[२]

उनका यह विचार था कि कोई व्यक्ति फ़ारसी भाषा में कविता करने की विद्वत्ता के कारण ही भाषाशास्त्री नहीं बन सकता। उसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह 'मोज़ूंतबाअ" है और वास्तव में ऐसे लोगों की 'मोज़ूं तबई' ने ही भाषा को ख़राब और लोगों को भाषा के सम्बन्ध में गुमराह किया था।[३] ये लोग फ़ारसी के शायराना मिज़ाज से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उनका ज्ञान केवल उस सीमा तक महदूद था जो पाठशालाओं में बच्चों को पढ़ाया जाता है। और इनका शब्द-भण्डार केवल इन शब्दों पर आधारित था जो मुतस्सदी नस्र में दर्ज करते हैं।[४]

फ़ारसी के सम्बन्ध में इस विवाद में ग़ालिब की इल्मियत बड़े भरपूर अन्दाज़ से बेनकाब हुई है। वह हिन्दी फ़ारसी गवैयों की ज़बानदानी को टकसाल-बाहर क़रार देते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उनके ख्याल में विदेशी भाषा से जानकारी बहम पहुँचाना मुमकिन ही नहीं। वे लिखते हैं कि भाषा और साहित्य का ज्ञान बड़ी मेहनत, धैर्य और ज़ेहनी नज़्म चाहता है—

"जब रोदकी व अन्सरी व ख़ाक़ानी व रसीद व तुआत और उनके इम्साल व नज़ाइर का कलाम व इस्तीफ़ा देखा जाए और उनकी तरकीबों से आशनाइ बहम पहुँचे और ज़हन अऊजाज की तरफ़ न ले जाए तब आदमी जानता है कि यह फ़ारसी है।"[५]

इस सम्बन्ध में ग़ालिब का वह पत्र विशेष रूप से उल्लेख-नीय है जो उन्होंने 'सुरूर' को इसलिए लिखा था कि वह उसे हज़रत साहिबे आलम मारहरवी को सुनाकर उनकी नाराज़गी दूर कर दें। साहिबे आलम बिगड़े इसी बात पर थे जिस पर और बहुत-से लोग क्रुद्ध हुए थे। ग़ालिब ने इस पत्र (रुक़्क़े) में फ़ारसी शायरी के भाँति-भाँति के रंगों की

ओर संकेत करते हुए विभिन्न उस्तादों के तर्जेख़ास की तरफ़ तवज्जो दिलाई है और यह कहा है कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी ज़बान व बयान में 'चीज़ दीगर' से मेहरूम रहे जो ईरानी कवियों की रचनाओं में हैं—

"...इस रूक़्क़े में एक मीज़ान अर्ज़ करता हूँ, हज़रत साहब इन साहबों के कलाम को यानी हिन्दियों के अशआर को 'क़तील' और 'वाक़िफ़' से लेकर 'बेदिल' और 'नासिर अली' तक इस मीज़ान में तोलें और रोदकी व फिरदौसी से लेकर ख़ाक़ानी व सनाई व अनवरी वग़ैर हम हज़रते सईदी तर्ज़े ख़ास के मूजिद हुए। फ़ुग़ानी और एक शेवार ख़ास... हुआ। ख़्याल हाय नाज़ुक और मआनीए बलन्द लाया, इस शेवाह की तकमील की 'ज़हूरी' व 'नज़ीरी' व 'अर्फ़ी' व 'नूई' ने। सुब्हान अल्लाह क़ालिबे सुखन में जान पड़ गई। इस रविश को बाद इसके साहिबाने तबाअ ने सलासत का चर्बा दिया। 'साइब' व 'कलीम' व 'सलीम' व 'क़ुदसी' व 'हकीम' 'शफ़ाई' इस ज़ुमराह में हैं 'रोदकी' व 'असदी' व 'फ़िरदौसी'। ये शेवाह 'सईदी' के वक़्त में तर्क हुआ और सईदी के तर्ज़ ने बसबब सहले हमतनाअ होने के रिवाज न पाया। फ़ुग़ानी का अन्दाज़ फैला और इसमें नये-नये रंग पैदा होते गये तो अब तीन तर्ज़ें ठहरी हैं: (१) 'खाक़ानी': इसके अक़रान। (२) 'ज़हूरी': इसके इम्साल। (३) 'साइब': इसके नज़ायर...।"[६]

यह पत्र ग़ालिब के गहन अध्ययन और कटु आलोचना का प्रमाण है। इससे यह बात साफ़ है कि उनकी फ़ारसीदानी के बलंद बांग दावे खोखले नहीं थे।

ग़ालिब ने इसी पत्र में यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तानी शायर फ़ारसी में 'चीज़े दीगर' नहीं पा सके, परन्तु उर्दू में वह सफल हुए। इस ज़मीन में उन्होंने 'मीर' के दो अशआर और 'क़ायम' व 'मोमिन' का एक-एक शेर बतौरे मिसाल दर्ज किया है और यह लिखा है कि—

"नासिख़ के हाँ कमतर और आतिश के हाँ बेश्तर ये तेज़ नश्तर हैं।"

ग़ालिब कलाम की इस्लाह इस तरह करते थे कि जिस शेर में तबदीली का कोई मौक़ा न होता उसे उसी तरह रहने देते। अगर किसी जगह कोई लफ़्ज़ बदलना होता तो इस परिवर्तन का कारण भी लिखते। इस पद्धति से शिष्य को यह लाभ होता कि वह इस बात को समझ जाता और फिर आगे ऐसी ग़लती की गुंजाइश न रहती।

अब्दुर्रज़ाक शाकिर की किसी ग़ज़ल के मतले का एक मिसरा यह था—

"सरखुश सरशार मस्तमयल्ला"

ग़ालिब ने उन्हें यह लिखा कि फ़ारसी में सरशार प्याले की सिफ़त है और इसके मानी हैं लबरेज़।

इसलिए शराब पीने वाले को लबरेज़ नहीं कहा जा सकता। उर्दू में 'मस्त व सरशार' मुतारादिफ़ अर्थों में बोला जाता है, लेकिन उर्दू का यह चलन फ़ारसी के लिए पसन्द नहीं।

'शाकिर' की इसी ग़ज़ल पर और इसलाहें हैं: 'मी रसद बर बादह अलख़' को ग़ालिब ने 'मी रसद बर शीशा अलख़' कर दिया। 'ज़ लहद चूँ ख़ाक जस्तम अलख़' पर ग़ालिब ने लिखा—'ख़ाक को जस्तन से क्या इलाक़ा ?' 'नक़द जाँ रा महर वस्तम यल्ला' में ताअक़ीद माअनी के एब की तरफ़ इशारा किया, वग़ैरह।

मिर्ज़ा 'तफ़्ता'[७] को शब्द 'फ़र' के प्रयोग में कुछ सोच-विचार था ग़ालिब ने उन्हें लिखा कि 'फ़र' और 'फ़राह' शब्द 'जाह' के मुतारादिफ़ हैं, इसलिए 'आलीजाह' और 'सिकन्दर जाह' या 'मुज़फ़्फ़र फ़र' और 'फ़रीदी फ़र' की तरकीबें दुरुस्त हैं।

मिर्ज़ा 'तफ़्ता' ने एक शेर में शब्द 'बेपीर' बाँधा था, ग़ालिब ने उसे ग़लत क़रार दिया। इसके जवाब में मिर्ज़ा 'तफ़्ता' ने फ़ारसी के एक बहुत प्रसिद्ध और माने हुए कवि मिर्ज़ा जलाल 'असीर' के कलाम से सनद पेश की, ग़ालिब इसके उत्तर में उन्हें लिखते हैं कि—

"लफ़्ज़े 'बेपीर' तौरानी बच्चा हाय हिन्दी नसराद का तराशा हुआ है जब मैं अशआरे उर्दू में अपने शागिर्दों को नहीं बाँधने देता तो तुमको शेरे फ़ारसी में क्योंकर इजाज़त दूँगा ? मीर्ज़ा जाल 'असीर' अलेह रहमत मुख़्तार हैं और उनका कलाम सनद है, मेरी क्या मजाल है कि उनके बाँधे हुए लफ़्ज़ को ग़लत कहूँ। लेकिन तआज्जुब है कि अमीरज़ादाह ईरान ऐसा लिखे।"

इस कथन से स्पष्ट है कि ग़ालिब भाषा के मामले में अपने मत और अपने निर्णय पर विश्वास करते थे। वह हिन्दुस्तानी विद्वान और पंडित ही नहीं बल्कि खुद ईरानियों की बाज़ उन तरकीबों को भी ग़लत समझते थे जो सुबुक

हिन्दी के प्रभाव के कारण इनके कलाम में स्थान पा गई थीं।

ग़ालिब अल्फ़ाज़ व तराकीब के इस्तेमाल में भी बड़े शुद्धता-प्रेमी थे। वह स्वयं आमियाना अल्फ़ाज़ और तरकीबें बाँधने से जहाँ तक संभव था गुरेज़ करते थे और अपने शिष्यों को भी यही सुझाव देते थे। इनके पत्रों में बाज़ जगह ऐसे वाक्य मौजूद हैं जिनसे इनके इस दृष्टिकोण को समझने में बहुत अधिक सहायता मिलती है। मिर्ज़ा 'तफ़ता' ने इनकी एक इसलाह के ख़िलाफ़ यह जवाज़ प्रस्तुत किया कि आमतौर पर लोग ऐसा नहीं लिखते, इस पर ग़ालिब ने लिखा—

"देखो फिर तुम दंगा करते हो। वही 'बेश' व 'बेशतर' का क़िस्सा निकला, ग़ल्ती में जम्हूर की पैरवी क्या फ़र्ज है ?"

इन बयानों से यह परिणाम कदापि नहीं निकालना। चाहिये कि ग़ालिब अपने सिवा सबको ग़लत समझते थे। हाँ वह किसी बात को महज़ इसलिए मानने को आमादह नहीं होते थे कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की सनद मौजूद है। वह वास्तव में 'इन्टेलेक्चुअल' थे और अक़्ल की कसौटी पर पूरी न उतरने वाली चीज़ों को रद्द कर देते थे। परन्तु यदि कभी इनके दावे के खिलाफ़ प्रमाण मिल जाता तो अपनी ग़ल्ती को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते।

" 'शिस्त बस्तन' जब 'ज़हूरी' के हाँ है तो बान्धे, ये रोज़मर्राह और हम रोज़मर्राह में उनके पैरों हैं।"

—**बनाम मिर्ज़ा 'तफ़ता'**

मिर्ज़ा ग़ालिब बाज़ वक़्त इस्लाह के काम से ऊब जाते। मिर्ज़ा 'तफ़ता' बड़े ज़ूदगो थे। एक बार ग़ालिब सख्त बीमार हो गये, परन्तु ये अपना कलाम भेजते रहे और जल्दी इस्लाह देने का तक़ाज़ा भी किये गए। ग़ालिब ने उन्हें समझाया कि मैं बहुत बीमार हूँ, बैठ भी नहीं सकता, इफ़ाक़ा होने के बाद ही इस्लाह दे सकता हूँ। परन्तु 'तफ़ता' के जोशे-शायरी और तलबे इस्लाह की शिद्दत पर इसका कोई असर न हुआ। ग़ालिब ने तंग आकर उन्हें लिखा कि हाँ मैं अच्छा हूँ तुम कलाम भेजो। वह इस व्यंग्य को न समझे और मासूमियत के साथ ताज़ा कलाम भी भेजा और फिर तक़ाज़ा भी कर बैठे। ग़ालिब के सब्र का पैमाना लबरेज़ हो गया। और उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्ण अन्दाज़ में 'तफ़ता' को यह पत्र लिखा जो उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है!

"···मैंने जो लिखा था कि मैं अच्छा हूँ, उसको आप (सच) समझकर ख़ुदा का शुक्र बजा लाए। वह जो मैंने लिखा था कि शिद्दते मर्ज़ का बयान मुबालग़ए शायराना, उसको भी आपने सच जाना होगा, हालाँकि ये दोनों कल्में अज़राहे तज़आमेज़ थे···जब तुमने किसी तरह बयान वाक़ई को बावर न किया, तो मैंने तुम्हें लिख भेजा कि अच्छा हूँ और ये कल्मा तुम्हें मैंने जब लिखा है कि अहद कर लिया है कि जब तक दम में दम है और हात में जुम्बिशे क़लम है जब तक मौक़े इस्लाह ख़्याल में आ सकता है, आज जो तुम्हारा दफ़्तर पहुँचेगा, उसको कल रवाना कर दिया करूँगा मुज-मिलन हाल मेरा ये है कि क़रीब बमर्ग हूँ दोनों हाथों में फोड़े, पाँवों में वरम, न वो अच्छे होते हैं न ये रफ़आ होता है। बैठ नहीं सकता; लेटे-लेटे लिखता हूँ। कल तुम्हारा दो परक़ा आया। आज सुबह को लेटे-लेटे उसको देखकर तुम्हें भिजवाया। ज़न्हार तुम मुझे तन्दुरुस्त समझे जाओ और दफ़्तर के दफ़्तर भेजते रहो, एक दिन से ज्यादा तवक़ुफ़ न करूँगा। क़रीबे मर्ग हूँ तो बला से!"

ग़ालिब ने मुग़ल बादशाह, विभिन्न नवाबों और अंग्रेज़ अफ़सरों की शान में बहुत से क़सीदे लिखे थे, लेकिन उनके क़सीदे भी बक़ौल ख़ुद उनके दूसरे क़सीदागो कवियों से बिलकुल भिन्न हैं। 'तफ़ता' ने इनसे अपने एक दीवान की तक़रीज़ लिखवाई मगर इसमें इनके कलाम की जितनी तारीफ़ की गई थी उसे इन्होंने कम समझा और ग़ालिब को शिकायती ख़त लिखा। ग़ालिब ने अपने अज़ीज़ शागिर्द का दिल भी रखा यानी इस तक़रीज़ में कुछ तबदीली कर दी और उन्हें अपना ज़ावियाए निगाह भी समझाने की कोशिश की। इस ख़त में उन्होंने दावा किया है कि इनकी मद्दाअसराई का अन्दाज़ क़तई जुदागाना है। अपने दावे के सुबूत में दलीलें देते हुए लिखते हैं—

"···क्या करूँ? अपना शेवा तर्क नहीं किया जा सकता। वह रविश हिन्दुस्तानी फ़ारसी लिखने वालों की मुझको नहीं आती कि बिल्कुल भाटों की तरह बकना शुरू करें। मेरे क़सीदे देखो तो तशबीब के शेर बहुत पाओगे और मदाह के शेर कमतर। नस्र में भी यही हाल है, नवाब मुस्तुफ़ा ख़ाँ के तज़किरे की तक़रीज़ को मुलाहिज़ा करो कि उनकी मदाह कितनी है मिर्ज़ा रहीम उद्दीन बहादुर 'हया' तख़ल्लुस के दीवान के दीबाचे को देखो, वह जो तक़रीज़

'दीवाने हाफ़िज़' की बमूजिब फ़रमाइश जान जाकोब बहादुर के लिखी है उसको देखो कि फ़क़त एक बैत में उनका नाम और उनकी मदाह आई है और बाकी सारी नस्र में कुछ और ही मतालिब हैं। वल्लाह अगर किसी शाहज़ादे या अमीरज़ादे के दीवान का दीबाचा लिखता तो उसकी इतनी मदाह न करता जितनी तुम्हारी मदाह की है। हमको और हमारी रविश को अगर पहचानते तो इतनी मदाह को बहुत जानते। किस्सा मुख्तसिर, तुम्हारी ख़ातिर की और एक फ़िक़रा तुम्हारे नाम का बदलकर इसके एवज़ एक फ़िक़रा और लिख दिया है। इससे ज़्यादा, भई, मेरी रविश नहीं। ज़ाहिरातुम खुद फ़िक्र नहीं करते और हज़रात के बहकाने में आ जाते हो। वो साहब तो बेशतर इस नज़्म व नस्र को मोमल कहेंगे। किस वास्ते कि उनके कान इस आवाज़ से आशना नहीं जो लोग कि क़तील को अच्छे लिखने वालों में जानेंगे, वह नज़्म व नस्र की खूबी को क्या पहचानेंगे?"

अलफ़ाज़, तरकीबों और मुहावरों के इस्तेमाल पर पूरी तरह ग़ौर करना, अपने मुआमले और ग़ौर व फ़िक्र के नतीजे को मुसल्लिमुससुबूत उस्तादों की पैरवी से बरतर समझना, मदाह में भी तारीफ़ के बजाए, 'कुछ और ही मतालिब' पैदा करना, इन लोगों की राय को कोई एहमियत न देना, जो लुग़त की बैसाखी के सहारे के बग़ैर क़दम नहीं उठा सकते, अपनी आवाज़ के 'नाआशना' होने, दूसरों से मुन्फ़रिद होने का एहसास और आम लोगों की पसन्द व नापसन्द से बेनियाज़ी का यह अन्दाज़ 'ग़ालिब' के कलाम में भी जारी व सारी है। ग़ालिब उर्दू के अकेले कवि हैं जिन्हें उनकी ज़िन्दगी ही में नहीं बल्कि उनके मरने के कुछ अर्से बाद तक भी फ़ारसीगो की हैसियत से ज़्यादा क़ाबिले ज़िक्र समझा जाता रहा। खुद 'ग़ालिब' का भी यही दावा था। उन्होंने अपने अशआर में जाबजा अपने उर्दू कलाम को फ़ारसी कलाम से बहुत कम दर्जा क़रार दिया है।

ग़ालिब की फ़ारसी भाषा शेरो-अदब से यही वाकफ़ियत उनकी उर्दू शायरी में भी प्रगट हुई। वह अपनी फ़ारसी शायरी पर घमंड करते थे और उर्दू शायरी को कम अहमियत देते थे। आखिरी मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के उस्ताद जौक से उन्हें मासराना चश्मक थी। ज़ौक का सरमाये नाज़ उनका उर्दू कलाम है। ग़ालिब उन्हें तंज़िया अंदाज़ में मुखातिब करते हुए कहते हैं कि मेरी उर्दू शायरी तो मेरे दबिस्ताने सुखन की मुरझाई हुई पत्ती है। अगर कोई रंगारंग नक्श देखना चाहे तो मेरे फ़ारसी कलाम का अध्ययन करे, मेरी उर्दू शायरी तो बेरंग है।

फ़ारसी से इसी लगन की वजह से उनके चौबीस वर्ष तक की उम्र तक के कहे हुए कलाम पर फ़ारसी ज़बान की ऐसी छाप है कि मुझे उसे उर्दू मानने में तकल्लुफ़ है। महाकवि मीर ने 'नुक़ाते शोअरा' में लिखा है कि ऐसे अशआर या ऐसे मिसरे, जिनकी ज़बान फ़ारसी शब्दों पर आधारित हो उन्हें मेआरी उर्दू या मेआरी शायरी नहीं माना जा सकता। मीर के बाद के तज़किरा निगार के यहाँ इस ख्याल से साफ़-साफ़ या बिलवास्ता इत्तिफ़ाक मौजूद है। मीर ने अपने दौर के पहले के कई फारसी शायरों के उर्दू कलाम को इसी कसौटी की बुनियाद पर लचर और ग़ैरफ़सीह क़रार दिया है। मीर के एक और समकालीन और उस्तादेज़माना मुहम्मद रफ़ी सौदा ने भी अपने एक शेर में यही राय दी है। मिर्ज़ा जानेजाना अपने दौर के एक सूफ़ी बुज़ुर्ग जो फ़ारसी और उर्दू के अच्छे शायर थे लेकिन उनकी उर्दू पर फारसी की गहरी छाप थी। सौदा ने इस बयान की आलोचना करते हुए कहा है कि ऐसी शायरी रोड़ा है बाट का। ग़ालिब के चौबीस साल यानी १८२१ ई० तक की शायरी का यहीं रंग है। उन पर इस वक्त तक फ़ारसी के मशहूर शायर बेदिल का असर था। ग़ालिब इस बात को इस तरह स्वीकार करते हैं:

असद हर जा सुख़ने तरहे बाग़े ताज़ा डाली है
मुझे रंगे बहारे ईजादी 'बेदिल' पसंद आया।

इस दौर की शायरी में क़सीदे और ग़ज़लें दोनों में फ़ारसी शब्द तरक़ीबें, बंदिशें ही नहीं बल्कि कई जगह तो मिसरे-के-मिसरे और शेर-के-शेर बिल्कुल फ़ारसी में हैं। कहीं-कहीं पूरे मिसरे या शेर में उर्दू का केवल एक शब्द आया है। उदाहरण के लिए एक शेर में लिखते हैं—

मौजे खमयाज़ा यक नशा च स्लाम वच कुफ़्
कि जी यक खते मुस्तर चे तौहम च यकुम
किबलओ अब्रुए बुत यक रहे ख्वादी शौक
काबओ बुतकदा यक महमिले ख्वाबे संगी

इस दौर की गज़लों में बहुत-सी तरकीबें खालिस फ़ारसी तरकीबें हैं। उदाहरण नवाज़िशे नफसे आश्ना, कमाले बन्दगिये गुल, खमीदन हाये चंग।

ग़ालिब के उर्दू कलाम का यही फ़ारसीपन, यही ग़ैर

उर्दूपन था जिसकी वजह से उसे पसन्द नहीं किया जाता था। ग़ालिब को इस बात का एहसास था। पहले उन्होंने तरह-तरह से ख़ुद को बहलाने का प्रयत्न किया परन्तु बाद में उन्हें उर्दू वालों के सामने हथियार डालने पड़े। और अपना अन्दाज़े बयान बदलना पड़ा। लेकिन नापसन्द किए जाने का एहसास डसता रहा। आख़िर वे ज़ेहनी कशमकश में मुबतिला हो गये। एक मुक़ाम वह आया जब उनकी समझ में न आता था कि शेर कहें या तर्क कर दें।

मुशकिल है ज़बस कलाम मेरा ऐ दिल
सुन सुन के इसे सुख़नवराने कामिल
आसां कहने की करते हैं फ़रमाइश
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल

आख़िर में ग़ालिब ने वही फ़ैसला किया जो उर्दू वाले चाहते थे। इसलिए उन्होंने १८२१ तक के अपने दीवान की तरतीब के वक्त अपने अशआर की बड़ी तादाद निकाल दी। ये वही अशआर थे जिन पर ग़ालिब को घमंड था और जिनके बारे में ग़ालिब का दावा था कि "ज़ाहिल इसे सुनकर मलूल होते" और उन्हें मोह्मल करार देते थे। ये तमाम अशआर पेचीदा मज़ामीन और समझ में न आने वाले इस्ते-आरों, तशबीहों और बोझल तरकाबों पर मुश्तमिल हैं। यह दीवान 'नुसख़मे हमीदया' के नाम से मशहूर हुआ।

ग़ालिब १८२६ तक अपने इस कलाम की इस्लाह करते रहे। बहुत-सी गज़लें तो इन्होंने रद्द कर ही दी थीं। लेकिन बाज़ गज़लों की इस्लाह की, बहुत से शेर और मिसरे बदले। यही वह ज़माना (१८२१ से १८२६) है जब वे उर्दू के लबो-लहज़े में उसके अपने मुनफरिद शेरी मिज़ाज के मुताबिक शेर कहने लगे थे। ग़ालिब के इन्हीं उर्दू अशआर की वजह से आज उन्हें उर्दू का सबसे बड़ा शायर माना जाता है। लेकिन उनके इस मुन्तख़िब दीवान पर अब्दुला खाँ ओज ने ख़ुद उनके मुंह पर फ़बती कसी थी कि इन चंद वरक़ों की बिना पर तुम साहिबे-दीवान नहीं बन सकते।

डेढ़ जुज़ पर भी तो है मतलओ मक़ता ग़ायब।
ग़ालिब आसान नहीं साहिबेदीवां होना॥

लेकिन इसी डेढ़ जुज़ को डॉ० अब्दुल रहमान बिजनौरी ने 'इलहामी किताब' करार दिया है। हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' और 'मुकद्दमे शेरो शायरी' में इसकी तारीफ़ की है। और आज तक इक़बाल के सिवा उर्दू के इसी दीवान पर सबसे ज़्यादा किताबें लिखी गयी हैं। उर्दू वाले आलमी अदब के मुक़ाबले अपनी इसी किताब को पेश करते हैं। और यूरोप-अमरीका के उर्दूदाँ भी इस दीवान और इस लेखक के भक्त नज़र आते हैं। आख़िर इस कायापलट का कारण क्या है?

: ३ :

इस परिवर्तन के कारण ग़ालिब के कलाम की रंगारंगी है। दार्शनिक दिमाग़ रखने वाले को इसमें दार्शनिक मुशिगाफियां नज़र आती हैं, आशिक मिज़ाज को हुस्नो इश्क़ की कारफरमाई पसंद आती है। किसी को सूफ़ी विषयों से लगाव है और कोई ग़ालिब की शोख़ी और व्यंग्य पर जान देता है।

लेकिन ग़ालिब की कविता की सबसे बड़ी मुनफरिद विशेषता जोश, उत्साह, उमंग, तड़प, वलवला है। वह ख़्वाहिश-परस्त और ख़्वाहिश-पसंद ही नहीं है बल्कि नाकाम ख़्वाहिशों, नाउम्मीदियों और यासो-हसरत में भी जीवन, सरख़ुशी-तमन्ना के पहलू और जवाज़ ढूंढ़ निकालता है।

ग़ालिब कहता है कि बहार का मतलब फूलों का खिलना नहीं है। बहार आये तो इस जोश से आये कि गुलाब सरो की बुलन्दी तक पहुँच जाये। उत्साह का हक़ तो जब अदा हो सकता है जब कि प्राकृतिक बंधन समाप्त हो जाएँ। वस्ती में बुलन्दी की शान पैदा हो जाये।

समझ इस फस्ल में कोताहिये नश्शोनुमा ग़ालिब
अगर गुल सरो की कामत पे पैराहन न हो जावे

उसके नज़दीक बहार की कल्पना ऐसी बहार की कल्पना है कि बाग़ की शादाबी, रंगीनी और सनाई से मुरग़ाने चमन मस्त हो जायें। घास और फूलों की हलक इतनी बढ़ जाये कि परिन्दों की बुलन्द परवाज़ी को छूने लगे और उनसे न आराम से बैठा जाय न उड़ा जाय।

है जोशे गुल बहार में यां तक कि हर तरफ़
उड़ते हुए उलझते हैं मुर्ग़े चमन के पांव

ग़ालिब हुसूल मक़सद से अधिक प्रयतन को अधिक प्रिय रखता है। आरज़ुओं और उम्मीदों की प्राप्ति की कशमकश और जदोजेहद उसे सरमस्ती के आलम में ले जाती है। इस आलम-बेख़ुदी में वह सरशारी और कैफ़ होता है कि लोक-परलोक से बेख़बर हो जाता है।

अजब निशात से जल्लाद के चले हैं हम आगे
कि अपने साये से सर पांव से है दो क़दम आगे

खुदा के वास्ते दाद इस जुनूने शौक़ की देना
कि इसके दरपे पहुँचते हैं नामाबर से हम आगे

बहार के जलवे से यही दिलबस्तगी इसके रोम-रोम में समा गयी है और इसे महबूब के नक़शे-कदम में फ़िरदौस का आलम दिखाई पड़ता है।

जहाँ तेरा नक़शे क़दम देखते हैं
ख्याबाँ-ख्याबाँ अरम देखते हैं

महबूब मुजस्सिम स्वर्ग बन गया है और रास्ते के धूल में फूलों का जलवा नज़र आता है।

ये किस बेहशते शमायद की आमद आमद है
कि नहीरे जलवये गुल, रह गुज़र में ख़ाक नहीं

इस मुजस्सिम स्वर्ग की कल्पना में अगर मनुष्य मर जाये तो उसकी कब्र की मिट्टी भी फूलों की सेज बन जायेगी। गोया शौक का वफ़ूर और कल्पना की उड़ान हर तकलीफ़ को आराम बना सकती है।

बस कि हैं हम एक बहारे नाज के मारे हुए
जलवये गुल के सिवा गर्द अपने मदफ़न में नहीं।

गालिब की कल्पनात्मक दुनिया में हर प्राकृतिक वस्तु बदल गयी है। शराब इसके यहाँ जज़्ब का मुतरादिफ़ है। यह वह चीज़ है कि मिट्टी में जान डाल दे, अचल को चल कर दे और ख़ाक को आसमान की तरफ, पस्ती को बुलन्दी तक उठना सिखा दे :

हैं बसकि जोशे बादह से शीशे उछल रहे
हर गोशये बिसात है सर शीशा बाज का।
देख कर तुझको चमन बसकि नमू करता है
ख़ुद व ख़ुद पहुँचे हैं गुल गोशये दस्तार के पास।

तड़प और जोशे-जुनू ऐसी चीज़ है कि दर-दीवार नाचने लगे, दर दीवार और दीवार दर बन जाये, मुर्दे में जान पड़ जाये और उमंग एवं मस्ती के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहे—

हुई है किस कदर अज़ीनिए मय जलवा
कि मस्त है तेरी कूचे में हर दरो-दीवार।
न पूछ बेख़ुदिये ऐश मुक़द्दम सैलाव
कि नाचते हैं पड़े सर-वसर दरो-दीवार।

शरीर को प्राण, अचल को चल और मृतक को जीवित कर देने का यह रहस्य मनुष्य की लगन, इस शौक़ के असीम होने से उत्पन्न होती है। प्रकृति-विजय का यह हौसला और पदार्थ को बदल डालने का यह विश्वास ग़ालिब के काव्य की मुख्य विशेषता है—

बला से हैं जो ब पेशे नज़र दरो-दीवार
निगाहे शौक़ को हैं बालों पर दरो-दीवार।

अनुभूति की यह अधिकता ग़ालिब को चैन से नहीं बैठने देती। वे निश्चित समस्याओं पर फिर से विचार करना चाहते हैं। फैसलों का पुनर्निरीक्षण करना चाहते हैं। सफलता की आशा न होने पर भी प्रयत्न करना चाहते हैं—संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का यह संगम बड़े भरपूर अन्दाज़ में प्रकट हुआ है। वे कहते हैं कि आखिर हम किसी परम्परागत कथन को पूर्ण सत्य क्यों मान लें? जीवन जो नयी संभावना के क्षितिजों का उद्घाटन कर रहा है। इन्हें अपना आधार क्यों न बनायें!

अपना नहीं वो शेवा कि आराम से बैठें
इस दर पै नहीं वार तो काबा ही को हो आयें।

× × ×

क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले एक-सा जवाब
आओ न हम भी सैरे कोहेनूर को चलें।

आकांक्षाओं और अपूर्ण आशाओं, अपूर्ण अरमानों को वे निराशा, अनास्था और कुण्ठा से अच्छा समझते हैं। क्योंकि राख में शोले न हों मगर चिनगारियाँ तो होती हैं—गर्द में तो कुछ भी नहीं होता। यह 'कुछ' 'सब' का जवाब नहीं मगर 'नहीं' से श्रेष्ठ है। जीवन मृत्यु की अपेक्षा आदरणीय है।

आता है दाग़े हसरते दिल का शुमार याद,
मुझसे मेरे गुनाह का हिसाब ख़ुदा न माँग।

× × ×

मानए दश्त नवर्दी कोई तदवीर नहीं,
एक चक्कर है मेरे पाँव में जंजीर नहीं।

× × ×

उस लव से मिल ही जायेगा बोसा कभी तो हाँ
शौक़े, फ़सूलो, जुर्रते-रिन्दाना चाहिए।

अनुभूतिहीन को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है। जिसे यह विश्व, इसके दृश्य, दुनिया की भोग्य वस्तुएँ और कष्ट प्रभावित नहीं करते, वे व्यक्ति आत्महत्या कर लें तो अच्छा है, क्योंकि पत्थर की भाँति जीवन व्यतीत करने से मृत्यु की वेदना और कष्ट उठाना अधिक आनन्दकर है।

खंजर से चीर सीना, अगर दिल न हो दो नीम
दिल में छुरी चुभो मिज़ाँ गर ख़ूचकर नहीं।

ग़ालिब का यही जोश, भावना और उमंग इसे दुनिया के आनन्द से भरपूर जोखिम उठाने को उत्साहित करता है। वे उर्दू के एकमात्र शायर हैं, जिसने रूप और आनन्द की आकांक्षा को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। मीर ग़ालिब से बड़ा शायर है। मीर का काव्य ग़ालिब की अपेक्षा कई गुना अधिक है। लेकिन मीर के काव्य में अपने-आपकी अधिक चर्चा है। इच्छा और उमंग मीर के यहाँ भी है लेकिन दुनियादारी नहीं है, इसलिए मीर को ग़ालिब से कम महत्त्व मिला। यह सौ वर्ष में या वर्तमान युग में ग़ालिब जिन लोगों का प्रिय रहा, वे भी इसकी तरह अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के लोग रहे हैं। ग़ालिब को ऐसे तमाम लोगों ने पसन्द किया है जो दुनिया के पीछे बेतहाशा भागे हैं। जिन्होंने अवसरवाद, ख़ूबसूरत फ़रेबी, किसी भी माध्यम से प्रतिष्ठा और ख्याति अर्जित करने की खातिर अपने आदर्शों का बलिदान किया है। ऐसे लोग ग़ालिब में अपने अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व को पूर्ण होता देखते हैं और इन्हें ग़ालिब में अपनी कमज़ोरियों का समाधान मिलता है। ग़ालिब को पसन्द करने और सराहने में चेतन एवं अवचेतन अथवा अर्द्धचेतन रूप में आन्तरिक, हार्दिक, मानसिक एवं दृष्टि की शान्ति मिलती है।

ग़ालिब भावना की सन्तुष्टि और आनन्द की प्राप्ति की इच्छा बड़े कलात्मक रूप में व्यक्त करते हैं। ग़ालिब की शैली में लखनवी शायरों यथा—इन्शाअल्ला खाँ 'इन्शा' और कलन्दर बख्श जुरायद की तरह नारी के अंगों तक ही सीमित नहीं रहती। लखनऊ के शायरों की तरह कंघी, चोटी, अंगिया, कुर्ती या गाल, छाती, नाभि, कमर और पिंडली में ग़ालिब खो नहीं जाता। इसको हसीन लिबास या शरीर के भागों से सेक्स-सन्तोष नहीं होता। ग़ालिब शरीर के हिस्सों को अलग-अलग नहीं बाँटता बल्कि वह उसे एक सम्पूर्ण इकाई समझता है। और इस इकाई से पूर्णरूपेण आनन्द उठाना चाहता है।

ग़ालिब ने एक लम्बी ग़ज़ल में अपनी सेक्स की माँग और आनन्द-प्राप्ति की इच्छा को बड़े साहस के साथ स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। तनहाई हो, शराब हो, हुस्न शृंगार किये हुए हो, आशिक भी नशे में हो और हसीना भी नशे के आलम में हो कि, शराब पीने के कारण उसका चेहरा उपवन की तरह रंगीन हो जाता है :

मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किये हुए
जोशे-क़दह से बज्मे चिराग़ाँ किये हुए
माँगे हैं फिर किसी को लबे बाम पर हवस
ज़ुल्फ़े सियाह रू पे परेशाँ किये हुए।
चाहे है फिर किसी को मुकाबिल पे आरज़ू
सर मय से तेज़ दश्नए मिज़गाँ किये हुए।
एक नौ बहारे नाज़ को ताके हैं फिर निगाह
चेहरा फरोग़े मय से गुलिस्ताँ किये हुए।

ग़ालिब ने एक स्थान पर और कहा है कि इश्क़-मुहब्बत पूजने का नाम नहीं है। यह भावना आध्यात्मिक नहीं है, यह तो शरीर की भूख को व्यक्त करने का एक रास्ता है। उर्दू के किसी शायर ने शरीर की इस भूख को इस प्रकार नहीं बिखराया है और न ऐसा दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है। अपनी शारीरिक इच्छाओं को दार्शनिक रूप देना और इश्क को केवल आध्यात्मिक समझने वालों का इस प्रकार खुले रूप में उपहास करना ग़ालिब के ही बूते की बात है :

ख्वाहिश को अहमकों ने परस्तिश दिया करार।
क्या पूजता हूँ उस बुते बेदादगर को मैं।

ग़ालिब की स्पष्टवादिता सीमाहीन है वह अपने महबूब से भी दोटूक कह सकता है कि मुहब्बत वियोग में सुलगने का नाम नहीं है। यह तुम्हारी अदाओं का नाम भी नहीं है बल्कि शरीरों के संयोगों का नाम भी नहीं है। इस अनुभूति की पूर्ति दूरी से नहीं बल्कि शारीरिक सान्निध्य से ही हो सकती है—

गुंचए नाशुगुफ्ता को दूर से मत दिखा कि यूं
बोसे को पूछता हूँ मैं मुंह से मुझे बता कि यूं।

× × ×

हमसे खुल जाओ बवक़्ते-मयपरस्ती एक दिन
वरना हम छेड़ेंगे रखकर उजरेमस्ती एक दिन।

× × ×

बोसा देते नहीं और दिल पे है हर लहज़ा निगाह
जी में कहते हैं कि मुफ़्त आये तो माल अच्छा है।

ग़ालिब सौंदर्य से आनन्द भी उठाता है और उसके पदार्थ पर भी सोचता है। इस प्रकार वह भोग और आनन्द में दार्शनिकता मिला देता है। ग़ालिब की इसी अदा पर दुनियादार जान देते हैं।

यही वह अन्दाज़ है जो इन्हें अपनी शारीरिक भूख पर पर्दे डालने में मदद देता है।

ये परी चेहरा लोग कैसे हैं
ग़म जओ, असबओ अदा क्या है।
शिकने ज़ुल्फ़े अम्बरी क्यों है
निगहे चश्मे सुरमा सा क्या है।

ग़ालिब का यह आनन्द का स्वरूप वह अन्दाज़ है, जो दुनियादार और अवसरवादियों को उनकी भोग प्रवृत्ति से इनकार करवाकर भी दुनिया से चिपटे रहने के प्रयास में सहारा देता है। ये लोग भोगवृत्ति पर गर्व और उसकी बिना झिझक अभिव्यक्ति ग़ालिब से सीखते हैं—

बोसा नहीं न दीजिए दुशनाम ही सही
आखिर ज़ुबां तो रखते हो तुम गर वहां नहीं

×

गो हाथ को जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है
रहने दो अभी साग़रो मीना मेरे आगे।

ग़ालिब का यही ज्ञान, बौद्धिक उपज, अनुभूति, हार्दिक और बौद्धिक अन्तर्विरोध हैं, जिन्होंने इसे इतना लोकप्रिय किया है और इसके अनुकरण की बराबर कोशिश की गई है लेकिन वह हर बात में एकदम अलग था। उसके अनुकरण में भी कोई सफल नहीं हो सका।

•

अनुवाद : असग़र वजाहत
सुहेला नश्तर

१. "मकातबे ग़ालिब" मुर्तब्बा : अर्शी।
२. मियाँ अन्ज़ "फ़रहंगे जहाँगीरी" शेख़ रशीद शाक़िम "फ़रहंगे रशीद" अज़माइ अज्म में से नहीं। हिन्द उनका मोलिद, माख़ूज उनका अशआरे क़दमा, हादी उनका क़ियास, टेकचन्द और स्यालकोटिमल उनके पेरो।
—"मकातीबे ग़ालिब" मुर्तबा : अर्शी-८३
३. ···ये लोग (ख़लीफ़ा शाह मोहम्मद और माधूराम, ग़नीमत एवं क़तील) राहे सुखन के ग़ोल हैं, आदमी के गुमराह करने वाले, ये फ़ारसी को क्या जाने, हाँ तवाए मोज़ूँ रखते थे, शेर कहते थे।
—"ख़ुतूते ग़ालिब", मुर्तब्बा महेशप्रशाद ११६
४. "ख़ुतूते ग़ालिब", मुर्तब्बा "महर" ३२७-३२८।
५. "मेहर" ३२८।
६. उर्दूए मुअल्ला ११०।
७. मुन्शी हरगोपाल 'तफ़ता' 'ग़ालिब' के अज़ीज़तरीन शिष्यों में सम्मिलित थे। ग़ालिब उन्हें प्रेम में 'मिर्ज़ा तफ़ता' कहा करते थे।

जटिल भावाभिव्यक्ति के कवि ग़ालिब

विश्वनाथ त्रिपाठी

ग़ालिब के यहाँ बातों को उलझा-उलझाकर इस तरह पेश किया जाता है कि शायरी से गहरा लगाव न रखने वाला थोड़ी ही देर में "मगर इनका कहा ये आप समझें या खुदा समझे" से सहमत होकर बेहतर और ज्यादा ज़रूरी कामों में लग जाएगा। इस उलझाव का सबसे ज्यादा फ़ायदा मिर्ज़ा ग़ालिब (कवि) को हुआ है। उनकी शायरी समझदार प्रशंसकों को ही अपनी तरफ़ खींचती है। ग़ालिब के दिल का रास्ता उसके दिमाग़ से होकर गुज़रता है, और उनका दिमाग़ एक बीहड़ जंगल है, जिसमें रास्ता पाने के लिए टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चलना पड़ता है। ग़ालिब ने अपना व्यक्तित्व, जोकि उनके काव्य का स्रोत है, निहायत हिफ़ाजत से छिपा रखा है। और उसकी भी मिर्ज़ा को कसक है :

खुलता किसी पे क्यों, मिरे दिल का मुआमलः
शेरों के इन्तिखाब ने रुस्वा किया मुझे।

मिर्ज़ा ग़ालिब बहुत बड़े शायर हैं। लेकिन उर्दू का शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो शायरी से इतना बेनियाज़ हो। यह बात बिलकुल उल्टी लगती है। लेकिन हिन्दी कविता के पाठक भक्त कवियों को याद कर लें तो बात साफ़ हो जाए। तुलसीदास ने कभी भी कवि-कर्म को गौरव नहीं दिया। मिर्ज़ा ग़ालिब भी कवित्व से अपना लगाव एक झटके में तोड़ सकने की सामर्थ्य रखते थे और सिपाही के पेशे पर नाज़ फ़रमा सकते थे—

कुछ शायरी जरीअए इज्जत नहीं मुझे

शहर में अपनी आबरू की हकीकत समझने वाले ग़ालिब शाइरी की भी हकीकत समझते थे।

शाइरी के बारे में मिर्ज़ा ने अपने विचार पत्रों में भी व्यक्त किए हैं। मुंशी हरगोपाल तफ़्ता को लिखते हैं—"मैंने कब कहा था कि तुम्हारा कलाम अच्छा नहीं। मैंने कब कहा था कि दुनिया में कोई सुखन-फहम कद्रदां न होगा। मगर बात ये है कि तुम मश्के सुखन कर रहे हो और मैं मश्केफ़ना में मुस्तगर्क़ हूँ। बूअली सीना के इल्म को और नज़ीरी के शेर को ज़ाया और बेफ़ायदा और मौहूम समझता हूँ। ज़ीस्त बसर करने को कुछ थोड़ी-सी राहत दरकार है और बाकी हिकमत और सल्तनत और शायरी और साहरी सब खुराफ़ात है।" उनकी कविता पढ़कर लगता है कि वे ज़िन्दगी भर ज़िन्दगी की जटिल समस्याओं से उलझते रहे। क़िस्मत ने उन्हें ज़िन्दगी भी ऐसी ही बख्शी थी कि समस्याओं को सुलझाने में उनकी मदद को कोई न आया। जीवन की क्रूरतम भौतिक और घटनागत विडम्बनाएँ उन्हें झेलनी पड़ीं। खुदा शायद दूसरों के लिए तो था ग़ालिब के लिए नहीं था। वह औरों की मदद के लिए तो आया ग़ालिब की मदद के लिए एक बार भी नहीं आया। उन्हें ज़िन्दगी की मुसीबतों से उम्र भर तनहा लड़ना पड़ा। यहाँ ग़ालिब की निराशा के पीछे उनके जीवन की असफलताओं और हृदय-विदारक घटनाओं पर एक निगाह डाल लेना ज़रूरी है। "पाँच वर्ष की आयु में बाप का और आठ-नौ वर्ष की आयु में चचा का साया सर से उठ गया। एक सम्पन्न ननिहाल में माँ के बेरंग आंचल के नीचे बचपन व्यतीत किया और आरंभिक युवावस्था की चन्दरोज़ा फ़ुरसते गुनाह के बदले उम्र भर की असफलता, विफलता, उत्ताप और जलन मिली। अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु से जीवन की निर्ममताओं का सामना करने के लिए अकेले मैदान में उतरना पड़ा। आय का कोई साधन नहीं था। बाप और चचा की मृत्यु के बाद जो जागीर पालन-पोषण के लिए थी अधिकांश लोग खा गए और ग़ालिब उम्र भर हाथों में अर्ज़ियां और कसीदे लिए हुए देहली, लखनऊ, कलकत्ता, कानपुर दर-बदर ठोकरें खाता फिरा, अयोग्य धनवानों और अंग्रेज़ अफ़सरों की झूठी प्रशंसा में हृदय-रक्त उगला और उसके बाद भी कर्ज की शराब पी और भीख पर ज़िन्दगी गुज़ारी। मरते समय भी यह कटु

अनुभूति साथ थी कि विधवा पत्नी पर ग़रीबी और निर्धनता में क्या बीतेगी। यह भी हुआ कि ऋणदाताओं की नालिश और डिग्रियों के डर से घर में छिपकर बैठना पड़ा और किसी शत्रु के षड्यंत्र से जुए की लत में कैदखाने का अपमान सहना पड़ा। मुगल दरबार में वह आदर पद भी न मिला जो निम्न-तर कोटि के कवियों को प्राप्त हो रहा था और आयु के अन्तिम चरण में एक बौद्धिक वाद-विवाद के अपराध में बरसों माँ-बहन की गालियाँ खानी पड़ीं। युवावस्था में युवती प्रेयसी का जनाज़ा आँखों के सामने उठ गया। घर में बच्चों के खेल-कूद के बजाय उनकी लाशें नज़र आईं। जिस भांजे को गोद लिया था वह जवान मर गया। बन्धु-बांधव आँखों के सामने कत्ल हुए।" सरदार जाफ़री के इस कथन में निरी घटनाओं और तथ्यों का उल्लेख मात्र किया गया है, मिर्ज़ा के साथ यह सब हुआ था।

जीवन को निस्सार धनी भी कहते हैं और गरीब भी—सुखी भी और दुखी भी। जीवन के दुखों पर एक पृष्ठ सचित्र साप्ताहिकों में भी अध्यात्म-चर्चा के कालम में रहता है। लेकिन दुख और दुख में अन्तर होता है। सारी सुख-सुविधाओं में सड़ने वाले व्यक्ति का दुःख अपच और अजीर्ण का दुख है और जीवन के अभावों से जूझते रहने वाले आदमी का दुःख भूखे का दुःख है। जीवन निरर्थक सुखी-दुखी दोनों के लिए हो सकता है किन्तु विभिन्न कारणों से। कारणों की विभिन्नता को रेखांकित करके समझना जरूरी है। इसीलिए अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए जीवन यदि एक स्तर पर निरर्थक है तो दूसरे स्तर पर कई गुना सार्थक भी। जीवन उसके लिए निरर्थक रहा किन्तु जीवन के प्रति उसकी लालसा अपार होती है। ग़ालिब के यहाँ यह लालसा मिलती है। जो ग़ालिब के कलाम में अभिव्यक्त जीवन की निरर्थकता और सार्थकता के इस परस्पर-विरोध को निराशा और लालसा के इस साहचर्य को नहीं देख पाते वे इस शेर को क्या समझेंगे—

तेरे वादे पर जिए हम तो यह जान झूठ जाना
कि खुशी से मर न जाते अगर एतबार होता

ग़ालिब की निराशा के पीछे ग़ालिब की असफलताएँ हैं—इन्हीं असफलताओं ने उन्हें चीज़ों को शक की निगाह से देखना सिखाया है। उनकी महानता इस बात में है कि घोर असफलताओं और निराशाओं ने न तो उन्हें तोड़ा न विक्षिप्त बनाया—बल्कि सन्देह करने की दृष्टि देकर मोह-मुक्त किया और बुद्धि पर भरोसा करना सिखाया। ग़ालिब जिस युग में पैदा हुए थे उसे समाज-शास्त्री क्षयिष्णु युग कहते हैं—अधिकांश उर्दू साहित्य पर यह क्षयिष्णुता घिरी हुई है। ग़ालिब के यहाँ उनकी ज़िन्दगी और ज़माने का बिखराव तो है किन्तु सस्ती भावुकता कहीं नहीं है। वे अपने ज़माने पर ही नहीं दुःख और भावुकता पर भी व्यंग्य कर सकते हैं। दुःख पर व्यंग्य कर सकने की सामर्थ्य उसी में होती है जिसका दुख सजीव होता है। भावुकता एक सीमा तक चलकर थक जाती है, स्थितियों की पीड़ा का निरन्तर बोध बुद्धि बनाए रखती है। ग़ालिब के यहाँ थककर सो जाने वाली भावुकता नहीं, पीड़ा को जगाए रखने वाली मोह-मुक्त बुद्धि है। इसी लिए वे ज़िन्दगी, प्रतिष्ठा, मज़हब, जन्नत और शायरी सबकी हक़ीकत पहचानते हैं। इसीलिए उनकी शम्मा हर रंग में सहर तक जल सकती है. यानी उनकी पीड़ा चुकती नहीं। आप अब यह भी ग़ौर फ़रमा सकते हैं कि ग़ालिब ने ज़ौक के मिसरे "मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे" की दाद क्यों दी होगी। यह ज़ौक का लिखा हुआ ग़ालिब का मिसरा है।

ग़ालिब के पत्रों में ग़ालिब की सहृदयता, परदुखकातरता गहरी संवेदना के पर्याप्त और स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनके पत्र, जिनमें उनके जीवन की सच्ची झाँकियाँ मिलती हैं, उनकी कविताओं की कुंजी हैं। अपने मित्रों से उनका कितना गहरा लगाव था, दूसरों की तकलीफ़ उन्हें कितना द्रवित कर सकती थी, इसका पता हमें उनके पत्रों से लग जाता है। एक खत में लिखते हैं—"जिस शहर में रहूँ उस शहर में तो भूखा-नंगा नज़र न आए। खुदा का कोपभाजन, ख़ल्क का मरदूद, बूढ़ा नातवान, बीमार, फ़कीर, दरिद्रता में गिरफ्तार मेरे और मुआमिलात-ए-कलाम-ओ-कमाल से कत्-ए-नज़र करो। व जो किसी को भीख माँगते न देख सके और खुद-दर-बदर भी माँगे वह मैं हूँ।" वही व्यंग्य, गहरी पीड़ा की तीव्र अनुभूति और पीड़ा को चीरकर जीवन के वरदानों को प्राप्त करने की अदम्य लालसा यहाँ भी है। यानी मिर्ज़ा खुद दर-ब-दर भीख माँगने की हालत में रहते हुए भी किसी को भीख माँगते न देख सकने की लालसा हृदय में सँजोए हैं। यह वही मिर्ज़ा हैं जो नवाब रामपुर को खतों में अपने को 'खुशनूदी का ग़ालिब' 'इनायत का ग़ालिब' लिखते हैं और 'तुम सलामत

रहो हज़ार बरस। हर बरस के हों दिन पचास हज़ार" लिखते हैं। अन्य कवि इतने पर शायरी और स्वामिभान की हक़ीक़त न समझें, शायरी को ज़िन्दगी की कटुता से अलग-थलग रखकर गुलो-बुलबुल की दुनिया तक सीमित रखें तो रखें, मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसों में न थे।

'ख़ुदा' और 'जन्नत' के बारे में ग़ालिब की जो धारणा उनके कलाम में व्यक्त हुई है, उस पर ध्यान देने की ज़रूरत है। 'ख़ुदा' से सम्बन्धित एक शेर ख़ुद ग़ालिब को निहायत पसन्द था, मुंशी हरगोपाल 'तफ़्ता' को एक ख़त में उन्होंने लिखा था—"मेरा हाल इस फ़न में अब ये है कि शेर कहने की रविश और अगले कहे हुए अशआर—सब भूल गया। मगर, हाँ, अपने हिन्दी कलाम में से डेढ़ शेर याने एक मकता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाह-गाह जब दिल उलटने लगता है, तब दस-पाँच बार ये मकता ज़बान पर आ जाता है :

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे के ख़ुदा रखते थे।

ज़िन्दगी की कटुता और अनवरत असफलताओं ने ग़ालिब को यह कहने पर विवश कर दिया था कि ख़ुदा उनसे विमुख रहा। आज से सौ साल पहले मरने वाले ग़ालिब ख़ुदा की शान के ख़िलाफ इससे ज़्यादा और कुछ नहीं कह सकते थे।

ख़ुदा के ही बारे में ग़ालिब का एक और शेर भी विचारणीय है :

न था कुछ, तो ख़ुदा था, कुछ न होता, तो ख़ुदा होता
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता

इस शेर को मारफ़त और तसव्वुफ़ का शेर कहा और समझा जाता है। बड़ी-बड़ी बारीकियाँ निकाली जाती हैं इस शेर में। लेकिन एक भाव जो इस शेर में साफ़ है, वह यह कि ख़ुदा के होने की स्थिति कुछ न होने पर ही दिखलाई पड़ती है। पहले मिसरे को देखिये, ख़ुदा कब था—जब कुछ न था, ख़ुदा कब होता। जब कुछ न होता। अब जबकि ग़ालिब है तो ख़ुदा कहाँ है। पहले मिसरे की रोशनी में जवाब होना चाहिए कि 'नहीं है', यानी ख़ुदा और कुछ (जिसमें ग़ालिब की भी स्थिति शामिल है) की स्थिति साथ-साथ नहीं है। मेरा अभिप्राय यह सिद्ध करना नहीं है कि ग़ालिब नास्तिक थे, नास्तिक वे हो ही नहीं सकते थे। मज़हबी एतबार से उन्होंने ईश्वर का अस्तित्व कभी अस्वीकार नहीं किया। हाँ, वे ख़ुदा से मोहमुक्त अवश्य हो चुके थे।

ख़ुदा के बारे में ग़ैर-ज़िम्मेदाराना ढंग से कहने के ख़तरे थे। इसके अलावा आख़िरकार ग़ालिब अपने युग की सीमाओं को एक सीमा तक ही लाँघ सकते थे। लेकिन जन्नत के बारे में न कोई ऐसा ख़तरा था न कोई अन्देशा। ग़ालिब ने ख़ुदा को तो थोड़ा-बहुत बख़्श दिया, लेकिन उसके साम्राज्य जन्नत को तो पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। उन्होंने साफ कहा :

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन
दिल को ख़ुश रखने का ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।

'जन्नत' का ख़याल उसका दिल कैसे ख़ुश रख सकता है जो जानता है कि यह दिल ख़ुश रखने का ख़याल है। दूसरे मिसरे में 'अच्छा ख़याल' का सीधा मतलब 'महज़ ख़याल' है, अवास्तविक है।

'जन्नत' पर कहा गया मिर्ज़ा का एक और शेर भी विचारणीय है :

सुनते हैं जो बहिश्त की तारीफ़ सब दुरुस्त
लेकिन ख़ुदा करे वो तेरी जल्वागाह हो।

पहले मिसरे के 'तारीफ़ सब दुरुस्त' का मतलब है 'तारीफ़ सब ग़लत'। 'दुरुस्त' का मतलब नाकाफ़ी या 'अनाकर्षक' भी हो सकता है। दरसल 'दुरुस्त' के अर्थ दुरुस्त, नाकाफ़ी, अनाकर्षक—तीनों हैं।

मैं पहले मिसरे का अर्थ यों समझता हूँ, बहिश्त की जो तारीफ मामूली, सीधे-सादे या नासमझ लोग करते हैं, वो इनके लिए तो दुरुस्त होगी लेकिन मिर्ज़ा के लिए उन विशेषताओं से मुक्त जन्नत अपूर्ण और अनाकर्षक है। वस्तुतः 'दुरुस्त' का अर्थ यों है। दुरुस्त = दुरुस्त × अपूर्ण × अनाकर्षक। आगे भी देखिए—जन्नत या बहिश्त ख़ुदा की बनाई या यों कहिए सजाई हुई जगह है, और उसको 'दुरुस्त' कहते हुए ग़ालिब ख़ुदा से ही प्रार्थना करते हैं कि वह जगह उनके प्रिय की जल्वागाह हो तो उनका मन रमे। काशी में अपने आदरणीय मित्र केदारनाथ सिंह से एक शब्द सुना था 'काम्प्लेक्स डिलाइट' (मिश्रित भावाभिव्यक्ति का आनन्द)। यह बहुत 'काम्प्लेक्स डिलाइट' ग़ालिब की रचना में मिलती है, यह उनकी रचनाओं की विशेषता है। सम्भवतः इसीलिए उनकी पंक्तियों के विभिन्न अर्थ किए जाते हैं। लेकिन मुझे लगता है कि ऐसी रचनाओं में जिन अर्थों को विभिन्नता कहा

जाता है वे सब मिलकर एक प्रमुख अर्थ की रचना करते हैं। सूरदास की एक पंक्ति 'नंद ब्रज लीजो ठोंकि बजाय' में ही 'ठोंकि बजाय' में जो विभिन्न भाव-छायाएँ अभिव्यक्त हुई हैं उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भाव पंचामृत' कहा है। अस्तु—

बहिश्त की 'दुरुस्तगी' से घबड़ाकर ग़ालिब ने कहा होगा

क्यों न फिरदौस में दोजख को मिला लें यारब
सैर के वास्ते थोड़ी सी फ़िज़ा और सही

ग़ौर करने की बात है कि दोज़ख की थोड़ी-सी और फ़िज़ा सैर के लिए है। ज़ाहिर है कि लाखों बरस की हूरें बहुत जल्द 'अजीरन' हो जाएँगी—इसे मिर्ज़ा जानते थे और फिर सैर करने के लिए अपनी असल जगह पर आ जाने का बन्दोबस्त करना चाहते थे। यह उन्हीं का मिसरा है न—

काफ़िर हूँ गर न मिलती हो राहत अज़ाब में।

मतलब यह कि ग़ालिब ऐसे शायर हैं जिनकी आस्था खुदा, जन्नत, शाइरी सबसे डिगी हुई है—उनकी शाइरी में उनकी इसी डिगी हुई आस्था को वाणी मिली है। आस्था का यह डिगना ही उनकी मोह-मुक्ति का कारण है। ज़िन्दगी तल्ख़ और ख़ुदा, आक़बत, शाइरी सबसे मोह-भंग—इस स्थिति ने ग़ालिब में एक अजीब 'सिनिसिज़्म' पैदा कर दिया है। वे अच्छी-से-अच्छी स्थिति की कल्पना करते हैं और उसे अपनी सर्वदाही संदिग्ध दृष्टि से ध्वस्त कर देते हैं। इस कथन के उदाहरण में अनेक पंक्तियाँ पेश करना चाहूँगा :

अगर और जीते रहते येही इन्तज़ार होता।

घर हमारा जो न रोते भी तो वीरां होता
बह्र गर बह्र न होता तो बयाबां होता॥

तंगिए दिल का गिला क्या, ये वो काफ़िर दिल है
कि अगर तंग न होता तो परीशां होता।

प्रिय से मिलन की स्थिति कितनी सुखद होती है। और ग़ालिब का माशूक भी असाधारण रूप से कृपालु है लेकिन ग़ालिब का सन्देह इस सुखद मिलन को भी चौपट करके रख देता है :—

सोहबत में ग़ैर की न पड़ी हो कहीं ये ख़ू
देने लगा है बोसा बिग़ैर इल्तिजा किए।

या कि भरा हुआ जाम सामने पाकर भी वे सोचने लगते हैं :

साक़ी ने कुछ मिला न दिया हो शराब में

यों ग़ालिब को 'होता' रदीफ़ से बहुत प्यार है। ग़ालिब ने अपने बारे में खुद कहा है कि लोगों को उनका 'वो हर इक बात पर कहना कि यूँ होता तो क्या होता' याद आता है (आएगा) यह 'रदीफ़' ग़ालिब के स्वभाव का 'सिनीसिज़्म' तो जाहिर ही करता है, एक दमघोंटू वातावरण को चीरकर एक सुखद वातावरण की सृष्टि की कल्पना शक्ति और लालसा का भी संकेत देता है। ग़ालिब ने अपार निराशा से अपने को दो साधनों से सुरक्षित रखा है, व्यंग्य से और अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा से।

ग़ालिब व्यंग्य एक ख़ास अन्दाज़ से करते हैं। उनका व्यंग्य विरोध-संधि पर आधारित होता है। ग़ालिब के यहाँ खुशी अक्सर ग़म के पेट में से निकलती है। ग़म और खुशी दोनों विरोधी भाव हैं लेकिन ग़ालिब के यहाँ वे एक साथ नहीं, एक-दूसरे से आलिंगनबद्ध या कारण-कार्य रूप में मिलेंगे और आपका ध्यान न ग़म पर जाएगा न ख़ुशी पर बल्कि ग़म और खुशी के विरोध-साम्य पर अटका रहेगा। बात यह है कि कष्टों ने ग़ालिब को अपनी सीमा भी बता दी है। कष्टों की सीमा उनकी समाप्ति भी है। ज्ञान की अग्नि कष्टों को भी जलाती है।

जिस चीज़ पर हमारा बस नहीं उसे हम स्वीकार कर लेते हैं। ग़ालिब के इस स्वीकार में दुःख-सुख और स्वीकृति की अनिवार्यता का व्यंग्य मौजूद होता है :

कफ़स में मुझसे रूदादे चमन कहते न डर हमदम
गिरी है जिसपे कल बिजली वो मेरा आशियाँ क्यों हो

दूसरे मिसरे के 'क्यों हो' में अपने आशियाने पर ही बिजली गिरने की अनिवार्यता की स्वीकृति, उस अनिवार्यता से उत्पन्न अनुद्विग्नता यानी सुकूते-यास है। ये समूची भाव सरणि यानी नियति की क्रूरता की अनिवार्यता उसकी स्वीकृति और अनुद्विग्नता एक-दूसरे से मिलकर ग़ालिब को अपने ही अलग करके तटस्थ बना देते हैं और फिर अपने पर ही व्यंग्य करने की क्षमता प्रदान करते हैं। ग़ालिब का ऐसा द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व यानी उनके ही व्यक्तित्व से तटस्थ एक और व्यक्ति इन पंक्तियों में भी प्रकट हुआ है :—

हम भी दुश्मन तो नहीं हैं अपने
ग़ैर को तुझसे मुहब्बत ही सही।

उनकी अपार लालसा की पूर्ति की इच्छा इन जैसे शे

में व्यक्त हुई है :

है कहाँ तमन्ना का दूसरा कदम यारब ।
हमने दश्ते इमकाँ को इक नक़्शे पा पाया
मंजर इक बुलन्दी पर और हम बना सकते
अर्श के इधर होता काश के मकां अपना ।

और वह निहायत मशहूर शेर :

हज़ारों ख़ाहिशें ऐसी कि हर ख़ाहिश पे दम निकले
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।

घोर निराशा और असफलता के बीच मिर्ज़ा ने लालसा-पूर्ति की यह इच्छा बनाए रखी और एक चीज़ और बनाए रखी—'हसरते तामीर', निर्माण की इच्छा। सब-कुछ मिट जाने पर भी मिर्ज़ा की 'हसरते तामीर' नहीं मिटती। यह हसरत उनके जगत्-प्रेम का प्रतीक है। इसे प्रगतिशीलता का 'क्लीशे' न समझिए। मिर्ज़ा का शेर है :

हुआ हूँ इश्क की ग़ारतगरी से शर्मिन्दा
सिवाए हसरते-तामीर घर में ख़ाक नहीं

घर में क्या था कि तेरा ग़म जिसे ग़ारत करता
वह जो रखते थे हम इक हसरते-तामीर सो है ।

ग़ालिब की फ़ारसी कविता

नूरुलहसन अन्सारी

हिन्दुस्तान की फ़ारसी शायरी परिमाण और स्तर की दृष्टि से उतनी ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीन है जितनी ईरानी शायरी। ग्यारहवीं सदी ईस्वी में लाहौर ग़ज़नवी साम्राज्य का पूर्वी शासन-केन्द्र था। यहाँ, ईरानियों के साथ-साथ, हिन्दुस्तानी काव्य-रसिकों ने भी फ़ारसी ज़बान में अपनी रचना के जौहर दिखाने शुरू किये। उस युग से लेकर ग़ालिब के समय तक, लगभग नौ सौ साल तक, हिन्दुस्तानी कवि कलाविद और विद्वान् अपनी मौलिक रचनाओं और सम्पादित कृतियों से फ़ारसी काव्य और काव्येतर साहित्य का दामन अनमोल मोतियों से भरते रहे। इस लम्बे अर्से में हिन्दुस्तान की धरती से फ़ारसी के जो महान् कवि उठे, उनमें ख़ुसरो, बेदिल और ग़ालिब सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

ग़ालिब ईरानी नहीं थे। उनकी मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी। उनके बाप-दादा तुर्किस्तान से आये थे और तुर्की बोलते थे। लेकिन ग़ालिब ईरान के आशिक़ और ईरानी फ़ारसी के इतने बड़े प्रेमी थे कि हिन्दुस्तानी फ़ारसी को बिलकुल ख़ातिर में नहीं लाते थे। इस सिलसिले में उन्होंने तमाम हिन्दुस्तानी शायरों और साहित्यविदों से लड़ाई मोल ली। लेकिन यह अजीब स्थिति है कि ख़ुद ग़ालिब की फ़ारसी हिन्दुस्तानी फ़ारसी है; और उनकी शायरी 'सब्के-हिन्दी।'[1]

ग़ालिब की फ़ारसी शायरी की महत्ता इसी हिन्दुस्तानियत में निहित है। इनका समय वह है जब हिन्दुस्तान में फ़ारसी शायरी का सूरज लगभग डूब चला था, और ईरानी शायरी फ़क़त भटई और शाब्दिक बाज़ीगरी का शिकार थी। ऐसे ह्रासकालीन युग में ग़ालिब ने फ़ारसी शायरी में व्यापक और गहरे सन्दर्भ में जीवन्त समस्याएँ प्रस्तुत कीं और उसे सार्वभौम और स्थायी मूल्य प्रदान किया। अपनी फ़ारसी शायरी पर ख़ुद ग़ालिब को इतना नाज़ था कि वह अपने उर्दू दीवान को 'मज्मूअए-बेरंग' कहते थे—अर्थात् ऐसा संकलन जिसमें कोई रंग न हो। और फ़ारसी दीवान के बारे में उनका दृढ़ विश्वास यह था कि—यदि काव्य एक धर्म है तो उनका फ़ारसी दीवान उसकी दिव्य वाणी है।

---

१. ईरानी विद्वान् फ़ारसी शायरी की हिन्दुस्तानी शैली को 'सबके-हिन्दी' नाम से अभिहित करते हैं।

फ़ारसी शायरी की तीन परम्पराएँ हैं—(१) ख़ुरासानी फ़िरदौसी, हाफ़िज़, ख़ैयाम इसी परम्परा के हैं। आज भी यही परम्परा केन्द्रीय और स्तरीय मानी जाती है। सीधी भाषा और स्वाभाविक भावस्थितियों की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। (२) इराक़ी या आज़रबाइजानी। इस परम्परा के बड़े कवि ख़ाक़ानी और निज़ामी हैं। यहाँ दुरूह और क्लिष्ट शैली के दर्शन होते हैं। (३ हिन्दुस्तानी या 'सब्के-फ़ारसी';। आरम्भ विशेषतया अकबर के युग से होता है। ईरानियों के कथनानुसार यह शैली स्टैण्डर्ड नहीं: सीधी स्वाभाविक भाषा का अभाव है, भाव पेचीदा हैं, कल्पना की बहुलता है, और दार्शनिकता का प्रदर्शन। भारतीय विद्वानों के अनुसार यह दृष्टिकोण ईरानियों के राष्ट्रीय दम्भ और दृष्टिसंकोच का परिचायक है। वस्तुतः वे अभी हिन्दुस्तानी फ़ारसी शायरी का सही मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ रहे हैं। मगर ईरानी आलोचकों की दुनिया में यह स्थिति अब बदलने लगी है।

ज़-मा गर्मस्त ईं हंगामा बिन्गर शोरे-हस्ती रा
क़यामत मी-दमद अज़ पर्दए-ख़ाके कि इन्साँ शुद

संसार की सारी धमाधमी हमारे दम से है। मनुष्य केवल एक मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला, मगर देखो कैसी क़यामत जगा रहा है।

आराइशे-ज़माना ज़े-बेदाद कर्दा-अंद
हर ख़ूं कि रेख़्त ग़ाज़ा-ए-रूए-ज़मीं शिनास

ऐसा लगता है कि अत्याचार से ही दुनिया की शोभा बढ़ी है। जब किसी का रक्त बहता है तो भूमि के गालों को उबटन की तरह निखार देता है।

बया दरीद गर् ईं जा बुवद ज़बाँदाने,
ग़रीबे-शहर् सख़ुनहा-ए-गुफ़्तनी दारद।

लोगो! मैं तुम्हारे नगर में अजनबी हूँ और कुछ बातें कहना चाहता हूँ। यदि कोई मेरी भाषा समझ सके तो उसे लाओ और मेरी दुःख की कहानी सुनो।

ता बादा तल्ख़तर शवद् ओ सीना रेशतर
बिगुदाज़म आबगीना ओ दर-साग़र अफ़गनम्!

मैं आबगीना (शराब का गिलास) पिघलाकर जाम में उँडेल लेता हूँ ताकि उससे शराब की तलख़ी और बढ़ जाये और छाती भी और ज़्यादा छलनी हो जाए।

बादा बवाम ख़ुर्दा-ओ ज़र ब-क़िमार बाख़्ता,
देह् कि ज़े-हर्चे नासज़ास्त हम ब-सज़ा न कर्दाएम्!

अफ़सोस! हमने दुनिया के बुरे काम भी सलीके से नहीं किये। शराब उधार लेकर पी और पैसे जुए में हार गए।

दीगर अज़-ख़ेशम् ख़बर न बुवद्, तकल्लुफ़ बरतरफ़;
ईं-क़दर दानम् कि 'ग़ालिब' नाम यारे दाश्तम्!

सच तो यह है कि अब मुझे अपनी भी ख़बर नहीं। हाँ! इतना याद है कि ग़ालिब नाम का एक मित्र था। अर्थात् मेरा अस्तित्व स्वयं मेरे लिए भूतपूर्व की याद हो गया है।

ता चे-संजम दोज़ख़् ओ कौसर, कि मन् नीज़ ईं चुनीं
आतशे दर-सीना ओ आबे ब-साग़र दाश्तम!

मुझे नरक का भय या कौसर की इच्छा नहीं है, क्योंकि मेरी छाती की अग्नि नरक से कहीं तीव्र है और मेरे प्यारे प्याले की शराब कौसर से अधिक स्वादिष्ट है।

दोश बर-मन अर्ज़ कर्दन्द् इंचे दर-कोनैन बूद
लाँ हमा कालाए-रंगारंग दिल बरदाश्तम्!

कल मेरे सामने सारे संसार का धन रखा गया। मैंने उसमें से केवल एक रंग-बिरंगी चीज़ चुन ली। वह मेरा मन था। मानो यही सारे संसार की सबसे मूल वस्तु है।

परतवे-मह्र सियाहे ज़े-गलीमम् नबरद
साया अम् साया शब् ओ रोज़ बराबर दारम्!

सूर्य का प्रकाश सारी दुनिया को जगमगा देता है अपितु भाग्य की कालिख शेष रहती है। ग़ालिब कहते हैं कि मेरी काली कमली की स्याही सूर्य की किरणों से दूर नहीं होगी। मैं छाया की तरह का अँधेरा हूँ। मेरे लिए रात और दिन बराबर हैं।

आग़श्ताएम् हर सरे-ख़ारे ब-ख़ूने-दिल:
क़ानूने-बाग़बानिए-सहरा नवश्ताएम्!

हमने रेतीले मैदानों की बागबानी का एक नया दस्तूर निकाला है और वह यह है कि हर काँटे की नोक को हृदय के रक्त से सींचा है।

दीदेम कि मय् मस्तिए-असरार न दारद
रफ़्तेम् ओ ब-पैमाना फ़िशर्देम जिगर हम!

जब हमने यह देखा कि शराब से इल्मे असरार (भेदों को खोलने वाला ज्ञान) की-सी मस्ती पैदा नहीं हुई तो हमने उसमें अपने जिगर का रक्त भी निचोड़ दिया।

अगर कलीम शवद हमजबाँ सखुन न कुनेम ब-गर खलील शवद मेहमाँ बिगर्दानेम !	यदि आज मूसा भी बात करने के लिए आएँ तो बात न करें। आज यदि इब्राहीम भी अतिथि के रूप में आयें तो उन्हें लौटा दें। आओ फूल बरसायें और मार्ग में पानी के बजाय गुलाब का छिड़काव करें। मदिरा का प्रबन्ध करें और पैमाने गर्दिश में लायें।
नक़्दे-खिरदम्, सिक्कए-सुल्ताँ न परीरम्; जिन्से-हुनरम्, गर्मिए-बाजार न दानम !	मैं स्वयं बुद्धि का भंडार हूँ; मैं बादशाही सिक्का लेकर क्या करूँ? मैं कला का धन हूँ, मुझे बाज़ार के उतार-चढ़ाव से क्या वास्ता ?
खुश बुवद फ़ारिग़ ज़े-बन्दे-कुफ़्रो-ईमाँ ज़ीस्तन। हैफ़ काफ़िर मुर्दन् ओ आदख़ मुसल्माँ ज़ीस्तन !	जीवन का वास्तविक आनन्द धर्म तथा अधर्म के बन्धनों से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रतापूर्वक जीने में है। यदि कोई पाखण्डी बनकर मरा तो क्या हानि और धर्मात्मा बनकर जिया तो क्या लाभ !
कौकबम् रा दर-अदम औजे-क़ुबूले बूदा-अस्त; शोह्रते-शे'रम् ब-गेती बादे-मन् ख़ाहद-शुदन !	मेरे भाग्य का सितारा इस दुनिया के बजाय उस दुनिया में चमक रहा है। इसलिए जब मैं इस दुनिया से कूच करके उस दुनिया में पहुँच जाऊँगा तो मेरी कविता प्रसिद्ध होगी।
न कुश्तम कसे रा ब-अह्रीमनी। न बुर्दम ज़े-कस माया दर-रहज़नी ॥ मन् अन्दोहगीं ओ मय् अन्दुहरुबाय। चे मी-कर्दम् ए बन्दापर्वर ख़ुदाय !!	मैंने कभी किसी को क़त्ल नहीं किया, किसी के धन पर डाका नहीं डाला। ले-देकर मेरे जीवन में एक शराब है जिससे मुझमें थोड़ी-सी जान आ जाती है।
हिसाबे-मय-ओ-रामिश-ओ-रंग-ओ बूए। ज़े जमशेद् ओ बहराम् ओ परवेज़ जूए ॥ न अज़्-मन कि अज़-नाबे-मय् गाह-गाह। ब-दरयूज़ा रुख़ कर्दा बाशम सियाह ॥	जमशेद, बहराम और परवेज जैसे बड़े बादशाहों ने शराब पी और रंगरलियाँ मनाईं; यदि इसका हिसाब लेना है तो उनसे लें। हे भगवान् ! मुझसे क्या हिसाब माँगता है जिसने कभी-कभार एक घूंट उधार माँगकर अपना मुँह काला कर लिया।
चु बज़्मे-इश्रतियाँ ताज़ा-रू तवाँ जोशीद; चु शम्ए-ख़ल्वतियाँ जाँगुदाज़ बायद बूद।	मनुष्य को चाहिए कि उसके मुख पर सदैव वही ताज़गी बनी रहे जो ऐशो-इशरत की किसी महफ़िल में होती है, लेकिन अन्दर से उसकी आत्मा इस प्रकार घुलती रहे जैसे जलती हुई मोमबत्ती एकान्त में पिघलती रहती है।
'ग़ालिब', ज़े-अज़ीज़ाने-वतन बूदाऽम्, इम्मा— आवारगी अज़-फ़र्दे-हिसाबम् बदर आवुर्द !	ऐ ग़ालिब ! कभी मैं भी अपनी मातृ-भूमि के सम्बन्धियों के संग रहा करता था, किन्तु देश-विदेश इतना मारा-मारा फिरा कि अब वहाँ के सम्बन्धियों ने अपनी सूची से मेरा नाम निकाल दिया।

लिप्यंतर : **मुहम्मद याक़ूब**

ग़ालिब का व्यंग्य और हास्य

क़मर रईस

: १ :

हँसना-हँसाना मनुष्य का स्वभाव है। यों तो इसका प्रयोग हर इंसान अपनी हैसियत और हौसले, पात्रता और सुरुचि के अनुरूप करता आया है और करता है; लेकिन ऐसी विशिष्ट हस्तियाँ कभी-कभार ही पैदा होती हैं जो सचेत रूप से और सीधे-सीधे अपना हक़ जताती, और मानो अनजाने, बड़े ही सहज भाव से, इसका प्रयोग इस तरह करती हैं जैसे यह उनके निकट एक मानवीय और पुनीत दायित्व है। हास्य, व्यंग्य या विनोद जब ऐसे किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का करिश्मा होता है तो वह एक सांस्कृतिक मूल्य बन जाता है। ग़ालिब का हास्य-विनोद इसी शालीन और स्वस्थ सुरुचि को आईने की तरह झलकता है।

ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का अधिकार ग़ालिब को यों ही नहीं मिला। उनका जीवन इस बात का साक्षी है कि इसको प्राप्त करने में उन्हें बड़ी आज़माइशों के बीच से निकलना पड़ा है। इस कमाल के विनोदी संस्कार और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए जिस सुरुचि, बुद्धिमत्ता और सजगता की ज़रूरत होती है, वह, इसमें शक नहीं, कुछ तो उनकी प्रकृति का ही हिस्सा थी; लेकिन उसका बड़ा अंश, यक़ीनन, उनके माहौल, उनकी अपनी उपलब्धियों और नित्य-नये अनुभवों की देन था। उच्च स्तर का हास-परिहास—उसकी अभिव्यक्ति चाहे जिस शैली में हो—सौन्दर्य के सच्चे पारखी और यथार्थ का तात्त्विक दर्शन करने वाले के ही यहाँ मिलेगा। लेकिन सौन्दर्य और यथार्थ का तत्त्वदर्शी तो वही होगा जो परिस्थितियों के चक्कर और जीवन की सीमाओं और कमज़ोरियों पर नज़र रखता हो, और जिसकी पैनी दृष्टि भले और बुरे के नाज़ुक-से-नाज़ुक अन्तर को परख लेती हो। बुरे और भद्दे के इसी अन्तर की समझ और सौन्दर्य और यथार्थ के तात्त्विक ज्ञान ने ही ग़ालिब को हँसने का हक़ और हौसला दिया था। सुसंस्कृत आचरण, बौद्धिक जागरूकता और रूढ़ियों से विरक्ति—इन्हीं से मिलकर उनका व्यक्तित्व बना था। उनकी दूरगामी दृष्टि घटनाओं, व्यक्तियों और चीज़ों की तह तक पहुँच जाती थी। उनके चिन्तन और विश्लेषण का ढंग आम लोगों से अलग था। वह पहले हर बात के सच्चे, लाभकर पक्ष का पूरी तरह अन्दाज़ा करते थे; बाद में उसके अच्छे या बुरे होने का फ़ैसला करते। इसी जीवन्त चेतना ने उनके हास्य को सरस-सजीव, सुसंस्कृत और समोज्ज्वल (ताबनाक) बनाया।

यों तो मिर्ज़ा का खुला स्वभाव, उनकी शोख़ी और विनोदप्रियता उनकी उर्दू और फ़ारसी शायरी में भी एक छिपी हुई चंचल मौज-सी अन्दर-ही-अन्दर उभरती और अठखेलियाँ करती रहती है; लेकिन उनके व्यक्तित्व का यह जौहर उनके पत्रों में कहीं अधिक खुलकर सादगी और सहजता के साथ उभरा है। बक़ौल मौलाना हाली वह चीज़, जिसने उनके पत्रों को उपन्यास और नाटक की तरह आकर्षक बना दिया। 'शोख़िए-तहरीर' है।

हाली ने ग़ालिब के व्यक्तित्व की इस विशेषता को एक लतीफ़ और सटीक उपमा द्वारा व्यक्त किया है। लिखते हैं:

> "मिर्ज़ा की तबीअत में शोख़ी ऐसी भरी हुई थी जैसे सितार के तार में सुर भरे होते हैं। और कल्पना-शक्ति, जो काव्य और हास्य की सर्जक है, उसका मिर्ज़ा के दिमाग़ के साथ वैसा ही सम्बन्ध था जैसा उड़ान भरने की शक्ति का पक्षी के साथ।"

यहाँ हाली ने ग़ालिब के स्वभाव की शोख़ी और कल्पना-शक्ति पर समान रूप से ज़ोर दिया है। निस्सन्देह ये विशेष गुण ग़ालिब के व्यक्तित्व, सृजनात्मक क्षमता और हास्य-विनोद की जान हैं। लेकिन इनका मूल स्रोत जीवन से गहरी दिलचस्पी, अनुभवों का वैविध्य और अनुवीक्षण का विस्तृत

परिवेश है। ग़ालिब के हास्य में अक्सर व्यंग्य का पहलू भी होता है जो उनके हास्य को अर्थपूर्ण और उसके प्रभाव को स्थायी बनाता है। लेकिन उनके व्यंग्य में तीखापन या विषाक्तता लेशमात्र नहीं होती। उनकी रचनाओं में निन्दा, दोषारोपण, तानेबाज़ी, मसख़रापन और ठिठोल जैसे शब्दों का सन्दर्भ ढूंढ़ना व्यर्थ प्रयास होगा। ताहम, ऐसा नहीं कि उनके उपहास या व्यंग्य का कोई लक्ष्य न हो। स्वयं आप चारों ओर की परिस्थितियाँ, अन्य व्यक्ति और संस्थाएँ, आचार-व्यवहार के नियम, संस्कृति, क़यामत और जन्नत—तात्पर्य यह कि जीवन की रूढ़ियों और प्रत्यक्ष लक्षणों में शायद ही कुछ बचा हो जिसके क्रूर व्यंग्य या वैचित्र्य या असामान्यता पर उनकी दृष्टि न गयी हो। लेकिन यह उनके अन्तर की स्वच्छन्दता और गहरा मानव-प्रेम था जिसने उनकी अभिव्यक्ति में झुंझलाहट, कटुता और तिरस्कार का अन्दाज़ पैदा होने न दिया।

कहा जाता है कि उच्चकोटि के हास्य-रस का सृजन वही कर सकता है जो स्वयं अपने-आप पर, अपनी विशेषताओं पर हँसने का हौसला और सलीक़ा रखता हो। ग़ालिब ने स्वयं अपनी ही उक्ति के अनुसार अपने-आपको तमाशाई की नज़र से देखा है, और अपने रंग-ढंग, वेष-भूषा आदि पर भी जी खोलकर हंसे हैं। यहाँ तक कि अपने जिस्म के रिसते हुए फोड़ों के बयान में भी अपनी स्वभावगत शोखी को हाथ से न जाने दिया, और फोड़ों के बढ़ने के कारण उन्हें अपना जिस्म 'सर्वे-चरागाँ' (दीपमालिका वृक्ष-सा) दिखायी देने लगा। एक पत्र में मुंशी नबी बख़्श 'हक़ीर' को लिखते हैं :

"अटल हक़ीक़त यह है कि मेरा और आपका लहू मिलता है। जब वहाँ एहतिराक़ (जलन, दाह) की शिद्दतें हैं तो यहाँ उसका ज़हूर क्योंकर न हो (अर्थात् वह कैसे प्रकट न हो!) छोटे दानों ने गोल-गोल उभरकर तलवे को चारों तरफ़ से घेर लिया था। एकाएक जैसे एक क़ौम में एक शख़्स अमीर हो जाय, एक दाना उन दोनों में से बढ़ गया और फोड़ा हो गया। ईद के दिन बादशाह के साथ ईदगाह न जा सका⋯वह फोड़ा पका और फूटा⋯दो अंगुल ज़ख़्म पड़ गया।"

अपने ज़ख़्मों और तकलीफ़ों पर इस तरह मुस्कराना और दूसरों को हँसाना बड़े ही आला हौसले की बात है। ग़ालिब का सारा जीवन परिस्थितियों का अत्याचार और ज़माने की हृदयहीनता और विरोध ही सहते बीता। उनके जीवन की त्रासदी एक युग और एक व्यवस्था की त्रासदी है। इस घोर विवशता की अभिव्यक्ति ग़ालिब ने एक पत्र में जिस लतीफ़ पैराये में की है वह उनके विनोदी स्वभाव का एक अछूता नमूना है। लिखते हैं :

"सुनो! आलम (लोक) दो हैं। एक आलमे-अरवाह (आत्माओं का लोक) और एक इस धरती का आलम।⋯माना कि आम क़ायदा यही है कि धरती के मुजरिम (अभियुक्त) आलमे-अरवाह में सज़ा पाते हैं। लेकिन इसी तरह आलमे-अरवाह के गुनाहगार को दुनिया में भेजकर सज़ा देते हैं। चुनाचे जब ८ रजब सन् १२१२ हिजरी को मुझको रोबकारी (पेशी) के वास्ते यहाँ भेजा, १३ बरस हवालात में रहा। १७ रजब सन् १२३५ हिजरी को मेरे वास्ते जन्मक़ैद का हुक्म सादिर हुआ, और एक बेड़ी मेरे पाँव में डाल दी (विवाह), और दिल्ली शहर को ज़िन्दाँ (बन्दीगृह) मुक़र्रर किया और मुझे इस ज़िन्दाँ में डाल दिया। नज़्म-ओ-नस्र (पद्य और गद्य) को मशक़्क़त (सपरिश्रम दंड) ठहराया। बरसों के बाद मैं जेलख़ाने में से भागा। तीन बरस पूरबी इलाक़े में फिरता रहा। आख़िरकार मुझे कलकत्ते से पकड़ लाये और फिर उसी जेल की कोठरी में बिठा दिया। जब देखा कि यह क़ैदी पाँव तुड़ाकर भागता है, दो हथकड़ियाँ और बढ़ा दीं। (संकेत है दो भानजों के पालन-पोषण के भार की ओर) पाँव से ज़ख़्मी, हाथ हथकड़ियों से ज़ख़्मदार⋯हुक्म रिहाई देखिये कब होता है।"

प्रतीकात्मक शैली में प्रत्यक्षतः अपने ही ऊपर व्यंग्य है। लेकिन समझने वाले जानते हैं कि यह वास्तविक स्थिति की पीड़ा, प्रतिकूल परिस्थितियों के चक्कर और युग की गुण-ग्राहकहीनता पर व्यंग्य है, और भरपूर।

सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु एक दारुण घटना होती है। एक दर्दमन्द दिल रखने वाले इन्सान के लिए इस चोट को सहार ले जाना कठिन होता है। ग़ालिब पर भी ऐसी विपताएँ पड़ीं। अपने प्रियजनों और मित्रों से बिछोह पर उनका हृदय भी अक्सर ख़ून के आँसू रोया; मगर दूसरों पर अपने व्यक्तिगत दुःख और नैराश्य को प्रकट करते हुए उन्होंने हमेशा ऐसा लतीफ़ पैराया अपनाया जो पढ़ने वाले के दिल में दुःखद

घटना की मार्मिक पीड़ा का नक़्श गहरा न होने दे। एक ख़त में अपनी फूफी की मृत्यु का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं :

"मैं भी तुम्हारा हमदर्द हो गया। मंगल के दिन··· शाम के वक़्त मेरी वह फूफी जिसको मैंने बचपन से आज तक माँ समझा था और वह भी मुझको बेटा समझती थी, मर गई। आपको मालूम है, परसों मेरे गोया नौ आदमी मरे। तीन फूफियाँ और तीन चचा, एक दादी और एक दादा। यानी इस मरहूमा (दिवंगता) के होने से मैं जानता था कि ये नौ आदमी ज़िन्दा हैं, और इनके न होने से मैंने जाना कि ये नौ आदमी आज एक बार मर गये!"

इसी तरह अपने मित्रों के सम्बन्धियों की मृत्यु पर गालिब ने जो संवेदना के वाक्य लिखे हैं, उनका अन्दाज़ भी अछूता और निराला है, उनमें सहानुभूति भी है और संवेदना भी; ढारस और नसीहत की बातें भी, और व्यंग्य-परिहास भी। और ये सारी विशेषताएँ बड़े सुन्दर ढंग से ऐसी स्वाभाविक सहजता के साथ शब्दों में ढल गई हैं कि इसे शुद्ध कलाकृति ही कहा जा सकता है।

एक प्रिय मित्र को उसकी प्रेयसी के निधन पर लिखते हैं :

"सुनो साहब, शायरों में फ़िरदौसी और (सन्त) फ़क़ीरों में बसरी और आशिक़ों में मजनूँ—ये तीन आदमी तीन फ़न में सरे-दफ़्तर (अग्रोल्लेख्य) और पेशवा हैं। शायर का कमाल यह है कि फिरदौसी हो जाय। फ़क़ीर की इन्तहा (पराकाष्ठा) यह है कि हसन बसरी से टक्कर खाये। आशिक़ की नुमूद (वैशिष्ट्य) यह है कि मजनूँ की हमतरही (वैसा होना) नसीब हो। लैला उसके सामने मरी। बल्कि तुम उससे बढ़कर हुए कि लैला अपने घर में मरी और तुम्हारी महबूबा तुम्हारे घर में।"

एक दूसरे पत्र में उसी मित्र को लिखते हैं :

"···किसी के मरने का वह ग़म करे जो आप न मरे। कैसी अश्क़अफ़शानी (आँसू ढालना), कहाँ की मर्सियाख़्वानी (सियापे सुनाना)! आज़ादी का शुक्र बजा लाओ। ग़म न खाओ।···मैं जब बहिश्त का तसौवर (कल्पना) करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़रत हो गई (पाप क्षमा हो गये) और क़स्न (महल) मिला, एक हूर मिली : अक़ामत जाविदानी है (वहाँ रहना अनन्त तक है), और उसी एक नेकबख़्त के साथ ज़िन्दगानी है! —इस तसौवर से जी घबराता है और कलेजा मुँह को आता है! है है! वही हूर अजीरन हो जाएगी। वही ज़मुर्दीं काख (रत्नजटित भवन) और वही तूबा ('कल्पतरु') की एक शाख़! चश्मे-बद दूर—वही एक हूर!! भाई होश में आओ! कहीं और दिल लगाओ!"

यह उद्धरण सिर्फ़ चुटकियाँ लेने की शैली का नहीं। इसकी तह में कुछ ठोस बातें भी हैं। मनुष्य स्वभाव से ही नित-नये का प्रेमी है। आत्मिक सन्तोष और बुद्धि के सम्यक् विकास के लिए वह जीवन और प्रकृति के सौन्दर्यमूलक क्रिया-कलापों को हर रूप और रंग में देखना और उनसे आनन्द की उपलब्धि करना चाहता है। लेकिन रूढ़ आचार-विचार और कृत्रिम शिष्टाचारों के बन्धन इस उपलब्धि में बाधक होते हैं। यहीं से ग़ालिब का ध्यान धर्म, पापमोक्ष, स्वर्ग आदि की उन प्रचलित धारणाओं की ओर मुड़ जाता है जो आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता, लोभ, तृष्णा, लोलुपता, वासना आदि कुप्रवृत्तियों को उकसाने और उन्हें फैलाने का माध्यम रही हैं। व्यंग्य और परिहास का यह मार्मिक अन्दाज़ सिर्फ़ ग़ालिब का हिस्सा था। लेकिन इससे लुत्फ़ उठाने का हौसला वही पाठक कर सकते हैं जो मार्मिक सुरुचि रखते होंगे और जिनकी दृष्टि संकुचित न होगी।

ग़ालिब का जीवन मानव-प्रेम, दर्दमन्दी, साहसिकता और निर्भीकता की एक ऐसी कथा का पृष्ठ सामने रखता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। झूठा दिखावा और चाटुकारिता इनकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप थी। उन्हें रुसवाई, अपमान और आत्मपीड़न स्वीकार्य था, लेकिन यह सह्य न था कि अपने व्यक्तित्व को दुनिया के सामने इस रूप में पेश करें जो वह वस्तुतः नहीं है और न हो सकता है। इसलिए अपनी कोताहियों और कमज़ोरियों को स्वीकार भी उन्होंने खुलकर और पूरी आश्वस्तता के साथ किया है। यही आश्वस्तता और सज्ञानता उनकी अछूती कल्पना और मोहक शैली के साथ मिलकर उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

रमज़ान के महीने में एक ख़त में लिखते हैं :

"धूप बहुत तेज़ है। रोज़ा रखता हूँ मगर रोज़ा

बहलाता रहता हूँ। कभी पानी पी लिया, कभी हुक्का पी लिया। यहां के लोग अजीब फ़हम (समझ) रखते हैं। मैं तो रोजा बहलाता हूँ और ये साहब फ़रमाते हैं कि तू रोज़ा नहीं रखता। यह नहीं समझते कि रोज़ा रखना और चीज है और रोज़ा बहलाना और बात है।"

पेंशन बन्द हो जाने पर लम्बे अर्से तक ग़ालिब को बड़ी दिक्कतों और मुसीबतों का सामना रहा। गुज़र-बसर मुश्किल से होती थी। इस दौरान में मित्र लोग अक्सर पूछते रहते थे। मीर महदी के ऐसे ही किसी सवाल के जवाब में लिखते हैं :

"मियाँ बे-रिज़्क़ (बे-रोज़ी) जीने का ढब मुझको आ गया है। इस तरफ़ से खातिर जमा रखना। रमज़ान का महीना रोज़े खा-खाकर काटा। आगे खुदा रज़्ज़ाक (दाता) है। कुछ और खाने को न मिला तो ग़म तो है।"

यहाँ उनकी तीव्र अनुभूति ने जिस लतीफ़ और तीखे व्यंग्य का रूप ले लिया है उसको स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८५७ की मार-काट और तबाही और बर्बादी ने ग़ालिब पर गहरा प्रभाव डाला था। बक़ौल ग़ुलाम रसूल 'मेहर'—"उनके उर्दू खतों के दामन का हर गोशा उन सख्तियों और यातनाओं पर आँसुओं से तर नज़र आता है जो अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर और बाग़ी हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों विशेष-कर उनकी मासूम औरतों और बच्चों पर ढा रखी थीं।" ग़ालिब के ये मातमपुर्सी वाले पत्र उनकी शान्ति की आकांक्षा और मानव-प्रेम का प्रत्यक्ष आईना हैं। उन्होंने दिल्ली में ख़ून की नद्दी पार की : लेकिन इस आलम में भी उनकी बुद्धि का पैनापन और चापल्य कतिपय व्यक्तियों और घटनाओं का मज़ाक उड़ाने से बाज़ न आया। मीर महदी 'मजरूह' की आँखें दुखने आयी हैं। उन्हें पत्र लिखते समय उसके 'असली' कारण की ओर इस प्रकार लक्ष्य करते हैं :

"चश्मे-बीमार ऐसी चीज़ है जिसकी कोई शिकायत करे ?…तुम्हारी आँखों के ग़ुबार की वजह यह है कि जो मकान दिल्ली में ढाए गए और जहाँ-जहाँ सड़कें निकलीं, जितनी गर्द उड़ी उसको आपने अज़-राहे-मोहब्बत अपनी आँखों में जगह दी।"

इस लतीफ़ 'टिप्पणी' से एक तरफ़ तो दिल्ली से ग़ालिब की मोहब्बत और उसकी तबाही पर उनके क्लेश और पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है, और दूसरी तरफ़ उसमें उन व्यक्तियों पर व्यंग्य का पहलू भी छिपा हुआ है जिन्होंने पुरानी देहली के मटियामेट होने के ग़म को ज़िन्दगी का रोग बना लिया था। ब्रिटिश सत्ता के अधीन निर्माण-कार्यों का एक नया सौंदर्य, और विकास और उन्नति की जो नई सम्भावनाएँ सामने आ रही थीं, वह खुले दिल से उनका स्वागत कर रहे थे। बेशक ग़ालिब ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अंग्रेज़ हाकिमों की प्रशस्ति में क़सीदे कहे, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें इन विदेशियों के शासनोन्माद और निरंकुश दमन-चक्र का एहसास नहीं था। उस व्यापक पकड़-धकड़ के ज़माने में, ज़ाहिर है, वह खुलकर इसको व्यक्त नहीं कर सकते थे। लेकिन व्यंग्य-उपहास के पर्दे में कहीं-कहीं उनका आन्तरिक भाव और दृष्टिकोण झलक उठा है। एक पत्र में मिर्ज़ा अलाउद्दीन अहमद ख़ाँ को लिखते हैं :

"सुनते हैं कि नवम्बर में महाराजा अलवर को अधिकार मिलेगा। मगर वह अधिकार ऐसा होगा जैसा कि ख़ुदा ने ख़ल्क़ (प्राणि-मात्र) को दिया है। सब-कुछ अपने कब्ज़ए-क़ुदरत में रक्खा—आदमी को बदनाम किया।"

सन् १८५७ का हंगामा दबने के बाद बेगुनाह हिन्दुस्तानियों पर जो ज़ुल्म ढाये गए, ग़ालिब ने कहीं उपमा के सहारे और इशारों में, और कहीं लतीफ़ चुटकुलों के रंग में उनकी ओर संकेत किया है। मसलन्, देहली में एक हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श थे, जो हाफ़िज़ मम्मू भी कहलाते थे। जेल से रिहाई पाने और बेगुनाह साबित होने के बाद उन्होंने अपनी जायदाद के वापस मिलने के लिए दरख़ास्त दी।

ग़ालिब लिखते हैं :

"हाकिम ने पूछा—'हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श कौन?' अर्ज़ किया—'मैं !' फिर पूछा कि—'हाफ़िज़ मम्मू कौन ?' अर्ज़ किया कि—'मैं ! असली नाम मेरा मोहम्मद बख्श है। मम्मू-मम्मू मशहूर हूँ।' फ़रमाया—'यह कुछ बात नहीं ! हाफ़िज़ मोहम्मद बख्श भी तुम और हाफ़िज़ मम्मू भी तुम ! सारा जहान भी तुम, जो दुनिया में है वह भी तुम ! हम मकान किसको दें !?' मिसल दाख़िल-दफ़्तर हुई। मियाँ मम्मू अपने घर चले आये।"

यह एक घटना का नाटकीय लेकिन सीधा-सादा वर्णन

है। लेकिन इसकी तासीर यह है कि इसको पढ़ने या सुनने वाला अन्दर-ही-अन्दर मुस्कराये बिना नहीं रहता। उसका दिल एक हलकेपन और प्रसन्न भाव से भर जाता है। लेकिन इस घटना के पर्दे के पीछे अंग्रेज़ हाक़िमों के 'न्याय' पर जो व्यंग्य है वह भी अपना काम करता रहता है और अवचेतन रूप से पाठक की भावना में मानों एक ऐतिहासिक सत्य की तहें खुलने लगती हैं।

ग़ालिब की हास्यप्रियता शब्दों की बाज़ीगरी या उनका अनोखा ताल-मेल नहीं, बल्कि जीवन का एक दर्शन है। उनका उद्देश्य हँसाना या प्रसन्न करना नहीं, बल्कि कुछ कहना, बताना और समझाना भी होता है। यह 'हास्य' उनकी शैली में नहीं, उनके सोचने और देखने के अन्दाज़ में होता है। वह इसलिये नहीं सोचते थे कि उन्हें कुछ कहना या लिखना था बल्कि इसलिए कहते और लिखते थे कि उन्होंने जो कुछ देखा, सोचा और समझाया वह इस योग्य था कि उसे दूसरों तक पहुँचाया जाए। वह जीवन की साधारण घटनाओं और सामान्य या छोटे इन्सानों की गतिविधि का अध्ययन बहुत डूबकर और दिलचस्पी से करते थे। व्यक्ति की सीमाओं से दिलचस्पी और उसके महत्त्व का एहसास जो उपन्यास-रचना का प्रेरक और आधार-वस्तु होता है उर्दू में सबसे पहले ग़ालिब की कृतियों में ही नज़र आता है। मसलन् एक पत्र में 'बी वफ़ादार' का ख़ाका इस तरह खींचते हैं :

"बी वफ़ादार बाहर निकलती हैं। सौदा तो क्या लाएँगी, मगर खलीक़ (मुरौवती) और मिलनसार हैं। रास्ते चलतों से बातें करती फिरती हैं। जब वह महल से निकलेंगी, मुमकिन नहीं कि नहर की तरफ़ की सैर न करें। मुमकिन नहीं कि दरवाज़े के सिपाहियों से बातें न करें। मुमकिन नहीं कि फूल न तोड़ें और बीबी को जाकर न दिखाएँ और न कहें कि यह फूल तुम्हारे चाचा के बेटे की 'काई' के हैं। यानी, तुम्हारे चाचा के बेटे की क्यारी के हैं।"

यह एक जीवन्त पात्र की गतिविधि का यथार्थवादी अध्ययन है। यहाँ न कल्पना का अनोखापन है और न उनकी चंचल, शोख़ शैली। लेकिन इसके बावजूद हर ख़ाके में ग़ालिब ने अपने अनुवीक्षण के अछूतेपन और नैरंगी से कुछ ऐसे रंग भर लिये हैं जो पाठक के दिल को एक कैफ़ और आनन्द से भर देते हैं।

: २ :

ग़ालिब की शायरी भी इस जौहर से खाली नहीं जिसकी मिसालें हम अब तक उनके गद्य से देते आये हैं। ऐसा मुमकिन ही नहीं हो सकता। दरअस्ल पत्रों में सामने आने वाले व्यंग्य-विनोद के तत्त्वों पर इसलिए ज़ोर दिया है, कि उर्दू गद्य के साहित्य में इसका पहला नमूना ग़ालिब के पत्रों में ही नज़र आता है; जब कि शायरी में उनसे पहले सौदा और इन्शा राह बना गये थे। अगर्चे इन दोनों के हास्य और व्यंग्य में परनिन्दा का अंश अधिक है : यानी, अक्सर उन्होंने अपने किसी समकालीन से रुष्ट और खिन्न होकर उसका मज़ाक़ उड़ाया है, इसलिए उनके यहाँ सामाजिक तत्त्व कम और व्यक्तिगत पक्ष अधिक है। दूसरे यह कि उनके व्यंग्य का स्तर और साहित्यिक पक्ष बहुत ऊँचा नहीं। वे अक्सर फक्कड़पन, गाली-गलौज और कड़वी झल्लाहट पर उतर आते हैं। ग़ालिब ने किसी की निन्दा में कभी कोई रचना नहीं की। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा नहीं था कि वह किसी से नाराज़ होकर उसका मज़ाक़ उड़ाते या उसकी मर्यादा को चोट पहुँचाकर उसे दुखी करते। हाँ, उन्होंने अपने चारों ओर फैली हुई सामाजिक बुराइयों, सड़ी-बुसी मृत आस्थाओं और परम्पराओं, और स्वयं अपने जीवन, अपने दुखों और अपने अभावों का मज़ाक उड़ाया है। लेकिन यह सब-कुछ ऐसे ऊँचे स्तर से, ऐसे लतीफ़ इशारों में और इतने अछूते अन्दाज़ से उनकी शायरी में मिलता है कि उसका पूरा आनन्द उठाने के लिए भी काफ़ी रची हुई कलात्मक सुरुचि की ज़रूरत है।

ग़ालिब ने अक्सर 'ज़ाहिद' (कर्मकाण्डी), 'वाइज़' (उपदेशक), 'शैख़' (धर्मगुरु) और 'मुहतसिब' (निषेध-अधिकारी) को अपने व्यंग्य-बाणों का निशाना बनाया है, जो जागीरदारी व्यवस्था में वस्तुतः सामाजिक अत्याचारों के समर्थक, प्रतीक स्वरूप बन गये थे; जो दूसरों को गुनाह करने से रोकते लेकिन ख़ुद छिपकर और जी भरकर गुनाह करते थे और बादशाहों और अमीरों के अच्छे-बुरे कार्य-साधन में सहायक होते थे। मसलन् यह शे'र देखिये—

कहाँ मयखाने का दरवाज़ा 'ग़ालिब' और कहाँ वाइज़!
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले!

× × ×

क्यों रद्दे-क़दह करे है, ज़ाहिद !
मय है य' : मगस् की क़ै नहीं है !

—ज़ाहिद शराब का प्याला पीने से रोकता है, तो ग़ालिब प्यार से समझाते हैं, कि : भाई, यह शराब है; मक्खी की क़ै, यानी शहद की तरह की कोई गन्दी चीज़, नहीं! (जबकि ज़ाहिद इसी उम्मीद पर जीता है कि उसे जन्नत में शराब के बजाय पीने के लिए शहद मिलेगा!) इस तरह के बहुत से बा-मज़ा और तीखे शे'र दीवाने-ग़ालिब में मिलते हैं।

यह बात ढकी-छिपी नहीं कि ग़ालिब रूढ़ि-मात्र और दिखावे के मज़हब से ऊब चुके थे। जीवन के बारे में उनका सामान्य रवैया और दृष्टिकोण बड़ी हद तक बौद्धिक और यथार्थवादी था। इस जीवन के बाद किसी दूसरे जीवन की कल्पना से उन्हें घिन आती थी। इसलिए उन्होंने इस सामान्य विश्वास का बार-बार और अच्छी तरह मज़ाक उड़ाया है कि आदमी मरने के बाद अपने कर्मों का हिसाब देगा, और तब उसे जन्नत या जहन्नुम (स्वर्ग या नरक) में भेजा जाएगा। यह शे'र देखिये—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त, लेकिन
दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब य ख़याल अच्छा है!

× ×

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों
ऐसी जन्नत को क्या करे कोई!

लेकिन इनसे ज़्यादा दिलचस्प और लतीफ़ शे'र वो हैं जिनमें मरने के बाद ख़ुदा से ग़ालिब का संवाद होता है, और जहाँ ग़ालिब ख़ुद अपने अभावों पर दर्द भरा व्यंग्य करते हैं।

पकड़े जाते है फ़रिश्तों के लिखे पर नाहक़!
आदमी कोई हमारा दमे-तहरीर[1] भी था?

× ×

नाकर्दा[2] गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद,
यारब! अगर इन कर्दा गुनाहों की सज़ा है!

× ×

आता है दाग़े-हसरते-दिल काशुमार[3] याद
मुझसे मेरे गुनह का हिसाब, ए ख़ुदा, न माँग!

आख़िरी शेर में ग़ालिब कैसे लतीफ़ अन्दाज़ में ख़ुदा से विनती करते हैं कि—ए ख़ुदा मुझसे मेरे गुनाहों का हिसाब न माँग! इसलिए कि मुझे अपनी वह हसरतें या वो 'गुनाह' याद आ जाते हैं जो दुनिया में मैं नहीं कर सका। अपनी दुख-भरी ज़िन्दगी, अपनी विपन्नता और अपनी लाचारी और अपनी मजबूरी का कैसा अथाह दर्द इस शे'र में छिपा हुआ है!

ग़ालिब जानते थे कि नमाज़-रोज़ा और 'ज़कात' (दान-पुन्न) एक मुसलमान के लिए परम आवश्यक और पवित्र कर्तव्यों में से है। लेकिन उन्हें एहसास था कि इन कर्तव्यों को पूरा करने के लिए पैसा चाहिये, साज़-सामान चाहिए। इसलिए ये पवित्र कर्तव्य सिर्फ़ धनी-मानी लोग ही पूरा करके ईश्वर के प्रिय पात्र हो सकते हैं। रोज़े के बारे में यह शे'र देखिये :—

जिस पास रोज़ा खोलने-खाने को कुछ न हो
रोज़ा अगर न खाय तो नाचार क्या करे!

× ×

सामाने-ख़ुरो-ख़्वाब[4] कहाँ से लाऊँ!
आराम के असबाब कहाँ से लाऊँ!
रोज़ा मेरा ईमान है, लेकिन 'ग़ालिब',
ख़सख़ाना-ओ-बर्फ़ाब[5] कहाँ से लाऊँ!

मैं ऊपर कह आया हूँ कि ग़ालिब को चिन्तन का यह अत्यन्त रोचक और साहसिक ढंग—मान्य विश्वासों, रीतियों-रूढ़ियों और स्वयं ज़िन्दगी के ऊँच-नीच पर हँसने का यह ढंग—उसी वक्त मिला जब उन्होंने ज़िन्दगी को आँखें खोलकर और उसमें घुल-मिलकर देखा, और फिर उससे अलग होकर, ऊपर उठकर उस पर ग़ौर किया; उसे एक तमाशा समझा। इसीसे उन्हें जीने का हौसला मिलता रहा। वर्ना इतने दुःख-दर्द उठाकर ग़ालिब जैसा भाव-प्रवण आदमी पागल हो जाता। अक्सर वह स्वयं अपना मज़ाक भी उड़ाता और अपना तमाशा भी देखता और मज़ा लेता है।

थी ख़बर गर्म कि ग़ालिब के उड़ेंगे पुर्ज़े;
देखने हम भी गये थे प तमाशा न हुआ।

× ×

चाहते हो ख़ूबरूयों[6] को 'असद'।
आपकी सूरत तो देखा चाहिये!

× ×

मैंने कहा कि—'बज़्मे-नाज़।[7] चाहिये ग़ैर से तही।'[8]
सुनके सितमज़रीफ़[9] ने मुझको उठा दिया, कि-यों!

× ×

तंगदस्ती[10] अगर न हो 'ग़ालिब'
तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत है!

इस तरह के अनगिनत शे'र ग़ालिब के दीवान में मिल जाएँगे, जिनमें उनकी रूह का दर्द उनके स्वभाव की ताज़गी

खुलेपन और ज़िन्दादिली में डूबकर उभरा और निखरा है।

सारांश यह है कि ग़ालिब के मिज़ाज की शोख़ी और हास्य वह नहीं जो वास्तविक और यथार्थ को नज़रअन्दाज़ करने या उसे बिगाड़कर पेश करने से पैदा होता है। यह हास्य उनका स्वभाव है और यह व्यंग्य उनके मौलिक दृष्टिकोण में है।

वह यथार्थ और वास्तविक की गहरी पकड़ से शोख़ी पैदा करते हैं। उनके होंठों पर वह मुस्कराहट है जिसे हम आँसुओं का इत्र कह सकते हैं और जो दुःख की पराकाष्ठा पर आ जाने से पैदा होती है। खुशी में हँसना और दुःख में रोना तो इन्सान के स्वभाव में ही है। यह कोई असामान्य बात नहीं। रोज़ देखने में आता है। लेकिन मुसीबत में मुस्कराना और क़ुल-क़ुल करते हुए ढलती शराब के पीछे रोने का स्वर पहचान लेना हर आदमी के बस की बात नहीं। यह बात ग़ालिब ही के हिस्से में आई है।

अनुवादक : **शमशेर बहादुर सिंह**

१. लेखनी चलते समय। अर्थात् जब हमारे कर्मों का लेखा दर्ज करते समय फ़रिश्तों की लेखनी चल रही थी।
२. जो नहीं किये गए। (कर्दा, जो किये गए।)
३. गिनती।
४. पीने-खाने और सोने का आरामदेह सामान।
५. ख़स की टट्टी से ठण्डा किया गया कमरा और बर्फ़ का पानी।
६. सुन्दर, आकर्षक व्यक्ति।
७. ए नाज़ के स्वयं में ही सौन्दर्य-सभा!
८. किनाराकशी। बचना।
९. वह जिसके सितम में भी व्यंग्य-परिहास का पुट है।
१०. विपन्नता।

ग़ालिब के गद्य के नये आयाम

क़ाज़ी अब्दुल सत्तार

ग़ालिब के रचनात्मक गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण उनके पत्र हैं। उर्दू कविता के प्रथम आलोचक और कवि ग़ालिब के पहले प्रशंसक 'हाली' ने अपनी पुस्तक के सैकड़ों पृष्ठों में से कुछ पृष्ठ ग़ालिब के उस गद्य-साहित्य को अर्पित किए जो उर्दू के आधुनिक रचनात्मक गद्य का प्रथम सुन्दर उदाहरण है। छोटे-छोटे वाक्यों के इन बीस पृष्ठों में भी गद्य के कथ्य और उसकी कला से अधिक पत्र-रचना की कला और उसके वर्ण्य विषय पर बहस की गई है। गद्य के वे अमर नमूने, जिन पर कोई भी गद्यकार ईर्ष्या कर सकता है, बहस में सम्मिलित तो हैं लेकिन इस तरह कि घरेलू सम्बन्धों और हास्य-व्यंग्य के भारी पर्दों में कुचलकर रह गए हैं।

ग़ालिब के गद्य को कोई बिजनौरी नहीं मिला जो उनकी कला की प्रशंसा करता। हमारा युग हकीमुद्दीन अहमद, विकार अज़ीम और असलम फ़र्रुख़ी की रचनाओं से गद्य की आलोचना से परिचित तो हुआ किन्तु ग़ालिब तक नहीं पहुँच पाया। हमारे रास्ते की सबसे बड़ी दीवार काल्पनिक है जिसे गद्य की कसौटी कहा गया है, अर्थात् सादगी—सादगी अपने में कोई मूल्य नहीं है, यह एक अतिरिक्त मूल्य है। मेरे लिए सादगी का अर्थ वह चातुर्य है, जिस तक आसानी से न पहुँचा जा सके, जिस पर सादगी का धोखा हो, देखने में तो ऐसा लगे कि सादा है लेकिन है सजी हुई।

कौन है जो ताज की सादगी को अस्वीकार करता है और कौन है जो ताज के चातुर्य की क़सम नहीं खाता। हाली ने जब सादगी को मूल्य के रूप में स्वीकार किया, उसको बढ़ावा दिया और उसकी व्याख्या की तो उनके सामने रज्जब अली बेग सुरूर और उनकी कला के शागिर्दों का गद्य था, जो बाह्य-प्रदर्शन और अतिशयोक्ति-वर्णन में इतना मग्न था कि तलवार के बजाय पैंतरे पर ही सन्तुष्ट हो गया था। दूसरी ओर मीर अम्मन और उनके सहयोगियों का गद्य था जिसे मुहावरे और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों ने अशक्त कर दिया था, न केवल यह बल्कि सर सैयद और उनके सहयोगियों के सामने रचनात्मक गद्य के जो नमूने थे उनका अनुकरण करते हुए जानवरों और उड़ते हुए कालीनों, भूत-प्रेतों और परियों, सौदागरों की बेटियों और शहज़ादियों के काल्पनिक जीवन की अविश्वसनीय कहानियाँ घेरे हुए थीं और कौम को रचनात्मक गद्य के स्थान पर लाभदायक गद्य की आवश्यकता थी जो पत्रकारिता की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता हो और सामाजिक समस्याओं के हल करने की क्षमता रखता हो। इस पृष्ठभूमि में 'सादगी' का नारा अज़ान के समान पवित्र था। सादगी के इस मूल्य को रोमेन्टिक आन्दोलन 'गुलाबी' उर्दू और गद्य में कविता करने की प्रवृत्तियों ने 'क्लासिकी' मूल्य में बदल दिया, अर्थात् उस गद्य से, जो सृजन के लिए उतारा गया था, आलोचना का कार्य लिया गया और जब इस काम में असफलता हुई तो कहा गया कि यह गद्य आलोचना के लिए उपयुक्त नहीं है। अवश्य ही यहाँ भी सादगी की दुहाई स्वागत के योग्य है और उपादेय है किन्तु धीरे-धीरे यही पवित्रता और उपादेयता जुल्म बनकर रह गई। हम रचनात्मक गद्य की वैयक्तिकता और आलोचनात्मक गद्य की उपादेयता में अन्तर न कर सके। हम भूल गए कि आलोचना में गद्य का पहला कर्तव्य विचार को समझाना, स्पष्ट करना और निष्पक्ष व्याख्या करना होता है। इस काम को पूरा करने में सादगी सहायक भी सिद्ध होती है लेकिन रचनात्मक गद्य में, गद्य का कार्य केवल यही नहीं है कि वह विचार को पाठक या श्रोता तक केवल पहुँचा दे, बल्कि गद्य का कर्तव्य है कि कलाकार के विचार को उसकी पूरी शक्ति, विस्तार, गहराई, प्रभाव एवं सौन्दर्य-सहित पाठक के हृदय में उतार दे अर्थात् आलोचनात्मक गद्य संदेशवाहक है और रचनात्मक गद्य ईशदूत होता है।

जब मैं ग़ालिब के पत्रों को आधुनिक गद्य का प्रथम सर्वोत्तम उदाहरण कहता हूँ तो आधुनिक शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयोग करता हूँ जिन अर्थों में 'हाली' और 'आज़ाद' आधुनिक कवि कहे जाते हैं। हाँ, रचनात्मक गद्य के प्रश्न पर कुछ विचार करना चाहता हूँ—उदाहरणार्थ—पत्थर एक ऐसा शब्द है जो हमारे कानों से टकराकर अर्थ के कितने रूपों को जन्म दे डालता है। पत्थर जो गेहूँ को पीसकर आटा बनाता है, पत्थर जो सभ्यता, कला को छिपाए हुए है, पत्थर जो फ़सलों को उजाड़ देता है। पत्थर जो पेट में उतरकर ज़िन्दगी को चाट लेता है, पत्थर जो छोटा होते हुए भी बाज़ार की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु होता है और यह सब होते हुए भी पत्थर होता है। ठीक इसी प्रकार गद्य के बहुत-से अर्थ हैं, विभिन्न श्रेणियाँ है, स्तर हैं, विविध विशेषताएँ हैं। गद्य वह भी है जो केवल माध्यम है, और गद्य वह भी है जो केवल मात्र माध्यम भी नहीं है, उदाहरणार्थ—जब बच्चा 'मम' कहता है तो हम उसे पानी पिला देते हैं, गद्य वह भी है जिसके द्वारा हम प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। गद्य वह भी है जिसे संवाददाता लिखकर और अख़बार में पढ़कर भुला देता है, क़ुरान की वे आयात भी गद्य के अंचल की कुछ बिजलियाँ हैं जिन्हें प्रार्थना करते समय हम अपने होंठों से उच्चारित करना आवश्यक समझते हैं। और गद्य वह भी है जो रहस्यात्मक, दार्शनिक, धार्मिक, आचार-व्यवहार-सम्बन्धी, राजनीतिक और सामाजिक, आलोचनात्मक एवं रचना की समस्याओं से बहस करता है, तथा जिसको पढ़कर हम आचार-व्यवहार की व्यवस्था का समर्थन या विरोध करते हैं।

अस्तु, गद्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले हमारा कर्त्तव्य है कि यह मालूम करें कि गद्य को किस उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। यदि गद्य से केवल माध्यम का कार्य लिया है तो उसकी एक श्रेणी है और यह 'प्रोज़मीडियम' है और यह वह गद्य है जो इस भूमंडल पर हर घड़ी करोड़ों ज़बानों से झरनों के समान फूटती रहती है। यदि गद्य से केवल सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करने का काम लिया गया है तो यह गद्य ज्ञानवर्धक, सूचनात्मक और उपादेय गद्य है जो इस रूप में टाइपराइटर का काम करता है और मानवजाति के लिए उसकी उपादेयता होना सर्वमान्य है, और गद्य की यह दूसरी श्रेणी है। यदि गद्य शास्त्रों की व्याख्या करता है, तो यह गद्य की तीसरी श्रेणी है और शास्त्रीय गद्य है और यदि गद्य सृजन का उत्तरदायित्व निभाता है तो यह गद्य की चौथी और अन्तिम श्रेणी है और रचनात्मक गद्य है। यही वह स्थल है जहाँ गद्य साहित्य की सीमा में आता है।

ग़ालिब के पत्र केवल मात्र पत्र नहीं हैं, ये पत्र एक ऐसे महान् कलाकार के हृदय और मस्तिष्क की दशाओं का गतिमान हैं, जिसके सीने में मुग़ल सभ्यता का सूर्य छिपा था और पत्र जो गद्य का रूप धारण किए है, वह ऐसा सुन्दर और जीवन्त है कि उसके सामने हमारे बड़े-बड़े कारनामों की आँख झपक जाती है।

ग़ालिब ने कला के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले के समान अपने समय की परम्परा के विरुद्ध अपनी कल्पना की उड़ान के द्वारा काव्य-विषयों का कैनवस विस्तृत किया। सामान्य प्रचलित शब्द-समूह को समृद्ध किया। मुहावरों के दिन-प्रतिदिन की भाषा के शब्दों के वस्त्र उतारकर फ़ारसी की भारी किन्तु विचारोत्तेजक तरक़ीबें गढ़ी हैं, नई उपमाएँ ढूँढ़ीं, नये रूपकों या पूर्वप्रयुक्त रूपकों के नवीन प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार अपने समय के गद्य में नवीन पद्धति शैली की नींव डाली। ग़ालिब के गद्य की जो परम्परा मिली वह वर्णन-शैली में सानुप्रासिकता, सजावट को महत्त्व देती थी। ठीक है, 'बाग़ोबहार' ने सरल गद्य को रचनात्मक पवित्रता दी थी। लेकिन इस गद्य पर मुहावरों की छाप और भाषा के प्रतिदिन के प्रयोगों की मुहर लगी हुई थी। पदावली, सानुप्रासिक न सही किन्तु बराबर के वाक्यों से बोझिल थी। किसी सीमा तक साधारण उपमाओं, रूपकों के भार से दबी हुई थी। सामूहिक रूप से यह गद्य श्रेष्ठ नहीं था और इसका कथ्य 'ग़ालिब' के अहंवाद को—जो उनके व्यक्तित्व का अंग था—आकर्षित न कर सकता था। मीर अम्मन के विपरीत रज्जब अली बेग सुरूर थे जो अनुप्रासात्मक, संस्कृत गद्य-शैली के अग्रदूत थे, जिनकी कला की प्रशंसा 'ग़ालिब' ने भी की थी। अनुमान है कि यदि सुरूर गद्य की इस शैली को उठा न चुके होते तो 'ग़ालिब' इस ओर आकर्षित होते। इनका इस ओर आकर्षित न होने का कारण सुरूर की बड़ाई में नहीं बल्कि 'ग़ालिब' के उस अहंवाद में अन्तर्निहित है जो किसी के पदचिह्नों पर चलने में अपना अपमान समझता है, जो महामारी में मरना भी अपना अपमान मानता है। केवल यही नहीं 'सुरूर' की शैली उपमा, रूपक, दृष्टान्त और प्रतीक के प्रयोग पर बल देती थी। सानुप्रासिकता-प्रदर्शन के

लिए गद्य लिखना और अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए लिखते चले जाना 'सुरूर' की आदत थी। 'सुरूर' यह तो जानते थे कि उनको क्या कहना है, लेकिन यह नहीं जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है और 'ग़ालिब' यह खूब जानते थे कि उनको क्या नहीं कहना है। इस ज्ञान एवं विस्तृत अध्ययन एवं अनुभव ने 'ग़ालिब' को गद्य की एक नई शैली प्रदान की जिसने एक ओर मीर अम्मन की सीधी-सादी गद्य-शैली और दूसरी ओर 'सुरूर' की कलात्मकता को स्वीकार किया। यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है अर्थात् सुरूर की कलात्मकता का संघटन यदि खोल दिया जाए तो प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से उपमा, रूपक और दृष्टान्तों पर दृष्टि स्थिर हो जाती है और प्रभाव के इस जादू का मंत्र उपमा की बजाय रूपक और किसी हद तक दृष्टान्तों में छिपा हुआ है। रूपक एवं दृष्टान्त केवल सुरूर ही की कला में दृढ़ स्थान पाए हुए नहीं हैं बल्कि उर्दू के रचनात्मक गद्य में आरम्भ से ही इनको स्थान मिला है। चाहे वे संस्कृत की सुन्दर कहानियाँ हों या सूफ़ी महात्माओं की पवित्रोक्तियाँ, 'सबरस' हो या 'तिलिस्म-ए-होशरुबा' हो, 'बाग़ोबहार' हो या 'फ़सानए अजायब'—हर कृति रूपकों एवं दृष्टान्तों से रंजित है।

'ग़ालिब' में जो महान् कलाकार छिपा हुआ था उसने उर्दू गद्य में प्रचलित रूपकों और दृष्टान्तों के अध्ययन से यह ज्ञात कर लिया था कि इनके रचयिता आकाश के तारे तोड़ लाते हैं, किन्तु उसका पहनना नहीं जानते अर्थात् उर्दू गद्य की यह कला उस निर्बल, कृश स्त्री के समान है जो मोटे-मोटे जड़ाऊ गहनों और भारी काम के वस्त्रों के बोझ से हाँप रही हो। इसलिए 'ग़ालिब' ने रूपक, दृष्टान्त का प्रयोग अपने समकालीन और अपने पूर्वजों की लीक से हटकर उस सूक्ष्म-विस्तार को छोड़ दिया जो रूपकों और दृष्टान्तों को पँवारने के बजाय उनकों सीमित, लज्जित और पंगु कर देता है।

'ग़ालिब' अपने आधुनिक रचनात्मक गद्य की कलात्मकता में इसलिए भी सफल हो सके हैं कि उन्होंने यह गद्य उस समय लिखा जब 'ग़ज़ल' की कला में, जो संकेतों की कला है, अपने बाल सफ़ेद कर चुके थे, बड़ी मंज़िलें तय कर चुके थे। वह प्रसिद्ध पत्र, जिससे 'हाली' ने 'ग़ालिब' के घरेलू सम्बन्धों को ज्ञात किया था और वास्तव में जिसमें ग़ालिब ने अपने जीवन का दुःख सजाया था, यदि वह पत्र प्रकट न होता तो उर्दू के सबसे महान् गद्यकार मुहम्मद हुसेन आज़ाद का प्रसिद्ध लेख 'शुहरत-ए-आम, बक़ाए-दोआम' न लिखा जाता या इस रूप में न लिखा जाता। इसी प्रकार आज के गद्य पर भी 'ग़ालिब' की कला की परछाइयाँ दिखलाई देती जाती हैं।

अनुवादक : **कैसर जहाँ सिद्दीक़ी**

ग़ालिब और सर सैयद

फ़र्रुख़ जलाली

ग़ालिब और सर सैयद ने नवीन विचारों की ज्योति जगाई है। उनके शेरों और विचारों से उर्दू साहित्य सम्मानित हुआ है। सर सैयद और ग़ालिब की कहानी बहुत दिलचस्प और लम्बी है। मैं इस समय केवल एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

ग़ालिब सर सैयद अहमद खाँ से बीस वर्ष बड़े थे। एक ही युग में होते हुए ग़ालिब और सर सैयद के सम्बन्ध में रख-रखाव का ढंग अन्तिम समय तक रहा। पहला लिखित सबूत जो हमको मिलता है, वह 'दीवाने-ग़ालिब' का प्रथम संस्करण है जो सन् १८४१ में प्रकाशित हुआ। यह सर सैयद के बड़े भाई सैयद मुहम्मद खाँ बहादुर (मृत्यु १८४६) के लेथोग्राफिक छापेख़ाने में छपा था। अब तक हमें यही मालूम हुआ है कि उस समय तक इस छापेख़ाने का नाम 'मतबा सैयद उल अख़बार' नहीं था। मैं इसके बारे में आज से दस वर्ष पहले 'आजकल' में एक लेख प्रकाशित कर चुका हूँ। सन् १८४७ में 'मतबा सैयद उल अख़बार' से जब सर सैयद ने 'आसारुस्सनादीद' (दिल्ली का इतिहास) छापी तो उसमें ग़ालिब के गद्य का बड़ा चयन प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने ग़ालिब की महानता और बड़ाई का उल्लेख किया और ऐसी बातें दूसरे कवियों के सम्बन्ध में नहीं लिखीं। उनकी इस बात का बहुत महत्त्व है।

सर सैयद उस समय तक आही और अहमद के नाम से फ़ारसी में शेर भी कहते थे। मगर इसकी ओर अधिक ध्यान न था। सर सैयद ने १८४७ में दिल्ली की जो कहानी 'आसारुस्सनादीद' के नाम से लिखी थी उसके चतुर्थ भाग की पृष्ठ संख्या १६८ पर ग़ालिब के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "राक़िम आसिम को जो ऐतक़ाद उनकी ख़िदमत में है उसका बयान न क़ुदरत तक़रीर में है और न आहतये तहरीर में आ सकता है।"

"हृदय से हृदय को राह होती है।"

उन हज़रत को भी शफ़क्कत है। राक़िम के हाल पर है शायद अपने बुज़ुर्गों की तरफ़ से कोई मरतबा, इसका मशाहिदा किया होगा। मैं अपने ऐतक़ाद में उनके एक हर्फ़ को वेहतर एक किताब से और उनके एक गुल को वेहतर एक गुलज़ार से जानता हूँ और अगर देखा जाए तो हक़ भी यही है ख़ुशाज़ हाल उन लोगों पर जो आपकी ख़िदमत व बरक़त से मुसतफ़ीद होते हैं और जवाहर गिरानुमा यह कि आपसे हासिल करते हैं। ग़ालिब ने 'आसारुस्सनादीद' पर एक छोटा-सा लेख भी लिखा है। ग़ालिब आँख बन्द करके पुराने कवियों की तरह बड़ाई का बयान नहीं करते थे। मगर इस लेख में ग़ालिब ने सर सैयद की बड़ी प्रशंसा की है।

लगभग एक वर्ष के पश्चात् सर सैयद ने एक पुस्तक "कौले मतीन दर अबताल हरकते ज़मीन" लिखी; और यह पुस्तक भी 'मतबा सैयद उल अख़बार' से १८४८ में छपी। इस पुस्तक में सर सैयद ने यह बताया है कि पृथ्वी रुकी हुई है घूमती नहीं है। बीस वर्ष बाद उनका यह विचार नहीं रहा था। उस समय उनकी किताब, जिसमें देहली का इतिहास और बड़े लोगों की जीवनियाँ थीं, बहुत प्रसिद्ध हुई। और ऐसा मालूम होता है कि इसके अंग्रेज़ी अनुवाद का प्रयत्न भी किया गया। इस किताब की बड़ी प्रशंसा और चर्चा हुई। इस किताब की भाषा कठिन थी। बीस वर्ष बाद का उनका गद्य बहुत सरल है। इस पुस्तक के लिखने की शैली और ढँग बड़ा सजीव था। इसकी ओर कुछ लोगों ने ध्यान आकर्षित किया और बताया कि इतिहास की पुस्तक में लिखने का यह ढँग अच्छा नहीं लगता है। कुछ लोगों का कथन है कि यह कठिन भाषा-शैली इमाम बख़्श सहबाई की देन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग़ालिब ने इस शैली को सराहा नहीं होगा। वह उस ज़माने के आसपास उर्दू में पत्र

लिखना आरम्भ कर चुके थे जिसके ढँग और अदा ने उनको अपने मित्रों की मंडली में प्रिय बना दिया था। १८५४ तक सर सैयद 'आसारुस्सनादीद' के प्रसिद्ध होने के कारण इसको दूसरी बार लिखने में लीन थे। अब १८५४-५५ में जब इसका नया संस्करण प्रकाशित हुआ तो दिल्ली वाला भाग इसमें शामिल नहीं था। बनवाली दास की राजवंशावली के ढंग पर १८५२ में उन्होंने एक पुस्तक 'सिलसिलतुलमुलूक' के नाम से छापी।

१८५७ से पूर्व अधिकारियों में भारत के इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ा शौक़ मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासकार ईलियट ने एक पत्र सर सैयद को उनकी किताब 'जामे जम' (१८४०) के प्रकाशित होने के बाद लिखा था। यह पत्र उनकी किसी पत्रावली में शामिल नहीं है।

अबुल फ़ज़ल की लिखी 'आईने-अकबरी' में हर बात और हर वस्तु के बारे में इतनी जानकारी दी गई थी जिसके कारण यह बहुत प्रसिद्ध हुई। सर सैयद ने समय की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए इसको बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् प्रकाशित किया। प्राचीन पुस्तकों को सम्पादित करने का जो अब ढंग आम है उस सिलसिले में सर सैयद ने जैसी खोज और महान् दृष्टि का प्रमाण दिया है उससे मालूम होता है कि उनको इतिहास और विद्या की महानता का कितना ज्ञान था। 'आईने-अकबरी' को ठीक-ठीक उचित रूप से प्रकाशित करने के बाद सर सैयद अहमद ने अपने पुराने मेल-जोल के अनुसार ग़ालिब से आलोचना करने को कहा। हम समझते हैं कि इन दस वर्षों में ग़ालिब से सर सैयद के सम्बन्ध बहुत बढ़ चुके होंगे। और उसमें कुछ बेतकल्लुफ़ी भी आ गई होगी। ग़ालिब ने भी उनका कहा पूरा किया। मगर सर सैयद ने जब उस आलोचना को देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

●

ग़ालिब को अपने एक मुकदमे के सिलसिले में कलकत्ते की यात्रा करनी पड़ी। ग़ालिब अपनी जवानी का जोश लेकर कलकत्ते गये। उन्नीसवीं शताब्दी का कलकत्ता हिन्दुस्तान की राजनैतिक और औद्योगिक राजधानी बन चुका था। ग़ालिब ने जब होश सँभाला, अपनी आर्थिक दशा का सम्बन्ध कम्पनी की हुकूमत से बँधा पाया। ग़ालिब के चचा मिर्ज़ा नसरुल्ला बेग ने १८०३ में लार्ड लेक का साथ दिया था। ग़ालिब बहुत छोटे थे जब उनके पिता मर गए थे। १८०३ के ढाई वर्ष के बाद ग़ालिब के चचा भी मर गए। ग़ालिब की देखभाल वही करते थे। उनके भतीजे होने की बिना पर ग़ालिब को भी कुल साढ़े सात सौ रुपये वार्षिक की पेन्शन उनके हिस्से में आई। ग़ालिब जब बड़े हुए तब उन्होंने अन्याय समझकर इस निर्णय के अनुरोध में अदालत का दरवाज़ा खटखटाया। ससुराल वालों से लड़े, कलकत्ता गये, मगर सिवाय ऋण बढ़ने के कुछ न मिला, जिसका गालिब के व्यक्तित्व और काव्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह कलकत्ता से तो निराश होकर लौटे, मगर कलकत्ता में फिरंगी सुन्दरता और अंग्रेज़ी राजनीति से प्रभावित हुए बिना न रह सके, इसकी कसक और आँच उनकी कविता में मिल जाती है। ग़ालिब देहली में रहे मगर ज़ौक़ के जीवन में राजकवि न हो सके। हाँ ज़ौक़ की मृत्यु के बाद उनको यह पद मिला। लेकिन यमुना में बहुत पानी बह चुका था। लाल किले में जिस भाषा और बोल-चाल के जिस ढंग की माँग थी उसे ग़ालिब ने दूर से सलाम किया। अपने मित्र हकीम अहसन उल्लाह खाँ की कोशिश से ग़ालिब १८५० में मुगलकालीन इतिहास लिखने पर नौकर हो गए।

ऐतिहासिक खोज का काम उन्होंने खुद नहीं किया मगर उनकी दृष्टि बड़ी थी। उन्हें इतिहास की रोशनी में इस सूरज के डूबने का ख़याल हो गया था। कई वर्ष बाद आदम से लेकर हुमायूँ बादशाह तक का इतिहास 'मेहरेनीमरोज़' के नाम से १८५४-५५ में छपा। सर सैयद इस समय 'आईने अकबरी' का काम आरम्भ कर चुके थे। डॉ० अशरफ़ के कथनानुसार ग़ालिब अब इतिहासकार के रूप में सामने आए। मुगल इतिहास का दूसरा भाग जो अकबर से बहादुरशाह तक के हालात पर होता वह अभी लिखा ही जा रहा था कि वह चौदहवीं का चाँद, १८५७ के बादलों में डूब गया।

लाल किले में भी कभी दरबार होते थे। उसके बारे में १८५४ में ग़ालिब का विचार यह था; काज़ी अब्दुल जमील जुनून बरेलवी को लिखते हैं :

"किले में शहज़ादगाने तैमूरिया जमा होकर कुछ गज़ल ख्वानी कर लेते हैं······यह सोहबत खुद चन्द रोज़ा इसको दवाम कहाँ क्या मालूम है अब के वर्ष में हो अब हो तो आयन्दा न हो।"

ग़ालिब के विचार ठीक थे। १८५७ में यह सभा उखड़

गई और उजड़ गई। अंग्रेज़ी राजनीति के बारे में उनके विचार उच्च तथा भावपूर्ण थे। वह अपने विद्वान और प्रिय मित्र नबी बख़्श हक़ीर को अक्तूबर १८५३ के एक पत्र में लिखते हैं :

"लैफ़्टीनेंट गवर्नर (थामसन) बरेली में मर गए। देखिए उनकी जगह पर कौन मुक़र्रर होता है। देखो इस क़ौम का क्या इन्तज़ाम है। हिन्दुस्तान का कोई इतना बड़ा अमीर मरा होता तब क्या इन्क़लाब हो जाता। यहाँ किसी के कान पर जूँ भी नहीं फिरती कि क्या हुआ और कौन मर गया।"

याद रहे कि ग़ालिब हक़ीर की सूझ-बूझ और ज्ञान को बहुत मानते थे।

●

सर सैयद ने जब 'आईने-अकबरी' प्रकाशित की तो हमें मालूम है कि ग़ालिब 'आईने-अकबरी' से परिचित थे। उसी समय एक पण्डितजी ज्वालानाथ अलीगढ़ का इतिहास लिख रहे थे। ग़ालिब उस समय मुग़ल इतिहास लिखने पर नौकर थे। उन्होंने ग़ालिब से पूछा तो ग़ालिब ने लिखा कि जो कुछ पण्डितजी ने 'आईने-अकबरी' देखकर लिखा है उससे कहीं अधिक हाथ नहीं आएगा। सर सैयद जब 'आईने-अकबरी' को प्रकाशित करने में संलग्न थे तो उनको आशा थी कि इस परिश्रम और जाँफ़िशानी की दाद लोग देंगे।

सर सैयद ने 'आईने-अकबरी' में वस्तुओं, इन्सानों, जानवरों, वृक्षों के चित्र बनवाने में जो खकेड़ उठाई थी वह शोध के इतिहास का बेमिसाल कारनामा है। उसमें उनके जीवन का एक हिस्सा लग गया था। 'आईने-अकबरी' बड़ी सुन्दर छपी। यह १८५६ में देहली से छपी और अब बहुत कम मिलती है। सर सैयद को आशा थी कि ग़ालिब इस काम को अच्छा ही बताएँगे, मगर ग़ालिब ने पीठ ठोकने के बजाय कविता के रूप में एक अनोखी आलोचना की। ग़ालिब ने कहा मुझे तुमसे दोस्ती है धोखा क्यों दूँ। ग़ालिब ने लिखा यह तुमने एक पुरानी किताब को ठीक छापने के लिए बेकार मेहनत की। देखो कलकत्ता और लन्दन की ओर दृष्टि उठाओ वहाँ इस नई क़ौम ने नये साहस और नये बल को खोज लिया है। जीवन के ढंग और ढब और डौल बदल रहे हैं। शब्दों की उड़ान कितनी तेज़ हो गई है। जल के बल पर जहाज़ चल रहे हैं। रातों को रौशन कर दिया है। नये विज्ञान मनुष्य ने पढ़ लिए हैं।

इस आलोचना में वैज्ञानिक सच्चाई अपनी उच्चता पर है। कविता का जादू छाया हुआ है। यह कविता फ़ारसी में है इसलिए मैं इसे छोड़ता हूँ। सर सैयद ने जब इस आलोचना को पढ़ा तो उन्हें अपने परिश्रम की इस दाद पर शिकायत हुई। और उन्होंने यह कविता अपनी किताब में शामिल नहीं की। वह ग़ालिब से रूठ गए। चन्द महीने बाद १८५७ के आन्दोलन ने ग़ालिब की बात को सच कर दिखाया। ११ मई को जब क्रान्ति-सेना देहली की ओर बढ़ी तब उनको यह मालूम नहीं था कि तार के द्वारा उनके आने का समाचार पंजाब पहुँच चुका था।

क्रान्ति का यह महान् आन्दोलन नाकाम हुआ। सर सैयद ने बड़े साहस से इसे बग़ावत कहा और इसके 'कारण' इसी समय लिखकर छापे। सर सैयद ग़ालिब की कलकत्ता यात्रा के ३५ वर्ष पश्चात् कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्होंने उस शक्ति को अपने आप देखा जिसकी ओर ग़ालिब ध्यान दिला चुके थे। सर सैयद वहाँ से लौटे तब १८६४ में ग़ाज़ीपुर आकर 'साइंटिफ़िक सोसायटी' बनाई; और ऐलान किया कि इस सभा का धर्म से कोई सम्बन्ध न होगा। उनका धर्म देश-सेवा था। अब उनके आन्दोलन परिवर्तन के विचारों से रौशन थे। १८७० में जब सर सैयद लन्दन से लौटकर आये तो वहाँ से तहज़ीब उल इख़्लाक़ को (उपहार) और कालिज का विचार साथ लाये। तहज़ीब उल इख़्लाक ऐसा रिसाला था जिसमें समाज-सुधार और वैज्ञानिक विचारों की चर्चा होती थी। वह सर सैयद, जो धरती के जमे हुए होने पर जमे थे, अब बदल चुके थे। मेरा विचार है कि ग़ालिब ने अपनी कविता में जो बड़े-बड़े प्रश्न उठाये हैं उनसे सर सैयद की मानसिक भावना अवश्य ही परेशान और रौशन हुई होगी। वैज्ञानिक और विद्वान जितना प्रश्न से पहचाना जा सकता है उतना उत्तर से अन्दाज़ा नहीं होता है। सर सैयद अपनी ज़हनी तबदीली के बारे में एक जगह लिखते हैं :

"बहुत लोग दुनिया के इन्क़लाबों को देखते हैं और कम हैं जो इस पर ग़ौर करते हैं। मगर बहुत कम हैं जो ख़ुद अपने ख़्यालात के इन्क़लाबों को देखें और इनके सबबों को समझें और सोचें। और अगर कोई शख़्स अपनी तमाम ज़िन्दगी की बातों को याद करे और समझे, तो जानेगा कि इसके ख़्यालात में ऐसे अजीब इन्क़लाब हुए हैं कि वैसे दुनिया की किसी और चीज़ में नहीं हुए। अगर पहला ख़याल बग़ैर सोचे-समझे

तकलीदो एतक़ादो तमददुनो मुआशरत की वजह से क़ायम हुआ था। फिर इसी तरह और इन ही असबाब से इसमें इन्क़लाब हुआ है तो ख़याल हो सकता है कि दोनों बेहूदा और अगर इन दोनों के लिए या दोनों में से एक के लिए कोई माक़ूल बिना थी तो इसके सबबों पर ग़ौर करना और इस बात को समझना कि पहले ख़यालात किस बात पर मबनी थे और हाल के ख्यालात किस बात पर मबनी है। और इन दोनों बिनाओं में से कौन-सी बिना ज़्यादातर सच और ज़्यादातर मुसतहकम है। इन्सान के लिए ज़्यादा मुफ़ीद है।

("तसानीफ़े अहमदिया, भाग पहला १८८३ अलीगढ़")

आज हम सर सैयद के क्रान्तिकारी इदारों और विद्यालयों को देख रहे हैं। उसके पीछे किसी गुरु के महान् विचारों का दिया तो नहीं जल रहा है।

न और
द है।
गढ़")
द्यालयों
ारों का

तुम्हें हम वली समझते

रियाज़ पंजाबी

ख्वाज़ा अलताफ़ हुसैन हाली उर्दू साहित्य के अच्छे जीवनी-लेखक माने जाते हैं, लेकिन जीवनी-लेखन के साथ उन्होंने पूरा-पूरा इंसाफ़ नहीं किया—जिस तरह कि उर्दू साहित्य के दूसरे जीवनी-लेखकों ने जीवनी-लेखन के साथ इंसाफ़ नहीं किया है। अबुल कलाम आज़ाद ने हाली के बारे में लिखा है कि हाली जीवनी-लेखन को नितान्त प्रशंसा करना समझते थे और वे पसन्द नहीं करते थे कि अशोभनीय घटनाओं का विवरण दिया जाए। हालांकि हाली की 'यादगारे ग़ालिब' मिर्ज़ा ग़ालिब पर प्रामाणिक और मानी हुई पुस्तक है लेकिन यह सच है कि 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय बहुत सारी घटनाओं और हालात को जाने-अनजाने में हाली ने छिपाया है। वैसे भी मिर्ज़ा ग़ालिब पर अधिकतर आलोचनाएँ प्रशंसात्मक ढंग से हुई हैं। चर्चा चाहे ग़ालिब के काव्य की हो या उनके व्यक्तित्व की, दोनों ओर से लक्ष्य यह है कि ग़ालिब की प्रशंसा की जाए। हालाँकि ग़ालिब के व्यक्तित्व पर लिखते समय यदि इनके जीवन की तमाम हालात और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाए (वे शोभनीय हों या अशोभनीय) तो उससे इनकी ख्याति में कमी नहीं आयेगी बल्कि इनके व्यक्तित्व को समझने में आसानी होगी।

ग़ालिब का व्यक्तित्व वैसे भी उनके पत्रों के आईने में साफ़ देखा जा सकता है। लेकिन हाली ने 'यादगारे ग़ालिब' लिखते समय इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि ग़ालिब को एक महान् कवि घोषित करने के साथ-साथ एक महान् व्यक्ति भी प्रमाणित किया जाय। हाली के अधिकतर प्रयत्न यही रहे हैं कि ग़ालिब को एक देवता समान, चरित्रवान, पवित्र और स्वाभिमानी व्यक्ति बनाकर पेश किया जाय (हालाँकि कमज़ोरियाँ, बुराइयाँ व्यक्ति में आवश्यक हैं) इस सिलसिले में यह बात दिलचस्पी से खाली न होगी कि हाली के वक्तव्य स्वयं कई जगह एक-दूसरे से टक्टर खाते हैं। उदाहरण के लिए हाली लिखते हैं, "बावजूद कि मिर्ज़ा की आमदनी और मक़दूर बहुत कम था मगर हिफ़्ज़वोवज़ा और ख़ुददारी को कभी हाथ से न जाने देते थे, शहर के उमराओ ओमाइद से बराबर की मुलाक़ात थी···अमायदे शहर में जो लोग इनके मकान पर नहीं आते थे वे भी कभी उनके मकान पर नहीं जाते थे" (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ६४)। और दूसरी जगह ख्वाजा हाली लिखते हैं···"मिर्ज़ा की सारी उम्र कसीदागोई और मदहासराई में गुज़री क्योंकि ज़रूरत इंसान से सब कुछ कराती है," (यादगारे ग़ालिब, पृष्ठ ७५)। इसका मतलब यह हुआ कि हाली एक तरफ़ ग़ालिब को प्रशंसक, गुणगायक और वजीफ़ाख्वार भी दिखाना चाहते हैं और दूसरी ओर अत्यंत स्वाभिमानी भी। यह एक आम मनोवैज्ञानिक बात है कि एक आदमी जो अपने स्वाभिमान, वज़ादारी को कायम रखना चाहता हो किसी दूसरे आदमी की अर्थहीन प्रशंसा और गुणगान नहीं करेगा चाहे वह हाकिमे-वक्त ही क्यों न हो। धनार्जन और वजीफ़ा पाने के लिए कसीदाख्वानी तो दूर की बात रही। यह बात तो ग़ालिब के बारे में साफ़ है कि उन्होंने अमीरों और बड़े लोगों को प्रसन्न करने के लिए गुणगान भी किया और पुरस्कार प्राप्त करने के लिए नवाबों, राजाओं, महाराजाओं और बादशाहों का गुणगान भी किया। मिर्ज़ा ग़ालिब स्वयं इस फ़िक्र में रहते थे कि कब और कहाँ किस धनवान के यहाँ दरबार हो रहा है या जश्न मनाया जा रहा है ताकि वे भी वहाँ उपस्थित रहें। और ख़ुशामदपसन्दों और चापलूसों में शामिल होकर कुछ धनार्जन करें या पुरस्कार पाएँ। यह बात ग़ालिब के कई पत्रों से बिल्कुल साफ हो जाती है कि अगर किसी जगह इनको न बुलाया जाता था तो वे खुद ही एक-आध क़सीदा रवाना कर देते थे।

ग़ालिब यदि केवल बहादुरशाह ज़फ़र की क़सीदाख्वानी

और गुणगान करते तो शायद इसे उनकी अक़ीदत दिली मोहब्बत और गम्भीरता कहा जाता, लेकिन दूसरे नवाबों-महाराजों और १८५७ के बाद अंग्रेज़ों के गुणगान और कसीदाख़्वानी से यह बात साबित हो जाती है कि ग़ालिब पेशेवर क़िस्म के प्रशस्तिगायक थे। मुख्यत: १८५७ के बाद अंग्रेज़ अफसरों और गवर्नरों के दरबारों में पहुँचने के लिए ग़ालिब के दौड़-धूप करने से यह बात और भी साफ हो जाती है। यह बात और भी आश्चर्यजनक और विचित्र है और खासतौर से ग़ालिब के व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकती है कि प्रारम्भ में ग़ालिब ने ग़दर की कत्ल-ओ-ग़ारत और ख़ूनी नज़ारों और अंग्रेज़ों के अकारण अत्याचार और जुल्म का ज़िक्र तो किया है लेकिन बाद में इन्हीं दरबारों तक पहुँचने के लिए दौड़-धूप की है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन अहमद खाँ अलाई के ख़त में अंग्रेज़ों के अत्याचार और क़त्ल-ओ-ग़ारत के अलावा वे एक क़ता भी लिखते हैं जिसका एक शेर यह है :

चौक जिसको कहे वो मक़तल है
घर बना है नमूना जिन्दा का

और यही ग़ालिब सर राबर्ट मिन्टगुमरी लेफ्टेनेंट गवर्नर पंजाब के दरबार में, जो ग़दर के बाद ३ मार्च १८६३ में दिल्ली में हुआ था, मौजूद थे। आप स्वयं लिखते हैं : "जनाब लेफ्टेनेंट गवर्नर बहादुर ने दरबार किया, मेरी ताज़ीम और मेरे हाल पर लुत्फ़-ओ-इनायत मेरी ख्वाहिश और तसव्वुर से ज़्यादा मफ़ज़ूल की।"

—ग़ालिब के पत्र

ग़ालिब अपने आक़ा और शहंशाह बहादुरशाह ज़फ़र, जिनकी तारीफ और गुणगान करते आपकी ज़बान नहीं थकती थी, का अंत अंग्रेजों के हाथों देख ही चुके थे। लेकिन उसके तुरन्त बाद आप अंग्रेज़ों के गुणगायक बन गये। ग़ालिब इस बात की फिक्र में रहते थे किसी अंग्रेज़ अफसर के यहाँ कब दरबार हो और ख़ुद ही हाज़िरी देने के लिए पहुँच जाया करते थे। अक्सर अपने दोस्तों से पत्रों में बराबर पूछा करते थे कि कब और कहाँ दरबार होगा ? कौन-कौन उपस्थित होगा··· "गवर्नर का हाल लिखो। कौन-कौन हाज़िर हुआ, किस-किसकी मुलाक़ात हुई ? फर्रुखसैर और दादा साहब आए या नहीं ? अगर आए तो रुदादे मुफ़स्सल लिखो।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ९३

ग़ालिब को कुछ लोगों ने १८५७ का वीर सेनानी भी साबित करने की पूरी कोशिश की है। कुछ लोगों ने इन्हें भी साम्राज्यवाद का दुश्मन और अंग्रेज़-विरोधी कहने की कोशिश की है। यहाँ तक कि इस समय भी जो ग़ालिब के बारे में नये-नये लेख या किताबें प्रकाशित हो रही हैं इनमें भी कई लोगों ने इस बात की चर्चा की है। हालाँकि सत्य है कि ग़ालिब का १८५७ के विद्रोह से कोई सम्बन्ध न था। ग़ालिब को किसी बात की चिन्ता न थी, अगर चिन्ता थी तो इस बात की कि वे बेगुनाह रहें और उन पर कोई आरोप न लगने पाये। इसमें कोई शंका नहीं कि ग़ालिब को इस बात का दुःख था कि बादशाह कैद कर लिये गए, शहज़ादे क़त्ल हो गये, बेगुनाहों को फाँसी पर लटकाया गया। लेकिन आचरण में उन्होंने किसी बात का सबूत नहीं दिया, बल्कि हम यह साफ-साफ कह सकते हैं कि ग़ालिब अपना दामन साफ बचा ले गये, वरना ग़ालिब बादशाह के अच्छे और गहरे दोस्तों में से होने के उपरान्त भी पूछगछ और किसी तरह के संकट से न बचे होते। बादशाह के गुणगायक और प्रशंसक होने के नाते उन्हें कुछ-न-कुछ ज़रूर भुगतना पड़ता। ग़ालिब ग़दर के सिलसिले में लिखते हैं : "मुफ़स्सिल हालात लिखते हुए डरता हूँ। मुलाज़माने किला पर शिद्दत है और बाज़पुर्स में मुबतिला हैं। मगर वह नौकर जो इस हंगामे में नौकर हुए हैं और हंगामे में शरीक रहे हैं। मैं गरीब शायर दस बरस से तारीख लिखने और शेर को इस्लाह देने से मुतालिक़ हुआ हूँ खाहि इसको नौकरी समझो खाहि मज़दूरी जानो। इस फ़ितनावर आशोब में मैंने दख़ल नहीं दिया है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३४

यहाँ यह बात और काबिले-ग़ौर है कि ग़ालिब ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह को 'हंगामा' कहा है, इसके अतिरिक्त एक और ख़त में लिखते हैं : "बहरहाल ख़ुदा का शुक्र है कि बादशाही दफ्तर में मेरा कुछ शुमूल फरमाते हैं।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १६८

दूसरे पत्र में लिखते हैं : "जनाब एडमिन्स्टन साहब बहादुर से सूरत आशना नहीं, कभी मैंने उनको देखा भी नहीं। ख़तों की मेरी-इनकी मुलाक़ात है। और नामोपयाम की यूँ बात है जब कोई नवाब गवर्नर जनरल बहादुर नये आते हैं तो मेरी तरफ से एक क़सीदा बतरीक़े नज़र जाता है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ ३३८

सबसे खेदजनक ग़ालिब का वह कसीदा है जो उन्होंने

महारानी विक्टोरिया की शान में लिखा है और जिसमें अंग्रेज़ों की औपनिवेशिकता पर बहुत उत्साह और बेहद प्रसन्नता का परिचय दिया है : "हाँ साहब एक बात और है, और वह महले ग़ौर है। मैंने हज़रत मलका मुअज़्ज़मा इंग्लिस्तान की मदह में एक कसीदा इन दिनों लिखा है, 'तहेनयत फ़तेह और अमलदारी शाही' साठ बैयत है।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ २२६

जुआ खेलने के सिलसिले में ग़ालिब की गिरफ्तारी को आधारहीन कहा गया है और कुछ लोगों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शहर के दारोग़ा ने केवल व्यक्तिगत शत्रुता के कारण ग़ालिब को गिरफ्तार कर लिया था और उन पर जुआ खेलने का झूठा मुकदमा चला दिया था। अबुल कलाम आज़ाद ने इन बातों की अवहेलना की है। इन्होंने साफ़-साफ़ लिख दिया है कि ग़ालिब ने अपने घर में जुआ खेलने का अड्डा स्थापित कर रखा था, जिसके आधार पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था और मुक़द्दमा चलाया गया था। स्वयं ग़ालिब के एक पत्र से प्रकट होता है : "बूढ़ा हो गया हूँ फ़साद में नहीं पाया गया। और मैं हुक्काम के नज़दीक यहाँ तक पाक हूँ कि पेंशन की कैफ़ियत तलब हुई है। और मेरी कैफ़ियत का ज़िक्र नहीं है। यानी सब जानते हैं कि इसमें लगाव (हंगामा करने वालों से) न था।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८-३६

ग़दर के बाद ग़ालिब ने अंग्रेज़ अफ़सरों और हाकिमों के सामने अपने-आपको बेगुनाह और दयनीय साबित करने की पूरी कोशिश की है। अपने लिए सिफारिशें कराईं। मुंशी हरगोपाल तुफ़्ता के नाम एक पत्र में लिखते हैं : "भाई मुंशी नबी बख़्श के नाम का ख़त पढ़कर उनको दे देना और इसका मज़मून मालूम कर लेना। जिस हाकिम को मैंने यह ख़त और रुक्का भेजा है इसके सररिश्तेदार कोई साहब हैं, मनफ़ूल इनका नाम है मुझसे अशनाए महज़ है। अगर ताअरुफ़ होता तो इस्तदुआ करता कि इस तहरीर को पेश कीजिए। काश तुमसे आशनाई होती तो तुम ही ऊपर-ऊपर एक लिखकर उनको भेज देते कि ग़ालिब एक फ़क़ीर, गोशानशीं और बेगुनाहे महज़ और वाजिबुर्रहम है इसके हुसूले मतालिब में सई से दरेग़ न करना।"

—ग़ालिब के पत्र, पृष्ठ १३८

ग़दर के बाद ग़ालिब ध्यानपूर्वक अंग्रेज़ों की ख़ुशामद में लग गये थे। और अंग्रेज़ों की शान में व्यावसायिक गुणगान और यशोगान शुरू कर दिया था। गवर्नरों और दूसरे उच्च अधिकारियों की शान में क़सीदे लिख-लिख कर उनको भेज दिया करते थे। "चीफ़ कमिश्नर पंजाब को यह किताब भेज चुका हूँ और नवाब गवर्नर की नज़र और सिकत्तरियों की नज़र ये पारसल आज रवाना हो जाएँगे। देखूँ चीफ़ कमिश्नर क्या लिखते हैं और गवर्नर क्या। सरकारे अंग्रेज़ी में बड़ा पाया रखता था। रईसज़ादों में गिना जाता था, पूरा ख़लद पाता था। अब बदनाम हो गया हूँ। एक बहुत बड़ा धब्बा लग गया है। किसी रियासत में दख़ल नहीं कर सकता, मगर उस्ताद या पीर या मद्दाह बनकर राहो-रस्म पैदा करूँ, कुछ फ़ायद उठाऊँ, कुछ अपने किसी अजीज़ को वहाँ दाखिल करदूँ। देखो क्या सूरत पैदा होती है।" —ग़ालिब के पत्र, पृ० ११३

गुलाम रसूल मेहर ने, जिसने ग़ालिब के पत्रों का सम्पादन किया है, 'बदनाम हो गया हूँ और धब्बा लग गया है' के बारे में लिखा है कि इशारा सम्भवतः ग़ालिब की गिरफ़्तारी की तरफ़ है जो जुआ खेलने के सन्दर्भ में हुई थी।

ग़ालिब के शराब पीने के बारे में कुछ कहना सारहीन है। परन्तु यहाँ पर भी हमारे बहुत-से आलोचकों और जीवन-लेखकों ने ग़ालिब का अकारण पक्ष लिया है। वे मानने के लिए तैयार तो हैं कि ग़ालिब पक्के शराबी थे, लेकिन उनके कथनानुसार ग़ालिब इसे बुरा भी समझते थे। हालाँकि यह बात बुद्धिगम्य नहीं है कि एक आदमी एक काम को बुरा भी समझे और करता भी रहे, अगर कोई खास मजबूरी न हो। हाली लिखते हैं कि ग़ालिब यद्यपि पक्के किस्म के शराबी थे मगर विश्वास में इसको बुरा समझते थे। हमारे विचार से यह हाली की व्यर्थ प्रशंसा और तारीफ़ है।

आज जबकि विश्वव्यापी स्तर पर ग़ालिब शताब्दी मनाई जा रही है, हमारा उद्देश्य ग़ालिब पर कीचड़ उछालना और सारहीन आलोचना करना नहीं है। बल्कि हमारा उद्देश्य उनके व्यक्तित्व के उन पक्षों का उद्घाटन करना है जिसको बहुत-से लोग पर्दे के पीछे छिपाकर रखना चाहते हैं। ग़ालिब की शायरी खुली वास्तविकता है जिसे कोई नकार नहीं सकता। एक कवि की हैसियत से इनका जो स्थान है उसे कोई कवि इनकार नहीं कर सकता। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ग़ालिब जितने महान् कवि हों उतने ही बड़े व्यक्ति भी हों।

अनु० : असग़र

ग़ालिब : हिन्दी में

राजेन्द्र शर्मा

दीवान-ए-ग़ालिब (दोनों लिपियों में)

सम्पादक : अली सरदार जाफ़री

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, ३-ए, नाज़ बिल्डिंग, बम्बई-४

प्रकाशन-तिथि : १९५८

पृष्ठ संख्या : ५२१। भूमिका ४५ पृष्ठ, दीवान ३८५ पृष्ठ, फुटकल ८३ पृष्ठ

उर्दू-हिन्दी शब्दकोश ८२ पृष्ठ (दूसरे खण्ड में)

विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक भूमिका। उर्दू अक्षरों को नागरी लिपि में लिखने की विशेष विधि का प्रयोग। मुद्रण कलापूर्ण। बहुमूल्य राज संस्करण।

ग़ालिब की कविता

लेखक : कृष्णदेव प्रसाद गौड़

प्रकाशक : प्रसाद परिषद्, वाराणसी

प्रकाशन तिथि : नवंबर १९५७

पृष्ठ संख्या : ५६७

विस्तृत भूमिका। ग़ालिब के मूल्यांकन में डा० बिजनौरी से मतभेद।

दीवान-ए-ग़ालिब की विद्वत्तापूर्ण टीका। पत्र-चयन।

'चिराग़े-दौर' से १५ शेर।

हिन्दी में ग़ालिब के उर्दू दीवान का सबसे प्रामाणिक और पूर्ण संस्करण।

ग़ालिब-उग्र

व्याख्याकार : पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

प्रकाशक : रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९६६

पृष्ठ संख्या : ६०६

सचित्र। टेल-पीसेज़। 'अंजन' शीर्षक भूमिका। लगभग प्रत्येक शेर का अर्थ, संदर्भ सहित। शब्दार्थ अलग से। टीकाएँ उग्रजी की अपनी शैली में—काव्यात्मक, सही, संक्षिप्त; विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में; व्याख्या शैली मज़ेदार। कहीं-कहीं तुलसीदास की समानान्तर पंक्तियाँ उद्धृत। बहुमूल्य राज संस्करण।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : ओंकार शरद तथा महमूद 'हुनर'

प्रकाशक : लहर प्रकाशन, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५४

दूसरा परिवर्धित संस्करण : १९५८

पृष्ठ संख्या : १२६

संक्षिप्त भूमिका। फ़ारसी-अरबी शब्दों के अर्थ। टिप्पणियाँ।

दीवाने ग़ालिब

सम्पादक : मुग़नी अहरोहवी व नूर नबी अब्बासी

प्रकाशक : नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९५७

पृष्ठ संख्या : १८९

संक्षिप्त जीवनी। कविता। शब्दार्थ। एक चित्र।

दीवान-ए-ग़ालिब

सम्पादक : चैनसुख 'बेताब'

प्रकाशक : देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली।

प्रथम संस्करण : १९५९

जीवन और कला ७ पृष्ठ। कलाम १०७ पृष्ठ। फारसी-अरबी शब्दों के अर्थ।

दीवान-ए-ग़ालिब

संपादक एवं व्याख्याता : बलजीत सिंह 'मतीर'

प्रकाशक : श्यामजी पब्लिकेशन्स, मथुरा रोड, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६४
पृष्ठ संख्या : २५५

ग़ालिब के पत्र : प्रथम भाग

लिप्यंतरकार तथा संपादक : श्रीराम शर्मा, रामनिवास शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : १९५८
पृष्ठ संख्या : ५७२
१७ व्यक्तियों के नाम पत्र। आरम्भ में भूमिका। अन्त में शब्दार्थ। व्याख्यात्मक पाद टिप्पणियाँ।

ग़ालिब के पत्र : दूसरा भाग

लिप्यंतरकार : डॉ० श्रीराम शर्मा
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
प्रथम संस्करण : १९६३
पृष्ठ संख्या : ५११
४८ व्यक्तियों के नाम पत्र। ३ पत्र अज्ञात व्यक्तियों के नाम। भूमिका। दो परिशिष्ट : ग़ालिब की संक्षिप्त जीवनी और पत्र प्राप्तकर्ताओं की जीवनी।

ग़ालिब : जीवनी तथा कविता

लेखक : दयाकृष्ण गंजूर
प्रकाशक : दयाकृष्ण गंजूर, ८, लाल बाग, लखनऊ
प्रकाशन तिथि नहीं दी गई है। अनुमानतः १९५२ के आस-पास।
भूमिका : श्री लाल बहादुर शास्त्री
जीवनी। लतीफ़े। पत्र। ग़ज़लें। किते। रुबाइयाँ। कसीदे। सेहरा।

महाकवि ग़ालिब की गज़लें

व्याख्याकार : रामानुज लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
'दीवान-ए-ग़ालिब' से चुने हुए लगभग दो-तिहाई शेर और उनकी व्यवच्छेदात्मक व्याख्या। चयन और व्याख्या में सुरुचि तथा अन्तर्दृष्टि।

ग़ालिब : शाश्वत तृष्णा का कवि

लेखक : श्री रामनाथ 'सुमन'
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा कुंड, वाराणसी
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : ५११
जीवन भाग १८६ पृष्ठ। समीक्षा भाग १५० पृष्ठ। व्याख्या भाग : कुछ शेर व्याख्या सहित १३४ पृष्ठ। काव्य भाग : दीवाने-ग़ालिब से चयन, क़सीदे, मसनवी, क़ते, रुबाइयाँ, सेहरा, मर्सिया, स्फुट, नुस्खः हमीदयः से, अप्रकाशित काव्य आदि १७५ पृष्ठ।
परिशिष्ट : ग़ालिब के कुछ शागिर्द, गदर और बाद के ज़माने की दिल्ली २८ पृष्ठ।
भावपूर्ण विवेचन की दृष्टि से उपयोगी ग्रन्थ।

मिर्ज़ा ग़ालिब

लेखक : मालिक राम, अनुवादक श्रीकान्त व्यास
प्रकाशक : नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण : १९६९
पृष्ठ संख्या : ९१
जीवन चरित ६३ पृष्ठ। ग़ालिब की कला ४५ पृष्ठ। विषयानुसार चुने हुए शेर २३ पृष्ठ।

ग़ालिब की शायरी

लेखक : ब्रज विहारी लाल श्रीवास्तव
प्रकाशक : मातृभाषा मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद
द्वितीय संस्करण : १९५५
पृष्ठ संख्या १८१। संक्षिप्त भूमिका। कुल गज़लें १८६, कसीदे ३, क़िते १६, रुबाइयाँ १८ और सेहरा।
छापे की ग़लतियों की भरमार। टिप्पणियों में लापरवाही।

मिर्ज़ा ग़ालिब : जीवनी और साहित्य

लेखक : रसूल अहमद अबोध
प्रकाशक : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा
प्रकाशन तिथि : १९६०
पृष्ठ संख्या : १०६
जीवन चरित, उर्दू कविता का सामान्य परिचय, ग़ालिब के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण, ११ पृष्ठों में चुने शेर और १६ पृष्ठों में पत्रों से चयन। सामान्य हिन्दी पाठकों की जानकारी के लिए सुगम पुस्तक।

ग़ालिब : कवि और मानव
लेखक : अर्श मलसियानी
प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली
प्रकाशन तिथि : १९६८
पृष्ठ संख्या : १४९
प्रामाणिक जीवनी, शिष्यों के पत्र और 'दीवाने ग़ालिब' से कुछ चुनी हुई रचनाएं। दुर्लभ चित्रों से युक्त। सामान्य जानकारी देने वाली उपयोगी पुस्तक।

[सामान्य संकलन]

कविता-कौमुदी : उर्दू

सम्पादक : रामनरेश त्रिपाठी
प्रकाशक : नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई
प्रथम संस्करण : १९२५
प्रस्तावना लेखक : अमरनाथ झा
२६ पृष्ठों में ग़ालिब का जीवन चरित, काव्य-समीक्षा और उर्द कविताओं का संकलन। कुल चुने हुए शेर १३६। ऐतिहासिक महत्त्व का काव्य-संग्रह। सर्वाधिक लोकप्रिय।

शेर-ओ-शायरी

लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, वाराणसी
प्रथम संस्करण : १९४८
भूमिका लेखक : महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन
ग़ालिब के जीवन और काव्य पर २६ पृष्ठों में विचार तथा कुछ शेरों की व्याख्या।

शेर-ओ-सुख़न : भाग १

लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
प्रथम संस्करण : १९५१
८४ पृष्ठों में ग़ालिब संबंधी सामग्री। 'शेर-ओ-शायरी' से अतिरिक्त। कुछ शेरों की विदग्धतापूर्ण व्याख्या। विवेचन में रोचकता।

अगले झूठ के लिए

मंगलेश डबराल

और मैं फिर मुड़ जाऊँगा

इस कमरे में, या इस शर्म में,
इस इतिहास में
कोई सूचना नहीं होगी
जहाँ मैं चिपकूँगा
आदतों वाले कोनों पर

गृहस्थी और बरतनों के बीच
जहाँ मेरा काला अतीत बज रहा है
और बूढ़े पिता की आँखों में
एक ईमानदार भविष्य अन्धा हो चुका है—
मैं फिर रुकूँगा :
यह जानने के लिए
कि मेरे अगले अपराध और अगले झूठ में
कविताएँ किस जगह हैं

पूरी सभ्यता और सौम्यता के साथ
फिलहाल
मैं एक आदमी की जगह खड़ा हूँ
पूजाघरों और वेश्याघरों के बीच
मैं सिर्फ मुट्ठी भर भीख के लिए
लड़ा हूँ
मोर्चों पर झोंके जाने से पहले
लोग एक-दूसरे के लिए
एक अजनबी भाषा गढ़ते हैं
और सम्बन्धों के नीचे
राष्ट्रीय गीत की तरह बजते हैं

पालतू भाषा और चमड़े की दूरी में
बीवियों की जाँघों में उतरते हुए—
घरों और घटनाओं के बीच अखबार फलाते
हुए—
अफसर की जेब में अपनी तरक्कियाँ
टटोलते हुए—
वे सब सुरक्षित हैं
और रोटी पर छेद करते हुए
अपने फर्ज़ और कर्ज़ के लिए चिन्तित हैं

मगर इस सारे माहौल के पीछे
किसी अफवाह का आक्रमण
शुरू नहीं हो रहा है
सिर्फ मेरे भीतर
एक दलाल है,
जो आदमी होने की गंदगी उछाल रहा है
और हर रोज पेशाबघरों में
नयी बीमारियाँ बहाकर
स्वास्थ्य-सेवा कर रहा है

वह किसी भी क्षण भजन करेगा
और लोगों को आपस में
जूते चलाते हुए देखेगा
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीजों के चेहरे मिटा देगा
और 'इच्छाओं की तरह साफ़' कामातुर
औरतों

और उत्तेजित हिजड़ों को
एक व्यवस्था के रूप में जुटा देगा

यह एक संस्कृति है,
जिसमें हर वेश्या अपना चरित्र माँज रही है
यह एक रोशनी है,
जहाँ मेरी भाषा अपनी नफ़रत को
तलवार की तरह माँज रही है

और यह इक्कीसवाँ अन्त है
मगर मैं जानता हूँ,
इस युद्ध के लिए मैं कहीं भी अन्तिम नहीं हूँ
इन शब्दों से, इस ऑफ़िस से
बाहर मरने के लिए

दरअसल, यह एक नुस्खा है
जो मेरा चेहरा है
अपने सम्पर्क चाट कर राष्ट्रीय होती हुई
सुविधाओं में
मैं अपनी भूख की जगह
वसन्त और हिमालय को खड़ा कर सकता हूँ
और देश का पेट पोस्टरों से भर सकता हूँ

दफ्तरों से उठा हुआ घमंड
कपड़े और अक्ल बदल रहा है
और पूरा देश
आँकड़ों की नस्ल में ढल रहा है

जहाँ अपने बच्चों को नारों की तरह इस्तेमाल
करते हुए—
या धूप को चबा-चबाकर थूकते हुए बूढ़े हैं,
सब्जियों से अधिक सड़ती हुई सभ्य औरतें हैं,
अखबार हैं,
सीढ़ियों और ओहदों से
चढ़ते-उतरते लोग हैं—
आभिजात्य-सभ्यता में
वहाँ मेरे सारे बटन टूट चुके हैं
मेरी लाचारी मेरी लत है
मैं अपनी बहस को एक बहाना बनाऊँगा
मैं फिर लौटूँगा
अपनी गरीबी और चापलूसी में

यह शर्म और यह आज़ादी लेकर
मैं ज़ोर-शोर से सहमत हो जाऊँगा
क्योंकि यह सहमति एक रोटी है
त्रिनेत्र का सूखता हुआ चेहरा नहीं है

प्रजातंत्र के फालिज बनने की प्रतीक्षा में
मैं अपनी देशभक्ति और अपने ही
नारों से डर रहा हूँ
मैं सड़क पार करने पर नहीं,
जीवित रहने पर कानून तोड़ रहा हूँ

लोकतन्त्र के लिहाफ में

त्रिनेत्र जोशी

अपनी-अपनी औकात में धँस जाने के बाद
आग का उभड़ आना और अँधेरे का छा जाना
कोई तलाश नहीं। हम सब फहराने को झेल रहे हैं
अपनी-अपनी खाइयों में दुबककर
घर से सरकार तक चरमरा रहे हैं
चौराहे पर खड़े उस व्यक्ति की खोज में
जिसने अभी-अभी देश को इशारा किया है

नालों की ओर खुले दरवाजे। अपने-अपने
छापेखानों के साथ
पंक्तियों में खड़े हैं। चेहरा। चेहरे के पीछे
चेहरा
एक और चेहरा। चेहरा और चेहरा···

मौसम के रंगों में नहीं दीखता वह। भागा जा
रहा है
झुग्गियों में। खण्डहरों में। अपनी बदसूरती में
अपनी कब्र चौड़ी करने के इरादे से पेट दबाकर
उघड़ गया है कीचड़
अपने लबादे की खुशहाली का बाजा बजाकर
समय को मेजों के नीचे दबा लेने की कोशिश में
व्यस्त भीड़। चबा रही है आदमी
और अपने-अपने भजन गा लेने के बाद
लोग दरवाज़ा फेरकर बाहर निकल आये हैं
तमाम रास्ते गरीबी पर आकर दम तोड़ते हैं

राष्ट्रगीत की धुन पर केवल झंडे की झूम लेने
की लत
अपने-अपने कूबड़ उठाये लोग
खिड़कियों से भीतर केवल इतिहास झाँक रहे हैं

वीएटनाम में फूटने वाले बम से
दादा की झुर्रियों में कोई फर्क नहीं पड़ता
वह दाँतों से मिट्टी पीस रहा है
और तमाम दाँत तोड़ लेने के बाद
चूरन बाँट रहा है

अनहोनी समझकर
एकदम अदालतों से छोड़ा गया है
हर बार आदमी। ढहती हुई दीवारों पर
आसीन कानून की आँख झपकते ही
घटना को आँखों पर सी लेने के बाद लोग
अपनी-अपनी बगलों में भूल दबाए लोग
तमाशा पी गए हैं

लोकतन्त्र के लिहाफ को
चाहे जिस तरह ओढ़ लें। खाली पेट को
सीढ़ियों पर लुढ़का देने का तरीका लेकर
लोग बराबर फूटे हैं
केवल जात रंग बदलती है। दिशाओं में
अब शाम नहीं। काम की तलाश में
लाचारी के नक्शे की फड़फड़ाहट
सीमाओं पर युद्ध बटोर रही है
विज्ञापन को जैसे चाहे खड़का लीजिए
पसीना चुनाव नहीं
बदबू देता है
तब अपनी-अपनी पसलियों के स्वर में
आदमी की चीख कोई लय नहीं देती
अपने-अपने दरवाज़ों पर पड़ी लाचारियाँ
आदमी की पहचान में
आईनों पर पीक थूकने लगती हैं

समकालीन कविता : अँधेरे से साक्षात्कार

सुरेन्द्र चौधरी

अपने परिवेश से संतुलन बनाने की जिस आन्तरिक काव्य-प्रक्रिया की शुरुआत नई पीढ़ी कर रही है उसके कई आवश्यक पहलुओं पर हमें विचार कर लेना चाहिए। समकालीन कविता का परिवेश ऊपरी तौर पर वही है जो नई कविता का था। मगर परिवर्त्तन एक अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। देश और काल के बदलते रूपों के साथ कवि की वह भावनात्मक दुनिया भी बदल जाती है जिसमें वह जीता है। युवा कवि का अन्तर्जगत् अपेक्षाकृत अधिक तीखे परिवर्त्तनों का शिकार हुआ है। बीस वर्षों के विकसित जनतंत्र की आन्तरिक दरिद्रता का साक्ष्य बना युवा कवि मूल्यों के प्रति आज यदि आश्वस्त नहीं है तो इसमें अकेला दोष उसका नहीं है। युवा कवि की खोज उस दुःस्वप्न के भीतर की उतनी नहीं है जितनी उससे चौंककर जागने के बाद की स्थिति की है। वैसे जाग्रत हालत में भी दुःस्वप्न की मानसिक जड़ता में तत्काल कोई परिवर्त्तन लक्षित कर पाना कठिन था। कुछ कवि इस मानसिक जड़ता की पीड़ा अब तक ढो रहे हैं। यही कारण है कि ऊपर से एक-से मुहावरे बोलने वाले कवियों का आन्तरिक रचना-संसार एक-सा नहीं है। अब तक कवियों की चर्चा में हमने सिर्फ़ मुहावरों का पीछा किया है, अब आवश्यकता इस बात की है कि हम इन मुहावरों से स्वतंत्र होकर कवियों की आन्तरिक दुनिया से साक्षात्कार करें।

परिवर्त्तन की जिस आन्तरिकता को समझने-समझाने की हज़ार कोशिशें चल रही हैं, उसकी रचना के भीतर विशेष स्थिति होती है। परिवर्त्तन की इस आन्तरिकता को सिर्फ़ उन मुहावरों, मुद्राओं, नारों और आन्दोलनों की राह आयत्त नहीं किया जा सकता जिनमें काल को स्थितियों में जड़ (freeze) कर दिया जाता है और आदमी को नैरंतर्य से तोड़कर केवल इन स्थगित स्थितियों में परिभाषित करने का आग्रह होता है। मैं इस पूरे प्रयत्न को बौद्धिक हर से ज़्यादा कुछ नहीं मानता। पिछली पीढ़ी के अधूरे भावब रुझान पर यहाँ बहस नहीं करूँगा, क्योंकि नई कविता के आन्दोलन में एक ऐसा आत्मविरोध है जो उसके रचना आशय को ही कहीं खंडित करता है। नई कविता में 'परि को स्थितियों में बदल दिया गया और कवि अपने-अ भावात्मक आसंगों सहित उस परिवेश (!) के अमूर्त सं को लेकर रचना का वातावरण तैयार करता रहा। इस का प्रक्रिया में स्थितियों के जोड़ तो दीख पड़ते हैं, मगर स परिवेश कहीं रूपायित नहीं होता। यह भावनात्मक सं मूलतः स्थितिजन्य था। चूँकि इस रचनात्मक प्रयत्न के स कोई मूर्त्त गोचर परिवेश संश्लिष्ट नहीं था, इसलिए व सिर्फ़ प्रतीक-संदर्भों और संकेतात्मक वातावरण से 'परिवे का काम ले लिया करता था।

हर रंग की मनःस्थितियाँ तो आईं, मगर उन म स्थितियों के पीछे अनुभव का कोई मूर्त्त संसार न था। फल ये मनःस्थितियाँ अपने भीतर ही कहीं नैरंतर्य बना पाने असमर्थ सिद्ध हुईं। 'अंधायुग' इसी असफल और खंडित म प्रवाह की एक लहर है। इस संपूर्ण पौराणिक प्रत्याख्यान भीतर आदमी के भोग की वह दुनिया अदृश्य है जिससे उस दर्द सार्थक होता है। दूसरे शब्दों में मानवीय पीड़ा का ही वहाँ अचीन्हा-सा है। वह दुनिया इस काव्य में एक सिरे ग़ायब है जिसकी टकराहटों के भीतर हमारा दर्द अर्थवान् सकता था। 'अंधायुग' में पीड़ा सिर्फ़ ध्वनित होती है। का भाषा के स्तर पर ध्वनित होनेवाली यह पीड़ा किसी व्याप रत समाज के भीतर की नहीं है और न वह आज के मनु की अपनी लड़ाइयों की है। वह इतिहास के बाहर की पी है जिसे पाठक ध्वनियों की राह पकड़ पाने के लिए वि

है। 'अंधायुग' की तुलना में लगभग इसी काल में लिखी गई मुक्तिबोध की रचनाएँ अधिक कालावस्थित, प्रत्यक्ष और वास्तविक हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं में वस्तुतः द्वन्द्व की एक व्यापारपरक दुनिया है। दुःस्वप्नों, प्रतीकों और दूसरे परोक्ष माध्यमों के बावजूद उसकी द्वन्द्वात्मक वास्तविकता पर कोई आँच नहीं आती। वह इस पाताललोक की तथ्यसूचना भर नहीं है।

एक असंगत हो गई स्थिति का जैसा अर्थहीन रेह्टारिक अंधायुग है, वैसा तत्काल ढूँढ़ना मुश्किल होगा। अपने विचार-दरिद्र आवेश में 'अंधायुग' और 'कुरुक्षेत्र' में कोई वास्तविक दूरी नहीं है। साक्षात्कार का यह नाटकीय प्रकरण 'अंधायुग' के प्रतीकात्मक और आत्मीय अंशों को भी प्रभाव-संभव नहीं रहने देता। वस्तुतः संपूर्ण नई कविता में परिवेश को 'वातावरण' से ज्यादा महत्त्व न देकर कवियों ने सिद्ध कर दिया है कि इस काव्यधारा पर परिवेश का वास्तविक चाप है ही नहीं। यहाँ दर्द एक रहस्यमय आत्मपीड़न है और अपनी छायावादी बिरादरी के संस्कार से बहुत अलग नहीं है।

'परिवेश' के जिस तीखे अन्तर्विरोध से आज के आदमी का भोक्तृत्व बनता है, उसे नई कविता में परोक्ष स्पर्श की तरह ग्रहण किया गया। अधिकांश कवियों का संभावना-स्वप्न इस अन्तर्विरोध के चाप का सही-सही 'फ़ील' सम्प्रेषित ही नहीं कर पाता। **नई कविता परिवेश से जो स्वप्न-संघर्ष करती है उसका प्रमाण 'तीसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएँ हैं।** प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कुँवर नारायण और कई दूसरे कवियों का संघर्ष इससे गहरी वास्तविकता का आभास भी नहीं देता। नया कवि परिवेश के भीतरी दबावों को आयत्त नहीं कर पा रहा था। इन कवियों में बहुत कम ऐसे हैं जिनकी बौद्धिक सजगता उनके आवेश को नियंत्रित करती है। यही कारण है कि एक स्थान पर संकलित होकर भी ये कवि आन्तरिक रूप से संगत और एकरूप काव्य-प्रक्रिया का आभास नहीं देते। कविता के प्रति इनका 'एटीच्यूड' बिलकुल अलग-अलग है। इस अर्थ में ये 'राहों के अन्वेषी' भी नहीं हैं।

'६० के बाद की कविता-पीढ़ी ने न केवल एक आन्तरिक बदल का आभास दिया, बल्कि अपनी शक्ति और सीमा में इस परिवर्त्तन को **'इफेक्ट'** किया। यह कार्य नई कविता के अधूरे और कृत्रिम **'डिक्शन'** को तोड़कर ही संभव था। इसलिए युवा कवि अपने लिए न केवल एक नया काव्य-विधान चुनता है, बल्कि कविता का एक नया **'डिक्शन'** भी तैयार करता है। यह **'डिक्शन'** 'किञ्चित कविताओं' जैसा है जिसे काव्य-विडम्बना और मज़ाक के लिए नई कविता वाले छापा करते थे। क्या कारण है कि युवा पीढ़ी इस काव्य-विडम्बना को स्वीकार कर लेती है? **परिवेश से जुड़ने की लड़ाई में शायद यह उनका पहला हमलावर क़दम था।** आश्चर्य नहीं कि युवा पीढ़ी काव्य-विडम्बना के इस **डिक्शन** के प्रति **'डेड सीरियस'** है। एक व्यापक अंधेरे के भीतर जो लड़ाई शुरू हुई थी, उसमें विडम्बना की अनेक संभावनाएँ देखी गई। बाद में कुछ खरी उतरीं, कुछ सामान्य और बचकाना साबित हुई। आश्चर्य इसमें भी नहीं है कि नई कविता के बहुत-सारे कवियों को बाद में चलकर अपना ही काव्यात्मक ढाँचा बोझिल मालूम पड़ने लगा और उन्होंने युवा कवियों के मुहावरों और लटकों के प्रति समर्पण किया। यह युवा कवियों की विजय चाहे न हो, मगर नई कविता की काव्य-संवेदना की पराजय ज़रूर थी।

लड़ाई सिर्फ़ मुहावरों तक महदूद नहीं थी। वह मुहावरों की राह पूरी सर्जनात्मक चेतना में उतर रही थी। मुहावरों की सरहदों पर लड़ने वाले लोग धीरे-धीरे समय के अन्तराल में चले गए। कुँवर नारायण और प्रयाग नारायण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। **नई कविता की अन्तर्मन की यात्राएँ कवियों को जहाँ लाकर छोड़ गई थीं वह दुनिया अधूरे साक्षात्कार की दुनिया थी।** नई कविता के अधिकांश कवियों ने या तो अपनी नावें मोड़ लीं या फिर वे नदी के उस तीसरे किनारे पर सदा के लिए टिक गए जो अन्तहीन था। अधिकांश ऐसे कवियों की यात्रा का **अन्तर्प्रदेश** सूना साबित हुआ। **वे इस सूनेपन को एक आध्यात्मिक गरिमा देना चाहते थे, उसे 'व्यक्तित्व की खोज' और 'आत्मान्वेषण' के नाम से पुकार रहे थे।** मगर समय ने इन्हें इस तीसरे किनारे पर लाकर बेतरह छला था।

युवा कवियों के सम्मुख अनुभव का जो 'देश' था वह अपनी मूर्त्तता में आततायी था। फलतः सवाल इस ठोस, मूर्त्त और आततायी परिवेश से केवल भावना के भीतर टकराते रहने का नहीं था, उसे बदल देने का भी था। इन अन्तर्यात्राओं की विफलता की पीड़ा को मूर्त्त करने के प्रयत्न में लगे हुए कवियों का आत्मसंघर्ष श्रीकान्त वर्मा और केदार-

नाथ सिंह के अतिरिक्त विष्णुचन्द्र शर्मा में ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। ये तीन कवि अलग-अलग काव्य-छवियों में पहली बार इस परिवर्त्तन का संकेत देते हैं। परिवेश को आयत्त करने की काव्य-समस्या रचनात्मक समस्या हो जाती है। लगभग तेरह वर्ष के (आज़ादी के) अनुभवों के बाद युवा कवि इस आततायी परिवेश को प्रतीकों में बदल देने में अपने को असमर्थ आता है।

नई कविता में जिस तरह पीड़ा को सम्पूर्ण बना लेने का प्रयत्न है, युवा कवि उसे एक काव्यात्मक मुद्रा से अधिक कुछ नहीं मान पाता। यही कारण है कि उसका दर्द उससे बड़ा नहीं है। यही कारण है कि कविता में सपाटबयानी बढ़ती है। **यह सपाटबयानी कल्पित दर्द के रेह्‌टारिक को तोड़ने का सबसे नाटकीय और तात्कालिक माध्यम बन जाती है।** समस्या एक दूसरे स्तर पर फिर भी बनी रह जाती है। सपाटबयानी आवेश के निरर्थक अन्दाज़ को तोड़कर अगर कहीं स्थिर हो जाती है तो यह उसकी अशक्यता ही होती है। यह अशक्यता पहले रेह्‌टारिक को तोड़ती है फिर अपने को ही तोड़ते चलना उसकी नियति हो जाती है। कोई कवि मुहावरों के लँगड़े दरवाज़े से आसानी से फ़ैशन में आ जाता है और कविता को 'अनुभव की प्रामाणिकता' से छलने लगता है। आश्चर्य की बात नहीं है कि रातोंरात गीत लिखनेवाले कवि गद्य की पंक्तियाँ तोड़कर आततायी हो गए। इतना ही नहीं कि उनका काव्यात्मक संस्कार पुराना था, बल्कि यह भी कि ऐसे ही गीतकार अनुभव से निरापद रहकर आक्रोश का इज़हार करने लगे थे। **इनका आक्रोश एक सुविधाजनक 'डिक्शन' था** (डिक्शन से भी ज़्यादा अन्दाज़ेबयाँ)। स्पष्ट है कि जिस तरह कुछ छुटभैये छायावादी वेदना की वेदी पर बैठ कर अमर अभाव की पूजा करते हुए अनुभवशून्यता में जी लेते थे, उसी तरह हमारे ये छुटभैये अनुभव से असंपृक्त होकर भी आततायी हो गए। इस तरह समकालीन कविता का यह अहित हुआ कि रचना एक अन्दाज़ हो गई, और कविता लिखने में जो मशक्कत होती थी वह जाती रही।

इस स्थिति में अकविता और कविता की पहचान मुश्किल हो गई। किन्तु काव्यक्षेत्र में इस व्यापक संकट के बावजूद कुछ ऐसे सचेत कवि बच रहे थे जिन्हें इस विरोध का पूरा-पूरा एहसास था। वे अपनी रचना में पुराने डिक्शन को तोड़कर भी रचनात्मक गहराई और आत्ममंथन की रक्षा करना चाहते थे। वास्तविक रचनात्मक पीड़ा इन्हीं कवियों की थी और वास्तविक आत्म-संघर्ष भी ये ही कर रहे थे। दूसरे लोगों के लिए आत्मसंघर्ष एक खुश मुहावरा भर था।

संतुलन के रचनात्मक प्रयत्नों को अपनाकर कुछ बड़ी तत्परता और सजगता का परिचय देते हैं। इनके परिवेश न तो कलात्मक उपकरण मात्र है और न ऐसा ही जिसके नीचे दबकर उनकी काव्य-प्रतिमा दम तोड़ दे। अपने परिवेश के रूपान्तरों को बहुत सही ढंग से पहचानने चेष्टा कर रहे थे। जिस कृत्रिम रूपान्तर में यह सामाजिक वितुलन पैदा हुआ था और कवि-मानस पर नए दबाव कर रहा था उसे सीधे आयत्त करने की समस्या काव्य ख़तरा पैदा कर रही थी। अधिकांश कवि अपने वेग में गए थे और दिशाहीन हो गए थे। उनका यह विरोध नैतिक अथवा सविकल्प स्वीकार का परिणाम न था। व्यवस्था का विरोध करते हुए व्यवस्था के प्रश्न को ही नि र्थक घोषित कर रहे थे। सामाजिक-सम्बन्धों की पुरा दुनिया नए परिवेश में लगभग नष्ट हो गई थी और दुनिया अनुभव के दायरे में आ रही थी वह निर्वैयक्तिक सपाट और स्वार्थों के अलगाव की दुनिया थी। पुरानी दुनि पर आधारित मूल्य कहीं गहराई में टूट गए थे। इन अलग-अलग विश्वों के अनुभव के भीतर काव्यात्मक संतु की रक्षा का सवाल बेहद संजीदा सवाल था। **इसे के वे कवि ही ठीक-ठीक समझ पा रहे थे जिन्हें तात्कालि के विरुद्ध इतिहास से अनुभव की गहराई ने जोड़ा** इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने पर्याय था वे सिर्फ़ वक़्त की बोली बोलने में लगे थे। स्थिति में नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक सम हो गई। इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा हमारी चे पर टँका रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोल आत्मसंतोष कर बैठा। यह स्थिति नई पीढ़ी के लिए ही रचनात्मक चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से (वेग कहें!) छली इससे दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति दूसरी नहीं हो सकती। कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता खड़ा हो ग कुछेक ने तो अपने इस वेग को अनुभवसिद्ध बताने के शहीदाना अन्दाज़ अपना लिया। कविता के लिए शह

हिन्दी कविता के इतिहास में एक घटना बन गई। ग़लत नाम भी निराला और मुक्तिबोध के साथ जुड़ गए। काव्य-नाट्य का एक दृश्य यहीं समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला भी शायद यहीं से शुरू होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग (जैसे राजकमल का) तो समझा जा सकता है, मगर इस भावना का काव्यात्मक अनुकरण करने वालों का वेग कैसे समझा जाएगा? समकालीन कवियों के एक बड़े समुदाय की दिशा-हीनता इसी वेग का परिणाम है। इस वेग की कव्यात्मक अभिव्यक्ति को पहचानने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आत्मोद्रेक की जो काव्य-शैली उस वेग से बनती है उसकी नाटकीयता ही उसकी माप है। यह आत्महीन अभि-नय आत्मोद्रेक की 'लय' को कहीं तोड़ देता है, उसे ऊँचे स्वरों पर पहुँचाकर निरीह बना देता है या सपाट वक्तव्यों के जंगल में भटका दिया करता है। इस नाटकीयता में आत्म-साक्षा-त्कार के घनीभूत क्षण विरल ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण नाटकीय-शैली के नक़लची शायद ही उन घनीभूत क्षणों को पा सकेंगे जिनमें राजकमल का कवि एकांतभोक्ता के रूप में खड़ा है। राजकमल के लिए यह आत्मोद्रेक काव्य-शैली नहीं है, अनुभव का बंध (mode of experience) है। वैसे अनुभव का यह बंध उसकी कविता में संगति का अपहरण ही करता है।

कविता के भीतर आत्मविभाजन की यह तस्वीर पहली बार हमारे सम्मुख नहीं आई है। यह आत्मविभाजन बीस वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है। कहीं यह बुद्धि और भ.वना के विरोध के रूप में आया है तो कहीं काव्य-संवेदना में अनुभव और विचारों के विरोध के रूप में। संवेदनात्मक स्तर पर कवि के आत्मविभाजन का परिणाम आज की कविता की आंतरिक असंगति में व्यक्त होता है। अनुभव की तात्कालिकता और इतिहास का विरोध आज की कविता के सत्य को समझने का सही आधार प्रस्तुत करता है। नैतिक संकल्प के अभाव में विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज्यादा कुछ नहीं बन पाता। जहाँ यह उन्माद दूसरों को तोड़ नहीं पाता, वहाँ अपने को ही तोड़ लिया करता है। राजकमल के साथ ऐसा ही हुआ।

वैसे यह आत्मविभाजन श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह के काव्य-व्यक्तित्व में भी उतना ही तीखा और स्पष्ट है। किन्तु ये दोनों ही कवि इस आत्मविभाजन की काव्या-त्मक सार्थकता को समझते हैं। वे निर्णय की स्थिति में अपने को नहीं रखते, निर्णय की नैतिक तैयारी के लिए अपने को तत्पर बनाते चलते हैं। रघुवीर सहाय ने एक लम्बी छलाँग लगाई है। यह एक साहसिक छलाँग है। समय से जुड़ने का उनका यह बौद्धिक प्रयत्न है। इसके पीछे कोई गहरी भावना-त्मक विवशता हो ऐसा मुझे नहीं लगता। संभव है मेरा अनु-मान गलत हो।

इतिहास से जुड़ना कवि के लिए अचानक समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने और अपने सहजीवियों के प्रयत्न, भोग और सम्बन्ध के परिज्ञान में मूर्त्त करता है, यही समय से उसका रचनात्मक सम्बन्ध है। इसी तदा-कृति के लिए कविता के भीतर वह संघर्ष करता है। **इतिहास को एक जीवन्त अनुभव की तरह देखने में और एक समस्या की तरह देखने में अन्तर है।** अधिकांश कवि जब इतिहास को (समय को कहें) समस्या बनाकर कविता कर रहे हों, तब कुछ कवियों का उससे दूरी बनाए रखना यह साबित करता है कि इतिहास उनके लिए समस्या नहीं अनुभव है। कुँवरनारायण के लिए इतिहास की रागात्मक अविच्छिन्नता की रक्षा करना एक समस्या है, प्रयागनारायण के लिए उस अनाहत नैरंतर्य की भव्यता की रक्षा एक समस्या है और विजयदेव नारायण के लिए उस नैरंतर्य के भीतरी मापों को पहचानना एक समस्या है। इस अर्थ में श्रीकांत वर्मा ने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से जो दूरी बनाए रखने की चेष्टा की है उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहूँगा। स्मृतियों और अर्द्धज्ञात तथ्यों से समय का चित्र वे नहीं बनाते और न उसे परोक्ष सत्यों से ही परिभाषित करते हैं। उनके लिए इतिहास एक अनुभव है और अनुभव-भोक्ता और भोग के विषय में द्वैत की स्वीकृति भी है। इसी द्वैत के भीतर यह दूरी होती है जिसे अनुभवों में कवि तय करता है। इतिहास को अनुभव में संश्लिष्ट करने के लिए श्रीकांत वर्मा ने एक.स्पष्ट काव्यात्मक आधार तैयार किया है। उसे हम कवि की आस्था कहें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी संवेदनात्मक तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध से यह अलग पड़ने वाली चीज़ है। भीड़ की भावना के लिए सत्य का आभास काफ़ी होता है। कवि इस आभास से अपने को बहला नहीं सकता।

सत्य से साक्षात्कार करना उसकी नियति है।

इतिहास के प्रति कवि की दृष्टि औपचारिक नहीं होती। इतिहास को वह अपने छोटे-बड़े अनुभव-खंडों में सहेजता है, फिर उससे एक संश्लिष्ट रूप खड़ा करता है। गीतात्मक ढाँचे में भी इतिहास रूपायित हो सकता है, इसे शायद कुछ लोग मानने को तैयार न हों, मगर मुझे तो श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह की छोटी कविताओं में भी इतिहास की अन्तर्ध्वनियाँ सुनाई पड़ जाती हैं। उनकी तुलना में धर्मवीर भारती की प्रॉमैथ्यूज़ जैसी कविताएँ समय-संवेदना का आवेश भर व्यक्त करती हैं। व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में इतिहास साही की कविताओं में भी अन्तर्ध्वनित होता है। युवा कवियों में यही अन्तर्ध्वनि इतिहास से जुड़ना जिनके लिए तात्कालिकता से जुड़ने का पर्याय था वे सिर्फ़ वक्त की बोली बोलने में लगे थे। नैतिक चेहरे की सपाटता एक काव्यात्मक समस्या हो गई, इतिहास एक अर्थहीन विस्तार-सा बना रहा और कवि अपनी सुविधा के मुहावरे बोलकर आत्मसंतोष से बहलने लग गया। यह स्थिति रचना के लिए एक खुली चुनौती थी।

भावना अपनी गतियों से छली जाने लगी। इससे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति कविता के लिए दूसरी नहीं हो सकती। भावना की गतियों का यह छल एक काव्यात्मक साधन बन गया। हर कवि अपने अनुभव के चौराहे पर चीखता हुआ उसकी दुहाई देने लग गया और तुर्रा यह कि अपने इस छद्म को सही साबित करने के लिए उसने शहीदों का बाना धारण किया। कविता के लिए शहादत सचमुच इतिहास में एक घटना है। ऐसे शहीद कवियों के लिए संवेदना बटोरना मेरा काम नहीं है। नाटक का एक दृश्य इस शहादत से समाप्त होता है। कविता के साथ ऐय्यारी का सिलसिला यहीं से शुरू भी होता है। भावना से परिचालित होने वाले व्यक्ति का वेग तो समझा जा सकता है मगर उसकी गति को समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह गति दिशा-निरपेक्ष होती है। समकालीन कवियों के एक अच्छे बड़े समूह की दिशाहीनता इसी वेग का परिणाम है। **इस भावनात्मक वेग के काव्यात्मक उपकरणों को पहचानना बहुत मुश्किल काम नहीं है।** आत्मोद्रेक की काव्यशैली इसी भावनात्मक वेग से बनती है। उसकी नाटकीयता में आत्मसाक्षात्कार के घनीभूत क्षण बिरले ही होते हैं। राजकमल की आत्मोद्रेकपूर्ण काव्य-शैली के नकलची शायद ही उन घनीभूत क्षणों को पा सकेंगे जि[illegible] राजकमल का कवि अपने अनुभवों के सम्मुख अकेला था[illegible] फिर आत्मोद्रेक की यह काव्य-शैली वेग में जिस स्वाभावि[illegible] ढंग से अपने को तोड़ लेती है, आत्मक्षय करती है उसे दू[illegible] कहाँ पाएँगे। वे बन्दिशों को जोड़कर भी यह स्वाभावि[illegible] आत्म-विभाजन पैदा नहीं कर सकेंगे। राजकमल के लिए [illegible] आत्मोद्रेक काव्य की शैली नहीं है, अनुभव का बंध[illegible] (mode of experience)। वैसे राजकमल में भी [illegible] आत्मोद्रेक काव्य की संगति का अपहरण करता है।

कविता के भीतर आत्म-विभाजन की यह तस्वीर पह[illegible] बार हमारे सामने नहीं आई है। यह आत्म-विभाजन लग[illegible] ३० वर्षों की हिन्दी कविता में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है[illegible] आज की स्थिति में इसमें इतना भर अन्तर आया है कि पह[illegible] जहाँ यह आत्म-विभाजन बुद्धि और भावना के स्तर पर [illegible] वहाँ यह अब अनुभव के भीतर संवेदना के स्तर पर दिख[illegible] पड़ने लगा है। संवेदना के भीतर कवि के आत्मविभाजन [illegible] परिणाम आज की काव्यात्मक असंगति है। तात्कालि[illegible] अनुभवों में अपने को बाँधकर संतुष्ट हो जाना इसी काव्यात्म[illegible] असंगति को व्यक्त करता है। नैतिक संकल्प के अभाव[illegible] विद्रोह एक आततायी उन्माद से ज़्यादा कुछ बन नहीं पाता[illegible] जहाँ वह दूसरों को तोड़ नहीं पाता वहाँ वह अपने को [illegible] तोड़ कर संतुष्ट हो लेता है। आज के कवि की आत्मही[illegible] का एक कारण यह उन्मादी भावना है जो अपनी ही गति[illegible] से बार-बार छली गई है।

श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय[illegible] कुँवर नारायण की कविता अगर आज अलग पड़ने लगी है[illegible] प्रयाग नारायण त्रिपाठी इस पूरे प्रवाह से कट गए हैं[illegible] इसलिए नहीं कि रचनात्मक स्तर पर इनमें कोई आधार[illegible] अन्तर है बल्कि इसलिए कि इतिहास के भीतर ये अपने[illegible] अलग-अलग प्रतिष्ठित अनुभव करते हैं। कुँवर नारायण[illegible] लिए इतिहास एक रागात्मक अविच्छिन्नता है, जबकि [illegible] अनाहत नैरंतर्य की जड़ता को तोड़कर श्रीकान्त व[illegible] केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय समय की गतियों[illegible] जुड़ने का बौद्धिक प्रयत्न कर रहे हैं। प्रयागनारायण ने कवि[illegible] को तिलांजलि देकर शायद उस अनाहत नैरंतर्य की रक्षा [illegible] कर ली है। इतिहास से जुड़ने का अर्थ कवि के लिए अवा[illegible] समय से जुड़ना नहीं होता। वह समय को अपने एवं [illegible]

सहजीवियों के प्रयत्नों, भोगों और संबंधों के परिज्ञान से मूर्त्त करता है। यही उसकी समय से रचनात्मक तदाकृति भी है और संघर्ष भी। श्रीकान्त वर्मा ने अपने समय को नए अनुभव से संश्लिष्ट करने के प्रयत्न में इतिहास से दूरी बनाए रखने की जो चेष्टा की है उसके संबंध में दो शब्द कहना चाहूँगा। इतिहास के भीतर के तीखे अन्तर्विरोधों को पहचानने के लिए इतिहास से दूरी बनाए रखने की बात ऊपरी तौर पर सही है, मगर कवि अपने इतिहास को केवल बाहरी बनकर नहीं देखता—अपने अनुभव में उसे संश्लिष्ट करने के लिए एक काव्यात्मक आधार तैयार करता है। इसे हम कवि की आस्था कह लें, उसका रागात्मक भाव-बोध कहें या उसकी कालबद्ध तत्परता कहें। भीड़ के काल-बोध की तरह न तो कवि उसे अपने से जोड़ता ही है और न उससे दूरी ही बनाता है। सत्य का आभास भीड़ की भावना के लिए पर्याप्त होता है। कवि इस आभास से अगर काम चलाने लगे तो उसे भीड़ की रूमानियत को ओढ़ लेनेवाला कहा जाएगा। विष्णुचन्द्र शर्मा, सौमित्र मोहन, भार्गव, कमलेश, धूमिल, मणि मधुकर, ऋतुराज, विनोदकुमार शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में सुनाई पड़ती है। कहीं यह एकालाप में, कहीं रिपोर्ताज़ में और कहीं शुद्ध कथात्मक काव्य-शैली में इसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। इन काव्य-शैलियों की ऐतिहासिक सार्थकता पर हम अलग से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अधिकांश कवियों में यह काव्य-शैली उत्तेजक, नाटकीय और आत्मोद्रेकपूर्ण है।

तात्कालिकता के संदर्भ में सम्पूर्ण जीवन-सत्य को प्रतिष्ठित करने वाली काव्य-दृष्टि को मैं ख़तरनाक मानता हूँ। इतिहास के भीतर और इतिहास के बाहर जीवन-सत्य को देखने वाली काव्य-दृष्टियाँ अपने-अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, मगर सिर्फ़ तात्कालिक संगति काव्य को न केवल सतही बना देती है, बल्कि उसे आयामहीन भी करती है। इस रचना दृष्टि में एक आन्तरिक रिक्तता होती है। एक विकसित होते हुए जनतंत्र में यह आन्तरिक रिक्तता क्या किसी भयानक परिणाम का संकेत नहीं है? प्रजातन्त्र की आलोचना करता हुआ कवि इस आन्तरिक रिक्तका को अगर नहीं पकड़ पाता तो मानना पड़ेगा कि वह आवेश से खेल रहा है। और हमारा यह भावनात्मक आवेश व्यवस्था के लिए उतना ख़तरनाक नहीं है जितना ख़ुद हमारे लिए है।

इसी वस्तुस्थिति का संकेत करते हुए सर्वेश्वर ने लिखा है—

"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त
हमारा-तुम्हारा और सबका गुस्सा
जंगली सुअर की तरह तेजी से
सीधे दौड़ता हुआ निकल जाएगा—
और उस शिकार का कुछ नहीं बिगड़ पाएगा।"

आवेश आन्तरिक व्यर्थता का उत्तर नहीं है। देश के अभिशप्त प्रजातंत्र पर आज की कविता व्यंग्य हो या न हो मगर वह कवि की आन्तरिक व्यर्थता पर तो व्यंग्य है ही। इतिहास के इस पीड़ास्पद अनुभव से हमारी पीढ़ी ने क्या सीखा है? अपनी आन्तरिक व्यर्थता से वह क्या साक्षात्कार कर पा रही है? अगर करती है तो क्या वह आवेश से किसी भिन्न स्तर पर भी है? इतिहास का यह व्यंग्य अर्थ मुझे लगता है, विस्तार-सूचक उतना नहीं है जितना वह सीमा-सूचक है। इतिहास को वर्त्तमान में सीमित कर देने की यही काव्य-परिणति हो सकती है।

इतिहास के भीतर इस गहरी रिक्तता का बोध क्षोभ पैदा करता है। क्षोभ एक नैतिक प्रतिक्रिया है। मगर इस क्षोभ की दिशाहीनता उसे व्यर्थ कर देती है। आक्रामक से अधिक वह मारक है। **इस मारक लय का आभास क्या समकालीन कविता के पूरे तंत्र में व्याप्त नहीं है?** किसी भी कविता की चार-पाँच पंक्तियाँ उठाकर हम इस मारक लय को रेखांकित कर सकते हैं। धूमिल, जगूड़ी और कई दूसरे कवियों में **यह मारक लय ही कविता का संरचनात्मक आधार बन जाती है।** मुझे इस मारक लय में भीड़ की उत्तेजना का भाव तो मिलता है, मगर **इतिहास से गहरी संलग्नता का बोध** नहीं होता। अतिरंजित और नाटकीय काव्य-शैलियाँ प्रगीतों की ऐकांतिकता को नष्ट कर रही हैं और इस मारक-लय को व्यर्थ बढ़ावा देकर कविता को सिर्फ़ वर्त्तमान में छटपटाने के लिए अभिशप्त छोड़ रही हैं।

इतिहास को निर्णय से परे रखकर कवि कर्म एक अधूरे साक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मैं यह नहीं कहता कि कवियों को इतिहास में एक निर्णयात्मक भूमिका निभाने के लिए विद्रोह को संगठित करने का भी कार्य करना चाहिए। किसी भी काल में कवि से ऐसी अपेक्षाएँ न रही हैं और न अपने समकालीन कवियों से ही हमें ऐसी अपेक्षाएँ हैं। मगर इतिहास को निर्णय से परे रखनेवाली काव्य-दृष्टि भी अधूरी

होती है। छायावादी कविता की नियति से हम परिचित हैं। नई कविता का प्रत्यय-विरोध भी इसीलिए आत्मक्षयी सिद्ध हुआ। समकालीन कविता इसी समस्या से दूसरे ढंग से प्रभावित है। **इतिहास को वर्तमान में शिलीभूत कर समकालीन कवि इसी व्यर्थता का शिकार हो रहा है।** यह ठीक है कि समकालीन कवि के सम्मुख वर्तमान एक आततायी आकार में खड़ा है, अंधेरे में इस आततायी आकार की संभावनाएँ और बढ़ जाती हैं—वह अँधेरे घर का साँप हो जाता है! क्या यही कारण नहीं है कि आज की काव्य-शैलियाँ अपने एकालापी उन्माद में या आत्मोद्रेक में काव्य-विडंबनाएँ हो जाती हैं। इतने बड़े पैमाने पर किसी काव्य-पीढ़ी ने विडम्बना की शैली अपनाई हो ऐसा मुझे नहीं मिलता। आज की काव्य-वधिरता (क्योंकि हर आदमी सिर्फ बोलता है, सुनता कोई नहीं!) को ट्रैजिक से ज़्यादा comic मानना मुझे इसीलिए ज़्यादा सही मालूम पड़ता है। मगर इन अभावात्मक तथ्यों के बावजूद कुछ ऐसा है जो आज की कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वह है समकालीन कवि की देश और काल में गहरी दिलचस्पी। इस दिलचस्पी की नैतिक आधारशिला चाहे स्पष्ट न हो मगर जिस आन्तरिक क्षोभ से वह परिचालित है उसे अनैतिक मानने का कोई कारण मुझे नहीं दीखता! अँधेरे से बार-बार टकरानेवाली यह रचना-दृष्टि मॉकहिरोयिक नहीं है। अपने प्रयत्नों की आन्तरिक पीड़ा उसे सार्थक और सम्पन्न बनाती है। यह आन्तरिक पीड़ा एक जीवन्त समुदाय की पीड़ा है। इस पीड़ा के साथ जीवित रहने और संघर्ष करने के लिए हम अभिशप्त हैं। इस ऐतिहासिक स्थिति की करुणा हमारे सारे काव्य-प्रयत्न की प्राणशक्ति है—

इतिहास के अँधेरे में पड़ी हुई एक पूरी रचना-पीढ़ी निश्चित रूप से अपने लिए मार्ग चुन रही है। यह मार्ग जितना भी विकट हो, मगर हमारी मुक्ति का यही मार्ग है। अपने रास्ते के इस चुनाव में उसे जो संकट झेलना है उसके प्रति वह पूरी तरह सचेत है, ऐसा तो नहीं कहूँगा, मगर सामान्य रूप में उसकी तत्परता इसी का संकेत करती है। इतिहास एक आतंककारी अनुभव के रूप में यदि आज आयत्त किया जा रहा है तो इसमें आश्चर्य नहीं है। किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए समकालीन इतिहास का यह काल-खंड न केवल अपने अनिश्चय के कारण भयानक है, बल्कि यह भी कि इस अनिश्चय के प्रतिकार [illegible] अनिश्चयता भी एक ओर से हमें आत्म-विडम्बनाओं से [illegible] देती है। कमलेश ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा है, "अक[illegible] ये कविताएँ आज की कविता की किसी संगत समस्या [illegible] सामना करती हुई नहीं लगतीं, इनसे कवि की संवेद[illegible] और उसके अभ्यास का ही पता चलता है।" इस अभ्यास [illegible] एकरूपता के पीछे क्या एक विडम्बना नहीं है? कई कवि[illegible] में यह विडम्बना पूरी काव्य-चेतना के भीतर से निःसृत है।

आज की कविता की संगत समस्याओं पर नज़र दें। मे[illegible] दृष्टि में आज की कविता की केन्द्रीय समस्या अनुभव [illegible] कविता में संश्लिष्ट करने की है। मुद्राओं की जड़ता को तो[illegible] कर तब तक उजागर नहीं किया जा सकता जब तक कवि[illegible] में गतियों का स्वरूप स्पष्ट न हो। अनुभव से हीन स्थिति[illegible] भी काव्यमुद्राओं से कुछ कवि अपना काम चला लिया क[illegible] हैं, मगर रचना के क्रम में ये मुद्राएँ वास्तविक गतियों [illegible] इंगित नहीं कर पातीं। उनमें कहीं स्थिरता आ जाती है[illegible] कवि नई भाव-भूमि को तोड़ने के बदले केवल मुहावरे जो[illegible] लगता है और अपनी काव्य-मुद्रा को दुहराता चलता है। कु[illegible] कवियों में कई ऐसे हैं जो लगातार वर्षों से रचना (!) में [illegible] रहने के बावजूद अपना विकास सूचित करने में असमर्थ [illegible] हैं। उनका काव्यजगत् व्यापारों से सर्वथा रिक्त है। [illegible] कविता में व्यापार केवल संज्ञ नहीं होते, उनकी संगति [illegible] एक भावात्मक धरातल होता है जो व्यापारों को [illegible] संवेदनात्मक और संश्लिष्ट अर्थ प्रदान करता है। परिवेश [illegible] कविता में नाटकीय उपादान बनाकर रखना और उ[illegible] भावनात्मक संदर्भों का निर्माण कर लेना दो अलग-अलग प[illegible]णाम हैं। ज्याँ कॉक्तो ने अपनी आलोचनात्मक डायरी में [illegible] ही लिखा है, "विषयों और संवेगों को अपरिचित संदर्भों [illegible] चित्रित करने के बावजूद एक अन्तःसंगति पैदा करने की क[illegible] कविता को नाटक से अलग करती है।" दृश्यकलाओं [illegible] कविता की अन्तःसंगति को अलगाए बिना नाटकीय उपाद[illegible] के प्रयोग में त्रुटियाँ आती हैं। समकालीन कवि अपने उपा[illegible] के प्रति बहुत कम सचेत मालूम पड़ता है, इसीलिए [illegible] रिपोर्ताज़ की गद्य-शैली को वह कविता में अपना लेता [illegible] कहीं नाटकीय वक्तव्य की शैली अपनाता है और कहीं [illegible] वक्तव्यों को कविता बना देने का दुस्साहसिक प्रयत्न क[illegible] मालूम पड़ता है। कथा का आभास देने वाली काव्य-[illegible]

फैंटेसी से मिलाकर प्रस्तुत की जा रही है। इसके अतिरिक्त भी कई प्रचलित काव्यान्तर विधियाँ हैं जिनका उपयोग कविता में आज धड़ल्ले से कर लिया जाता है।

इससे कविता का ढाँचा तो तैयार हो जाता है, मगर काव्य-संवेदना में कहीं कोई विस्तार नहीं होता, प्रभाव में आत्मीय स्थिरता नहीं होती। उग्रता को शब्दों में बाँधकर तारे की तरह दुहराने वाले कवि इस संभ्रम के भीतर वस्तु-सत्य को नकारकर स्वप्न की भाषा बोलते हैं। इसलिए अनेक कवियों की तुलना में मुझे विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, धूमिल और ऋतुराज की कविताएँ, कविताएँ मालूम पड़ती हैं।

युवा कवि सिर्फ एक असफल होते हुए प्रजातन्त्र की पीड़ा के ही भागीदार नहीं हैं। वे इसके साथ-साथ एक व्यापक स्तर पर मनुष्य की आंतरिक व्यर्थता की पीड़ा भी झेल रहे हैं। इस अस्तित्ववादी 'नुआंस' की व्याख्या यहाँ गैरज़रूरी होगी। अपनी विडम्बना के प्रति सचेत होने का भाव इन्हें एक स्वतन्त्र काव्य-भूमिका देता है। यहाँ इतना ही कहना मैं काफी समझता हूँ कि इस पीड़ा के अनेक सन्दर्भ हैं। कहीं यह सन्दर्भ सामाजिक जीवन के भीतरी तनावों से बनता है, कहीं व्यवस्था के अन्तर्विरोध से और कहीं नितान्त भिन्न स्तर पर निजी संकट के भावात्मक बोध से। इस संकट की एक आत्मिक संगति भी है जिसे पश्चिमी मुहावरे में 'आत्मिक संकट' कहा जाता है।

आज की कविता की इन संगत समस्याओं से हर कवि अपने-अपने ढंग से साक्षात्कार करता है। यह ठीक है कि काव्यात्मक माध्यमों, शैलियों, संदर्भों के काव्योपकरणों में ये कवि एक-दूसरे से स्वतन्त्र और आत्मसम्भावनाशील हैं, किन्तु काव्य-संवेदना की ज़मीन इनमें लगभग एक है। इन कवियों की हैसियत एक व्यंग्यकार की नहीं है जो स्थितियों के अन्तर्विरोध के बाहर रहकर उसे उद्घाटित करता है। ये सारे कवि इस असंगति में अपने को कहीं वर्तमान अनुभव करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में गीतों की रचना सम्भव नहीं रह गई है, आज का काव्यजगत् इतना वैयक्तिक और निजी हो ही नहीं सकता। मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि आज की कविता भीड़ की कविता है। कविता इतनी व्यक्तित्वहीन भी नहीं हो सकती। अपनी आत्मीयता की रक्षा की लड़ाई में आज का कवि सबसे ज़्यादा संलग्न है।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय मुहावरों के बावजूद युवा-पीढ़ी भारतीय जीवन और वास्तविकता से असंपृक्त नहीं है। यह ठीक है कि भारतीय जीवन के पूरे विस्तार में यह काव्य-पीढ़ी नहीं गई (शायद कोई कविता-पीढ़ी नहीं गई) मगर इससे यह नहीं माना जा सकता कि भारतीय जीवन को उसने मूर्त्त करने की चेष्टा नहीं की है। असफल होता हुआ प्रजातंत्र, व्यवस्था की गिरती दीवारें, मूल्यों का सम्पूर्ण ध्वंस, फासिज़्म की जनमती परिस्थितियाँ और कई दूसरी भावनात्मक समस्याएँ आज के व्यक्ति को एक निर्णयात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर रही हैं। संत्रस्त वह कहीं भीतर से है। उसके संत्रास की कई दिशाएँ हैं, कई पहलू हैं। सबसे स्पष्ट बात तो यह है कि यह संत्रास युवा कवि के लिए अस्तित्व की मौलिक समस्या उतनी नहीं है जितनी वह एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर की है। आक्रोश इस संत्रास की ऐतिह्यता को मूर्त्त करता है।

हमारा युग नाटकीय परिवर्तनों का युग नहीं है। हर युवा स्वर की विवादी दीर्घता या संवादी स्वीकृति के बावजूद नाटकीय परिवर्तनों की यह दुनिया मुझे दीख नहीं पड़ती। **यह परिवर्तन एक कठोर वस्तुस्थिति के तनावों में ही अभी मूर्त्त हो रहा है।** स्थिति के भीतर के निष्करुण विरोध को नाटकीय मुद्राओं (गतियों) में बदल लेना एक काव्यात्मक उपचार-मात्र कहा जाएगा। मसलन एक कविता की इन पंक्तियों को देखें :

"सिगरेट/नुक्कड़/दुकान/सुबह
हर सुबह का रूप अलग/मगर परी/सोई रहती है गहरी नींद/ वह किसी दफ्तर में/दिन उदास शाम गुज़ारता है/मौके कम एक-दूसरे के पास होने के।"

—**'आकाश के टुकड़े'**

स्थिति के इस निष्करुण विरोध को वक्तव्य में दोहराना काव्य-शैली की समृद्धि नहीं है। ऐसे वक्तव्यों से काव्य की संरचना पुष्ट नहीं होती, भाषा का रचाव तीखा नहीं होता, किसी गहरी संवेदना का आभास नहीं होता। ऐसे ढाँचे में नाटकीय मुद्राएँ यदि भर भी दी जाएँ तो उनसे कविता में कोई घनत्व नहीं आ पाएगा। अनुभव की दुनिया को सहेज पाना, उसे संश्लिष्ट कर पाना साधारण महत्त्व की चीज़ नहीं है। सायास बिखराव की एक काव्य-शैली होती है, मगर असचेष्टता या अशक्यता के कारण उत्पन्न बिखराव की कोई काव्य-शैली आज तक नहीं बनी। बिखराव के भीतर न केवल

काव्य-प्रभाव नष्ट होता है, बल्कि यह भी कि काव्य-पाठ एक दुःखदायी विवशता बन जाता है।

परिवर्तनकारी कुछ घटित हो रहा है, मगर वह क्रान्तिकारी भी है ऐसा सहसा मालूम नहीं पड़ता। क्या निकट भविष्य में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन की कोई सम्भावना हम देख पा रहे हैं ? या युवा कवि को कई पीढ़ियों तक यह अभिशाप झेलना पड़ेगा ? ये प्रश्न केवल कविता के संदर्भ में ही सार्थक नहीं है, समस्त रचना-संदर्भ में सार्थक हैं। क्या परिवर्तन का यह संसार हमें दीख नहीं पड़ रहा है या कि वह कहीं तनावों में स्थगित है ? अपने सारपास को एक बार गहरी नज़र से देखना होगा, तब कहीं हम उसके काव्य-सत्य तक पहुँच पाएँगे।

इस अवस्था के भीतर की जड़ता से आत्मसंघर्ष करता हुआ एक कवि कहता है—

शुरू करूँगा / अब तो मैं नये सिरे से शुरू करूँगा /
पाँवों की थकान के निशानों के आगे चलूंगा /
कीड़े की छटपटाहट को खत्म करूँगा /
स्याही भरूँगा बरसाती पानी में /
फिर से चलूंगा।

—'कोई शीर्षक नहीं।' —नवल

और एक उदाहरण—

रेंक-रेंक-रेंक करें /
क्या करें /
राम राम राम मरा /
मरा करें / या मारें / एक—एक को तकके /
क्या करें !"

—श्रीराम वर्मा

स्थिति का यह आलेख एक विकल्पात्मक मन का उद्गार मात्र नहीं है। इसके पीछे अनुभव का एक तीखापन भी है और परिस्थिति का बौद्धिक आकलन भी। यह अनुभव नाटकीय भी है और अन्तरंग वेग के कारण सघन भी। उदाहरण और भी इकट्ठे किए जा सकते हैं।

युवा कवि के आत्मविरोध को समझने के लिए उस मनोभूमि को पहचानना होगा जिसे मैंने अँधेरे से साक्षात्कार कहा है। आज की कविता के भीतर जो अन्तराल हैं वे इसी मनोभूमि के भीतर से झांकते हैं। विरोध का यह संसार कितना क्रियात्मक है और कितना भावनात्मक इसकी परीक्षा स्वयं कविताओं से की जा सकती है। किसी के फ़तवे से यह संसार न तो ग़लत हो जाता है और न सही। विरोध की इस समकालीन वास्तविकता को रचनात्मक मनोभूमि या आधार बना कर ही हम उसकी परीक्षा करें तो अच्छा हो। कविता के भीतर अंतराल हर युग में रहते हैं और रहेंगे। मगर अपने निकटतम रचनात्मक परिवेश में हमें यह अन्तराल अधिक चौड़ा दिखलाई पड़ता है। यह अन्तराल समकालीन कविता में क्यों पैदा हो गया ? इस प्रश्न को एक सनातन स्थिति या स्वाभाविक रचनात्मक परिस्थिति मानकर टाला नहीं जा सकता। जगत्-व्यापार और भाव-स्थितियों के तनाव की यह परिस्थिति एक पीढ़ी के रचनात्मक महत्त्व को स्थापित करती है। यों तो यह दूरी एक हद तक कविता के इतिहास में हर युग और हर स्तर पर देखी जा सकती है। जैसे तुलसी के मानस और विनयपत्रिका के पदों में यह दूरी है। कबीर के पदों और शबद रमैनी में भी यह दूरी है। रीतिकाल के कवियों में यह दूरी 'हरि सुमिरन' का बहाना है और भारतेन्दु की कविता में यह दूरी एक ऐतिहासिक चेतना के अन्तर्विरोधों को मूर्त्त करती है। छायावादी कवि इस अन्तराल को एक औपचारिक दर्शन से पाटना चाहता है। प्रगतिवादी कविता में इस अन्तराल का आभास शमशेर और मुक्तिबोध की काव्य-चेतना में मिलता है। नई कविता में जरूर एक कृत्रिम पुल बनाने की चेष्टा की गई है, मगर उस पुल पर कोई चला हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

समकालीन कवि कविता के भीतर की इन खाइयों को पूरी ईमानदारी से स्वीकार करता है। यह खाई कवि के अनुभव और काव्यादर्शों के बीच की खाई है, साथ ही यह अनुभव के भीतर भी कहीं गहराई में झाँकती मालूम पड़ती है। श्रीकान्त वर्मा हों या केदारनाथ सिंह, विष्णुचन्द्र शर्मा हों या मुद्राराक्षस, कमलेश हों या धूमिल, ऋतुराज हों या मणिमधुर, इन सबमें यह अन्तराल किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। इसीलिए धूमिल की समस्या यह है कि उनकी फैक्टरी के सहकारी उनकी कविता नहीं समझते, और कमलेश की समस्या यह है कि वे झूठे आक्रोश की मुद्रा अपनी कविता में नहीं टाँक सकते।

रघुवीर सहाय ने ज़रूर इस खाई को पार करने के लिए एक लम्बी छलांग लगाई है। सम्भावना और साहसिकता के काव्य-संदर्भ एक नहीं होते। अवश्य 'आत्महत्या के विरुद्ध' में

कवि ने एक साहसिक छलाँग लगाई है। मगर यह भी संभव है कि अगले संग्रह में यह छलाँग एक असंगत स्थिति की साक्ष्य हो जाए। दोनों ही स्थितियों में यह एक दुःखद परिणाम होगा। इस संग्रह के बाद की कविताओं से ऐसा नहीं लगता कि कवि अपनी इस तेज़ गति की रक्षा कर पा रहा है। बाद की कविताओं में एक अनावश्यक ठहराव भर है। बल्कि इन कविताओं में लटके का ज़ोर और बढ़ गया है, परिदृश्य सँकरा होने लगा है और **सामान्य व्यापार-विरोधों को ही कवि ने अनावश्यक रूप से 'तेज़' करने की चेष्टा की है।** स्फीत नाटकीयता भावस्थिति को निरूपित ही करती चली गयी है। इसी तरह मणि मधुकर की लम्बी कविता 'खंड-खंड पाखंड पर्व' में एक कूलक्षयी वेग है जो अपने ही किनारों को काटता चलता है। कवि-कल्पना का गुण उसका नियंत्रित होना है। कल्पना अनियंत्रित होकर कविता के प्रकृत और संभावनामूलक प्रवाह को ही नष्ट कर देती है। परिदृश्य को तोड़ते चलना, व्यर्थ संगतियों (असंगों) से भरते चलना रचनात्मक कल्पना का अपव्यय है। यही कारण है कि अपने खंडों में संश्लिष्ट होकर भी यह लंबी कविता पूरे प्रभाव की ज़मीन पर बिखरी हुई मालूम पड़ती है। एक रिक्तता का तनावपूर्ण वातावरण ज़रूर इस कविता को महत्त्वपूर्ण बनाता है। कमलेश की कविता 'जरत्कारु' अधिकांश एकालापी नाटकीय कविताओं से भिन्न है। वहाँ ज़रूर कवि-कल्पना भावात्मक विरोधों के लिए नियंत्रण का काम करती है। अपने नाटकीय-विधान के बावजूद श्रीराम वर्मा की लंबी कविता इस अन्तराल को पाटने के लिए कवि के आत्म-संघर्ष की तत्परता सूचित करती है।

समकालीन कविता के भीतर इन अन्तरालों का रह जाना एक रचनात्मक अनिवार्यता है। संपूर्ण भावनात्मक संश्लिष्टता जिस श्रेण्य साहित्य की उपलब्धि है, उसकी संभावनाएँ हमारी पीढ़ी अभी निर्मित कर रही है। वर्तमान स्थिति में द्वन्द्व और तनाव के साथ दूरियों का रह जाना स्वाभाविक है। कोई ईमानदार कवि इन दूरियों (अन्तरालों) से अपनी रक्षा कर ले, ऐसा संभव नहीं मालूम पड़ता। अज्ञेय अगर इस दृष्टि से आत्मपूर्ण मालूम पड़ते हैं तो इसका कारण यही है **कि वे इतिहास के बाहर एक संतुलन बना रहे हैं।**

समय के स्पर्श की छवियाँ जहाँ-जहाँ भी मिलेंगी, वहाँ-वहाँ यह आत्मविभाजन दीख जाएगा। चूँकि यह काव्यात्मक आत्मविभाजन समय और परिवेश से कवि के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का परिणाम है, इसलिए कोई स्वप्नजीवी ही अपने को इस विरोध से बचा ले जा सकता है। मगर जहाँ यह अन्तराल कवि की संवेदना से होकर काव्य के 'रूप' को प्रभावित करने लगता है, वहाँ ज़रूर यह कवि की रचनात्मक अशक्यता का प्रमाण बन जाता है। 'मुक्ति-प्रसंग' में यही रचनात्मक अशक्यता है और 'आत्महत्या के विरुद्ध' में उस लम्बी छलाँग के बावजूद यह रचनात्मक अशक्यता अन्तर्ध्वनित होती रह जाती है। यह स्थिति निश्चित रूप से कविता को कमज़ोर करती है और सर्जनात्मक बाधा के रूप में हमारे लिए विचारणीय बन जाती है। क्या कविता को भाषा के कोलाहलपूर्ण चमत्कार में बदलकर कोई कवि अपनी आत्मसंकुलता के इस भीतरी विरोध को बचा ले जा सकता है? क्या कविता के लिए यह 'मारक स्वर' इतना अनिवार्य है? इस मारक भाषा के ढाँचे पर भी थोड़ा विचार कर लेना यहाँ ज़रूरी है। कहीं-कहीं कवि भाषा को शब्द की इकाइयों में तोड़कर संकेतिकता या विवरण की सादगी पैदा करने की धुन में एक काव्यात्मक रैकेट तैयार करता है। काव्य-भाषा का यह 'बाज़ारूपन' अगर कुछ सचेत कवियों को असह्य लगता है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है! भाषा के इस दुरुपयोग से हम क्या कोई सीख ले रहे हैं या हम इस स्थिति को और गहरा बनाने की चुप्पी बरत रहे हैं? यह ठीक है कि शक्तिहीन मिथकों, प्रतीकों और बिम्बों के भार से मुक्त होकर हम सपाट गद्य-भाषा में कविता रच लेते हैं, मगर भाषा का यह नंगापन क्या काव्यभाषा की अक्षमता को ही सूचित नहीं करता? भाषा में आभिजात्य न हो, मगर काव्य का 'गस्टो' तो होना ही चाहिए। कुछ कवियों ने, खुशी है, इस ओर ध्यान दिया है। सर्वश्री विष्णुचन्द्र शर्मा, कमलेश, ऋतुराज और शिवकुटीलाल वर्मा की भाषा मुझे इस दृष्टि से ज़्यादा साफ़ और प्रभावशाली मालूम पड़ती है।

अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा ठीक वही नहीं हो सकती जो छायावादी काव्य की थी या फिर नई कविता के भाववादी आत्मान्वेषण के समय में विकसित हुई। इन अलग-अलग उत्थानों में भाषा अवाचक स्थितियों में बँधी, मूड्स का शिकार हुई या अनावश्यक नाटकीयता के कारण अपनी निजता खो बैठी। उसका आवेशात्मक ढाँचा महज़ एक रेह्‌टारिकल उपचार भर था। आज भी भाषा पत्रकारिकता

के उत्तेजक विवरणों से दूषित हो रही है। आज के एकालापी नाटकीय ढाँचे में तथ्य-सूचना चाहे जितनी हो मगर अंतरंग स्थितियों के अनुकूल वह नहीं है। इन एकालापों में जीवन्त वातावरण की भाषा का प्रयोग श्रीराम वर्मा, धूमिल और मणिमधुकर ज़रूर कर लेते हैं, मगर इन्हीं एकालापों में अधिकांश युवा कवि अपनी भावात्मक दरिद्रता का इज़हार भी कर रहे हैं। आरोह-अवरोह की सहज लय इन कविताओं की भाषा में नहीं है। नाटकीय संवादों की यह भाषा काव्य के बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। फिर भाषा की नाटकीयता मुक्तिबोध की कविताओं में भी तो है। अँधेरे से साक्षात्कार की भाषा का आदर्श श्मशानी पीढ़ी के कवि नहीं हो सकते। अप्रासंगिक और चामत्कारिक सूचनाओं की भाषा को जो लोग नाटकीय मान रहे हैं उन्हें क्या कहा जाय! भाषा का काव्यात्मक और आत्मीय रूप अभी स्थिर होना है।

अँधेरे से इस साक्षात्कार का परिणाम यह हुआ कि कवि ने स्वप्न देखना बन्द कर दिया है। उसकी समस्या अँधेरे में स्वप्न देखने की नहीं है, आँख खोलकर पूरी तत्परता से इस अँधेरे को काव्य में, रचना में झेलने की है। अपनी इस समस्या को वह समझता है और उसके प्रति सचेत है। अप आंतरिक कोलाहलपूर्णता के बावजूद समकालीन कवि केवल 'नैराश्य और संशय' की कविता नहीं है। वह निरा और संशय से हमारी व्यापक लड़ाई को व्यंजित करने वा है। समकालीन कविता का यही रचनात्मक संदर्भ है। ठीक है कि उसकी बनावट अन्तर्विरोधों से जुड़ी है, म अपनी इस बनावट में वह आज की गहरी मानवीय यातनाओं से भी जुड़ती है। एक कवि के शब्दों में कहना चाहूँगा—

कुछ दिन और अभी यही लगेगा/
रातों-रात बदल गए संबंधों से—
कल का सूर्य विकृत नहीं उगेगा/
कुछ भी नहीं होगा लांछित
सिर्फ
एक लावा / जो कुर्सियों के आसपास
फूटेगा /
नक्शा बदलने के लिए काफ़ी है।

—'इस व्यवस्था

●

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा

मलयज

'आरम्भ' (जुलाई १९६८) में मैंने एक लेख लिखा था—'खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता', जिसमें श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संग्रह 'माया दर्पण' के बहाने समकालीन सर्जन-प्रक्रिया के कुछ पहलुओं का विश्लेषण किया गया था। उसमें श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा के सन्दर्भ में एक जगह 'इंटिग्रिटी' शब्द का मैंने इस्तेमाल किया था—कि श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा में कहीं फाँक है, उसमें अक्सर 'इंटिग्रिटी' नहीं रह जाती। 'इंटिग्रिटी' शब्द के अर्थ-सन्दर्भ की व्याख्या श्रीकांत वर्मा की काव्य-प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में मैंने की थी, पर अब लगता है कि वहाँ जो बात सिर्फ़ संकेतों में उठाकर छोड़ दी गई थी उस पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है।

अन्तर्निष्ठा ('इंटिग्रिटी') एक अर्थगर्भ शब्द है। इसमें यदि एक ओर नैतिक मूल्य-बोध की पहचान ध्वनित होती है तो दूसरी ओर यह शब्द मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्तित्व के भावनात्मक एवं बौद्धिक संवेगों की जटिल बनावट तथा इनके सन्तुलन को व्यक्त करने वाले अर्थ की भी छाप लिये हुए है। साहित्य अथवा कला की मीमांसा में जहाँ हमने और-और अनुशासनों के प्रत्यय लिये हैं वहीं नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान क्षेत्र से भी लिये हैं। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि साहित्य और कला भी अन्य शास्त्रों-अनुशासनों की तरह एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के ही अंग हैं। यह अवश्य है कि एक अनुशासन का प्रत्यय दूसरे अनुशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने पर अपने मूल अर्थ की सम्पूर्णतः रक्षा नहीं कर पाता, उस पर से अर्थ की कुछ परतें उतर जाती हैं और कुछ नई परतें चढ़ जाती हैं। 'अन्तर्निष्ठा' शब्द नैतिक अर्थ-संदर्भ में एक 'निर्णय' (जजमेंट) को सूचित करता है और मनोविज्ञान के अर्थ-संदर्भ में एक 'स्थिति' को। सर्जनात्मक साहित्य की विवेचना में अन्तर्निष्ठा का प्रत्यय इन दोनों ही अर्थच्छवियों को समेटकर चलता है। यहाँ अन्तर्निष्ठा के दोनों ही अर्थों को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति या कला पर लागू कर देखने पर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। कला की नैतिकता क्या है? सबसे पहली और सबसे आखिरी यह कि वह अपने अनुशासन पर दूसरा कोई अनुशासन हावी न होने दे। कला की उत्स-संवेदना और उसकी चरम अभिव्यक्ति के बीच अक्सर जो एक बीहड़ अन्तराल पाया जाता है उसके किसी भी बिन्दु या स्तर पर वह अपने प्रति सच्ची बनी रहे—जैसे घटाटोप अँधेरे में रोशनी की एक लौ पर टिकी अनझिप आँख होती है। इसे दूसरी तरह से कहें तो यह कि सर्जनात्मक तनाव बराबर बना रहे, क्योंकि सतत तनाव की स्थिति में ही आधुनिक कला अपने प्रति सच्ची बनी रह सकती है। और यह तनाव भी कैसा जो चरम अभिव्यक्ति के क्षण में ही कला-संवेदना को प्राग्-अभिव्यक्ति की आदिम स्थिति की ओर मोड़ दे। चाहें तो इसे तनाव की गतिशीलता कह सकते हैं, जो अन्तर्निष्ठा को उसके निर्णयात्मक मूल्य-बोधक अर्थ-संदर्भ से उठाकर सर्जनात्मकता के सतत गतिशील सन्तुलन-क्षेत्र में ला खड़ा करता है जहाँ उसका अर्थ कला-संवेदना की प्रकृति और आकृति का माप बताना मात्र न होकर उसमें हिस्सा लेना और उनके विभिन्न संघटनों-समवायों को सक्रिय प्रभावित करना भी हो जाता है। अर्थात् सर्जनात्मक प्रेरणा में अन्तर्निष्ठा एक 'निर्णय' भी है और एक 'स्थिति' भी। बल्कि यह कहना शायद ज्यादा संगत होगा कि सर्जनात्मक प्रेरणा में 'निर्णय' ही 'स्थिति' है, क्योंकि यह 'स्थिति' एक सतत गतिशीलता की स्थिति है और 'निर्णय' इस गतिशीलता को बरकरार रखने की भूमिका अदा करता है, क्योंकि वह सर्जनात्मकता की केन्द्रवर्ती धारा से तट की ओर बह आए कला-

संवेदन की उपलब्धि को पुनः केन्द्रवर्ती धारा की अर्थपूर्ण अराजकता की ओर ढकेलने का कार्य-सम्पादन करता है। जैसे कि शब्द कला-संवेदना पर एक 'निर्णय' है, क्योंकि वह कला-संवेदना को परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध करके उसे एक अर्थवान संदर्भ प्रदान करता है। पर शब्द एक 'स्थिति' भी है, क्योंकि रचना में वह एक ऐसा पारदर्शी तत्त्व है जो अग्रिम संवेदना के आयाम में उस परिभाषित, व्याख्यायित, रेखांकित या सीमाबद्ध अर्थ को गतिशील, अतः अराजक और संभावनापूर्ण बनाता है।

इस तरह कुल मिलाकर अन्तर्निष्ठा रचनाकार-व्यक्तित्व की संघटना-विशेष को ही व्यक्त करती है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का अर्थ अपेक्षाकृत अधिक जटिल और संश्लिष्ट हो जाता है। हम यह स्वीकार करके चलते हैं कि ऊपर हमने अन्तर्निष्ठा को जिस रूप में परिकल्पित किया है वह आधुनिक सर्जनशीलता के संदर्भ में उठे प्रश्नों को समझने तथा विश्लेषित करने में ही अधिक संगत एवं अर्थपूर्ण ठहरता है। अतः अन्तर्निष्ठा के इस विशेष अर्थ-बिन्दु से चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम यह कह सकते हैं कि रचनाकार-व्यक्तित्व की अन्तर्निष्ठा का यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्तित्व कला-सृजन के उपजीव्य भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण तथा सर्जित करता है, बल्कि यह है कि वह व्यक्तित्व सर्जनात्मक तनाव को सतत एक प्रतिक्षण विस्फोट होते रहने वाले प्रवाह के रूप में अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। यह सही है कि सर्जनात्मक तनाव का प्रत्यय सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी बहस के दौरान पिछले कुछ सालों से ही हिन्दी में प्रयुक्त होने लगा है, पर किसी भी युग के सार्थक रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण में सामान्य अर्थ में तो उसका प्रयोग किया ही जा सकता है। यहाँ वस्तुस्थिति का अन्तर 'सर्जनात्मक तनाव' शब्द के पहले प्रयुक्त न होने और अब होने लगने में उतना नहीं जितना कि सर्जनात्मक तनाव की प्रकृति में अन्तर आ जाने में है। इस अन्तर को नाट्य-रचना के एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। नाट्य-रचना का उदाहरण केवल इसलिए कि इसमें अन्य रचना-प्रकारों की बनिस्बत 'तनाव' अधिक मुखर रूप से निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है। प्राचीन नाट्य-रचनाओं में तनावपूर्ण गंभीर आशय वाले दृश्यों के बीच-बीच में अक्सर हल्के-फुल्के भिन्न स्तर के दृश्य होते थे जिन्हें 'कॉमिक रिलीफ़' के नाम से जाना जाता है। शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' में दो तनावपूर्ण दृश्यों के बीच 'पोर्टर नाकिंग सीन' या 'किंग लियर' के बीच-बीच में विदूषक वाले दृश्य इसी प्रकार के 'कॉमिक रिलीफ़' के दृश्य हैं। दो तनावपूर्ण स्थितियों के बीच का यह अन्तराल नाट्य-रचना के स्थूल आकार (और भावक पर पड़नेवाले उसके प्रभाव) में ही नहीं घटित होता, वरन् रचनाकार-व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता के स्तर पर भी घटित होता है। निश्चय ही सर्जनात्मकता के संपूर्ण 'स्वर' (टोन) में इससे कोई विसंवादी स्वर नहीं उत्पन्न होता, पर यह अन्तराल सर्जनात्मक तनाव की गतिशीलता के एक प्रकार के पठार को व्यक्त करता है। यह दूसरी बात है कि यह सब सप्रयोजन होता है, और प्रयोजन यह होता है कि यह अन्तराल रचना की मूल गंभीर एवं तनावपूर्ण भाव-विचार-संवेदना को और भी प्रबल और पुष्ट कर दे। यहाँ हमारा आशय केवल यह बताना है कि इस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव का प्रवाह अथवा संचरण-गति बहुत-कुछ विषय-वस्तु द्वारा उत्थान-पतन की दिशा में संचालित होती है; दूसरे शब्दों में यह कि उस सर्जनात्मक तनाव का स्रोत पूरी तरह रचनाकार के व्यक्तित्व के भीतर निहित नहीं होता, और यही कारण है कि वह उस तनाव को एक मूर्त, वस्तुपरक एवं व्यक्ति-निरपेक्ष रचना में संक्रमित कर सकता है, क्योंकि वह उस तनाव को नियंत्रित कर सकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की सर्जनात्मकता में रचनाकार भाव-विचार-संवेदन की स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करता है, इसी से उसके सर्जनात्मक तनाव का समाहार एक परिपूर्णता तथा समग्रता के प्रभाव में होता है। त्रासदी में यह परिपूर्णता करुणा अथवा निर्वेद के रूप में और सुखान्त में आह्लाद के रूप में होती है। प्रभाव के इस स्तर पर सर्जनात्मक प्रक्रिया अपनी यात्रा समाप्त कर एक गंतव्य तक पहुँची हुई होती है। भावक को वह अगली किसी संभावित यात्रा का संकेत देकर नहीं छोड़ती। हाँ, भावक चाहे तो यह एक बार तय की हुई यात्रा दुबारा अंत से आरम्भ की ओर फिर से शुरू कर सकता है। ऐसे में यह रचना-कृति की शक्ति और रचनाकार की प्रतिभा की महानता मानी जाएगी कि भावक यह यात्रा दुबारा करने को प्रेरित और बाध्य हो जाता है। इस 'उल्टी' यात्रा में अर्थ की प्रतीति और संवेदनाओं के प्रभाव-चिह्न और भी गहरे होते जाते हैं, कलाकृति का मर्म और भी सुहृद

विशद और गंभीर होता जाता है। एक अर्थ में भावक की कलाकृति की 'समझ' भी अधिक पैनी और गहरी होती जाती है। पर अन्ततः यह यात्रा एक पिछली तय की हुई यात्रा ही है। इसे चाहे जितनी बार दुहराओ उससे अनुभूति में कोई मूलभूत गुणात्मक परिवर्तन नहीं आयेगा, गहरा और क्लासिक-क्रिस्टल चाहे भले हो ले। सर्जनात्मक प्रश्नशीलता के जिस दौर से एक बार आप रचना में यात्रा करके गुज़र चुके हैं वह आपको बार-बार मथ सकती है केवल इसलिए कि आपके भाव-संवेदन अधिक पककर, अधिक तपकर एक परिपुष्ट धरातल तक पहुँच सकें; उस सर्जनात्मक प्रश्नशीलता में नया-नया विस्फोट नहीं होता रहेगा जो आपके भावसंवेदन को एक हमेशा आन्दोलित रहने की स्थिति में बनाये रख सके, कि आपको लगे कि यात्रा के दौरान आप प्रश्नशीलता के एक गह्वर से निकल कर दूसरे गह्वर में प्रवेश कर रहे हैं।

यह सतत आन्दोलित रख सकने की स्थिति जिस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव की अपेक्षा रखती है वह पहले प्रकार के सर्जनात्मक तनाव से भिन्न है। इलियट के 'मर्डर इन द कैथीड्रल' में की गई यात्रा का कोई अंत नहीं है। 'वेस्ट लैंड' (जो अपनी भाव-विचार-संवेदना में किसी भी त्रासदी की परिकल्पना का सारा विस्तार और संगठन लिए हुए है) का भी कोई अंत नहीं है—अंतिम प्रकरण के शान्ति-पाठ के बावजूद। इन कृतियों में सर्जनात्मकता के संचरण की गति एक सीधी रेखा के समान नहीं है जिसमें कि हर चरण प्रभाव को महज़ गहरा और पुष्ट करता जाता हो, वरन् चक्राकार है—उसकी छोटी-छोटी सर्किटें हैं जो टूट-टूटकर बनती हैं, बन-बनकर टूटती हैं—'इन माई बिगनिंग इज़ माई एंड', —यात्रा किसी भी सामंजस्य के धरातल पर समाप्त नहीं होती, बल्कि हमें आगे किसी अलक्ष्य अर्थ-संसार के अंधकार में छोड़ देती है।

सर्जनात्मक तनाव के इन दोनों प्रकारों को हिन्दी की कुछ विशिष्ट काव्य-कृतियों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है जो हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ अन्तर्निष्ठा और सर्जनात्मक तनाव के सम्बन्ध को कुछ और पहलुओं से भी देख लेना समीचीन होगा। यदि हम यह कहें कि जिस प्रकार की सर्जनात्मकता भाव-स्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में ग्रहण करती है उसमें भी अन्तर्निष्ठा हो सकती है, तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि रचनाकार का तनाव उसके नियंत्रण में है, उसकी भाव-संवेदनाओं को उसकी वस्तुपरक परिकल्पनाओं (जो 'मूल्य' सम्बन्धी भी हो सकती हैं और 'दृष्टि' सम्बन्धी भी) तथा रचना-विधागत संरचनात्मक अवधारणाओं का एक मूर्त। अमूर्त बाह्य ढाँचा (सुपरस्ट्रक्चर) घेरे हुए है और दोनों के बीच एक 'आकुल समानान्तरता' है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि उस सर्जनात्मक तनाव का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि भाव-संवेदनाओं और उस बाह्य ढाँचे में कोई परस्पर काट का द्वन्द्व अथवा अन्तःसंघर्ष है, बल्कि यह तनाव सिर्फ़ इसलिए है कि भाव-संवेदनाएँ उस बाह्य ढाँचे से **सामंजस्य** स्थापित करने को व्याकुल होती हैं—जैसे पानी अपने धरातल तक पहुँचने को व्याकुल होता है। यहाँ रचना में अन्तर्निष्ठा का मापदंड यह है कि वह व्याकुलता परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाप्त न हो, रचनाकार अपनी इस व्याकुलता से चाहे जितना 'खेले', चाहे कला-रूपों एवं शिल्प-प्रयोगों के कितने ही 'करतब' दिखाए, अंतिम प्रभाव-सृष्टि के लिए कितनी ही ऊँचाइयों और नीचाइयों में उसे पटके पर उस व्याकुलता को अपने हाथ से जाने न दे, उसकी आग में अपनी भावनाओं-कल्पनाओं की आहुति निरन्तर देता रहे, यानी उस व्याकुलता के सर्जनात्मक तनाव को हमेशा अपने वश में रखे। जहाँ ऐसा नहीं होता—जहाँ वह तनाव रचनाकार के वश में नहीं रह सकता—वहाँ सर्जनात्मकता के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है। इस प्रकार की सर्जनात्मकता में तनाव को वश में रख सकने में रचनाकार प्रायः अमूर्तन का सहारा लेता है—वह जीवनानुभवों को प्रत्यक्ष साक्षात्कार के स्तर पर नहीं झेलता / निबटता, बल्कि उन्हें हमेशा एक ऐसे दृष्टि-फ़्रेम के भीतर से ग्रहण करता है जिसके निर्माण में कभी उसकी 'मूल्य' सम्बन्धी मूर्त / अमूर्त धारणा काम कर रही होती है तो कभी 'मानव-आदर्शवाद' का उदात्त पक्ष। इसका यह मतलब नहीं है कि 'मूल्य' और 'आदर्शवाद' को वह अपनी जीवनानुभूतियों पर आरोपित करता है, बल्कि यह कि इनके माध्यम से ही—इनकी प्रक्रिया में से गुज़रते हुए ही—वह जीवनानुभवों को ग्रहण करता है। प्रयोगवाद—नयी कविता के दौर में 'सौंदर्यात्मक दूरी' की चर्चा अक्सर बलपूर्वक की जाती थी जो प्रकारान्तर से उस तनाव को वश में रख सकने की ही बात है। जो इस तनाव को वश में रख सकता था वह समर्थ-सफल रचनाकार होता था, जो नहीं रख पाता था वह सौन्दर्यच्युत असफल

असमर्थ। अज्ञेय द्वारा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रतिपादित 'तथ्य' और 'सत्य' के अन्तर को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जीवन के तीखे यथार्थ-अनुभव को झेलने में भी एक निर्वैयक्तिक कलाभिरुचि का परिचय देना होता था, रूपाकार से ही काव्य की आत्मा की महत्ता आँकी जाती थी, भाषा को संस्कार की आँच में तपना होता था, विह्वलता में भी छन्द और आवेश में भी लय का होना गुण था, बिखराव की अपेक्षा कसाव और चाहे एक बार लक्ष्य साफ़ न भी हो फिर भी भाव-सत्य की सफाई पर बल देना रचनाकार की शक्ति और सामर्थ्य के परख की कसौटी थी।

तनाव को वश में रख सकने और वश में न रख सकने की स्थिति के संदर्भ में नयी कविता-काल के दो कवियों—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा—की तुलना यहाँ प्रासंगिक और रोचक सिद्ध होगी। दोनों ही निम्नमध्य-वर्ग के घर-गृहस्थी, बीवी-बच्चे, चूल्हा-चक्की और टिकुली-बेंदी वाले कवि हैं, दोनों ही अपने 'दर्द' की अभिव्यक्ति के लिए दूर की कौड़ी नहीं लाते, बल्कि मानव-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों, स्थितियों-संदर्भों को चुनते हैं, यथार्थ के प्रति दोनों ही तीव्र भावानुभूति के स्तर पर प्रतिक्रिया करते हैं, दोंनों की भाषा भी जनजीवन की बोलचाल की भाषा के निकट है। पर सर्वेश्वर कगार के अन्तिम बिन्दु तक जाकर भी लौट आने की होशियारी से वाकिफ़ हैं, जबकि लक्ष्मीकान्त अक्सर बेखबरी में खाई में ही जा गिरते हैं। एक तनाव को आवश्यक 'छूट' देते हुए भी उसे वश में रख सकता है, जबकि दूसरा प्रायः उसका अन्त तक निर्वाह नहीं कर पाता—उसका तनाव या तो आवेश में बदल जाता है या फिर तनावरहित सपाटपन में। सर्वेश्वर के पास जो दृष्टि-फ्रेम है वह इतना सूक्ष्म और तरल है कि अक्सर वह दृष्टि-फ्रेम रह ही नहीं जाता (फलस्वरूप वे वहाँ-वहाँ शुद्ध भावुकता के कवि नज़र आने लगते हैं), अतः उसके प्रति निष्ठा कायम रखने के प्रश्न से वे विचलित नहीं होते; लक्ष्मीकान्त के पास जो दृष्टि-फ्रेम है वह उन्हें हमेशा ललकारता रहता है और गिरते-पड़ते भी वे उसको आँख की ओट नहीं कर पाते। सर्वेश्वर तनाव को अपने भाव-यंत्र से एक खास दूरी पर बनाये रखने में इतने माहिर हो गये हैं कि वे ऐसी सजी-सँवरी मार्मिक कविताएँ निरन्तर लिखते चले जा सकते हैं जो जोखिमपूर्ण मानव-अस्तित्व की किसी बुनियादी अराजकता को न उकेरें; जबकि लक्ष्मीकान्त की ट्रैजेडी यह है कि वे बार-बार उस बुनियादी अराजकता से टकराते हैं, पर जब उसे व्यक्त करते हैं तो 'नितान्त समसामयिक' लगने लगते हैं। तनाव को वश में रख सकने के कारण सर्वेश्वर में जो सौंदर्यात्मक रुझान लोक-संपृक्ति के अनगढ़ खुरदरे अंशों की मिलावट से शुरू में गड्ड-मड्डु था वह क्रमशः साफ़, संयत और 'तुकान्त' होता गया, जबकि तनाव को सर्वत्र काबू में न रख पाने (कभी-कभी इसकी चेष्टा-मात्र से विद्रोह कर उठने) के कारण लक्ष्मीकान्त का सौंदर्यात्मक रुझान कभी भी उनकी यथार्थ-संवेदना के साथ एकाकार नहीं हो सका और हमेशा 'अतुकान्त' ही रहा। किन्तु अब सर्वेश्वर का तनाव को वश में रख सकना और लक्ष्मीकान्त का तनाव को पूरी तरह वश में न रख सकना दोनों ही एक मुद्रा बन गये हैं।

जिसे मैं दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता कहता हूँ उसमें तनाव और अन्तर्निष्ठा के रिश्ते कहीं ज्यादा खतरनाक, क्योंकि पहले प्रकार की सर्जनात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होते हैं। उसकी जटिलता का रूप कुछ इस तरह है कि तनाव की सर्जनात्मक प्रक्रिया में अपने भावयंत्र से सब-कुछ ग्रहण करते हुए मैं एक शब्द लिख दूँ और उस स्थिति का सारा दबाव झेलते हुए काफी देर बाद और कुछ न लिख-कर सिर्फ उस शब्द को काट दूँ तो लगे कि मैंने सचमुच कोई नया शब्द लिखा है। दो शब्दों के बीच वह कटा हुआ शब्द दरअसल एक 'अन्तराल' है जो रचनाकार की अन्तर्निष्ठा की कसौटी बनती है, क्योंकि वह अन्तराल न-कुछ नहीं है, न ही एक सादा फलक है जिसकी पृष्ठभूमि में कुछ विदूषक चेहरे अपनी रंगबिरंगी कलाबाजियाँ दिखा जाएँ। वह अन्तराल एक अग्रिम लम्बी छलांग के लिए ठिठकी हुई कसी हुई सर्जनात्मक मुद्रा है। इसमें रचनाकार की क्षमता उस अन्तराल की अर्थगर्भिता को पहचानने और प्रक्षेपित करने में है और उसकी अन्तर्निष्ठा उस अन्तराल को सपाट न हो जाने देने में। सर्जनात्मक तनाव के प्रवाह में इस प्रकार का प्रत्येक अन्तराल नये-नये अर्थ-विस्फोटकों के लिए अवसर प्रदान करता है। इसके साथ ही यदि उस अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य न हुई तो यह एक खतरनाक कगार भी साबित हो सकता है। काव्य-रचना का उदाहरण लें तो नया अर्थ-विस्फोट करने के अवसर का उपयोग कर पाने की सामर्थ्य न होने पर उस 'अन्तराल' में भाषा निश्चित अर्थ देने लगती है

वह ठोस 'स्फटिक' (क्रिस्टल) हो जाता है, उसका वह लचीलापन समाप्त हो जाता है जो उस अन्तराल के आर-पार सर्जनात्मक तनाव के एक छोर को दूसरे छोर से जोड़ता है। भाषा के संदर्भ में जिसे हम 'अभिधा' या 'सपाटपन' कहते हैं उसका यही अर्थ है। आशा है प्रस्तुत प्रसंग में अलंकरणमुक्त सपाट भाषा और भाषा के सपाटपन का जो अन्तर है वह यहाँ स्पष्ट होगा।

तनावगत अन्तराल को सपाट न होने देकर अन्तर्निष्ठा की रक्षा करने के पीछे एक और आधार है जिससे स्थिति की जटिलता पर प्रकाश पड़ता है। पहले प्रकार की सर्जनात्मकता में शब्द को अर्थ से जोड़ने की चेष्टा होती है, यह मान लिया जाता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई दीवार है जिसे विस्फोटक से उड़ा देने की ज़रूरत है, शब्द में नये अर्थ भरने का प्रयत्न होता है या फिर पुराने शब्दों से नये अर्थ का आविष्कार किया जाता है। एक तरह से यह भाषा के अर्थ-विस्तार की ही प्रक्रिया है। किन्तु दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता में अर्थ को शब्द से 'जोड़ा' नहीं अर्थ को शब्द से 'मुक्त' किया जाता है, क्योंकि इसमें भाषा जिह्वा पर नहीं दाँतों के बीच की जगहों से सटी हुई होती है। यह भाषा के अन्तःस्फोट की क्रिया है। शब्द से अर्थ के मुक्त होने की क्रिया में भाषा की प्रचलित दो इकाइयों के बजाय भाषा की तीन इकाइयाँ बनती हैं: शब्द और अर्थ के साथ दोनों के बीच का अन्तराल तीसरी इकाई होता है, और भाषा वस्तुतः शब्द और अर्थ के सह-सम्बन्ध से नहीं बल्कि इन तीनों के सह-सम्बन्ध से बनती है। शब्द और अर्थ की दो इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ के बीच या तो दीवार होती है जो दोनों को अलग रखती है, या फिर वह दीवार नहीं होती। रचनाकार की चेष्टा यही रहती है कि वह दीवार यदि है तो न रहे—शब्द और अर्थ जो अलग-अलग हो गये हैं वे एक हो जाएँ। यह चेष्टा उसी तरह है जिस तरह उसका यह चाहना कि उसकी भाव-संवेदना और उसको घेरे हुए मूर्त / अमूर्त बाह्य ढाँचे की अनन्त समानान्तरता सामंजस्य में परिणत हो जाएँ: दोनों एक हो जाएँ। किन्तु तीन इकाइयों वाली भाषा में शब्द और अर्थ कभी भी एकाकार होकर सघन 'स्फटिक' (क्रिस्टल) नहीं बनते; दोनों के सम्बन्ध में हमेशा और अनिवार्यतः कुछ-न-कुछ 'छूट' जाता है। यही 'अन्तराल' है। यह अन्तराल आज के स्वचेतनता के युग में रचनाकार की अपने परिवेश के साथ संसक्ति (इवाल्वमेंट) ही है जो शब्द और अर्थ को अभिन्न रूप से एक नहीं होने देता। परिवेश के प्रति सजगता और उससे संसक्ति व्यक्ति को विकेन्द्रित करता है, और जिस हद तक यह संसक्ति तीव्र होगी विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भी उसी हद तक तीव्र होगी। और चूँकि व्यक्ति परिवेश के साथ अपने सम्बन्ध को भाषा के माध्यम से ही अनुभूत करता है इसलिए उसके विकेन्द्रीकरण के साथ भाषा भी विकेन्द्रित होती जाती है। व्यक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को 'निर्वासन' (एलिएनेशन) से 'आत्मनिर्वासन' (सेल्फ-एलिएनेशन) की ओर ले जाती है जिस पर आगे विचार किया जाएगा। यहाँ पहले भाषा के विकेन्द्रीकरण और रचनाकार की अन्तर्निष्ठा के सवाल को नज़दीक से देख लेना होगा।

भाषा के विकेन्द्रीकरण में पहली जानी-पहचानी स्थिति तो वह होती है जिसमें शब्दों का प्रचलित अर्थ नष्ट हो जाता है और उसके बजाय दूसरा अर्थ ध्वनित होने लगता है। कहा जा सकता है कि यह स्थिति भाषा के अर्थ-विस्तार और अर्थ-सम्पन्नता के लिए आवश्यक है। इसमें भाषा एक धुरी से हटने के बाद दूसरी नयी धुरी पर जा टिकती है। भाषा के विकेन्द्रीकरण का यह रूप सामान्यतः युग-बोध में प्रत्येक परिवर्तन के साथ घटित होता रहता है। लेकिन भाषा के विकेन्द्रीकरण की एक स्थिति यह भी हो सकती है जिसमें शब्द प्रति-शब्द बन जाते हैं और अर्थ प्रति-अर्थ। ऐसी भाषा में शब्द अर्थ द्वारा अपनी सत्ता को नहीं प्रकट करते—क्योंकि अर्थ वस्तुओं को ग्रहण करने की एक संघटित बोधात्मक इकाई है—, बल्कि संकेतों द्वारा प्रकट करते हैं। यह भाषा के आदिम रूप अथवा भाव-संवेदना की प्राग्-अभिव्यक्ति के अराजक रूप की ओर प्रत्यावर्तन है जिसकी ओर इस लेख के आरम्भ में इशारा किया गया था। भाषा का यह अराजक रूप यात्रा का आरम्भ भी हो सकता है और यात्रा का अन्त भी। आरम्भ की स्थिति रचनाकार की इस सामर्थ्य पर निर्भर करती है कि वह उन 'संकेतों' को इतना पारदर्शी बना दे कि उनकी अलग-अलग इकाइयाँ किसी नये सर्जनात्मक बोध के एक चित्र को पूरी करती-सी लगने लगें। और यात्रा का अन्त तनाव के अन्तिम बिन्दु के बाद पहुँचे तनावहीन ढलान पर ठहर जाने में है।

यह शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ तक जाने की स्थिति कुल मिलाकर एक दुविधापूर्ण संभावना की स्थिति है, जिसका सैमुअल बेकेट के उपन्यास अच्छा उदाहरण

प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्रायः इस संभावना के अन्वेषण की चेष्टा पर भाषा के विकेन्द्रीकरण से स्वतः चल पड़ी विघटन-प्रक्रिया का दबाव हावी हो जाता है, और फलस्वरूप रचना में शब्द प्रति-शब्द और अर्थ प्रति-अर्थ बनने की स्थिति का अतिक्रमण कर 'शब्दहीन' और 'अर्थहीन' बन जाते हैं। ऐसे में रचना की बुनियादी सर्जनात्मकता ही संदिग्ध लगने लगती है। इस प्रकार के रोचक उदाहरण देखने-सुनने में आये हैं जब पाठक को 'रचना' के नाम पर कोरे अनछपे पृष्ठ ही मिले हैं। अभी कुछ साल पहले साहित्य अकादमी लिटरेरी फ़ोरम नयी दिल्ली की एक गोष्ठी में स्वीडिश कवि गुन्नार रिद्स्ट्रोम ने एक कविता 'पढ़ी' थी जिसमें अर्धविरामों, पूर्ण विरामों, डैश, कोलन, प्रश्नवाचक-विस्मयबोधक चिन्ह्नों और कोष्ठकों के अलावा कुछ न था। चित्रकला में यदि रंग माध्यम को 'भाषा' का पर्याय मानें तो रंग के साथ-साथ रेत, लकड़ी, बुरादा, कील-काँटे, चमड़ा, टिन, चिथड़े आदि चीज़ों के प्रयोग की प्रवृत्ति को शब्द से प्रति-शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ की ओर जाने की रचनात्मक स्थिति का ही चिह्न मानना होगा। क ख ग-६ (जुलाई, १९६५) में प्रकाशित मुद्राराक्षस की 'एब्सर्ड' कविताएँ भी भाषा के इसी विकेन्द्रीकरण का नमूना हैं जिसमें शब्दों से बनने वाली अर्थ की संघटित बोधात्मक इकाई को अपर्याप्त या व्यर्थ मान लिया गया है। यह कुछ अजीब लग सकता है कि भाषा का पूर्ण विकेन्द्रीकरण जहाँ रचनाकार के अपने परिवेश के साथ संपूर्ण संसक्ति की उपज होता है वहीं वह इस बात का भी द्योतक होता है कि रचनाकार सर्जनात्मक तनाव से दूर से दूरतर जाना चाहता है। अतः विकेन्द्रित भाषा में रचना तनाव में नहीं, तनाव से मुक्त होने में होती है, और पूर्ण रूप से विकेन्द्रित भाषा तनावरहित भाषा होती है। परिवेश के प्रति संसक्ति, सर्जनात्मक तनाव और भाषा के विकेन्द्रीकरण के परस्पर सम्बन्ध को एक दिलचस्प वैज्ञानिक क्रिया द्वारा समझा जा सकता है। एक निश्चित एवं स्थिर तापमान पर जब पानी निरन्तर ठंडा होता चला जाता है तब एक बिन्दु ऐसा आता है जब वह बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ बनने के बिन्दु के पहले तक पानी 'सिकुड़ता' है, पर उस बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद एकदम से ठोस होकर 'फैल' जाता है। बर्फ़ बन जाने पर पानी का घनत्व कम और आयतन बढ़ा हुआ होता है, और हालाँकि उस अंतिम बिन्दु तक ठंडे हुए पानी का तापमान बाद में बन गये, बर्फ़ के तापमान के समान ही होता है, एक चीज़ और घटित होती है : बर्फ़ में परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया में पानी से उसमें निहित ऊष्मा, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में 'लेटेन्ट हीट' कहते हैं, बाहर निकल जाती है। इस उदाहरण को रूपक की शक्ल देते हुए सर्जनात्मक तनाव को तापमान तत्त्व मान लें और परिवेश के प्रति संसक्ति की स्थिति को तापमान-प्रभावित पानी, तो भाषा (अथवा रचनाकार-व्यक्तित्व) के विकेन्द्रीकरण को उस खतरनाक बिन्दु के इधर-उधर 'सिकुड़ने' और 'फैलने' की दो वैकल्पिक स्थितियों के अन्तर्गत रखकर सहज ही देखा जा सकता है। जाहिर है कि रचना के भीतर, चाहे भाव-विचार-संवेदन के स्तर पर या भाषा-संरचना के स्तर पर, सर्जनात्मक तत्त्वों का कोई भी नया सार्थक संघटन उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक ही, जबकि सर्जनात्मक तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति का क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' सर्वाधिक होता है, संभव हो सकता है। उस 'खतरनाक बिन्दु' को पार कर जाने पर सर्जनात्मक तत्त्वों का संघटन बिखर जाता है और पानी की 'लेटेन्ट हीट' की तरह रचना से 'तनाव' निकल जाता है और भाषा (तथा रचना भी) तनावरहित और सपाट हो जाती है। रचनाकार की अन्तर्निष्ठा यहाँ इस बात में है कि वह सर्जनात्मक तनाव तथा परिवेश के प्रति अपनी संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' को उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक शिद्दत से अपनी रचना के लिए महसूस करे। जिस प्रकार की सर्जनात्मकता में प्रेरणा का स्रोत रचनाकार के व्यक्तित्व में ही निहित हो—जहाँ उसे किसी बाह्य मूर्त या अमूर्त ढाँचे का सहारा भी न हो—वहाँ इस अन्तर्निष्ठा का निर्वाह रचनाकार के लिए एक अपरिहार्य **सर्जनात्मक मूल्य** का रूप धारण कर लेता है।

ऊपर के विवेचन में तनाव और परिवेश के प्रति संसक्ति के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' का पहलू थोड़े स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। परिवेश के प्रति संसक्ति का क्या अर्थ है और यह किस तरह रचनाकार-व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करता है? परिवेश की चेतना व्यक्ति को उसमें अपनी स्थिति के प्रति भी चेतन बनाती है। इस स्वचेतना के साथ उसके सामने जटिल एवं गहन अनुभवों का एक नया संसार ही खुलने लगता है। यह संसार आवश्यकतया व्यक्तिगत अनुभवों का संसार नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक और

'आध्यात्मिक' अनुभवों का एक संश्लिष्ट संसार होता है। व्यक्ति जितना परिवेश के प्रति संसक्त होता जाता है उतना ही इस जटिल संश्लिष्ट अनुभवों के संसार के प्रति भी होता जाता है। रचनाकार के लिए यह स्थिति ही तनाव का उत्स बनती है, और परिवेश के प्रति संसक्ति के साथ—और चेतना पर उस संसक्ति के कारण स्पष्ट से स्पष्टतर अंकित होते जाने वाले जटिल अनुभव-संसार के साथ—यह तनाव भी बढ़ता जाता है। व्यक्ति और परिवेश के इस दुहरे सम्बन्ध-बोध वाली सर्जनात्मकता की परिणति अनुभूति-सम्पन्नता या अनुभूति-समग्रता में नहीं होती (जोकि एक सामंजस्य पा लेने की स्थिति है), बल्कि उसकी परिणति उस दुहरे सम्बन्ध-बोध से उपजने वाले तनाव को बरकरार रखने में होती है। इस सर्जनात्मक तनाव के निरन्तर 'दबाव' में नये-नये अर्थों का अन्तःस्फोट ही वस्तुतः रचनाकार व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण है जिसमें प्रत्येक अन्तःस्फोट नये तनाव की ऊर्जा की सृष्टि करता है, और तनाव की यह ऊर्जा व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध को एक स्थिर सामंजस्यपूर्ण अर्थ-गरिमा की निष्पत्ति के केन्द्र से हटाकर एक सतत विकसनशील सम्बन्ध-बोध की संभावनापूर्ण जटिलता में डालती रहती है। यहाँ 'जटिलता' एक अर्थपूर्ण स्थिति का संकेत करता है—'जटिलता' एक ऐसा बैरोमीटर है जो एक ओर तो सर्जनात्मक तनाव के दबाव को अंकित करता रहता है और दूसरी ओर उस अन्तर्निष्ठा की ओर भी संकेत करता है जो उस दबाव को 'खतरनाक बिन्दु' से आगे न गुज़र जाने देने की सामर्थ्य का प्रतीक है। इस स्तर पर 'जटिलता' और 'अन्तर्निष्ठा' एक ही सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं। सर्जनात्मक तनाव और उसके जटिल प्रारूपों की परस्पर कशमकश में दर्द के हद से गुज़रकर दवा हो जाने की स्थिति भी आ सकती है, लेकिन तब वह ऐसी दवा होगी, जिसे किसी भी परचून की दुकान से खरीदा जा सके, उसके लिए दर्द का सर्जनात्मक संदर्भ और अन्तर्निष्ठा का प्रश्न समाप्तप्राय होता है—तनावरहित सपाट रचना के बारे में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न बेमानी होता है। तनावहीनता की स्थिति अ-जटिलता की भी स्थिति है, जिसमें रचना का नियमन या तो शुद्ध संवेग करने लगते हैं या फिर अ-संश्लिष्ट भाव अथवा विचार वृत्तियाँ। हिन्दी के सार्थक युवालेखन के संदर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि उसका अधिकांश अब भी रचनाकार-व्यक्तित्व के विकेन्द्रीकरण की अनिश्चयपूर्ण सर्जनात्मक संभावनायुत क्षेत्र-परिधि से गुज़र रहा है। अपने परिवेश के प्रति अधिकाधिक संसक्ति आज के युवा लेखक की नियति है, पर तनावहीनता के खतरे भी पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक बढ़ गये हैं।

(अगले अंक में समाप्य)

कविता की भाषा

परमानन्द श्रीवास्तव

देखते-ही-देखते कविता की भाषा में ऐसे सरलीकरण की प्रवृत्ति पैदा हुई है, जिसके मूल में एक प्रकार का अतिशय निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण है—जो वस्तु के प्रति शायद गुण हो सकता है, पर भाषा के प्रति ज़रूर ही अपराध से कम नहीं है। और इसमें सन्देह नहीं कि इस सरलीकरण के ख़तरों का निराकरण कहाँ तक आज विकसित होती हुई कविता की भाषा कर पाती है इस पर ही अगली कविता की सफलता निर्भर करेगी। पिछले कुछ बरसों में यह बात उभरकर सामने आई है कि नया कवि भाषा का 'निर्माण' नहीं करता, इस्तेमाल करता है ("ठीक उसी तरह जैसे वह अपने मोजे या तौलिये का इस्तेमाल करता है"—केदारनाथ सिंह : युवा लेखन : प्रतिपक्ष का साहित्य—आलोचना, जनवरी-मार्च, ६८)—यानी उससे सिर्फ काम चलाता है। और यह भी कुछ प्रतिभा की कमी के कारण या परिश्रम से बचने के लिए नहीं बल्कि पूरे जीवन के प्रति एक खास व्यवहारवादी दृष्टिकोण विकसित होने के कारण—जिसके मूल में एक ओर यदि आदर्शवादी रुझान का अन्त है तो दूसरी ओर एक खास तरह का व्यर्थता-बोध भी है जो विचारों के स्तर पर भी उतना ही स्पष्ट है जितना भाषा के स्तर पर। 'भाषा का संस्कार' आज के कवि के लिए इसका कोई अर्थ नहीं है—वह तो भाषा के 'ध्वंस' के ही पक्ष में है—(उसके लिए कविता भी "केवल रचना नहीं, बल्कि ध्वंस भी है"—श्रीकान्त वर्मा)। उसे पता है कि—

"भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी"

और इसीलिए वह कविता से ही कविता का काम लेना नहीं चाहता—

"न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही"

(रघुवीर सहाय : **आत्महत्या के वि**

इसी तर्क से भाषा के संसार में भी उसने "एकमात्र उप शब्द" से काम लेना बन्द कर दिया है और "शब्द की अ तीयता" की धारणा को—जिस पर अज्ञेय जैसे कवि शु इतना अधिक बल देते आए हैं, हमेशा के लिए ख़त्म दिया है।

....

जीवन मैं तोड़ रहा हूँ

....

शब्द और शिल्प और भाषा और छन्द
सारे के सारे ये पिछले सम्बन्ध
मैं तोड़ रहा हूँ।

(दूधनाथ सिंह : **सुरंग से लौटते**

आज का कवि यह मानकर चलता है कि शब्द हो एकमात्र शब्द नहीं होता और 'शब्दशोधन' की बात ही इस तर्क से बेमानी लगने लगती है—शुद्ध कला-दर्शन चरम परिणति मात्र। जीवन के प्रति, और दूसरे स्त भाषा के प्रति इसी व्यवहारवादी रुझान के कारण कवि संसार में, कहा ज़ा सकता है कि शब्दों का एक खास का समाजवाद या यथार्थवाद पैदा हुआ है। और जैसा के क्षेत्र में या कविता के क्षेत्र में "शरारतपूर्ण सहसंयो के पक्षधर कवि लक्ष्मीकान्त वर्मा ने संकेत किया है—शब्द प्रति 'पूजा का भाव' समाप्त हो गया है। अज्ञेय ने 'तारस के वक्तव्य में यह धारणा व्यक्त की थी कि कवि 'शब्द साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ' भाषा या कविता में भरना चा है—और क्योंकि उस बड़े अर्थ को पाठक के म उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं, इसीलिए वह प्रयो

चुनौती स्वीकार करता है। अज्ञेय की दृष्टि में कवि के सामने यह सबसे बड़ी समस्या थी कि 'भाषा का पुराना व्यापकत्व' उसमें नहीं है। यह बड़ा अर्थ देने के लिए भाषा का इतना सांस्कृतिक परिष्कार किया जाने लगा कि उसकी तात्कालिकता लगातार क्षीण होती चली गई और आगे वह समय भी आया जब तात्कालिकता ही भाषा का अपरिहार्य और उपयोगी मूल्य जान पड़ने लगी।

जिस व्यर्थता-बोध की चर्चा ऊपर की गई है उसी के समानान्तर एक प्रकार के नगण्यता बोध का प्रभाव भी इधर के युवा लेखन की भाषा पर दिखाई देने लगा है जिसे नामवर सिंह के अनुसार कभी-कभी 'कृत्रिमता' की हद तक भी पहुँचा दिया गया है (आलोचना : जनवरी-मार्च, ६८)। यों जिस व्यवहारवादी रुझान की चर्चा शुरू में की गई है, उसने भी एक प्रकार की कृत्रिमता को प्रोत्साहित किया है। एकदम नया-नया कवि भी आज जिस भाषा से शुरू करता है वह इसी व्यवहारवादी दृष्टिकोण के कारण ज़िन्दगी की सही और सच्ची पकड़ यानी अनुभव का आभास देती है—हालाँकि वहाँ सच्ची पकड़ नहीं होती बल्कि उसका धोखा खड़ा करने वाले क्लिशेज़ होते हैं, मुहावरे होते हैं—नितान्त चालू मुहावरे—जो कविता को कहीं-से-कहीं ले जा सकते हैं। यह सिर्फ़ भ्रम है कि युवा कवियों की अक्सर ही प्रकाशित होने वाली लम्बी कविताएँ अनुभवों की सच्चाई या अनुभवों के जटिल विस्तार के कारण रूप या आकार में लम्बी हैं—वस्तुतः वे उसी 'कृत्रिमता' का विस्तार हैं जो दूसरे शब्दों में अनुभव या भाषा के अभिन्न अनुशासन से एक प्रकार की मुक्ति या छूट देती है। श्रीकान्त के इस कथन में सचाई है कि "भाषा के ज़रिए केवल संसार की परिभाषा ही नहीं की जाती, छला भी जा सकता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि तात्कालिकता या तात्कालिक सार्थकता का आज की भाषा और कविता के संसार में अपना खास मूल्य है। कहा जा सकता है कि इसी एक गुण के कारण भाषा कभी भी शायद अपने समय की खुरदरी सचाई से इतनी अभिन्न नहीं थी। पर इसी के साथ यह खतरा भी है कि शब्द की अद्वितीयता समाप्त होने के साथ-ही-साथ भाषा प्रयोग के क्षेत्र में एक ऐसा सामूहिकतावादी दृष्टिकोण न बन जाय—जो भाषा और कविता को उसी प्रकार अमूर्त्त बनाने लगे जिस प्रकार अतिशय कलात्मकता भाषा और कविता को अमूर्त्त बनाती है। इसके खतरे एकाध अपवादों को छोड़कर करीब-करीब सभी युवा कवियों की भाषा में दिखाई देते हैं—उनमें दुर्लभ है वह 'शब्दाभिव्यक्ति' जिस पर मुक्तिबोध भी बल देते आए हैं—"जिसके समय लेखक धारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है।" मुक्तिबोध के ही शब्दों में जो कवि या लेखक के आत्मसाक्षात्कार या आत्मनिर्माण का भी समय होता है।

भाषा का सरलीकरण भाषा के क्षेत्र में इसी सामूहिकतावादी दृष्टिकोण का एक पहलू है—जो आज की कविता के सामने सबसे बड़ा संकट है। यह नहीं कि युवा कवि इस संकट से परिचित नहीं हैं—

और अब जुबान पर भी कहाँ है।
अँधेरे में दूर तक झिलमिलाती है एक रोशनी
जो रोशनी से भी अधिक राहजनी है
झूठे से भी निकम्मे इस कमज़ोर सच से
मुझे सख्त नफ़रत है
बावजूद इसके अँधेरे में चीजों को मैंने
एक नए सिरे से टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित शब्द भंडार नहीं
खोला है।

(देवेन्द्र कुमार : एक युवा-कवि की आत्म-स्वीकृति)

यहीं भाषा की 'सरलता' और 'सरलता' में फ़र्क करना पड़ेगा। क्या यह अकारण ही है कि एक ओर कृत्रिमता की हद तक कठिन भाषा समझ में आती है—सामान्य पाठकों को भी बोधगम्य जान पड़ती है, दूसरी ओर बेहद सीधी भाषा संस्कारशील पाठकों को भी कभी-कभी चुनौती जैसी जान पड़ती है—कभी उस विडम्बनापूर्ण संकेत के कारण जो इस प्रकार की भाषा देना चाहती है और कभी-कभी सरल जान पड़ने वाले शब्द या मुहावरे के अपरिचित इस्तेमाल के कारण। जहाँ अधिक सीधी भाषा में व्यक्त काव्यात्मक सचाई सचाई को अधिक तीखी और सार्थक ज़मीन दे पाती है वहीं भाषा के क्षेत्र में सामूहिकतावादी रुझान व्यक्त करने वाले चालू मुहावरों में "वास्तविकता के खो जाने का खतरा-सा बना रहता है"। सरलीकरण की प्रवृत्ति निश्चित रूप से इस सामूहिकतावादी रुझान से जुड़ी हुई है—खतरा कहीं है तो यहीं है—भाषा की सार्थकता को बनाये रखना है तो पहले उसे इस अति-सरली-

करण से बचाना होगा—हालाँकि यह भी सही है कि उससे भाषा बचेगी नहीं—भाषा की व्यर्थता के निरन्तर बोध के कारण जो अनुत्तरदायित्वपूर्ण रवैया विकसित हो रहा है उसके चलते भाषा का अधिक-से-अधिक अर्थहीन होते जाना स्वाभाविक ही है। आज के पाठक को इस अर्थहीनता में कभी-कभी कुछ अच्छा भी लगता है—कभी नाटकीय विडम्बना, कभी सौन्दर्य-विरोधी या कला-विरोधी रुझान—पर कहीं-न-कहीं इसकी सीमा निश्चित होनी ही चाहिए। क्या युवा कवियों को यह बात अलग से बतानी होगी कि भाषा से खेलने की छूट हमें या आपको हो सकती है पर सिर्फ एक हद तक (—जहाँ तक भाषा हमारी या आपकी अपनी है—वह बस एक हद तक ही हमारी अपनी हो सकती है) उसके बाद खेल बन्द होना चाहिए। इसीलिए कहने की आवश्यकता होने लगी है कि आत्मविडम्बना—और ऐसे ही दूसरे कई सूत्र—जो पहली बार सरलता का सिर्फ़ धोखा खड़ा करते हैं—अपने-आपमें 'आलंकारिक नुस्खा' न होकर जीवन के प्रति गहरे दृष्टिकोण के परिचायक होते हैं। इस विडम्बना की पहचान के अभाव में—

बहस किस बात पर हो रही है
यह जानना व्यर्थ है

(केदारनाथ सिंह)

जैसी सीधी पंक्तियाँ कुछ-का-कुछ अर्थ दे सकती हैं। विजयदेव नारायण साही और रघुवीर सहाय की कविताओं की भाषा में या कमलेश और श्रीकान्त वर्मा की कविताओं की भाषा में काव्यात्मक और काव्य-बाह्य शब्दों के प्रयोग का अन्तर हो सकता है—पर दूसरे स्तर पर इनमें अधिक गहरी समानता दिखाई देगी, जैसे कि आज की नई वास्तविकता के अधिक गहरे और सही बोध आदि के स्तर पर। जरूर ही इन कवियों में भाषा के कर्तव्य की वह खास पहचान भी है—जिसे छायावाद के बाद की काव्य भाषा में एक बार महत्त्वपूर्ण समझा गया था। पर इसी के साथ उसे समकालीन प्रासंगिकता से सम्पन्न बनाते जाने की विकलता भी है।

जिस प्रकार भाषा और कविता के संसार में 'सरल[...] और 'सरलता' में फ़र्क करना ज़रूरी है उसी तरह 'गम्भीर[...] और 'गम्भीरता' में भी। इधर के काव्य-समीक्षकों का ध्या[...] इस ओर जाने लगा है कि 'रोमांटिक गम्भीरता' को सच्[...] गम्भीरता से—चाहे वह नितान्त अगम्भीर शब्द कौतुक[...] ही व्यक्त होती हो—अलग किया जाए। 'कविता के न[...] प्रतिमान' में नामवर सिंह ने विसंगति और विडम्बना—भाषा और कविता के इन पहलुओं पर विचार करते हु[...] सविस्तार दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार आज[...] कवि का 'शाब्दिक खिलवाड़' कविता के अन्त में 'अर्थ[...] गम्भीरता में परिणत होता है और कविता की उपलब्धि ब[...] जाता है। अकारण नहीं है कि क्रीड़ा कौतुक जान पड़ने वा[...] कविताएँ ही अपनी समूची प्रक्रिया में सच्ची गम्भीरता[...] सार्थक नाटकीयता का आदर्श प्रस्तुत करती हैं। रघुवीर सहा[...] की कविता 'शराब के बाद का सवेरा' इसका सर्वोत्तम उदा[...]हरण है।

और अन्त में, कविता की भाषा पर विचार करते हु[...] यह भी देखने की जरूरत है कि सर्जनात्मक भाषा के विका[...] की प्रक्रिया में यदि कहीं रुकावट है तो क्यों—कहीं भाषा[...] गम्भीरता या उपयोगिता के बारे में बने हुए खास तरह[...] पूर्वग्रहों के कारण ही तो नहीं! और दूसरी ओर यदि एक[...] तरह की नाटकीय व्यवस्थाहीन 'सपाटबयानी' का विस्तार[...] तो उसी जीवन के व्यर्थता-बोध या भाषा के व्यर्थता-बोध औ[...] उससे उत्पन्न व्यवहारवादी रुझान के कारण ही—या किन्[...] दूसरे कारणों से। कविता की भीतरी जरूरतों को नकार[...] वाले युवा कवियों को इन सवालों पर सबसे अधिक सोचने की[...] ज़रूरत है और उन कवियों को भी—जो अपने काव्य-संसा[...] को समग्र समकालीन वास्तविकता से जोड़ना चाहते हैं औ[...] उसे अधिक अर्थपूर्ण बनाना चाहते हैं।

मूल्यांकन

समझदारी का व्यंग्यपूर्ण एहसास और विडम्बना की नाटकीयता

विजय मोहन सिंह

इधर जबकि कई साठोत्तरी कहानीकारों के संग्रह आ गए हैं, उन्हें जोड़कर या अलग करके देखने में सुविधा हो गई है। अब यह देखना ज्यादा आसान हो गया है कि पूर्ववर्ती संवेदना के विकास में साठोत्तरी कहानीकारों की उपलब्धियाँ क्या हैं या जिस 'एकरसता' और 'चरित्रहीनता' का आरोप उन पर लगाया जाता रहा है वह कहाँ तक ठीक है? ज्ञानरंजन[1] और काशीनाथ सिंह[2] के कहानी-संग्रहों की समीक्षा इसी संदर्भ में की जा सकती है।

ज्ञानरंजन ने अपनी पीढ़ी के अन्य चर्चित कहानीकारों की तुलना में अपेक्षाकृत कम कहानियाँ लिखी हैं और लगभग वे सभी कहानियाँ इस संग्रह में आ गई हैं। दूधनाथ की तरह संग्रह का 'स्तर' और 'व्यक्तित्व' बनाने की अपेक्षा वे कहानीकार के विकासक्रम को ज्यादा व्यक्त करती हैं। संग्रह की प्रारम्भिक चार कहानियों में (दिवास्वप्नी, कलह, खलनायिका और बारूद के फूल, आत्महत्या) बदलती हुई संवेदना का व्यंग्य परम्परागत कहानियों का रूप लेकर ही व्यक्त हुआ है—ज्ञान की 'दृष्टि' को ध्यान में न रखा जाए तो आसानी से ये चारों कहानियाँ प्रचलित कहानियों की कोटि में रखी जा सकती हैं, यहाँ तक कि भाषा में जो अनगढ़ता और अप्रचलन है वह या तो अरचनात्मक है या जैनेन्द्र की सीमाओं को छूनेवाली सतर्क अनगढ़ता लिये हुए है : दोनों के एक-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :

'काश, मैं अपने प्रेमल व्यवहारों की अन्तर्मुखी उत्कण्ठा को संकोच के चक्रव्यूह से बचा पाती।' (कलह) 'लेकिन परिवार वैसा ही यथावत् **बीत रहा है।'** स्थितियों के व्यंग्य की पहचान ज्ञानरंजन में शुरू से रही है लेकिन इन चार कहानियों में 'कमज़ोर लड़के-लड़कियों' पर जो व्यंग्य किया गया है वह ज्ञान की अपनी सहजता से जुड़ा होने पर भी प्रचलित सपाटता के साथ ही व्यक्त हुआ है।

वस्तुतः ज्ञानरंजन की कहानियों को जिस रूप में पहचाना जाता है, उसकी शुरुआत संग्रह में 'सीमाएँ' कहानी से ही होती है। शायद रचनाकार के लिए 'व्यंग्य' अथवा 'विडम्बना' की पहचान ही काफी नहीं होती है बल्कि उसके साथ उसकी आंतरिक जटिलता की पहचान और अभिव्यक्ति भी जुड़ी होती है। पहचान की इस जटिलता की शुरुआत 'सीमाएँ' कहानी में ही दिखलाई पड़ती है। मसलन भाषा के स्तर पर ऊपर के उदाहरणों की तुलना में 'सीमाएँ' का यह उदाहरण ही इस संदर्भ में देख लेना पर्याप्त होगा "…आज उनके सम्बन्ध में मुझे कोई अनुभव नहीं है। एक लोभ है। उनके व्यक्तित्व में एक सुप्त क्षमता है जो बहुत धीमे शायद गतिहीन जाग रही है। वे जो साफ बोलती हैं और 'फ्री' रहती हैं, उनकी सुन्दरता है। **यह भी सम्भव है, सविताजी ऐसी न हों और मैंने मन में उन्हें इस रूप में पैदा कर लिया है।"**

वर्णन की यह जटिल 'एक्युरेसी' ज्ञानरंजन में इस कहानी के साथ ही पैदा होती है। यह अनुभवों पर शब्दों की चिप्पी लगाने वाली भाषा नहीं है––अपने 'दुहरेपन' में एक स्थिति को रचनात्मक पूर्णता देने की कोशिश है। भाषा और संवेदना की यह एकरूपता जो अनुभव के 'दोनों ओर' की स्थितियों को देखने में समर्थ है—साठोत्तरी कहानियों की निजी विशेषता है।

१. फेंस के इधर और उधर : ज्ञानरंजन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली। मू० रु० ४.००
२. लोग विस्तरों पर : काशीनाथ सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद। मू० रु० ४.५०

ज्ञानरंजन सही माने में और पूरी तरह 'सम्बन्धों' के कहानीकार हैं—अपनी पीढ़ी के किसी भी कहानीकार से अधिक। 'सम्बन्धों' को समझने की इस बेचैनी को 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक एक खास क्रम में देखा जा सकता है। 'शेष होते हुए' में एक भोला दर्द है—मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों के अभिशाप का दर्द 'पिता से टीनू तक एक अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।' लेकिन टूटते-घिसटते सम्बन्धों के लिए यह किशोर विह्वलता 'सम्बन्ध' में खत्म हो जाती है—एक अनिवार्य तथा प्रौढ़ तटस्थता उसकी जगह ले लेती है, यह तटस्थता जो प्रौढ़ समझ के बाद आती है—केवल भागने या छुटकारा पाने के लिए नहीं होती 'इन आत्महत्याओं के परिणाम में महज़ चुटकी भर एक फुसफुसाया दुःख भर होता है—उतना दु ख जितना एक समाचारपत्र दे सकता है। फिर आप जानते हैं कि दुःख कितनी लचर चीज़ होती है।' (सम्बन्ध)।

दुःख को लचर मानने में यहाँ कोई क्रूरता नहीं प्रदर्शित होती—केवल उसमें एक जानकारी शामिल है। कहानी के अन्त में—जिस भाई की आत्महत्या की आशंका की जाती है, वह लौट आता है—और दुःख को लचर समझने वाला व्यंग्य साफ़ हो जाता है। अतः ज्ञानरंजन की कहानियों में ऐसी पंक्तियाँ महज़ 'स्टेटमेंट' नहीं होती हैं—वे कहानीकार की 'प्राप्ति' होती हैं। लेकिन वही जो पूरी आन्तरिकता के साथ 'खोज' में है और संलग्न है, वही यहाँ पहुँचकर 'तटस्थ' भी हो सकता है—इसी रूप में यह उसकी 'प्राप्ति' है 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक के इस विकास को मैं साठोत्तरी पीढ़ी की संवेदना के विकास रूप में रेखांकित करना चाहूँगा।

इसके अलावा ज्ञानरंजन उन कहानीकारों में भी नहीं शामिल किए जा सकते जिनकी संवेदना एक साथ दो-तीन स्तरों पर झूलती चलती है। इसीलिए ज्ञान की कहानियों में 'संवेदना की दरारें' नहीं मिलतीं और इसी कारण उनकी भाषा एक बार भी यह शंका नहीं होने देती कि कहानी कहीं भी अपने साथ 'झूठ' हो रही है या कहानीकार केवल कोई 'मुद्रा' ओढ़ रहा है। यहाँ तक कि कुछ अतिशयता-द्योतक सूत्रों में भी वह सच्चाई पकड़कर ही पहुँचा हुआ लगता है: 'मैं सोच रहा हूँ कि कितनी गम्भीरता से पूरी रात छाई रही—कितनी हँसी की ये बात है—जितना मज़ाक मैं कर सका वह भी कितनी आसानी से उलट गया—कितनी दया मैं अपने ऊपर करूँ? जीवन···जीवन·· जीवन, कोई कविता इस समय नहीं याद आ रही है, जो इस शब्द से शुरू हो और जिसे गाऊँ।' ('सम्बन्ध' कहानी का अंत)

यदि कहानी संग्रहों में विविधता की माँग भी कोई मानी रखती हो या उसकी समीक्षा में कोई प्रासंगिकता होती हो तो ज्ञानरंजन की कहानियों में यह विविधता कम है—वैसे ही जैसे प्रयाग शुक्ल में कम रही है : एक ही 'व्यक्ति' वहाँ अपनी पूरी आंतरिक ईमानदारी के साथ हर जगह है—बेहद स्वचेतन। यह स्वचेतनता (सेल्फ कांससनेस) ज्ञान की कहानियों का खास चरित्र-लक्षण है। यह उनकी कहानी को बहुत बारीक बनाती है—चीज़ों, सम्बन्धों और स्थितियों को परखने का बेहद खुर्दबीनी तर्ज़ है उनका और इसी वजह से वे भाषा में भी बारीक काट-छाँट करते चलते हैं। लेकिन ज्ञान की यह एक बड़ी खूबी कही जाएगी कि इतने स्वचेतन होते हुए भी वे कहानी को हमेशा एक खतरनाक सीमा से वापस ले आते हैं यानी वहाँ पहुँचने के बाद वे कहानी की फेंटेसी की 'क्रूड' अतिरंजनाओं में (फेंटेसी नहीं) नहीं उलझाते।

माँ, पिता, बहन, भाई से अलग होते हुए आदमी की ओर ज्ञान ने जितना ध्यान दिया है, जितना रेशा-रेशा अलग करके उन्होंने उसे समझा है उतना किसी और कहानीकार ने नहीं। यहाँ ध्यान देने योग्य खास बात यह है कि इस अलग होते हुए आदमी को ज्ञान अजूबा नहीं मानते और यह भी कि यह आदमी ही अपने बाप, माँ, भाई से अलग नहीं होता—बल्कि उसके बाप, माँ और भाई भी उससे अलग होते हैं। उनकी कहानियों में 'अलगाव' का यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है ('पिता' में विशेष रूप से)। यह उनको कई अन्य मुद्राधारी तथा अ-कहानीकारों की जमात से अलग करता है।

किसी यूरोपीय कथाकार के विषय में 'आइरोनिक सिम्पैथी' की बात लिखी गई थी। ज्ञानरंजन अपनी सभी कहानियों में अपने पात्रों के संसार के प्रति यही रुख रखते हैं। यह रुख भी 'अख़्तियार किया हुआ' नहीं, स्वतः 'पैदा हुआ' है! सारी गम्भीरता, लगाव, बेचैनी और बदहवासी की पोल अन्त में एक जानकार व्यंग्य के रूप में खुलती है: किसी भी मसले पर अनेक रातों की नींद हराम करने के बाद एक सुबह कोई न कोई 'सच्चाई' मालूम होनी ही है! यह भी ज्ञानरंजन

की अतिशय 'स्वचेतनता' का ही परिणाम है जो उन्हें बराबर अपनी कहानी से 'अलग' कर देती है; हर उधेड़ी गई स्थिति अलग से देखने पर अपने दुहरे चेहरे के साथ नज़र आती है और कहानीकार अपनी सहानुभूति के बावजूद व्यंग्यपूर्ण हो जाता है। इस तरह कहानी की हर स्थिति के साथ कहानीकार हर क्षण जुड़ता और अलग होता चलता है: अपना 'लगाव' उसे हर क्षण शर्मिन्दा करता हुआ मज़ाकिया बना देता है।

'क्रैफ्ट' के मामले में ज्ञानरंजन एक खास सीमा तक ही सतर्क हैं—दूधनाथ या काशीनाथ से बिलकुल अलग ! शायद वस्तु के प्रति ईमानदारी में 'फेंस के इधर और उधर' का कहानीकार 'क्रैफ्ट' को एक सीमा के बाद शामिल नहीं समझता यानी अपने को कहानी में पूरी तरह निचोड़ने के अलावा वह उसे अन्य पहलुओं से जगमगाने नहीं जाता। इसी कारण संग्रह की हर कहानी का 'पिच' हमेशा एक ही रहता है। 'कहानी' और 'वह' हमेशा एक ही कोण पर स्थित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त ज्ञानरंजन वहाँ क्यों नहीं हैं जहाँ से अपने और अपने सामने की चीज़ के अलावा बाकी दुनिया को भी देखा जा सकता है ? संग्रह की सारी कहानियों का परिवेश क्यों बिलकुल 'वही' है और वह अपनी इत्मिनानी चाल से उसके बीच होता हुआ गुजर जाता है ? काशीनाथ की तरह वह 'संकट' से लेकर 'लोग बिस्तरों पर' तक 'छलाँग' क्यों नहीं लगाता या दूधनाथ की तरह 'आइसबर्ग' से 'कोरस' तक ? ज्ञानरंजन की कहानियों में यह 'फ्लाइट' क्यों नहीं मिलती ?

एक ओर जहाँ यह कहानीकार के 'टेम्प्रामेंट' और चुनाव का प्रश्न है (और इस रूप में अप्रासंगिक) वहीं दूसरी ओर उसमें कल्पना-रुचि के अभाव का द्योतक भी हो सकता है। यदि वह कहानी को वहीं से उठाता या वहीं तक छोड़ देता है जहाँ तक देख रहा होता है तो यह इसलिए भी कि वह कहानी के उन पक्षों से, जो उसकी रचनात्मक कल्पना से जुड़े होते हैं, उतना परिचित नहीं है। इस रूप में वह रचना-प्रक्रिया के इकहरे स्तरों का ही उपयोग करता है और यही एक हद तक विविधता के अभाव और किसी आकांक्षापूर्ण छलाँग के अभाव का उत्तरदायी हो सकता है।

●

यदि ज्ञानरंजन की कहानियों का संसार समझदारी का व्यंग्य-भरा एहसास है तो काशीनाथ सिंह की कहानियों में स्थिति से पूरी तरह टकराये बिना उससे छुटकारा पाने के लिए 'नाटकीय व्यंग्य' का उपयोग किया गया है। आमतौर पर यह कहानीकार की कमजोरी नहीं मानी जानी चाहिए और कम-से-कम वहाँ तक अवश्य क्षम्य होनी चाहिए जहाँ तक वह कहानी के 'अपने सत्य' को नष्ट नहीं करता। संग्रह की 'सुख' या 'चायघर में मृत्यु' जैसी कहानियाँ इस दृष्टि से बेहद सफल कहानियाँ हैं।

हर सच्चाई की अपनी विडम्बना होती है और काशीनाथ सिंह इस 'विडम्बना' तक सीधे पहुँचते हैं, उसे 'मेलोड्रामेटिक' बनाते हुए तथा कहानी के चमत्कार में परिवर्तित करते हुए।

ज्ञानरंजन की तरह यहाँ 'आइरोनिक सिम्पैथी' नहीं, केवल 'आइरनी' है जो कभी-कभी क्रूरता की सीमा तक स्थितियों का रस लेती हुई उन्हें अतिरंजित करती जाती है। काशीनाथ सिंह का यह टेम्प्रामेंट है और जहाँ वे इससे छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं वहाँ 'अपने घर का देश' जैसी कहानियों में सपाट निहत्थे और ट्रैडीशनल हो जाते हैं। एक हद तक 'आखिरी रात' में वे 'विडम्बना' को पकड़ते हुए भी रस लेने वाली क्रूरता से बच सके हैं। लेकिन यह कहानी अन्य कारणों से प्रारम्भिक कहानियों की रूमानियत में जा फँसी है।

काशीनाथ सिंह मुख्यतः इसी विडम्बनात्मक अतिनाटकीयता (मेलोड्रामा) के कहानीकार हैं। 'संकट' कहानी में यह 'विडम्बना' बड़े स्थूल ढंग से व्यक्त की गई है और उसमें 'रेणु ब्राण्ड' चुटकुलेबाज़ी भी है। विडम्बनाओं का यह मेलोड्रामा 'अपने लोग' में सर्वाधिक सफलता से व्यक्त हुआ है। फैंटेसी की सरहद पर स्थित इस कहानी में 'विद्रोह' और 'समझौते' की विद्रूपता को बिना सपाट या स्थूल किए, बड़ी कलावन्तता के साथ व्यक्त किया गया है।

संग्रह में संवेदना के कई छोरों को छूने वाली कहानियाँ हैं जिनमें एक बात सामान्य है ('आखिरी रात' को छोड़कर) कहानी की हर स्थिति के प्रति एक प्रकार के 'खेल' या 'चुहल' का भाव। शायद यह कहानीकार की किसी भी वस्तु को गम्भीरतापूर्वक न ले पाने की मौलिक अक्षमता को भी ध्वनित करता हो, लेकिन इससे काशीनाथ सिंह की सभी कहानियों का एक अपना 'चरित्र' बन गया है।

वस्तुतः 'लोग बिस्तरों पर' का कहानीकार बिना किसी स्थिति को अतिनाटकीय बनाये बिना चित्रित कर ही नहीं सकता। उसमें जब तक यह अतिनाटकीयता पूरी तरह 'फैंटेसी' नहीं बन जाती तब तक चमत्कारपूर्ण चुटकुलों तक सीमित रहती है। 'तीन काल कथा' और 'आदमी का आदमी' जैसी कहानियों के साथ यही हुआ है। दोनों कहानियाँ 'अपने समय के यथार्थ' से जुड़ने का साहसपूर्ण प्रयास हैं लेकिन कहानीकार उन्हें चमत्कारपूर्ण ढंग से नाटकीय बना पाया है :

"मर्द लड़के के गले पर हँसुआ दबाता है और गुस्से में काँखता है 'साले तुझे हलाल करके छोड़ूँगा' और अपने ओठ भींच लेता है। लड़का जो बिना चीखे-चिल्लाये-रोये उसके घुटनों के बीच दबा है, किसी तरह साँस लेता है, **ओह ऐसे नहीं, धीरे-धीरे**..."

जहाँ ऐसी पंक्तियाँ एक स्थिति की विडम्बना को सामने ले आती हैं वहीं परिणति में उस यथार्थ का सरलीकरण भी करती हैं। संग्रह की और भी कई कहानियाँ सरलीकरण की कीमत पर ही नाटकीयता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं।

लेकिन कहानीकार जिन कहानियों में सरलीकरण की इस नाटकीयता से बच सका है वहाँ विडम्बनाओं की जटिलताओं से गुज़रता हुआ उनकी 'नियति' को भी पहचान सका है जैसे 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' में साहब की तेजी से बूढ़ी होती हुई पत्नी का अन्त में यह सोचना :

'जबकि एक औरत देखने में अच्छी हो, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, बात करना जानती हो, अखबार भी पढ़ लेती हो, कोई कैसे छोड़ सकता है? और असल बात तो यह है कि कोई छोड़ना भी क्यों चाहेगा? लेकिन हे ईश्वर...वे माथे से पसीना पोंछने लगीं।' यह मिसेज़ गोठी की गुज़रती जवानी की हविश पर व्यंग्य ही नहीं है, बल्कि उस दूसरे पहलू को भी सामने ले आता है, एक स्वाभाविक मानव-नियति को जो एक साथ ही स्थिति को हास्यास्पद और दयनीय दोनों बना देती है।

शिल्प के मामले में काशीनाथ सिंह अत्यन्त सतर्क कहानीकार हैं : हर कहानी के आरम्भ और अन्त को काफी सँवारने और उस पर कई पहलुओं से सोचने के बाद ही रखा गया है।

संवादों में यह सतर्कता खासतौर पर देखी जा सकती है : काशी ने संवादों को लेकर कुछ विशेष प्रयोग किये हैं और उन्हें अपने सीधे अर्थों से अलग कर विरोधाभास से नाटकीयता से जोड़ा है। इस सन्दर्भ में कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

१. 'अगर ये सवारियाँ हैं तो फिर केवल आ और ज[ा] क्यों रही हैं?' (कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी)

२. 'जी, मैं कासिम हूँ।' वह बोला 'कासिम हो या का[...] हो?' (लोग बिस्तरों पर)

३. 'क्या तुम दफ्तर नहीं जा रहे?' मैंने जान-बूझकर पूछा।

'तुम जानते हो कि मैं दफ्तर नहीं जा रहा।'

'कैसे नहीं जा रहे?'

'मैं कैसे जा सकता हूँ, तुम जानते हो आज रविवार है... ऐसे दफ्तर इधर कहाँ हैं?'

'हाँ, मैं जानता हूँ दफ्तर इधर नहीं हैं।'

'फिर मैं दफ्तर कैसे जा सकता हूँ।'

'हाँ फिर तुम दफ्तर नहीं जा सकते।' (अपने लोग)

'ऐबसर्ड नाटकों' जैसे ये संवाद केवल एक शैली को जन्म देने के लिए नहीं हो सकते बल्कि पात्रों की जि[स] अस्वाभाविकता को कहानीकार अपने व्यंग्य का निशाना बनाता है, ये संवाद भी उसी अस्वाभाविकता के अंग हैं। यानी इन खास परिस्थितियों में ये संवाद कहानीकार के नहीं केवल उन पात्रों के संवाद हैं।

'लोग बिस्तरों पर' की कहानियाँ इस मामले में भी अपनी पीढ़ी की अधिकांश कहानियों से अलग हैं कि वे 'आत्मकथाएँ' कम-से-कम हैं—अर्थात् कहानीकार 'कहानी' की 'वस्तुगतता' से अधिक परिचित हैं। लेकिन यहीं आज की कहानी की एक समस्या का ज़िक्र किया जा सकता है। आज का कहानीकार कहानी कहने की 'अपनी' कला का जब तक आविष्कार नहीं कर लेता तब तक उसे अपनी पह[‑] चान' के लिए अपनी 'आंतरिकता' (सब्जेक्टिविटी) का ही पूरी तरह सहारा लेना पड़ेगा। नये कहानीकारों की 'आत्म- कथात्मकता' का राज़ यही है! क्योंकि इसके बिना जैसे ही वह कहानी 'लेखकीय दूरी' पर रखकर लिखने की कोशिश करता है—वह 'ट्रेडिशनल' होने लगती है। काशी की अधि- कांश कहानियाँ इसी कारण अपनी वर्णनात्मकता में 'ट्रेडिश- नल' हो गई हैं—कहानी के 'कहानीपन' का मुक़म्मिल स्वा[...]

उनमें मिलने लगता है—जिससे अपनी रक्षा वे एक 'फ्लाइट' के साथ 'फैंटेसी' में जाकर करते हैं। 'चायघर में मृत्यु' में बाकायदे चायघर कहानी कहने वाला और बीच-बीच में चाय की चुस्कियाँ आदि उपकरण एकत्र कर कहानीकार ओ० हेनरी और मोपांसा की वर्णनात्मकता में कहानी को ले जाता है। लेकिन इसके बावजूद कहानी एक विडम्बना को धीरे-धीरे खोलती हुई उस 'सुरक्षित बिन्दु' पर पहुँचती है जहाँ कहानीकार अपने को बचा ले जाता है।

'लोग बिस्तरों पर' कहानी की कमजोरी कई महत्त्वपूर्ण साठोत्तरी कहानियों की रेखांकित कमज़ोरी है और वह है 'फैंटेसी' लिखने की असफलता! दरअसल 'फैंटेसी' का कथानक दुहरा हो ही नहीं सकता! यदि 'फैंटेसी' का लेखक बीच-बीच में 'फैंटेसी' से अलग होकर यह संकेत देता चले कि वह 'फैंटेसी' नहीं एक महत्त्वपूर्ण यथार्थ व्यक्त कर रहा है तो कहानी 'फैंटेसी' और 'यथार्थ' दोनों धरातलों पर मारी जाती है। 'फैंटेसी' में 'रूपक' का छल चल ही नहीं सकता! 'फैंटेसी' के 'विजन' को इकहरे धरातल पर ही चलना होता है--तभी वह 'यथार्थ' के नये-नये कोण भी उद्घाटित करती चलती है!

साठोत्तरी कहानियों में यह 'एकतानता' पैदा न हो पाने का सबसे पहला एहसास उनकी वर्णनात्मकता से ही हो जाता है: 'लोग बिस्तरों पर' कहानी में कौंसिल साहब के पिता का सहसा बीमार होना, अखबारों में उसकी सूचना छपना और उसे लेकर कहानीकार का काफी देर तक व्यंग्यपूर्ण लहजे में उलझा रहना—यह एक सीधे यथार्थ का व्यंग्य है—हरिशंकर परसाई के तीखे रोचक निबन्धों की तरह! दरअसल यहाँ तक कहानीकार यह निर्णय नहीं कर पाया होता है कि उसे 'फैंटेसी' रचनी है या कहानी को इसी धरातल पर चलने देना है। इसीलिए इस वातावरण को सहसा छोड़कर जब वह 'फैंटेसी' रचने लगता है तो वहाँ 'फैंटेसी' की घनीभूत एकतानता नहीं आ पाती बल्कि एक अविश्वसनीय अतिरंजना आ जाती है:

'उसने हाथ ऊपर उठाये। आदमी ने ज़ोर लगाया और उसकी खाल ठोड़ी की हड्डी में फिर फँस गई। उसके घुटने मुड़ आये, सारी देह सिमट आई और वह हाथों में झूलता हुआ काफी ऊपर उठ गया। उसे साँस लेने में दिक्कत हुई—लेकिन, दूसरे ही क्षण वह एक चक्कर लेता हुआ फर्श पर चू पड़ा—बोरे के भीतर गुँथे हुए आटे की तरह।'

'फैंटेसी' के रूप में यह कहानी की चरम स्थिति है—'व्यवस्था' में फिट करने की अमानवीय दारुण यन्त्रणा! लेकिन कहानीकार—कहानी को प्रारम्भ से ही इस स्थिति तक नहीं ले आया है, बल्कि अनजाने ही वह शुरू से उसे भंग करता रहा है—रोचक अखबारी व्यंग्यों से। 'फैंटेसी' और 'सीधे यथार्थ' के बीच तय न कर पाने की अपनी मनःस्थिति से यदि कहानीकार उबर सका होता तो यह कहानी साठोत्तरी कहानी की उपलब्धि बन गई होती।

चीख की भाषा भी हुल्लड़ हो गई

विष्णु खरे

१९६४ में कैलाश वाजपेयी का पहला कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ था और तब से अब तक के कुछ ही वर्षों में हिन्दी कविता में एक महत्वपूर्ण बदलाव आ चुका है। इस बात पर शायद सहमति हो गई है कि जिसे नई कविता कहा जाता था उसका युग समाप्त हो चुका है किन्तु उसकी उपलब्धियों को आत्मसात् कर हिन्दी कविता की समसामयिक धारा अधिक वेगवती तथा बलिष्ठ हुई है। नई कविता में से नव्य-छायावादी तत्त्वों का लोप हो जाने से और नये कवियों द्वारा उसे एक नई प्रखरता देने से आज हिन्दी कविता का स्वर केवल सात-आठ वर्षों पहले की ही कविता से इतना पृथक् है कि केवल शुतुर्मुर्गों को छोड़कर बाकी सब पर यह स्पष्ट है। हिन्दी काव्य-मानस एक ऐसी दहलीज पर खड़ा हुआ है जहाँ से पीछे मुड़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १९६४ में कैलाश वाजपेयी हिन्दी में अपने ढंग के एकमात्र कवि थे जिनकी कविताओं को उनकी प्रवृत्ति-विशेष से पहचाना जा सकता था। इन कविताओं में आक्रोश था, नफ़रत थी और एक क्रूरता थी और यह सब चूंकि उस समय नए थे, यदि स्वागत्य नहीं थे तो कम-से-कम आकृष्ट तो करते ही थे और परिणामतः कैलाश वाजपेयी को एक ऐसा पाठक-वर्ग (और कवि-वर्ग भी) प्राप्त हुआ जिसके और उनके बीच घृणा-प्रेम सम्बन्ध था। उनकी कविताओं का

स्वर बहुत तीखा था और स्वाद बहुत कसैला, किन्तु यह भी सही था कि कहीं जाकर उनका कवि एक गहरा सामाजिक प्राणी था। किन्तु अकवियों का झुंड उनके शब्दों के 'वॉयलेन्स' को अपनाकर उनसे भी आगे बढ़ तो गया, उनके सामाजिक संदर्भों से कट गया और फलस्वरूप हास्यास्पद अन्त को प्राप्त हुआ। कैलाश वाजपेयी शायद इससे इन्कार करें किन्तु हिन्दी में उनके बाद ऊलजलूल 'वॉयलेन्स' की जो बाढ़ आई है उसके लिए पहली जिम्मेदारी उन्हीं की है।

उनका दूसरा संग्रह[1] मूलतः पहले संग्रह से भिन्न नहीं है किन्तु यह अवश्य है कि रोष तथा असहायता का स्वर उनमें और संपृक्त तथा तीखा हो गया है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'संक्रान्त' की कविताओं से इस नए संग्रह की कविताएँ ज्यादा लम्बी हैं। पिछले पाँच वर्षों में न तो दुनिया में कुछ ऐसा हुआ है और न देश में कि उन सरीखे कवि से कुछ और की अपेक्षा की जा सके। यदि कवि समाज और विश्व से निर्लिप्त रह सके तो यह उसका सौभाग्य है क्योंकि फिर उसकी कविता से किसी तरह की माँग करना व्यर्थ होगा, किन्तु जो कवि अपने कृतित्व को अपने आसपास के विश्व के दाँव पर लगाता है वह जान-बूझकर एक जोखिम उठाता है। साहित्य समाज का दर्पण है या नहीं एक फूहड़ प्रश्न है, किन्तु यह सत्य है कि कवि न भी चाहे तो समाज में रहने तथा उससे प्रभावित होने (भले ही रिमोट-कण्ट्रोल से) के लिए अभिशप्त है और फिर इस दुबले पर दूसरा असाढ़ यह है कि वह सोचता, समझता, महसूस करता है—और लिखना भी चाहता है। 'सामाजिक' विषयों पर लिखी गई कविताओं के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें आकलन तथा टिप्पणी का दुहरा कर्तव्य निभाना पड़ता है और वह भी साहित्य के तक़ाज़ों के अन्तर्गत पत्रकारिता की सुविधाओं के बीच नहीं। सामाजिक स्थितियों पर लिखी गई कविता, यदि वह फूंक-फूंककर नहीं लिखी गई है तो तुरन्त एक ढर्रे का शिकार होती है और उसका अधिकांश हिस्सा अख़बारनवीसी बनकर रह जाता है। सामाजिक कविता का 'यथार्थ' होना एक अनिवार्य शर्त है किन्तु यथार्थ को साँचा बनते देर नहीं लगती। इसमें यदि कुछ दोष कवि के एक फार्मूला के शिकार हो जाने का है तो उन स्थितियों का भी कम नहीं है जिन पर उसकी कविताएँ टिकी हुई है। एक तथ्य जो अक्सर भुला दिया जाता है वह यह है कि सामाजिक स्थितियाँ बहुत धीरे-धीरे तथा अधिकांशतः अदृश्य रू में बदलती हैं—यदि अन्य बातें समान रहें तो बीसवीं सदी इधर के दशकों में एक और पुनीत मिथक टूटा है और 'क्रान्ति' का है। और फिर स्थितियाँ किसी दूसरे देश में सप्ताह बदल जाएँ, भारत में जहाँ अभी भी जाति, धर्म प्रांत, भाषा आदि के नाम पर क्या-कुछ नहीं हो रहा है सामाजिक परिवर्तन की आशा एक चमत्कार की बाट जोह के समान वचकानी है। उधर विश्व की राजनीति में भी ए गत्यवरोध आ गया है—कश्मीर, विआफ्रा, वियतनाम क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन, रंगभेद, इज़राइल, निशस्त्री करण आदि शाश्वत प्रश्न बनकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति हिन्दी के उस कवि के लिए, जो अपने कच्चे माल के लि सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर आश्रित है, यह अपरि वर्तनशील या अल्पपरिवर्तनशील सामग्री होती है—

१. राजनीतिक अव्यवस्था, संसद तथा विधान सभा की उपद्रवपूर्ण हास्यास्पदता, राजनीतिक चरि हीनता, सौदेबाज़ी, 'जनता' के हितों के प्रति पू उदासीनता।
२. एक भयावह अर्थव्यवस्था—ग़रीबी और अमीरी बीच बढ़ती हुई अकल्पनीय खाई, महँगाई, बेरो गारी, इन्हें और त्रासद बनाती हुई बाढ़, अकाल महामारी की दैवीय विपत्तियाँ।
३. पुलिसराज, नौकरशाही, गोलीबारी, हिन्दू-मुस्लि दंगे, हिन्दी आन्दोलन, गौ आन्दोलन, अँग्रे आन्दोलन।
४. समाज के प्रत्येक अंग में भ्रष्टाचार, 'जनता' अपरिमित सहन-शक्ति और बेहयाई, तमाम मू का ह्रास।
५. बुद्धिजीवियों की कुर्सीपरस्त नपुंसकता।
६. कलाओं का वाणिज्यीकरण।
७. देश से बाहर—हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन रूसी अमानवीयता, नीग्रो तथा वियतनाम को ले अमरीकी बर्बरता तथा कभी भी विश्व-विनाश सम्भावना।

यह सूची पूर्ण न मानी जाए, किन्तु मुझे विश्वास है

१. देहान्त से हटकर : अक्षर प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली-६, छः रुपये।

जो मैं कहना चाह रहा हूँ उसे स्पष्ट करने में यह सहायक होगी। इन स्थितियों में परम्यूटेशन-कॉम्बिनेशन सम्भव है किन्तु कहीं आकर उनका भी अन्त होगा ही। प्रश्न यह है कि जब हिन्दी में तमाम ऐसे कवि, जो इन पर लगातार लिख रहे हैं, इन्हें तार-तार कर चुके होंगे और स्थितियाँ फिर भी नहीं बदलेंगी, तब क्या होगा?

समसामयिक कविता के सामने शायद यह समस्या अभी न हो किन्तु जिस मुस्तैदी से कविताएँ लिखी जा रही हैं, कोई कारण नहीं दीखता कि बहुत शीघ्र कैलाश वाजपेयी तथा समानधर्मा कवियों के सामने वह उपस्थित न हो। आखिरकार आप कितने तरीकों से हमें यह बता सकते हैं कि संसद व्यर्थ है, भ्रष्टाचार बहुत है, पुलिस गोलियाँ चलाती है, नौजवान बेकार हैं और लोग भूखों मर रहे हैं। यह नहीं कि यह सब बताना महत्त्वपूर्ण नहीं है या यह सब असत्य है। प्रश्न यह है कि दुहराव-तिहराव-चौहराव के पश्चात् क्या हम इनकी प्रखरता और सत्य को कम तो नहीं कर रहे होंगे? वह बात छोड़ भी दें, तो इन तमाम कवियों की इस तरह की तमाम कविताओं को पढ़ना कौन चाहेगा? आज स्थिति कुछ ऐसी आ गई है कि कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, चन्द्रकान्त देवताले, धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी, जगदीश चतुर्वेदी की कविता में कुछ दूर जाकर फ़र्क़ करना न केवल कठिन हो गया है बल्कि अनावश्यक भी।

कैलाश वाजपेयी के दोनों संग्रहों में सवा सौ कविताएँ हैं जिनमें से शायद सौ 'एक जैसी' हैं। इसके बावजूद भी आप उन्हें पढ़ जाते हैं यह उनकी कम उपलब्धि नहीं है। कैलाश वाजपेयी अपनी बात साफ़-साफ़ कहते हैं—कई बार बहुत ज़्यादा साफ़—और वह सीधी चोट भी करती है। किन्तु उनकी रचनाएँ कहीं भी राहत नहीं देतीं—एक लगातार तनाव दिमाग को जकड़े रहता है और इसीलिए कुछ देर बाद एक खीझ तथा उसके बाद एक सन्देह होने लगता है। प्रत्येक कवि का यह भरसक प्रयास रहता है कि उसकी कविताएँ एक प्रभाव छोड़ने में सफल रहें, किन्तु जब उसकी दिलचस्पी इसमें हो जाती है कि यह सिलसिला कभी टूटने ही न दिया जाए तो बात साफ़ हो जाती है कि उसके लिए प्रभाव तथा उसके उपकरण ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं, कथ्य नहीं। कैलाश वाजपेयी के पिछले संग्रह की कुछ उपमाएँ मुझे अनावश्यक रूप से श्रमसिद्ध तथा क्रूर लगी थीं—'जैसे ताज़ा कमल खौलते पानी में,' 'खौलते जल में जैसे बच्चा छूट गिरे' और इन कविताओं में भी यह आदत छूटी नहीं है—'कूद जाऊँ ताज़े चूने में' 'रात के कड़ाह में खून टपकता है'। मंच से जब धर्म-गुरु नरकों का आँखों देखा हाल सुनाते हैं तब श्रोताओं के विस्फारित नेत्रों को देखकर और भी रंगीन चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं। एक सीमा के बाद कैलाश वाजपेयी की कविताएँ भी सेडिज़्म को छूने लगती हैं और फिर कविता कविता न होकर सैल्फ़-फ़्लैगेलेशन हो जाती है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओं का एक उलझाने वाला पहलू उनमें सैन्स ऑव ह्यूमर की कमी भी है। वैसे पिछले संग्रह में—और इस संग्रह में भी—उनकी कुछ शरारती कविताएँ थीं अवश्य और उनसे हिन्दी कविता के गुरु-गम्भीर घटाटोप में कुछ आशा बँधती थी किन्तु आश्चर्य और खेद का विषय है कि अधिकांश रचनाएँ उस विनोद से अछूती हैं। कैलाश वाजपेयी की 'गम्भीर' कविताएँ बेराहत 'गम्भीर' हैं जबकि उनमें चुटकियों की अनेक सम्भावनाएँ थीं। इसलिए जब मैंने फ्लैप पर 'व्यंग्य' शब्द देखा तो मैं चौंका। अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी में दूसरों पर किया गया ही व्यंग्य माना जाता है किन्तु व्यंग्यकार यह भूल जाता है कि व्यंग्य करते समय उस पर भी कुछ छींटे पड़ते ही होंगे। जिस वेहेमेन्स तथा गांभीर्य से कैलाश वाजपेयी लिखते हैं और स्वयं पर हँस नहीं पाते वह आश्चर्यजनक है। चीख की भाषा भी यदि हुल्लड़ हो गयी है तो बहुत-कुछ दोष देर तक सिर्फ़ चीखते रहने का भी हो सकता है।

कैलाश वजापेयी की कविताओं में समसामयिक स्थितियों का सत्य असंदिग्ध है और आज के भारतीय समाज की विकृतियों की उनकी पहचान एकदम 'फर्स्ट-हैण्ड' है। प्रश्न पुराना है किन्तु अभी भी जायज़ है कि आखिर 'यथार्थ चित्रण' का किया क्या जाए? कवि कह सकता है कि मेरा काम तो तुम्हें यह सब बतलाना ही था और मैंने वह कर दिया, अब तुम्हारी तुम जानो—कवि डॉक्टर तो है नहीं कि मर्ज़ भी बताए और इलाज भी करे। इससे आगे वह यह भी कह सकता है कि यथास्थिति का चित्रण क्या अपने-आपमें एक हथियार नहीं है? किन्तु यथास्थिति का कहीं ज़्यादा प्रामाणिक ब्यौरा तो सुबह के अखबार भी देते हैं, इसलिए क्या वे कविता से बड़े हो जाएँगे? खबरें कविता होते-होते बन जाती हैं कि उन पर एक रचनाकार या उत्तरदायी

मस्तिष्क कलात्मक तरीके से कार्य नहीं करता। केवल सत्य सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होता, हम उसके कारणों, परिणामों तथा यदि आवश्यक हो तो, उपायों तक भी पहुँचना चाहते हैं।

यह हमें कैलाश वाजपेयी की कविता में दूसरे पहलू की ओर ले जाता है। उनके पास भय, घृणा, संत्रास, क्रोध तथा नकार के सारे शब्द मौजूद हैं किन्तु किसी तरह की आशा का कोई नामोनिशान नहीं है। स्पष्ट है कि यह रुख जान-बूझकर पोसा गया है और वे कहीं भी उम्मीद की गुंजाइश नहीं देखते। यहाँ आकर बात 'प्रतिबद्धता' तथा 'पक्षधरता' के करीब आने लगेगी, किन्तु मुझे कभी-कभी लगता है कि निराशावादी होना एक कठिन काम है। लेकिन निराशावादी होना एक और बात है और जूझने से मुँह मोड़ना दूसरी। इन कविताओं में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो कवि के संघर्षरत होने अथवा उसी ओर मुड़ने की इच्छा को प्रमाणित कर सके। 'एक भला आदमी कहलाने की धुन में/पीछे एक चीज़ हिलने वाली/लगा ली है', सरीखी पंक्ति मुक्तिबोध में ढूँढ़े नहीं मिलेगी। कैलाश वाजपेयी की प्रत्येक कविता के अन्त में जैसे अदृश्य अक्षरों में 'इसलिए पराजय ही स्वीकार है' ही लिखा हुआ है। चूँकि उनका विश्वास है कि 'विद्रोह/एक ऐसा हथियार है/ठीक रहे वार/बेमानी हो जाता है/न रहे,/खा जाता है जनक को', वह उनकी कविता से निष्कासित है। वे कहते हैं 'अब सब अति प्रश्नों से दूर चला आया हूँ' और मानते हैं कि 'रचना के अतिरिक्त मलत्याग से/कहीं अच्छी है/कठ जड़ता/मूर्ख सिद्धि/खालिस अकर्म!' स्पष्ट है कि 'स्टेटस को' रहे या उससे भी बदतर हालात हो जाएँ, उनका कवि निर्वाण की स्थिति में पहुँच चुका है। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि यह सारा शोर किसलिए? यहाँ पहुँचकर यह भयावह सम्भावना बनती है कि कहीं कैलाश वाजपेयी को यह नरक अभिव्यक्ति की एक सुविधा तो नहीं दे रहा है और इसीलिए वे उससे न छुटकारा पाना चाहते हैं और न देना। आज की भयावहता का सामना करने के दो तरीके हो सकते हैं—उसे पहचाना जाए और उससे जूझा जाए, या उसे पहचाना जाए और उससे जूझने के कार्य को व्यर्थ समझकर एक ऊबे हुए गुस्से का स्थायी आश्रय ले लिया जाए। कैलाश वाजपेयी का तरीका दूसरा है और हम सबको कभी-न-कभी 'यह सब व्यर्थ है' का अहसास हुआ है। इसके साथ खतरा यह भी है कि यह एक फ़ैशनेबल आश्रय बन जाता है और हर तरफ़ से आये हु[ए] भगोड़े इसके नीचे आने की कोशिश करते हैं। धीरे-धीरे य[ह] बहुत मँहगी विलासिता में बदल जाता है और इसके भाष्य भी बनने लगते हैं। हिन्दी के कुछ युवा कवियों ने इस खतरे को पहचाना है और फिर किन्हीं मूल्यों की ओर जाने का कोशिश होने लगी है। 'प्रतिबद्धता' आदि के नारों से दूर युवक कवि कोई ऐसी वस्तु खोज रहे हैं जो मुहर या साँचा न बनने पाए। कैलाश वाजपेयी ने सन् साठ के बाद की कविता को अपना योगदान दिया अवश्य, किन्तु इससे उन्हें कोई दुःख नहीं होना चाहिए। अब हिन्दी में कुछ नयी आवाज़ें ऐसी हैं जिन्होंने उसका परिष्कार किया है और उसे सही सन्दर्भ दिए हैं। कैलाश वाजपेयी की कविता को राइट-ऑफ़ कर देना सम्भव नहीं है किन्तु जब तक उनके विकास में प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक यही कहना होगा कि उनकी कविता वर्तमान सन्दर्भों में अर्ध-प्रासंगिक है।

सम्यक् शोक की छाया में चमकता लोक

कमलेश

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय का पाँचवाँ कविता संग्रह है। उनके समवयस्क किसी अन्य हिन्दी कवि के शायद ही इतने संग्रह प्रकाशित हुए हों। इन छपी कविताओं की संख्या भी पाँच सौ से ज्यादा ही होगी। उन्होंने कविताओं के अलावा एक कहानी संग्रह और दो छोटे उपन्यास भी प्रकाशित करवाये हैं। ये किताबें एक प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था से छपी हैं। इन सभी कृतियों में एक विशिष्ट संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं। उनमें व्यक्त लगाव भी लोगों को प्रियकर लगने चाहिए। इन सब बातों से विनोदचन्द्र पांडेय की अपने साहित्यिक समुदाय में खास भूमिका बननी चाहिए थी। हुआ है यह कि उनकी कृतियाँ नियमित तौर पर प्रकाशित होती रहीं, पर वे आलोचकों, समीक्षकों, पत्रिकाओं के सम्पादकों का ध्यान बिलकुल नहीं खींच पायीं। यह स्थिति

विकल्प—विनोदचन्द्र पांडेय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ १४०, मूल्य पाँच रुपये।

एक ओर विनोदचन्द्र पांडेय की रचनाशीलता की खासियतों की, तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्यिक समुदाय के स्वभाव की जाँच को जरूरी बनाती हैं। किसी अन्य स्थल पर शायद यह किया जा सके। यहाँ हम केवल उनके नये कविता-संग्रह की कुछ कविताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने भर की कोशिश करेंगे।

विनोदचन्द्र पांडेय के पिछले संग्रहों की तरह विकल्प की कविताओं का मुख्य विषय प्रेम है—या प्रेम के बारे में प्रौढ़ का प्रेमोत्तर चिंतन। पहले प्रेम का कोई एक ही बारीक पहलू कविता बनता था, अब प्रेम की पूरी प्रक्रिया एक ही कविता में आ जाती है, बुद्धि पूरे जीवनक्रम में से जीवन का निष्कर्ष निचोड़ लाती है। निम्नलिखित कविता का शीर्षक है—वह घटना!

कब हम मिले, कब विशेष हुआ
मेरे विचारों में उसका विचार
उसे देखने, उसकी बातें सुनने
आ गया इन्तजार

पहले मधुर था और सह्य
मैं कई कारण दे देती थी
मेरे मन का अपना अर्थ
मेरी दृष्टि न व्यक्त करती थी

हमारे अलग-अलग थे
प्यार के कल्पनालोक
मैं तुमसे रखती रहस्य
तुम उसी संयम से मुझसे

वह घटना!
एक बार बन गया संवाद
भुलाई न जा सकती भाषा
मेरा रहस्य तुम ही हो
और आशा उतनी ही है
जितनी इस जीवन में आशा

(पृष्ठ २९-३०)

प्रेमोत्तर अवधि में आशा-निराशा भेद के निरसन के इस बिन्दु पर पहुँचकर प्रेम के 'अपूर्ण' (पृ० १०२) रूप और 'झूठ' (पृ० १२२) रूप का भी बोध है लेकिन वही जीवन का 'मेरा चमकता समय' भी है। सारा संसार इस 'सम्यक् शोक' (पृ० ११८), सम्यक् शान्ति से भीगा हुआ है।

तुम्हें भय था अन्याय न कर डालें हम
तुमने इतना सहा
अब निश्चिन्त हो दुःख में?
गर्व के लायक अनन्त मिला?

(आश्वासित पृ० १०६)

× × ×

मुझे सिखलाओ सहज
भय कैसे होता है क्षीण
बुद्ध की तरह आसीन
इस काली रात्रि से
तैर आना

(भय, पृष्ठ ११६)

× × ×

मैं त्यागता हूँ अपनी आत्मकथा
जो हुआ था, और आशा
कि अतीत में कुछ जोड़
अतीत को बदला जा सकता
मैं त्यागता हूँ कोई भी अनुभव
अतीत की (?) बजाए जो रह गया अनुभव से
और वह भी तृप्तियों को अणु मान
जिस महातृप्ति की हो सकती कल्पना
महा प्रेम, महा सफलता
मेरे शब्द जिसकी माया गढ़ते
मैं त्यागता हूँ चिन्तामणि मन
रहे, रहे बस यह सूनी तथता!

(संकल्प, पृ० ११७)

मात्र प्रेम से ही आर्य सत्यों की यह दृष्टि नहीं मिलती। ऊपर एक कविता में उल्लिखित बुद्ध और एक कविता शीर्षक 'प्रतीत्य समुत्पाद' (पृ० ११९-२०) उस 'सुनसान' का एहसास कराने वाली मनोभूमि की ओर संकेत करते हैं जहाँ सब-कुछ अपने अस्तित्व में निहित इस एकान्त में, भिज्ञ या अनभिज्ञ रूप से, बसा हुआ है।

गोला बारी से जला शहर
चाय पीते दो सैनिक; सुबह;
भूख भय से जीते जाना रोज

मन के सम्यक् शोक की ओर
आँखें उठाए बिना

(सम्यक् शोक, पृ० ११०)

जब सब अन्त हो चुका होगा
उस महा-महायुद्ध के पश्चात
नष्ट सब नगर
मृत मनुष्य और जानवर
जैसा मैं पाता हूँ
प्रेमहीन सुनसान
पाएगा
उस उजाड़ धरती पर निकला चांद !

(सुनसान—पृ० ११०)

सारी प्रकृति इसी सुनसान से रिसी हुई है—

रात कोई आहट न हुई
पर जब सिरहाने पर था चांद
मेरी नींद खुल गयी
ऐसी पूर्णिमा, इतने चुपचाप

(आहटहीन, पृ० ४४)

···बरखा के बाद पहाड़ों पर
धूप के भी हाथ न लगती
अदृश्य चमकीली हवा

(स्पष्टता, पृ० ११२)

चिड़ियां लौट आई हैं
जल्दी में अव्यवस्थित;
गई थी कतार
इस शिशिर
जो कोई भी
ऊँचे आकाश पर निकला
ऐसी ही हुई हार

(इस शिशिर, पृ० ९६)

यह अनुभव जब वर्णनात्मक होता है तो लोकाख्यान-गीतिका बन जाता है, परीकथाओं में सुनी जाने वाली राजकुमार-राजकुमारी की कहानियाँ। संग्रह की सबसे लम्बी कविता 'कवि और राजकुमार' ऐसी ही कविता है। ऐसी ही कविता 'तूफान की रात्रि' भी है जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—

जो वे थे फिर न रहे
जिस दिन फलांगी प्रेमियों ने घाटी

(पृ० ४...

ऐसी ही कथा कविता 'रत्ना' १५ पंक्तियों में मात्र ५० श... की है—

आठ बज गए
हो गया समय
कहानी में फँसी
रत्ना क्या करे
सत्तर पेज हैं
राजकुमारी कैद है
कैद रहेगी राजकुमारी
रात भर दैत्य के पास
रत्ना क्या करे
बज गए आठ
जिस विश्वास से उठी, रत्ना,
इस स्वीकार को याद रखना
आएगा जीवन में बार-बार,
घड़ियों के निर्मोही
छोटे-बड़े हाथ।

(पृ० ७१-७...

यहाँ उद्धृत कविताओं से जाहिर है कि इनका विन्य... प्रचलित हिन्दी कविता से कुछ अलग है—शायद इसी का... आज की हिन्दी कविता का अभ्यस्त पाठक इन कविताओं... पूरे मुक्त भाव से ग्रहण नहीं कर पाता। ज्यादातर कविता... का गद्य के वाक्य में अन्वय नहीं हो पाता, इसलिए पाठक... सब कुछ भला-भला लगते हुए भी कुछ छूटा-छूटा सा... सकता है। इतनी भी संक्षिप्ति का अभ्यस्त शायद हि... पाठक नहीं हो सका है—

पलंग पर खोज
धूप का कोना
सुबह बिता डाली
बसों की गम्भीर आवाजें
चिड़ियों की हल्की
दूर पर जरा-सा धुआँ
एक स्वप्न जो पास न आया
एक शांति जो दूर ही रही
अपने को जान लेना

सम्भव है, न हुआ।

(नेताजी नगर, पृ० ६०)

कोई भी ऊब कर
नया खोजने के लिए चंचल
परखने रूप की धार
तुम्हारा जैसा भला भी...

(दिल्ली का शिशिर, पृ० ६)

इन कविताओं में राग का घनत्व पूरी पंक्ति में गाँठ की तरह पड़े हुए किसी बिम्ब से या अनुभूतिजन्य शब्द-समूहों की युग्मता से नहीं पैदा होता। "चीनी कविता-सी प्रफुल्ल और स्पष्ट" आस्वाद पूरी कविता के आकार में फैला रहता है। कविताओं को पढ़ने से यह नहीं लगता कि यह रूप सम्बन्धी जागरूकता की कमी के कारण है, बल्कि कथा-गीतियों आदि से यह लगता है कि कवि की रूपाकार सम्बन्धी प्रयोगों में भी दिलचस्पी है।

प्रेम के विश्लेषण के साथ आत्मविश्लेषण भी चलता है—

मेरी दक्षता है प्रपंच
मैं कभी कुछ कर न सका
विविधमुखी प्रतिभा
मेरी सब हीनता पर पर्दा डाले
अधूरे कर्मचारी से बचा
अधूरा कवि और इत्यादि
यही है मेरे अहं का यंत्र—
फैली माया
हर जगह हार कर हूँ
"कहीं और" सुरक्षित।

(मेरी माया, पृ० १०४)

इस 'हर जगह' का एक समाजशास्त्र भी है। यह समाज आम हिन्दी लेखक के समाज से थोड़ा अलग है। "अब तो जा चुकी जीवन से/तुम्हारे मिलन की विदेशी सैण्ट" (विदेशी सैण्ट, पृ० ११३), 'एयर कण्डीशंड' जगह, छोटे शहरों को 'मुफस्सिल' कहना, "ठण्डी रात गये/कार में अकेले लौटना/सो गये हैं नौकर तक, मैं ही हूँ एक/चाँद देखने वाला" आदि उल्लेख एक विशेष वर्ग की ओर संकेत करते हैं। इसी मनोभूमि की वजह से सेमीनार, शापिंग, पार्टियाँ, स्ट्रीट लैम्प, साइको सोमैटिक, स्नोलाइन, स्मार्ट आदि शब्दों का प्रयोग किसी और पृष्ठभूमि में उतना भद्दा नहीं लगता। एडिपस का प्रतीक, रहस्य-बोध में आने वाली बाधाओं के लिए 'क्लाइड ऑफ़ अननोइंग' शीर्षक, और स्नोह्वाइट की परीकथा भी इसी सन्दर्भ में चल सकती है। यहाँ पहाड़ से लेकर वास्को बन्दर तक के दृश्य हैं, जबकि हिन्दी चेतना अभी तक समुद्र को नहीं छू पायी है। 'चलती सीढ़ियों पर खड़े पुरुष' कितनों ने देखे होंगे।

यह अपरिचय की भाषा इन कविताओं की लोकप्रियता के रास्ते में एक रुकावट हो सकती है फिर भी दूर से भी हमें परम शोक में डूबे उजले चमकते ये दृश्य प्रीतिकर लगते हैं। ●

कविता और राजनीति

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

देश या समाज जब कभी इतिहास के विध्वंसक दौर से गुज़रने लगता है तो राजनीतिक ध्रुवीकरण के क्रम में साहित्यकारों के सामने यह प्रश्न अपने संपूर्ण तीखेपन के साथ उठाया जाता है। अपने देश के प्रसंग में यह बात आज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि देश का आर्थिक संकट अब राजनीतिक संकट की पहली अवस्था में पहुँच गया है। संकट के आधार से बाह्य ढाँचे में संतरण—यही वह समस्या है जिसकी वजह से साहित्य को इस समस्या से जूझना पड़ रहा है। दूसरे महायुद्ध के समय भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी। उस समय लगभग सभी भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य के साथ यह प्रश्न उठा था।

वियतनाम की लड़ाई के प्रसंग में 'जनयुग' (१९६५ ई०) से 'साहित्यकार और राजनीति' पर विवाद चलाया गया था। उस समय एक खास किस्म के लेखकों ने इस विवाद के प्रस्तावक के विरुद्ध अभियान चलाया और मूलतः इस तर्क के साथ कि साहित्य का तो राजनीति से सम्बन्ध हो सकता है, साहित्यकार का नहीं। आज फिर जब वही प्रश्न उठाया गया है तो वे कहते हैं कि कवि का संबंध हो सकता है, कविता का नहीं। इस तरह की दुमुँहा बातें होती रही हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक खास प्रकार की राजनीति चलाने में कुशल अज्ञेय, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा फिर इस परिसंवाद में शरीक हैं। पर इस बार शीतयुद्ध का हथियार बदल लिया गया है। इस वहस में रघुवीर सहाय सत्ता प्रतिष्ठान मात्र को कोसते हैं—"आज से तीन साल पहले, नेहरू की मृत्यु से थोड़ा-सा पहले एक धारा चली थी कि राजनीति से हमें कोई मतलब नहीं। वह राजनीति की एक धारा से संबद्ध थी।" खेद है कि यहाँ भी अर्धसत्य के सहारे दिखाने के दाँत का गज़ब ढाया गया है। कहना तो यह चाहिए था कि यह यथास्थिति की एक राजनीतिक धारा थी जो बहुत ही सुनियोजित ढंग से, हर स्तर पर, हर क्षेत्र में लागू की जा थी। कवियों से कहा जाता था कविता लिखो, तुम्हें रा नीति से क्या लेना-देना; अध्यापकों से कहा जाता था शि मन्दिर को राजनीति से अपवित्र मत करो और मज़दू किसानों से कहा जा रहा था—विरोध और आन्दोलन न राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाओ।

यथास्थिति की उस राजनीति का असर नयी पीढ़ी कुछेक लोगों पर बड़ा गहरा रहा है; लेकिन रंग-ढंग बदलक नयी पीढ़ी के इन कुछेक रचनाकारों ने यह कहना आर किया कि राजनीति मात्र भ्रष्ट है; राजनीति का तरह विरोध किया गया और राजनीतिक दलों की भि भिन्न विचारधाराओं को अंतर्वस्तु के स्तर पर समान से भ्रष्ट कहने की लीक पीटी जाने लगी।

ईमानदार लोग स्वीकार करेंगे कि कविता से राजनी को खदेड़ते रहने की मुस्तैदी एक तरफ से बराबर होती है और यह कोशिश शीतयुद्ध के रूप में अब भी जारी बदलाव केवल इतना है कि खदेड़ने की कोशिश में अब की बाजीगरी, घपले और छद्म गम्भीरता के साथ विचा विमर्श का अभिनय आरम्भ हो गया है। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय है कि **'रचनात्मक स्तर पर राजनीति के सा लेखक के रिश्ते का सवाल'** उठाना किस हद तक उन अस्तित्व की लाचारी है। हालाँकि वे अपना डर छिपा न पाते—**'कहीं कविता को फिर राजनीतिक हथियार तो न बनाया जा रहा है ?'** फिर उनकी समझ में यह आता कि नये कृतिकारों का राजनीति से कोई खास लगाव न है। कविताओं में जो आक्रोश व्यक्त हुआ है वह **'निजी ट्रैजि प्रोटेस्ट'** मात्र है। रहस्य की इस गाँठ के खुलते ही वे राह की साँस लेते हैं और मुहावरे का एक फसाद खड़ा कर दे हैं—'वे कवियों की निजी मुद्राएँ हैं स्वयंस्फूर्त और मुक्

अर्थात् व्यवस्था के बदल जाने का कहीं कोई खतरा नहीं है और न व्यवस्था के बदलने में प्रयत्नशील किसी क्रांतिकारी जन-आन्दोलन से इन मुद्राओं का कोई सम्बन्ध है। बस यही वह स्वयंसिद्धि है जिसके सहारे, पता नहीं कैसे तालमेल बिठाते हुए वे इन कविताओं में वयस्कता भी देख लेते हैं; अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की मूल्यवान कोशिश भी। अशोक वाजपेयी की इस मनोदशा पर उनके वर्गस्वामियों की मनोदशा की पूरी छाप है। पीटर वाइस ने ठीक ही कहा है—"जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिंता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती।" कवियों के निजी प्रतिवाद से चूँकि सत्ताधारियों के शिकंजे और भी मजबूत होते चले जाते हैं, अतः अशोक वाजपेयी कवियों की ऐसी राजनीति के समर्थक हो गये हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या सचमुच आज की कविता की जो मुख्य धारा है, उसमें कवियों की निजी मुद्राएँ ही हैं? सापेक्ष राजनीतिक संदर्भ की जिन्हें समझ है वे जानते हैं कि '६०-'६२ के बाद के कवियों की ये मुद्राएँ स्वयंस्फूर्त और मुक्त नहीं हैं बल्कि शासकों के विरुद्ध उभरते हुए व्यापक जन-असंतोष का हिस्सा हैं। युवा कवियों में अनेक ऐसे हैं जिनका पूरा रवैया जन-आन्दोलनों से निर्धारित हुआ है। इनका रवैया, कोई अनोखी चीज़, कोई निरपेक्ष, कोई व्यक्तिगत क्रियाकलाप नहीं है। ऐसी स्थिति में **"काव्य भाषा की नयी तात्कालिकता, चमक और विस्तार"** को "सामूहिक आन्दोलन का परिणाम" न मानना, मौलिक सूझ का दावा मात्र है, सचाई नहीं। फिर उन्हीं की परस्पर-विरोधी बात भी याद आ जाती है, यानी यथार्थ से आज के कवि ने जिन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा साक्षात्कार की कोशिश की है, उन साक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है—" राजनीति से नया सम्बन्ध अंततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है—वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम-भरे साहित्य की ओर जाना है। वह नयी कविता की बिम्बमालाओं, प्रतीक मुद्राओं और रूढ़ियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव-प्रतिभा को फिर जीवन्त, ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है—वह उसे सभा-जुलूस, नारेबाज़ी, भाषण, कर्फ्यू, मतदान, बहस, षड्यंत्र, क्रांति, लाठीचार्ज, युद्ध, गुण नियन्त्रण, मार्शल लॉ, चुनाव, संसद् आदि में यानी उसकी रोज़मर्रा की दुनिया में रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित रहने की कोशिश है।" यह कोशिश व्यापक जनविक्षोभ के दबावों से उत्पन्न है, कोई आकस्मिक चमत्कार नहीं। प्रगतिवादी कविता और आज की कविता का भेद भी इसी सापेक्ष ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना चाहिए।

अशोक वाजपेयी अपने पूरे वक्तव्य में इस बात से सन्तुष्ट हैं कि आज के "युवतर कवियों की राजनीति, या शायद उसे प्रतिराजनीति कहना आज के मुहावरे में बेहतर हो, ज्यादा से ज्यादा सामान्य रूप से वामपक्षी कही जा सकती है: पर वह क्रांतिकारी या आदर्श-प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है। वह निजी प्रोटेस्ट, विद्रोह या विरोध की राजनीति है—अल्वारेज के शब्द उधार लेकर कहें तो वह स्थायी रूप से विरोध पक्ष में रहने की राजनीति।" यह निष्कर्ष भी '६७ और '६९ के चुनाव-परिणामों को ध्यान में रखने पर अर्द्धसत्य प्रतीत होता है। पूर्ण सत्य तो यह है कि जनमत गैर-कांग्रेसवाद के पक्ष में गया है—राजनीतिक ध्रुवीकरण तेज़ी से अहिन्दीभाषी राज्यों में हो रहा है और हिन्दीभाषी राज्यों में यथास्थिति की राजनीति अब भी काफी हद तक जनता की आँखों में धूल झोंककर सत्ता हथिया रही है, किन्तु जनविक्षोभ जारी है। आज के कवियों का राजनीति के प्रति रवैया इस स्थिति का ही पर्याय है। जिस त्वरा में अशोक वाजपेयी अल्वारेज का निष्कर्ष लागू करने को उतावले हैं, वह असल में यथास्थिति की राजनीति का ही रूपभेद से विस्तार है।

ग़ौर किया जा सकता है कि साहित्य और राजनीति के सहसंबंध को लेकर खुले तौर पर कुछ लोग शत्रुतापूर्ण रवैया नहीं अपनाते। इसलिए उनके रवैये की पूरी अंतर्वस्तु और उसके सही स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक हो गया है।

अभी केवल अशोक वाजपेयी के वक्तव्य में निहित अंतर्विरोधों को स्पष्ट किया गया है। देखना यह है कि ऐसी घपलेबाजी क्या पूरे परिसंवाद में नहीं है? **सभी वक्तव्यों को पढ़ने पर घपलेबाज़ों का संयुक्त मोर्चा साफ-साफ दिखाई पड़ता है।** मोर्चे के 'आधुनिक' दावेदार श्रीकांत वर्मा का कहना है—"साधारणतया जिसे विरोध की कविता कहा जाता है, उसके अस्तित्व में वंचना होती है। विरोध की कविता का अर्थ है राजनीति से विरोध की कविता। इस

तरह की कविता राजनीति की शर्तों पर उसका विरोध करती है; दूसरे शब्दों में वह विरोध नहीं करती, वह राजनीति को कविता का प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र मानकर उसी के नियमों से अपना संगठन करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि राज्य-सत्ताएँ इस तरह के काव्य का स्वागत करती हैं बल्कि अभिनन्दन करती हैं। विरोध का विकल्प पलायन नहीं—बल्कि गहरा आत्मसाक्षात्कार है।" क्या श्रीकांत बता सकते हैं कि ऑक्टिवियो पॉज का अभिनन्दन उन्होंने किसी राज्यसत्ता की ओर से किया था? उस अभिनन्दनीय कवि ने छात्र-आन्दोलन के दमन के प्रतिवाद-स्वरूप जो कुछ भी लिखा था, उसके 'अस्तित्व में वंचना' थी? इतना ही नहीं श्रीकांत यह मानते हैं कि आत्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध शुद्ध अनुभव से है, विचार से उसका दूर का भी रिश्ता नहीं होता— "राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं विचार होता है। वह या तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित विचार का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के ज़रिये अनुभव को झुठलाती है।" श्रीकांतजी के लिए अनुभव हारिल की लकड़ी है, जिसे वे पूरी ताकत से, बकसरत पकड़े हुए हैं। उनके लिए 'कविता और राजनीति' के बहाने 'अनुभव और विचार' की लड़ाई है जिसमें अनुभववाद के वे प्रवक्ता हैं। कविता की स्वायत्तता अगर इतनी संकीर्ण है कि उससे विचार का बहिष्कार अनिवार्य है तो फिर यह देखना पड़ेगा कि क्या अनुभव की भी कोई सीमा उनके पास है। वे कविता में उन्हीं अनुभवों के कायल हैं जिनका **'उत्तरदायित्वों'** और **'प्रतिवादों'** से कोई लगाव नहीं है। यहाँ आकर यह साफ हो जाता है कि श्रीकांत वर्मा के अनुभववाद और अशोक वाजपेयी के 'निजी प्रोटेस्ट' अर्थात् 'अनुभूत वास्तव को पूरे साहस से चरितार्थ करने की कोशिश' में सिर्फ बलाघात का फर्क है, अंतर्वस्तु एक ही है।

घपले की शब्दावली में उलझाव की कोशिश करने वालों का एक गिरोह है। इस गिरोह की अपनी एक राजनीति है जो एक खास वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर सांस्कृतिक उत्पीड़न बनाये रखना चाहती है। जिस वर्ग का हित-साधन ये करते हैं, वह बाह्य कारण है और इनके व्यक्तिगत हित आंतरिक कारण हैं। परोपजीवी वर्ग के पिछलग्गुओं के भीतर भी परस्पर हितों का टकराव है—अतः एक घटक और दूसरे घटक के भीतर गुणात्मक भेद बनता चला जा[ता] है। यही वह अन्तर्विरोध है जो इस बहस में शरीक घ[टक]बाज़ों की विशिष्ट अंतर्वस्तु को निर्धारित कर रहा है।

इस विवाद को 'नैतिकता' की तरफ मोड़ने का प्र[यास] अज्ञेय की ओर से हुआ है। वे मानते हैं कि नयी पीढ़ी [का] कवि **"अनैतिक या नीति-अतीत सूत्र से एक नैतिक यु[द्ध]** लड़ रहा है। अज्ञेय राजनीति पर पर्दा डालकर नीति में [आ] खड़े हुए हैं। मानो आज के कवि की नैतिकता जन्मजात है। पूछा जा सकता है अनादि काल से कवि की प्रकृति में नै[ति]कता अंतर्भूत रही है क्या? या रचनात्मक क्रियाकलाप [से] वह अनिवार्य रूप से चिपकी होती है? हमें मालूम है वे क[दा]भी यह स्वीकार नहीं करेंगे कि वर्गसमाज में व्यक्ति अ[पने] हितों के लिए समाज के हितों का हनन करता है। जाहिर [है] ऐसी हालत में वह हरेक के विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है। [जि]समाज में निजी संपत्ति का प्रभुत्व होता है, उसमें 'नि[जी] संपत्ति व्यक्तिगत और समाजगत हितों में अनिवार्य रूप [से] द्वन्द्व के बीज बोती चलती है।' आज आदमी को खाकर आदमी फलफूल रहा है। इस स्थिति पर कुमारेन्द्र पारसन[ाथ] सिंह के 'अनुभव' पर ग़ौर करें—

> **बात बातों का जवाब नहीं होती—**
> **सवाल हो सकती है।**
> **जैसे आदमी आदमी के लिए**
> **आज सबसे बड़ा सवाल है।**

('प्रतिश्रुत पीढ़ी'…में संगृहीत कविता [से])

संविधान में निजी संपत्ति के अधिकार की गारंटी से ही ये सारे सवाल उत्पन्न होते हैं। इस संदर्भ में मानवीय स्व[तं]त्रता के सारे वायदे मक्कारी के अलावा और क्या लग सक[ते] हैं? एक ओर उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व [और] दूसरी ओर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—मानवीय स्वतंत्रता—[की] सीधी टकराहट है और इसमें फिलहाल जीतता है नि[जी] स्वामित्व। बोलने की आज़ादी, काम करने की आज़ादी[,] कोई किसी को गुलाम नहीं बना सकता; पर निजी संप[त्ति] के अधिकारों के उपभोग की आज़ादी से पूरे देश को गुला[म] बनाया जा रहा है। आज का कवि इसे साफ, नंगी आँ[खों] देखता है और वही नंगी आँखें कविता में रख देता है—

> **देखो,**
> **इस देश की हर सड़क**

तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है
चीज़ों और नामों से भरी इन चौड़ी जगहों पर
तबीयत अचानक उखड़ने लग जाती है
तब तुम्हें हर बार यही क्यों लगता है
—मकान में और शहर में बड़ा भारी भेद है

—लीलाधर जगूड़ी

पर हम उन्हें क्या कहें जो तिजोरी तक जाने वाली सड़क को हर समझदार की आँखों से ओट करने में लगे हैं—वे इस सड़क को न देखने का नटधर्म निभाते हैं और कहते हैं आत्म-साक्षात्कार करता हूँ। "अनुभव की दुनिया और नैतिक उत्तरदायित्वों की दुनिया, दोनों के बीच आज तक एक गहरी खाई है। अनुभव की दुनिया कविता की दुनिया है, उत्तरदायित्वों और प्रतिवादों की दुनिया राजनीति की दुनिया है।"

—श्रीकांत वर्मा ('जन', पृ० ३९, अप्रैल '६९)

जिस तरह अनुभव की दुनिया में 'तिजोरी तक जाने वाली सड़कें' नहीं हैं, उसी तरह अज्ञेय की समझ की दुनिया में राज्य पूँजीपतियों और सामंतों के वर्ग-स्वार्थ की पूर्त्ति का हथियार न होकर, निर्गुण ब्रह्म की तरह 'निर्वैयक्तिक', सूक्ष्म, अरूप कोई अजूबा-सा है। भला उससे लड़ें कैसे! इससे बेहतर तो यही है कि कविता और राजनीति के संबंध के प्रसंग में राज्य के वर्ग-स्वरूप पर पर्दा डाल दिया जाए। और अज्ञेय इस चाल में सफल हुए हैं।

अन्त में इतना ही कहना शेष है कि आज की कविता का एक ही संदर्भ है और वह है राजनीति। राजनीति को अलग कर दीजिए, आज की कविता के किसी भी शब्द को, किसी भी वाक्यखंड को समझ पाना मुश्किल है।

राजनीति कविता की अंतर्वस्तु है और कविता अपने-आपमें निरन्तर विकसित होता हुआ एक साँचा है—एक खास प्रकार की संवेदना को व्यक्त करने वाली विधा—जिसका विकास होता चला आ रहा है। जो कविता प्रचार लगती है, वह साँचे का घटिया ढंग से इस्तेमाल होने के कारण ही घटिया नहीं लगती, बल्कि उसकी अंतर्वस्तु को भी संवेदना-शून्य समझना चाहिए। कविता को पुनर्जीवित करने के क्रम में अब केवल 'राजनीति' ही ऐसा संदर्भ है जो धर्म का स्थानापन्न, जनवादी स्थानापन्न हो सकती है—

मैं बैठ गया हूँ एक अँधेरी गुफा में
पैना रहा हूँ आदिम अस्त्र कुछ
जोखम भरे शब्द
और कभी-कभी छापे मार देता हूँ
आधुनिकतम हथियारों से सुरक्षित
सभ्यता के खेमे पर
लिख देता हूँ अपने लहू से एक कविता
एक चेतावनी यातनागृहों की दीवारों पर

(राजीव सक्सेना, 'वियतकांग', प्रतिश्रुत पीढ़ी, पृ० १६१)

'५१-५२ में लिखित मुक्तिबोध की एक कविता आज भी अपने राजनीतिक सन्दर्भ की दृष्टि से नयी प्रतीत होती है—

यदि यह बदरिया गगन में छाकर उधर ही गयी,
बरगदों की प्यास
मूलों में उभर, उठ ऐंठ कर
बँध व्यंग्य आकृति में अगर
घिर ही गयी;
जल ताल का यदि सूखकर
लम्बी दरारों में हृदय की भूख भर
भूरी हँसी हँस ही दिया
यदि हर्ष व्याकुल विहग बिजली-तार पर
बैठा कि लटका
काल ने ग्रस ही लिया
फिर भी तुम्हारी आस है'"

मुक्तिबोध, (पथरेखा खिंचेगी ही, प्रतीक-७, पृ० ६१)

कविता का भविष्य उसकी अंतर्वस्तु निर्धारित करती है। हर युग सामाजिक दबावों से अन्तर्वस्तु के विभिन्न तत्वों की मात्रा और गुणात्मकता में हेरफेर करता है। आज की कविता की अन्तर्वस्तु राजनीति है; उसके विभिन्न तत्त्व क्या हैं और उनकी गुणात्मकता का स्वरूप क्या है—यह अलग विषय है।

●

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली : डॉ० रांगेय राघव	१०.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.००
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	६.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
तुलसीदास : चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान	६.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र	३.५०



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८ फ़ैज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डॉ० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाजार दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' पर संवाद ।
- डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' पर सर्वश्री अमृतलाल नागर, नेमिचन्द्र जैन, और चन्द्रबली सिंह की समीक्षाएँ ।
- डा० शिवप्रसाद के उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' पर श्री विजयदेवनारायण साही की समीक्षा ।
- डा० रामविलास शर्मा का निबंध 'अस्तित्ववाद और नई कविता' ।
- श्री सुरेन्द्र चौधरी की लेखमाला 'मार्क्सवाद और समकालीन बोर्ज्वा विचारधाराएँ' की पहली किस्त ।
- 'राजनीति और कविता' पर श्री कमलेश का निबंध ।
- 'अस्तित्ववादी सौन्दर्य शास्त्र' पर डा० कुमार विमल का निबंध ।
- कविताएँ ।

'राजकमल' सर्वेक्षण माला



अब छः पुस्तकें उपलब्ध

सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

इस पुस्तक माला का उद्देश्य सजग पाठक को आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों, साहित्य विधाओं और विशिष्ट प्रवृत्तियों का परिचय देना है।

रहस्यवाद	प्रगतिवाद	हिन्दी कहानी
डा० राममूर्ति त्रिपाठी	डा० शिवकुमार मिश्र	डा० इन्द्रनाथ मदान
रु० ७.००	रु० ७.००	रु० ७.५०

ये तीन नई पुस्तकें
और प्रकाशित
हो चुकी हैं।

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
डॉ० रामदरश मिश्र
•
रु० ८.००

प्रेमचन्द
डॉ० गंगाप्रसाद विमल
•
रु० ७.००

निराला : काव्य समीक्षा
डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
•
रु० ७.५०

श्रीमती शीला सन्धु, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।



सम्पादक : नामवर सिंह

आलोचना

त्रैमासिक

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वर्ष १८ : नवांक ६, (पूर्णांक ४६) अप्रैल-जून १९६९, मूल्य ३.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००

विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, 'दिल्ली के परिपत्र संख्या डी॰ ई॰ वी/८/एस॰ ई॰ लायब्रेरी/मैग॰/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

●

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मंगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

— यहाँ से काटिये —

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................

हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट......................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन..............................

— यहाँ से काटिये —

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

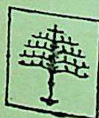
एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा : डॉ० प्रतापनारायण टंडन	१२.००
बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.५०
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	८.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
केशव सुधा : डॉ० विजयपाल सिंह	१०.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

'नेशनल' के उत्कृष्ट आलोचना-ग्रंथ

आस्था के चरण	डॉ० नगेन्द्र	५०.००
रस-सिद्धान्त	,,	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	,,	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	,,	१७.५०
देव और उनकी कविता	,,	१२.००
आलोचक की आस्था	,,	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	,,	५.५०
विचार और अनुभूति	,,	५.५०
विचार और विवेचन	,,	५.५०
विचार और विश्लेषण	,,	६.००
अनुसंधान और आलोचना	,,	४.००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	,,	५.५०
सियारामशरण गुप्त	,,	१०.००
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	,,	३.००
काव्य-बिम्ब	,,	४.००
चेतना के बिम्ब	,,	५.००
कूटकाव्य—एक अध्ययन	डॉ० रामधन शर्मा	१५.००
राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	३५.००
चिन्तन के क्षण	,, ,,	७.५०
समीक्षात्मक निबन्ध	,, ,,	१२.००
युगचारण दिनकर	डॉ० सावित्री सिन्हा	१२.००
तुला और तारे	,, ,,	९.००
ध्यान-सम्प्रदाय	डॉ० भरतसिंह उपाध्याय	१२.५०
छायावादोत्तर काव्य	प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद	१०.००
भक्तिकाव्य में रहस्यवाद	डॉ० रामनारायण पाण्डे	२५.००
हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध	डॉ० उदयभानुसिंह	१५.००
नाट्य-समीक्षा	डॉ० दशरथ ओझा	६.००
आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त	,, ,,	७.००
शरतचन्द्र—व्यक्ति और साहित्यकार	मन्मथनाथ गुप्त	६.००
गुप्तजी की काव्य-साधना	डॉ० उमाकान्त	१०.००
अज्ञेय का कथा-साहित्य	ओम प्रभाकर	६.५०
भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० फतहसिंह	७.५०
नाट्यकला	डॉ० रघुवंश	७.५०
खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना	डॉ० आशा गुप्ता	२०.००
हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण	महेन्द्र चतुर्वेदी	६.५०
समसामयिक हिन्दी साहित्य-उपलब्धियाँ	सं० मन्मथनाथ गुप्त	१३.५
सौन्दर्य-तत्व और काव्य-सिद्धान्त	डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे	८.०
डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त	नारायणप्रसाद चौबे	८.०
नरेन्द्र शर्मा और उनका काव्य	लक्ष्मीनारायण शर्मा	६.०
प्रेमचन्द के नारी-पात्र	ओम अवस्थी	६.०
साहित्य-समीक्षा	मुद्राराक्षस	६.०
रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त	७.०
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुबीरसरन झालानी	५.०
रंगमंच और नाटक की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१२.०
आज का हिन्दी साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त	१०.०
यशपाल की कहानी-कला	कुमारी अनुविग	२.५
साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान	सं० डॉ० देवराज उपाध्याय	१०.०
हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन	डॉ० भगतसिंह	३०.०
देव ग्रन्थावली	डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय	२०.०
महिमभट्ट	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	२५.
हिन्दी समस्या-नाटक	डॉ० मान्धाता ओझा	२५.
जयशंकर प्रसाद—वस्तु और कला	डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	३५.
कुछ निबन्ध	डॉ० उमाकान्त	३.
गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता	डॉ० महीपसिंह	३०.
मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति	डॉ० मदनगोपाल गुप्त	३५.
कहानी-स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव	१५.
हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना	डॉ० प्रेमस्वरूप	३५.
ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	३५.
सन्त-साहित्य और साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१५.
कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भगवतप्रसाद दुबे	१५.
सांख्यकारिका	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	१३.
माखनलाल चतुर्वेदी—यात्रा पुरुष	सं० श्रीकान्त जोशी	३०.
शृंगार-युग में संगीत-काव्य	हेम भटनागर	२५.



नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२१३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली

चार अफ्रीकी कविताएँ

प्रस्तुतकर्ता : विद्यानिवास मिश्र

एक दिन

बेटे, एक दिन हम सब
खुले दिल आँखे भर
हँसते थे ठहाका मार,
पर अब,
महज दाँत निपोरते हैं
बर्फ़ की डालियों सरीखी दीठ
पीछे ढूँढ़ती परछाइयों में
कहीं खोयी राह।
बेटे वह दिन गया
जब हाथ में हम हाथ लेते
परस्पर हृदय ही हम थाम्ह लेते
हम दायाँ हाथ अब भी मिलाते हैं,
मरे मन,
पर न जाने
बायाँ हाथ
खाली जेब में क्यों लपक जाता है।
'यह घर तुम्हारा है, पुनः आना'
लोग कहते हैं
पहली बार आता है
और जब मैं चाहता आऊँ
धरू होकर, अगली बार
अगली बार आती नहीं
भिड़े मिलते द्वार।
बेटे ज़िन्दगी में सीखा बहुत है,
सीखा है लगाना कई चेहरे
जैसे कि वह भी ऊपरी परेशान हो
धरू चेहरा,
दफ्तरी चेहरा
चेहरा राह चलते का,
मेहमान चेहरा
मेज़बान चेहरा
हर एक की मुस्कान की किस्में अलग हैं
पूर्व निश्चित हैं, तस्वीर की-सी टिकी भी हैं
और सीखी है दंत निपोरी
हँसी खाली
सीखी है हथमिलौवर
बिना मन के
भँज गया हूँ विदा लेते कहे
'फिर मिलेंगे'
जब कि भीतर हो रहा हो
चलो छुट्टी मिली,
ढँग आ गया है
खुश न हूँ तो भी कहूँ
आपसे मिलकर मुझको खुशी है
ऊबकर भी मैं कहूँ—
बड़ी दिलचस्प बातें आपकी।

बेटे, पर यह सब झूठ।
विश्वास मानो,
मैं वही होना चाहता हूँ
जो था जब कि तेरी उम्र पर था
चाहता हूँ भूल जाऊँ
मुर्दादिली का यह सरोसामान
फिर से चाहता हूँ सीखना
कैसे हँसा जाता है,
क्योंकि अब मेरी हँसी
मुझी को आइने में दीखती है
सर्प के विषदन्त सी उघड़ी
उजासी।

इसलिए बेटे मुझको दिखाओ
कसे हँसा जाता है
कैसे मैं स्वयं भी हँसा करता था
जबकि तेरी उम्र पर था।

('गेब्रील ओकारा' की कविता के आधार पर)

अफ्रीका की विनती

मैं तुम नहीं हूँ—
पर भला तुम मुझे क्यों
देने लगे मौक़ा
मैं मैं बना रहूँ
तुम हमेशा सोचते हो—
'यदि मैं तुम्हारी जगह होता'—
जब कि तुम यह जानते हो—
मैं तुम नहीं हूँ,
फिर भी तुम मुझे
मैं न रहने दे रहे।
तुम हमेशा मेरे मामलों में
दखल देते हो,
मानों ये मामल तुम्हारे हों
और तुम मैं हो गये हो।
बिल्कुल ग़लत है, बेवक़ूफ़ी है
तुम्हारा यह सोचना
मैं हो सकूँगा तुम
मैं तुम्हारी तरह
बोलूँगा, चलूँगा, सोचूँगा।
खुदा ने मुझको मैं बनाया
तुमको बनाया तुम
खुदा के वास्ते
मुझको मैं बने रहने की द छूट।

('रोलैण्ड तोम्बेकइ डेम्पटर' की कविता के आधार

प्रणयगीत

तन की परछाईं मत मानो
प्रिय न मुझे दो
परछाईं की प्रीति।
परछाईं तो घुल जाती है
धुँधली सँझा के गेरू में
और तुम्हें मैं धारण करती
उजली ऊषा की लाली तक।
प्रिय मुझको तनिक न भाता
लाल मिर्च-सा तीखा प्यार
भीतर आग भड़क जाती है।
कभी बताओ शान्त हो सके
भूख हृदय की शोख प्यार से

प्रिय मुझको उपधान न मानो
केवल सोने का सुख साधन
दिन में मिलना भी हो
दुर्लभ
मुझे न ऐसा प्यार चाहिए।
यदि सचमुच ही प्यार तुम्हें है,
मुझको सपनों का दर्जा दो
सपने तेरे जीवन निशि में
सपने मेरी आशा दिन में।

('फ्लेवियेन रनइबो' की कविता के आधार

खोज

विगत समिधा है
प्रस्तुत आग की,
भविष्यत्—
उस आग का भटका धुआँ है
जो कि बादलों से घिरे आकाश में
लुक जा छिपा है।
तू सदय हो, मृदुल हो, प्रिय
शब्द ही स्मृति जाल बनते
स्मृतियाँ
मूर्ख भाइयों के अनधिकृत हाथ में औज़ार।
विज्ञजन जब मौन हों,
तब जान लेना,
पढ़ लिया है हाथ यीशू का,
उन्होंने चेहरे में तथागत के।

प्रिय सुमति की, मार्गदर्शन का!
सीख मत लो उस विज्ञजन की
मृदुल वाणी से
सीख लो उस आग से
जिसने कि उनकी मुखर वाणी को
मौन से संस्कृत किया है।
वृष्टि मूसलधार
—हम तुम सो रहे थे
वासना के भार—
तड़ित की द्युति में दिपाती
सुमति के नवलेख
विज्ञजन ने
मूर्ख भाण्डों के रहे ही दास।

('त्वेसी ब्रेड' की कविता के आधार पर)

शब्द-अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि

विद्यानिवास मिश्र

भाषाशास्त्र के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि न केवल भारत के लिए बल्कि समस्त विश्व के लिए महत्त्व रखती है। जिन सिद्धान्तों के बारे में आज भी असंदिग्ध विचार आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में उपलब्ध नहीं हैं उन्हीं का प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र में बहुत ही स्पष्ट और तर्कशुद्ध प्रतिपादन मिलता है।

भाषा के सम्बन्ध में मूलभूत भारतीय धारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं—

(१) प्रत्येक ज्ञान के पूर्व भाषा का व्यापार है। समस्त ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध-सा हो, इस प्रकार प्रतिभासित होता है।

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।" (वाक्यपदीय)

यह सिद्धान्त आधुनिक चिन्तक ह्येल्म् स्लेफ के इस सिद्धान्त से मिलता है—"भाषागत रूप के लिए प्रतीयमान वस्तु आवश्यक शर्त नहीं है, बल्कि वस्तु के लिए ही भाषागत रूप आवश्यक शर्त है।"

(२) भाषाशास्त्र की दृष्टि में भाषागत विवरण का प्रामाण्य स्वयं भाषा में ही निहित है, भाषा के बाहर नहीं, क्योंकि भाषा ही भाषाबोध तथा भाषाप्रयोग के लिए एकमात्र वास्तविकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा का प्रामाण्य भाषा से बहिर्भूत परिस्थितियों में ढूँढा जाता था या भाषा से विच्छिन्न वैयक्तिक, मानसिक व्यापार में, परन्तु आज अर्थ के स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में यह विचारधारा पश्चिम में दबे स्वर में मुखर होने लगी है कि भाषा व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, एक समुदाय के द्वारा स्वीकृत मूल्य है, इसलिए व्यक्ति के लिए मानसिक व्यापार में भाषा का प्रामाण्य ढूंढना उचित नहीं है, साथ ही समुदाय की परिस्थितियाँ भाषा के व्यवहार के लिए केवल माँग पेश करती हैं, भाषा का नियंत्रण भाषा में निहित क्षमता ही कर सकती है।

(३) भाषा किसी भी विचार की सत्यता या तर्कसं की अपेक्षा नहीं रखती, नैयायिक की दृष्टि में भले ही कहना तर्कसंगत न लगे कि "वह आग से सींचता है, भाषाशास्त्री की दृष्टि में इसका महत्त्व नहीं कि विचार में तर्कसंगत है कि नहीं, परन्तु बोध्यमान अर्थ असंगत होना चाहिए और यदि बोध्यमान संगत न होता तो आग से सींचता है,' इस वाक्य की अर्थप्रतीति न होती अर्थप्रतीति न होने के कारण यह प्रतिप्रश्न भाषा में स न होता कि आग को तुम सिंचन व्यापार का साधन कैसे सकते हो (नागेश—परमलघुमञ्जूषा—योग्यताविच योग्यता इस प्रकार भाषाशास्त्री की दृष्टि में अर्थबो लिए अपरिहार्य नहीं है। आधुनिक विचारक लास्लो एन ने अपने 'नोट्स ऑन ट्रुथ मीनिंग ऐण्ड सिनानिमिटी' शी लेख में इसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है "जहाँ तर्कशास्त्री सत्यता और अर्थ दोनों की समान अपेक्षा रखता है, वहाँ भाषाशास्त्री सत्यता और योग्य कोई दिलचस्पी रखे बिना केवल अर्थ से प्रयोजन रखता लिप्स्ची ने अपने 'प्राब्लेम्स ऑफ़ सिमैण्टिक्स' शीर्षक ले इसी सिद्धान्त का समर्थन इन शब्दों में किया है, "स और असत्यता के प्रश्न दार्शनिक अर्धचिन्तन के लिए संगति रखते हैं, भाषाशास्त्री अर्थ के प्रश्न को इन प्रश्न स्वतंत्र रूप में अलग करके देखता है।"

(४) भाषा की संघटना (और अर्थ की संघटना इ अविभाज्य अंग है) प्रयोग और मात्र प्रयोग पर आधृ इसीलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध सम्बन्ध है, निश्चित सम्बन्ध है। किसी वक्ता की यदृच्छा पर अवलं नहीं है। 'विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः' (वा पदीय, काण्ड २)। व्याडि के संग्रह में इसी को दूसरे कहा गया है—कि शब्दार्थ सम्बन्ध का कोई एक स्रष्टा नहीं

'सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः'। महाभाष्यकार पतञ्जलि भी इसीलिए कहते हैं कि अर्थवान् का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है—'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध' और इस सम्बन्ध का प्रामाण्य लोक के द्वारा है। अगर यह सम्बन्ध पूर्वसिद्ध न होता तो ज़मीन पर घड़ा और मुँह में घड़ा इस शब्द का उच्चारण दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं, पर 'घड़ा' शब्द उच्चारण करने से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, जो घड़ा नामक वस्तु के लिए वक्ता और श्रोता का एक ही अभिप्राय द्योतित कर देता है। सेरेत्सेमा ने 'ए स्टडी ऑफ़ ग्लासमेटिक्स' में इसी सिद्धान्त को इस रूप में रखा है कि किसी भी शब्द का आत्यन्तिक विच्छेद की अवस्था में कोई अर्थ नहीं होता है, किसी सन्दर्भ में ही अर्थ को उद्भूत करता है और यह सन्दर्भ भाषाप्रयोगगत सन्दर्भ ही हो सकता है। बाहरी आधार पर भी अर्थ का व्यवहार होता है किन्तु पाणिनीय भाषा-चिन्तन में दो प्रकार के अर्थों में स्पष्ट विभेद किया है—बहिर्भूत अर्थ और आन्तरिक वाच्यार्थ। बहिर्भूत अर्थ के आधार पर भाषा का विवेचन सम्भव नहीं है, इसीलिए पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के १-२-५६ सूत्र में यह प्रतिपादित किया है कि समास के निर्धारण में बहिर्भूत अर्थ अवच्छेदक नहीं हो सकता।

(५) चौथे सिद्धान्त से ही उद्भूत है कि भाषागत अर्थ बाह्य अर्थ या प्रतीयमान वस्तु से तथा उस अर्थ के प्रत्यय से एकदम पृथक् है। वाक्यपदीयकार ने स्पष्ट रूप में कहा है कि शब्द के उच्चारण से तीन विभिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—शब्द के प्रयोग करने वाले और सुनने वाले को उस शब्द का ज्ञान, उस शब्द का बाह्य अर्थ तथा उसका स्वगत अर्थ। तीनों चीजों से शब्द का सम्बन्ध अलग-अलग ज्ञान के क्षेत्र में है। भाषाशास्त्र केवल शब्द और उसके स्वगत अर्थ के सम्बन्ध तक अपने को सीमित रखता है।

"ज्ञानं प्रयोक्तुं बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।"

(वाक्यपदीय, काण्ड ३)

एन्ताल ने अपने ग्रन्थ 'क्वेश्चन्स ऑफ़ मीनिंग' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार में किया है, जहाँ कि उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि अर्थ और प्रतीयमान वस्तु एक नहीं है और न अर्थ और अर्थबोध ही एक है। अर्थ वस्तुतः भाषा समुदाय विशेष में, संकेत विशेष में, प्रयोग में अभिव्यक्त होने वाली एक वस्तुनिष्ठ इकाई है। यह इकाई यदि वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होती तो प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता, किन्तु चूंकि समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति को अर्थ की प्रतीति एक-सी होती है इसलिए भाषागत अर्थ आत्मनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ रूप में ही सम्भव है। अर्थ और अर्थ के प्रत्यय में न केवल स्वरूप-भेद है अपितु क्रम-भेद भी है, क्योंकि अर्थ का बोध और अर्थप्रत्यय का बोध—दोनों दो क्षणों में होते हैं। दूसरे क्षण को ही मीमांसाशास्त्र में ज्ञातता और न्यायशास्त्र में अनुव्यवसाय कहा गया है।

भारतीय चिन्तन में अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा ही गहरा मतभेद है। अर्थ जाति है या व्यक्ति, यथार्थ है या अयथार्थ, आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ, भाव रूप है या अभाव रूप, इन सभी विकल्पों के बारे में विभिन्न दर्शनों में गहरा मतभेद है। प्रत्येक दर्शन ने इस विवाद में अपने-अपने परमार्थ चिन्तन की दृष्टि से अपने विचार रखे हैं। भाषाशास्त्र भी भारत में दर्शन के रूप में विकसित होने के लिए बाध्य हुआ, इसलिए उसे इस विवाद में पड़ना पड़ा, परन्तु उसने वस्तुरूप बाह्य अर्थ की अस्पष्टता और अनिश्चितता का समाधान यह कहकर कर लिया कि बाह्य अर्थ का भाषागत समानान्तर अर्थ वचन, लिंग और अन्य सन्दर्भों के कारण सुनिश्चित है और बाह्य अर्थ जाति हो या व्यक्ति, या दोनों हो, उससे भाषागत अर्थ का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, इसलिए हमें दोनों अर्थ स्वीकार हैं।

भाषाशास्त्र ने, विशेष रूप से इसके पाणिनीय सम्प्रदाय ने, अपने मान-स्तर और प्रामाण्य का स्वतन्त्र ढांचा खड़ा किया, ताकि भाषा की स्वयंपूर्ण वास्तविकता के बारे में कोई सन्देह न किया जा सके। अपने को दर्शन-रूप में परिणत करने के इस दबाव के कारण ही भर्तृहरि ने 'स्फ़ोट' के सिद्धान्त को सामने रखा और प्रतिपादित किया कि वस्तुतः अखंड वाक्यार्थ ही एकमात्र वास्तविक इकाई है, पद और वर्ण भाषा की दृष्टि से नहीं, भाषाशास्त्र की दृष्टि में उपयोगी साधन के रूप में आरोपित इकाइयाँ हैं। वस्तुतः भाषा की वास्तविकता की दो उपाधियाँ हैं—उसका बाह्य अर्थ और उसका ध्वनिसमुदाय।

'असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा सत्यनिबन्धनम्"

(वाक्यपदीय, काण्ड २)

यह वास्तविकता तर्क से बाधित कभी नहीं होती क्योंकि

यह तर्क से परे है। यह भाषा की लोकप्रसिद्धता में अन्तर्निहित है। दूसरे शब्दों में समुदाय विशेष द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति में अन्तर्निहित है। समुदाय की जीवन-पद्धति तर्क से बाधित नहीं होती, वह समुदाय की अस्वीकृति से ही बाधित हो सकती है—

"धर्मस्य-चाव्यवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिता;
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाध्यते।"
(वाक्यपदीय, काण्ड १)

भाषा की वास्तविकता ऐन्द्रिय प्रतीति या सादृश्य-प्रतीति या धारणात्मक प्रतीति के रूप में गम्य नहीं होती। यह वस्तु जगत् के भाषात्मक अमूर्त्तीकरण के रूप में गम्य होती है। स्फोट इसी प्रकार का अमूर्त्तीकरण है। यह अमूर्त्तीकरण इसीलिए वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि उसके प्रतिभास का साझीदार समुदाय-विशेष का प्रत्येक वक्ता-श्रोता है। इस अमूर्त्तीकरण के प्रत्यक्ष के लिए एक स्वतन्त्र प्रत्ययप्रक्रिया की स्थापना इसलिए करनी पड़ी है। यह प्रक्रिया ही 'प्रतिभा' है। 'प्रतिभा', जोकि भाषा के निरन्तर प्रयोग और तत्प्रयोग-जन्य संस्कार के साथ समवेत है। श्री गौरीनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'फिलासफी ऑफ़ वर्ड एण्ड मीनिंग' में भारतीय भाषाशास्त्र में वर्णित प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है—

"प्रतिभा अपरोक्ष, सुव्यक्त और अद्वितीय होती है। यह प्रकाशस्वरूप है, मात्र बुद्धिविमर्श स्वरूप नहीं। इसी कारण प्रकाश के स्वतः स्फूर्त्त आलोक में किसी भी उक्ति का अर्थ विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यह प्रकाश शब्द या उसके संस्कार के द्वारा साक्षात् उद्भूत होता है।"

स्फोट सिद्धान्त दो उद्देश्यों की सिद्धि करता है—एक तो यह भाषागत अनुभव के समानान्तर जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व को महत्त्व देता है ताकि ऐन्द्रिय जगत् के ऊपर अवलम्बित होने की आवश्यकता न रह जाए और दूसरे भाषाशास्त्र की दूसरी इकाइयों की कल्पना को प्रमाणित करने के लिए आधार देता है, क्योंकि वे स्फोट से ही उद्भासित होकर भाषा की संरचना का सम्बन्ध स्पष्ट कर सकती हैं।

भाषाशास्त्र के पाणिनीय सम्प्रदाय ने संघटनात्मक दृष्टि का निर्वाह यदि इतनी सफलता से किया, उसका कारण यही था कि यह सम्प्रदाय यह दृढ़ मत रखता रहा है कि भाषा समुदाय की उद्भावना है, इसलिए इसे वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, साथ ही भाषागत व्यापार जगत् को बाह्य जगत् के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, यद्यपि वह स्वयं चारों ओर घिरे हुए जगत् का एक अमूर्त्त रूप है। यदि वे ऐसा मान के रखते तो बाह्य जगत् की विविधताओं के आनन्त्यदोष से तथा आत्मनिष्ठता से जन्य धूमिलता और असिद्धता के दोष से भाषागत अर्थ को मुक्त न कर पाते।

भारतीय भाषा दृष्टि में अर्थ इसलिए अमूर्त्त है कि इसे भाषा के व्यवहार की सर्वग्राह्यता के कारण मूर्त्त आकार दिया नहीं जा सकता। भाषागत अर्थ मूर्त्त है क्योंकि वह समान रूप से प्रत्येक ऐसे वक्ता द्वारा ग्राह्य है जिसे कि भाषा व्यापार के निरन्तर अभ्यास से भाषागत जागरूकता आ गई। इसी दृष्टि का उन्नयन भारतीय साहित्य-शास्त्र ने रस अनुभव के स्वतन्त्र धरातल के निर्माण के रूप में किया। अनुभव के इस धरातल पर इसीलिए समस्त बाह्य जीवन के अनुभव साधारणीकृत रूप में ही प्रस्तुत होते हैं और व्यक्ति की सीमाओं का परिगलन हो जाता है। भाषाशास्त्र की ही दृष्टि ने साहित्य-शास्त्र के मूल्य को शाश्वत, देशकाल-निरपेक्ष और स्वयं सापेक्ष आधार प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा दी है। इस दृष्टि का प्रयोग आज के विश्वजनीन चिन्तन में भी इसीलिए और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि यह दृष्टि आज की अमूर्त्तवादी चिन्तन-पद्धति के अनुरूप है।

अस्तित्ववाद और नई कविता

रामविलास शर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन विचारकों ने हेगल के दर्शन का विरोध किया, उनमें डेनमार्क के धर्मचिन्तक किरके गार्ड भी थे। एंगेल्स ने 'ऐंटी-डूयरिंग' में हेगल के युगान्तरकारी महत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हेगल ने पहली बार प्राकृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक जगत् को एक गतिशील, परिवर्तनशील और विकाससमान क्रम के रूप में प्रस्तुत किया। अब मानवजाति का इतिहास हिंसात्मक कृत्यों का निरर्थक समूह न रह गया, मनुष्य का परिपक्व विवेक जिसकी भर्त्सना करता, वरन् वह मानवता के ही विकास का क्रम सिद्ध हुआ।

हेगल ने मनुष्य की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन किया, समाज के अन्तर्विरोधों का विश्लेषण किया, सामन्ती रूढ़ियों और धार्मिक अन्धविश्वासों की आलोचना की। जर्मनी में सामन्ती व्यवस्था की समाप्ति और पूँजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय की मिलन-रेखा पर स्थित है हेगल का दर्शन। वह फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समर्थक थे। उनके चिन्तन की सीमाएँ स्पष्ट करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने उनकी विचारधारा के क्रान्तिकारी तत्त्वों को विकसित किया।

किरके गार्ड उल्टी दिशा में चले। उनका कहना था कि मानव-इतिहास और मानव-चिन्तन उस विकासक्रम से संबद्ध नहीं हैं जिसकी व्याख्या हेगल ने की थी वरन् वे संबद्ध हैं मनुष्य के व्यक्तिगत निर्णयों से। केवल व्यक्ति सत्य है; उसकी उलझनें तथ्यों की छानबीन से या तथ्यों के बारे में हमारे सोचने-विचारने के जो नियम हैं उनसे दूर नहीं होतीं। मनुष्य के मन में जो संघर्ष और द्वन्द्व फूटते हैं, जो वेदना वह सहता है, उसी से वह निर्णयों तक पहुँचता है। भय और त्रास से हमें बोध होता है कि अस्तित्व क्या है और मृत्यु क्या हो सकती है। अपराध और पश्चात्ताप की भावनाओं से हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि नैतिक आधार क्या है और हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। वेदना से व्याकुल होकर हम ऐसे संसार की आकांक्षा करते हैं जो सोद्देश्य और व्यवस्थित हो। अनिश्चय की स्थिति में जब मन दुखी होता है, तब हमें ज्ञात होता है कि ईश्वर क्या है। किरके गार्ड के अनुसार हमें अपने अस्तित्व की यथार्थता का बोध अपने भीतर से होता है; सत्य हमेशा आत्मगत होता है, वस्तुगत नहीं।

किरके गार्ड ने हेगल के चिन्तन की सीमाओं की आलोचना करके उसके क्रान्तिकारी तत्त्व को विकसित नहीं किया; यह कार्य मार्क्स और एंगेल्स ने किया। किरके गार्ड ने वस्तु-जगत् से ही मुँह मोड़ लिया, ज्ञान की वस्तुगत कसौटी से ही इन्कार किया, क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन जैसे कामों से उन्हें कोई सरोकार न था। हेगल ने विचारों की सत्ता सर्वोपरि मानी थी, किन्तु समाज की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण किया था; किरके गार्ड भौतिकवाद की छाया से भी दूर थे, वह हेगल से भी बढ़कर 'आइडियलिस्ट' थे।

१८५५ में किरके गार्ड का देहान्त हुआ। साठ-सत्तर साल तक किसी ने विशेष ध्यान न दिया कि किरके गार्ड कौन हैं और क्या लिख गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद पराजित जर्मनी में एक ओर साम्यवादी नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हुआ, दूसरी ओर पूँजीवाद अपने आन्तरिक संकट से उबरने में असमर्थ होकर क्रमशः फासिस्ट तानाशाही की ओर बढ़ा। इन दोनों के बीच, निराशा और पराजय से अभिभूत, जर्मन बुद्धिजीवी, एक नये दर्शन की तलाश में, किरके गार्ड के पास जा पहुँचे। अस्तित्ववाद ने नया जीवन पाया।

जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने सिद्ध किया कि बड़े-बड़े कल-कारखानों वाली वर्तमान सभ्यता एक रोग है। मनुष्य जितना ही विचारों को वस्तुगत कसौटी पर परखता रहा है, उतना ही मानव-अस्तित्व की वास्तविक विशेषता

से वह दूर होता गया है। चिन्तन की यांत्रिक और वस्तुगत व्यवस्थाओं ने मानव-मन को कुचल डाला है। मनुष्य अपना बाह्य जीवन देखकर समझता है कि वह प्रगति कर रहा है; वास्तव में वह अपनी मूल आंतरिक शक्ति का नाश कर रहा है। मनुष्य के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो घमंड में आकर वह ईश्वर की सत्ता से इन्कार करे या अपना दुखी मन उसे समर्पित कर दे।

कार्ल यास्पर्स के समकालीन विचारक मार्टिन हाइडेगर भी जर्मन थे और उन्हीं के समान वस्तुगत ज्ञान से इन्कार करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ देखता-सुनता है, वह वस्तुगत ज्ञान नहीं होता, उसकी इच्छा से प्रेरित वह आत्मगत ज्ञान होता है। किसी वस्तु को हम किस रूप में देखें, इसका निश्चय मन पहले ही कर लेता है। मनुष्य जिस संसार में जन्म लेता है, उसे वस्तुगत रूप से जान नहीं सकता; वह स्वयं को रूपों के मायालोक में खोया हुआ पाता है। यह मायालोक निरर्थक और निरुद्देश्य है किन्तु इसी में मनुष्य को जीना है; जीने के इस दायित्व से वह घुट-घुटकर रह जाता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह इस सत्य से साक्षात्कार करे कि यह संसार निरुद्देश्य और निरर्थक है; वह स्वयं उद्देश्य निश्चित करके जीवन को सार्थक कर सकता है, निरर्थक बाह्य संसार को एक अर्थ दे सकता है। इस पद्धति से ही उसे अपने अस्तित्व का बोध हो सकता है, किन्तु इस प्रकार अपनी ओर से उद्देश्य निश्चित करना बहुत कम लोगों के लिए संभव होता है। अधिकांश जन दूसरों के गढ़े हुए मंत्र जपते हैं; तरह-तरह के विचारों से मन बहलाते हैं, किन्तु उनमें स्वयं अपना उद्देश्य निश्चित करने की क्षमता नहीं होती। मनुष्य के मन में यह भय विद्यमान रहता है कि उसे एक दिन मरना है। रोज़मर्रा के कामों से चिपके रहकर, अपनी व्यस्तता से, इस भय को हम दूर रखना चाहते हैं। किन्तु मन इस तरह के बहलावे स्वीकार नहीं करता; उसमें यह अपराध-भावना उत्पन्न होती है कि वह सत्य से आँखें चुराता है। इसलिए मनुष्य को दृढ़ता से मृत्यु भय से आँखें चार करनी चाहिए।

किरके गार्ड और यास्पर्स ईश्वर में विश्वास करते थे, हाइडेगर ने अपनी व्यवस्था में ईश्वर को जगह न दी थी। तीनों में सामान्य तत्त्व यह था कि वे वस्तुगत ज्ञान को अमान्य करते थे, केवल आत्मगत ज्ञान को स्वीकार करते थे। किरके गार्ड के बाद यास्पर्स और हाइडेगर अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक हुए। पराजित जर्मनी के बुद्धिजीवियों में इन्होंने अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाया।

जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के बाद फ्रांस में पूंजीपतियों और राजनीतिज्ञों का एक दल फासिस्टवाद का समर्थक हो गया; दूसरा दल ब्रिटिश प्रधान मंत्री चेम्बरलेन की तरह इस ताक में रहा कि हिटलर से समझौता कर ले और उसे रूस से लड़ने को प्रेरित करे। बुद्धिजीवियों में कुछ लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ फासिस्ट-विरोधी अभियान में शामिल हुए; कुछ फासिस्टवाद के समर्थक हुए। एक दल अस्तित्ववाद के प्रभाव में आया। इसके नेता थे सार्त्र। फ्रांस पर हिटलर के आक्रमण से सालभर पहले सार्त्र का उपन्यास 'उबकाई' (ला नौसे) छपा। युद्ध के दौरान उनका एक दार्शनिक ग्रंथ 'अस्तित्व और शून्य' (लेत्र ए ल ने आं) प्रकाशित हुआ।

यूरोप के जिन देशों पर विजय पाने में हिटलर को सबसे ज़्यादा आसानी हुई, उनमें पहला नम्बर है फ्रांस का। वहाँ का मध्यवर्ग जिस मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त था, उसका एक रूप था---अस्तित्ववाद। ज्ञान की वस्तुगत कसौटी को अस्वीकार करने के अलावा सार्त्र ने मानव-सम्बन्धों को केवल परस्पर संघर्ष के सम्बन्ध माना। प्रेम करने का मतलब है या तो दूसरे के अनुकूल बनकर अपनी स्वतन्त्रता खोना या दूसरे को अपने अनुकूल बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना। स्वपीड़न या परपीड़न---इनके अतिरिक्त प्रेम की अन्य परिणति नहीं।

युद्ध के बाद फ्रांस में अस्तित्ववाद का प्रभाव और भी फैला। बुद्धिजीवियों का एक दल पूँजीवादी संकट से उबरने के लिए एक ही रास्ता देखता था—व्यापक सामाजिक परिवर्तन द्वारा एक नई व्यवस्था कायम हो। दूसरा दल कहता था—इस तरह के परिवर्तन से कुछ न होगा, असली चीज़ है, निरर्थक संसार में अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करना। १९४६ में सार्त्र ने एक भाषण दिया जो पुस्तक रूप में छपा "अस्तित्ववाद मानववाद है।" इसमें उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया जो अस्तित्ववाद को मानवता का विरोधी मानते थे।

सार्त्र का कहना था कि मनुष्य जब पैदा होता है तब वह तुरंत मानवीयता प्राप्त नहीं कर लेता; वह मानवीयता

अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। मानवीयता नाम की कोई ईश्वर-निर्मित वस्तु नहीं है; ईश्वर-विहीन संसार में मनुष्य अपनी मानवीयता स्वयं गढ़ता है। वह जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित ही नहीं करता वरन् उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। अपने इस विराट् दायित्व-बोध के कारण ही उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। मनुष्य के आत्मगत ज्ञान के अलावा मूल्य-निर्धारण की और कोई कसौटी नहीं है। मनुष्य संसार में अकेला है; अपने अलावा वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करना है। मनुष्य की यह नियति है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे। उद्देश्य से प्रतिबद्ध होना आवश्यक है, प्रतिबद्ध न होकर वह अपने दायित्व से बचता है। भविष्य में श्रमिक-वर्ग की विजय होगी, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। मनुष्य जैसा निर्णय करेंगे, सामाजिक परिस्थिति वैसी ही होगी। मनुष्य का मन पैतृक संस्कारों या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, यह कहकर हम अपनी स्वतन्त्रता से बच नहीं सकते। मनुष्य का आत्मसम्मान इस बात में है कि वह वस्तु नहीं है। भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी एक वस्तु है; अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

दर्शन और साहित्य—दोनों में अस्तित्ववाद एक हानिकर और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। कारण इस प्रकार हैं।

मनुष्य अपना निर्माण स्वयं करे, अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे—इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान होना चाहिए और जिन परिस्थितियों में उसे अपना उद्देश्य चरितार्थ करना है, उनका सही ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान न हो, तो अपने मन में वह अपने उद्देश्य को चाहे जितना सही समझे, वह उसे ठीक-ठीक जीवन में चरितार्थ कभी न कर पायेगा। आधुनिक मनोविज्ञान की जो सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, वह यह कि मनुष्य के चिन्तन के अपने वस्तुगत नियम हैं जो अक्सर उसकी इच्छाओं से मेल नहीं खाते। अपने कर्म के लिए वह जो तर्क ढूंढ़ निकालता है, उनकी जड़ में कभी-कभी उन इच्छाओं की प्रेरणा होती है, जिन्हें वह स्वयं नहीं जानता। विवेक और इच्छाओं का द्वंद्व उसकी चेतना की गतिशीलता और विकास का एक कारण है। मनुष्य उतना विवेकशील प्राणी नहीं है, जितना अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के अनेक विचारक समझते थे। फ्रान्स में सामन्तवाद के पतन और पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में लोगों ने शुद्ध विवेक को देवता बनाकर पूजना शुरू कर दिया था। शुद्ध विवेक की देवता-रूप में प्रतिष्ठा अस्तित्ववाद में बहुत-कुछ बनी हुई है। अन्तर इतना है कि पहले जहाँ यह शुद्ध विवेक बहुजन-सम्मत था, वहाँ अब वह व्यक्ति-सम्मत रह गया है।

परिस्थितियों का सही ज्ञान न होगा तो उद्देश्य चाहे जितना मानववादी हो, उसे कार्य रूप में परिणत करने का फल मनुष्य की इच्छा के विपरीत होगा। कोई भी अस्तित्ववादी शून्य में अपना निर्णय नहीं कर सकता, शून्य में अपनी मानवीयता नहीं गढ़ सकता। सामाजिक परिस्थितियाँ स्थिर न होकर गतिशील हैं; उनकी परस्पर संबद्धता को, उनके अन्तर्विरोध और एकता को, उनकी गतिशीलता और विकास—अथवा ह्रास—को पहचानने के विज्ञान का नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से भिन्न, फिर भी जुड़ी हुई, परस्पर निर्भर, अन्योन्याश्रित दो इकाइयाँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। परिस्थितियाँ गतिशील हैं तो व्यक्ति की चेतना स्थिर नहीं है। अपने कर्ममय जीवन से मनुष्य अपनी चेतना का उत्तरोत्तर विकास करता है, परिस्थितयों को बदलता है, बदलती हुई परिस्थितियों से स्वयं प्रभावित होता है। जो दर्शन मनुष्य की चेतना को विकासमान नहीं मानता है, वह जड़ है। जो विचारधारा व्यक्ति और समाज की परस्पर-सम्बद्धता को स्वीकार नहीं करती, वह एकांगी है।

मनुष्य कर्म करने में केवल सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, निरपेक्ष रूप से सृजनशील का प्रदर्शन करने वाला प्रजापति वह नहीं है। स्वयंभू न होने से वह अपना स्रष्टा आप नहीं है। जान में या अनजान में दूसरों ने उसे पैदा किया है; उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की यह सबसे बड़ी सीमा है। जन्म लेते समय उसकी आत्मा अगोचर ब्रह्म की तरह निर्विकार नहीं होती। वह अपने दैहिक-मानसिक विकास की क्षमता बहुत-कुछ अपने साथ लाता है; उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ उसके साथ होती हैं। पैदा हुआ है दो के मिलने से, लेकिन समझता है अपने को एकमेवाद्वितीयम्! जिस समाज में वह रहता है, उससे विचारों के आदान-प्रदान का

माध्यम—भाषा—सीखता है; समाज की सांस्कृतिक स्थिति जैसी हो, उसी से विचार करना, संसार से अपने सम्बन्ध पहचानना सीखता है। इस समाज को उसने नहीं रचा, भाषा का निर्माण उसने नहीं किया, इसीलिए वह परम्परा से जुड़ा हुआ है। न भाषा स्थिर है, न समाज; इनके परिवर्तन और विकास में मनुष्य का व्यक्तिगत योग होता है, इसलिए वह परम्परा से विच्छिन्न भी है। व्यक्ति और परम्परा का यही द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है।

पुराने यान्त्रिक भौतिकवादी समझते थे कि संसार मशीन की तरह है। एक बार ब्रह्म ने उसमें चाभी भर दी, उसके बाद घड़ी अपने-आप चलती रही। डारविन ने ब्रह्म को खारिज कर दिया लेकिन ब्रह्म की जगह अपना विकासवाद प्रतिष्ठित किया। संसार अब भी मशीन की तरह था; परिवेश का ज्ञान प्राप्त कर लीजिए, व्यक्ति उसकी उपज है, उसका ज्ञान अपने-आप हो जाएगा। मनुष्य अपनी नियति से बँधा हुआ है जिसकी यांत्रिक गति से एक इंच इधर-उधर हटना उसके लिए असंभव है।

साहित्य में इस तरह की यांत्रिक भौतिकवादी धारणाओं का प्रतिफलन था—'नैचुरलिज्म' (प्रकृतिवाद)। एमिल ज़ोला और अनातोल फ्रान्स अपने समय के प्रकृतिवादी लेखक किसी हद तक क्रान्तिकारी थे। रूस में तोल्स्तोय और गोर्की ने यथार्थवाद विकसित किया जो प्रकृतिवाद से अधिक समर्थ और प्रभावशाली था। अस्तित्ववाद पुराने यांत्रिक भौतिकवाद और प्रकृतिवाद के विरुद्ध, दर्शन और साहित्य में घटित होने वाली, एक प्रतिक्रिया है, किन्तु वह जिनके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उन दोनों से अधिक एकांगी है। मार्क्सवाद व्यक्ति और समाज, स्वेच्छित कार्य और स्वेच्छातीत परिवेश, अहंगत विवेक और वस्तुगत परिस्थिति—इनका द्वंद्वात्मक सम्बन्ध मानता है, एक को काटकर दूसरे की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं करता। मानव-चेतना भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है, निश्चित नहीं होती। इसीलिए ग़ैर-श्रमिक वर्ग में उत्पन्न होकर भी मार्क्स और एंगेल्स श्रमिक वर्ग के नेता बने।

अस्तित्ववादी विचारक मूल्यों की बात करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है, तब वह निर्णय मूल्यगत होता है। किन्तु क्या मूल्यवान है, क्या मूल्यहीन है, यह तै करने का सवाल तभी उठता है, जब किसी तरह की मूल्य-सम्बन्धी धारणा पहले से प्रचलित होती और यह धारणा समाजगत या वर्गगत होती है। अस्तित्ववादी लेखक समझता है कि वह अकेले, अपने तईं कोई निर्णय कर रहा है, किन्तु देखने में आता है कि वह अकेला नहीं; उस जैसे दर्जनों लेखक वैसा ही निर्णय करते चले जा रहे हैं। एक ने निर्णय किया कि दुनिया लिजलिजी है तो दस और बोले, हाँ, लिजलिजी है। एक ने सलीब उठाया तो दर्जनों कवि सलीब ढोते हुए चलने लगे। और इनमें हरएक समझता है कि उसका निर्णय पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। किन्तु जब पराजयवादी भावनाएँ एक नहीं दर्जनों लेखकों में एक साथ प्रकट हों, तब मानना चाहिए कि वे समूहगत हैं, उनके सामाजिक कारण हैं, वे पूर्ण-स्वतंत्र आत्मगत अनुभूतियाँ नहीं हैं। पराजित जर्मनी में अस्तित्ववाद फैला, युद्ध से पहले पराजय के कगार पर खड़े हुए फ्रान्स में वह फैला,—इस घटनाक्रम के वस्तुगत कारण हैं।

अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है; दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावतः समाजगत हैं। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मानकर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मानकर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और भारत के बहुत-से पराजयवादी 'विद्रोही' कर रहे हैं।

अस्तित्ववाद पर ब्रिटिश और जर्मन विज्ञानवाद का गहरा प्रभाव है। वह चेतना को वस्तुगत भौतिकता से वैसे ही अलग रखता है जैसे ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले। यहाँ वह रोमांटिक साहित्य की उस विचारधारा से मिल जाता है जो विज्ञानवाद से प्रभावित थी। शेलिंग के चेतना-सम्बन्धी विचारों को साहित्य में लागू करते हुए कोलरिज ने 'बायो-ग्राफिआ लिटरारिआ' में लिखा था कि वस्तुएँ जड़ और मृत हैं; साहित्य में मनुष्य की चेतना ही उन्हें जीवन प्रदान करती है। 'डिजेक्शन' कविता में कोलरिज ने लिखा था :

> O Wordsworth, we receive but what we give,
> And in our life alone doth nature live!

अस्तित्ववादी लेखक प्रकृति को जिस तरह आत्मसात करते हैं—उसकी वस्तुमत्ता हटाकर उसे आत्मगत करते हैं, उस तरह की क्रिया रोमांटिक कवि बहुत पहले कर चुके

अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वंद्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ संबद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किरकेगार्ड से हुई जो, चर्च की आलोचना करते हुए भी, ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था। मध्यपूर्व और यूरोप की सामन्तकालीन धार्मिक आस्थाओं के अनुसार ईश्वर ने प्रथम मनुष्य—आदम—को सोचने और कार्य करने की पूर्ण स्वतत्रता दी थी, किन्तु उसने उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया, ख़ुदा ने जिस ज्ञान के वृक्ष का फल खाने को मना किया था, उसी को उसने चख लिया। तब से जितने आदमी पैदा हुए, सभी पापी हुए। ख़ुदा की मर्ज़ी, जिसे चाहे मुक्ति दे दे, वर्ना नरक का चांस तो लिखा ही है उसके भाग्य में। जब तक ख़ुदा था, तब तक पाप-पुण्य की भावना भी थी, नैतिक आचरण के मूल्य भी थे। किन्तु जब विज्ञान ने ख़ुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिए बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्यों की कोई कसौटी न रह गई। पाप-पुण्य कुछ नहीं; मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना है कि क्या मूल्यवान् (पुण्य) है, क्या मूल्यहीन (पाप) है। अँधेरे में बाप का हाथ छूट जाने पर जैसे छोटा बच्चा चीख उठे, वही हालत ख़ुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। उसके त्रास का, अकेलेपन की अनुभूति का, वेदना का यह मुख्य कारण है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसामसीह ने आत्म-बलिदान करके ख़ुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी ख़ुदा को नहीं मानते वे ख़ुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिए ख़ुद ही ख़ुदा के बेटे बन जाते हैं; ख़ुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं और यह सोचकर आत्मविभोर हो उठते हैं कि यह कार्य वे समस्त मानवता के हित में कर रहे हैं।

सलीब ढोने की क्रिया से उन्हें जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है, उसमें आत्मनिर्वासन-संबन्धी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन पहले समाज से, फिर ख़ुद अपने से। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का विश्लेषण करते हुए डॉ० नामवरसिंह ने लिखा है कि इस कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभाजित कर दिया गया है और 'एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार 'आत्म-निर्वासन' (सेल्फ-एलियनेशन) है।" 'अँधेरे में' की अंतिम पंक्तियाँ "उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।"

इस आत्म-निर्वासन की भावना का विश्लेषण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संस्थापकों ने भी किया था। एंगेल्स ने 'एंटी-ड्यूरिंग' में धार्मिक गाथाओं का विवेचन करते हुए लिखा था कि मनुष्य अपने को पहले प्रकृति की उस बाह्य शक्ति के सामने निर्वासित पाता है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। जब उत्पादन और वितरण का विकास होता है, तब प्रकृति के साथ समाज की वह शक्ति जुड़ जाती है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। समाज की यह शक्ति मनुष्य को उतनी ही ग़ैर—'ऐज़ ईक्वली एलियन'—मालूम होती है जितनी प्रकृति की शक्ति। वर्तमान पूंजीवादी समाज में "मनुष्यों पर आर्थिक परिस्थितियाँ जिन्हें उन्होंने स्वयं रचा है, उत्पादन के साधन जिन्हें उन्होंने स्वयं पैदा किया है, यों हावी रहते हैं मानों वे कोई ग़ैर शक्ति हों—(ऐज़ इफ़ बाई ऐन एलियन फोर्स)।"

आत्म-निर्वासन—सेल्फ-एलियनेशन—की जड़ यह है। यह कोई विशुद्ध मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है जो इस युग की विशेष देन हो या जिसका सम्बन्ध किसी अनुभूतिप्रवण कवि की आत्मसंभव अभिव्यक्ति से विशेष हो। यह मूलतः पूंजीवादी सम्बन्धों के नियंत्रण में न रहकर उनको अपने नियंत्रण में रखने—उन्हें समाजवादी सबन्धों में परिवर्तित करने—की समस्या है। किन्तु अस्तित्ववादी कवि आत्म-निर्वासन की समस्या को इस रूप में नहीं देखते। वे समझते हैं, यह उनकी विशिष्ट आत्मानुभूति है, अथवा अपने विशुद्ध विवेक से उन्होंने इस स्थिति को वरण किया है। वे इस स्थिति को आधुनिकता-बोध से जोड़ते हैं, यद्यपि वह है उन्नीसवीं सदी की, काफी पुरानी, रोमांटिक भावधारा से सम्बद्ध।

१८९७ में फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुरखाइम की पुस्तक 'आत्महत्या' प्रकाशित हुई थी। उसने फ्रांस में बढ़ती हुई आत्महत्याओं का सम्बन्ध औद्योगिक सभ्यता से जोड़ा था। उसका एक निष्कर्ष यह था कि आत्महत्याएँ गाँवों में बहुत कम होती हैं, शहरों में ज्यादा होती है। दुरखाइम ने अपना समाजशास्त्र उत्पादन और वितरण की पद्धति का

विश्लेषण न करके आत्महत्या के प्राप्त आँकड़ों के बल पर रचा था। उसमें अनेक खामियाँ हैं। फिर भी उसने आत्म-निर्वासन की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसका सम्बन्ध मानव-मूल्यों के असन्तुलन से जोड़ा था। आत्महत्या के रुझान का विश्लेषण करते हुए उसने फ्रांसीसी लेखक लामार्तीन की रूमानियत की जो आलोचना की है, उसे पढ़कर लगता है मानो वह सन् '३८ के अस्तित्ववाद की आलोचना कर रहा हो यद्यपि उसका देहान्त १९१७ में हो गया था।

लामार्तीन के नायक रैफेल को आस-पास की वस्तुओं से घृणा हो जाती है। वह अपने को इन वस्तुओं से अलग कर लेता है और अपने अकेलेपन पर ज़ोर देता है। वह प्रेम करता है तो समर्पित होने के लिए नहीं, नारी के साथ प्रजनन-क्रिया के आनन्द के लिए नहीं, वरन् प्रेम का चिन्तन करने के लिए। उसकी वासना एक प्रवंचना है क्योंकि वह नपुंसक है। अपने से अलग वह किसी वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता, इसलिए निरर्थक कल्पना में शक्ति नष्ट करता है। दुरखाइम का कहना है कि मनुष्य को चिन्तन की सामग्री बाह्य जगत् से मिलती है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को बाह्य जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से आमूल विच्छिन्न कर ले, उचित सीमा लाँघकर उसे विशुद्ध आत्मगत बना ले तो वह उस स्रोत का ही नाश कर देता है जिससे चेतना पोषण-सामग्री पाती है। अपने चारों ओर शून्य रचकर वह अपने भीतर भी शून्य की सृष्टि कर लेता है। चिन्तन के लिए अपने दर्द के अलावा उसके पास कुछ रह नहीं जाता। वह इस दर्द के प्रति ही समर्पित होता है और उसके रोगी मानस को इसमें मज़ा आता है। लामार्तीन ने यह मज़ा चखा था। इसीलिए उसने अपने नायक के बारे में लिखा था, "मेरी आत्मा का अकेलापन एक झीनी चादर है जिससे होकर मेरी दृष्टि मनुष्य को देखना नहीं चाहती थी, केवल ईश्वर और प्रवृत्ति को देखना चाहती थी।

दुरखाइम की यह आलोचना आत्मनिर्वासन की भावना को शून्यवाद से जोड़ती है। आत्मनिर्वासन की भावना को आत्महत्या के रुझान से सम्बद्ध करके उसने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया है।

●

सार्त्र के उपन्यास 'उबकाई' (अंग्रेज़ी में 'नौशिआ', पेंग्विन बुक्स) का नायक अन्त्वान रोकांतैं सोचता है कि संसार में जो कुछ है, व्यर्थ है, फालतू है, वह स्वयं अनावश्यक है।" खयाल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ, ये जो तमाम व्य अस्तित्व हैं, उनमें कम-से-कम एक का नाश कर डालूँ।"

सौभाग्य से वह खयाल दौड़ाकर रह जाता है, निर्ण नहीं करता कि वह आत्महत्या कर ही लेगा। जर्मन, फ्रांसी और अंग्रेज़ी साहित्य में आत्महत्या करनेवाले या आत्महत्य की ओर खयाल दौड़ाने वाले कवियों, कथाकारों और उन नायकों की एक लंबी परम्परा है और इनमें आदि प्रजापि के समान स्थापित है शेक्सपियर का हैमलेट।

O, that this too too solid flesh would melt,
Thaw, and resolve itself into a dew !
Or that the Everlasting had not fix'd
His canon 'gainst self-slaughter !

यूरोप में नवजागरणकाल (रिनैसेंस) से पहले आत्म हत्याकामी यह भावधारा शून्यवत् है। पूँजीवादी व्यवस्थ के अभ्युदय के साथ जो नवजागरणकाल आरम्भ हुआ, उस एक स्वर जो बार-बार झंकृत हुआ, वह था आत्महत्या की कामना का स्वर। १८वीं-१९वीं शताब्दियों में यह स्वर और भी गहरा हुआ और बीसवीं सदी में उसकी चरम परिण हुई सार्त्र के अस्तित्ववाद में। उसके व्यापक प्रभाव का यह कारण है। सार्त्र ने अस्तित्ववाद के दर्शन को इस्तेमाल कि एक पूर्व-निश्चित, पूर्व-प्रवाहित भावधारा का औचित्य सि करने के लिए। मनुष्य का अहंकार आसानी से स्वीकार नहीं करता कि वह धारा के साथ बह रहा है; वह अपने अस्तित्व की सार्थकता इस तर्क से सिद्ध करता है कि वह स्वयं धा को बहा रहा है। जब हैमलेट, वर्थर, मैनफ्रेड, रोकांतैं—स आत्महत्या की बात सोचें तब मानना होगा कि यह कि एक लेखक के व्यक्तिगत भावबोध का प्रश्न नहीं है वरन् य एक सामाजिक भावधारा है।

सार्त्र तर्क और विवाद की भूमि पर विवेक और आत्म गत निर्णय की बातें करते हैं, किन्तु उनके नायक रोकांतैं की भावदशा जब और जैसे बदलती है, वह सब उसकी सचे इच्छा से परे, उसके विवेक से परे बदलती है। रोकांतैं को उबकाई के दौरे आते हैं, उसकी इच्छा के विपरीत आते हैं। "लगता है कै कर दूंगा—और अचानक, वही आ गया उबकाई का दौरा। बहुत ही बुरा दौरा आया। सर से पैर तक इस हिला डाला। घंटे भर से मैं देख रहा था कि दौरा आनेवाला

है, केवल मैं इस बात को स्वीकार न करना चाहता था। मुँह जैसे पनीर से भर गया हो।" ये दौरे हमेशा आकस्मिक होते हैं, अयाचित और अनपेक्षित—कम-से-कम रोकांतैं को ऐसा ही लगता है।

रोकांतैं बैठा हुआ पेड़ देख रहा है, पेड़ की जड़ देख रहा है। "अचानक मेरे लिए जड़ के अस्तित्व की बात सोचना असंभव हो गया।···और तब अचानक मेरे सामने कोई चीज़ हिलने लगी, हल्की, अनिश्चित-सी सिहरन : हवा से पेड़ की फुनगी हिल रही थी।"

सब काम अचानक होते हैं।

Sudden, thy shadow fell on me; I shrieked and clasped my hands in ecstasy !

यह शेली के आत्मबोध—अथवा वास्तविकता-बोध—का क्षण। रहस्यवादियों के बेसुध, भाव-विभोर, अगोचर, अनिर्वचनीय आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान के क्षण के ही समान रोकांतैं को एक विशिष्ट क्षण में अस्तित्वबोध होता है। वह उस क्षण को स्मरण करता हुआ कहता है :

"वह क्षण अपूर्व था। मैं खड़ा रह गया, शरीर गतिहीन, निस्पन्द, मन एक भयानक भाव-विह्वलता से आन्दोलित। उस विह्वलता के दौर में कुछ नया हो गया था। मैं समझ गया, उबकाई क्या है, मैं उस पर हावी हो गया। सच बात यह है कि जो नया हुआ, उसे मैंने अपने तई शब्दों में व्यक्त नहीं किया। किन्तु लगता है कि अब मैं उसे सरलता से शब्द-बद्ध कर सकूंगा।···कितनी देर यह दौर रहा ? उस पेड़ की जड़ मैं स्वयं था। अथवा मैं उसके अस्तित्व की समग्र चेतना था।"

रहस्यवादियों की शब्दावली ही नहीं, उनसे मिलती-जुलती अनुभूति भी—एक ही चेतना की व्यापकता का आभास। वर्डस्वर्थ ने टिटर्न ऐबे वाली कविता में अपनी जिस अनुभूति का वर्णन किया है, उसकी व्याख्या की है लौक-हार्टले के दर्शन-मनोविज्ञान के आधार पर। किन्तु वह अनुभूति ही उस दर्शन-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा खण्डन है। सार्त्र ने रोकांतैं की अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ा है अस्तित्व-वादी दर्शन से और वह अनुभूति इस दर्शन का भी खण्डन है। सार्त्र के दर्शन में उपचेतन इच्छाओं को जगह नहीं है; सब समस्याओं का फैसला होता है आत्मगत विवेक से, सचेत निर्णय से। विवेक के जिस स्तर पर वह अस्तित्ववाद का तर्कजाल बुनते हैं, रोकांतैं उससे बहुत दूर है; वह जाल खींचते हैं लेकिन रोकांतैं साफ बचकर निकल जाता है।

रोकांतैं अर्ध-विक्षिप्त है—न्यूरॉटिक।

समुद्र के किनारे वह कंकड़ी उठाकर पानी में फेंकना चाहता है। फिर रुक जाता है, कंकड़ी ज़मीन में डाल देता है और एक ओर चल देता है। "मेरा खयाल है कि मेरा चेहरा कुछ-कुछ पागलों जैसा रहा होगा क्योंकि मेरी पीठ पीछे बच्चे हँस रहे थे।"

होरैशो ने हैमलेट के चेहरे पर ऐसे ही पागलपन का भाव देखा था, जब कहा था :

He waxes desperate with imagination.

रोकांतैं निश्चय नहीं कर पाता कि वह कुछ समय के लिए पागल हुआ था या नहीं। कहता है—"विचित्र बात यह है कि मैं यह मानने को बिल्कुल तैयार नहीं हूँ कि मैं पागल हूँ। दरअसल मैं बिल्कुल साफ देख रहा हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ। इन सब तब्दीलियों का सम्बन्ध वस्तुओं से है। कम-से-कम मैं चाहता यही हूँ कि बात ऐसी ही हो।" फिर सोचता है—"शायद पागलपन का हल्का दौरा ही था वह। अब उसका निशान भी नहीं है।" हैमलेट को भी दौरे ही आते हैं। लाएर्टीज़ से उसने जो अभद्र व्यवहार किया है, उसके लिए वह कहता है :

I here proclaim was madness.

इस पागलपन की विशेषता यह है कि हैमलेट को लगता है कि उसके विभाजित व्यक्तित्व का एक अंश उससे दूर चला गया है, दूसरा अंश जो करता है, उसके लिए पहला अंश ज़िम्मेदार नहीं है :

If Hamlet from himself be ta'en away,
And when he's not himself does wrong Laertes,
Then Hamlet does it not, Hamlet denies it.

रोकांतैं की हालत और भी खराब है। उसे लगता है कि उसके शरीर के अंग भी बेगाने हैं। "मेरे भीतर कोई तार टूट गया है। निगाह घुमा लेता हूँ, सर नहीं। खोपड़ी एकदम मुलायम और लुचलुची हो गई है मानो गर्दन पर अभी सँभालकर रखी गई हो, मैं ज़रा हिला कि वह गिरी।"

वह मेज़ पर अपना फैला हुआ हाथ रख देता है। उसे

लगता है कि कोई जानवर उतान पड़ा है, ऊपर पेट है, उसकी अपनी उँगलियाँ उसके पंजे हैं मानो केकड़े के पंजे हों, केकड़ा मर गया है; हाथ उलटता है, लगता है अब वह मछली है। हाथ खींचकर वह जेब में रख लेता है; कपड़े की पर्त से जाँघ की गर्मी हाथ तक पहुँचती है। वह हाथ निकाल लेता है, कुर्सी पर टिका देता है, हाथ का भार उसे महसूस होता है। जहाँ भी रखे, हाथ का अस्तित्व बना रहेगा। वह हाथ से, शरीर से मुक्ति नहीं पा सकता। पसीने से कमीज़ तर हो गई है, वह तमाम गर्म चर्बी मानो कोई चम्मच से धीरे-धीरे चला रहा हो। वह मेज़ से छोटा चाकू उठा लेता है। बाईं हथेली में चाकू भोंक देता है। "यह काम एकदम **अचानक** हुआ," चाकू फिसल गया, मामूली-सा घाव हुआ। आत्महत्या की रिहर्सल; लेकिन मंच पर पूरा नाटक नहीं हुआ।

रोकांतैं अघोरी है। हर तरफ भीतर-बाहर उसे सड़ाँध दिखाई देती है। बीभत्स उसका सहज आवास है। जुगुप्सा की स्थिति में ही उसे वह दौरा आता है जब वह समझता है, पेड़ की जड़ मैं हूँ। वह शव-साधक है, ऐसे शव का साधक जो सड़ रहा है। स्वाद, स्पर्श और घ्राण का बोध उसमें बहुत तीव्र है। पेड़ की छाल, लगता है, उबाला हुआ चमड़ा है; उसकी नाक में दुर्गन्ध भर जाती है। एक स्त्री है जो मुनीम का काम करती है। वह अपनी स्कर्ट के नीचे सड़ रही है; सड़ते हुए शव से जैसे वायलेट फूलों की गन्ध कभी-कभी आती है। एक स्त्री के साथ लेटे हुए उसे लगता है कि उस स्त्री का शरीर एक पार्क है जिसमें चींटियाँ, कनखजूरे रेंग रहे हैं, वहाँ जानवर हैं जिनके शरीर टोस्ट के उन टुकड़ों के बने हैं जो भुने हुए कबूतरों के नीचे रखे जाते हैं और ये जानवर केंकड़ों की तरह टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। रोकांतैं कहता है, "इस पार्क में कै की दुर्गन्ध आती है।" वह लगभग हैमलेट का ही वाक्य दुहराता है :

Tie on't ! Ah, fie ! 'tis an unweeded garden.

उपन्यास का नाम ही उबकाई है। कै की उपमा बार-बार आती है, कभी स्त्री-सहवास के पहले उसे उबकाई आती है, कभी उसके बाद। वह खुद भीतर से सड़ रहा है, इसलिए हर चीज सड़ती हुई मालूम होती है। वह सामान्य रति-सुख के अयोग्य है; भोग के पहले हल्की-सी आकांक्षा, बाद को वितृष्णा। उसे हर चीज़ चिकनी, लिजलिजी और लचीली मालूम होती है। कुत्ते, आदमी, तमाम जानवर चीज़ें, चर्बी का ढेर (flabby masses) हैं। हर चीज़ जीवित, अलग अस्तित्व वाली उसे दबाती हुई-सी जान पड़ती है। उसके हाथों और जाकिट की बाँहों पर पीली रोशनी पड़ती है। "मैं कह नहीं सकता, मुझे उससे कितनी घृणा होती है।" वह गली में जाता है; गली मुर्दा है, उसमें तहखाने की-सी बू आती है। वह एक डॉक्टर की ओर देखता है, लगता है, डॉक्टर के चेहरे में आँखें नहीं हैं, वह चेहरा कार्ड-बोर्ड का बना हुआ है और यह आदमी शीघ्र ही मरने वाला है। चारों तरफ की चीज़ें कार्डबोर्ड की बनी हुई हैं। "जो पुस्तक मैं पढ़ रहा था उसे मैंने कसकर पकड़ लिया, लेकिन तीव्र संवेदन भी जैसे सो गए। कुछ भी वास्तविक न मालूम होता था; लगा कि मेरे चारों ओर कार्डबोर्ड सीनरी है जिसे कभी भी हटाया जा सकता है।" वह भागता है; "दुः... निगाह से मकान मेरा भागना देख रहे थे"। एक मकान खिड़की से अपना काला हृदय उसके सामने रख देता है; ए... पीली इमारत चलना शुरू कर देती है। "मैं वस्तुओं के बी... घिरा हूँ जिनका नामकरण असम्भव है। अकेला, अशब्द अरक्षित—मैं उनसे घिरा हूँ, वे मेरे पीछे हैं, ऊपर हैं।" क... उसे लगता है, वस्तुएँ गतिहीन अस्तित्व हैं जो उसे घूर रहे हैं। उसके सामने एक विचार आता है; विचार गुड़ीमुड़ी ... गया और बिल्ली-जैसा उसके सामने जमा हुआ है। ... अन्त में वह कहता है, "अन्तवान रोकांतैं का अस्तित्व किसी... लिए नहीं है। सोचकर हँसी आती है। और यह अन्तवान रोकांतैं आखिर है क्या ? एक निराकार धारणा। स्वयं... छोटी-सी पीताभ स्मृति चेतना में लहराती है। अन्तवा... रोकांतैं। और अचानक अहम् पीला पड़ता हुआ मुरझा जाता है और अन्त में गायब हो जाता है।"

रोकांतैं आत्महत्या नहीं करता किन्तु कल्पना में उ... मिलती-जुलती स्थिति में पहुँच जाता है। उसके कार्यों ... चिन्तन का विवेक से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए उस... जीवन सार्त्र के अस्तित्ववाद को असिद्ध करता है। कि... मूलतः अस्तित्ववाद विवेक पर आधारित है ही नहीं। कि... गार्ड के अस्तित्ववाद से रोकांतैं के जीवन-अनुभवों का गह... सम्बन्ध है। वह संसार की असारता को देख चुका है, वस्तु... उसे वैसे ही परेशान करती हैं जैसे, शुद्ध ब्रह्म का ध्यान करने वालों को माया। संसार का भोग-सुख सब क्षणभंगुर है

संसार दुख का कारण है। उसे उबकाई आती है; चारों ओर बीभत्स है। जब उसे अपने चिन्तन की व्यर्थता पर पश्चात्ताप होता है तब वह कहता है, "जल के समान निर्मल विचारों से मुझे अपने को धोकर साफ़ करना है।" अपने बारे में वह जो कुछ कहता है या लिखता है, वह सब पादरी के सामने 'कनफ़ेशन' के समान है। छोटी-बड़ी पाप की सारी बातें कहकर ही वह मुक्ति-लाभ कर सकता है। सार्त्र का रोकांतैं एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति है जो एक होटल से दूसरे होटल में, एक औरत के पास से दूसरी औरत के पास खानाबदोश का-सा जीवन बिताता है। वह किसी के साथ मिलकर कोई काम नहीं करता; कमाने-खाने की चिन्ता से वह मुक्त-सा है।

रोकांतैं अपने को अकेला महसूस करते हुए दुनिया के संघर्षों को दूर से तटस्थ होकर देखता है। "यूरोप के शहरों में बत्तियाँ जल गई हैं; बर्लिन की सड़कों पर कम्युनिस्ट और नाज़ी एक-दूसरे पर गोलियाँ दाग रहे हैं, न्यूयार्क के फ़ुटपाथों पर बेकारों की भीड़ चहलकदमी कर रही है।" इस सबसे उसे वास्ता नहीं है। सन् '३८ में 'उबकाई' उपन्यास छपा। अगले साल नाज़ियों ने फ्रांस पर हमला किया। सार्त्र ने देशभक्तों को लड़ते, नाज़ियों के अत्याचार सहते देखा। उन्होंने युद्ध के बाद तीन उपन्यास लिखे जिनमें उन्होंने दिखाया कि युद्ध में फ्रान्स पर क्या बीती थी। सार्त्र अब अकेले, अप्रतिबद्ध नहीं थे। वह स्वभावतः मार्क्सवाद के निकट आये और उनके पुराने प्रशंसक निराश होने लगे कि मार्क्सवाद-विरोधी मोर्चे का नेता उन्हें अकेला छोड़कर भीड़ में शामिल होने जा रहा है।

हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने सार्त्र के अस्तित्ववाद को तब अपनाना शुरू किया जब वह स्वयं उसे छोड़ रहे थे।

●

हिन्दी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतैं जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ाँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि-आदि लच्छन इसमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी-कभी हर चीज़ बीमार नज़र आती है; इन कवियों को चीज़ें बीमार ही नहीं मुर्दा भी नज़र आती हैं। श्रीकान्त वर्मा को लगता है—सारी पृथ्वी से उठती है सड़ाँध; वह 'एक पब्लिक लेवेटरी में' बैठे हुए मानों सोचते हैं, उनकी कविता में लय क्यों नहीं है, उनके पैरों पर चींटियाँ चढ़ती हैं, कंधे पर रीछ पंजे गड़ाता है, और "भुजा पर प्रेमिका करती है क़ै।" कैलाश वाजपेयी को सब तरफ़ पिचकी घुमावदार आँतों की गलियाँ दिखाई देती हैं, "जहाँ सिर्फ़ उबकाई का शब्द आता है", जो भी, जहाँ भी है, बीमार है, सभी को किसी-न-किसी तरह का बुखार है, थूक, पीक, मलवा, गँधाती धुआँ देती बस्तियाँ, और

"लगातार—
मैं मर रहा हूँ
मर रहा है एक—संसार!"

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को लगता है, जैसे मैं मुर्दों के बीच हूँ, उन्हें ही उठा रहा हूँ, रख रहा हूँ, उनसे ही लिपट रहा हूँ, लड़ रहा हूँ, उन्हें ही बाँध रहा हूँ, छोड़कर आगे बढ़ रहा हूँ इस मृत नगर में। "मैं जीवित हूँ या मृत कुछ समझ में नहीं आता।" चारों तरफ दुर्गन्ध है, प्रार्थनाघरों के घंटे तक जंगली जानवरों की तरह "दुर्गन्ध सूंघते मिलते हैं।"

गिरिजाकुमार मायुर का हाल यह है कि हर चीज़ मैले टीन के डिब्बे में बन्द है, हवा का अँगूठा मूसली से कुचल गया है, वनस्पति की आँख आई है, ज़मीन उबले हुए मोटे खुरंट-सी है, बादल 'घाव-सा फूलकर' कीचड़-सी गाढ़ी बूंदें टपका देता है, चेतनाएँ पक गई हैं भय और घृणा से, और "सारा जीवन प्रमेहग्रस्त लकवा मारे रोगी" सा हो गया है!

राजकमल चौधरी की अनुभूति यह थी कि वह वर्तमान के शव को कंधों पर रखे हैं और "मैं इस शव के गर्भ में हूँ और वह शव मेरे कंधों पर है।" दुर्गन्ध और वमन की कमी नहीं। शालिग्राम के बदले खरीद लाये गये "शक्तिपीठ योनि मुखों में सात नरकों की दुर्गन्धियाँ",

"नींद नहीं, क्षुधा नहीं पागलपन केवल वमन यह दुराग्रह
उपदंश महादंश की नरककुंड बीजात्माएँ।"

पागलपन के मुकाबले जगदीश चतुर्वेदी की अनुभूति बहुत हल्की है—

"घुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें
मुझे उबकाई आ रही है।"

स्वभावतः नयी कविता में विक्षिप्तता और पागलपन की चर्चा विशेष हुई है; और इसमें, यह कहना कठिन है, कितना हिस्सा काल्पनिक है, कितना यथार्थ पर आधारित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा कहते हैं कि—

"संशय, शंका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
वह केवल मेरा नहीं
उसमें वे सब हैं
जो मेरे ही समानधर्मा हैं।"

समानधर्मा विजयदेव नारायण साही कहते हैं कि यद्यपि उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी किन्हीं रातों में—

"देर तक मैंने
अट्टहास और संगीत सुने हैं.
क़रीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख़ सुनाई पड़ती है।"

कैलाश वाजपेयी पूछते हैं कि—

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूं गरदन पर
हाथ में ज़हर-बुझा कोड़ा लिये हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ···
या दबा दूं जलती रेत में
ये अपनी आंखें, नाक, कान, जिह्वा
कूद जाऊँ ताज़े चून के
हौज में
या कि
फिर क्या करूं ?"

विभाजित व्यक्तित्व वाले विक्षेप में यह देखा जाता है कि रोगी कभी एक व्यक्ति की भूमिका पूरी करता है, कभी दूसरे की, कभी वह पूर्ण असम्पृक्त होकर दोनों का द्वन्द्व देखता है। भारतभूषण अग्रवाल ने इस स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण किया है। लिखा है कि "एक दीखने वाली मेरी इस देह में दो 'मैं' हैं। एक मैं और एक मेरा पिट्ठू। मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ पर, मेरा पिट्ठू? वह जीनियस है!" उन्हें अपने पिट्ठू पर तभी हँसना चाहिए जब वह स्वयं क्लर्क हो, या जीनियस। वैसे मामूली-सा क्लर्क भी जीनियस हो सकता है, जैसे चार्ल्स लैम्ब।

गिरिजाकुमार माथुर कहते हैं कि मेरे दो मन साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक-दूसरे के घोर शत्रु हैं, बोलचाल बन्द है,

"एक कहता
हूँ उदास
दूसरा कहता है
अबे, खूब खिलखिला के हँस।"

सूर की गोपियों को शिकायत थी कि मन दस-बीस नहीं हैं। आज का कवि अपने भीतर एक से अधिक मन ही नहीं देखता, बाहर एक से अधिक देह भी देखता है यानी अपनी देह के विभाजित रूप। गिरिजाकुमार माथुर ने निर्जन दूरियों के ठोस दर्पणों में चलते हुए देखा कि—

"सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गई।"

यहाँ तो एक देह की तीन हुईं; ऐसा भी होता है कि एक ही देह के दो हिस्से हो जाएँ, सर अलग, धड़ अलग। तब सर धड़ का नाच देखता है और श्रोताओं को नाच का आँखों देखा हाल भी सुनाता जाता है। गिरिजाकुमार माथुर की ही अभिव्यक्ति है—

"मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज-सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है
देखता है
और रनिंग कमेण्ट्री करता जाता है।"

इस अभिव्यक्ति के मुकाबले दुःस्वप्नों की अनुभूति हल्की ठहरती है। जैसे गिरिजाकुमार माथुर का यह कहना कि मैं एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ, सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ तो छत से टकराता हूँ, मुझे बेहद प्यास लगी है और आस-पास हत्यारे कुएँ हैं जिनमें सिर्फ गिर सकता हूँ; या सर्वेश्वर दयाल की अनुभूति कि एक अदृश्य इमारत मेरे ऊपर गिर पड़ी है, और जो 'नहीं है' उसके बोझ से मैं दब गया हूँ; या लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह अनुभूति—

"मैंने सिर हिलाया
खाली बिस्कुट के डिब्बे-सा वह सो गया
गरदन हिलायी
नहीं हिली, अकड़ी थी"—

यह सब कबन्ध-डान्स के आगे फीका है। पृथ्वी के नीचे दब जाने, अँधेरे कमरों में खो जाने का सपना आदमी अक्सर तब देखता है जब देर से खाना खाकर बाईं करवट सो जाए, खासकर तली-भुनी चीज़ें खाकर। व्यायाम करने, उचित समय पर अल्पाहार करने से ये दुःस्वप्न दूर हो सकते हैं। उम्र पचास ज्यादा से हो तो रात्रि को केवल फलाहार अति उत्तम है।

अपने ही नगर में यह अनुभव करना कि वह अपरिचित है, मित्रों के बीच में सहसा यह बोध होना कि ये अजनबी हैं—न्यूरॉसिस के बहुत हल्के-फुल्के रूप हैं। सड़कों का उछलना-कूदना, लैम्प पोस्टों की बातें करना न्यूरॉसिस को छूनेवाले दिवास्वप्न मात्र हैं—कल्पना की अतिशयता जो अर्धविक्षेप का रूप भी ले सकती है। एक ने लिखा—

"सड़कें चाबुक-सी उछलती हैं
मैदान पैंट झाड़ कर
उठ खड़े
होते हैं"।

दूसरे ने लिखा,

"सब सड़कें
हाथों में हाथ फँसाकर
एक घेरे में नाचने लगती हैं।"

तीसरे ने लिखा,

"बेतरतीब ढोती सड़कें
घबड़ाकर मकानों पर चढ़ गई हैं।"

चौथे ने लिखा,

"सड़कें दौड़ती हैं
मिलने को गले,
चौराहे भागते हैं
एक दूसरे से।"

पाँचवें ने लिखा,

"क्षण-भर बाद उठकर यह सड़क
उस रेत पर बैठेगी, तट पर खड़ी होगी,
जाने क्या सोचेगी, फिर डूब जायगी।"

यानी नदी में डूब जायगी क्योंकि इस सड़क के पास नदी बहती है। जब सड़कों का यह हाल है तब दीवारें दूसरों की बातें सुनें, उन पर विचार करें, यह वाजिब ही है। उनके कान बहुत दिनों से हैं।

"मुंडेरों के कन्धे हिलते हैं
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती हैं।"

एक अन्य कविता में—

"दीवारें खड़ी सोचती रहीं···
माइक ने जाते समय
शहर की दीवारों से कहा···"

अस्तित्ववादी दर्शन में भले ही वस्तुजगत् मृत हो, मानव-चेतना ही सत् हो, व्यवहार में कवि के लिए मुर्दा चीज़ें जानदार हैं और जानदार चीज़ें मुर्दा हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि नई कविता में आत्महत्या का ज़िक्र बार-बार आता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा :

"आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जान-बूझकर!"

विजयदेव नारायण साही :

"ऐसे ही मैंने सृजन को देखा है
और उसे मृत्यु की तरह पहचाना है
वह हत्या से उपजता है
और आत्महत्या की ओर बढ़ता है।"

जगदीश गुप्त :

"मानता हूँ खुदकशी को कायरों का काम
निश्चय, आत्मघाती भावना से घृणा करता हूँ।
मगर इस क्षण न जाने क्यों यही जी चाहता है
झाँक लूँ उस अन्ध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर :

"किसी ने भी
मेरी अन्तिम आत्महत्या नहीं देखी।"

श्रीकान्त वर्मा :

"न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का
ख़ून!"

यह मूल्यों के विघटन का युग है। हर चीज़ टूट रही है, कवि टूट रहा है, कविता टूट रही है। फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिए वह हवा बहुत मुफ़ीद होती है जिसमें मनुष्य के लिए हत्या और आत्महत्या में ज़्यादा फ़र्क़ न रहे। नई कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अन्दाज़ होता है कि जनतन्त्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई खास तकलीफ़ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन-व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।

एक बड़े हाल में सिंहासन पर सुनहरी पोशाक पहनकर एक आदमी बैठ जाता है। "यन्त्रवत् दर्शक ताली बजाते हैं।" दूसरा व्यक्ति सबसे हाथ उठवाकर पहले को गद्दी से नीचे बिठा देता है। "सहमत दर्शक शोर मचाते हैं।" तीसरा आकर दोनों को खिड़की से बाहर फेंक देता है। "भयभीत दर्शक जोश दिखाते हैं।" चौथा आकर सिंहासन उठा ले जाता है, हाल पर बाहर से ताला जड़ देता है। "बन्द हुए दर्शक नारे लगाते हैं।" गिरिजाकुमार माथुर के लिए इतिहास का इस तरह का तमाशा है। और—"इतिहास अन्धा है", "इतिहास बहरा है", "इतिहास गूँगा है", "इतिहास लँगड़ा है।"

इतिहास इसलिए भी लँगड़ा है कि उसके कई 'हीरो' लँगड़े हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा पूछते हैं,

"इतिहास के जंगों से
म्यूज़ियम के जिरह बख्तरों से
टूटी बन्दूक से
लँगड़े तैमूर से
क्या मिला ?"

विजयदेव नारायण साही के लिए अग्निकुण्ड में 'बदहवास शताब्दियाँ' नागों की तरह गिर रही हैं और

"जो है
धधक-धधक कर जल रहा है
और जो नहीं है
वह भी धधक-धधक कर जल रहा है।"

कैलाश वाजपेयी के लिए—

"वे तानाशाह
जनहितैषी
वे धर्मपुत्र
सब अपनी-अपनी तरह के नरभक्षक थे।"

ये कवि कभी-कभी कृपा करके देश के बारे में भी सोचते हैं। सोचते हैं और बेहद निराश होते हैं। दुःखी स्वर में पूछते हैं, इस देश का मैं क्या करूँ ? उनका सबसे विकट दुर्भाग्य मानों यह है कि वे इस भारत देश में पैदा हुए हैं। यहाँ के नेता तो बेईमान हैं ही, जनता मूर्ख है जो उनके पीछे चलती है। भीड़ से जितनी नफरत नयी कविता के रचयिता को है, उतनी और किसी दूसरे को नहीं। अपने अकेलेपन, होने या न होने की अनोखी अनुभूति और प्रगाढ़ सर्जनात्मक पीड़ा के कारण उसे शेष भारतवासी गँवार, असमय और मूर्ख लग[ते] हैं, उनमें जो पढ़े-लिखे हैं, वे निहायत 'मीडिओकर' हैं, बौ[ने] हैं। "टूटी चाय की प्यालियों और तश्तरियों-जैसे निरर्थ[क] लोग;" स्वभावतः ऐसे लोगों के बीच में लक्ष्मीकान्त वर्मा क[ो] लगता है, उफ़ कितना अजनबी हूँ, कितना निर्वासित हूँ मैं ! लोकमत, मानवता, जनता—सिर्फ चेहरे हैं, गिरिजाकुमा[र] माथुर के अनुसार हिटलर का जो कहना था, वही गिरिजा[-]कुमार ने कविता में उतारा है,

"लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतंक से प्रीत करते हैं।"

श्रीकान्त वर्मा ने तो "देश को खोकर ही" कविता प्रा[रम्भ] की। कुछ राजनीतिज्ञ इस भीड़ को संगठित करने का प्रय[त्न] करते हैं, उसे नारे लगाना सिखाते हैं। भारतभूषण अग्रवा[ल] इन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं,

"भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
भीड़ों से निकलो और
भीड़ों में खो जाओ !"

नारेबाज़ी की बीमारी खासतौर से कम्युनिस्टों को हो[ती] है। पूँजीपतियों को शिकायत है कि ये सब मास्को या पीकि[ंग] के दलाल हैं। इससे मिलता-जुलता खयाल भारतभूष[ण] अग्रवाल का है। रेस्तराँ में किसी महिला से कहते हैं,

"लजाओ मत सुन्दरी !...
आस-पास बैठे ये लोग...
यहाँ नहीं कहीं और हैं...
और ये कामरेड ?
ये यहाँ नहीं
ये चीन और रूस में हैं।"

अस्तित्ववादी कवि की निगाह में दुनिया के मार्क्स[-]वादी—क्या साहित्य में, क्या राजनीति में—हमेशा सर[ल] समाधान ढूँढ़ते हैं।

"मगर हम और हम जैसे
कि जिनसे ज़िन्दगी की बात का मतलब निकलता है
महज़ आसान रस्तों में भुलाये जा नहीं सकते।"

इसलिए विजयदेवनारायण साही और उनके समान[-]धर्मा मित्र आत्महत्या द्वारा मृत्यु के साक्षात्कार की तलाश [...]

घूमते हैं (यानी कविता के कल्पना-लोक में)। पर साही की अनुभूति में वह प्रगाढ़ता अभी नहीं है जो कैलाश वाजपेयी या राजा दुबे की रचनाओं में है। कैलाश वाजपेयी ने 'एक नया राष्ट्रगीत' लिखा है, जिसकी शुरुआत यों होती है :

"सौ करोड़ से ज्यादा लिजलिजे पंजे
दलदल में धँसे हुए,
रीढ़ की जगह एक केंचुआ···"

और अन्त इस प्रकार :

"यही क्या कम है कि मैं सेंतमेंत में
पिछले बीस साल से दुनिया का 'महान्' गणतंत्र
कहला रहा हूँ।"

राष्ट्रगीत लिखने की इस प्रतियोगिता में स्वर्णपदक मिलना चाहिए राजा दुबे को।

"सड़े हुए केले जैसा
मेरा अंग अंग गलता जाता है···
हो गया सारा का सारा राष्ट्र
किसी तवायफ के घर उतरी जूती···
और जनता ?
जापानी बबुआ
सो भी बिन चाभी···
गोल बाँधकर अब
खड़ी हो गई है तमाशों की अभ्यस्त भीड़
मेरे चारों ओर !
भ्रष्ट है भीड़, और भ्रष्ट है भीड़ का शोर···
लोगो, सुनो लोगो,
मैं किसी फाहशा के मुखारविन्द से
'जनगणमन अधिनायक जय हे' सुनकर
मरना चाह रहा हूँ।"

तवायफ के घर उतरी जूती ! "भारतमाता ग्रामवासिनी" के बाद से अब तक नई कविता ने कितनी प्रगति की है !

तवायफ, वेश्या—इससे अधिक चालू उपमान नई कविता में शायद ही दूसरा हो। नयी कविता का सर्जक उसकी तरफ खिंचता है, उस पर थूकता भी है। वेश्या उस वीभत्स की प्रतीक है जिसे कवि ने अपने मनोविनोद के लिए कल्पना लोक में रचा है। कैलाश वाजपेयी के हाथ में घुआँजली 'वेश्या-इच्छाओं की' राख है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की राय में शान्ति के बारे में उस कुलवधू से पूछना चाहिए जो "कई बार विचारों की वेश्या हो गई है" (विचारों की वेश्या का अर्थ जो भी हो)। अजितकुमार सड़क से सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं :

"पड़ी हुई है एक बेहया की तरह
—खुली, ठंडी, उदासीन !···
—सबको सहती।
अपने में लीन।
—एक वेश्या।"

वीभत्स-विशेषज्ञ श्रीकान्त वर्मा के यहाँ औरों की अपेक्षा वेश्या-उपमान की खपत ज्यादा है। एक चित्र : एक कवि दूसरे कवि से समय पूछ रहा है, "वेश्याएं खुश हैं", कुत्ते हड़-बड़ाकर उठ आये हैं। कवि के सामने समस्या है, इस सारे क्रम का मैं क्या करूँ ? क्या बागडोर दे दूँ वेश्याओं के हाथ में ? एक परेशानी और है। जिस कवि की वाणी में आज तेज है, वह दस साल बाद इस तरह लौट आता है।

"जैसे किसी वेश्या के कोठे से
अपने को बुझाकर।"

अब एक प्राकृतिक दृश्य : अपूर्व दिशा के नितंब पर स्खलित करता है अपने शौर्य को तेजस्वी सूर्य, कराहती हैं सारे शहर की वेश्याएँ जैसे सारे शहर की वेश्याओं पर सूरज सवार था। दूसरा दृश्य : नावें कई यात्रियों को उतारकर वेश्याओं की तरह थकी पड़ी हैं घाट में। तीसरा दृश्य : कवियों की झूठ में लिपटी हुई 'वेश्या—माँ' अपनी सन्तानों का स्वर्ग देख रही है। दुनिया के बन्दरगाहों पर अन्धकार बरस रहा है "मगर वेश्याई स्वर्ग में" फोड़ों की तरह उत्सव फूट रहे हैं। फिर एक प्रशंसनीय समाज-सेवा का काम : "मैं एक पेशाब घर की दीवार पर" जाकर लिख आता हूँ चाक से, खबरदार ! हैजा फैलाती हैं मक्खियाँ, खबरें, अखबार,

"टाँगें फैलाती हैं
रंडियाँ,
धनी रोज़गार !"

इसके बाद कवि घर लौट आता है और प्रश्न करता है :

"क्या मैं पड़ा रहा हूँ अपनी स्त्री की जाँघ की दराज
में ?"

कहीं कोई खामी है जो इन कवियों को त्रास देती रहती है, इनके मन को आक्रान्त करने वाले दुःस्वप्नों की रचना करती है, जो इनका ध्यान संसार के अन्य व्यापारों से खींच-

कर एक ही विषय पर केन्द्रित कर देती है।

"मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किन्तु
तुमको सारा सका न पा
अपने को सारा सका न दे।"

इसलिए स्वभावतः

"प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।"

फ्रायड की बात सच मालूम होती है। मनुष्य की दमित, अतृप्त कामेच्छाएँ उसके सारे सामाजिक दृष्टिकोण को रंग देती हैं। यह सोचकर उसे कुछ सान्त्वना मिलती है कि

"कुछ स्त्रियाँ
प्रेम करती हैं
वर्दी से;
बाकी
नामर्दी से।"

अजनबीपन, अकेलेपन और प्रेम की निस्सारता के दर्शन का स्रोत यही है :

"प्रेम
अकेले होने का ही
एक और ढंग है।"

सार्त्र और श्रीकान्त वर्मा की सह-अनुभूति का मूल उद्‌गम एक है। इन अकेले होने वाले प्रेमियों की काफी बड़ी भीड़ है, भले ही उनमें हरएक अपने को बहुत अकेला महसूस करता हो। राजा दुबे कहते हैं : तुम्हारा प्रेम जैसे एक फ्रेम है जिसमें तुम मुझे अपनी मनचाही आकृति में कस लेती हो। फिर पुष्ट कंधों से उड़ाती हुई बदन गन्ध इत्यादि। प्रणय-व्यापार की परिणति यह है :

"और हमारे बीच
रह जाती है कविता बनते-बनते
टूट जाता है छन्द मँजते-मँजते
और हम थक जाते हैं रचते-रचते
कुछ का कुछ।"

इस सफलता के बाद वह एक कविता रचते हैं, 'सारी प्रेयसियों के नाम'। शीर्षक भिन्न है, प्रणय-व्यापार की परिणति अभिन्न है :

"एक लड़की जैसे एक बहुत अच्छा सपना !
और मुझे घेर लेता है
मेरा ही हारा हुआ अकेलापन।"

एक अन्य कविता में अकेलेपन से सपनों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा :

"एक आदमकद आइना :
टूटता है जिसमें एक दृश्य
मैं ही हूँ उसका एक नपुंसक नायक।"

'आत्मजयी' के कवि कहते हैं :

"तत्पर शरीर के कण-कण में लपकता काम-वेग···
देह के अश्लील आकर्षण
थमे संकेत सहसा स्पष्ट होते जा रहे हैं···
वह जो बीत गया
निष्प्रयोजन-सा एक सुख—
जहाँ से अभी-अभी समाप्त होकर
लौटा वह अनर्थ और बे-स्वाद
मानो कुछ पाकर नहीं—खोकर···
मरा नहीं
किन्तु फिलहाल पूरी तरह चुका हुआ।"

कुछ तो जन्मजात नये कवि हैं; कुछ लड़कपन में नये कवि बनने के आवश्यक गुण प्राप्त कर लेते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो प्रौढ़ वय में—अनेक वर्षों तक सुखी गृहस्थ जीवन बिताने के बाद—उस मार्मिक स्थिति तक पहुँचते हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कुछ कविताएँ बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। यथा :

"डूबकर भोगे हुए
कितने अद्वितीय रसगोपन क्षण
होम पर धरे मैंने
—गन्ध पर उठी नहीं।"

अन्य कविता में :

"जितने चटकदार क्षण आये
बिना बोले चले गये
जितने चटखारे-भरे दिन पाये
सबको हम थोड़ा-थोड़ा जूठा कर
छोड़ चुके
कुछ भी ललचाने वाली चीज़ अब रही नहीं।"

इस नई कविता ने न जाने कितनों की गृहस्थी बरबाद कर दी है। शकुन्त माथुर की स्पष्टवादिता देखिए :

"मेरा और तुम्हारा

अभी तक चलता प्यार
कहाँ खींचकर ले आया है
जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं
सपाट धरती पर
सिर्फ एक-दूसरे को बैठे
हम घूर रहे हैं
और सामने के दो खण्डहर
सिद्ध कर रहे हैं अपना क्रम।"

नयी कविता लिखने वालों में पुरुष ही अधिक हैं, स्त्रियाँ बहुत कम, उतनी भी नहीं जितनी छायावादी कविता लिखती थीं। वे शायद नयी कविता तब लिखती हैं जब नये कवि से डूबती हैं—यानी उस कवि से जो कविता चाहे बहुत पहले से करता आया हो, पर जो नया कवि हाल में बना हो।

सार्त्र के नायक रोकांतैं को हर चीज़ थुलथुल, निर्जीव, लिजलिजी मालूम होती थी। हिन्दी के अस्तित्ववादी कवि आत्मवत् सर्वभूतेषु देखते हुए उसी प्रकार संसार और उसके सजीव-निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते हैं। रघुवीरसहाय की एक कविता है 'दुनिया'। कैसी है यह दुनिया?

"दुनिया एक पपड़ियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक चिपचिपाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक फँफूदियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक बजबजायी हुई-सी चीज़ हो गई है।"

कैलाश वाजपेयी के राष्ट्रगीत की शुरुआत होती है, 'लिजलिजे' पंजों से। वह स्वयं 'मांस ढके गिजगिजे अन्धकार में' हर रात अपने को फेंककर सुख से नष्ट होते हैं! गिरिजाकुमार माथुर की अन्तर्दृष्टि के सामने:

"एक निश्चेष्ट मिट्टी के लोंदे सा बादल
आसमान में ठसकर बैठा है।"

लेकिन ये बादल वगैरह के उपमान पुराने पड़ गए। नये उपमानों में उल्लेखनीय हैं कछुए और केंकड़े। जगदीश चतुर्वेदी कहते हैं:

"सभी मर्द घिनौने कछुओं से पहने हुए हैं खोल
केंकड़े-सी सिमटी जा रही हैं रतिक्रान्त युवतियाँ
बुझे बल्बों की कतार-सी टिड्डियों की टोली;
नपुंसकों का हुजूम!"

नयी कविता में उपमानों का 'पासिंग' खूब होता है। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ बुझे बल्बों की कतार है तो शकुन्त माथुर के लिए जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ युवतियाँ केंकड़े-सी सिमट रही हैं; कैलाश वाजपेयी के यहाँ:

"सूर्याकृति केंकड़ा खिसकता है
मांस के बुरादे पर?"

नयी कविता में केंचुए भी काफी हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लिखा:

"बिलबिलाकर बिछ गए हैं
केंचुए अन्धे!"

कैलाश वाजपेयी ने सौ करोड़ लिजलिजे पंजों से जोड़ा: "रीढ़ की जगह एक केंचुआ"। सौ करोड़ पंजों से अलग अपने दिमाग और होंठों के बारे में लिखा:

"मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता
होंठों पर कनखजूर चिपका है।"

मकड़ा भी अच्छा उपमान है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने एक कविता में लिखा—"वृद्ध मकड़ा आयु का चुप जाल है बुनता।" दूसरी में लिखा:

"चाँद आकाश में
बड़े सुनहरे मकड़े की तरह
धीरे-धीरे गर्व से रेंगता हुआ आता है
मुझे दबोच लेता है।"

केंकड़ों, केंचुओं, कछुओं, मकड़ों से कहाँ तक काम चले! इस भारत देश में जहाँ और बहुत-सी खराबियाँ हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसने कवियों के लिए काफी उपमान पैदा नहीं किए। इसलिए उपमानों की तलाश में कवि मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन कहाँ-कहाँ की यात्रा नहीं करते। बहुत साल पहले 'नाश और निर्माण' के युग में गिरिजाकुमार ने लिखा था:

"पर गीतों के इन पिरामिडों,
—इन धौला गिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।"

पिरामिडों के साथ उसी कविता में ममी:

"अब ये वसन्त
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया···"

भारतभूषण ने लिखा:

"और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं।" (अनुपस्थित लोग)

फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी लिखा:

"और मैं केवल एक अस्तित्वहीन
निर्जीव ममी सा···
पिरामिड की पर्तों में दफनाया हुआ-सा लगता हूँ।"

फिर पीयूष वर्मा ने लिखा :

"···ममियों ने
आज सदियों के उपरान्त
फिर करवट ली है
सोये हुए फराओं की आत्मा
आज फिर जग पड़ी है।"

नई कविता से यदि ये पिरामिड, ममी, केंकड़े, मकड़े, कछुए, केंचुए हटा दिए जाएँ तो उसका मूल भाव-तत्त्व उत्तर-कालीन छायावाद, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध वाली यूरोपीय रूमानियत, से कहाँ भिन्न है ? कवि की ऊब, उसका अकेलापन, आत्म-निर्वासन की भावना, आत्महत्या की आकांक्षा—कुछ भी नया नहीं है; पूंजीवादी सभ्यता के आरंभ से साहित्य में यह सब घटित होता आया है, औद्योगिक पूंजीवाद के प्रसार के बाद वह सब और घनीभूत हुआ है। अन्तर यह है कि आज का अस्तित्ववादी अकेलेपन के आगे जैसे घुटने टेकता है, सामाजिक प्रतिबद्धता से जैसे बचकर भागता है (सिद्धान्तचर्चा के दौरान भले ही वह प्रतिबद्धता की बात करे), वैसे न शेक्सपियर और मिल्टन ने घुटने टेके—यूरोप के नवजागरणकाल में; न शेली और बायरन बचकर भागे—इंगलैंड के रोमांटिक युग में; न प्रसाद और निराला ने आत्म-समर्पण किया—हिन्दी के छायावादी काव्य में। ये सब लेखक अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता पहचानते थे। हिन्दी के नयी कविता-लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धता कहाँ है ? निराला की शूर्पणखा की तरह साधारण मानवों पर—डाल अवज्ञा की दृष्टि—वे अपने आत्मगत संसार में खो जाते हैं। इन्होंने अपने भीतर नया क्या देखा है जो इनके पूर्वजों ने न देखा था ? उन देखी हुई पुरानी बातों को ही अपनी नवीन, मौलिक अनुभूति के बल पर कलात्मक संवेदनशीलता से चित्रित करते। वह भी नहीं। जिसके पास दृष्टि है, वह बाहर भी देखता है, भीतर भी। संसार में कोई ऐसा महाकवि अभी तक नहीं हुआ जिसने भीतर देखा हो, बाहर को छोड़ दिया हो या बाहर देखा हो, भीतर को छोड़ दिया हो। यथार्थ की इकाई बहुरूपी, अनेक-स्तरीय, स्थूल से स्थूलतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है। पर है वह इकाई, आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और अविभाज्य। इसीलिए जो दर्शन आत्म[illegible] चेतना को निरपेक्ष मानता है वह साहित्यकार के मूल रचना[illegible]त्मक दृष्टिकोण का ही नाश करता है, वैसे ही जैसे यांत्रि[illegible] भौतिकवाद मानवचेतना को वस्तुजगत् का प्रतिबिंब मा[illegible] मानकर साहित्यकार की रचनात्मक क्षमता को ही अस्वीका[illegible] करता है।

यूरोप की रोमांटिक कविता में यह कमज़ोरी मौजूद [illegible] कि वह यथार्थ से मुँह मोड़कर कवि की व्यक्तिगत आ[illegible] निराशा, दुख-सुख, स्वप्नशीलता, पलायनप्रियता से उल[illegible] जाती थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद समाज का पुराना ढां[illegible] तोड़कर जो व्यक्तिवाद उदय हुआ, उसका एक आर्थि[illegible] आधार था, सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका सापेक्ष महत्त्व भी था[illegible] १८वीं सदी के रीतिवाद की सीमाएँ लाँघता हुआ यूरोप [illegible] नया लिरिक-काव्य इसी व्यक्तिवाद के सहारे पनपा, फल[illegible] फूला और हमारे देश समेत संसार के अनेक देशों के साहि[illegible] को प्रभावित कर सका। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त त[illegible] यह धारा अपना कार्य सम्पन्न करके क्षीण हो रही थी। [illegible] रूमानी कवि अनुभूति की तलाश में ऐबसिन्थ, हशीश, लौ[illegible] नम का सहारा ले रहे थे। गाँजा-चरस से स्फूर्ति पाने[illegible] आकांक्षी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं जिसे—या जिस[illegible] मिलता-जुलता काम—उनके आदि प्रेरणा स्रोत न कर चुके हों। वैसे चिलम से लौ उठाना भारतीय संस्कृति के अधि[illegible] अनुकूल माना जा सकता है।

रोमांटिक काव्य की व्यक्तिवादी-प्रवृत्ति क्रमशः विकृ[illegible] होती हुई अब अस्तित्ववाद के रूप में प्रकट हुई है। चरम व्यक्तिवाद को वह सामाजिक दर्शन का रूप देकर प्रस्तु[illegible] करती है। रोमांटिक कवि रूढ़ियाँ तोड़कर नये सौन्दर्यबोध और नवीन सामाजिक मूल्यों की ओर बढ़े थे। अस्तित्ववाद ने सौन्दर्यबोध की उपेक्षा और मानवमूल्यों की अस्वीकृति को ही एक रूढ़ि का रूप दे दिया। यह बात फ्रांस के अस्तित्ववादियों पर उतनी लागू नहीं होती जितनी हिंदी में उनके अनुवर्तियों पर। रोमांटिक कवियों में एक प्रदर्शनवादी रुझान था, दुनिया को यह दिखाने की आकांक्षा कि वह कितने पतित, पीड़ित अथवा त्रस्त हैं। नई कविता में यह रूमानी प्रदर्शनप्रियता चरम सीमा तक पहुँच गई है।

जो अपने को पीड़ित, पतित, निर्वासित, अर्द्ध-विक्षिप्त महसूस करता है, वह सहानुभूति का पात्र है, सह + अनुभूति

का नहीं। 'न्यूरॉसिस' का गहरा सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों से है; मनुष्य निरुपाय और त्रस्त होकर ही अर्ध-विक्षिप्त होता है। किन्तु अस्तित्ववादी लेखक होशहवास में, अपना भाग्य स्वयं रचने का जन्मजात अधिकार सिद्ध करते हुए 'न्यूरॉसिस' का वरण करते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववाद में एक मूल असंगति है। वह दार्शनिक स्तर पर विवेक से अपना रास्ता आप चुनने का पक्षधर है। कलात्मक स्तर पर वह अपने को अर्ध विक्षेप से ग्रस्त पाता है। सार्त्र ने जब-जब स्वस्थ मन से अपने अर्ध-विक्षेप को देखा है, उन्होंने तटस्थ होकर उसकी आलोचना की है। 'उबकाई' कहानी का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मुझमें यथार्थ-बोध की कमी थी। तब से अब मैं बदल गया हूँ। यथार्थ को अनुभव करना मैंने धीरे-धीरे सीखा है। मैंने बच्चों को भूखों मरते देखा है। मरते हुए बच्चे के आगे 'उबकाई' में कोई वज़न नहीं है।" ('लाइफ़' में फ्रैंक कैपलर का लेख : डीलिंग विद अर्थली हेल्स)

हिन्दी कवियों ने 'न्यूरॉसिस' को तटस्थ दृष्टि से देखने वाला यह विवेक छोड़ दिया है। वह उसे महान दार्शनिक उपलब्धि मानकर ध्यानाकर्षण द्वारा अनुभूति के स्तर पर उसे उतारने की कोशिश करते हैं।

"हर बार नये-नये
अनदेखे काँटों के कपड़े पहने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य सा खड़ा रहा
—प्रतिमा पर बोली नहीं।"

कैसे बोले? प्रतिमा पुरुषत्व देखकर बोलती है, नये-नये काँटों के कपड़ों पर नहीं रीझती। सौभाग्य से नयी कविता-लेखकों में अधिकांश विक्षिप्त होने का अभिनय करते हैं, वास्तव में विक्षिप्त हैं नहीं। विक्षिप्त होना उनके 'होने' से कोसों दूर है। बड़े पूँजीपतियों के किस पत्र के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करने से कितनी तनखाह मिलेगी, किस सम्पादकीय नीति पर चलने से मालिक निकालेगा नहीं, या अन्य किसी सरकारी संस्था से चिपकने के लिए कौन-सा फलसफा अपनाना चाहिए—यह सब वे बखूबी पहचानते हैं। पूँजीवाद की खुली वकालत करके न साहित्य में जीना संभव है, न राजनीति में। विद्रोही का बाना ज़रूरी है। अस्तित्ववादी कवि विद्रोही हैं—पूरे समाज से, नैतिक मूल्यों से, कविता से, अपने से। पूँजीवादी नेता जब भ्रष्टाचार देखकर दुखी होते हैं, तब कहते हैं—सारे देश का नैतिक पतन हो गया है, जनता का ही चरित्र भ्रष्ट हो गया है, हम सब लोग स्वार्थी और कायर हो गये हैं। इस प्रकार वे पूँजीपतियों को और अपने को भ्रष्टाचार की ज़िम्मेदारी से साफ़ बचा जाते हैं। नयी कविता के लेखक जब सारी दुनिया को सड़ती-बजबजाती हुई देखते हैं, जब वे सारे देश को पस्त और मुर्दा देखते हैं, जब वे जनता को निष्क्रिय और मूर्ख कहते हैं, समस्त इतिहास की व्यर्थता सिद्ध करते हैं तब वे पूँजीवादी दृष्टिकोण से ही यथार्थ को देखते और परखते हैं। हिन्दी में अस्तित्ववाद एक अराजकतावादी धारा है। अराजकतावाद जनता की संगठनबद्ध, सामूहिक कार्यवाही का विरोध करता है। वह समझता है कि कुछ अद्वितीय महापुरुषों के बलिदान और वीरता से जनता का उद्धार हो जाएगा। हिन्दी के अस्तित्ववादी ऐसे किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं कि वे जनता का उद्धार कर रहे हैं किन्तु उन्हें यह भ्रम अवश्य है कि वे हिन्दी कविता का विकास कर रहे हैं। विकास की इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वे कभी अपने को तुलसीदास और शेक्सपियर से बढ़कर मानते हैं, कभी—आत्मबोध के विरल क्षणों में—उन्हें सारा प्रयास व्यर्थ जान पड़ता है और वे कहते हैं, "हम सब बौने हैं।"

अस्तित्ववाद यदि समाज-व्यवस्था के प्रति वास्तविक विद्रोह हो तो वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद के प्रति विद्रोह हो। किन्तु वह भरसक अपने अन्तर्जगत् को सामाजिक सम्बन्धों की छूत से बचाकर रखता है। जब वह इन सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करता है तब समाजवाद और पूँजीवाद, जनता और उसके शोषक—दोनों को कोसकर अपना सामाजिक दायित्व निबाह डालता है। यदि नयी कविता के लेखक वास्तव में विद्रोही होते तो नये यथार्थ बोध से वे हिन्दी कविता को समृद्ध करते। स्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। नई कविता ने अपने भावबोध और उपमानों का ऐसा कल्पनालोक रच लिया है। छायावाद से कहीं ज़्यादा काल्पनिक और रीतिवाद से कहीं ज़्यादा रूढिबद्ध है। गनीमत यही है कि पिछले बीस साल में बहुत सी कविता अस्तित्ववाद से हटकर भी लिखी गई है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

कुमार विमल

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का उद्‌भव किसी व्यवस्थित या पूर्वनियोजित प्रयास का फल नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण अनेक बिखरे सूत्रों के वयन से हुआ है। कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों के अलावा आधुनिक अस्तित्ववादियों के विभिन्न विभावनों के समीकरण से अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से अत्याधुनिक अस्तित्ववादियों के कई विभावन, जैसे—कामू का 'अब्सर्ड'[१], हाइडेगेर का 'बेफिंडलिख्काइट',[२] यास्पर्स का 'ट्रेन्सेन्डेन्स',[३] मार्सेल का 'होप'[४] और सार्त्र का 'नासिया'[५]—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह एक विशिष्टता है कि इसमें चिन्तन और सृजन का एकान्वय है, जबकि पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधारा के विवेचकों ने चिन्तन और सृजन को एकदम अलगाकर कलाकार तथा चिन्तक के बीच एक मोटी दीवार खड़ी कर दी थी। बात यह हुई कि एक दार्शनिक विचारधारा या दार्शनिक निकाय के रूप में अस्तित्ववाद दर्शन से साहित्य में नहीं आया। अस्तित्ववाद की यह विलक्षणता है कि अस्तित्ववादी धारणा पहले सर्जनात्मक साहित्य में उभरी और बाद में दर्शनशास्त्र की एक विशिष्ट विचारधारा बन गई। अर्थात् सर्जनात्मक साहित्य ही अस्तित्ववाद की जन्मभूमि है। अतः साहित्य-दर्शन, कला-दर्शन या सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत प्रश्नों से अस्तित्ववाद का सम्बद्ध रहना नितान्त स्वाभाविक है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी विचारकों ने, जो प्रायः कांट और हीगेल की कला-सम्बन्धी मान्यताओं से असन्तुष्ट या असहमत रहे हैं, सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत अध्येतव्य विषयों पर परम्परागत शब्द-जाल से हटकर नितान्त नई शब्दावली में सोचने की कोशिश की है तथा साहित्य और कला को एवं इनसे सम्बद्ध धारणाओं को गहन दार्शनिक प्रश्नों की तरह ही विचारणीय माना है।

यों कई विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में कि अपारम्परिक नवीनता की झलक नहीं स्वीकार करते। हर्बर्ट रीड अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध रोमांटि सौन्दर्यशास्त्र के साथ जोड़ते हैं। आशय यह कि इनकी दृ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र रोमांटिक भाव-बोध सौन्दर्य-चेतना की ही किंचित् परिवर्तित भंगिमा है। इ तो यहाँ तक कहना है कि अस्तित्ववादी चिन्ताधारा में आधारभूत विभावन[६] मिलते हैं, वे सभी शेलिंग और को रिज की विचारधारा में विद्यमान हैं।[७] किन्तु मेरी समझ अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को रोमांटिसि या रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र की शाखा, सन्तान या 'का कापी' सिद्ध करना दो पृथक् वस्तुओं के बीच घनिष्ठ रायण सम्बन्ध स्थापित करने जैसा है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अस्तित्ववादी तात्त्वि पर आधारित है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र मूलतः व्यक्तिवादी है और कला-सर्जना अथवा उसके वि षण के माध्यम से अस्तित्व की सार्थकता का अविरल अन्वे है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का ल अस्तित्व की सार्थकता की खोज, अतः, व्यक्ति के ग अन्तर्जगत् का अकृत्रिम चित्रण है तथा उसका मुख्य प्रयो अस्तित्व के विदरण या दरार[८] को पाटना या भरना फलस्वरूप अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इस कसौटी किसी कलाकृति का मूल्यांकन करता है कि उसमें अस्ति की सार्थकता की कितनी खोज हुई है अथवा उसमें व्यक्ति गहन अन्तर्जगत् का चित्रण किस प्रकार किया गया है उसमें अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले जीव-जगत् कैसा समीपी अंकन किया गया है। बात यह है कि अस्ति वादियों के अनुसार अस्तित्व ही व्यक्ति को सक्रिय बना और अस्तित्वहीनता से निष्क्रियता पैदा होती है। इस

अस्तित्व ही अस्तित्ववादियों के सम्पूर्ण अन्वेषण का केन्द्र है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास में कीर्कगार्ड और सार्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को कीर्कगार्ड से सुनिश्चित 'प्रारम्भ' और सार्त्र से व्यवस्थित 'परिणति' मिली है। कीर्कगार्ड ने सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उस नन्दतिक अस्तित्व के साथ माना है, जो उसकी विशिष्ट शब्दावली में 'द फ़र्स्ट स्फ़िअर'[११] है। कीर्कगार्ड द्वारा निरूपित त्रयात्मक 'अस्तित्वक्षेत्र'[१२] के सिद्धान्त में 'क्षेत्र' (स्फ़िअर) का आशय है 'विधि' (मोड)। इस तरह कीर्कगार्ड के अनुसार सौन्दर्यानुभूति भी एक प्रकार का 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' अर्थात् 'अस्तित्व की विधि' (मोड ऑफ़ इग्ज़िस्टेन्स) है। अतः कीर्कगार्ड का सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन इसी 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' या 'अस्तित्व विधि' पर निर्भर है। कीर्कगार्ड के अनुसार अस्तित्व के तीन क्षेत्र हैं—नन्दतिक क्षेत्र (इस्थेटिक्स स्फ़िअर)[१३] नैतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र। क्रम तथा व्याप्ति की दृष्टि से इन क्षेत्रों में नन्दतिक क्षेत्र निम्नतम किन्तु सर्वाधिक व्यापक है तथा धार्मिक क्षेत्र सर्वोपरि है। अस्तित्व के उक्त तीन क्षेत्रों में क्रमशः आनन्द, कर्म और वेदना की प्रधानता रहती है। इस सन्दर्भ में कीर्कगार्ड ने यह निर्देश किया है कि नन्दतिक तत्त्व अस्तित्व-लोक का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व है। अतः अस्तित्व के नैतिक और धार्मिक धरातलों पर भी नन्दतिक तत्त्व का सर्वथा लोप नहीं होता। अस्तित्वविधि में न्यस्त नन्दतिक तत्त्व का गहन सम्बन्ध, कीर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य के अन्तर्जगत् के साथ है, बहिर्जगत् के साथ नहीं। शायद अन्तर्जगत् को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के कारण ही कीर्कगार्ड ने कला से सम्बद्ध तत्त्वों में मनोवेग (पैशन) को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और मनोवेग को अस्तित्वानुभूति का एक अनिवार्य घटक माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कीर्कगार्ड का सौन्दर्य-सिद्धान्त हीगेल के सौन्दर्य-सिद्धान्त की तरह अतीन्द्रिय या आधितात्त्विक (मेटाफ़िज़िकल) नहीं है, आनुभविक (एम्पिरिकल) है। यह आनुभविक रुझान सम्पूर्ण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में मिलता है। फिर भी यह निश्चित है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र क्रमशः आधितात्त्विक होता जायगा, कारण, 'मेटाफ़िज़िक्स' की ओर झुकना मानो सौन्दर्यशास्त्र की नियति है। दूसरी बात यह है कि कीर्कगार्ड ने अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के निरूपण में 'बीइंग'[१४] को अपनी विचारणाओं का प्रस्थान-विन्दु नहीं माना है। इनका ध्यान निश्चितरूपेण 'बिकमिंग'[१५] की ओर है। हालाँकि ऐसा कहना निर्विवाद नहीं है, कारण, सभी अस्तित्ववादी किसी-न-किसी रूप में 'बीइंग' पर ही बल देते हैं।

जहाँ तक सार्त्र की बात है, सार्त्र के द्वारा अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को एक निश्चित 'परिणति' मिली है। सौंदर्यशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से सार्त्र ने बहुत अधिक नहीं लिखा है, किन्तु इनके कृति-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों[१६] में और विचारात्मक लेखन में सौंदर्यशास्त्र की अंगीभूत मान्यताएँ अनुपेक्षणीय मात्रा में मिलती हैं। यों सार्त्र के निबन्ध-संकलन 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध इनकी कई सुस्थ मान्यताएँ एक जगह पर मिल जाती हैं। इस पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में यह दावा किया गया है कि यह पुस्तक अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र का घोषणा-पत्र है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह पुस्तक सौंदर्यशास्त्र पर लिखा गया कोई सुनियोजित प्रबन्ध नहीं, कुछ कलाकारों पर अलग-अलग लिखे गये निबन्धों का संकलन है, जो निबन्ध पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने से पहले सार्त्र की साहित्यिक पत्रिका[१७] में छप चुके थे। इस पुस्तक की दूसरी सीमा यह है कि इसमें सार्त्र के सभी निष्कर्ष केवल मूर्तिकला और चित्रकला की विवेचना पर निर्भर हैं, यद्यपि ये निष्कर्ष समग्र ललित कला पर थोपकर सौंदर्यशास्त्रीय निष्कर्ष बना दिये गए हैं। इसमें जिन चार कलाकारों की विवेचना की गई है, उनमें एक भी प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार नहीं है।[१५] इस प्रकार उक्त पुस्तक की अनेक सीमाएँ हैं, यद्यपि इन सीमाओं के बावजूद अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र को परिपुष्ट करने में इस पुस्तक का उल्लेखनीय योगदान है। सबसे बड़ी बात यह है कि सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में पहली बार सामाजिक चेतना को स्थान दिया है अन्यथा अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र सामाजिक चेतना से पराङ्मुख व्यक्तिवादी कला-दर्शन-मात्र बनकर रह जाता। किन्तु परवर्ती सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में एक नई कड़ी जोड़ दी।[१६] सच पूछिये तो कला-विवेचन में सामाजिक सन्दर्भ को एक परिप्रेक्ष्य के रूप में स्वाकार कर सार्त्र ने अस्तित्ववादी सीमा में एक प्रगतिशील कदम उठाया है। अल्जीरिया की आज़ादी की माँग कर, वियतनाम में अमरीकी सैनिक आक्रमण का विरोध कर और नोबेल पुरस्कार को १६३५ ईसवी में ठुकराकर सार्त्र ने अस्तित्ववादी

शम्बूक से बाहर निकलने की कोशिश की है तथा अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा को वैचारिक समर्थन दिया है। सार्त्र की इस वैचारिक क्रान्ति या प्लुति का प्रच्छन्न प्रभाव गत दशाब्द में लिखे गए इनके कला-दर्शन-सम्बन्धी निबन्धों और स्वतन्त्र रचनात्मक कृतियों में मिलता है। तभी तो सार्त्र ने अस्तित्ववादी होकर भी जिस अस्तित्ववाद का मूल आस्पद अन्तर्जगत् और वैयक्तिकता है, 'सुन्दरम्' का सम्बन्ध 'शिवम्' (लोक मंगल) के साथ जोड़ दिया है।[२०] मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि सार्त्र ने अस्तित्ववाद की मूल भूमि छोड़ दी है। सार्त्र ने तो अपनी अस्तित्ववादी धारणाओं के अनुरूप सौंदर्यशास्त्र से सम्बद्ध मान्यताओं के निरूपण में संत्रास और निराशा को काफी महत्त्व दिया है। शायद इसीलिए सार्त्र को ऐसे कलाकार[२१] ने भी आकृष्ट किया, जिसके अनुसार कला एक 'अब्सर्ड एक्टिविटि' है—ऐसी 'अब्सर्ड एक्टिविटि' जिसमें केवल शून्यता (नाइहिलटी), निराशा (डिस्पेअर), त्रास (टेरर) और नियति के आक्रोश की अभिव्यक्ति रहती है।

सार्त्र द्वारा संकेतित उपर्युक्त सामाजिक प्रासगिकता की बात यदि छोड़ दी जाए, तो अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र मुख्यतः व्यक्ति-वैचित्र्य और स्वानुभूति को महत्त्व देता है। अतः यह संस्थात्मक मनुष्य[२२] से संबद्ध कथ्य को नहीं, व्यक्ति-वैशिष्ट्य से युक्त कथ्य को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार वैयक्तिक भावना और अनुभूत धारणा से ही कला-सर्जना सम्भव है। निर्वैयक्तिक भावनाएँ और कल्पित धारणाएँ कला-सर्जना की दृष्टि से अनुर्वर होती हैं। सच्ची अनुभूति व्यक्ति-विशिष्ट और काल-सापेक्ष होती है। एक व्यक्ति क्षण-विशेष में जिस किसी अनुभूति को पूरी ईमानदारी के साथ भोगता है, उस क्षण में उस अनुभूति को उस प्रकार केवल वही व्यक्ति भोग सकता है, अन्य कोई नहीं। क्षण, अनुभूति और व्यक्ति की इसी अनन्वयता को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला-सर्जना का मुख्य उपजीव्य मानता है। हम जानते हैं कि क्षणानुभूतियों के संदर्भ में व्यक्ति सदैव तर्क-बुद्धि से ही संचालित नहीं होता है और न वह वस्तु-सत्य के निर्देश का ही पालन करता है। अतः उपरिविवेचित मान्यता से यह निष्पन्न हो जाता है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक अनुशासन (आर्डर) को तर्कात्मक और वस्तुवादी अनुशासन से भिन्न मानता है। यह दृष्टिकोण, निश्चय ही, कला में आत्मनिष्ठ स्वतःस्फूर्ति[२३] के महत्त्व को स्थापित करता है तथा यह बतलाता है कि कला का प्रत्येक 'आलम्बन', 'आश्रय' के 'अस्तित्व-बन्ध' की उन्मुक्ति का प्रतीक हुआ करता है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में अंकित आलम्बन राम, कृष्ण, ईसामसीह या गौतम बुद्ध-जैसा चरित्र अथवा अन्य प्रकार का परम्परित आलम्बन नहीं हुआ करता। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन परम्परा से नितान्त भिन्न हुआ करता है। यह आलम्बन न किसी परम सत्य या तथाकथित उच्चादर्श से संबद्ध रहता है और न किसी आमुष्मिक कामना से। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन तो कलाकार के निजी उच्छ्वास, असन्तोष या अस्तित्व की अर्थहीनता का प्रतिबिम्ब-मात्र हुआ करता है, क्योंकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव-जीवन ही एक 'दुखान्त यथार्थ'[२४] है। अर्थात्, अस्तित्ववादी कला का कथ्य हमारे दग्ध अन्तजर्गत् और चुभन से भरे बाह्य परिवेश का यथावत् चित्रण है। यथावत् चित्रण रहने के कारण अस्तित्ववादी कला हमारे लिए केवल 'दर्पण' का काम करती है, 'दीपक' का नहीं। यह तो दुनियावी ज़िन्दगी[२५] को हू-ब-हू हमारे सामने रख-भर देती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अस्तित्ववादी कलाकार कला को 'दीपक' बनाना चाहते ही नहीं। अस्तित्ववादियों के अनुसार यथार्थानुभूतियों का नन्दतिक रूपान्तरण ही कला है। इसलिए यथार्थ ही (आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति के लिए जो यथार्थ है, वह अन्य सबके लिए भी यथार्थ हो) कला का मूलाधार प्रस्तुत करता है। कल्पना उसका मंडन करती है या उस पर मीनाकारी। इसी परिपार्श्व में अस्तित्ववाद का दूसरा विश्वास है कि व्यक्ति के लिए जगत् की सार्थकता जीवन-सापेक्ष है। मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के लिए इस जगत् की कोई सार्थकता नहीं रहती है। सचमुच, मृत्यु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का बड़ा विचित्र और अनिवार्य सम्बन्ध है। जन्म लेते ही प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से संबद्ध हो जाता है। समय की साँस के सहारे मृत्यु हर क्षण व्यक्ति के जीवन-द्वार पर दस्तक देती रहती है। यानी मनुष्य चाहे या न चाहे, जन्म लेने के बाद उसे मृत्यु के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता है। इस तरह अस्तित्ववादियों की यह धारणा है कि मृत्यु की रेखा के खिंचते ही यह सार्थक जगत् मृत व्यक्ति के लिए निरर्थक हो जाता है। अर्थात्, हर व्यक्ति के लिए उसका जीवन-सन्दर्भ इस जगत् की सार्थकता को प्रमाणित करने के हेतु अनिवार्य है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

उन्हीं कलानुभूतियों को महत्त्व देता है, जो 'व्यक्ति' के जीवन-सन्दर्भों से छनकर—यथार्थ बनकर आती हैं। यथार्थ के प्रति ऐसे आग्रह के बावजूद, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि में, कल्पना के मंडन या मीनाकारी की बात व्यर्थ नहीं है। इसीलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह मान्यता है कि अनुभूति और कल्पना में पगा हुआ या विन्यस्त 'यथार्थ' ही 'वास्तविक' (ऐक्चुअल) हो पाता है। जो यथार्थ' को अनुभूति और कल्पना की ओप से उजागर नहीं रहता या अनुभूति और कल्पना से परित्यक्त होता है, वह कभी भी 'वास्तविक' नहीं हो सकता। 'यथार्थ' को 'वास्तविकता' बनने के लिए 'कल्पना' के योग की आवश्यकता होती है—यह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की एक नायाब धारणा है।

यथार्थ और कल्पना के संबंध में इस स्वतोव्याघातपूर्ण धारणा से स्पष्ट है कि यथार्थ और कल्पना के प्रश्न पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि उलझी हुई है। एक ओर अस्तित्ववादियों ने अपने सर्जनात्मक साहित्य में जीवन के खुरदरे यथार्थों, संत्रास और फ़ालिजज़दा लमहों के प्रति आसक्ति दिखलाई है और दूसरी ओर नन्दतिक (सौन्दर्यात्मक) मूल्य के धरातल पर इन्होंने यथार्थ को उचित महत्त्व नहीं दिया है। जैसे, सार्त्र ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'यथार्थ' कभी सुन्दर नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जिसका संबंध केवल कल्पना-जगत् के साथ है।[२६] इस सूत्र की व्याख्या में सार्त्र का कथन है कि सौन्दर्यास्वादन से प्राप्त आनन्द वास्तविक होता है, किन्तु, सौन्दर्य के घटक-रूप में कलाकार द्वारा आयोजित वस्तुएँ अवास्तविक (अन्-रिअल) होती हैं। सार्त्र ने इसी तथ्य को सौन्दर्यानुभूति के पारम्परिक विश्लेषण में बहुचर्चित 'ताटस्थ्य' (डिस्-इन्-टरेस्टेड्नेस) का मूलभूत आधार माना है तथा अपनी स्थापना के समर्थन में कांट की एतद्संबंधी मान्यता का उल्लेख किया है।[२७] सार्त्र के अनुसार प्रत्येक कलाकृति सृजन के समय कलाकार के मन में बने बिम्बों का 'एक्स्टर्नल ऐनलॉग' हुआ करती है। यह 'ऐनलॉग' या मूर्त्तविधान से युक्त 'तुल्य-रूप सादृश्य' ललित कला के विभिन्न प्रकारों और विधाओं के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए चित्रकला में यह मूर्त औपम्य-विधान या तुल्यरूप सादृश्य की योजना उपादानमूलक (मैटिरियल) होती है और काव्य-कला में वाचिक (वर्बल)।

अस्तित्ववादियों ने एक शब्द-जाल बिछाकर इस तथ्य को ढँक-सा दिया है कि कला यथार्थ का अनुकरण या प्रति-रूपीकरण-मात्र नहीं है। वस्तुतः कला की सार्थकता केवल यथार्थ के चित्रण में नहीं, सत्य के उद्घाटन (रेविलेशन) में है।

कला-सर्जना में जहाँ तक नन्दतिक ईमानदारी (इस्थे-टिक सिन्सेरिटि) का प्रश्न है, उस पर अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि एकदम सुलझी हुई है। अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र नन्दतिक ईमानदारी को कला के लिए आवश्यक मानता है। जिस कलाकृति में नन्दतिक ईमानदारी न हो, वह व्यर्थ है। अस्तित्ववादियों के अनुसार कलाकार के स्वभाव में नन्दतिक ईमानदारी जीवन की खुरदरी अनुभूतियों को भोगने से पैदा होती है। जो कलाकार अपनी ज़िन्दगी के खट्टे-मीठे अनुभवों को किसी दुराव-छिपाव के बिना व्यक्त करता है, उसी की कला में नन्दतिक ईमानदारी रहती है।

यथार्थ की ओर झुकाव का प्रभाव अस्तित्ववादी सौंदर्य-शास्त्र के काल-दर्शन पर भी पड़ा है। नन्दतिक कार्य-कलाप[२८] के प्रसग में अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र का काल-दर्शन बहुत ही तादात्विक है—वर्तमाननिष्ठ है। यह कला में अंकित क्षणों को अतीत और भविष्य के सन्दर्भों से मुक्त देखना पसन्द करता है। शायद, इसी कारण यह चित्रकला में 'स्टिल लाइफ़'[२९] के अंकन को महत्त्व देता है। इस प्रकार काल को केवल 'वर्तमान' के आयाम में कैद करने की चेष्टा और सामान्यतः त्रिधा-विभक्त काल के शेष दो आयामों—अतीत और भविष्य को अवहेलित करना अस्तित्ववादी कला-रुचि की ध्यातव्य विशेषता है। यह सोचने की बात है कि अतीत का कृतघ्न और भविष्य से पराङ्मुख 'वर्तमान' आखिर कैसा हो सकता है। बात इतनी-सी है कि हर निषेध में एक स्वीकृति रहती है और इसलिए किसी वस्तु या धारणा के निषेध में उसकी प्रच्छन्न प्रकारान्तर स्वीकृति रहती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अतीत और भविष्य को नकारता नहीं है, बल्कि अतीत और भविष्य को भी सम्पीड़ित (कॉम्प्रेस्ड) करके सम्पूर्ण काल का एकान्वय केवल 'वर्तमान' में करना चाहता है। यानी ऐसा वर्तमान, जिसमें भूत और भविष्य—दोनों निहित हों। इसी वर्तमान-निष्ठा का यह फल निकला है कि अब

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र प्रत्येक कलाकृति को समसामयिकता से युक्त मानता है। जिस कलाकृति की मूलचेतना समसामयिक न होगी, वह कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकती। कहना तो यह ठीक होगा कि किसी भी कलाकृति की अभिशंसा 'क्लाइमेट ऑव द एज'[30] से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

'दर्पण' और 'दीपक' की बहसतलब बात उठाने के बाद यह जरूरी है कि कला और सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की धारणा का, संक्षेप में ही सही, विवेचन कर लिया जाए। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में कला-सर्जना और सोद्देश्यता पर प्रासंगिक विचार मिलता है। इसका झुकाव 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की ओर है। 'प्रयोजनहीन' इसलिए कि कृति-विशेष को रचने के पहले उसकी कोई पूर्वझलक कलाकार के मनश्चक्षुओं में नहीं बनी रहती है। रचना स्वयं बन जाती है। रचयिता को उस रचना की प्रत्येक विकास-भंगी का पता नहीं रहता। जैसे गर्भस्थ शिशु का कौन अंग कब बना—इसे स्वयं गर्भिणी भी नहीं जानती। किन्तु, जब कृति बन जाती है—रचना तैयार हो जाती है, तब जगत्-प्रपंच उसमें कोई प्रयोजन भर देता है अथवा उसमें कोई प्रयोजन ढूंढ़ लेता है। व्यावहारिक शुभ-लाभ से दूर रहनेवाले प्रत्येक ईमानदार कलाकार को रचना-काल में, शायद ऐसे प्रयोजन का भान या पूर्वाभास तक नहीं रहता। इसी विश्लेषण प्रक्रिया के आधार पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की बात करता है। अतः स्वतोव्याघातपूर्ण निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न प्रयोजनशील है और न प्रयोजनहीन है। अस्तित्ववादी कला मुखर होकर हमें कोई उपदेश नहीं देती है और न किसी आदर्श की ओर हमें उछालकर फेंकना चाहती है। इसलिए वह प्रयोजनशील नहीं है। इसी तरह अस्तित्ववादी कला प्रयोजनहीन भी नहीं है, क्योंकि वह हमें जीवन का 'समानान्तर यथार्थ' देती है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इसे सिद्धान्ततः मानता है कि कला (सही मानी में अस्तित्ववादी कला) हमारे सामने कोई नया 'प्रस्ताव' लेकर नहीं आती है। वह 'प्रस्ताव' करना जानती ही नहीं। वह सदैव हमारे यथातथ जीवन का समर्थन करती है। यानी कला की भूमिका एक समर्थक की भूमिका होती है। वह 'यथालब्ध' या यथावत्' जीवन का समर्थन छोड़कर जब 'प्रस्ताव' करती है, तब वह आचेष्टित प्रयोज-शीलता से ग्रस्त हो जाती है। इसका आशय यह निकला कि अस्तित्ववादी कला हमें आधुनिक जीवन की पूरी अर्थहीनता और असंगति को किसी हिचक के बिना स्वीकार करने के लिए कहती है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनु- कला का कोई पूर्वव्यवस्थित (प्रि-अरेंज्ड) प्रयोजन न- होता। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में सायास प्रयोज- शीलता नहीं भरी जाती। सायास प्रयोजनशीलता या अर्थहीनता में अर्थ भरने की चेष्टा अनुभूतिशून्य दर्शनशास्त्र में होती है। अस्तित्ववादी कला में यदि घुणाक्षर न्याय से प्रयोजनशील- रहती है, तो अयास प्रयोजनशीलता रहती है। प्रयोजनशील- सायास हुई कि वह निरर्थक हो जाती है। इसलिए अस्ति- वादी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यता है कि कला में कोई आचेष्टि- प्रयोजनशीलता नहीं होनी चाहिए। रचना-क्रम में स्- कोई प्रयोजन समाविष्ट हो जाए अर्थात्, अयास प्रयोजनशील- आ जाए तो दूसरी बात है। ऐसी अयास प्रयोजनशील- सार्थक होती है और कला के शील को भ्रष्ट नहीं क- है।[31] शायद, इस मान्यता के मूल में अस्तित्ववादि- (विशेषकर नास्तिक अस्तित्ववादियों) के द्वारा प्रस्ता- 'नई नैतिकता' की धारणा है। अस्तित्ववादी दार्शनिक- कलाकार परम्परावादियों की तरह पुण्य से प्रेम और पा- घृणा नहीं करते। ये हर सहज पाप में एक आधिता- अर्थ[32] ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। इस तरह अस्तित्ववा- जिस उदार 'नई नैतिकता' का प्रवर्त्तन किया है, उसका - प्रभाव कला की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्व- सौन्दर्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों पर है।

यह ध्यातव्य है कि अन्तर्जगत् के साथ अस्तित्व- कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्- शास्त्र कलानुभूति और आत्मनिष्ठा में अनिवार्य सम्- मानता है। अन्तर्जगत् की स्वस्ति के बिना कोई भी - कलात्मक नहीं हो सकता। बाह्य जगत् के पदार्थ तभी - वरेण्य हो पाते हैं, जब उनका प्रतिबिम्ब अन्तर्जगत् में - जाता है। यह अन्तर्जगत् व्यक्ति-विशिष्ट होता है। - गोचर जगत् सबके लिए एक है, किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति- अन्तर्जगत् एक-दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः अन्तर्- से सम्बद्ध रहने के कारण प्रत्येक कला-कृति पर उसके - व्यक्तित्व की छाप रहती है। अर्थात्, कला वैयक्तिक हो-

और वैयक्तिकता से कलाकृति का सम्बन्ध अविच्छेद्य होता है। इसलिए सार्त्र ने बहुत ही निर्णयवादी स्वर में यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रत्येक कलाकृति किसी-न-किसी 'व्यक्ति' की होती है। आशय यह है कि कलाकृति कलाकार के 'व्यक्तित्व' से सदैव जुड़ी रहती है। फलस्वरूप, वैयक्तिकता से संश्लिष्ट रहना कला की एक अनिवार्यता है।

प्रकट है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप 'व्यक्ति-सत्य' को विशेष महत्त्व देता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का सत्य अलग-अलग हो सकता है—कुछ मानी में अपना हो सकता है। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन वैयक्तिकता को स्वीकारता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनन्वय होता है—किसी भी व्यक्ति का सच्चा स्थानापन्न नहीं चुना जा सकता। इसलिए एक व्यक्ति के उठ जाने से जो रिक्तता पैदा होती है, वह अपूरणीय होती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववाद व्यक्ति-विशिष्ट सत्य को प्रचुर महत्त्व देता है और अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र वैयक्तिक जीवनानुभूतियों को कला का मूल उपादान मानता है। ये ही वैयक्तिक जीवनानुभूतियाँ व्यक्ति और जगत् के द्विविध वैचित्र्य को ढोती हैं। यह एक अचरज है कि पूरी जिन्दगी जीकर भी व्यक्ति अपने से और अपने को परिवृत्त करनेवाले जगत् से अपरिचित रह जाता है। न व्यक्ति दुनिया को जान पाता है और न दुनिया उसे जान पाती है। प्रत्येक व्यक्ति जीने के बहाने—कोई-न-कोई काम करते रहने के बहाने अपने को ठगता रहता है और इसी आत्म-वंचना के क्रम में एक दिन धोखे से चुक जाता है। इस तरह 'अकेलापन' व्यक्ति का एकमात्र साथी बन जाता है। तब व्यक्ति मात्र 'भोक्ता' ही नहीं रहता, वह अपने सारे भोगों का एकमात्र 'साक्षी' भी बन जाता है। एक ही व्यक्ति का 'भोक्ता' और अपने भोगों का एकमात्र 'साक्षी' होना—उसके अकेलेपन की चरम सीमा का प्रमाण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र व्यक्ति और जगत् के उक्त 'परिचय-मुख-अपरिचय' की तल्ख-तुर्श अभिव्यक्ति को ललित कला का प्रच्छन्न प्रयोजन (सोद्देश्यता के अर्थ में नहीं) मानता है।

व्यक्ति-सत्य को विशेष महत्त्व देने का सहज परिणाम यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र एक ओर मनुष्य की बोध-शक्ति के अनुद्घाटित कोषों की खोज पर बल देता है और दूसरी ओर कला का विषय केवल उन वैयक्तिक अनुभूतियों को मानता है, जो बौद्धिक नियंत्रण से मुक्त होती हैं। ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' का अंकन कहा जाता है। किन्तु, आदर्शवादी और साम्यवादी विचारकों का यह संयुक्त आरोप है कि व्यक्ति-सत्य, बौद्धिक नियंत्रण-मुक्त वैयक्तिक अनुभूति या 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' के नाम पर अस्तित्ववादी साहित्य और कला में हम मनुष्य के अशुभ, निम्नग और आर्त्तरूप का ही चित्रण पाते हैं। अतः इनके विचार से अस्तित्ववादी दृष्टिकोण व्यापक और मूलतः नन्दतिक न होकर एकपक्षीय है। इस सन्दर्भ में यह लक्ष्य करने योग्य है कि अस्तित्ववाद के धार्मिक और आस्तिक रूप के प्रस्तोता विचारकों ने कला को 'साइफर'[33] कहा है और उसे अलौकिक शक्ति का संकेत-चिह्न तथा लोक-अलोक के बीच का 'इन्टरमीडिएट किंगडम[34] माना है। अतः इस कोटि के अस्तित्ववादी विचारक किसी कलाकार की सामर्थ्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से करते हैं कि उसने अस्तित्व को कैसे संकेतों द्वारा व्यक्त किया है, उसने व्यक्ति की मूल वैयक्तिकता को किस प्रकार उरेहा है और उसने मनुष्य की सीमान्त दशाओं में कितनी गहराई से पैठने की कोशिश की है। किन्तु, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों की इस धारणा से भी अनेक प्रगतिशील विचारक असन्तुष्ट हैं और वे इसे समकालीन पूँजीवादी समाज की आध्यात्मिक अधोगति की प्रतिच्छाया मानते हैं।

भावना और बिम्ब के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का चिन्तन पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र से एकदम अलगा हुआ नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी यह मानता है कि भाव और बिम्ब के परस्पर घुल-मिल जाने से कला में अर्थ-वैमल्य की सिद्धि होती है। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की इतनी-सी विशेष मान्यता है कि बिम्बों की ऊर्जा से कलाकार में अस्तित्व-धारणा की शक्ति प्रमाणित होती है। अस्तित्व की यह धारक शक्ति मनुष्य को खुलकर या निर्भीक होकर जगज्जीवन की सारी विडम्बनाओं और हिंडिबा विद्रूपताओं को—उबकाई और अश्लीलता को भोगते हुए जीने का साहस देती है। इस प्रकार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक आवश्यकता से उत्थित होती है और न मनुष्य की अनिवार्य अपूर्णता का पूरक-मात्र हुआ करती

है। वह तो केवल 'नॉस्टैल्जिक'[35] होती है—पीड़ा की आवृत्ति से युक्त होती है। पीड़ा की आवृत्ति से तरंगित रहने के कारण ही अस्तित्ववादी कला में मालीखूलिया या अवसाद की अतिरंजना रहती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र यहां तक कहता है कि कला में नन्दतिक सौन्दर्य के लिए ऐन्द्रिय सुखदता और आकर्षण का आधान नहीं, उदासी या अवसाद और करुण मनोवेदना (पेथॉस) के समावेश की आवश्यकता है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अवसन्न, कुत्सित और कुरूप को पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की तुलना में नितान्त भिन्न दृष्टि से देखता है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ने कला और स्वप्न के सम्बन्धों पर किंचित् नवीन दृष्टि से विचार किया है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण फ्रायड के स्वप्न-विचार से कुछ भिन्न है। अस्तित्ववादियों ने कला और स्वतःस्फूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण के प्रसंग में ही कला तथा स्वप्न पर विचार किया है। इनके अनुसार स्वप्न-तंत्र और कला-तंत्र में अद्भुत समानता है। इसीलिए स्वप्न-चेतना और नन्दतिक चेतना में भी पारस्परिक समानता है। कला और स्वप्न-सम्बन्धों के सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह विशेषता है कि उसने स्वप्नों पर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार नहीं किया है। उसका स्वप्न-विश्लेषण मुख्यतः 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' है।[36] सार्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'द साइकॉलॉजि ऑव इमैजिनेशन' में हम इसी 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' दृष्टिकोण का उपयोग स्वप्न और कला-बिम्बों के विश्लेषण में पाते हैं। जिस तरह कला की सार्थकता अस्तित्व की गहराइयों में डूबी हुई अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में है, उसी तरह स्वप्नों का काम अचेतन की अतुल गहराइयों में दबी या छिपी हुई वासनाओं को छद्मवेष में अभिव्यक्त करना है। अन्तर यह है कि स्वप्न-चेतना व्यावहारिक अर्थ में जहाँ कल्पना-विलास मात्र होती है, वहाँ नन्दतिक चेतना से नये-नये जीवन-मूल्यों का आविर्भाव होता है। यह अन्तर स्वप्न और कला के फलितार्थ का अन्तर है, स्वप्न-वस्तु और कला-वस्तु का तात्त्विक अन्तर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक खूबियों के रहने पर भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की अनेक सीमाएँ हैं। इसकी पहली सीमा यह है कि इसमें अनेक विसंगतियां और विरोधाभास हैं। कई विरोधाभास और विसंगतियां तो एकदम अनावश्यक हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि आस्तिक-नास्तिक, जर्मन-फ्रेंच, पुराने-नये—कई प्रकार के अस्तित्ववादियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को एक ऐसा वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा) बना दिया है, जिसमें समभंग और विसंवादी स्वरों की कमी नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को 'विचित्र'-वीणा बनाने का गौण कारण यह है कि अस्तित्व-वादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपनी मान्यताओं के निरूपण में स्वरचित विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) की क्रीड़ा दिखलाई है। जैसे, सार्त्र ने साहित्य और कला की विवेचना के प्रसंग में 'प्लेजर' शब्द का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त प्रसादन को 'इस्थेटिक जॉइ'[37] कहना पसन्द किया है।[38] सार्त्र के अनुसार 'प्लेजर' 'सुख' का वाचक है, जिसके द्वारा की गई सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या अपूर्ण रह जाएगी। इसलिए सार्त्र ने 'जॉइ' की व्याख्या अपने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार की है। इसी तरह हाइडेगर की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं में भी शब्द-क्रीड़ा मिलती है, जिसके फलस्वरूप हाइडेगर द्वारा प्रतिपादित कला-सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्रीय कम, दार्शनिक या आधि-तात्त्विक अधिक है। हाइडेगर का कहना है कि 'बीइंग'[39] विद्यमान यथार्थ[40] से एकदम पृथक् है। 'बीइंग' तथा विद्यमान यथार्थ के इसी तात्त्विक पार्थक्य[41] को हाइडेगर 'कला-कृतियों के सृजन का मूल'[42] मानता है। हाइडेगर का झुकाव कला के रूप-विधान को 'गेस्टाल्ट' मानने की ओर है। इनका कहना है कि कला-जगत् में जिसे अस्तित्व मिल जाता है, वह वस्तु-जगत् की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सच्चा हो जाता है। एक ओर सार्त्र ने 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में ललित कलाओं के बीच कविता के पारम्परिक आभिजात्य को प्रश्नास्पद दृष्टि से देखा है और दूसरी ओर हाइडेगर ने अन्य कलाओं की अपेक्षा कविता की श्रेष्ठता को युक्तिपूर्वक स्थापित किया है। हाइडेगर का कथन है कि सत्य का आकलन या उद्घाटन कला का आधार है। सत्य का यह उद्घाटन, आकलन या निबन्धन सबसे अधिक अच्छी तरह 'भाषा'[43] के माध्यम से होता है और कविता ही भाषा का मूल (ऑरिजिन) है। इसलिए इन्होंने कविता को कला का सार[44] कहा है। इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी कहा है कि कविता का सार ही सत्य का आधार[45] है। इस तरह कविता

को कला का सार कहना और कविता के सार को सत्य का आधार मानना कविता के प्रति हाइडेगर के अत्युच्च समादर का द्योतक है। शायद, इसीलिए कई विचारकों ने हाइडेगर का आदर्श 'फिलॉसफर-पोयेट' को माना है।

परम्परावादियों के अनुसार भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी सीमा उसमें न्यस्त विरोधाभास है। कारण, एक ओर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र निष्कलुष तथा अनाविल कला-चेतना को मूलतः अप्रतिबद्ध मानता है और दूसरी ओर वह उत्कृष्ट कला को प्रत्येक ईमानदार या जायज़ प्रतिबद्धता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध मानता है। यह दूसरी बात है कि इस प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता के पचड़े से परे तटस्थ विचारकों को यह तथ्य साफ मालूम पड़ता है कि अस्तित्ववादी कला जगत्-जीवन की निरर्थकता, शून्यता, उबकाई, घिनौनेपन और कुत्सा को व्यक्त करना चाहती है। कामू की कृतियाँ इसे सर्वाधिक सशक्त रूप में उदाहृत करती हैं। अस्तित्ववादी कला की इस मुख्य प्रवृत्ति पर भी आदर्शवादी और उग्र आशावादी विचारक झुँझलाते हैं। किन्तु, मेरी दृष्टि में यह झुँझलाहट पूर्णतः सार्थक नहीं है। कारण, आज हमारे जीवन ने, वस्तुतः अर्थहीन प्रतीक्षा, अनावश्यक स्थगन और बाह्यारोपित निलम्बन का रूप धारण कर लिया है। अतः अस्तित्ववादी कला यदि आधुनिक जीवन के इसी विद्रूप का प्रतिबिम्बन और प्रतिरूपीकरण अपना कार्यविशेष[४६] मानती है, तो इसमें अनुचित क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्ववादी कला जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित कर जगत्-जीवन की निरर्थकता से ग्रस्त मानव-मन को 'निर्भीक निराशावादिता[४७] से तरंगित करना चाहती है। इसलिए अस्तित्ववादी कला हमारे जीवन को अकृत्रिम रूप में हमारे सामने रखती है और हमें अपनी नंगी ज़िन्दगी को रू-ब-रू देखने का साहस देती है। सचमुच, अस्तित्ववादी कलाकार पराजय, उन्माद, जुगुप्सा, मृत्यु इत्यादि को चित्रित कर ही अपनी 'अनुभूतियों का त्योहार' मनाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अस्तित्ववादी कला जीवन में, जो वस्तुतः निरर्थक और अर्थहीन है, वैसा कोई बाह्यारोपित अर्थ नहीं भरना चाहती है, जैसा कि अब तक कला पारम्परिक दर्शन का सहारा लेकर करती रही है। सच पूछा जाए तो अब तक दर्शन और कला ने जीवन में ज़बर्दस्ती अर्थ भरते रहने की बेशुमार कोशिश की है। लेकिन अर्थशून्य जीवन में अर्थ भरा जाए, तो कैसे? बलात् ढाला गया अर्थ सछिद्र जीवन में ठहरे, तो कैसे? इसलिए इस वस्तुतः निरर्थक जीवन में बाह्यारोपित सार्थकता भरने का प्रयास व्यर्थ है। फलस्वरूप, परिवेश की दुर्गति से ऊबे हुए अस्तित्ववादी कलाकार ने अस्तित्व की करुणा तथा 'अनाहत' पीड़ा की आवृत्ति को जिस तीव्रता के साथ भोगा और अभिव्यक्त किया है, वह अभूतपूर्व है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी कला में जगत् के दुख-दैन्य (वेल्ट्शमर्त्स)[४८] का ही विशेष अंकन किया गया है और उसमें हमें मनुष्य के 'प्रसन्न' मुख की नहीं, 'ग्लपित' मुख की ही झाँकी मिला करती है। सम्भवतः इसी कारण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि अस्तित्व कलाकार या सौन्दर्यशास्त्री जिस मूर्त्त जीव-जगत्[४९] की चर्चा करते हैं, वह वस्तु-सत्य नहीं, एक दार्शनिक पूर्वधारणा है।

आलोचकों की दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी खामी उसकी खाँटी आत्मनिष्ठता है। कारण, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं को केवल 'ह्यूमैन इन्टिअरर'[५०] में भटकना चाहता है। इसीलिए प्रगतिशील विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र और जीवन-दर्शन को एक कल्पित विश्व-बोध पर निर्भर आधुनिक दर्शन की अविवेकी चिन्ताधारा कहते हैं। इनके अनुसार अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला और जीवन-दर्शन के धरातल पर वर्तमान पूँजीवादी समाज के दैन्य तथा प्रतिवादों का समाधान ढूँढ़ने में असमर्थ है। इस तरह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, इनकी विचार-दृष्टि में, पूँजीवादी समाज के अनिवार्य दूषण-त्रास, असन्तोष, निराशा, नैतिक पक्षाघात, अखलाक़ी गिरावट इत्यादि से आविर्भूत तथा समकालीन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की प्रगति-चेतना से पराङ्मुख (परवर्त्ती सार्त्र की कुछ बातें इसका अपवाद हैं) एक निष्क्रिय चिन्ताधारा है। कुल मिलाकर लोकमंगल और सामाजिकता में विश्वास रखनेवाले उग्र वस्तुनिष्ठ विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को अतिवैयक्तिकतावाद का दर्शन मानकर उसे अग्राह्य (निषिद्ध!) घोषित करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. कामू ने अपने 'Absurd' सम्बन्धी विभावन को 'सिसिफ़स' के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। द्रष्टव्य 'द मिथ ऑफ़ सिसिफ़स'।
२. Bifindlichkeit.
३. Transcendence.
४. Hope.
५. Nausea.
६. जैसे—'सत्त्व' (Essence) की तुलना में 'अस्तित्व' की प्राथमिकता, 'Augst' इत्यादि।
७. द्रष्टव्य : Coleridge as critic, Herbert Read, Faber & Faber, London, 1949, pages 29, 32, 36.
८. Ontology.
९. Cleavages of existence.
१०. Lebenswelt : life–world.
११. 'The First Sphere'.
१२. 'Existence-spheres'.
१३. मतलब यह कि कीर्कगार्ड के अनुसार यह 'इस्थेटिक्स स्फ़िअर' ही 'फ़र्स्ट स्फ़िअर' है। शायद इसीलिए ए० जी० जार्ज ने कीर्कगार्ड के सौन्दर्यशास्त्र पर लिखित अपनी पुस्तक का नाम 'The First Sphere' रखा है। द्रष्टव्य : The First Sphere by A. G. George, Asia Publishing House, Bombay, 1965.
१४. Being.
१५. Becoming.
१६. कारण, सार्त्र के उपन्यासों की विशेषता उनके 'Situational Characters' में है, जब कि पुराने उपन्यासों की खूबी केवल उनके 'reflexive method' तक सीमित रहती थी।
१७. Les Temps Medomes.
१८. उक्त पुस्तक में सार्त्र ने जिन कलाकृतियों को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है, उनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं— 'Self portrait' by Tintoretto, 'The dog' by Alberto Giacometti, 'Mobile' by Alexander Calder and 'the Rioters' by Robert Laponjade.
१९. Essays in Aesthetics, Sartre, New York, 1966, p.p. 50-51.
२०. "Beauty seems indestructible; its sacred image protects us; so long as we have it in our presence, no catastrophe will occur." —Sartre, Essays in Aesthetics, New York, 1966, page 72.
२१. Alberto Giacometti (1901-1966).
२२. 'Institutionalized man.'
23. 'Subjective spontaniety'.
24. Tragic reality.
25. 'Life in the world'.
26. "The Real is never beautiful. Beauty is a value applicable only to the imaginary" Sartre, The Psychology of Imagination translated by Bernard Frechtman Washington Square Press, 1966, page 25.
27. The Philosophy of Jean-Paul Sartre, edited and introduced by Robert Denoon Cumming, The Modern Library, New York 1966, page 93.
28. Aesthetic factum.
29. Still life.
30. इस प्रसंग में Gabriel Marcel का यह कथन विचारणीय है—"Our appreciations of a work of art are always.........affected by the 'climate of the age', they reflect the unconscious general assumptions which we spare with our contemporaries during some given period in history; the historically conditioned attitude is something which, for all of us, is quite inescapable; and perhaps we can not even imagine, without tangling ourselves in contradictions, a dehistoricized attitude in the name of

which completely objective judgments, judgments quite untainted by the local, the temporal, the personal, and in a word quite free from relativity, could be made about works of art, literature and philosophy."

—The Mystery of Being

३१. द्रष्टव्य : 'The Existential Basis of Contextual Criticism', collected in 'The Play and Place Criticism', Murray Krieger, Baltimore, 1967.
३२. Metaphysical meaning.
३३. Cipher.
३४. Intermedite Kingdom.
३५. 'Nostalgia' में पीड़ा और प्रत्यावर्त्तन की अनिवार्य स्थिति रहती है। यह शब्द ही 'Nostos' और 'Algos' के मेल से बना है, जिनका प्रयोग क्रमशः 'Return' और 'Pain' के अर्थ में होता है।
३६. A. B. Fallico, Art and Existentialism, Prentice Hall, INC, 1962, page 33.
३७. Aesthetic joy.
३८. Sartre, What is Literature, translated by Bernard Frechtman, Methum & Co, London, 1950, page 41.
३९. Das Sein.
४०. Das Seinde.
४१. Ontological difference.
४२. Der Ursprung des Kunstwerks.
४३. 'Dic Sprache', collected in 'Unterwegr zur Sprache', by Heidegger, १९५९। इस पुस्तक में 'Die Sprache' पहला निबन्ध है, जिसके अन्तर्गत हाइडेगर ने कविता की भाषा पर विस्तृत विचार किया है। 'शुद्ध' भाषा के संबंध में हाइडेगर का एक प्रसिद्ध सूत्र है—'Die Sprache sprieht als das Gelant der Stille'—Langnage speaks as the sound of silence.
४४. 'the essence of Art is Poetry'.
४५. Stiftung.
४६. Factum.
४७. Courageous pessimism.
४८. Weltschmerz.
४९. Lebenswelt.
५०. Human interior.

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल

रामदेव आचार्य

आज की कविता पर दुर्बोधता तथा व्यक्तित्वहीनता का आरोप लगाया जाता है। व्यक्तित्वहीनता रचना की वह स्थिति है, जब रचना से रचनाकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आभास नहीं मिले। ऐसी रचना, बोझिल, अनुकरणात्मक तथा शुष्क होती है। समयानुकूल मुहावरों में जड़ी अनुभूति-शून्य कविता अपनी संवेदनशील प्रेषणीयता से विरक्त होकर व्यक्तित्वहीन हो जाती है तथा वह एक-स्वरूप और एक-लय का जड़ स्वाद देने लगती है। ऐसी स्थिति में उस पर दृष्टिहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता के आरोप लगते हैं।

आज की कविता पर ऐसे एतराज़ों को समझना ज़रूरी है। नयेपन के अन्वेषण में जो कविता जीवन से दूर रहकर चमत्कारों को तलाशती है, वह वस्तुतः काव्यात्मा से दूर है। रचना-प्रक्रिया यदि फ़ैशन बन जाती है तो उसे कोई भी ओढ़ सकता है, लेकिन जब रचना रचना रहती है तो वह रचनाकार की निधि बन जाती है। रचना ही स्रष्टा की कृति है, सृष्टि का आनन्द है। फ़ैशन अनुकरण का प्रतिफल है। स्रष्टा जीवन-यथार्थ को दैहिक या मानसिक स्तर पर भोगकर उसे अनुभूति बना लेता है और इस अनुभूति को काव्य-संवेदना के साथ सम्प्रेषित कर देता है। रचनात्मक क्षमता इसी का नाम है। फ़ैशन में नक़ल की प्रधानता होती है, अतः रचनात्मक क्षमता की वहाँ आवश्यकता ही नहीं होती। आज की अनेक कविताओं में यह फ़ैशननुमा जड़ता इस कदर समाहित हो रही है कि अनेक कविताएँ एक ही कवि की एक ही केन्द्र पर आवृत्तियों का अहसास बनती जा रही हैं। अनेक कवियों की अनेक कविताएँ जब एक ही कवि द्वारा किये गए सृजन का भ्रम पैदा करें तो उन्हें कृतियाँ न कहकर अनुकृतियाँ या आवृत्तियाँ कहना अधिक युक्ति-संगत लगता है।

ऐसी कृतियों में मौलिकता की तलाश एक व्यर्थ की शोध होगी। रचना तो सबसे अलग, विलक्षण होती है, उ[...] विलक्षणता स्वतः ही पहचान में आती है। आज की अ[...]तर कविताएँ पढ़ें तो लगेगा कि एक आकारहीन घिसा सि[...] हथेलियों में बन्द हो गया है और खोटे सिक्के को प्राप्त क[...] का पश्चात्ताप भावक पर आच्छादित हो गया है। सच्ची[...] जागरूक कविता भी लिखी जा रही है, पर उनकी सं[...] इतनी नगण्य है कि वह बासी आवृत्तियों की भीड़ में [...] हो रही है। पोषण न मिलने से पौधे का सूख जाना आश्[...]जनक नहीं होता। आधुनिकता के शोर-गुल में खरी कृ[...] खो रही हैं, क्योंकि उनके साथ तथाकथित आधुनिकता[...] विज्ञापन नहीं होते। रंग-बिरंगे विज्ञापनों वाली कविता[...] स्थापना हो रही है और विज्ञापन-हीन परिवेश के दंश[...] ईमानदार प्रस्तुति भी ध्यान आकर्षित करने में असमर्थ [...] हो रही है।

आज कविता के नाम पर स्थान-स्थान पर शिविर-ब[...] है। एक शिविर के कवि दूसरे शिविर के कवियों को परशु[...] की भंगिमा या ठण्डी उपेक्षा से नकारते हैं। अपने शिवि[...] कवियों को छोड़कर शेष कवियों को वे क्षुद्र प्राणी समझते हैं[...] इस साहित्यिक लामेबन्दी में अकेली आवाज़ अस्त हो ज[...] है, क्योंकि उसमें आत्म-निर्भरता का दम्भ रहता है। आ[...] गरिमा की सज़ा भी उसे ही भोगनी पड़ती है। मतलब [...] है कि शिविरबन्दी के इस युग में सच्ची काव्यात्मा को प्र[...] नहीं दिया जा रहा है तथा पक्ष-विपक्ष के हिसाब से नक़[...] काव्य-स्थितियों की स्थापना की जा रही है। यह एक दु[...] तथ्य है। आलोचनात्मक गद्य इतना हावी हो रहा है [...] इसमें नक़ली कविता की वकालत इतने सबल तरीके से [...] जा सकती है कि उसे असली कविता की प्रतिष्ठा प्राप्त [...] जाती है। गद्य का चमत्कार इस बात में भी है कि कुछ हें[...] धारी अग्रज कविता को भी गद्य के स्तर तक खींच लाते [...]

दावा कर रहे हैं। इस दावे के परिणामस्वरूप ही इस दौर की अधिकतर कविताएँ शुष्क, नीरस, वक्तव्यपूर्ण तथा बौद्धिक गद्यात्मक कविताएँ हो गई हैं, जिन्हें सुविधा व स्नेह-दान के लिए ही कविताएँ कहा जा सकता है। इन रचनाओं की छोटी-बड़ी पंक्तियाँ तथा इनकी काव्य-भाषा एक प्रकार की काव्य-मनःस्थिति का भ्रम पैदा करती है, हक़ीक़त में ये रचनाएँ चालू मुहावरों में ढली हुई व्यक्तित्वहीन अनुकृतियाँ हैं।

●

रचना के क्षेत्र में इन दिनों दो तरह के बोध बहुत खतरनाक सिद्ध हुए हैं—नगर-बोध और मृत्यु-बोध; इन दोनों के साथ-साथ कभी-कभी एक और बोध भी जुड़ जाता है—सेक्स-बोध। इन सभी बोधों का केवल एक इलाज है, जिसका नाम है आत्मबोध। कवि अपने स्वत्व से साक्षात्कार करे तो आत्म-ज्ञान के क्षणों में वह सोचेगा कि जिस नगरीय परिवेश को या मृत्युमुखी आस्था को या देहवादी जुगुप्सा को वह आँक रहा है, उसकी हज़ारों आवृत्तियाँ तो पहले इन दो-चार वर्षों में हो चुकी हैं; अब उस बासी संवेदना को शब्दों के सिक्के बदल-बदलकर चलाना आत्म-वंचना या स्वयं का दुहराव नहीं है तो क्या है? व्यक्ति को इतनी बार 'बौना' और 'नगण्य' घोषित किया जा चुका है कि अब 'बौना' व 'नगण्य' जैसे शब्द अपने अर्थ में ही बौने व नगण्य बन चुके हैं। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ स्थान-स्थान पर कविताएँ, कहानियाँ व उपन्यास बिखरे पड़े हैं—लोगों की करोड़ों तरह की ज़िन्दगियाँ कविताएँ भी हैं, कहानियाँ भी और उपन्यास भी—ऐसी भारतीय ज़िन्दगी को केवल नगर, मृत्यु और सेक्स की धुरी पर केन्द्रित कर देना सच्ची धुरीहीनता है। यह समझ-हीन दार्शनिकता ही आज की कविता की सच्ची गद्यात्मकता है, जिसमें न सही चिन्तन है, न आत्मानुभूति।

'ज्ञानोदय' के अप्रैल, १९६८ के अंक में चिली की कवयित्री गैब्रेला मिस्ट्राल की 'मातृत्व की छह अनुभूतियाँ' पढ़ीं तो लगा कि व्यक्ति की सच्ची प्रतिमा और नक़ली मिट्टी की मूर्ति में अन्तर कहाँ है! चिली की ये कविताएँ नारी के भाव-जगत् की खरी, सहज-ग्राह्य व संवेदनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब अनुवाद में ही इतनी क्षमता है तो मूल की कल्पना की जा सकती है। नारी के मनोभाव अनुभूति की इतनी गहनता से प्रस्फुटित हुए हैं कि वे सार्वजनीन और सार्वकालिक हो गए हैं। इनकी तुलना में यह सोचकर दुःख होता है कि इस देश का कवि कविता की प्रकृति को लाँघकर उसे आडम्बर बनाने के चक्रव्यूह में क्यों फँसता जा रहा है!

इस सारी प्रस्तावना से मेरा यह अर्थ नहीं है कि हमारे यहाँ सच्ची कविता विलुप्त हो गई है या हो रही है। वह दिखती है—मेघाच्छन्न आकाश से फूटती एक आलोक-किरण की तरह। धूमिल की 'पटकथा' (आलोचना, जनवरी-मार्च, १९६८) अपने सम्पूर्ण विस्तार में सुखद यात्रा है, जो वर्तमान भारत की कुरूपता, छविहीनता, राजनीतिक आधारहीनता को आक्रोशपूर्ण वाणी में ईमानदारी से चित्रित करती है। ऐसी ही चन्द और कविताएँ जो यदा-कदा देखने को मिलती हैं, इतना विश्वास सौंपती हैं कि गद्य के नीरस रेगिस्तान में भटक-भटककर कविता अभी भी मरी नहीं है। यह स्पष्ट है कि उसकी व्याधि-ग्रस्तता किसी कुशल चिकित्सक की प्रतीक्षा में है।

●

हर युग में लेखकों की एक पौध पनपती है। इस पौध में पनपे लेखक अपने इर्द-गिर्द एक व्यामोह का किला बना लेते हैं तथा इस किले में स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। अंग्रेज़ी के अठारहवीं सदी के लेखकों ने अपने चारों ओर एक स्वप्निल व ऐन्द्रजालिक जाला बुन लिया था। इन लेखकों ने कीर्ति-शिखर पर आरूढ़ विश्व-कवियों की पंक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया था। इस महत्त्वाकांक्षी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तात्कालिक आलोचना उनकी सहायक थी। आत्म-रति-लीन ये लेखक अपने युग को स्वर्ण-युग समझने के आडम्बर में मस्त रहे तथा मीठे भ्रमों के शिकार रहे। परवर्ती आलोचना की स्याही ने उनके स्वप्निल कुहरे को भेद दिया तथा उन्हें उनकी सीमाओं के धरातल पर खड़ा कर दिया। इस पूरे युग को 'गद्य व तर्क का युग' घोषित किया गया। इतिहास का यह पुनर्मूल्यांकन हमारे सामने एक संकेत के रूप में खड़ा है। कहीं हमने अपने-आपको किसी मोह के चक्रव्यूह में क़ैद तो नहीं कर लिया है! कहीं हमारे चारों ओर सपनों का कोई इन्द्रधनुष तो नहीं खिंच आया है! जिन नये धरातलों की तलाश कर हम अपनी लेखनी की सक्षमता पर गौरवान्वित हो रहे हैं, कहीं वे धरातल उलझन-भरे, प्रबुद्ध दिखने वाले पद्य बनने का नाटक करने

वाले तो नहीं हैं।

हमारी उपलब्धियों की माला-जपती-समीक्षा ने हमें कविता में नये वातायन खोलने का गौरव दिया है, राजनीतिक टकराव को साधारण व्यक्ति की दृष्टि से देखने का श्रेय दिया है, तथा लघु मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करने की महत्ता दी है। इन सन्दर्भों में यह सोचना है कि अपनी सहजता-साधारणता-लघुता के वातावरण में कहीं हमारी कविता अतिवादी नाटकीयता तो नहीं बन रही है ! सही अभिव्यक्ति को नकली अभिव्यक्ति से अलग देखने की जरूरत पहले है तथा उपलब्धियों की सूची बनाने का कार्य बाद में सम्पन्न किया जा सकता है।

●

इन सब तर्कों के सन्दर्भ में काव्यात्मा को परिभाषित कर लेना लाभदायक होगा। सच्ची कविता भावक से बरबस एक प्रतिक्रिया खींचती है, यही कविता की भेदन-शक्ति है। कविता का आस्वाद पाठक के अभिभूत होने में है। भावाभिभूत होने का अर्थ है पाठक के मन में एक भाव-तरंग का पैदा होना। यह भाव-तरंग रचनाकार की निजी भाव-तरंग को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने से उत्पन्न होती है और इस तरंग की मौलिक आकृति रचनाकार की वह तरंग रही है, जो उसने सृजन-प्रक्रिया के क्षणों में अपने में अनुभव की थी। कवि का सत्य ऐसे क्षण में पाठक का सत्य बन जाता है तथा यों काव्यात्मा का स्थानान्तर हो जाता है। कवि की इस भावानुभूति के निर्यात को ही हम पाठक की रसानुभूति कह सकते हैं। कवि के मानस का इन्द्र-धनुष पाठक के मानस का इन्द्र-धनुष बन जाता है। काव्यात्मा के इस स्थानान्तर को वहन करती है काव्य-संवेदना, जो कवि के बिम्ब को पाठक का बिम्ब बनाने की सामर्थ्य रखती है। काव्यात्मा से भावानुभूति के इस निर्यात की कमज़ोरी कविता को बौद्धिक गद्य बनाकर छोड़ देती है। हम यों कह सकते हैं—काव्य-संवेदना से रिक्त कविता केवल काव्य-स्थिति है, उसमें काव्यात्मा नहीं है। काव्यात्मा अनुभूति के रागात्मक सम्प्रेषण में है, काव्य-स्थिति में रागानुभूति का अभाव होता है। काव्य-स्थिति केवल बौद्धिक चिंतन की काव्य दिखनेवाली-सी स्थिति है, जो शुष्कता का वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार की कविता कविता के नाम पर चिन्तन की उलझन का निर्यात करती है। आज की अधिकतर कविताएँ चिंतन की इस उलझन के चक्कर में लड़खड़ा रही हैं। उनमें काव्य-संवेदना का नितान्त अभाव है। ऐसी कविताएँ कुछ चमकदार वक्तव्यों के सहारे ही कविताएँ बने रहने की नाटकीयता निभा सकती हैं तथा पाठकों के गले 'उपलब्धियों' की उपाधियों के रूप में उतारी जा सकती हैं।

काव्य-संवेदना से मेरा अभिप्राय किसी भी प्रकार की संस्कार-बद्ध, छायावादी, रूमानी-रेशमी, अभिजात-वर्गीय भावुकता से नहीं है। मेरे चेतन या अचेतन में ऐसी किसी भी काव्यात्मा की आधुनिक तस्वीर नहीं है। मैं नयी कविता और परवर्ती कविता के सन्दर्भ में काव्य-संवेदना के औचित्य की बात कहता हूँ। अज्ञेय की भाषा का रूप-विन्यास छायावादी काव्य-भाषा-सा ही है, यद्यपि कथ्य व शिल्प की दृष्टि से उन्होंने राह के अन्वेषी बनने का श्रम किया था। छायावादी काव्य की सुकुमारता व भाव-प्रवणता आज कल्पनातीत है। रूमानियत की जो सृष्टि नीरज, भारती तथा गिरिजाकुमार माथुर ने एक समय की थी, वह भी आज के जीवन-प्रतीति से दूर है। भाषा व भाव की कमनीय रूप-सज्जा, शब्दों का रस-सिक्त अलंकरण आज के जीवित यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में सुयोग्य नहीं है। आज की कविता वे कवि ही लिख रहे हैं, जिन्होंने भाषा व भाव की रंगीनी को शासित किया है तथा जो कविता को ज़िन्दगी के करीब-से-करीब खींचने में प्रयत्नशील हैं। हमारे जीवन की पेचीदगी तथा तनाव को ढोने में किसी भी प्रकार की सुकुमारता व रस-सिक्तता अनुकूल नहीं लगती। इस सबके बावजूद मेरा विचार है कि कविता को उसके लक्ष्य तक ढोने वाली वस्तु काव्य-संवेदना होती है, जो कविता को कविता बनाये रखने के लिए जरूरी है। इस काव्य-संवेदना से विरक्त कविता महज़ अभिनय है, ढोंग है, नाटक है। जो शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना सर्वेश्वर, नईम, कैलाश वाजपेयी, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही अदि की कविताओं में है, कविता से यदि उसका निष्कासन कर दिया गया तो कविता में क्या बचेगा ? कविता के नाम पर बोझिल, ऊटपटांग तथा शुष्क गद्य लिखा जाना एक पथ-भ्रष्ट स्थिति लगती है। काव्य राजनीति को घसीटने से ही सिद्धि नहीं पा लेगा, न वह प्रबुद्धता के नाम से चलाया जा सकेगा। कविता में काव्य-संवेदना ही काव्यात्मा का निर्माण करती है और इस काव्य-संवेदना की रिक्तता का अर्थ है कविता की इति और

गद्य का जन्म।

इस बिन्दु पर पहुँचते ही कविता और गद्य के बीच सीमा-रेखा खींचना नितांत आवश्यक हो जाता है। कुछ लोग गद्य की भाषा व कविता की भाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं देखते, यह एक भ्रम की स्थिति है। कविता के शब्द जिस फ्रेम में फिट होते हैं, उसमें गद्य के शब्द अजनबी लगते हैं। पद्य व गद्य की मूल संवेदनाओं में मौलिक अन्तर है। कविता में शब्द **चिंतन तथा भावना के सम्मिश्रण** का कार्य करते हैं (फ़्यूज़न ऑव इन्टलेक्ट एण्ड इमोशन : टी० एस० एलियट), जबकि गद्य में भावना की परिधि एकदम संकुचित होती है। गद्य एक प्रकार की तार्किक बौद्धिकता की सृष्टि करता है। कविता की भावुकता प्रलाप न बने, अतः उस पर चिंतन का अंकुश लगा रहना चाहिए, लेकिन यह भी एकदम स्पष्ट होना चाहिए कि कविता कोरी बुद्धि नहीं है। कविता न छन्द में होती है, न लय में; अब कविता न शब्दालंकरण में है, न रस-सिक्त रूमानियत में। कविता का सच्चा निकष है शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना (पोइटिक सेन्सिबिलिटि) तथा आधुनिक ज़िन्दगी के करीब से ली गई काव्य-भाषा, जो कथ्य को काव्यमय बना सके। ज़िन्दगी के करीब से ली गई भाषा को गद्य की भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कविता की भाषा गद्य की भाषा से अधिक कोमल व परिमार्जित होती है।

शब्द और शब्दों के अर्थ कविता को जन्म देते हैं। अर्थ-हीन संगीतमय शब्द केवल सतही जमघट बनकर साधारण संगीत-प्रधान काव्य-स्थिति पैदा करते हैं, शब्दों के बिम्बात्मक अर्थों में व्यंजित ध्वन्यात्मकता सच्ची काव्यात्मा की जननी होती है। शब्दों के अभिधात्मक प्रयोगों से सीधी-सपाट ध्वनि उत्पन्न की जाती है, वह ध्वनि कविता का वाह्य देहालंकरण करती है। पंतजी का 'नौका विहार' या मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कविताएँ शब्दों के अलौकिक संगम बनकर रह गई हैं। शब्दों की सपाट संगति से भाषा का तिलिस्म उभरता है, काव्य-संवेदना का खरापन नहीं उभरता।

आज 'मन-कमल' 'घन-अलक-जाल' 'शशि-वदन' वाली नज़ाकत बेमानी लगती है। यह काव्य-सूरज एक युग में तप-कर, दहककर अस्त हो गया है। इस तथ्य के बावजूद लगता है कि कविता में भावाभिभूत करने की क्षमता का विद्यमान रहना उसे पद्य बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है।

नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें काव्य-संवेदना को सही काव्य-भाषा ढो रही है, परिणामतः काव्यात्मा की निर्मिति हुई है—

इन तमाम
शव-भोगी लोगों के बीच
ओ ! मेरे मरे हुए देश
आँसू आ जाते हैं सोचकर,
कल सुबह तेरी लाश तक
पहिचानी न जायेगी।

—कैलाश वाजपेयी

मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता—
सिर्फ पूंछ होनें की मजबूरी नहीं है।

—धूमिल

यहाँ ऊँची-ऊँची इमारतें
आश्रय के लिए नहीं,
आत्म-भोग के लिए हैं;
उन्हें पीठ पर लादकर रेंगता हूँ,
समय एक विशाल पहिए-सा
लुढ़कता हुआ आता है
और मुझे किसी ढाल पर
कुचला हुआ छोड़कर
आगे निकल जाता है।

—सर्वेश्वर

इन उदाहरणों की भावना शासित-अनुशासित है। इस काव्य-संवेदना से कविता को वियुक्त करना कविता की ही इति है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें आधुनिकता के मोह में नक़ली काव्य-स्थितियों को उठाया गया है। नये मुहावरे की तलाश तथा जीवन की साधारणता से सम्पृक्ति प्राप्त करने की लालसा ने उन्हें शुष्क व बोझिल गद्य बना दिया है—

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फांक करके
कई सह्याद्रि, एल्पस, विन्ध्यारावलियाँ
हँफती हुई टापू से छू सपाट करके

लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया···
—कैलाश वाजपेयी

सड़क है सामने न लेटी है न बैठी
उठाकर मोड़ दूँ हण्टर की तरह आसमान
की पीठ पर सड़ाक से फटकार दूँ
खयाल में······
—श्याम परमार

यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं कि गुज़र गई
बगल से
गोली दनाक से।
राहज़नी है या क्रान्ति? जो भी हो, मुझको
गुज़रना ही रहा है
शेष।
—श्रीकान्त वर्मा

थोड़ी-सी देर को लगता है सही
टोपियों का रखरखाव
जब तक कमरे में कोई बोले नहीं।
जैसे ही मैंने कहा देश मेरा भी है यह
बाजा बैताल हो गया मैं अकेला
टोपियाँ समेटकर ले गए दीनानाथ
रह गए फूलदान और कुछ मसौदे
और अभी तक तो है मेरी नौकरी
—रघुवीर सहाय

कविता में काव्य-संवेदना काम-सूत्रात्मक, नगण्यता-बोधक अकविताओं में भी प्राप्त होती है, विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में—(द्रष्टव्य : 'विजप')जबकि इसी संग्रह में श्याम परमार की कविताएँ नुस्खेबाजी तथा गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ ओढ़ी हुई मनःस्थितियों से लदी पड़ी हैं। ऐसी कविताएँ केवल कविता का भ्रम पैदा करती हैं।

●

कविता के क्षेत्र में निकष-निर्धारण की अव्यवस्था समाप्त होनी चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे जागरूक आलोचक ने 'सम्प्रेषण—३' में भावुकता तथा काव्योचित भाव में अन्तर किया है। उनकी राय में हिन्दी-कविता का बहुत-सा आधुनिकता-बोध महज़ भावुकता है। "भाव-विचार और यथार्थ-चित्रण के अभाव पर कवि जरी के काम का ऐसा पर्दा डालते हैं कि आँखें चौंधिया जाएँ, लेकिन ध्यान से देखो तो पहले जो सोना-चाँदी लगा था, वह गिलट निकलता है।" यह बात बड़े सीमित दायरे में कही गई है और इसकी चोट नकली कविता पर नहीं पड़ी। आज की कविता से रिसते घावों वाले नक़ली चेहरों को साफ-सुथरे चेहरों से, कल्पित-खण्डों को यथार्थ-खण्डों से पृथक् देखने की आवश्यकता है, वर्ना प्रामाणिक कविता लुप्त होती जाएगी और प्रदर्शनकारी कविता प्रतिष्ठित होती जाएगी।

●

अब ज़रा आन्दोलनों की चर्चा छेड़ें! आन्दोलन सबसे अधिक कविता के क्षेत्र में ही पनपे हैं और क्रमशः सब आन्दोलनों की शोभा-यात्राएँ समाप्त हो गई हैं। कारण थी पृष्ठभूमि की धुरी-हीनता। आन्दोलनों का आविष्कार चमत्कार द्वारा चौंका देने की महत्त्वाकांक्षा से होता है, उसके पीछे गम्भीर व बुनियादी चिन्तन नहीं होता। जितनी भी कवि-पीढ़ियाँ पिछले चन्द वर्षों में पनपी हैं, सतही भावुकता के आधार पर पनपी हैं। उन्होंने चन्द नारे दिए हैं तथा चन्द तथाकथित कवि उछाले हैं, फिर ये पीढ़ियाँ या तो विभाजित हो गई हैं या अस्त हो गई हैं। कुछ ऐसे भी स्वनाम-धन्य कवि रहे हैं, जो हर आन्दोलन के साथ हो लिए हैं, बावजूद इस तथ्य के कि एक आन्दोलन की प्रवृत्ति दूसरे आन्दोलन की विपरीत-धर्मा रही है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ एक ही महत्त्वाकांक्षा के पोषण के लिए निकाली जाती रही हैं—नाम उछालने की महत्त्वाकांक्षा के लिए, एक प्रपंच को उपलब्धि बनाने की महत्त्वाकांक्षा के लिए।

इन आन्दोलनों, घोषणा-पत्रों तथा कवि-पीढ़ियों ने कविता को मखौल बनाकर छोड़ दिया है। भाव-जगत् में व्याप्त अर्थ-हीनता तथा जीवन-प्रतीति से विरक्ति इन कवि-पीढ़ियों की देन है। कविता को आडम्बर बनाने का श्रेय भी इन्हें है। इन संकुचित आन्दोलनों को दार्शनिक गरिमा प्रदान करने के लिए आलोचक भी कहीं-न-कहीं मिलता ही रहा है। ये आन्दोलन साहित्य के काल-प्रवाह के अस्थायी यात्री ही नहीं रहे हैं, इन्होंने बुराइयों को भी जन्म दिया है, समीक्षा के नाम पर गाली-गलौज किया है और रचना के नाम पर सेक्स तथा मृत्यु की विराट्ता को रचा है। इसे आलोचक महोदय युवा-पीढ़ी का विद्रोह तथा 'समय का गुस्सा' कहते हैं। परस्पर-प्रशंसा तथा आत्म-रति में लीन इन कवियों-आलोचकों ने आलोचना को व्यंग्य-विनोद बनाकर छोड़ दिया है। आज

यद्यपि कुछ आन्दोलनों के नाम-मात्र ही शेष बचे हैं; पर, इन आन्दोलनों ने नफ़रत का कुछ ऐसा वातावरण तैयार कर दिया है कि साहित्य परस्पर स्नेह-दान तथा विरोध के लिए विरोध करने का माध्यम बन गया है। इन आन्दोलनों के कुप्रभाव से ही कविता में रेखागणित तथा अंकगणित की समस्याएँ हल की गईं; इनकी कृपा से ही कार्टून, नक्शे, विराम-चिह्न, प्रश्न-चिह्न, विस्मय-चिह्न, सरगम के स्वर, टूटे हुए शब्द, टूटी हुई पंक्तियाँ तथा पंक्तियों के ऊटपटांग मोड़ कविता में प्रवेश पाते गए तथा अपना परिवार बढ़ाते गए। इन नुस्खों को ढोती कविता हास्य व प्रलाप बनती गई। कविता को रचते हैं शब्दों के बिम्ब, शिल्प के ये सतही प्रयोग कविता को दृष्टि-हीन ही बना सकते हैं। इन पेचीदा अस्त्र-शस्त्रों का संचालन जिन योद्धाओं ने किया, वे प्रचलित लकीरें तो मिटाते रहे, पर नई लकीरें बनाने में एकदम असमर्थ रहे।

•

कविता को जीवन से सम्पृक्त करने के प्रयास ने एक और दुराग्रह का रूप धारण कर लिया और गीत की सत्ता को नकार दिया गया। गीत अपनी स्पर्शी तन्मयता से जीवन की अनास्था व अतृप्ति को बहलाता है। गीत को हवाई कहकर रद्दी की टोकरी में नहीं फेंका जा सकता। वे लोग, जो गीत का नाम सुनते ही कानों में उँगलियाँ डाल लेते हैं, उनसे बहस करना तो व्यर्थ होगा, पर जिस गीत का विकास 'निराला' से बच्चन तक तथा बच्चन से आज तक हुआ है, वह कोई फ़िल्मी विधा ही नहीं है। जो लोग गीतों को सुधियाँ बहलाने वाली रचना कहते हैं, उनसे पूछा जा सकता है—क्या हमारे जीवन में युद्ध, प्रणय, स्नेह, बन्धुत्व और प्रकृति की सभी सूक्ष्म भावनाएँ नष्ट हो गई हैं ?

कभी 'धर्मयुग' में राही मासूम रज़ा की हिन्दी में रूपान्तरित एक गज़ल पढ़ी थी, उसकी पंक्तियाँ आज भी मुझे किसी भी अच्छी नई कविता से कम प्रभावित नहीं करतीं—

कल कुछ ऐसा हुआ मैं बहुत थक गया
इसलिए सुनके भी अनसुनी कर गया
कितनी यादों के भटके हुए कारवाँ
दिल के जख्मों के दर खटखटाते रहे।
ज़हर मिलता रहा, ज़हर पीते रहे
रोज़ मरते रहे, रोज़ जीते रहे
ज़िन्दगी भी हमें आज़माती रही
और हम भी उसे आज़माते रहे।

हिन्दी-गीत की यह एक अछूती अभिव्यक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

ना तो सतर का हूँ
ना ही कतारों का
जो सर उठाये हैं, उन देवदारों का।

× × ×

ना भीड़ लहरों की
ना हूँ कगारों का
जो प्यार से भेंटे, उन यादगारों का।

× × ×

ना फूल अचकन का
ना शूल अड़चन का
ना फूल गमलों का, मैं फूल बन बन का।

—उमाकांत मालवीय

व्यर्थता और अकेलेपन का बोध किसी भी कविता से कम मुखरित इस गीत में नहीं है—

झरती भाँप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ा साँसें
उबकाई
धक्के देकर मुझे ज़िन्दगी आखिर कहाँ
गिरा आई
टेढ़ी दीवारों पर चलते
मुरदा सपनों के साये
जैसे कोई हत्यागृह में
रह-रहकर लोरी गाये
यह अधनंगी शाम और
यह टूटा हुआ
अकेलापन
मैंने फिर उकताकर कोई पन्ना मोड़ दिया।

—कैलाश वाजपेयी

गीत का जन्म व्यक्ति को यथार्थ के त्रासक जगत् से

हटाकर कला के जगत् में ले चलने को होता है। यह पलायन रचनात्मक होता है। गीत की रचनात्मक क्षमता को नकारना जीवन को रस-हीन, जड़ व लयहीन कहने की भूल करना है। यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि आज गीत का वह स्वरूप ही स्वीकार्य हो सकता है, जो आधुनिक जिन्दगी की मुद्रा व तनाव को अभिव्यक्ति दे रहा हो; जिसकी लयात्मकता नयी कविता के समकक्ष हो। जीवन के यथार्थ को जो गीत आधुनिक अर्थवत्ता की कोमलता प्रदान करे, वही गीत सही गीत है तथा स्थिर रहने वाला है। यहाँ उस गीत की चर्चा नहीं है, जिसे नव-गीत कहा जाता है, क्योंकि कविता की कोई विधा शीर्षक पकड़कर मशीनी प्रक्रिया बन जाती है। यहाँ केवल उस गीत की चर्चा है, जो शब्द-संगीत का उद्घाटक न होकर जीवन-जगत् की असंगतियों का वाहक होता है। वह गीत जो अपने लयात्म स्पर्श से हमारे जीवन की संत्रस्तता को बहला सकता हो।

●

इन सब आग्रहों का आशय यह है कि कविता के मूल्यांकन निकषों की पुनः जाँच हो, नये निरीक्षण-परीक्षण हों, ता सही कविता की पुनः स्थापना हो सके। सही कविता कविता होती है, जो अपनी सहजता में ग्राह्य होती है त जिसका काव्यात्मक दंश पैना होता है। इस अवधारणा केन्द्र में रखकर यदि हम कविता के प्रस्तरत्व का उद्धार सकें तो वह इस पीढ़ी का आत्म-साक्षात्कार होगा, वर्ना बनी कविता के घिसते हुए चालू पुर्जे उसे ठप्प कर देंगे।

दो कविताएँ

शिवकुटीलाल वर्मा

लिपि

: १ :

संकेतों की लिपि अत्यन्त जटिल होती है ।
अब मैं आपको कैसे समझाऊँ
कि हँसी के संकेत समझने की प्रक्रिया में आप
रो पड़ेंगे ।
दर्द की व्याख्या होते ही दर्द काफ़ूर हो जाएगा
और आपमें सिर्फ दर्द की महक रह जाएगी ।
महक आपको हँसा भी सकती है ।
पर वह हँसी एक अजोबोगरीब हँसी होगी ।
संकेतों की लिपि में कैसे पैठ पाएगी ?
उसे वहाँ फिर प्रवेश दिलाने के लिए
आपको पक्षियों की शरण में जाना पड़ेगा ।
पर पक्षियों की शरण में जाने वालों में लगभग
सभी का
स्थलीय भाषा में एक उथला अनुवाद होकर
रह गया ।
तब आप भी अनुवाद से कैसे बच पाएँगे ।
और यदि मान भी लिया जाए कि आप
यह खतरा उठाने को तैयार हैं
तो भी क्या आप उत्सुक भ्रान्तियों द्वारा अपने-
आपको
केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व की पाण्डुलिपि
समझा जाना गवारा करेंगे
जबकि आप पक्षियों के बीच में
एक निष्कासित हँसी के लिए
एक सूक्ष्म पर जीवंत लिपि रच रहेंगे ।

: २ :

आकाश बिल्कुल रुक गया था ।
पक्षी भी रुक गए थे ।
गलियाँ सहमी हुई थीं
और सड़कें चलते-चलते जैसे जम गई थीं ।
फूल खिलते-खिलते रुक गए थे
और पेड़ों में न नई पत्तियाँ उग रही थीं
और न पुरानी झड़ रही थीं ।
आवाज़ों में तेज़ी आने के बजाए एकरसता थी
और रोशनी में चमक के बजाय एक ऐसा
फीकापन
जिसे पहिचानने की अब कोई जरूरत नहीं रह
गई थी
न कहीं कोई भूचाल था
न कहीं कोई दुर्घटना ।
माथे का पसीना तक गिरते-गिरते थम गया था
(पर मैं चल रहा था, निरन्तर चल रहा था ।)
अचानक मैंने पाया
कि सब एक साथ ही चल पड़े ।
आकाश, पक्षी, सड़कें, गलियाँ सभी चल पड़े !
रोशनी चमकीली होती गई
और आवाज़ें तेज़ ।
फूल मौत का डर छोड़कर
पूरी तरह खिलने को आतुर हो गए ।
पेड़ों ने पुरानी पत्तियाँ अस्वीकार कर दीं
और नई पत्तियों के साथ हिल-मिल गए ।
भूचाल भी आने शुरू हुए
और नित्य नई दुर्घटनाएँ भी होने लगीं ।
माथ पसीने से तरबतर हो गए
और दिल जज़्बातों से सराबोर ।
सचमुच यह सब-कुछ कितना अनहोना था ।
शायद मैं ही था
जो कहीं घटित होते-होते भी
बच गया था । ●

पुनर्मूल्यांकन

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद

मुख्यतः 'लहर' की छोटी कविताओं के अध्ययन-प्रसंग में

रमेशचन्द्र शाह

फ़तवे—और खासतौर से साहित्यकारों द्वारा दिये गए फ़तवे तो—कभी-कभी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं, चाहे वे नितान्त गम्भीर भाव से दिये गए हों चाहे निहायत, महज़ छेड़खानी की गरज़ से। अब यों तो प्रसादजी भी लिख गए कि (यथार्थवाद) "लघुता पर एक 'साहित्यिक' दृष्टि-पात" ही है : कौन कह सकता है कि उनका इरादा मख़ौल उड़ाने का था ? वे तो बेचारे अपने जाने एक सटीक व्याख्या और परिभाषा ही दे रहे थे। आज अगर किसी को यह लगे कि वे बड़ी सफ़ाई से बड़ी बारीक चुटकी काट गए तो इसमें प्रसाद जी का क्या दोष !···अपनी-अपनी समझ है। श्रीकान्त वर्मा की समझ में छायावादी कविता शब्दों के खिलवाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ठीक है, आप भी उनसे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि साहब ! कविता मात्र इसके अलावा और क्या होनी है ? या कि खुद आपकी ही कविता क्या है ? मगर इससे क्या उनका फ़तवा कट जायगा ? इतना तो वे भी जानते ही हैं। तब ? एक फ़तवा वह होता है जो जानते-बूझते, पूरे होशोहवास में दिया जाता है। वह पारदर्शी फ़तवा होता है और कोई आड़ नहीं देता। उसमें आपकी समझ के लिए काम करने की पूरी गुंजाइश होती है। समझ को सम्बोधित करने का यह भी एक खासा तरीका है; उसे दुरुस्त करने का भी, हालाँकि चिन्ता वहाँ समझाने की उतनी नहीं है, जितनी कि समझे जाने की। कवियों के बारे में कवियों द्वारा दिये गए फ़तवे ज़्यादातर इसी कोटि के हुआ करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार का फ़तवा भी होता है जो हमारी समझ को उकसाने के लिए नहीं, बल्कि उसे बहकाकर उस पर हावी होने के लिए दिया जाता है। वह ठोस और अपारदर्श होता है ताकि आप उसमें निहित 'समझ' (या समझहीनता) को न देख पाएँ।

चूंकि "प्रसाद विश्वविद्यालयों के कवि हैं", यह फ़तवा एक कवि की ओर से ही आया है, अतः इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि उक्त दूसरी कोटि का तो यह नहीं होगा। या फिर यह एक और तीसरी ही कोटि का फ़तवा हो जिसके लक्षणों का पता अभी हमें नहीं है। हालाँकि हमें पता पड़ता है कि कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात टी० एस० एलियट ने भी मैथ्यू आर्नाल्ड की कविता के बारे में कही थी, "ही इज़ एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स आव द टर्म"। इसे कहते हैं—"डैम विद फ़ेण्ट प्रेज़···"; मगर दूसरी ओर हम पाते हैं कि प्रसादजी को तो यह 'फ़ेण्ट प्रेज़' भी नसीब नहीं है। मैथ्यू आर्नाल्ड के साथ कम-से-कम इतनी तो ग़नीमत है कि आधुनिक काव्य के लक्षणों की शुरुआत उसमें देख ली जाती है। अतीत मोह और क्लैसिक रुझान के साथ-साथ थोड़ी-बहुत सार्थक आधुनिकता (समसामयिक भाव-बोध) भी उसे बख़्शी गई है। मगर प्रसादजी को तो वह सांत्वना भी नहीं है। उनमें आधुनिकता कैसे ढूँढ़ी जाए ? हाँ, एक मुक्तिबोध को जाने कैसे यह इलहाम हो गया कि समस्त छायावादियों में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं और उनसे निपटे बिना चलेगा नहीं; वर्ना हमारी पीढ़ी के लिए तो वे हुए-न-हुए एक जैसे ही हैं।

तो क्या प्रसाद सचमुच इतने अल्पप्राण और अप्रासंगिक कवि हैं कि विश्वविद्यालयों की सुरक्षित चारदीवारी के बाहर ज़िन्दा न रह सकें ? क्या उनकी सार्थकता सिर्फ़ इतनी ही है कि उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को बौद्धिक व्यायाम का अवसर सुलभ कराया और भाष्यकारों की एक भीड़ अपने आस-पास बटोर ली ? क्या उनका दीर्घायु होना 'कठिन काव्य के प्रेत' की हैसियत से ही सम्भव है ?

मुझे नहीं मालूम कि विश्वविद्यालयों में प्रसाद को वास्तव में कठिन काव्य के प्रेत की तरह पढ़ाया जाता है या नहीं; किन्तु इतना ज़रूर जानता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच निराला, पन्त और महादेवी के प्रति जितना उत्साह दीखता है उसका दशमांश भी प्रसाद की रचनाओं के प्रति नहीं दीखता। विद्यार्थियों में ही क्यों, कविता से जिन्हें कुछ भी लेना-देना है, ऐसे अपेक्षाकृत सयाने लोगों के बाच भी मुश्किल से कभी कोई ऐसा मिल जाता है जिसे सचमुच प्रसाद का चस्का हो। 'विश्वविद्यालयों का कवि'—अगर इस फ़तवे में व्यंग्य हो तो वह व्यंग्य भी ऐसा है जिस पर हँसा भी नहीं जा सकता क्योंकि अपने तमाम समकालीनों में प्रसाद ही ऐसा कवि है जिसके बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उसको समझने की शुरुआत ही विश्वविद्यालय से निकलने के बाद होती है क्योंकि मुझे तो यह विशेषता ही प्रतीत होती है कि जहाँ दूसरे कई कवियों के साथ अर्थग्रहण करने की सजगता बढ़ने के साथ-साथ कविता का आस्वाद और मूल्य भी कम होता जाता है, वहाँ प्रसाद में ठीक इसके विपरीत मामला है। एक तरह से प्रसाद की कविता का आस्वादन कविता के पाठक की रीझ-बूझ की कसौटी बन जाता है। दूसरे कवि हैं जिनकी कविता हमें बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है लेकिन तभी तक, जब तक कि हम कविता के भीतर गहरे पैठने का उद्यम नहीं करते, बहुत ज्यादा शिक्षित संवेदन और प्रश्नाकुल जिज्ञासा लेकर उनका सामना नहीं करते। होता यह है कि अर्थान्वेषण की सजगता बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता की महिमा भी हमारे मन में घटने लग जाती है। पन्तजी की अनेक कविताओं का प्रभाव मेरे लिए इसी तरह क्षीण होता चला गया है। जबकि इसके ठीक विपरीत आज से दस साल पहले प्रसाद की जो कविताएँ मेरे मन पर कोई छाप ही नहीं छोड़ती थीं—वे ही आज मुझे सबसे ज्यादा विशिष्ट और सारपूर्ण लगती हैं। शायद ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका है कि अब जाकर मैं उस मानसिक स्तर से किसी क़दर सहानुभूति स्थापित कर सकने योग्य हो सका हूँ कि जहाँ पर, जहाँ से इन कविताओं का उद्भव हुआ है।

यहाँ पर प्रसाद की छोटी कविताओं का उल्लेख ही अभीष्ट है क्योंकि एक तो उनका महत्त्व अपने-आपमें भी कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है, इस दृष्टि से कि जो उनके वैशिष्ट्य को नहीं समझ सकता, वह कामायनी के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा की बनावट को समझने के लिए ये कविताएँ बुनियादी महत्त्व की हैं। यह ठीक है कि प्रसाद उन थोड़े-से कवियों में हैं जो गीति और स्फीति दोनों को समान गरिमा के साथ निबाह सकते हैं किन्तु इसके साथ एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वे ऐसे कवि (भी) हैं जिनके रचना-क्रम में शुरू से आखिर तक एक खास क़िस्म की एकता, एक बुनियादी पर्युत्सुकता का 'पैटर्न' दिखाई देता है, मानों सृष्टि और अस्तित्व की मूलभूत चुनौतियों से निपटने के लिए, उनको अपनी जीवनानुभूति और वेदनदन्त्र द्वारा सिद्ध और हल करने के लिए ही इन्हें कवित्व दिया गया हो : मानों इनकी कविता और इनकी यह पर्युत्सुकता सहजात हों, परस्पराश्रित हों। ऐसे कवियों के साथ दिक्कत यह आ जाती है कि उन्हें पूरा पढ़ना पड़ता है; उनके विकास के प्रत्येक चरण को ध्यानपूर्वक समझना पड़ता है। इस दृष्टि से भी इन कविताओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। यह भी है कि शायद इन पर ध्यान एकाग्र करके ही हम कामायनी के लिए अपेक्षित स्फूर्ति इकट्ठा कर सकते हैं और उस पर जमी हुई काई छुड़ा सकते हैं।

●

ऊपर संकेत किया गया है कि प्रसाद अपने अन्य सहवर्तियों की तरह प्रथम साक्षात् में ही आकर्षित करने वाले कवि नहीं हैं। हिन्दी में लिखने वाले ऐसे अनेक कवि होंगे जिन्होंने अपने विकास के आरम्भिक सोपानों पर पन्त और निराला से प्रेरणा पायी होगी। किन्तु विरला ही कोई कवि होगा जिसे प्रसाद उस दौर में आकर्षित कर सके हों। कारण, प्रसाद में ऐसा बहुत कम, नहींवत् है जो किशोर कल्पना को उत्तेजित कर सके, किशोर और युवा भावनाओं को स्फूर्ति दे सके। वे थिराये हुए आवेग के हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं :

"कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है"

प्रसाद उन कवियों में हैं जो अपेक्षाकृत जल्दी वयस्क हो जाते हैं। अकाल परिपक्व नहीं; बल्कि वयस्क जिज्ञासाओं से उन्मथित। ऐसे कवि जल्द ही अपनी भावनाओं को जीवन-जगत् के प्रति एक दृष्टि अर्जित करने के अनिवार्य

संघर्ष में नियोजित करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एकदम शुरू की कविताओं में ही :

"भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार
न हो मुझको ही जब सन्तोष
तुम्हारा इसमें क्या है दोष"

× × ×

क्या अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी ?
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर सुनो,
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही
....
....
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही,
मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं

× × ×

इसीलिए यह कवि अपने मानसिक संघर्ष को, भावनाओं के झंझावात को सीधे अभिव्यक्ति देने को प्रेरित नहीं होता; बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन में से छानकर ही अपनी कविता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व का सीधा प्रकाशन उसे 'भोंडा' लगता है। प्रकृति पर अपने भाव-संवेगों को थोपकर उनसे मुक्त होने की चेष्टा के बजाय वह प्रकृति को पढ़ते हुए उसके जरिए अपने अन्तर्जगत् को व्यवस्थित और परिभाषित करने का धैर्यपूर्ण उद्यम करता है :

"आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है, इस सजी सुमन-क्यारी में"

× × ×

"किन्तु न मेरी करो परीक्षा प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से,
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है"
"चन्दकिरण हिमविन्दु, मधुर मकरन्द से,
बनी सुधा रख दी है हीरक पात्र में,
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।"

एक ओर अनुभव का यह कड़वा पाठ :

तुम्हारी आशालता सिंचाव, बहुत ले चुकी, न देती दौ
सींचकर क्या फल पाया, फूल भी हाथ न आया
नील नीरदमाला की वृष्टि
दीनता की करती थी सृष्टि

और, दूसरी ओर यह प्रशान्त, धीर अवबोध :

सृष्टि में सब-कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास
बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक देखो तब यह सौन्दर्य

या, इससे भी गहरे :

"गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें
अन्तरिक्ष विशाल में हैं मिल रहीं"

स्वाभाविक ही, इस प्रकार कवि-मन के भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते चले जाते हैं। वाह्य विश्व, ऐन्द्रिय संवेदना का जगत् कवि-कल्पना के लिए कलात्मक विलास के उपकरण जुटाने के बजाय उसे एकाग्र संवेदन और अर्थान्वेषण की प्रेरणा देता है। प्रसाद में प्रारम्भ से यह रुझान स्पष्ट है, अपनी ही अनुभूतियों और भाव-संवेगों के अध्ययन-मनन की प्रवृत्ति···।

"बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
....
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना"

जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़-परिपक्व, संश्लिष्ट व्यंजनापूर्ण काव्यपंक्तियों का सृजन करती है···

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई"

ये पंक्तियाँ मुझे बरबस प्रख्यात मैटाफ़िज़िकल कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देती हैं—

बट हार्क अपॉन माइ पल्स आइ हियर
टाइम्स ह्वीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर
....

प्रसाद की बौद्धिकता कोई अलग ऊपर से थोपा हुआ

मूल्य नहीं है; वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अन्तर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा···। अपनी अनुभूतियों के प्रति उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रिया सर्वथा उनकी अपनी है, सर्वथा मौलिक और अनूठी। यह कहना कि शुरू से ही उन पर किसी विचार-दर्शन का अंकुश था, निहायत गलत होगा। उन पर किसी का अंकुश नहीं था : यदि अंकुश था भी तो, वह उन्होंने स्वेच्छा से परिश्रमपूर्वक अर्जित किया था। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया, उनकी आरम्भिक कविताओं में ही अपनी निजी अनुभूतियों के प्रति एक ऐसी गहरी ईमानदारी और आलोचनात्मक निरीक्षणशीलता मिलती है जैसी कि बिरले ही कवियों में पाई जाती : "जब लेता हूँ, आभारी हो, बल्लरियों से दान/कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान/विकलता बढ़ती हिमकन में विश्वपति ! तेरे आँगन में/जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार/तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार/चमत्कृत होता हूँ मन में/विश्व के नीरव-निर्जन में/···

अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा नाना प्रकार से अलंकृत करने—जितनी जैसी वह है, उससे बड़ी दिखाने, अतिरंजित करने की बजाय—वे उसे समझने-बूझने की कोशिश करते हैं। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज गरिमा है; ताप और तीव्रता नहीं। और कौन कह सकता है कि इस कविता में सौन्दर्य नहीं ?···

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं, अन्त करण नवीन
मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा, बाह्य आन्तरिक
प्रकृति सभी सोती रहीं

•

प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं : उनके यहाँ हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। प्रसाद देखा जाय, तो पन्त के ठीक विपरीत हैं। पन्त में अर्थ (भाव-कथ्य) अधिकतर सामान्य मनोभूमि का होता है : उसको वे कल्पना (और फैंसी) से, इच्छित चिन्तन और शब्द-शिल्प से फैला लेते हैं। प्रसाद अपने बोध में छने हुए अर्थ को शब्द के जरिए और भी ज़्यादा छानकर गाढ़ा कर लेते हैं। पन्त में शब्द ही वस्तुएँ हैं; प्रसाद में शब्द केवल इंगित हैं···उन्हें शब्दों के रूपरंग में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं। यदि पन्त की कविता में शब्द ठोस हैं अपेक्षाकृत, तो निराला में वे अधिक द्रवित हैं और प्रसाद में सीधे उद्वाष्पन। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हम पाएँ कि लगभग एक-जैसी विषय-वस्तु को लेकर कविता करते हुए पन्त सबसे ज़्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; निराला उनसे कम; और प्रसाद सबसे कम। पन्त में शब्द अलग-अलग पच्चीकारी के टुकड़ों से दीखते हैं; निराला में रिलेमिले बहते-से···। प्रसाद में वे अलोप-से हो जाते हैं···। एक-एक शब्द को आँखें फाड़-फाड़कर देखना होता है। पूरे 'पाद' को तीन-तीन, चार-चार बार पढ़ना होता है। तब जाकर उस शब्द की सही जगह का अन्दाज़ लगता है। शरीर से वह जहाँ रखा होता है, वहाँ वह होता ही नहीं, कहीं और···कहीं और होता है।

ओ री मानस की गहराई
तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई
हँस ले भय, शोक, प्रेम या रण
हँस ले काला पट ओढ़ मरण
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण
नाविक अतीत को उतराई

प्रसाद के यहाँ कुछ शब्द रूढ़ पदों की तरह बार-बार दुहराए जाते हैं मानो उनके बिना उनका काम ही न चलता हो। मज़े की बात यह है कि ये उतने और उस तरह खलते नहीं जैसे कि किसी दूसरे कवि में खलते। वस्तुतः ये 'रूढ़ पद' भी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त 'रूढ़ पदों' की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक और जानदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद 'मधु' या 'माया' से जितना काम ले लेते हैं, उतना पन्तजी 'स्वर्ण' को उनसे कई गुना ज़्यादा पुकारकर भी नहीं ले पाते। विशेषण उनके यहाँ कम हैं : वे उन पर बहुत कम निर्भर करते हैं। उनका एक खास अपना लहज़ा है : खास अपनी 'लय' जो अपने नितान्त औचित्य के बल पर पर हमारे मन को पकड़ता है।

वे अनेक भावों की सजावट नहीं दिखाते; न किसी आवेग में बह जाते हैं। वे भाव को अर्जित करते हैं गहन चिन्तन-मन्थन द्वारा; और उसे फिर शब्दों द्वारा आकर्षित करते हैं। उनसे ज़्यादा अन्तर्मुख शायद ही कोई दूसरा कवि

होगा। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से ज्यादा अपने आत्मशोध-आत्मपरिष्कार को जाँचते-समझते रहने की प्रक्रिया है। वह प्रथमतः उनके अपने लिए है। उसमें बहुत आँच या उबाल नहीं है;—केवल निथरा हुआ तत्त्व है : संवेदनात्मक अनुभूति और ज्ञानात्मक चेतना दोनों के दीर्घकालिक संपीड़न से निचुड़ा हुआ सार-तत्त्व। उनका अनुभव-संवेदन जब तक शोधित-परिशोधित होते-होते एक स्थायी भाव का, विचार का गौरव प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक शायद उन्हें अभिव्यक्ति का कोई उत्साह ही अनुभव नहीं होता। और जब वे उसे अभिव्यक्त कर रहे होते हैं तब भी मानो वे अपने को ही सम्बोधित करते होते हैं; इसलिए कि उनके संवेदनशील मन और अर्थान्वेषिणी चेतना के बीच जो द्वंद्व रहा है, उसका पर्यवसान पूरी तरह उस कविता में हुआ है या नहीं, यह शंका उन्हें बेचैन किए रहती है। इसलिए वे विचार-संवेदन के उस संश्लिष्ट स्वरूप को अपनी बुद्धि और संकल्प की पूरी एकाग्रता के साथ अपने सामने मूर्त्त करना चाहते हैं।

नहीं; प्रसाद रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वे प्रथम और अन्तिम रूप से बौद्धिक कवि हैं। अनुभूति की बौद्धिक प्रतीक व्यवस्था के, अनुभूति और बुद्धि के रासायनिक संश्लेष के कवि हैं।

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ, नई व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह खलेगा किनको?

प्रसाद की दुरूहता भाषा की नहीं, भाव की है। उस एक भाव तक (जो कि अनेक भावनाओं, संवेदनाघातों और विचारों का रसायन होता है) पहुँचने की प्रक्रिया उनकी कविता में उजागर नहीं होती। स्थूल अर्थ में जिसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान, संवेदन और आवेग जब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दौर से गुजरकर चिन्तन-मनन द्वारा अपनी चंचलता खोकर थिर हो जाते हैं…तभी वे लिखने बैठते हैं। निष्कर्ष वे नहीं देते; निरावेग ढंग से, किन्तु प्राण की समूची ललक के साथ, भावना के पूरे सौकुमार्य में शब्द को दे दिए जाते हैं—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज! उदार बनो।"

इस अपार धीरज और कवि-कर्म के साथ … अन्तरात्मिक सम्पृक्ति का ही परिणाम है कि ऐसी वि… और दिमाग में घुमड़ती पंक्तियाँ रची जा सकीं :

"मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में"

'ले चल मुझे भुलावा देकर' पलायन की आकां… प्रेरित नहीं है। वह प्रसाद के कवि की स्वाभाविक और … माँग है। "जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया/ढीले अपनी को… काया, नील नयन से ढुलकाती हो/ताराओं की पाँत घनी… जिस गम्भीर मधुर छाया में/विश्व चित्रपट चल माया… विभुता विभु-सी पड़े दिखाई/दुख-सुख वाली सत्य बनी रे… यह कोलाहल की अवनी से घबराने वाले दुर्बल-प्राण कवि… गीत नहीं है। प्रसाद दिन के कवि नहीं हैं : वे 'श्रम-वि… क्षितिज-बेला' के कवि हैं। इसलिए नहीं कि वे दिन… सामना नहीं कर सकते; बल्कि इसलिए कि उन्हें … कविता वहीं पर मिलती है। कवि के रूप में उनकी … उसी 'गम्भीर मधुर छाया' की है जिसमें 'विश्व-चित्रपट … माया' में 'दुख-सुख वाली विभुता', 'विभु'-सी दिखाई … एक-एक शब्द पर ध्यान दीजिए : कवि कितनी गहरी … कह रहा है! 'नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की … घनी रे'……यह किस मानवीय स्थिति का बिम्ब है? … अपने-आप में इष्ट नहीं है। वह कोई निरपेक्ष स्वप्न-… नहीं है। न वह प्रतिकृति है। वह जीवन की प्रगाढ़ अन्त… अनुभावना है जहाँ साक्षात्कार सम्भव हो सके। वहाँ प्र… होगा; पर ऐसा प्रकाश जिसमें वस्तुएँ नहीं, उनका आ… सत्य झलक जाय……। जीवन की करुणा का जो अन्त… अनुभव कवि ने अर्जित किया है, उसी का सघन अन्त… वलोकन उसे अभीष्ट है।

सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही प्रसाद में सबसे ज्या… हैं। और हाँ 'उषा' के। इसी कविता की अन्तिम पंक्ति… देखिए—

श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला…
अमर जागरण उषा-नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी…

···ताराओं की पाँति भी 'घनी' थी और यह ज्योति भी 'घनी' है। साँझ-सी जीवन छाया के नील-नयन से ढुलका हुआ जीवन का राशिभूत संवेदन ही चहुँओर परिव्याप्त अन्धकार की थाह लेता हुआ उसके भीतर, उसकी निविड़ सम्पृक्ति में से, पुनः सृजित होकर, अमर जागरण की ज्योति बनकर उषा नयन से (बाहर को) विकीर्ण होता है। यह 'घनी ज्योति' सृजन की (पूर्ण में से पूर्ण के सृजन की) है। इसी से वह 'अमर जागरण' है।

आपने देखा होगा कि 'उषा' के अंकन में जो औदात्य प्रसाद में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

●

प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग—प्रसाद जिस संस्कृति के कवि हैं—उस संस्कृति की सन्ध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय-सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरव-गान किया है किन्तु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वे भी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में अतीत से तादात्म्य की—अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की—क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

वे पलायन के कवि नहीं हैं। देखने की बात है कि उनका नाविक भी उन्हें भुलावा देकर आखिर ले किस ओर को जाता है?···वहीं न, जहाँ "अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे"? क्या यहाँ भी भ्रम की गुंजाइश है?

और यह नाविक कौन है?···स्वयं काल? स्वयं कवि का इतिहास-बोध भी—शायद! ऊपर प्रसादजी की एक बहुत निजी छाप वाली कविता उद्धृत की गई थी: "ओ री मानस की गहराई···। नाविक अतीत को उतराई।···" अब यहाँ पर उसे थोड़ा ग़ौर से देख लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत कवि-मानस की गहराई को अतीत रूपी नाविक ही जान सकता है। वर्तमान को—कितने ही लघु क्षणों की नौकाओं को वह खेता है। प्रतिदान इतना ही कि हम उन्हें—एक-एक क्षण के 'गुण' को—पूरे मन से जी सकें। कोई भी अनुभूति हमारी संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत को उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें उतारता है। क्योंकि वह नाविक हमसे—हमारे व्यक्तिगत मन से—बड़ा है; क्योंकि वह पूरी जाति के अनुभवों का राशिभूत व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा 'इतिहास-बोध' है। हमारे व्यक्ति-मानस की गहराई को वह जानता है, जिसमें से कि सारी जीवनानुभूतियाँ उत्तीर्ण होना चाहती हैं। यह 'गहराई' भी स्वयं क्या है, किसकी है?···"तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल···।" यह तरलता कोई भावुक, रूमानी तरलता नहीं है···

"इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में।"

यह 'नील विषाद गगन' ही वह 'नील नयन' है जो 'ताराओं की पाँति' ढुलकाता है।

अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है और उससे प्रतिकृत भी होता है। यह अतीत तो स्वयं-सिद्ध स्वयं-स्फूर्त सत्ता है जो हमारे सहयोग के बिना भी अपना काम जारी रखता है। हाँ, खुली संवेदना होनी चाहिए वर्तमान 'क्षण' की अनुभूति के प्रति; तभी अतीत भी उसे हमारी सम्पूर्णता में रचा सकता है; हमारे 'ज्ञान' का अंग बना सकता है। प्रसाद की कविता का 'नाविक' महज़ प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है; वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है; संस्कृति है; सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल में से उत्तीर्ण करता है।

व्यक्तिगत विषाद का मोक्ष विश्व-वेदना की प्रगाढ़ अनुभूति (करुणा) में; और उस अनुभूति को अपनी सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध के द्वारा सर्जनात्मक सार्थकता एवं संतुलन देने की प्रेरणा···यह है कवि के रूप में प्रसाद की आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा भी, आप चाहें तो कह लें उसे।

हो सकता है प्रसाद की कविता अपने उद्‌गम में, मूल प्रेरणाओं में अत्यन्त व्यक्तिगत हो जैसी कि किसी भी कवि की कविता हो सकती है, होती ही है। हो सकता है कि

व्यक्तिगत वैकल्य और विषाद के कटु अनुभवों ने भी उन्हें कवि बनाया हो; किन्तु उनकी कविता में ये प्रेरक मूल 'हृत्कंपन' की तरह अन्तर्धान हो जाते हैं, जो कि चुपचाप रच-पच गए हैं; ···विचारों, भाव-तरंगों में ढलकर अपने-आपको भूल गए हैं। ऐसा लगता है जैसे प्रसाद अपनी अनुभूतियों को सीधे 'बुद्धि' और 'आत्मा' में परिणत करने के लिए ही कविता करते हैं; उन्हें अपना शरीर नहीं बनाने देते। शरीर में तो हृत्कंपन तब भी अधिक स्थूलता के साथ रचता है: मन और मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते तो उसकी गति बहुत ही सूक्ष्म-विरल हो जाती होगी। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि प्रसाद में किसी भी अन्य कवि, मसलन निराला की ही, अपेक्षा संवेदन-क्षमता कम थी। एकमात्र और महत्त्व-पूर्ण अन्तर यह है कि प्रसाद की कविता में वह संवेदन अधिक लम्बा पथ पार करके, अधिक जटिल स्तरों से छनकर संक्रमित होता है और इसीलिए स्वभावतः उस तक पहुँचने के लिए हमें शायद परिश्रम भी ज्यादा करना पड़ता है। कवि के लिए जो स्वाभाविक है, वही हमारे लिए श्रमसाध्य और दीक्षागम्य भी हो जा सकता है।

प्रसाद को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहने के बजाय विराम के ऐश्वर्य का कवि कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रागात्मक ऐश्वर्य की बात ही की जाय, तो वह उनके कथा-साहित्य में अधिक है। कविता में वे अधिक निर्लिप्त, अधिक सारमय हैं। ऊपर कहा गया कि व्यक्तिगत अनुभव-क्षण की तात्कालिक त्वरा और तीव्रता उस तरह उनकी कविता में नहीं मिलती। यह भी कहा गया कि उनमें अनुभूति अपना शरीर न रचकर सीधे-साधे अपना मस्तिष्क अपनी 'आत्मा' रचती जान पड़ती है। इसका आशय यह, कि उनकी कविताओं में मांसलता नहीं है। इस बात को सही-सही समझने की ज़रूरत है। यदि उनकी जीवन-चेतना पंतजी की तरह स्वप्निल और वायवीय होती तो कहानी-उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; न उनमें इतना रूप-रंग, चरित्र और मानवीय वैविध्य सृजित होता। हमें स्मरण रखना होगा कि हिन्दी कहानी में यथार्थवाद की नींव उन्होंने ही डाली थी। ठेठ यथार्थवादी कहानियों की तो बात ही क्या, 'ममता' और 'आकाशदीप' जैसी भावोच्छ्वसित कहानियों का भी थोड़ा-सा विश्लेषण यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होगा कि उनकी भी बुनियाद ठोस मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर रखी गई है। इसीलिए भाषा की एक अभि[illegible] दूरी के बावजूद, रुचि-सम्बन्धी सारी कठिनाइयों के [illegible] भी उनका प्रभाव हम पर पड़ता है और हमारा मन एका[illegible] यह मानने को तैयार नहीं होता कि ये रचनाएँ नश्वर [illegible] सिद्ध हो सकती हैं। नहीं, हम यही सोचने को विवश होते [illegible] कि यदि प्रसाद की कविता में वाञ्छित मांसलता भी नहीं [illegible] तो इसका कारण उनकी अक्षमता ही नहीं है। यह भी [illegible] हो सकता है कि वे कविता में अधिक सूक्ष्म उपकरणों [illegible] काम करना चाहते हैं याकि कविता की उनकी धारणा [illegible] यह है कि वह एक अत्यधिक सूक्ष्म उपकरण है अनुभूति [illegible] यथार्थ को पचाने और आत्मसात् करने के लिए। इस प्र[illegible] यहाँ उनका उद्देश्य और आग्रह ही भिन्न हो जाता है [illegible] निराला और प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ आमने-सामने रख[illegible] देखिए :

"कहाँ
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
संभव है क्या ?
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?"

यह हैं निराला। अब ज़रा प्रसादजी पर कान लगाइए :

"निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकरा[illegible]
फिर[illegible]
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता[illegible]

निश्चय ही निराला अधिक आत्मीय लगते हैं; क्यों[illegible] उनका 'टोन' अधिक नज़दीकी का, सहज-संलापी और मु[illegible] मुखर-वैयक्तिक है। तुलना में प्रसाद का स्वर वैसा घनि[illegible] और 'वैयक्तिक' नहीं प्रतीत होता; एक पर्दा-सा उनके और [illegible] हमारे बीच रहता है। उनका टोन, उनका लहज़ा अधि[illegible] निर्वैयक्तिक लगता है। फिर भी, कौन कह सकता है कि प्रसा[illegible] कम मार्मिक हैं ? निरालाजी का कथ्य उनकी पंक्तियों [illegible] प्रवाहित होता चलता है : उसमें गति है और उसे इसी [illegible] में हम देखते-अनुभव करते हैं। प्रसादजी में गति 'विधि' [illegible] गई है। उनका कथ्य गति से आगे बढ़कर विधि में समाहि[illegible] होता हुआ कविता में उतरा है।

एक बात और···। प्रसादजी गहरे अर्थों में 'संस्कृति के [illegible]

कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्भुत रासायनिक यौगिक से रचा हुआ जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैफल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएँ उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दीखतीं। "स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है" जैसी तीव्र-वेधक आत्माभिव्यक्तियाँ उनके यहाँ दुर्लभ हैं। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता का अनुभव एक गहरे औदास्य का अनुभव भी होता है?

"प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्यशिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता?
वंचित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?"

यह 'अतीत की विकल कल्पना' ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है: अतीत का संमोह नहीं; 'अतीत की विकल कल्पना'!' जो कि एकसाथ नितान्त आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सांस्कृतिक भी। एक ओर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में:

"आह इस खेवा की!
कौन थामता है पतवार इस अन्धड़ में
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा
उमड़ रहा है ज्योति-रेखाहीन क्षुब्ध हो
खींच ले चला है काल-धीवर अनन्त में
साँस सफरी-सी अटकी है किसी आशा में"

और दूसरी ओर,

सागर-लहरों-सा आलिंगन निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन, वह रहा एक कन को निहार
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार
ढल विरज डालियाँ भरी मुकुल, झुकतीं सौरभ-रस लिए अतुल
अपने विषाद-विष से मूर्च्छित, काँटों से बिधकर बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार।
पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिन-गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित' मन को कवि ने किस प्रकार जगाया है, यह देखिए; और तुलना कीजिए पहली कविता से "तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल, सुखलहर उठा री सरल-सरल, तू हँस जीवन की सुघराई···।" यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना।

●

अन्य छायावादी कवियों के बीच प्रसाद की स्थिति को समझने के लिए कुछ मसाला शायद ऊपर के विवेचन में इकट्ठा हो गया होगा। तथापि उस अन्तर और वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए शायद इतना काफ़ी नहीं है। बहरहाल प्रसाद की 'लहर' शीर्षक कविता को पढ़ने के दौरान मेरे दिमाग़ में दो कविताएँ आई थीं: एक तो पंतजी का 'हिलोरों का गीत' और दूसरा निराला का 'तरंगों के प्रति'। तीनों कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ने से मुझे लगा कि इस तुलना से हम कुछ और निकटता हासिल कर सकते हैं। तीनों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर शायद अप्रासंगिक न लगे। जरूरी होगा कि इस विश्लेषण से गुज़रते हुए कविताएँ सामने हों। समूची उद्धृत करना तो संभव नहीं है: इतने सहयोग की अपेक्षा पाठक से की ही जानी चाहिए।

पंतजी की कविता में सौन्दर्य-संवेदन और अर्थ (कथ्य) की स्थिति एकाकार नहीं है। दूसरे शब्दों में हिलोरों का संवेदन कवि की अन्य जीवनानुभूतियों से—व्यापक जीवन की उसकी पहचान और संवेदना से—जुड़कर एकाकार नहीं होता। मुख्य प्रेरणा वहाँ एक दृश्य-सौन्दर्य से मुग्ध होने और उस मुग्ध भाव को शब्दबद्ध करने की है। वह सौन्दर्य आँखों से उतरकर हमारे अन्तर्जीवन को नहीं पकड़ता। "अपने ही सुख से चिरचंचल, हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल···।" एक दृश्य-संवेदन दूसरे समानान्तर दृश्य-संवेदन को उकसाता है और बिम्ब उत्पन्न करता है। 'खिल-खिल' में खिलखिलाहट भी है और फूलों की खिलावट भी। आगे दूसरी पंक्ति में इसको और स्पष्ट फैला दिया गया है "जीवन की लतिका में लहलह, विकसा इच्छा के नव-नव दल"। इसके तुरन्त बाद 'रास' का बिम्ब कवि की सूझ में आता है। "सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि/गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल/हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल/खस-खस पड़ता उर से अंचल"/··· एक-एक ब्यौरा इकट्ठा करके चित्र को पूरा कर दिया गया

है। पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि कवि को दृश्य-चित्रण ही अभीष्ट है: उसका स्वयं का व्यक्तित्व उस दृश्य-संवेदन से सम्पृक्त नहीं होता भीतर तक; वह अलग, असम्पृक्त एक दृष्टि-बिम्ब को रचने-सजाने, उसे पूरा उभारने में संलग्न है। उसकी अनुभूति प्रथम और अन्तिम रूप से सौन्दर्य (छवि) की ही अनुभूति है; अर्थानुभूति या मार्मिक जीवनानुभूति नहीं। 'लहर' का जीवन उसके जीवन से अलगाया हुआ है; लहर का जीवन भी उसकी आँख और 'चितेरे हृदय' में है; मस्तिष्क में नहीं।

किन्तु अन्त की चार पंक्तियाँ बताती हैं कि यह सौंदर्यानुभूति वैसी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं है। यहाँ कवि अर्थ को निकाल रहा है। इस तरह कि मूल सौन्दर्यानुभूति पर यह प्रक्षेप जैसा लगता है। एक दार्शनिक पश्चाद्बुद्धि से प्रेरित जान पड़ती हैं ये पंक्तियाँ:

"चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल"

'लहलह' और 'खिलखिल' में जिस प्रकार कवि की अनुभूति का स्पन्दन है उस प्रकार इस 'चिर जन्म-मरण' में नहीं। वहाँ कविता है; यहाँ कविता से ज्यादा काव्यरूढ़ि।

कुल मिलाकर यह एक स्थिर चित्र है। हम अलग-अलग शब्दों के संवेदन से आर्कषित होते हैं। रास का चित्र भी उस तरह गतिमय-सजीव नहीं हो पाता: एक तो छन्द की लय ही उतनी स्वतन्त्र और लचीली नहीं; दूसरे, कवि ने रास के बिम्ब की उद्भावना एक सादृश्य के रूप में हिलोरों के चित्र-संवेदन को पुष्ट करने के लिए की है; वह भावना उतनी नहीं जितनी उद्भावना है; आवेग उतना नहीं जितना कि रूप-संवेदना।

अब निराला की 'तरंगों' का अनुभव लीजिए और दोनों कवियों का अन्तर देखिए—

यहाँ रास का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं है—सिवा 'मण्डलाकार' के, जोकि अनायास ही तरंगों का सहज विशेषण बनकर आ गया है—फिर भी चित्र में उसका पूरा सजीव स्पन्दन अनुभव होता है। पंत में 'मरुत-मुरली की धुन' भी है; लहरों के 'गृह-पुलिन नांघने' का ज़िक्र भी है: रूपक को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु निराला की पंक्तियों में शिल्प का वैसा सचेतन उद्योग नहीं है। एक तीव्र भावना, एक रसावेश है जो तरंगों से उत्पन्न होकर तरंगों से ही तदात्म हो जाता है, और उन्हें भी अपने भीतर खींच ले जाता है। "किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर, आती हो तुम सजी मण्डलाकार"...यह दृश्य-संवेदन अनुभूति के एक ही क्षण में पूरे बिम्ब को प्रत्यक्ष सजीव कर देता है। किसी सादृश्य-विचार का अंतराल महसूस ही नहीं होता।

यह एक पूरी चित्रानुभूति है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन अपनी ही लयगति से दूसरे संवेदनों को अपनी ओर आर्कषित कर लेता है। पहला चित्र अपने-आप में पूर्ण है: उसमें अभी कवि की आत्म-स्थिति का उलझाव-जुड़ाव नहीं है: वह एक निरपेक्ष सौन्दर्य का निरपेक्ष-सम्पूर्ण संवेदन है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन और अधिक आन्तरिक बनकर कवि के अन्तर्जीवन में और गहरे उतरता है; दूसरे शब्दों में सौन्दर्यानुभूति और अधिक 'जीवन' समेटती है अपने प्रवाह में; और यह 'जीवन' तरंगों के अपने 'जीवन' से अभिन्न है, उस पर आरोप नहीं है, न उसकी सजावट। तरंगों का जीवन और मनुष्य का जीवन दोनों एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगते हैं:

"गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट के तल आ तकतीं कभी उदास
क्यों तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो।"

यहाँ लहरें 'कवि' हैं और कवि 'लहरें'...। किन्तु इसके फ़ौरन बाद 'लहरें' फिर लहरें हो जाती हैं और दूसरा पैराग्राफ़ पहले की लय को फिर समेट ले जाता है (चंचल चरण बढ़ाती हो, किससे मिलने जाती हो?)

पहले की टेक दुहराकर मूल संवेदन की एकता को व्यंजित करते हुए कवि बड़े बारीक़ प्रच्छन्न कौशल के साथ दूसरे पैराग्राफ़ का नया संवेदन भी उसमें मिला देता है।

तीसरे पैराग्राफ़ के शुरू होते-न-होते तरंगों के साथ कवि के संघर्षशील व्यक्तित्व का अधिक घनिष्ठ उलझाव प्रकट हो जाता है।

"बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार

नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !"

विशेषता यह, कि तरंगें जिस प्रकार आवेग के एक धक्के को समेटकर, दूसरे धक्के से प्रभावित होती हुई…अपने को लगातार विस्तृत करती चलती हैं—सहज नम्यता और समीकरणशीलता के साथ; उसी प्रकार कवि की भाव-तरंगें भी उसी लय-गति के साथ अपने आवेगों को क्रमशः समेटती हुई अग्रसर हो रही हैं। जो सन्तुलित गत्वरता तरंगों में है, वही कवि के आवेगों में और वही उसके लय-तुक और शब्द-विन्यासों में।

इन पंक्तियों में कवि एक साथ व्यक्ति और व्याप्ति होकर बोल उठा है। यहाँ कवि का व्यक्तिगत जीवन और व्यापक मानवीय जीवन दोनों एक सुपरिचित बिम्ब-दृश्य की अनुभूति से एकाकार हो गए हैं। तरंगों का अनुभव अपने ही अन्दरूनी दवाव से जीवन और मृत्यु के अनुभव में अर्थान्तरित हो गया है : बिना किसी अतिरिक्त विचारणा (आइडिएशन) के आरोप के। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति की लय-गतियाँ पृथक्-पृथक् न रहकर कवि की वैयक्तिक संवेदना के संपीड़न में एक हो जाती हैं। रूपक का आश्रय लेकर कहूँ तो यहाँ कवि की संवेदना वह पैण्डुलम है जो सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के दो छोरों को पल-पल एक-दूसरे की ओर आर्काषित करती रहती है—करते रहने को विवश है। कवि के रूप में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की लय को प्रकृति की लय में और दूसरी ओर व्यापक मनुष्य की लय में ढूंढता-खोजता-मिलाता चला जाता है। इस प्रकार एक ही कविता में तरंगों का अपना जीवन भी पूरी छविमयता में अभिव्यक्त हुआ है और कवि का अन्तर्जीवन तथा व्यापक जीवन का सत्य भी। पन्त की कविता में "चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करतीं पल-पल…" यह आवेग-सृजित विचार नहीं है; इसमें चित्र और विचार एकीभूत नहीं; वे मिलाये गए हैं। जबकि इसके विपरीत "बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी दग्ध चिता के कितने हाहा-कार…" में एक वास्तविक बिम्ब का अनुभव कवि की भोगी गई व्यक्तिगत अनुभूति और देखे हुए समष्टिगत हाहाकार का मर्म खींचे लेता है। इसीलिए उसके प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी सीधी और गहरी होती है।

अब इन कविताओं के साथ प्रसाद की 'लहर' को रखकर देखें :

"उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर
करुणा की नव अंगराई-सी
मलयानिल की परछाईं-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर…"

इन पंक्तियों को पढ़िए और देखिए, क्या दीखता है? क्या जो आप देख रहे हैं, वह 'लहर' है? आप देख रहे हैं या सोच रहे हैं? शायद आप एक-एक शब्द पर अटकते हुए सोच रहे हैं। नहीं, ऐसे कुछ हाथ नहीं आएगा। पहले पूरी कविता पढ़ जाइए। तब नहीं जाकर आपको ये शब्द दीखेंगे, पकड़ में आएँगे। जोकि अभी हाथ में आ-आकर भी फिसले जा रहे हैं।

लीजिए, अब आपने समूची कविता पढ़ डाली और अब फिर से पढ़ रहे हैं। आप इस 'लहर' को पकड़ना चाहते हैं… अनेक अमूर्त चित्रों से घिर-घिर जाते हैं। आपने पन्त में 'मलय-मारुत' की वंशी सुनी थी; यहाँ आप 'मलयानिल की परछाईं' को पकड़ने दौड़ रहे हैं। यह मलयानिल आपको छायावाद में बीसियों बार मिला है। प्रथम आवृत्ति में आपका ध्यान इस ओर गया भी नहीं होगा। काव्य-रूढ़ि में काव्य कहाँ?…आपने सोचा होगा; और प्रसाद की रूढ़िग्रस्तता से आप संकुचित भी हुए होंगे। फिर आप यहाँ अटके क्यों हैं? क्या कोई सूक्ष्म तत्त्व झलक मार रहा है?

स्पष्ट ही, यह 'मलयानिल' भिन्न है। वह रूढ़ार्थ पीछे छूट गया है। एक तो मलयानिल वैसे ही अमूर्त्त…, फिर उसकी भी परछाईं…यह लहर! 'परछाईं' से कितना कुछ व्यंजित होता है! आपको 'अभिनयमय परिवर्तन' की याद आती है और इसी कविता के आगे की पंक्ति—'यह खेल खेल ले ठहर-ठहर'। यह परछाईं 'करुणा की नव अँगराई' और 'सूखे तट' से जुड़कर क्या देती है? ऊपर कहा गया कि प्रसाद में हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। इसलिए नहीं कि वे प्रतीक रचना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि प्रतीक उन्हें घेर-घेर लेते हैं। वे सीधे भावावेश में या सौन्दर्य-संवेदन में से कविता रचने नहीं बैठते—बल्कि वे अपनी संवेदना का मनन-मंथन करते हैं—अपने तमाम जीवनानुभव और ज्ञानात्मक चेतना के आलोक में; यहाँ तक कि वस्तु का मूल संवेदन एक बोध-संवेदन में रूपान्तरित होने लगता है और इस अवस्था में वे लिखने बैठते हैं। मानो वे किसी एक कविता द्वारा किसी

एक वस्तु को, किसी एक भावस्थिति को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते बल्कि प्रत्येक कविता द्वारा अपने सम्पूर्ण बोध को, अपनी सम्पूर्ण आत्मवत्ता को पकड़ना चाहते हों। इस प्रकार उनकी प्रत्येक कविता उसी एक 'बड़े जीवन' की छोटी कथा बन आती है।

और यह कथा कभी बासी नहीं पड़ती। शब्द दुहराए जाते हैं मगर उनके अर्थ और प्रयोजन नहीं। प्रत्येक बार वे नये ढंग से हमारे साथ पेश आते हैं। समझने-बूझने की नई चुनौतियाँ लेकर। मैंने कहा कि प्रसाद बौद्धिक कवि हैं। रहस्यवादी वे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। बौद्धिक कवि से अभिप्राय बुद्धि का कवि नहीं, बल्कि बौद्धिक संवेदना का कवि है। प्रसाद गहन संवेदना के कवि हैं और संवेदन भी कैसा ?…"संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देता घोंट" (मनु का मन था विकल हो रहा, खाकर संवेदन की चोट) किन्तु वे इस 'संवेदन' को उसकी तात्कालिक विह्वलताओं से नहीं गढ़ते। वे उसे अपनी बुद्धि—अपनी प्रचण्ड बौद्धिकता—में से छानकर थिराने देते हैं। प्रसाद की यह बौद्धिकता उनकी नितान्त अपनी बौद्धिकता है जिसे उन्होंने साधना द्वारा अपना 'पितृऋण' चुकाकर—परम्परा को अस्थि-मज्जा तक पचाकर अर्जित किया है। यह पचाने की प्रक्रिया इतनी दीर्घ और अनवरत रही है—इसमें उनकी इतनी जिजीविषा खपी है कि परम्परा का जीवन उनके भीतर उनकी व्यक्तिगत जीवनी के समान ही रच गया है। और दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। उनकी व्यक्तिगत अनुभूति—व्यक्तिगत संवेदन—इस सांस्कृतिक जीवन की ज्ञानात्मक चेतना से टकराकर परावर्तित और प्रतिच्छायित होता है। इसीलिए, यदि उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाए तो अचरज की बात नहीं। वह स्वाभाविक है। जो व्यक्तिगत है, निजी है, वह इस संस्कारी बोध से छनकर उससे संघर्षित और अनुकूलित होकर ही बाहर को आता है। इतना अवश्य कहा जाएगा और यह प्रसाद की आलोचना का एक बुनियादी नुक्ता हो सकता है कि इस प्रक्रिया में अनुकूलन जितना है, संघर्षण उतना नहीं। यह प्रसाद की सीमा—शायद हमारी पीढ़ी के दृष्टिकोण से बहुत बड़ी सीमा—है।

ऊपर उद्धृत अनेक परस्पर सम्बद्ध कविताओं के भीतर से गुज़रते हुए हम पहली कविता पर लौटें तो हम उसे अधिक पाते हैं। 'अशोक की चिन्ता' में हम पढ़ते हैं :

"आँसू कन-कन ले छल-छल, सरिता-भर रही दृगंच[ल]
सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने प[ल]"

'करुणा की नव अँगराई' एक मानवीय चित्र और ए[क] प्रज्ञात्मक अनुभूति का यौगिक है। 'आँसू कन-कन ले छ[ल]-छल' यहाँ अधिक संवेदनमय, अधिक संश्लिष्ट ज्ञानात्म[क] अर्थ पा जाता है; इसीलिए अधिक मार्मिक भी। 'करुणा' और 'अँगराई'—दो दूरवर्ती शब्दों की अर्थात्माओं को पा[स] खींचकर कवि ने कैसी व्यंजना उत्पन्न कर दी है! 'करुणा की नव अँगराई-सी'…जीवनानुभूति यहाँ विशिष्ट होकर [भी] सामान्यता से बहिष्कृत नहीं है। 'अँगराई' में जागरण, यौवन, सौन्दर्य और सुषमा की व्यंजनाएँ बोलती हैं और 'करुणा' में एक सांस्कृतिक बोध का अर्जित संवेदन। दोनों को एक कर दिया गया है। 'मलयानिल की परछाईं' [की] तरह। परछाईं भ्रम होते हुए भी सत्य (गोचर-संवेद्य) है। मलयानिल अदृश्य-अमूर्त होते हुए भी लहर का स्रष्टा और कारणभूत है। मूर्त और अमूर्त का सन्धि-स्थल है मनुष्य [की] 'चेतना' जो दो दुनियाओं में एक साथ विचरने को विवश है। उसकी प्रत्येक अनुभूति उसके अस्तित्व के इस मूलगत द्वैत [में] निहित है। और कवि की हैसियत से उसकी एक लड़ा[ई] अपनी इस 'अस्तित्वपरक स्थिति' (एक्ज़िस्टेंशियल कंडीशन) से भी है। उसे 'जीवन की सुघराई' भी चाहिए और 'सत्[य] की सुघराई' भी……। फ़िलहाल इस कविता की आगे [की] पंक्तियाँ देखिए :

"उठ-उठ, गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल-सिहर"

'तरल-सिहर' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए और इ[न] पंक्तियों के मर्म-वैशिष्ट्य को पकड़ने के लिए एक दूसरी कविता पढ़िए। वही इसकी व्याख्या और पर्याप्त टिप्पणी भी होगी शायद।

"कितने दिन जीवन जलनिधि में,
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कूल चूमने चलकर,
उठती-गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में!"

कितनी मधु-संगीत निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गाएगी वंचित,
पागल-सी इस पथ-निरवधि में
दिनकर, हिमकर, तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनावेंगे निज चंचल,
आशा की माधुरी अवधि में

प्रसाद की लहर "अस्थिर आशा का अभिनय" नहीं है। वह 'आशा की माधुरी अवधि' है; 'करुणा की नव अँगराई' है। चूंकि जिनके लिए उसने "सब अपने में हैं चंचल" कहा है, वह स्वयं उनमें न होकर उनका साक्षी, उनका कवि है, अतः इसीलिए वह अकेला भी है ("छूटे जाते सूने पल"···)। इन सूने पलों को सार्थकता कौन देगा ? इसके लिए वह उसी 'करुणा' का आह्वान करता है।

"तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर"

यह करुणा महज़ भक्ति के रसावेश में से प्राप्त किया गया आश्वासन नहीं है। 'कन-कन अनन्त अम्बुधि' बनते देखकर वह कहता है, "कब रुकती लीला निष्ठुर"; और मनुष्य के अश्रुओं को समेटने वाले सूर्योदय में वह 'रोष भरी लाली' देखता है। नर की करुणा से ही वह संवेदित है। वह स्वयं को 'तरल गान' गाते हुए भी 'वंचित' ही महसूस करता है। विकल अनिल (ज़रा 'मलय-अनिल' से इसकी संगति मिलाइए) से प्रेरित जीवन जलनिधि की लहरें उस निरवधि, उपलब्धि-शून्य पथ की यात्रिक सरीखी ही जान पड़ती हैं। फिर वह किस करुणा का आह्वान कर रहा है ? निश्चय ही वह रूढ़ आस्तिक विश्वास की करुणा नहीं है। प्रसाद उस तरह के आस्तिक नहीं हैं। तब ? क्या यह बौद्ध करुणा ('महाकरुणा') है ? उत्तर इतना आसान नहीं है। संभवतः इसका सम्बन्ध उस 'प्रज्ञा' से है, जिसका अनुभव पाने के लिए प्रसाद ने आजीवन साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से भरसक लगातार पलायन किया। पलायन ! लेकिन जीवन से नहीं; अपनी व्यक्तिता से। यदि 'व्यक्तित्व से पलायन' में आपको एलियटी छूत प्रतीत होती हो तो आप 'व्यक्तित्व का होम' कह सकते हैं। उसमें छूत भी न होगी और भारतीयता भी ज्यादा रहेगी।

ऊपर 'लहर' के विश्लेषण के दौरान प्रसाद के कवि की एक मूलभूत पर्युत्सुकता का संकेत उभरा है। मानवीय चेतना में निहित अस्तित्व के द्वैत की समस्या, जो प्रसाद में बार-बार उभरती है। हम पाते हैं कि प्रसाद की कवि-चेतना वैराग्य-विषाद और अनुराग-आह्लाद की एक अजीब रंग-स्थली-सी है। उनका वैराग्य अधिक मूलभूत है (हालाँकि इतनी विलासी, ऐश्वर्यमयी कल्पना छायावादी कवियों में किसी को प्राप्त नहीं) : नील (विषाद) गगन की भाँति, जिसमें अनुराग के रंग खिलते और विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का विराग व्यक्तिगत अनुभूति और सांस्कृतिक अनुभव का अविच्छेद्य यौगिक है। यही उनके अनुराग-क्षणों को—विलास-वृत्ति को भी—सौन्दर्य, अर्थ और एक पवित्र प्रभामयी गरिमा दे देता है। (उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया···)

मनुष्य की अस्तित्वपरक परिस्थिति में निहित द्वैत की करुणा प्रसाद की कवि-संवेदना में एक स्थायीभाव की तरह बद्धमूल है।

वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कम्पन
अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग

इन पंक्तियों की संश्लिष्ट व्यंजना को देखिए। यह पश्चिमीय या फ्रायडीय दुःखवाद नहीं है। उमरखैयामी बिम्ब-योजना तक प्रसाद के यहाँ नई अर्थच्छवियाँ उभारती है।

इन पंक्तियों में 'बिम्ब' है। किन्तु कवि की दृष्टि सर्वथा आशय के सारपूर्ण अंकन की है। एक-एक शब्द सटीक-सारगर्भित है। 'लय-सीमा में यह कम्पन' पढ़ते ही हमें 'आँसू' की "चेतना-लहर न उठेगी; जीवन-समुद्र थिर होगा" का स्मरण हो आता है। देखने की बात है कि किस प्रकार प्रसाद अपनी अनुभूति को बौद्धिक सारतत्त्व में—कहूँ कि 'बौद्धिक बिम्ब' में ढालने के अभ्यस्त हैं। दर-असल वे अनुभूति की बजाय अनुभूति का आसव पेश करते हैं। चौथी पंक्ति की गढ़न देखिए···"अभिनयमय है परिवर्तन"। वे चाहते तो मायामय भी कह सकते थे। फिर उन्होंने 'अभिनयमय' क्यों

कहा ? अभिनयमय में जो व्यंजनाएँ हैं (एक साथ खीझ, नैराश्य, वंचना, विनोद और लीला की) वे भायामय में कहाँ ?

"आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती"
कलरव कर सो जाते विहंग

कितनी नश्वरताओं का अनश्वर बिम्ब है ! ···आयु की, संकल्प की, प्रेरणा की, दृष्टि की।···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में
उलझा है चंचल मन-कुरंग

यह है विशुद्ध वैराग्य का काव्य ! विशुद्ध और सारमय। प्रसाद में कोई भी शब्द महज़ अलंकरण नहीं होता। प्रत्येक शब्द उनके अन्तर्जीवन (और बुद्धिजीवन) में गोता लगाकर बाहर आता है। यह ऐसा दावा है जो छायावाद के किसी अन्य कवि के बारे में नहीं किया जा सकता।

●

अपने सहवर्त्तियों के बीच प्रसाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—पन्त और निराला के साथ उनकी तुलना के आधार जुटाने के लिए तीनों की लगभग एक ही विषय से प्रेरित एक-एक कविता को नज़दीक से विश्लेषित करने के बाद अब कुछ सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है।

प्रसाद का अपना स्वर, अपनी टोन है जिसके द्वारा वे अपनी एक-दो पंक्तियों के द्वारा ही पहचान में आ जाते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प में पंत और निराला जैसा विस्फोटक नयापन नहीं है। किन्तु जहाँ इन दोनों कवियों की कविता में उनकी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ काफ़ी देर बाद सुनाई देती है, वहाँ प्रसाद का कवि अपेक्षाकृत जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त करने लगता है। इसके बावजूद वह कम रोचक और श्रुतिमधुर है क्योंकि उसकी समस्या पद्य में सच बोलने की एक पुष्ट और समर्थ शैली विकसित करने की है—परम्पराप्राप्त भाषा को अपनी वाणी के रूप में स्पष्ट अनुभव करने की है; वह उतना आत्म-सम्मोहित नहीं है जितना कि वाक्-सम्मोहित। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य के ठण्डे विकास को—व्यवस्थित और स्पष्ट अभिव्यक्ति की उसकी नवजात क्षमताओं को—प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि … पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दविधियों की भी सा… की भरपूर छानबीन करता चलता है।

प्रसाद में आवेग-सर्जित लयकारियों की वैसी … नहीं है जैसी कि निराला में हम देखते हैं। उनमें भा… प्रति वैसी मोहमुग्धता, रूपतंत्र की नई-नई उद्भावनाओं … उत्साह भी नहीं लक्षित होता। उनके भाषिक संवेद… निराला का लचीलापन नहीं है। शब्दों के रंग-रूप की … रीझ-बूझ सीमित है। शब्दों का वज़न और तुमुल भी … आकर्षित नहीं करता, शब्द उनके यहाँ बाँध तोड़कर … बहते···धीरे-धीरे विन्यस्त होते हैं। निराला कई बार … को किसी शाहख़र्च की तरह अबाध-अरोक गति से अपने … से बाहर को फेंकते प्रतीत होते हैं : अपने निहित-संभाव्य … के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का प्रचण्ड दुर्दम वेग भी … शब्द वहन करते और झलकाते प्रतीत होते हैं मानो यह … उनके कवि-कर्म की अनिवार्यता हो और कमाल यह … अक्सर यह अतिरिक्तता पाठक को खलती नहीं—… आलोचकत्व को उकसाती नहीं; वह छूट दे देता है। … जाने-महसूसे कि वह छूट दे रहा है। निराला का प्रचण्ड … ही मानो पाठक की सजगता को शिथिल कर देता है। … की यह ऊर्जस्विता और अतिरिक्त दीप्ति प्रसाद के … बहुत कम देखने को मिलती है। हाँ, उनकी ध्वन्यात्मक … दना निश्चय ही विशिष्ट है। हालाँकि उसमें निराला … वैविध्य नहीं है; तो भी यह शायद इसीलिए है कि … स्वभावतया अधिक विशेषीकृत है और इसी कारण उन… अभीष्ट-सिद्धि के लिए पर्याप्त भी। प्रसाद शब्द की ध्वनि… अपने स्वरों की सीमाओं में विशिष्ट उपयोग करते हैं (उन… संगीत व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर अधिक अवलम्बित है … किन्तु उनकी लयगति निराला की अपेक्षा कम स्वतन्त्र है … निराला का छन्द पर असाधारण अधिकार है। यह … कुछ विचित्र लगेगा किन्तु कहे बिना रहा भी नहीं जाएगा … मुक्त छन्द में मुझे प्रसाद की गति अधिक सहज और … प्रतीत होती है—बनिस्बत निराला के। विशेषकर … कविताओं में। 'शिवाजी का पत्र' की तुलना आप 'प्रलय … छाया' से करके देख सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाल… अस्वाभाविक न होगा कि अपने भाव-संवेगों (अन्ततः … व्यक्तित्व) पर प्रसाद को निराला की अपेक्षा अधि…

अनुशासन सिद्ध था। और उपयुक्त वस्तु-स्थिति पाकर उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक मितव्यय-सुघर हो जाती थी।

निराला की वे लम्बी रचनाएँ अधिक सफल हैं जिनमें छन्द का अनुशासन है। बल्कि छोटी कविताओं तक में जहाँ छन्द जितना ही जटिल है, भाव-संवेग उतनी ही सुन्दरता के साथ व्यक्त हुए हैं। प्रसाद में स्थिति इसके विपरीत नहीं, तो भिन्न अवश्य है। वे चुनी हुई सरल-साधारण लयगतियों में सूक्ष्म-संश्लिष्ट भावों की योजना कर देते हैं। बात यह है कि प्रसाद में भाव-संवेगों की मूल शक्ति-प्रेरणाएँ काव्य नहीं रवतीं—एक दीर्घ अनुशासित भाव-साधना में से छनकर कविता निष्पन्न होती है। इसीलिए वे पहले से सुघर-व्यवस्थित रहती हैं और मुक्त छन्द की मुक्तता में भी बिखरती नहीं; जबकि निराला में भाव-संवेग अपनी मौलिक तीव्रता और विह्वलता में ही काव्य का कारण बनता है। अतः उसके सुन्दर काव्याभिव्यक्ति में परिणमित होने के लिए छन्द का अनुशासन आवश्यक और सहायक-साधक होता है। प्रसाद के स्वभाव में ही इतना संयम और अनुशासन है कि उन्हें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुशासन और अतिरिक्त सजगता की उतनी जरूरत नहीं पड़ती।

प्रसाद की कुछ लयगतियाँ उन्हें इतनी अनुकूल पड़ती हैं—उनके कवि-स्वभाव से इतनी समरस हो गई हैं कि वे कवि की अपनी विशिष्ट आवाज की अनुगूँज-सी रच जाती हैं हमारे कानों में।··· "जगे हम लगे जगाने विश्व"···, "हिमाद्रि तुंग-शृंग से"···, "इस शिथिल आह से खिंचकर, आओगे तुम आओगे···", "उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की, कितनी है मोहमयी माया"···, "अब जागो जीवन के प्रभात", "हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर", "बीती विभावरी जाग री"··· इत्यादि उनकी कुछ चुनी हुई लयगतियाँ हैं, जिनकी सामर्थ्य का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है और जिनका संगीत मानों प्रसाद की कविता का खास अपना, बहुत अपना संगीत है; उनका खास अपना आविष्कार है। निराला की प्राणशक्ति अधिक दुर्दम है। इसलिए उनकी लयात्मक उद्भावनाएँ भी संख्या में अधिक हैं; अधिक रोचक भी। निराला ने हिन्दी भाषा की सांगीतिक संभावनाओं का अधिक दूरगामी उपयोग और विस्तार किया है। उनकी कविता भाषा के अधिक स्तरों पर कार्यशील हुई है—पन्त या प्रसाद की तुलना में। पन्त का भावजगत् इन दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त और सीमित है, अतः उनके यहाँ शिल्प-तंत्र को अतिरिक्त महत्त्व मिला है और उस दृष्टि से उनका योगदान उल्लेखनीय है। किन्तु वह योगदान "वागर्थसम्पृक्ति" के सूक्ष्म स्तरों पर बहुत कम है; रूपगठन और कलात्मक परिष्कार के स्तर पर ही वह अधिक सक्रिय है। उनकी कोमलवृत्तियाँ स्वभावतः वहीं अधिक रमती हैं जहाँ मानवीय जटिलताएँ अनुपस्थित हों या उन्हें सरल कर लिए जाने की गुंजाइश हो। प्रकृति-वर्णन में वे इसीलिए सफल और काफी कुछ मौलिक हो सके क्योंकि यह उनके लिए अनुकूल क्षेत्र था। प्रकृति जड़ है और वह कल्पना को कम-से-कम प्रतिरोध देती है। पन्त उसी सौन्दर्य के कवि हैं जिस तक कम-से-कम प्रतिरोध और संघर्ष द्वारा पहुँचा जा सके। प्रकृति उन्हें यह सुविधा देती है। उनकी वृत्ति हर चीज को सरल, सुन्दर और स्वप्निल करने की है और अक्सर वे ऐसी ही वस्तु चुनते भी हैं। विवादी भावों को साधना उनके बस की बात नहीं (निराला तो स्पष्ट ही कहते हैं: "स्वरविवादी ही लगा")। न वह 'पैशन' ही उनमें था कि वे अपने-आपको किसी आवेग में या किसी दार्शनिक बेचैनी में पूरी तरह झोंक सके। फिर भी उनके 'परिवर्तन' में एक आश्चर्यजनक (अभूत-पूर्व और अभूतपश्चात्) लयात्मक उत्तेजन है। शायद पहली बार उन्हें उद्वेग, शंका और अनाश्वस्ति की मनःस्थितियों को झेलने-समझने की कोशिश करने का उत्साह और साहस हुआ। 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' में भी कुछ ऐसे स्थल हैं। ऐसे स्थलों पर उनका रूपतंत्र भी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। किन्तु मुश्किल यही है कि वे ऐसी मनःस्थितियों को देर तक सहन नहीं कर पाते। एक स्वप्नशीलता ही उनके अन्तर्जीवन की नियामक-प्रेरणा बन रहती है। एक बार फिर 'ग्राम्या' में आकर वे अपनी अतिस्वप्निलता से जगते हैं और प्रकृति की पृष्ठभूमि में जीवित मनुष्य पर दृष्टिपात करते हैं। पूरी तरह उलझ जाना तो उनके बस की बात नहीं है पर उन्होंने कम-से-कम उसके नजदीक आने का प्रयास तो किया ही है। जीवन से थोड़ी भी निकटता हासिल करने पर एक सौन्दर्य-चेतन शिल्पी कवि कितना कुछ दे जा सकता है, इसका प्रमाण 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ देती हैं: 'धोबियों का नृत्य' जैसा मौलिक छन्द-शिल्प, 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी गहरी भाव-सृष्टि और "अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन" जैसे टिकाऊ शब्दचित्र और मानवीय संस्पर्श···।

'नौकाविहार' इसीलिए बराबर अच्छी लगती है कि उसमें कवि छन्द को और शब्दों को अपने साथ चला सकने में सफल हुआ है। उसमें विषयवस्तु की एक विश्वस्त प्रगति है। उसका शब्द-कोष भी ज्यादा लचीला है और लय-योजना भी। हर पंक्ति को कविता बनाने की अस्वाभाविक और व्यर्थ कोशिश उसमें नहीं है। वर्णन के साथ विचार और संवेदन (सेंसेशन) की लय गुँथी हुई है और अपनी भाषा को कवि अवसरानुकूल मोड़ सका है। साथ ही उसमें थोड़ी हरकत (एक्शन) भी है: वर्णन जड़ और अगत्यात्मक नहीं है। अनावश्यक अलंकरण भी कम-से-कम है। 'धोबियों का नृत्य' में भी शिल्प की यह समतोल व्यवस्था और यथेष्टता सराहने योग्य है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत 'ग्राम-युवती' में सन्तुलन बिगड़ जाता है। कौशल उघड़ जाता है और वस्तु की संवेदना उससे आच्छादित हो जाती है। कौशल यूँ ज़रूरी है किन्तु वह वस्तु में अंतर्हित हो जाना चाहिए। वही उघड़ जाए तो बाकी सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। 'वसन्त' में क्या कम कौशल निहित है? किन्तु वह वस्तु-संवेदन में रच-खप जाता है और हम उस अनुभूति में ही रम जाते हैं—उसके उपकरणों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सामान्यतया पन्त में यह खूबी समूची कविताओं में कम और अलग-अलग खण्डों में अधिक परिलक्षित होती है। जबकि इसके विपरीत प्रसाद की कविता का आस्वाद एक समूची, अखण्ड रचना का आस्वाद होता है।

प्रसाद को अपना कौशल छिपाने की ज़रूरत ही नहीं जान पड़ती। वे कौशल से बहुत काम लेते प्रतीत ही नहीं होते। उनका 'अर्थ' रूप के साथ संघर्ष करता नहीं महसूस होता। उनकी प्रतिभा का रुझान रूपकथात्मक है। भाषा से भी ज्यादा वे रूपों में (मधुप, झरना, लहर, भिक्षुक आदि) अपनी अभिव्यक्ति खोजते हैं। क्या ऐसा किसी भाषिक अक्षमता के कारण था? शायद नहीं; क्योंकि वे भाषा के कई प्रकारों से अच्छी तरह परचे हुए थे। उनकी कुछ कविताएँ ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी प्रमाण हैं कि न वे आदमी की सामाजिक-वैयक्तिक जटिलताओं के प्रति उदासीन थे और न उसके वास्तविक परिवेश और भाषा के प्रति। निश्चय ही, जैसा कि पहले ही संकेत किया गया, उनकी भाषिक संवेदना निराला की तुलना में कम विस्तृत और कम सजग है और उनकी शब्द-साधना भी अधिक विशेषीकृत होने के कारण अन्य कवियों के लिए निराला की तरह आकर्षक और ... दायी नहीं जान पड़ती। (निराला का अनुकरण किया ... सकता है और यह प्रारम्भिक अभ्यास फ़ायदेमन्द भी ... सकता है; कवियों के दीक्षागुरु वे हो सकते हैं रूपतंत्र ... दृष्टि से विशेषकर। किन्तु प्रसाद का अनुकरण न तो ... आसान है और न उतना सुरक्षित; उस अर्थ में कवियों ... कवि वे नहीं हैं; उनके शब्द एक विशेष वातावरण में ... सांस लेते हैं—कदाचित् इसीलिए भाषा के सामान्य प्र... और भ्रंश की प्रक्रियाओं से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित और ... भी साबित हों; किन्तु क्या इसी कारण विशेष रुचि ... दीक्षा की माँग करने वाला उनका कवि सुदूर और ... नहीं पड़ जाता?)

दरअसल उनकी रूप-आसक्ति एक विशेष प्रकार ... अर्थशक्ति का अनिवार्य परिणाम है, जिसका विश्ले... करते हुए हम किसी नतीजे पर शायद पहुँच सकें। ... जानते हैं कि प्रसाद भारतीय संस्कृति और भारतीय त... चिन्ता के गहरे अध्येता थे। परन्तु इस तथ्य को भी मह... करना आवश्यक है कि उनका यह अध्ययन मात्र अध्ययन-... पांडित्य-लालसा—नहीं था। उसमें उन्होंने अपना व्यक्तित्व-... अपनी जिजीविषा ही—झोंक रखी थी। अतीतजीवी का ... यहीं से खड़ा होता है। पर वह भ्रम ही है और भ्रम से ... भयंकर अर्द्धसत्य। प्रसाद उन लोगों में से हैं जो अपने-आप... भी संस्कृति की आँख से देखते हैं। उन्होंने आजीवन ... सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप क... है और ज़रूरी भी; ऐसे युग में तो और अधिक (खास... हमारे यहाँ) जबकि आदमी की संवेदना और उसकी सं... के बीच के सारे सेतु भरभरा चुके हों। भारतवर्ष में तो ... स्थिति सबसे ज्यादा करुण है जिसका विश्लेषण फ़िलह... अप्रासंगिक होगा। बहरहाल मुझे तो ऐसा लगता है कि प्र... ने स्वयं को भारतीय दृष्टि से इस कदर तदात्म कर दिया ... कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में उसी दृष्टि ... द्वारा सम्मत विधियों से ही सम्भव थी। उनका अतिक्र... करना उसके लिए बेईमानी होती। हमारे दृष्टिकोण से ... नहीं, किन्तु उनके दृष्टिकोण से—शायद। अतिक्रमण वे ... सकते थे लेकिन नहीं कर सके। क्यों? ('स्कन्दगुप्त' ... रचनात्मक विडम्बना ही देख लीजिए)

प्रसाद की व्यक्तिगत मनीषा पर भारतीय मनीषा ...

बोझ था जो उन्होंने स्वेच्छा-आग्रहपूर्वक धारण किया था। उसके साथ अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने तदाकार कर लिया था। मेरा अन्धविश्वास है कि बीसवीं सदी के किसी भी भारतीय कवि ने इस बोझ को इतना और इस तरह वहन नहीं किया होगा, जितना कि प्रसाद ने। प्रसाद की भारती-यता निराला, अज्ञेय और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक जिम्मेदार, आधिकारक और विशाल थी। वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण और बौद्धों के भी बौद्ध थे।

निराला के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कविता की सीमाएँ अनेक व्यक्तित्व की सीमाएँ हैं। एक दूसरी अति-वादी स्थापना यह भी देने को मन करता है (क्योंकि बिना अतिरंजना के तो सत्य भी नहीं कहा जाता; हिन्दी में तो और भी नहीं) कि प्रसाद के कवित्व की सीमा भारतीय काव्य-दृष्टि की सीमा है। इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा।

रचना क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पीछे जो भी कारणभूत दबाव और वस्तुस्थितियाँ रही हैं, उन्हें बोध के किस स्तर पर एकाग्र और संघटित होना पड़ा है। जिस तरह जीव के विकास का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार जीवन के अर्थ का इतिहास भी अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही इतिहास है। इस-लिए सबसे ज्यादा कविता वहाँ होनी चाहिए जहाँ यह संघर्ष सबसे ज्यादा बुनियादी और व्यापक हो। कवि का व्यक्तित्व मानो एक रणक्षेत्र है जिसमें अब तक का अर्जित मानवीय ज्ञान और अर्थ उन सारी चीज़ों और स्थितियों के विरुद्ध संघर्षरत होता है जो उस अर्थ को निरर्थक किया चाहता है।

प्रसाद की कविता में मानवीय अर्थ के लिए यह संघर्ष मौजूद है। वही उसे एकत्व भी देता है। किन्तु कठिनाई यह है कि उनका आग्रह इस संघर्ष को कुछ आदिम रूपों (रूप-कथाओं) और एक विशिष्ट संस्कृति-प्रसूत प्रतीकों और अव-धारणाओं के टर्म्स में परिभाषित करने का जान पड़ता है। उनके औज़ार कुछ पुराने पड़ गये लगते हैं। अर्थ के लिए भारत में जो संघर्ष किया गया उसको प्रसाद का कवि—झरना से लेकर कामायनी तक—एक उपलब्धि के रूप में मान लेता है। किन्तु मुश्किल यह है कि हमारी विचित्र विडम्बनापूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियों ने—शताब्दियों के सूने अन्तराल ने—हमारे भीतर उस अर्थ की जीवन्त सक्रियता को समाप्त-सा कर दिया है; उसे सुदूर और दुर्लभ बना दिया है। वह हमें इस युग के पूँजीपति 'अनर्थ' से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास और उत्साह नहीं जुटाता। एक अजीब अयथार्थता से ग्रस्त हो गई है हमारी सांस्कृतिक चेतना। दूसरे शब्दों में हमारी सामान्य मानवीय चेतना और हमारी सांस्कृतिक चेतना के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की परम्परा ही हमारे यहाँ नहीं बन सकी। जितना जो कुछ संघर्ष रहा, वह बहुत ही खण्डित और बिखरा-बिखरा···।

यह नितान्त सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी कठोर साधना द्वारा उस सांस्कृतिक चेतना-परम्परा के सर्वोत्कृष्ट को अर्जित कर ले (जैसा कि प्रसाद ने कर दिखाया) किन्तु इससे कवि की हैसियत से उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। उसके अपने दृष्टिकोण से हो भी जाए, तो भी दूसरे परवर्ती कवियों के लिए उसका कृतित्व उतना सार्थक-उन्मेषकारी नहीं बन पाता।

हमने देखा कि प्रसाद अतीतजीवी नहीं थे। उनका व्यक्तित्व सरलीकृत भी नहीं था। वह निरन्तर संघर्षशील था अर्थ के लिए : बिलकुल विरोधी मनोभूमियों की कविता भी उनके यहाँ आमने-सामने मिल जाएगी। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि वे पर्याप्त आलोचक नहीं थे—उस संस्कृति, उस दृष्टि के प्रति जिसे उन्होंने साधनापूर्वक अर्जित किया। उन्होंने उस दृष्टि को अपनी जीवनानुभूति का, अपनी बौद्धिकता का भी निकष-सा बना लिया। उनमें 'ट्रैजिक सेन्स' था। उनकी 'करुणा' एक जटिल संवेदना का समतुल्य है; सरल संवेदना का नहीं (जैसा कि उनकी कविताओं के पाठ से हम अनुभव करते हैं)। किन्तु यहीं तो एक गहरी शिकायत उमड़ती है कि उन्होंने अपनी जटिल संवेदना को ऐसे उलझे हुए (अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा साफ़-सुथरे) रूप में क्यों व्यक्त किया? क्यों नहीं उन्होंने अपनी मनःस्थितियों को उनकी मूल आवेगा-त्मकता में उद्घाटित किया? क्यों उनकी कविता की ऊर्जा आवेगात्मक उन्मोचन की बजाय अर्थ के ऊर्ध्वगामी संचरण को ही संभव बनाने में व्यय हो जाती है। क्यों कवि के रूप में उनकी ज़िद अपनी चेतन-अवचेतन जीवनानुभूति को अति-

चेतन (सुपर्कांशस) बोध में उद्वाष्पित करने की है? क्या कविता प्रसादजी के लिए आत्म-परिष्कार में ही है; आत्मा की अस्तव्यस्तता अराजकता और अनगढ़ता में नहीं?

ग़ौर करके देखने पर यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी ने अपनी कविता को अपने सांस्कृतिक बोध की सीमाओं के भीतर ही पाना और पनपाना चाहा। नहीं; उसकी सीमाओं के प्रति पर्याप्त स्वचेतन होने की निर्ममता उनसे नहीं सधी। उनके कवि-व्यक्तित्व पर 'व्यक्तित्व' की भारतीय धारणा का अंकुश रहा। काव्य में 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति कितनी, कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि बहुत उन्मुक्त और उदार नहीं है। इस युग में वह चल नहीं सकती। किन्तु हम मानें, न मानें, हमारे अनजाने ही वह धारणा भारतीय कवि की स्वतन्त्रता को संकुचित और बाधित करती रही है। प्रश्न उस तरह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही नहीं है। वह दूसरी गहरी समस्या उपजाता है—अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। और उस प्रकार का अंकुश यहाँ अनिष्टकर हो सकता है। कविता की समस्याएँ मात्र व्यक्तित्व की समस्याएँ नहीं हैं। आपने अपने व्यक्तित्व को कितना धीर, उदार, गहन या विस्तृत बनाया, इसे आपकी कविता प्रमाणित करे यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आपकी कविता आपके व्यक्तित्व के माध्यम से मानवीय अस्तित्व का कितना दबाव अपने ऊपर झेलती है; उसे कितना मूर्त और परिभाषित करती है। और अस्तित्व की समस्याओं को किसी एक संस्कृति (जो सक्रिय नहीं रही) की भाषा में प्रतिबिम्बित देखने की चेष्टा ग़लत न होते हुए भी अपर्याप्त है। वह प्रक्रिया बाद में अपने-आप काव्य-विकास की अनिवार्य परिणति के रूप में आए तो वह उस तरह आलोचना का विषय नहीं बन सकती। (हालाँकि बनती ही है फिर भी) किन्तु पहले से इस प्रक्रिया में उलझ जाना उसके काव्य-फल को कच्चा ही तोड़ लेने जैसा है। कविता जिन दबावों में से निष्पन्न होती है, उनमें से एक सांस्कृतिक चेतना भी है। किन्तु सबसे ज़रूरी और फलदायी दबाव वह है जो कवि को कहीं टिकने नहीं देता; उसके संस्कारी मन, सांस्कृतिक बोध में भी नहीं।

निश्चय ही ऊपर प्रसाद की कविता का जो विश्लेषण-विवेचन किया गया है, वह उक्त आरोप की धार को जगह-जगह कुन्द भी कर सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष में कविता और कवित्व की जो धारणाएँ रही हैं, उनमें उक्त प्रकार के संघर्ष के लिए गुंजाइश कम—काफ़ी कम—रखी गई है। उन पर वास्तविक मानवीय जीवनानुभूतियों का दबाव कम और दार्शनिक धारणाओं एवं भावनाओं का दबाव अधिक रहा है। रस ही कविता का निकष नहीं है; कविता भी रस की निकष है, इस तथ्य को तो कभी से हमारा युग हमें पहचनवा रहा है, किन्तु इस पहचान का पूरा-पूरा उपयोग होने में अभी काफ़ी कसर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व से पलायन का नुस्खा भारतीय कवि के लिए उतना प्रासंगिक और प्रखर नहीं है जितना कि व्यक्तित्व में पलायन का नुस्ख़ा। दार्शनिक—या अन्ततः काव्यात्मक दृष्टि से भी यदि वह बुरा हो, तो भी इस बुराई की ज़रूरत हिन्दी कविता को है। शायद यही कारण है कि आज हमारे चारों ओर व्यक्तित्व में पलायन का ही दृश्य फैला हुआ है। हिन्दी का कवि इस स्वतंत्रता में से समूचा पूरा गुज़र निकले, तभी वह तथाकथित भारतीय दृष्टि का युगानुकूल सही उपयोग करने की स्थिति में आएगा। यहीं नहीं, उसे अपनी भारतीयता का ही सही और समूचा अहसास तभी होगा। फ़िलहाल हिन्दी कवि की, कवि के रूप में ज़िन्दगी इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसमें भारतीयता है या नहीं। वह इससे ज़्यादा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें व्यक्तित्व, 'पैशन', कट्टरता है या नहीं। भारतीय आदमी में कट्टरता का अभाव होता है। जहाँ उसे लचीला होना चाहिए, वहीं वह कट्टर होता है। बाकी सारे स्थलों पर वह ढुलमुल हुआ करता है। इसीलिए वह तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता।

ये बातें यदि अवान्तर ही हों, तो भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि प्रसाद का कवि हमें इन पर सोचने का अवसर देता है। यह भी उसका एक अतिरिक्त माहात्म्य है। किसी भी अन्य कवि का अनुशीलन हममें इस प्रकार के विचारों को नहीं उकसाता। प्रसाद इसलिए उकसाते हैं कि उनके काव्य का वैशिष्ट्य अच्छे लगने, न लगने की कोटि से ऊपर अवस्थित है। बात महज़ इतनी ही नहीं कि वे एक अत्यन्त शालीन और संस्कारी कवि हैं: महत्त्व की बात यह है कि

वे संस्कृति के कवि हैं—एक समूची संस्कृति के प्रतिनिधि कवि। ऐसे कवि से हमारा रिश्ता वास्तविक प्रेम और वास्तविक असंतोष और घृणा का ही हो सकता है : उपेक्षा और अवहेलना का कदापि नहीं। कोई भी संस्कृति ऐसे कवियों के बग़ैर चल नहीं सकती। परम्परा उनके भीतर अपने-आपको पहचानती है; आत्म-चेतन बनती है और नया जीवन पाकर आगे को बढ़ती है। इसीलिए उनका महत्त्व है। इसी अर्थ में वे 'विश्वविद्यालयों के कवि' हैं। उनकी भाषा में द्विवेदी-युग का अर्जित परिष्कार और छायावाद की नई व्यंजकताएँ दोनों का एकत्र परिपाक हुआ है। वे नई व्यंजकताएँ स्वयं उनकी अपनी वैयक्तिक संवेदना और प्रतिभा का फल हैं। उनकी कविता की गरिमा संस्कृत की मोहताज नहीं : हिन्दी के तद्भव संस्कार का तब तक का विकास ही उसके लिए यथेष्ट है : कम-से-कम छूट लेकर अधिक-से-अधिक कविता उन्होंने उससे निचोड़ी है। उनका वाक्य-विन्यास उनकी अपनी विशिष्ट आवाज़ की रक्षा करते हुए हिन्दी के वाक्य-विन्यास की भी रक्षा करता है। हिन्दी की प्रकृति में निहित अनगढ़ताओं से यह कवि सकुचित और बाधित नहीं। कविता का आस्वाद अन्ततः भाषा का आस्वाद है; और हम पाते हैं कि प्रसाद की कविता की तरह प्रसाद की भाषा का आस्वाद—भी नितान्त वैयक्तिक—विशिष्ट और विलक्षण होते हुए भी सहज-विश्लेष्य नहीं है। इसीलिए उसका अनुकरण भी आसान नहीं है (उनके गद्य की तरह) हालांकि उनके पद्य की तरह उनके गद्य की भी लय विशिष्ट है; तो भी, चूंकि गद्य अपेक्षाकृत स्थूल माध्यम है और प्रसाद का असली अन्तरात्मिक लगाव पद्य से है; अतः उनका गद्य—उनके अपेक्षाकृत स्थूलतर प्रयोजनों का संवाहक होने के कारण—अपने बाहरी लक्षणों और रूप-रंग में आसानी से अनुकरणीय हो जाता है। (अनुकरण हुआ भी काफ़ी)। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि जहाँ उनका काव्य 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' में से आता है, वहाँ उनका गद्य सभवतः उन मनः-स्थितियों से प्रेरित होना चाहता होगा जिन्हें उन्हीं की शब्दावली के वज़न पर 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूतियाँ' कह सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक न होगा कि प्रसाद के भीतर अपने ही रचनात्मक स्वभाव को लेकर एक घपला-सा था। यूरोपीय काव्य-चिन्तन और आलोचना में 'सोल' का प्रयोग सहज भाव से सुनिश्चित अर्थों में किया गया है। उसमें लिपटी हुई दार्शनिकता उसके साहित्यिक सन्दर्भ को धूमिल नहीं करती। हमारे यहाँ दुर्भाग्य-वश यह संभव नहीं है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' इसलिए भी एक गोलमोल मुहावरा बन जाता है हालांकि जैसाकि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है, प्रसाद की कविता एक गहरे अर्थ में इस परिभाषा को प्रतिफलित करती प्रतीत होती है। जहाँ तक यह परिभाषा भारतीय चिन्तन और भारतीय काव्य-परम्परा की उपज है हम देखते हैं कि यह 'मानवीय' से ज़्यादा 'आदर्शात्मिक' अधिक है। काव्य की अनेक 'प्रकृत' भूमियों को इस परिभाषा में निहित 'आग्रह' छाँट-छिनगाकर बहिष्कृत कर देता प्रतीत होता है। हम समझ नहीं पाते कि 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' काव्य की उतनी ही स्वाभाविक और जायज़ प्रेरणा क्यों नहीं बन सकती? ऐसा आग्रह क्यों? हमें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम के काव्य की अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समृद्धि का कारण यही है कि वहाँ ऐसा कोई आग्रह-निषेध नहीं है। 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' वहाँ के साहित्य में उतनी ही गहरी स्वतंत्रता के साथ सक्रिय है जितनी कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति; बल्कि शायद पहली चीज़ का पलड़ा ही भारी पड़े। हम यही सोचने को विवश हैं कि हमारी दार्शनिक धारणाओं और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं में—हमारी 'भारतीयता' में ही—कुछ घपला है। क्या ऐसी शंका निर्मूल है कि जो उस दृष्टि से जितना प्रतिश्रुत है जितना ही उसका प्रतिनिधित्व अपनी रचनात्मकता द्वारा करता है, उसको यह अन्तर्निहित घपला उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है। कोई अचरज न होगा यदि कोई आलोचक यह फ़तवा दे दे कि प्रसाद की कविता में भारतीय काव्य-परम्परा की सारी खूबियाँ और सारी कमियाँ एक साथ इकट्ठी मिलती हैं। आज की पीढ़ी का कवि और पाठक जब कालिदास और वाल्मीकि तक के काव्यगुणों से तत्काल संवेदित होने में कठिनाई का—दूरी का—अनुभव करता है, तो प्रसाद की कविता से पहले ही सम्पर्क में आकर्षित न हो पाने की स्थिति सहज ही समझी जा सकती है। यूं भी 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' जैसी सहज-गोल परिभाषा से कोई भी बिदक सकता है : प्रसाद को विश्वविद्यालयों का कवि कहने वाला कवि भी। क्या कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको प्रेम करने और पाने के लिए पहले उनसे ईमानदारी से नफ़रत करना आवश्यक

हो जाता है ? यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि प्रसाद ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद को समझने और प्रेम करने की पहली सीढ़ी शायद यही है कि हम उनसे घृणा करें। कौन जाने, जिसे हम भारतीयता या भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसके साथ भी कुछ ऐसी ही बात हो !

यह एक रोचक कल्पना होगी कि यदि प्रसाद अकस्मात् सशरीर उपस्थित हो जाते और हम उनको यह संवाद देते कि "महोदय ! न केवल यह कि हमारे कवि ही आपको विश्वविद्यालयों का कवि घोषित करते हैं बल्कि आपके पाठक और आलोचकों की भी राय यही है कि आपको विश्वविद्यालयों से बाहर न निकाला जाय, क्योंकि आपकी सही जगह वही है" तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती ?

मुझे तो यही लगता है कि वे इस संवाद से बिलकुल विचलित न होते हुए केवल मुस्करा देते और अपनी ही कविता की एक पंक्ति की ओर चुपके से इशारा कर देते :—

"यह विडम्बना ! अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं !"

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ[1]

रणजीत, नरेश कुमार

: १ :

रुचियों की भिन्नता

घोड़े ने देखा ऊँट को
और हिनहिनाया :
"कसा दैत्याकार दोगला घोड़ा है !"
ऊँट बलबलाया :
"तुम ? घोड़े ?—बिलकुल नहीं ।
तुम महज़ एक अविकसित ऊँट हो !"
और सिर्फ़ सफेद दाढ़ी वाला ईश्वर ही जानता था
कि वे दोनों अलग-अलग नस्लों के जानवर हैं ।

: २ :

जवाब के लिए

युद्ध के नगाड़े बजते हैं
और माँगता है लोहा
ज़िन्दा मांस का बलिदान !
प्रत्येक देश से गुलामों के बाद गुलाम
संगीनों के फौलाद पर फेंके जाते हैं ।
किसलिए ?
काँपती है धरती
नंगी और भूखी !
मानवता नहलाई जाती है : खून की फुहारों में ।
सिर्फ इसलिए कि कहीं कोई व्यक्ति
अल्बानिया को अपनी जेब में रखे रखना चाहता है ।
मनुष्यों के वहशी गिरोह
खूँख्वार आवाज़ों के साथ
खींचते हैं धरती की खाल
सिर्फ़ इसलिए
कि किसी के जहाज़
निःशुल्क बॉसफोरस से गुज़र सकें ।
थोड़े ही दिनों में
धरती की कोई पसली साबत नहीं रह जाएगी
वे उसकी आत्मा तक को खींच लेंगे
और उसे कुचल देंगे
सिर्फ़ इसलिए
कि कोई मेसोपोटामिया को हथिया सके ।
किसके नाम पर ?
घुटनों तक पहुँचने वाले खुरदरे फ़ौजी जूते
शहरों को कुचलते हैं ?
कौन है युद्ध के आकाश में ?
स्वाधीनता ?
ईश्वर ?
नहीं, सिर्फ़ रुपया !
अपना जीवन उन्हें चढ़ाने वालो !
कब तुम उठोगे ?
पूरी शक्ति और बुलन्दी के साथ ?
और कब ?
अपने सवाल को सीधे उनके चेहरे पर मारोगे :
"आख़िर हम क्यों लड़ें ?"

१. विभिन्न अंग्रेज़ी अनुवादों से सहायता लेते हुए सीधे रूसी से हिन्दी रूपान्तरण ।

: ३ :

टक्स इन्स्पेक्टर से कविता के बारे में बातचीत

नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर !
माफ़ करना मुझे, कि मैं तुम्हारे काम में बाधा डाल
रहा हूँ
धन्यवाद···चिन्ता मत करो···मैं खड़ा ही ठीक हूँ
मुझे तुमसे एक नाजुक मसले पर बातचीत करनी है :
मज़दूरों के समाज में कवि के स्थान के बारे में।
दुकानदारों और ज़मींदारों की तरह
मैं भी टैक्स अदा करता हूँ
और जुरमाना भी।
तुम मुझसे पाँच सौ प्रति छमाही चाहते हो
और पच्चीस इसलिए
कि मैंने पहले अपने बारे में सूचनाएँ नहीं भेजीं।
मेरा काम किसी भी दूसरे काम की तरह है
देखो, मुझे कितना नुकसान उठाना पड़ा है
मेरे उत्पादन के खर्चों पर ध्यान दो
और देखो कि कच्चे माल पर मुझे कितना खर्च
करना पड़ता है।
निश्चय ही तुम 'तुक' से परिचित होगे
मान लो कि एक पंक्ति का अन्तिम शब्द है 'पिता'
तब एक पंक्ति लाँघते हुए
मात्राएँ और अक्षर गिनते हुए
अगली पंक्ति में हमें लाना होगा 'चिता' या 'स्मिता'
या ऐसा ही कुछ और।
तुम्हारी शब्दावली में कहा जाय
तो तुक एक प्रामेसरी नोट की तरह है
जिसका भुगतान तीसरी पंक्ति में किया जाता है
यही है तुक का नियम।
और इस तरह हमें प्रत्ययों और विभक्तियों की
रेज़गारी ढूँढनी पड़ती है
क्रियारूपों और संज्ञारूपों की खाली होती हुई
तिजोरी में से
हम एक शब्द को किसी पंक्ति में धकेलने
कोशिश करते
पर वह वहाँ नहीं जमता
और ज़ोर लगाने से टूट जाता है।
नागरिक कर-निरीक्षक !
मैं कसम खाकर कहता हूँ
कि कवि के लिए ये शब्द
रुपयों से कहीं कीमती हैं।
अपनी शब्दावली में कहूँ
तो एक तुक एक कनस्तर है—
डाइनामाइट से भरा हुआ
और एक पंक्ति एक पलीता
जब वह सुलगती हुई पंक्ति अन्त तक पहुँचती है
विस्फोट होता है
और सिर्फ एक छन्द
एक पूरे शहर को उड़ा सकता है।
कहाँ और किस कीमत पर मिल सकती हैं ऐसी तु
जो ठीक निशाने पर मार करती हों
शायद पाँच-छह अभूतपूर्व तुकें
मुझे वेनेज्युअला में मिलें
इसीलिए मैं अग्रिम और कर्ज़ से दबा हुआ
ठण्डे प्रदेशों से गर्म प्रदेशों तक भटकता रहता हूँ
सुनो,
क्या तुम मेरे लिए मार्गव्यय नहीं मंजूर करोगे?
कविताएँ
—सब कविताएँ—
अज्ञात की ओर की गई यात्राएँ हैं।
कविता करना रेडियम निकालने की तरह है :
वर्षभर मेहनत और रत्तीभर प्राप्ति !
कई बार हमें सिर्फ एक शब्द के लिए
वाणी की टनों कच्ची धातु बरबाद करनी होती है
लेकिन कितनी ज्वलन्त होती है उन तराशे हु
शब्दों की अ
वाणी की धुँधुवाती हुई कच्ची धातु की तुलना में

ये शब्द
लाखों हृदयों को प्रेरित कर देते हैं
हज़ारों बरसों के लिए ।

निश्चय ही कवि भी कई तरह के होते हैं
उनमें से कई हाथ की करामात दिखाते हैं
वे मदारियों की तरह खींच लेते हैं पंक्तियाँ
अपने और दूसरों के मुँह से ।
जैसे कविनपुंसकों के बारे में कोई क्या कह सकता है
जो कोई पराई पंक्ति अपनी कविता में रखते हैं
और खुश हो लेते हैं
यह सीधी-सादी चोरी है, ग़बन है
देशव्यापी धोखेबाज़ी का एक रूप मात्र ।
ये सब कविताएँ
जो आज प्रशंसा के शोर के बीच
चिंघाड़ती और सिसकियाँ भरती हैं
इतिहास में बेकार का खर्च ही मानी जाएँगी
हम दो या तीन लोगों की उपलब्धियों की तुलना में ।

बहुत-सा नमक, मैं खा चुकूँगा,
जैसा कि मुहावरा है,
और बहुत-सी सिगरेटें पी चुकूँगा
मानव की पाताल-स्पर्शी गहराइयों में से
एक अमूल्य शब्द प्राप्त करने के लिए !
इसलिए मेरा बढ़ता हुआ टैक्स एकदम कम हो जाना चाहिए
यह एक पहिए-सा शून्य काट दो मेरे टैक्स से,
एक नव्वे—
सौ सिगरेटों के लिए
और एक साठ—
नमक के लिए ।
तुम्हारी प्रश्नावली में कितने ही प्रश्न हैं :
"क्या व्यवसाय-सम्बन्धी यात्राएँ आपने की हैं ?"
पर यदि मैं कहूँ कि मैं पिछले पन्द्रह बरसों में
दस बार मौत तक जाकर आया हूँ
कविता पर सवार होकर, तो ?
और यहाँ मेरी स्थिति लिख लो—आर्थिक और सामाजिक :
मैं जनता का नेता हूँ
और साथ-ही-साथ उसका नौकर भी
वर्ग मेरे शब्दों में बोलता है
और मैं सर्वहारा हूँ—
कलम का मेहनतकश !

घिसते जाते हैं आत्मा के पुरजे
वर्षों की गति के साथ-साथ
लोग कहते हैं : समय हो गया है
इसे अब अभिलेखागार में रख देना चाहिए
ढेर सारी कविताओं में यह अपने आपको लिख चुका है ।
और तब कम-से-कम होती जाती हैं प्यार और साहस की क्षमताएँ
और वक्त की गड़गड़ाहट
मेरे माथे को झकझोर जाती है
और तब आता है मूल्यह्रासों में से सबसे भयानक
—हृदय और आत्मा का मूल्यह्रास !

और जब यह सूर्य
एक मोटे होते हुए सूअर की तरह सन्तुष्ट
एक ऐसे भविष्य के क्षितिज पर उगेगा
जहाँ कोई भिखमंगा और कोई अपंग नहीं होगा
मैं युगों से मृत, कभी का मिट्टी में मिल चुका हूँगा
किसी बाड़ के नीचे
एक दर्जन सहयोगी कवियों के साथ ।
मेरा मरणोत्तर हिसाब तैयार कर लो
मेरा निश्चित दावा है
—और मैं जानता हूँ कि यह कितना सच है—
कि अपने समय के व्यापारियों और धोखेबाज़ों की पृष्ठभूमि में

मैं अकेला कभी न चुकने वाले कर्ज़ से लदा रहूँगा ।
मेरा कर्तव्य है
ताम्रकण्ठी साइरन की तरह ऊँची आवाज़ में बोलना
टटपूँजियेपन के कोहरे में
तूफानी हलचलों के बीच

कवि हमेशा संसार का देनदार रहता है
व्यथाओं में ब्याज और जुरमाने अदा करता हुआ
मैं देनदार हूँ
राजपथ की रोशनियों का
बगदादी[1] के आसमानों का
लाल फ़ौज का
जापान के चेरी वृक्षों का
और उन सबका
जिनके बारे में मैं लिख नहीं सका ।
पर यह काव्यात्मक पक्षपात क्यों ?
कि तुकें लक्ष्य हों
और लयें विश्रृंखल हो जाएँ ।
कवि के शब्द तुम्हारा पुनर्जीवन हैं
और तुम्हारा अमरत्व, नागरिक अधिकारी !

शताब्दियों बाद
कागज़ पर लिखी हुई एक पंक्ति कोई उठाएगा
और आज के दिन को वापस बुला लेगा
अपने तमाम टैक्स इन्स्पेक्टरों और चमत्कारों के साथ
और आज की स्याही की गन्ध गमक उठेगी ।

तुम जो सिर्फ अपने युग के ही निवासी हो
जाओ और जन-परिवहन-विभाग से अमरता
एक टिकिट ले आ
और मेरी कविताओं के प्रभाव की गणना कर
मेरी उपलब्धि को आने वाले तीन सौ वरसों
विभाजित कर दो
पर किसी कवि की शक्ति सिर्फ इसी बात में नहीं
कि भविष्य में लोग हिचकियों के साथ उसे या
करते

नहीं, आज भी
कवि का एक शब्द
एक आलिंगन है,
और एक नारा,
और एक संगीन,
और एक कोड़ा !
नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर
अपने मूल्यांकन में से सब शून्यों को काट दो
मैं तुम्हें सिर्फ पाँच सिक्के दूँगा
और माँगता हूँ, अपने अधिकार के अनुसार
एक बालिश्त ज़मीन
निर्धनतम मज़दूरों और किसानों की श्रेणी में।
और अगर तुम्हें ऐसा लगता है
कि यह सब पराये शब्दों की दुहराहट मात्र है
तो यह लो मेरी कलम, साथी !
और तुम खुद जितना चाहो लिख लो ।

१. मायकोव्स्की का जन्मस्थान, जार्जिया में।

बंगला के आधुनिक शास्त्र-मुक्त आलोचक

इन्द्रनाथ चौधुरी

हर देश के साहित्य-विचार में साहित्यालोचकों को दो श्रेणियों में बाँटने की परम्परा रही है : विश्वविद्यालयीय आलोचक (Academic) एवं उनसे इतर शास्त्र-मुक्त (Non-academic) आलोचक। अमरीका के विख्यात आलोचक विलबर स्कॉट अपने देश की आलोचना के इतिहास के बारे में टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि बीसवीं शती के प्रारम्भ में साहित्यालोचना विश्वविद्यालयीय आलोचकों के अधिकार में थी, परन्तु धीरे-धीरे यह अधिकार शास्त्र-मुक्त आलोचकों ने ग्रहण कर लिया, परन्तु तृतीय दशक से फिर यह विश्वविद्यालय के अध्यापकों के अधिकार में आ गई (देखिए, (Five Approaches of Lit. Criticism, p. 17)। इस वाक्य से यही प्रतीत होता है कि स्कॉट को इससे गहरा सन्तोष है कि आलोचना की धुरी अध्यापकों ने सँभाल रखी है। हिन्दी में इस सम्बन्ध में कुमार विमल का स्पष्ट वक्तव्य है कि हिन्दी की नई आलोचना के स्वरूप का कोई भी अनुकरणात्मक सम्बन्ध अंग्रेज़ी साहित्य के न्यू क्रिटिसिज़्म के साथ नहीं है। साथ ही यह आजकल के विश्वविद्यालय में प्रचलित 'एकेडेमिक क्रिटिसिज़्म' से नितान्त भिन्न है। नाम की दृष्टि से नई आलोचना को कुमार विमल उपरम्परित आलोचना, अत्याधुनिक आलोचना या कलाशास्त्रीय आलोचना कहा जा सकता है (देखिए, अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, भूमिका)। बँगला में एकाडेमिक आलोचना का उल्लेख वक्रतापूर्ण ढंग से ही किया जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र, अंग्रेज़ी रोमांटिक तथा विक्टोरिया समालोचना पद्धति के आधार पर जिस आलोचना पद्धति का निर्माण बँगला में हुआ है उसे ही एकेडेमिक कहा जाता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त, कॉलरिज, शेली, पेटर तथा मैथ्यू आर्नल्ड इस एकेडेमिक समालोचना के पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। इस आलोचना पद्धति का पाथेय विश्लेषण है और लक्ष्य सौन्दर्य है। कवि के सृजन की आलोचना करते हुए उसके भीतर एक सुनिर्दिष्ट नियम की क्रियाशीलता का अनुभव करना एवं सृष्टि-कर्म पर इस नियम के सामग्रिक प्रयोग का विश्लेषण करना एवं उसमें से जीवन के सम्पर्क में कवि के वक्तव्य को ढूँढ़ निकालना ही इस आलोचना का क्रियारूप है। सुधीरकुमार दास गुप्त, अतुलचन्द्र गुप्त, विष्णुपद भट्टाचार्य, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, श्रीकुमार बंद्योपाध्याय, सुबोधचन्द्र सेन गुप्त, शशिभूषणदास गुप्त आदि एकेडेमिक आलोचना-गोष्ठी के अन्तर्भुक्त हैं। इन आलोचकों ने ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक समालोचना रीति का बार-बार उल्लेख किया है, किन्तु रसाश्रित सौन्दर्यमूलक आलोचना रीति, जिसे बँगला में नान्दनिक आलोचना रीति भी कहा जाता है, को अपनाना ही इनकी आलोचना का लक्ष्य रहा है। मोहितलाल मजूमदार के अनुरूप कतिपय आलोचकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की अवहेलना कर नवीन साहित्य की नई आलोचना-पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया, परन्तु सेंट्सबेरी, मरे, डाउडन, ब्राडली, टेन, सेंट ब्यूव एवं रेनाँ का पल्ला पकड़े रहने से यथार्थ रूप से नव्य समालोचक नहीं बन सके। यह ठीक है कि एकेडेमिक आलोचक नये आलोचक नहीं हैं परन्तु इससे इनकी समालोचना रीति का मूल्य कम नहीं हो जाता है।

बँगला में शास्त्र-मुक्त आलोचना का बीजारोपण रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था, परन्तु उनकी स्वकीय विशेषताओं के कारण आलोचना के क्षेत्र में वे अननुकरणीय ही बने रहे। वे भी नान्दनिक या रसाश्रित सौन्दर्यवादी आलोचक ही थे, परन्तु रस, सौन्दर्य एवं बृहत् जीवनादर्श—इन तीन मानदण्डों की सहायता से उन्होंने शास्त्र से इतर व्यक्तिनिष्ठ आलोचना (Impressionistic) को ही अधिक महत्त्व दिया। रवीन्द्रनाथ की आलोचना में नव्य आलोचना की केवल इस कड़ी—व्यक्तिनिष्ठ आलोचना-पद्धति का ही उन्मेष

हुआ। उस युग में टेन के प्रभावस्वरूप ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति की बड़ी धूम मची हुई थी, परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यही था कि इस पद्धति के आलोचक साहित्य के मूल्यांकन के स्थान पर उसके ऐतिहासिक विवर्धन की समीक्षा में ही अधिक तत्पर रहते थे। परिणामत: रवीन्द्रनाथ के द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिनिष्ठ आलोचना पद्धति से आलोचना के क्षेत्र में एक उत्साहवर्धक परिवर्तन आया परन्तु यह परिवर्तन बहुत ही सीमित क्षेत्र में ही आविष्ट रहा। कदाचित् इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की रुचि, ज्ञान तथा लेखन-प्रणाली की व्यक्तिनिष्ठता इतनी सुतीव्र होती है कि उसकी आलोचना सर्वबोधगम्यता के सर्वमान्य गुण से हीन 'टाईप' का आकार धारणा कर लेती है। रवीन्द्रनाथ की आलोचना में भी यह दोष उपलब्ध है, परन्तु यह निश्चित है कि नव्य आलोचना की इस कड़ी को प्रश्रय देकर उन्होंने बँगला आलोचना को नयी दिशा दी और नॉन-एकेडेमिक आलोचकों की श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यद्यपि यह भी सत्य है कि उन्होंने साहित्य-तत्त्व विषयक कोई अभिनव मतवाद अथवा सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं की परन्तु उनके कारण ही बँगला की नव्य-आलोचना तत्त्व, व्याख्या तथा विश्लेषण की दृष्टि से सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित हो सकी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस नयी आलोचना या शास्त्र-मुक्त आलोचना की नींव रखी उसका प्रसार मगर उन्हीं के सपक्ष या विपक्ष में किये गए आलोचना के सिलसिले में नये आलोचकों के द्वारा शुरू हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ० आदित्य ओहदेदार ने स्पष्ट कहा है, "हमारे समालोचकों ने आज-तक···उन्नीसवीं शती की कोशिशों के अनुरूप रवीन्द्रनाथ पर कतिपय Bio-critical ग्रन्थ ही लिखे हैं। इस ढंग की ग्रन्थ-रचना परिश्रम-सापेक्ष होने पर भी लेखक की कोई विशेष क्षमता का परिचायक नहीं एवं इस प्रकार की रचना के लिए साहित्य रस-बोध विशेष न रहने पर भी काम चल जाता है।···रवीन्द्र-साहित्य की प्रकृत समालोचना अभी तक शुरू नहीं हुई है।···अंग्रेज़ी में जिसे Practical Criticism कहते हैं, अथवा नयी समालोचना (New Criticism) की जो धारा आज प्रवाहित है, बँगला समालोचना-साहित्य में अभी तक उसका कोई विशेष निदर्शन नहीं मिला है।" (रवीन्द्र-साहित्य समालोचनार धारा)।

वस्तुतः शास्त्रमुक्त आलोचना की दिशा में जिन कतिपय बँगला आलोचकों ने पहले-पहल साहस के साथ कदम रखा था उनमें लगभग सभी 'सबुजपत्र' के लेखक रहे हैं और 'सबुजपत्र' गोष्ठी के विद्वान् माने जाते हैं, परन्तु बुद्धि की मुक्ति और मननशीलता की साधना करने पर भी स्थायी समालोचनाकर्म में इनका योगदान नगण्य है। नॉन-एकेडेमिक क्षेत्र में 'परिचय' पत्रिका का विशेष महत्त्व है। इस पत्रिका के द्वारा ही सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे, बुद्धदेव बसु, आबू सयीद आयूब आदि आलोचक शास्त्रमुक्त आलोचना के प्रसार करने में समर्थ हुए थे।

सुधीन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे ने आई० ए० रिचर्ड्स तथा टी० एस० इलियट की समालोचना पद्धति का विस्तार से विवेचन करते हुए बँगला समालोचना में नवयुग का निर्माण किया। भाषाविज्ञान की सहायता से शिल्प के अंतरंग अर्थात् मनस्तत्त्व का पर्यवेक्षण ही रिचर्ड्स् की आलोचना का लक्ष्य था। इसीको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है "To explore with thoroughness the intricacies of the modes of language as working modes of mind"। भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के इस द्विविध आधार के आश्रय से सत्येन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे ने बँगला समालोचना-क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक (Psychological) तथा प्रकरणमूलक (Formalistic) पद्धति का प्रसार किया। इन दो आलोचना-पद्धतियों में मनोवैज्ञानिक पद्धति का सूत्रपात शास्त्रमुक्त आलोचकों के द्वारा किए जाने पर भी विश्वविद्यालयीय आलोचकों में इसका विशेष आदर हुआ। जीवन के साथ काव्य का पारम्परिक सम्बन्ध स्थापित किए बिना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता से बँगला के शास्त्रमुक्त आलोचकों ने रिचर्ड्स् तथा इलियट की सहायता से जिस मन:समीक्षामूलक समालोचना पद्धति का सूत्रपात किया था बाद में विश्वविद्यालय में वही एकेडेमिक साहित्य समीक्षा का आधार बना। कदाचित् हर्बट रीड, एडमंड विलसन, एफ० एल० ल्यूकस तथा आई० ए० रिचर्ड्स् आदि परम्परावादियों का भी, जिन्होंने मनोविज्ञान को साहित्य समीक्षा का मानदण्ड स्वीकार किया था, इसमें अप्रत्यक्ष सहयोग हो। जो कुछ भी हो, परिचय-गोष्ठी के शास्त्रमुक्त आलोचकों की मनोवैज्ञानिक विवेचना पद्धति बँगला आलोचना के लिए लाभदायक सिद्ध हुई इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

प्रकरणमूलक आलोचना-पद्धति को ही यथार्थ रूप में नई शास्त्रमुक्त आलोचना की आख्या दी जा सकती है। विष्णु दे तथा सुधीन्द्रनाथ दत्त इलियट तथा रिचर्ड्स के प्रभाव-स्वरूप ही बँगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इसका प्रवर्त्तन करने में समर्थ हुए थे, परन्तु पाश्चात्य देश में इस पद्धति का यथार्थ-रूप उद्घाटन करने वाले एम्पसन, ब्लैकमूर, टेट, रैनसम, क्लीन्थ ब्रुक तथा रबर्ट पेन वॅरेन माने जाते हैं और बँगला में भी सुधीन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे के उपरान्त अमिय चक्रवर्ती को प्राकरणिक आलोचना के मूलतत्त्ववेत्ता स्वीकार किया जाता है। प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति के अनुसार साहित्य-समीक्षा के लिए सामाजिक, नैतिक या मनोवैज्ञानिक आधार अनावश्यक हैं, वरन् साहित्य की समीक्षा साहित्य, उसकी भाषा, उसके पाठ एवं अभिव्यंजना के आधार पर ही होती है अर्थात् इस पद्धति के अनुसार साहित्य नान्दनिक निर्मिति (Aesthetic Structure) है। टी० ई० ह्यूम तथा एजरा पाउण्ड के विचारों के आधार पर जब इलियट ने कविता को कवि के व्यक्तित्व तथा अनुभूति से पलायन माना, तब आलोचना के क्षेत्र में कवि के आत्मपक्ष के विश्लेषण के स्थान पर केवल कविता के भाव तथा अभिव्यंजना पक्ष के विवेचन की प्रवणता बढ़ी। सुधीन्द्रनाथ दत्त की आलोचना में प्रकरण-सचेतनता का यह रूप स्पष्ट है। उन्होंने लिखा है, "महाकवि अपनी भाषा का निर्माण स्वयं कर लेता है किन्तु वह भाषा जब अन्तिम रूप लेती है तब उसमें नित्य नैमित्तिक उक्ति-प्रत्युक्ति की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।" (स्वगत, पृ० १४९)। विदेश में एल० सी० नाईट तथा एफ० आर० लेवीस ने मगर इस प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति का घोर विरोध किया। उनका कहना है कि प्रकरणमूलक (Formalistic) आलोचना में साहित्य के केवल एक पक्ष की ही आलोचना होती है; ऐसी आलोचना में साहित्य का सम्पूर्ण रूप (totality) उद्घाटित नहीं होता है। कदाचित् इन विरोधी तत्त्वों से अवगत अमिय चक्रवर्ती ने अपनी प्राकरणिक आलोचना में मध्यम मार्ग अपनाते हुए कहा है, "असली बात तो यह कि आज की काव्यालोचना में टेकनीक अथवा वक्तव्य की ऐकान्तिक निन्दा-प्रशंसा दोनों के मूल में समग्र काव्य के मूल्य विचार की प्रचेष्टा विद्यमान है। समालोचकों का प्रकृत लक्ष्यस्थल आधुनिक काव्य का रूपविधान या विषयवस्तु नहीं—कागज़ में चाहे वे कुछ भी लिखें, साम्प्रतिक बँगला कविता की मूल प्रवणता के सम्बन्ध में वे सचेतन हो उठे हैं। भाव और छन्द की नवीन युग्मता में साहित्य का विशिष्ट रूप दिखाई पड़ रहा है इसको और अस्वीकारा नहीं जा सकता···टेकनीक में परिवर्तन युग-मन के परिवर्तन के साथ कैसे सम्बन्धयुक्त है इसके विश्लेषण का समय आ गया है।" (साम्प्रतिक, पृ० १९)। अमिय चक्रवर्ती के विचार प्रकरण-मूलक आलोचना पद्धति में संशोधन लाने वाले शिकागो स्कूल के विद्वान् ओल्सन, ब्लैकमूर आदि के विचारों से मेल खाते हैं। वस्तुतः शिकागो स्कूल के संशोधनकर्ताओं ने प्रकरणवादी आलोचना के अन्तर्गत काव्य-प्रकरण के विश्लेषण के साथ-साथ उसके नान्दनिक मूल्य का भी विवेचन करना शुरू किया है और इन लोगों के परिश्रम से यह पद्धति नान्दनिक निर्मिति (Aesthetic Structure) का रूप धारण कर सकी है। अमिय चक्रवर्ती ने भी इस संशोधित प्रकरणमूलक आलोचना के आश्रय से कविमानस का सुन्दर परिचय दिया है।

बंगला की शास्त्रमुक्त आलोचना के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक तथा प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति के अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति भी विशेष प्रचलित है जिसे समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति कहा जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में यह आलोचना विश्वविद्यालयीय स्तर पर साहित्य और जीवन से सम्बन्धित तथा इस सम्बन्ध की परिणति मानवीय मूल्यबोध पर आश्रित थी। मैथ्यू आर्नल्ड, आयरविंग बेबिट, एडमण्ड-फ़ुलर, एफ० आर० लेविस आदि के प्रभावस्वरूप नैतिकता के आधार पर साहित्य की जीवननिष्ठ व्याख्या का प्रचलन हुआ था। इस ढंग की व्याख्या की प्रतिक्रिया में बँगला में मार्क्स के द्वान्द्विक भौतिकवाद पर आश्रित शास्त्रमुक्त आलोचकों ने एक नवीन ढंग की समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति का प्रचलन किया, परन्तु नॉन-एकेडेमिक होने पर भी मार्क्स के दर्शन के आधार पर इस पद्धति ने इतना अधिक शास्त्रीय रूप धारण कर लिया कि बंगला के, सही दृष्टि में जो शास्त्रमुक्त आलोचक हैं वे इसके बन्धन में नहीं आए। इस बन्धन के बाहर बुद्धदेव बसु तथा प्रेमेन्द्र मित्र ने बिना किसी दार्शनिक मत या पूर्वाग्रह के साहित्य को सामाजिक परिवेश में स्थापित कर उसका विश्लेषण करते हुए समाज के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन किया है। कला, लेखक तथा सामाजिक परिवेश के योगसम्बन्ध का विवेचन ही इस पद्धति

का आधेय है। बुद्धदेव बसु का कहना है, "मनुष्य दुःखी है, परन्तु उसे मालूम होना चाहिए कि वह दुःखी है, मनुष्य पापी है, किन्तु उसे मालूम हो कि वह पापी है; मनुष्य रुग्ण है, किन्तु उसे पता चले कि वह रुग्ण है; मनुष्य मुमूर्ष है किन्तु उसे मालूम हो कि वह मुमूर्ष है; मनुष्य अमृताकांक्षी है एवं उसे मालूम हो कि वह अमृताकांक्षी है···मगर सब नहीं जानेंगे, जान नहीं सकेंगे, जानना नहीं चाहेंगे; किन्तु कवियों को जानना है। यह ज्ञान ही आधुनिक साहित्य का अभिज्ञान है।" (प्रबन्ध संकलन, पृ० २४२)। शास्त्रमुक्त आलोचक प्रेमेन्द्र मित्र ने भी इसी ढंग से समाजनिष्ठ आलोचना पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है। उनका कहना है, "वास्तविक दृष्टि से साहित्य की सार्थकता उपकरण के प्राचुर्य या वैचित्र्य पर अवश्य ही निर्भरशील नहीं है, किन्तु देश या काल के हृदय का मुकुर जो साहित्य बनना चाहता है, उसका आलोक काफी दूर तक फैल सके, क्या इस ढंग से उसे जलना नहीं चाहिए?" (वृष्टि एल, पृ० १९)। वस्तुतः विलवर स्कॉट के अनुसार प्रेमेन्द्र मित्र भी यह विश्वास करते हैं कि शून्यता में कला की सृष्टि नहीं हुई है; यह केवल एक मनुष्य का कार्य नहीं, मगर एक ऐसे लेखक का कार्य है जो देश या काल से आबद्ध है, जो एक गोष्ठी के प्रश्नों का उत्तर देने वाला उस सामाजिक गोष्ठी का सवाक् अंग है।

बँगला के शास्त्रमुक्त आलोचकों में उपर्युक्त तीन आलोचना-पद्धतियों का प्रसार ही परिलक्षित होता है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना अभी तक वास्तविक रूप से आधुनिक नहीं बन पाई है। सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे तथा अमिय चक्रवर्ती ने प्राकरणिक आलोचना-पद्धति के प्रति सचेतनता दिखाई है, परन्तु पाश्चात्य प्रमुख नव्य समालोचकों ने लेखक को अलगकर साहित्यकर्म की जिस ढंग से व्याख्या की है। अथवा लेखक-मन के अनिश्चित क्रिया-कलाप की व्याख्या की अपेक्षा प्रत्यक्ष वस्तु साहित्य-कर्म के रूप-विश्लेष के प्रति जो आग्रह दिखाया है अथवा साहित्य की संश्लिष्ट संगठनात्मक व्याख्या के प्रति जो गुरुत्व आरोपित किया है, बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना में ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। हाँ, समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति के प्रति शास्त्रमुक्त आलोचक जागरूक हैं। मनोवैज्ञानिक विवेचन-पद्धति को अपनाने में, जो बहुत अधिक एकेडेमिक बन चुका है, ये आलोचक ऐसे ही बहुत अधिक सचेष्ट एवं सक्रिय नहीं हैं। आधुनिक युग की आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति का भी बँगला की शास्त्रमुक्त समालोचना में प्रसार दिखाई नहीं पड़ता है। आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति एक विचित्र प्रकार की पद्धति है जिसमें साहित्य के प्रकरण के सम्पूर्ण अध्ययन के साथ-साथ मानवीय स्तर पर उसके नान्दनिक मूल्यों की पहचान तथा मनोविज्ञान के आश्रय में पाठक-कवि के सम्बन्धों की खोज एवं सर्वोपरि सामाजिक स्तर पर साहित्य के मूल आवेदन मौलिक सांस्कृतिक दृष्टांतों की व्याख्या की जाती है। इस तरह यह ऐतिहासिक भी है क्योंकि प्राचीन, सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के साथ साहित्य का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, मगर इस सम्बन्ध की बात करते हुए ऐसी आलोचना में साहित्य को देश-काल के बन्धनों से मुक्त अनैतिहासिक अर्थात् सर्वकालिक भी स्वीकार किया जाता है। संक्षेप में आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति में साहित्य को प्राचीन मौलिक किसी सारगर्भित तथा मानवीय सांस्कृतिक दृष्टान्तों का विदर्शन रूप स्वीकार किया जाता है। मौड बौडकिन, नौर्थरूप फ्राई, रिचर्ड चेज़, फ्रांसिस फरगेसन, लेसली फिडलर आदि आर्कीटाइपल पद्धति के आलोचक माने जाते हैं। इस पद्धति के प्रति बँगला के एकेडेमिक या नॉन-एकेडेमिक आलोचक अभी तक उदासीन ही हैं। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना में नवीन मूल्यबोध की परख हो रही है, परीक्षण-निरीक्षण चल रहा है और इसीलिए सम्पूर्ण रूप से अभी तक यह नवीन नहीं बन पाई है, परन्तु यह निश्चित है कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना परिणति के पथ पर अग्रसर है—विशेष रसज्ञान के प्रति उसकी यात्रा शुरू हो चुकी है। इस आलोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इस आलोचना-कर्म से यह स्पष्ट हो गया है कि यथार्थ समालोचना बन्धन नहीं है, मुक्ति है; इससे साहित्यकर्म के आस्वादन में पाठक को सहायता पहुँचती है, बाधा नहीं।

बँगला कहानी : विभाजन के बाद

इन्दुमती ओझा

हिन्दी कहानी में स्वतन्त्रता के बाद अनेक प्रतिभाओं ने जन्म लिया। परन्तु, बँगला में १९४७ के पहले की प्रतिभाएँ इतनी प्रबल और तीव्र हैं कि उनके सामने नई प्रतिभाएँ कुछ नई चीज नहीं दे सकी हैं। अभी भी बँगला-साहित्य के पाठक ताराशंकर, प्रेमेन्द्र मित्र, नारायण गंगोपाध्याय को ही पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। नवोदित बँगला-कहानीकारों में समरेश वसु, रमापति चौधरी, जरासंध, शंकर, विमलकर, विमल मित्र, नरेन्द्रनाथ मित्र, गजेन्द्रनाथ मित्र, ज्योतिरीन्द्र नन्दी, अवधूत आदि उल्लेखनीय हैं।

विभाजन ने हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों को बहुत कम प्रभावित किया था। पंजाब और बंगाल में ही विभाजन की भयंकरता साक्षात् दिखाई पड़ी थी। इसीलिए, बँगला-साहित्य में दुर्भिक्ष, साम्प्रदायिक दंगा तथा देश-विभाजन के फलस्वरूप बंगाल के सीमान्त अंचल में जो परिवर्तन आया है, उस जीवन-यात्रा की अनेक कहानियाँ दिखाई पड़ती हैं। साथ ही साथ, कलकत्ता महानगरी के जीवन में इस विभाजन से किस तरह का आंदोलन आरम्भ हुआ और किस तरह व्यक्ति के चिर-संचित विश्वास और आदर्शों को इसने विनष्ट कर दिया है, इसका भी वर्णन सुलभ होता है।

विमल मित्र की कहानी 'तीन नम्बर साक्षी' में यह बताया गया है कि विषम परिस्थिति से हार खाकर व्यक्ति कैसे आत्महत्या करता है। कहानी एक गवाह के मुख से कही गई है। गवाह तथा कहानी के नायक मि० भट्टाचार्य दोनों एक ही डब्बे में यात्रा कर लेते हैं, अतः सहयात्री को ही इस मृत्यु के सिलसिले में गवाह बनना पड़ा है। वह गवाह नम्बर तीन है।

मि० भट्टाचार्य से जो परिचित थे उन्होंने यह गवाही दी कि वे मस्तिष्क-विकृति से पीड़ित थे। तीन नम्बर गवाह, अर्थात् कहानीकार अन्तिम रात्रि में मि० भट्टाचार्य से उसकी जो बातचीत हुई थी उसे बताते हुए कहता है कि—मि० भट्टाचार्य के पिता अंग्रेज़ों के समय वायसराय के पर्सनल सेक्रेटरी थे। इसलिए मि० भट्टाचार्य उच्च शिक्षा प्राप्त करके आई० सी० एस० बनते हैं, परन्तु वे नौकरी नहीं करते। अब भारत स्वाधीन हो गया था। पिता का सारा धन लेकर वे स्कूल खोलते हैं। लेकिन, सद्इच्छा से ही सद्काम नहीं होता। लोगों ने यह अपवाद फैलाया कि स्कूल के नाम से मि० भट्टाचार्य अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

सरकार की ओर से इन्क्वायरी शुरू हो जाती है। किसी को यह विश्वास नहीं होता था कि आई० सी० एस० होकर मि० भट्टाचार्य निःस्वार्थ सेवा कर सकते हैं। किसी ने कहा यह अमेरिकन स्पाई है, तो किसी ने कहा रशियन स्पाई है। इस पर भी स्कूल चलता ही रहा। लेकिन जिस व्यक्ति से मि० भट्टाचार्य ने ज़मीन खरीदी थी, उसने उनके ऊपर दावा कर दिया कि बिना खरीदे ही उन्होंने ज़मीन दखल कर ली है। यह मामला पाँच वर्ष तक न्यायालय में चलता रहा। उधर स्कूल में भी दलबन्दी होने लगी।

मजिस्ट्रेट कहानी सुनते-सुनते ऊबकर पूछते हैं कि गाड़ी में क्या हुआ? क्या ऐसी कोई घटना हुई जिससे यह पता चलता है कि वे विकृत-मस्तिष्क थे? तीन नम्बर साक्षी जवाब देता है 'नहीं', सोते समय उन्होंने एक बात कही थी कि 'Present India' में किसी अच्छे आदमी के लिए स्थान नहीं है। अच्छे आदमियों के लिए यहाँ जीना विडम्बना है।' न्यायालय निःशब्द हो जाता है।

जज ने फैसला दिया : "मि० भट्टाचार्य विकृत-मस्तिष्क के थे, अतः आवेश में आकर उन्होंने आत्महत्या की।"

इस कहानी में तिर्यक् व्यंग्य है। जो व्यक्ति मि० भट्टाचार्य जैसा होगा वह भला विकृत मस्तिष्क का नहीं होगा तो और क्या होगा? कहानी का एक वाक्य कि "Present

India' में अच्छे लोगों का जीना विडम्बना है," इसी व्यंग्य को प्रकट करने के लिए है।

शक्तिमद राजगुरु की कहानी 'अनुशासन' में निष्ठावान् ब्राह्मण 'गौरसुन्दर' का विश्वास कैसे टूटता है और समय के अनुशासन को उसे कैसे मानना पड़ता है, इसका एक यथार्थ उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। गौरसुन्दर तथा गौरांग सुन्दर दोनों भाई स्वच्छन्द जीवन-यापन करने के अभ्यासी हैं। विभाजन के समय गौरसुन्दर किसी तरह प्राण-रक्षा करके, अपने परिवारों के साथ, बेटे के पास कलकत्ते में आते हैं। पुत्र नवेन्दु पिता पर बड़ा नाराज़ होता है कि वे काका को लेकर क्यों आए ? पर गौरसुन्दर ने स्पष्ट कह दिया कि प्राण रहते वे भाई को पृथक् नहीं कर सकते। गाँव का एक दूसरा व्यक्ति भूतनाथ भी बहुत दिनों से कलकत्ते में रहता है। जाति का वह निम्नशूद्र है। उसी की चेष्टा से इन लोगों को रहने का आश्रय मिलता है। ब्राह्मण के आत्माभिमान को चोट लगती है। जिसकी वे कभी छाया नहीं छूते थे, उसी के आश्रय में रहना पड़ता है। परन्तु, भाग्य की विडम्बना ! इससे भी बड़ा आघात उन्हें तब लगता है, जब उनकी लड़की सुमित्रा एक कायस्थ लड़के से विवाह करना चाहती है। पिता कठोर होकर मना कर देते हैं। कुछ दिनों बाद पुत्र नवेन्दु भूतनाथ की लड़की से विवाह कर लेता है जिसके कारण उसे अलग हो जाना पड़ता है। अब गौरसुन्दर से गृहस्थी का भार नहीं चलता। वह पूर्व बंग लौटकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच आता है। छोटे भाई गौर सुन्दर को उसमें से कुछ भी नहीं देता, क्योंकि जीवन में वह बदल गया है। यथार्थ के साथ उसका साक्षात् हो गया है। इन सब कष्टों को सहते हुए भी गौरसुन्दर जी रहा है। लेकिन, भूतनाथ के संबंध को लेकर लोगों का उपहास वह नहीं सह सकता था। इसीलिए वह इच्छामति अंचल की ओर चला जाता है। लेखक फिर दो वर्षों के अंतर की कथा बताता है। इच्छामति, स्टेशन पर आज एक ब्राह्मण भीख माँगता फिरता है—'ब्राह्मणत्व' का, आज भिक्षा का अवलंबन कर, हजारों व्यक्तियों से भिक्षा का प्रार्थी है।" इस तरह गौरसुन्दर तर्कतीर्थ को देशव्यापी परिवर्तन से विक्षुब्ध, नई परिस्थिति के साथ मिलकर चलने में असमर्थ और साक्षात् निराशा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है।

विभाजन के पहले साम्प्रदायिक दंगा तथा उसके प्रभाव ने जीवन में अनेक दृष्टियों से कठोर सत्यों को पहचानने ... सहायता दी। रमापति चौधरी की कहानी 'अंगपाली' ... ही एक कहानी है। विभाजन के गोलमाल में विधर्मी मु... मान सविता को उठाकर ले जाते हैं। मुसलमानों के घ... ही उसने आविष्कार किया कि वह गर्भवती है। य... अवांछित, अयाचित सन्तान होगी, फिर भी, भावी स... के लिए उसका मन मधुर स्वप्न से भर जाता है। उसे मा... पिता, भाई-बहन सबकी याद आती है। लेकिन, इस ... की व्यर्थता को अनुभव करके वह चुप हो जाती है। ... समय उसे एक पुत्र प्राप्त होता है। बच्चा जब आठ मही... का होता है, तभी भारत की पुलिस सविता का उद्धार कर... है और उसे माँ के पास पहुँचा देती है। सविता जानती ... कि इस बच्चे के साथ घर में उसका स्वागत नहीं हो... इसीलिए वह जाना नहीं चाहती थी। लेकिन, पुलिस ... मानती। सविता संकोच के साथ घर में आती है। माँ ... भाव से उसका स्वागत करती है। छोटी बहन बच्चे ... प्रसन्न होकर खिलाती है। सविता की माँ भी उस बच्चे ... प्यार करने लगती है। संकोच और लज्जा का वातावरण ... होता है और सविता के मन का तनाव भी दूर हो जाता है ... श्रान्त सविता सो जाती है। आधी रात को नींद खुलने ... उसने देखा कि अस्वस्थ माँ नहाकर निकल रही है। ... भाई के पूछने पर माँ जवाब देती है— बिना नहाए कैसे ... क्योंकि दिन-भर बच्चा उनके पास था, और वह तो ... लोगों का बच्चा नहीं है। सविता स्तब्ध रह जाती है। ... स्थितिवश, माँ भी अपनी बेटी के बच्च से घृणा करने ल... है। लेकिन, ऊपर से उसे प्यार करती रहती है। इस क... सत्य का आभास सविता को होता है।

बँगला की ऐसी कहानियाँ, जो विभाजन और सा... दायिक दंगों से सम्बन्धित हैं, प्रायः यथार्थवादी धरातल ... निकली हैं, इसलिए इनकी सम्वेदनशीलता अत्यन्त तीव्र है।

ग्राम-केन्द्रित बँगला कहानियाँ

बँगला कहानियाँ आरम्भ से ही ग्राम-केन्द्रित हैं। बँ... के प्रायः सभी प्रमुख कहानीकार ग्राम्य जीवन के कला... हैं। रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, विभूतिभूषण, ताराशंकर ... सभी लेखकों ने ग्राम्य जीवन को सहानुभूति और आत्मी... की दृष्टि से देखा है। हिन्दी में प्रेमचन्दजी ही अकेले ...

क्षेत्र के लेखक थे। उनकी दृष्टि मुख्य रूप से किसानों तथा अन्य ग्रामीणों की सामाजिक बुराइयों की ओर गयी है। लेकिन, बँगला कहानीकारों ने ग्रामीण जनता के शोषित रूप के अतिरिक्त उसके गार्हस्थ जीवन के मधुर पक्ष की ओर भी ध्यान दिया है। उनकी भावनाओं की गहराई को परखा है। बँगला कहानियों में आरम्भ से ग्रामीण जीवन को अधिक महत्व दिया गया था, जिसके प्रतिक्रिया-स्वरूप १९३६ के बाद 'पल्लीकेन्द्रित' कहानियों के बदले नागरिक जीवन की अनेक कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं। लेकिन, आज भी बँगला-लेखक पल्लीजीवन की ओर ही झुकते हैं। स्वतन्त्रता के बाद की बँगला-कहानियों में और पहले की कहानियों में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु आज की बँगला कहानियाँ, पिछले खेमे के अतिरिक्त भावोच्छ्वास या मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से मुक्त हैं।

नरेन्द्रनाथ मित्र की कहानियाँ वस्तुनिष्ठ हैं। वे यथार्थवादी धरातल पर लिखी गई हैं। उन्होंने ग्राम्य जीवन के पारिवारिक सहज रूप को अपनी अनेक कहानियों का विषय बनाया है। सहज जीवन-यात्रा के प्रति आकृष्ट होकर आप जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं तथा हृदय-संघातों का वास्तविक चित्रण उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए नरेन्द्रनाथ की कहानी 'योध' को लिया जा सकता है। इसमें अपरूप तथा स्वरूप दो भाइयों की कहानी वर्णित है। वे बढ़ई हैं। बड़े भाई अपरूप के लड़के की बीमारी के समय नारियल तोड़ते समय स्वरूप गिर जाता है, जिससे उसके दोनों पैर नष्ट हो जाते हैं। अपरूप तथा उसकी पत्नी मल्लिका दोनों ही स्वरूप की बहुत सेवा करते हैं और स्वरूप के कष्ट को दूर करने की कोशिश करते हैं। मल्लिका और स्वरूप के सहज भाभी-देवर सम्बन्ध से घर जगमगाता रहता था। स्वरूप दिन-भर बैठे-बैठे सूक्ष्मकारु कार्य करता रहता था। मल्लिका गृहस्थी के काम के बीच बीच में उसको छेड़ती रहती थी। लेकिन इस सहज जीवन में भी एक दिन स्वरूप को यह अनुभव होता है कि वह व्यर्थ ही इतना श्रम करता है। उसका अपना कोई नहीं है। भाई-भाभी केवल ऊपरी लाड़ से फुसलाकर उससे काम निकाल लेते हैं। उस दिन से उसके मन में अजीब परिवर्तन आता है। वह कम बोलने लगता है। मल्लिका से भी अब कम मजाक करता है। रात-रात जागकर काम करता है। इसके फलस्वरूप वह बीमार पड़ जाता है। क्रमशः बीमारी बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। मरते समय अपने बड़े भाई से अपूर्ण मूर्ति को पूर्ण करने के लिए अनुरोध करता है। मृत्यु के कुछ दिनों बाद अपरूप उसके कमरे में जाकर कपड़ा हटाकर जो मूर्ति देखता है, वह और किसी की नहीं, मल्लिका की ही होती है। इस कहानी में नरेन्द्रनाथ मित्र ने यह बताने की चेष्टा की है कि अपने एकान्त जीवन में भाभी का ही एकमात्र स्नेह उसने पाया था। अन्तिम समय तक उसी स्नेह को मूर्त-रूप देने का प्रयत्न वह करता रहा है। इस कहानी में कोई मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता या भावोच्छ्वास नहीं है। लेकिन हिन्दी कहानियों की जो वस्तुनिष्ठ दृष्टि है, उसका भी इसमें अभाव है।

प्रेम-कहानियों का यथार्थ

इस युग की अधिकांश कहानियों में एक नैराश्य-प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। व्यक्ति के परम्परा-प्रथित आदर्श तथा विश्वास कैसे टूटते हैं, कैसे यथार्थ में परिवर्तित होने लगते हैं, यही इन कहानियों का विषय है। इस युग का यथार्थ-बोध पिछले खेमे के यथार्थ-बोध से सशक्त नहीं कहा जा सकता। पिछले खेमे के प्रतिनिधि कहानीकार प्रेमेन्द्र मित्र में यह यथार्थ-बोध सन्तुलित रूप में दिखाई पड़ता है। इस युग में जीवन के अन्य क्षेत्र में, जैसे आर्थिक क्षेत्र में, धन के क्षेत्र में, यथार्थ-बोध पर्याप्त तीव्र है। परन्तु जहाँ तक प्रेम-कहानियों का सम्बन्ध है, ये भावोच्छ्वास से मुक्त नहीं हो पाई हैं। 'नीरजा' विमलकर की एक प्रेम-कहानी है, जिसमें यथार्थ के आघात से व्यक्ति के प्रेम का स्वप्न टूट जाता है। आज के युग में भाव-विभोरता का कितना स्वल्प मूल्य है, यह इस कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। नायक के मतानुसार प्रेम मृत्यु को जीत सकता है। बचपन में नायक ने सौमति की कहानी सुनी थी। सौमति की प्रेयसी की मृत्यु हो गई। सौमति रथ का पीछा करते-करते यमराज के स्थान में पहुँचा। यमराज ने कहा—मृत्यु जिसे एक बार ले लेती है, उसको वापस नहीं देती। उसकी शक्ति के सामने मनुष्य की सभी शक्तियाँ हार मान जाती हैं। पर सौमति ने कहा—प्रेम मृत्यु पर भी विजयी होता है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के लिए एक तराजू मँगाया जाता है। एक पलड़े में लड़की का मृत शरीर रखा जाता है दूसरे में सौमति का प्रेम। प्रेम का पलड़ा भारी

हो जाता है। नायक के मन में भी प्रेम का यही आदर्श है। वह नीरजा से बड़ी आशाओं के साथ विवाह करता है। लेकिन घमण्डी तथा उद्दंड नीरजा उसके प्रेम के स्वप्न को साकार नहीं कर पाती। यहाँ तक कि वह घर छोड़कर अन्य पुरुष के साथ चली जाती है। नायक भी किसी अन्य नगर में चला जाता है। अनेक वर्षों बाद दोनों में भेंट होती है। नीरजा किसी अमीर की लड़की की सेविका के रूप में इस नगर में आई है। रात को वह देख भी नहीं पाती है। परन्तु नायक को नीरजा को इस प्रकार देखकर खुशी नहीं हुई। बल्कि वह सोचने लगा कि उसे उस मृत नीरजा अथवा उसके अतीत की नीरजा को पाने के लिए न जाने कितना भटकना पड़ेगा, क्लेश उठाना पड़ेगा। कहानी में नायक के प्रेम का स्वप्न टूटता है। लेकिन फिर भी प्रेम का एक आदर्श रूप इस कहानी में दिखाई देता है, एकांगी प्रेम का। इस तरह की आदर्शात्मक प्रेम-कहानियाँ दो-तीन दशक पहले की कहानीकारों की सृष्टि में मिलती हैं।

वाणीराय की कहानी 'मीडिया' में अनेक आधुनिक तत्त्व विद्यमान हैं। मीडिया ग्रीक पुराण की नायिका है, जिसने अपने पति से बदला लेने के लिए अपनी सन्तानों की हत्या कर डाली थी। मीडिया का वही प्रतिहिंसात्मक रूप आज भी नारी में विद्यमान है। समय और अवसर पाते ही नारी का वह रूप जाग्रत हो जाता है। लेखिका का कथन है—"अस्पष्ट विस्मृति के तट से आज भी मीडिया की अशान्त आत्मा वर्तमान को छूना चाहती है। आज भी नारी-प्रेम के लिए सर्वस्व-त्याग करना जानती है। आज भी वह प्रतिशोध लेना नहीं भूली है। सहस्र युग बीत जाने पर भी विश्व-नारी में मीडिया चिर-जागृत है।" इस कहानी में कंका नायिका है और वह उसी मीडिया का ही प्रतिरूप है। कंका हिस्ट्री (ऑनर्स) में प्रथम आई थी। अब वह हिस्ट्री में ही एम० ए० कक्षा में अध्ययन करने आती है। उसका दीप-शिखा की तरह उज्ज्वल रूप, तीक्ष्ण कजरारी दीप्तिमान आँखें सबको आकर्षित करती हैं। जयन्त एम० ए० (फ़ाइनल) इंगलिश का लड़का है। पढ़ने में कमज़ोर, सुन्दर, खेलने में तेज़ प्रकृति का है। कंका उसकी ओर आकर्षित होती है और उसकी पढ़ाई में सहायता करती है। उसकी सहायता से जयन्त द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाता है। परन्तु कंका की आशा के विपरीत उसे पता चलता है कि जयन्त उससे विवाह नहीं कर सकता, क्योंकि वह ब्राह्मण है, कंका कायस्थ है। कंका इस समाचार के बा[illegible] जयन्त से अन्तिम भेंट करती है और उसको बताती है कि [illegible] कायस्थ-कन्या नहीं है, बल्कि चांडाल-कन्या है। चांडाल है[illegible] पर भी गाँव में उसका बाप ज़मींदार था। वह एक ब्राह्[illegible] कन्या को चाहता था। कंका की माँ ने जब इस विषय [illegible] आपत्ति उठाई तो क्रोध में आकर उसने उसकी हत्या कर दी[illegible] तब से उसका पिता अण्डमान में है। बूआ और फ़ूफ़ा को सा[illegible] सम्पत्ति देकर, कंका को मिशनरी स्कूल में छोड़कर वह च[illegible] गया है। तभी से कंका मिशनरियों के साथ बड़ी हुई है। कं[illegible] की यह कथा सुनकर जयन्त के लिए उससे विवाह क[illegible] असम्भव हो जाता है। वह उससे अपना प्रेम-पत्र माँगता है[illegible] पर कंका कहती है कि पत्र तो उसने फाड़ डाला है। कं[illegible] जयन्त से यह भी कहती है कि वह उसकी भावी पत्नी [illegible] विवाह के दिन देखना चाहती है। विवाह के दिन कंका [illegible] सजती है, काला वस्त्र पहनती है और काले वस्त्र में विद्[illegible] सी चमकती है। अपने साथ एक छोटा सूटकेस लेकर [illegible] जयन्त की नववधू को देखने जाती है। वहाँ पहुँचकर वह [illegible] वधू के मुख पर एसिड फेंककर ही शान्त नहीं होती, ब[illegible] जयन्त द्वारा लिखित सारे प्रेम-पत्रों को भी वधू को दे[illegible] चली जाती है। इस प्रकार वह प्रेम का प्रतिशोध लेती है।

यह कहानी प्रकृतिवादी धरातल पर लिखी गई है[illegible] सभ्यता के नीचे जो आदिम मनोवृत्ति है, उसको उभारने [illegible] चेष्टा की गई है। कंका के शिक्षित और सभ्य होने पर [illegible] उसमें वही प्रवृत्ति प्रधान है, जो मीडिया में थी। कहा[illegible] अत्यन्त कलात्मकता के साथ प्रस्तुत की गई है।

इसी प्रकार नवेन्दु घोष की 'तृष्णा' कहानी में भी [illegible] की उत्कट तृष्णा का रूप प्रदर्शित है। बिहारी ड्राइवर वासुदे[illegible] पूना में एक महाराष्ट्रीय लड़की गंगा को प्रेम करने ल[illegible] है। गंगा का बाप लुहार है। वह वासुदेव को इस धृष्टता [illegible] लिए खूब मारता है और उसके मालिक से शिकायत भी [illegible] देता है। मालिक वासुदेव को छुड़ा देने की धमकी भी देते है[illegible] परन्तु गंगा का आकर्षण उसके लिए इतना तीव्र है कि वा[illegible] देव सब-कुछ सहकर भी उससे प्रेम करता रहता है। एक दि[illegible] गंगा घर से गायब हो जाती है। रात को वासुदेव की मा[illegible] किन स्टोर में गंगा को पाती है। मालकिन ने समझ लिया [illegible] वह गर्भवती हो चुकी है। स्त्री-सुलभ सहानुभूति से उन[illegible] हृदय द्रवित हो जाता है और वह वासुदेव और गंगा को [illegible]

ही को गाड़ी में चढ़ाकर घर भेज देती है। इस कहानी में स्त्री-पुरुष के जैविक आकर्षण का बड़ा ही सूक्ष्म निदर्शन किया गया है।

स्वाधीनता के उपरान्त कुछ लेखकों में यथार्थ-बोध की भावना तीव्र रूप से व्यक्त हुई है। ज्योतिरीन्द्र नन्दी की कहानियाँ ऐसी ही हैं। 'टैक्सीवाला' कहानी में एक टैक्सीवाले का अनुभव चित्रित है। टैक्सी वाला एक सुन्दर और सम्भ्रान्त लड़की को अपनी टैक्सी में बैठाता है। लड़की की बातचीत से यह पता चलता है कि पति से उसकी पटती नहीं है। वह अपनी माँ के यहाँ से पति महीतोष के घर जा रही है। महीतोष के घर पहुँचने पर टैक्सीवाला देखता है कि वह अपमान करके लड़की को भगा देता है। लड़की उसी टैक्सी में लौट आती है। टैक्सीवाले का मन लड़की के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। लड़की फफककर रो उठती है। फिर टैक्सीवाला पूछता है—"कहाँ जाना है?" लड़की के इस कथन से कि वेश्या का क्या कोई घर होता है, टैक्सीवाले की सारी सहानुभूति तिरोहित हो जाती है। वह पूछता है—किराए के लिए पैसे हैं कि नहीं? और 'नहीं हैं' जानकर टैक्सीवाला उसे उसी स्थान पर उतार देता है। जिस लड़की के लिए टैक्सीवाले के मन में इतनी सहानुभूति उमड़ रही थी, उसी के लिए वह इतना निष्करुण हो जाता है और अन्त में कहता है—"बिना उसकी ओर देखे मैं फर्राटे से गाड़ी चलाकर सर्कुलर रोड पर आ गया। तेल नहीं था, पानी था। इसीलिए ट्राउजर से हाथ पोंछने में मुझे असुविधा नहीं हुई।" तेल नहीं था, वाक्य से लेखक यह संकेत कर देना चाहता है कि उस स्त्री के लिए उसके मन में कोई स्नेह नहीं था, केवल थोड़ी-सी आर्द्रता थी, जिससे अनायास ही उसको पोंछ-फेंकने में असुविधा नहीं हुई। इस कहानी में यथार्थ का बड़ा निर्भीक चित्रण हुआ है।

प्रयोग

अज्ञेय की 'जयदोल' जैसी प्रयोगशील कहानियाँ भी बंगला-साहित्य के इस युग में कुछ मात्रा में दिखाई पड़ती हैं। 'आरो एक शरीर' में नारायण गंगोपाध्याय ने यह दिखाया है कि श्यामली, जो अपने को सदा पुरुष से दूर रखती है और पुरुष से घृणा करती है, वही अपनी सखी सुधा के पति के पत्र को पढ़कर विचित्र अभाव का अनुभव करती है। एक दिन जब सुधा के पति उसके यहाँ मिलने आने वाले थे, तो वह अनजाने में बहुत अधिक सज जाती है। अकेली उन दोनों की प्रतीक्षा करती हुई उसको एक अद्भुत स्वप्न-सा दिखाई देता है। उसे लगता है कि उसके शरीर से एक और शरीर उत्पन्न हो रहा है। और वह शरीर नदी के पार चला जा रहा है। उसको आश्चर्य होता है कि ऐसी अद्भुत चिन्ता क्योंकर उसके मन में आई। यह चिन्ता या स्वप्न बार-बार उसके मन में आने लगा। इस प्रकार स्वप्न-माध्यम से नारी के मातृत्व की स्वाभाविक इच्छा प्रतीकात्मक रूप में श्यामली के मन में आई है। श्यामली के बाल्य-जीवन का कटु अनुभव, उसके मन में पुरुष के प्रति घृणा-भाव का पोषण करा रहा था। लेकिन, मातृत्व की कामना उसके अन्तर्मन में दबी हुई थी। वही प्रतीक बनकर एक और शरीर के रूप में श्यामली के चेतन को उद्वेलित करती है। इस कहानी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। कहानी चेतन और अवचेतन मन की स्थितियों का वर्णन करती है।

प्रयोग की दृष्टि से रमापद चौधरी की कहानी 'तीतर रुदनेर माठ' (तीतर रुदन का मैदान) भी उल्लेखनीय है। इसमें कल्पना और स्मृति दोनों को लेखक ने बड़े कौशल से एक साथ सजाया है। अरुणिमा तथा असीमेन्दु की असफल प्रेम-कहानी को सतीश स्मरण करता है। असीमेन्दु के दिवंगत होने पर अरुणिमा का विवाह अन्य के साथ हो गया था। असीमेन्दु की याद का रूप उसकी कल्पना में है। बहुत दिनों बाद अरुणिमा अपने पति तथा बच्चे के साथ तीतर रुदन का मैदान, जो एक स्टेशन है, पर आने वाली है। अरुणिमा की प्रतीक्षा करते-करते सतीश सोचता है कि अरुणिमा उससे कैसे मिलेगी? उसका पति कैसे उससे हैण्डशेक करेगा, उसका बच्चा कैसे हँसेगा, आदि। फिर वह सोचता है कि वह अरुणिमा को एक दिन एकान्त में पाकर उसे असीमेन्दु के विषय में बतायेगा कि वह एक्सिडेंट से नहीं मरा था, बल्कि जान-बूझकर उसने आत्महत्या की थी। असीमेन्दु सतीश के साथ ही पढ़ता था। वह बहुत धनी घर का लड़का था। अरुणिमा से प्रेम करने के कारण, पिता ने उसे त्याज्य पुत्र घोषित कर दिया था। सतीश की चेष्टा से इसी तीतर रुदन के मैदान में उसे भी नौकरी मिल गई थी। घर-द्वार सजाकर असीमेन्दु अरुणिमा से विवाह करने कलकत्ता जाता है, परन्तु पता नहीं क्यों, बिना विवाह के ही लौट आता है। सतीश के बहुत

पूछने पर भी वह कुछ नहीं बताता। सात दिन बाद उसके पास एक पत्र आता है। वह पत्र क्या था, सतीश नहीं जानता, लेकिन उसी दिन पहाड़ तोड़ने के लिए डायनामाइट लगाने के पहले, खतरे की घंटी बजने के बाद भी असीमेन्दु उधर जाता है और इस प्रकार आत्म-हत्या करता है। रिकार्ड में लिखा जाता है—एक्सिडेंट।

अरुणिमा को इस कहानी का अंतिम भाग पता नहीं है। सतीश सोचता है कि वह जब अरुणिमा को इस विषय में बतायेगा तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। वह सोचता है, शायद अरुणिमा भी स्वस्थ एवं धनवान पति को प्राप्त कर सुखी नहीं है। वह हवा-पानी बदलने वहाँ आ रही है। शायद उसकी बीमारी बीमारी नहीं है, है आत्म-निःशेष। इस प्रकार इस कहानी में मध्यवर्गीय समाज के असफल प्रेम का एक मार्मिक चित्रण है। जीवन की सहजता के नीचे कितनी व्यथा और कितनी तड़प हो सकती है और उसे कैसे निःशब्द सहना पड़ता है, वह इस कहानी में अत्यन्त स्पष्ट है। यद्यपि तीव्रता की दृष्टि से यह कहानी पिछले खेमे की कहानियों से अधिक तीव्र अनुभूति नहीं देती, लेकिन शैली की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग है।

समरेस वसु की कहानी 'वालीर झड़' (रेत का तूफान) आधुनिक मनोवृत्ति से निष्पन्न कहानी है। इसमें एक मामूली-सी गलती के कारण नायक कैसी बेचैनी का अनुभव करता है, इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। शिवनाथ तथा सुलता, पति-पत्नी गर्मी के दिनों में दार्जिलिंग जाते हैं। 'संकरी गली घाट' नामक स्टेशन में रेत का तूफान आता है जिससे शिवनाथ अपनी पत्नी के बदले लीला नामक स्त्री को अपनी पीठ से चिपकाकर रास्ता पार करता है। इस गलती को वह सुलता से कह नहीं सकता जिसके कारण उसके मन में एक तरह का आच्छन्न भाव रहता है। दार्जिलिंग में लीला तथा उसके पति भी पहुँचते हैं। शिवनाथ एक दिन लीला को अकेले पाकर क्षमा-याचना करता है। और उसके बाद उसकी बेचैनी दूर हो जाती है। कहानी में बड़ी कलात्मकता के साथ इस बेचैनी का वर्णन किया गया है।

कुछ अति-आधुनिक बंगला कहानियाँ धार्मिक जीवन से सम्बन्धित हैं। धार्मिक जीवन का इनमें केवल आडम्बर के रूप में ही चित्रण मिलता है, लेखक की सहानुभूति धर्मनिष्ठ चरित्रों के प्रति नहीं है, बल्कि इन धर्मनिष्ठ चरित्रों की आलोचना ही इनका उद्देश्य है। 'अवधूत' की कहानि‍ तान्त्रिक-साधना पद्धति के अन्तर्निहित बीभत्स और भया रस का उद्घाटन हुआ है। अवदमित प्रवृत्ति के पीछे अवचे की यौन-प्रवृत्ति का प्रक्षेप बड़ी सूक्ष्म दार्शनिकता तथा क त्मकता के साथ किया गया है। कहीं-कहीं रुचिहीनता दृष्टिगोचर होती है। उनकी 'पियारी' तथा 'दावानल' ही कहानियाँ हैं। 'पियारी' कहानी में एक शिष्य द्वारा गुरुमहात्मा की कुकीर्ति का उल्लेख है। इसमें तथाकथि महात्माओं के मिथ्या-अभिमान, आराम का मोह, तथा अ किक शक्ति के आडम्बर पर तीव्र व्यंग्य है। 'दावान कहानी में आचारवान ब्रह्मचारी चतुर्भुज त्रिवेदी महाशय मनोविश्लेषण किया गया है। ब्रह्मचारीजी के बगल के क में भाई तथा उसके परिवार के लोग रहते हैं। रात को प्र चांचल्य के गुंजन से ब्रह्मचारीजी के मन में कुछ उलट-पु होने लगती है और क्रमशः उनमें मानसिक परिवर्तन होने लगता है। उसे रात को छिपकर, दरिद्र भारद्वाज प पत्नी के दाम्पत्य-सम्भोग-लीला के दर्शन से मानस तृ मिलने लगी। इस दरिद्र परिवार के भरण-पोषण का वे अपने ऊपर ले लेते हैं और परोक्ष रूप से अपने काम तृप्ति करने लगते हैं। परन्तु यह छद्मवेशिनी आत्म-मर्य एक दिन भारद्वाज-पत्नी के कठोर सत्य भाषण से धूलि-लु हो जाती है। इस तरह के धर्म-जीवन से सम्बन्धि कहानियाँ बँगला-साहित्य में अब कम लिखी जाती हैं। द्वां चन्द्र शर्माचार्य तथा आशुतोष मुखोपाध्याय की कुछ क नियाँ इस विषय से सम्बन्धित हैं।

'जरासन्ध' एक नवीन विषय लेकर बँगला कथा-साहि में आये हैं। जेल जीवन ही इनकी कहानियों की विषयव है। आपकी दृष्टि में जेल मानव-प्रकृति की सर्वापेक्षा तं दाह्य उपदान-समूह की संग्रहशाला है। यहाँ की वन्य, दु प्रकृति, नियतिलाञ्छित करुणा, असहाय अनुशोचना तीव्र रूप दिखायी पड़ता है। 'दागी', 'आलादा जात' ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनमें उदार मानवतावादी दृष्टि से चरित्रों को देखा गया है। जरासन्ध की वर्णन शैली वना मन के अन्तस्तल तक दिखा देती है। लेकिन, मौलिकता अभाव में आपकी कहानी, उपन्यास सभी एक जैसी शैली विकसित होते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रसिद्ध उपन्यासकार 'शंकर' की कहानियाँ भी व्यक्ति

कर्मजीवन की अभिज्ञता पर आधारित हैं। इनकी सभी कहानियों में नायक (मैं) एक ऐसा व्यक्ति होता है जिस पर सब लोग विश्वास करके, उसे अपनी-अपनी गाथा सुनाते हैं। 'शंकर' की कहानियों में भी एकरसता है।

कला की दृष्टि से इस युग की बँगला कहानियों में कुछ नवीन परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। पिछले खेमे के प्रेमेन्द्र मित्र, ताराशंकर आदि की कहानियाँ इतनी अधिक विकसित थीं कि उससे आगे बढ़ने में ये कहानीकार अक्षम हैं। परन्तु यथार्थ को और भी सशक्त रूप में पकड़ने के लिए इस युग के कथाकार शैली को सहज और आडम्बरहीन बनाते दिखाई पड़ते हैं। भाषा सहज और सरल हो गयी है। उसमें चित्रात्मकता और बिम्बात्मकता की शक्ति अधिक है। 'संकेत' शैली की सूक्ष्मता बँगला कहानी में भी हिन्दी-जैसी ही मिलती है। नरेन्द्रनाथ मित्र की 'श्वेत मयूर' में से तथा वाणीराय की 'मीडिया' में से इसके अनेक उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं।

परन्तु काव्यात्मक भाषा का प्रयोग अभी भी बँगला-लेखक छोड़ नहीं पाये हैं। मानों यह बँगला-लेखकों के खून में समा गया हो। पिछले खेमे के प्रेमेन्द्र मित्र, अन्नदाशंकर तथा प्रमथ चौधरी आदि कुछ लेखक थे, जिन्होंने इस काव्यात्मकता से अपने को मुक्त किया था। इस युग में फिर से काव्यात्मकता की अधिकता दिखाई देने लगी है। नरेन्द्रनाथ की 'श्वेत मयूर' कहानी का एक उदाहरण दर्शनीय है—"दुर्बोध भाषा के अन्तराल में आज जिस प्रणय-भाषण ने जन्म पाया है, वह चिरकाल के लिए विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायेगा।" लेकिन साथ ही सहज और सरल भाषा का भी प्रयोग दर्शनीय है—"कुएँ से एक लड़की पानी खींच रही है। उसकी चूड़ी की खनखनाहट सुनाई दे रही है। बाल्टी भर तृष्णा का पानी। पानी की तृष्णा। लेकिन यही तृष्णा क्या मनुष्य की अन्तिम तृष्णा है? क्या इससे भी अधिक मर्मघाती कोई अन्य तृष्णा नहीं है? और इन अन्तहीन तृष्णाओं का नाम ही क्या जीवन नहीं है?"[१]

लोक-कथा तथा पुराण-कथा के माध्यम से कहानी कहने की शैली बँगला में भी दिखायी पड़ती है। 'निरजा' कहानी में प्रेम का स्वरूप प्राचीन कथा के आधार पर दिखाया गया है। 'मीडिया' में भी यही शैली अपनायी गई है। मुख्य कथा की गति में ये पुरानी कथाएँ तीव्रता प्रदान कर देती हैं, और वे एक-दूसरे को छूती हुई चलती हैं, पुराण-कथा का टूटा हुआ सूत्र अनायास फिर से चालू हो जाता है, और इस प्रकार मुख्य कथा की संवेदना को तीव्र कर देता है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त की कहानियों में नये प्रयोग के लिए आग्रह अवश्य दिखायी पड़ता है। शैली तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रयोग का आग्रह स्पष्ट है। कहानीकारों ने जीवन को देखने और उसको ग्रहण करने की दृष्टि ही बदल दी है। उन्होंने अपनी गहन अनुभूति से जो कुछ नयापन देखा और पाया है उसे ही अपनी कहानी में स्वर देना चाहा है। लेकिन, अभी भी उनका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। इसलिए, इन भटके हुए, नवीन को ढूंढ़ते हुए कहानीकारों की कहानियों की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराकर ही हम अपने मन्तव्य की इतिश्री मान लेंगे।

१. नरेन्द्र घोष, तृष्णा, अणिमा, सन् १९६७ ई०।

प्रासंगिकी

समकालीन कविता : एक दृश्यालेख

अशोक वाजपेयी

कवियों ने जो आलोचना लिखी है उसे लेकर उनके द्वारा अक्सर यह कहा जाता रहा है कि वह उनके बुनियादी कामों में से नहीं बल्कि आवद्धर्म है। इस बात में कुछ सफ़ाई देने, कुछ अपना बचाव करने का-सा भाव है हालाँकि ज़्यादातर नये काव्यमूल्य, धारणाएँ और प्रतिमान कवियों की लिखी आलोचना से ही स्पष्ट और विकसित हुए। आलोचना को अपने लिए आवद्धर्म मानने की एक वजह शायद यह भी रही है कि कवि का एक आग्रह आलोचना को दूसरे दरजे का काम मानने का रहा है। यह समकालीन आलोचकों के ज़्यादातर दकियानूस, विपन्न और काहिल होने का दुष्परिणाम था। इस झमेले में यह बात भुला दी गई कि आलोचना भी मनुष्य की हालत को देखने, समझने और अपनी अस्मिता और अभिव्यक्ति की खोज का एक उत्कट माध्यम हो सकती है।

आलोचना के बारे में मेरी यही धारणा है और जहाँ तक बन पड़ा है समकालीन कविता को समझने-बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने अहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की मैंने कोशिश की है। इस कोशिश के पीछे इस खोज का अचरजभरा सुख भी है कि कविता, भाषा, रचनात्मक संवेदना की हालत की पड़ताल अपने-आप समकालीन मनुष्य की हालत की समझ और पहचान की ओर ले जाती है। विज्ञान, प्रविधि, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के भयावह आतंक के बावजूद, जिनके रहते रचनात्मक शब्द की स्थिति आधुनिक समाजों में अवमूल्यित होती जा रही है, कविता मनुष्य की विश्वसनीय और समावेशी परिभाषा है। निराला ने कहा था कि गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है। नई कविता ने गद्य के नज़दीक आकर उससे गहरी आत्मीयता स्थापित कर अ[...] को जीवन संग्राम की उतनी ही उद्दाम सहज और उत्ते[...] भाषा बना लिया है जितनी समकालीन गद्य की है।

किसी भी समय की महत्त्वपूर्ण कविता अपने समय [...] साक्ष्य हो सकती है या फिर अपने समय में सीधे हिस्सा ले[...] जूझती-उलझती रचना हो सकती है। यह भी ज़रूरी नहीं [...] कि अपने समय का, उसके तनावों-दबावों और दृष्टियों [...] कविता सीधे-सीधे खुला बखान करे। आलोचना के लि[...] यह एक बुनियादी समस्या है कि वह कैसे अपनी रुचि [...] बिना उसके केन्द्रहीन हुए इतनी लचीली और समावे[...] बनाए कि उससे कई तरह की कविताओं, काव्य-दृष्टियों [...] मूल्यों का सहानुभूति लेकिन दृढ़ता के साथ सामना किया [...] सके। रुचि की कोई भी सँकरी दकियानूसी आलोचना [...] सम्पर्क रचनाओं की सजीव वास्तविकता से तोड़कर उसे [...] अप्रासंगिक परिपाटी में बदल देती है।

लेकिन रुचि के लचीलेपन का अर्थ निरी तात्कालिक[...] से चिपटकर रह जाना नहीं है। ऐन इस समय हमारे [...] नितांत सम-सामयिकता का ऐसा आतंक है और सारे ऐति[...]हासिक विवेक को ताक पर रखकर नितान्त नये का ऐ[...] कनफोड़ नगाड़ा बजाया जाता है कि यह बात भुला दी जा[...] है कि हमने उत्तराधिकार में भी कुछ पाया है, कि हमसे पह[...] भी मनुष्य ने अकेलापन और अपने को कागार पर मह[...] किया है कि निराशा, सन्देह और अनास्था पहले भी मनु[...] को सता चुके हैं कि मनुष्य ने पहले भी भयावह सकलीकर[...] निरर्थकता और संप्रास के विरुद्ध संघर्ष किया है। बावजू[...] बहुत सारे बुनियादी अन्तरों के बीसवीं सदी का भारती[...] मनुष्य एकदम अद्वितीय और विविक्त है और इसलि[...] मनुष्यता के परम्परागत इतिहास से एकदम बाहर औ[...] अपरिभाषेय, ऐसा मानना समकालीन साहित्य के मानवी[...]

यह निबन्ध लेखक की निकट भविष्य में प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'फ़िलहाल' का एक अंश है। पुस्तक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हो रही है।

सन्दर्भ को अकारण सीमित और संकरा करना है।

ऐतिहासिक विवेक को छोड़ने के नतीजे रचनात्मक और आलोचनात्मक और दोनों ही स्तरों पर भयानक हुए हैं। इससे इतिहास के भार से मुक्ति इतनी नहीं मिली है जितनी एक बेमानी-सी स्वतन्त्रता। रचनात्मक स्तर पर भाषा के संस्कार के प्रति उसकी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति उदासीनता आई है और अपनी पारम्परिक अनुगूंजों और आसंगों से कवियों के अज्ञान और अरुचि के कारण कट जाने से काव्य-भाषा में ज्यादातर युवा कवियों की भाषा में सपाटता, सतहीपन और मानवीय दरिद्रता आई है। अगर साथ-ही-साथ कुछ खुलापन भी आया है तो उससे भाषा ने जो मूल्यवान खो दिया है उसकी बहुत थोड़ी क्षतिपूर्ति भर हो पाई है।

आलोचना में, खासकर उस आलोचना में जो युवा लेखक लिख रहे हैं, पुराने काव्यमूल्यों और प्रतिमानों का जिक्र क्या, आज से दस बरस पहले की धारणाओं और प्रतिमानों की याददाश्त भी धुँधली हो चुकी है। इस सबका समकालीन दृश्य पर प्रभाव पड़ा है। बौद्धिक तर्क की जितनी अवज्ञा आज साहित्य में है उतनी शायद हाल के इतिहास में कभी न रही होगी। किसी धारणा, आलोचनात्मक सिद्धान्त या मत का खण्डन बौद्धिक स्तर पर करने का किसी को उत्साह ही जैसे नहीं रह गया है। फतवेबाजी, रिटोरिक आदि से इसको-उसको किसी राजनीतिक, व्यावसायिक संगठन या किसी पीढ़ी आदि के षड्यंत्र का हिस्सेदार रहकर उसकी चरित्र-हत्या करने की खूब और लगातार कोशिश की जाती है, लेकिन बौद्धिक आधार पर तैयारी के साथ उसके तर्कों का संगत खण्डन नहीं किया जाता। इस बात से जैसे विश्वास उठ गया है कि तर्क का प्रतिकार तर्क से हो सकता है। एक जागरूक बुद्धिजीवी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि अपनी समकालीन दुनिया में उसे बौद्धिक चुनौतियाँ दी जाना बन्द हो जाएँ। नतीजा यह है कि हिन्दी में बुद्धिजीवी, बिना खुद चाहे, बौद्धिक चुनौती के अभाव में धीरे-धीरे स्थापित व्यवस्था बन जाता है। व्यक्ति का अपने-आप अपने परिवेश और सहयोगियों की अबौद्धिकता से ऐसा बन जाना लेखक-समाज के भयानक दिवालियेपन की हद पर पहुँचने की सूचना है। स्थापित व्यवस्था के पारम्परिक चेहरों को पहचानना कठिन नहीं, वे सबको मालूम हैं। लेकिन इस चेहराहीन व्यवस्था की ओर बुद्धिजीवी को ढकेलने की दायित्वहीनता को थोड़ा गहरे जाकर पहचानने पर दहशत होती है। बौद्धिकता और विचारों से इतनी अरुचि और ऊब के, जाहिर है, बड़े पैमाने पर बहुत गम्भीर यहाँ तक कि मानवद्रोही नतीजे निकल सकते हैं।

ऐसी हालत में यह पहचान नई करना जरूरी है कि वयस्क कविता के लिए निरा अनुभव काफी नहीं समझ भी जरूरी है और काव्य भाषा को अनुभव भर नहीं कवि के विवेक को भी चारितार्थ करना चाहिए। मनुष्य की हालत को, जो निरन्तर जटिल होती जाती है, परिभाषित करने के लिए भाव-संवेदना के अलावा समझ होना भी आवश्यक है। अगर समकालीन कविता तक ही अपने को सीमित रखना हो तो मुक्तिबोध, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथसिंह, विजयदेव नारायण साही, कुंवर नारायण आदि की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। अपनी आदर्श सफलताओं में इन कविताओं में मात्र संवेदनात्मक पकड़ें नहीं बौद्धिक समझ और विचारशीलता भी है। यह ठीक है कि उनमें से हरेक की विचारधारा अलग है। इधर युवा कवियों में जो भोलापन या अबोधन और अबौद्धिकता की मुद्राएँ हैं वे उनके काव्य-संसार को सीमित और उथला करती हैं क्योंकि उसे विचारों से सुरक्षित रखा गया है। बल्कि यह कहना निराधार न होगा कि अनुभूति, सीधी और नंगी अनुभूति के साहस के साथ-साथ विचार के साहस का न होना उनके तथाकथित साहस की व्याप्ति और प्रासंगिकता को काफी हद तक अधूरा और कमज़ोर करता है। इस हालत में ज्यादातर युवा कविता में ऐन्द्रिकता और आदिम चमक भले है, समझ शायद नहीं है—कम-से-कम अपने समय के मनुष्य की हालत के बारे में हमारे अहसास को वह सहलाती तो है पर उसे गहरा, तीखा या विचलित कर किसी नई समझ या पहचान की ओर ले जाने में अक्सर असमर्थ रहती है।

शायद विचार का साहस न होने का ही एक नतीजा यह है कि अक्सर हमारे यहाँ ज्यादातर कवियों का कोई उल्लेखनीय और रचनात्मक विकास नहीं हो पाता। नई कविता में चरितार्थ अनेक और कई बार अन्तर्विरोधी जीवन और मूल्य-दृष्टियों के बीच कोई ऊपर-नीचे आगे-पीछे की कठोर या स्वयंसिद्ध क्रम परम्परा निश्चित नहीं की जा सकती। लेकिन कोई दृष्टि प्रासंगिक है या नहीं इसकी पड़ताल जरूर की जा सकती है। यह पड़ताल बौद्धिक और रचनात्मक दोनों

स्तरों को समेट सकती है और उसमें यह देखना होगा कि कौन-सी दृष्टि या दृष्टियाँ समकालीन, जीवन और अनुभव के ज़्यादा-से-ज़्यादा तथ्यों, समस्याओं और संकटों को समेटने और समझने में हमारी मदद करती हैं। दूसरे, किसी दृष्टि की शक्ति की परख इससे भी होगी कि वह किस हद तक दूसरी दृष्टियों द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों के प्रति सक्रिय ढंग से जागरूक है और किसी नई सचाई के दबाव से अपने को यथोचित रूप से संशोधित या परिवर्द्धित करने के लिए तत्पर है। इस सिलसिले में कुल एक ठोस प्रसंग उठाने से अभिप्राय कुछ और स्पष्ट होगा। पिछले दिनों यह बात बहुत ज़ोर-शोर से उठाई गई है कि साहित्य का कोई सामाजिक अभिप्राय या उद्देश्य नहीं होता और अगर होता भी हो तो उसका अहसास होना लेखक के लिए न केवल ज़रूरी नहीं है बल्कि ख़तरनाक है। इसी से साहित्य की नितान्त स्वायत्त दुनिया होने की धारणा भी विकसित की गई है। आमतौर पर इन धारणाओं को आधुनिकता की धारणाएँ मानकर नई संवेदना की चारित्रिक विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि के लोकप्रिय रहते एक दूसरी घटना हुई मुक्तिबोध की कविता की उपलब्धियों का स्वीकार जिसमें इस दृष्टि के लिए सबसे बड़ी चुनौती छिपी हुई है। इस बात पर अधिकाधिक सहमति होती गई है कि मुक्तिबोध की कविता नई कविता की श्रेष्ठ उपलब्धि है और बहुत सारे युवा कवियों के लिए वह उद्‌गम-ग्रन्थ बन गई है। लेकिन मुक्तिबोध साहित्य के सामाजिक उद्देश्य और उसके सचेत अहसास की पुरानी लगती धारणाओं में विश्वास करते थे। उनकी आधुनिकता उनके पोर-पोर और कविरूप में गहरे समकालीन होने से कोई इनकार नहीं करता, तब क्या सामाजिक उद्देश्य की धारणा को पुरानी और अप्रासंगिक मानने वाली हमारी दृष्टि कमज़ोर है? क्या युवा कवि मुक्तिबोध की कविता के सिलसिले में कविता के सामाजिक उद्देश्य, परिणति और दायित्व के उसकी स्वायत्तता के प्रश्नों पर अपनी धारणाओं पर फिर से विचार करने को तैयार या उत्तेजित है। अगर नहीं, जोकि शायद सच भी है, तो मुक्तिबोध की चुनौती का क्या जवाब है? उनकी कविता की उपलब्धि और अपेक्षाकृत पुरानी दृष्टि और दूसरों की तथाकथित नई दृष्टि के बीच जो भीषण अन्तर्विरोध जन्म लेता है उसका समाधान क्या है? या इस अन्तर्विरोध को पहचानने और उससे जूझने की कोई ज़रूरत युवा लेखक को नहीं लगती क्योंकि वह अपनी अबौद्धिकता में 'नींद में डूबे योद्धा' की तरह सुरक्षित है।

युवा लेखकों के विचार-विरोध और ऊब अबौद्धिकता का एक और पक्ष कविता में इधर बढ़ी सपाटबयानी से भी जुड़ा हुआ है। नई कविता में बिम्बों और प्रतीकों की ऐसी भरमार हो गई थी कि कविता शब्दाडम्बर होने लगी थी और उसकी अनुभावात्मक तात्कालिकता नष्ट-सी हो गई थी। कविता को फिर जीवित तात्कालिकता देने के लिए और काव्य-भाषा को, जो बिम्बों में फँसकर गतिहीन और जड़ हो चली थी, ताज़गी और जीवन्तता देने के लिए युवा कवियों ने अगर सपाटबयानी की ओर रुख किया तो यह स्वाभाविक और ज़रूरी ही था। लेकिन सपाटबयानी जल्दी ही सतही और यान्त्रिक बखान का पर्याय बन गई है और समकालीन यथार्थ का बड़ा अबोध बयान उसके माध्यम से हो रहा है। इसकी तह में समझ की अनुभूति को नियन्त्रित न करने देकर यथार्थ का कामचलाऊ और निरा इन्द्रिय-बोधी सरलीकरण करने की प्रवृत्ति भी कहीं-न-कहीं ज़रूर घर करती जान पड़ती है।

सपाटबयानी के ख़तरे का एक दूसरा पक्ष भी है। इस की कविता में शिल्प की धारणा भी खासी अवमूल्यित हुई है। बहस और चर्चाओं में भी शिल्प की कोई बात नहीं उठाता। ऐसी हालत में भाषा और काव्य-व्यवस्था के प्रति एक तरह का कामचलाऊ रुख भर है और इस बात की आशंका है कि समझ को और भी पीछे ढकेलकर भाषा के अनियन्त्रित और मनमाने उद्रेक को कविकर्म मानने की निहायत रूमानी धारणा का युवा प्रतिभा शिकार हो रही है। इस सिलसिले में कुछ युवा कवियों का लम्बी कविता के प्रति आकर्षण उल्लेखनीय है। दुनिया के अपने अहसास और समकालीन जटिलताओं को अधिक संश्लिष्ट ढंग से उजागर करने के लिए अगर युवा छोटी जटिल कविता की परिपाटी तोड़कर एक व्यापक कार्य की ओर बढ़े हैं तो यह उचित ही है। धूमिल की 'पतकथा' मणि मधुकर की 'खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व' और सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' जैसी लम्बी कविताओं में अनुभव का विस्तार और गहरा संयोजन उतना नहीं है जितना उसकी स्फीति। केन्द्रीय अनुभव—बौद्धिक रूप में नहीं, कविताओं में चरितार्थ रूप में—सीमित

होने के कारण इन कविताओं में कोई सजीव नाटकीयता नहीं है बल्कि रूमानी अतिरंजना और बड़बोलापन है। फिर वह कहीं बिम्बधर्मिता से हो और कहीं सपाटबयानी से। रोजमर्रा की दुनिया में अपनी पीड़ा और संत्रास का उत्सव मनाना वैसा ही रूमानी काम है जैसे किसी रहस्य, दृष्टि या लोकोत्तर संसार या आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य का उत्सव मानना।

यथार्थ से सीधे साक्षात्कार के नाम पर रूमानियत और आत्मसाक्षात्कार के नाम पर आत्मरति नज़र आने को समझने के लिए युवालेखन से बाहर जाकर उसका समाजशास्त्रीय सन्दर्भ देखना भी शायद ज़रूर हो गया है। ज्यादातर युवा लेखक छोटे शहरों और कस्बों से महानगरों की ओर भाग रहे हैं। महानगरों में एक तरफ़ तो भीड़ का निर्वैयक्तिक संसार है और दूसरी तरफ़ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में, खासकर युवक-युवतियों को लेकर, बढ़ती हुई स्वतन्त्रता और बेहिचक सहजता। यह कहना गलत न होगा कि भारत के महानगरों पर, खासकर दिल्ली पर, इस मामले में नवयुवक-युवतियों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में टीनएजर्स कहा जाता है, जैसे कब्जा-सा कर लिया है। उनके संग-साथ और निर्भीक खुले व्यवहार से महानगरों में एक लगातार सनसनी का वातावरण बन गया है। ज्यादातर युवा लेखकों का निजी कस्बाई परिवेश, परिवार और अन्य संस्थाएँ, जिनके बीच वे पलकर बड़े हुए हैं, इस तरह की निर्भीकता पारस्परिक घनिष्ठता और खुलेपन का न तो कोई अवसर देते थे और न ही इजाजत। इसलिए उनकी कस्बाई संवेदना में इच्छा, निजी वास्तविकता और महानगरों के परिवेश की वास्तविकता में एक गहरी खाई पैदा होती है। लगता है बहुत से युवा लेखक इस खाई को पहचानकर उससे विकसित तनावों की कोई गहरी रचनात्मक पड़ताल कर उसके तीखे सच्चे अनुभवों को अपनी सृजनात्मकता का आधार नहीं बनाते बल्कि सामाजिक स्तर पर इस स्थिति को जैसे लाँघने-छिपाने के लिए अपनी रचनाओं में एक असम्भव 'टीन ए' की दुनिया बसाते हैं—स्त्री, यौन-सम्बन्ध प्रेम आदि को लेकर जो "जीभ और जाँघ का चालू भूगोल" इन रचनाओं में नज़र आता है वह शायद सामाजिक स्तर पर अपने पिछड़े होने के अहसास को सम्बन्धों में आक्रामकता और उग्रता द्वारा दुरुस्त करने की कोशिश की ही एक परिणति है। बहुत-सा युवा-लेखन स्त्री से अगर आक्रान्त है और उसका खासा भाग स्त्रियों के जीवन में आने-जाने पर केन्द्रित है तो यह आकस्मिक नहीं है। बल्कि जो अपेक्षाकृत गम्भीर और संभ्रांत लेखक हैं, जैसे महेन्द्र भल्ला और श्रीकान्त वर्मा, उनमें भी एक तरह का आत्मप्रदर्शन इस सिलसिले में नज़र आता है। वे भी अपने तथाकथित पुरुषत्व की इमेज में गिरफ्तार लेखक हैं और कई बार लगता है कि उनका उद्देश्य स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण खोजना-रचना उतना नहीं है जितना कि अपना गुरुत्व साबित करना।

स्त्री के आतंक के समानान्तर दूसरा आतंक है भीड़ का। अगर स्त्री का आतंक निजी वास्तविकता को सरलीकृत करता है तो भीड़ का आतंक सामाजिक वास्तविकता को। शहरों में लगातार बढ़ती हुई भीड़ें हमारी जिन्दगी का एक रोज़मर्रा अनुभव है, इसलिए युवालेखन में समकालीन दृश्यालेख का एक प्रमुख तत्त्व भीड़ है तो इसमें अचरज नहीं होना चाहिए लेकिन बात इतनी ही नहीं है। दरअसल समाज की पूरी धारणा ही अवमूल्यित होकर भीड़ की धारणा में बदल गई है। केदारनाथ सिंह की एक कविता के शीर्षक से शब्द उधार लेकर कहा जा सकता है कि ज्यादातर युवा-कविता 'भीड़ के विरुद्ध शब्द' है। समाज से एक आर्गेनिक रिश्ता संभव है लेकिन उस चेहराहीन नामहीनता से, जिसे भीड़ कहते हैं, ऐसा कोई रिश्ता सम्भव नहीं। इसलिए युवा कवि की अस्मिता की खोज समाज में अस्मिता की खोज न होकर भीड़ के विरुद्ध अस्मिता की खोज हो गयी है। सवाल यह है कि समाज को उसकी जटिल विविधता और जीवित उलझावों में देखकर उसे भीड़ के रूप में सरलीकृत करने से कविता पर क्या असर पड़ता है। बल्कि उससे भी पहले शायद यह परखना ज़रूरी है कि क्या समाज को सिर्फ भीड़ मानना, जिससे अलगाव, कटाव और विरोध ही सम्भव है, जीवित वास्तविकता को सही समझ प्रगट करता है या नहीं, अगर साहित्य से बाहर के तथ्यों का सहारा न लेना हो तो एक बार फिर मुक्तिबोध की कविता को देखा जा सकता है। उसमें हमारे समय की जटिल और भौचक करने वाली सचाई का गहरा और तीखा अहसास है लेकिन समाज की धारणा भी सक्रिय रूप से मौजूद है। समाज में कारगर शक्तियों के उलझाव, टकराव और तनाव को उनकी कविता बिना किसी सरलीकरण के सीधे और तीव्र ढंग से पहचानती है। मुक्तिबोध के

काव्य-संसार में समकालीन मनुष्य का सारा भय और सन्देह मौजूद है, लेकिन भीड़ नहीं, समाज और उसमें विविध शक्तियों का स्पष्ट बखान और कई बार तो विश्लेषण तक है। यह बखान और उसके पीछे सक्रिय पहचान उनकी कविता में निजता और सामाजिकता के द्वैत को अप्रासंगिक कर देती है और आधुनिक मनुष्य के निजी संसार और उसकी सामाजिक जड़ों की हमारी पहचान और समझ को गहरा और सार्थक करती है। मुक्तिबोध का काव्य-नायक युवा-कवियों के काव्य-नायकों की तरह भीड़ के विरुद्ध नहीं है बल्कि क्योंकि उनके यहाँ भीड़ नहीं जीता-जागता समाज है, समाज के विरुद्ध खड़ा हुआ व्यक्ति नहीं है—वह समाज का एक विराट सरलीकरण भीड़ में कर उससे छुट्टी नहीं पा लेता बल्कि वह सामाजिक शक्तियों के भीषण टकराव में उन ठोस सामाजिक शक्तियों के विरुद्ध है जो मनुष्य की अस्मिता, अस्तित्व और मुक्ति के विरुद्ध षड्यंत्र करती हैं। मुक्तिबोध के यहाँ इसलिए व्यक्ति का संघर्ष किसी सरलीकरण या सामान्यीकरण से नहीं बल्कि ठोस सामाजिक और आन्तरिक शक्तियों से है। इससे स्पष्ट है कि भीड़ के बहाने युवा कविता जीवित सामाजिक संघर्ष, ठोस शक्तियों और जटिल ब्यौरों से जूझने से बचती या कतराती है: भीड़ का सपाट सरलीकरण समकालीन व्यक्ति के परिवेश की समझ को भी अधूरी और एकांगी करता है और बौद्धिक समझ और रचनात्मक बोध दोनों ही स्तरों पर युवा संवेदना को सतही करता है। अपने व्यक्तित्व के हर कमज़ोर-मज़बूत रेशे को आत्यन्तिक और महत्त्वपूर्ण समझने वाला युवा लेखक भीड़ को एकबारगी बिना किसी हिचक के ऐसे अस्वीकार कर देता है जैसे वह जीवित व्यक्तियों का समूह न होकर एक जड़ दृश्यपट भर हो। इस सरलीकरण से जहाँ व्यक्ति के संघर्ष और तनाव का मानवीय सन्दर्भ सीमित और ओछा होता है वहाँ इस पहचान के अभाव से कि भीड़ में शामिल लोगों में भी तनाव और आत्मसंघर्ष होता है तथाकथित 'मैं' का वस्तुनिष्ठ स्थिति से कोई जोड़ नहीं हो पाता और वह रूमानी और शब्दाडम्बरी हो जाता है। यों भी कविता में जब जटिलता का स्थान सरलीकरण लेता है तब उसमें सतहीपन और सपाटता आती है, पर जब सरलीकरण अपने पूरे जीवित परिवेश का ही हो तो कविता के अमानवीय डिह्यूमेनाइज्ड होने का भारी खतरा पैदा होता है। बहुत सारी युवा-कविता अगर अब और चिढ़ पैदा करती है तो इसलिए कि वह घूम-फिरकर स्त्री और भीड़ के सरलीकरणों में उलझ जाती है और इन जटिलताओं का अहसास और समझ नहीं देती जो दरअसल आज हमारी ज़िन्दगी में है।

किसी भी समय युवा प्रतिभा का अपने सच को चरितार्थ करने के लिए चालू मुहावरों से बचना पहली ज़रूरत है। इस समय ऐसे युवा कवि खोजना मुश्किल हो रहा है जो चालू मुहावरों से बिलकुल सुरक्षित रह पाये हों। जिन कवियों का मुहावरा निजी और विशिष्ट होने के क्रम में लगा जान पड़ता था उनमें भी चालूपन के दबावों ने कुछ विकृति पैदा कर ही दी है। कमलेश की कविता 'वहाँ से लौटकर' में रघुवीर सहाय की तरह भद्रराम इस्माइल आदि व्यक्ति नामों का इस्तेमाल है। विनोदकुमार शुक्ल की 'आरम्भ' में प्रकाशित लम्बी कविता 'एक कविता' में उनके सही त... से हटकर सामाजिक सचाई के बारे में ऐसी प्रचलित चुस्त फिकरेबाज़ी की पंक्तियाँ हैं—"चूहा। एक आसान किस्त है आदमियत का कर्ज़ पढ़ने के लिए" या जहाँ' तक अफ़सर घण्टी की आवाज़ जाती थी। मेकमोहन लाइन वहीं से शुरू होती थी। धूमिल की 'शहर, शाम और एक बूढ़ा' में इस तरह के अतिव्याप्त कथन है—"चौराहे पर / कवायद करते हुए ट्रैफिक पुलिस के चेहरे पर / मुझे हमेशा जनतंत्र का नक्शा / नज़र आया है।" लीलाधर जगूड़ी की इस व्यवस्था में सामान्यीकरण हैं जैसे "जातीय ज़मीन पर / देशवासी हो जाना / प्रजातन्त्र का मसविदा है।"

पिछले कुछ दिनों से कविता और राजनीति को लेकर जो बहस चल रही है उसमें कुछ दिलचस्प धारणाएँ सामने आई हैं, खासकर उन लोगों की जो दोनों के बीच किसी रिश्ते को खतरनाक और गैर-ज़रूरी मानते हैं। एक तर्क यह है कि कविता समग्र सचाई की खोज करती है और बाकी सब अनुशासन, फिर वह राजनीति हो, धर्म, विज्ञान या और दूसरे खण्ड-सचाई की। अनुशासनों में एक क्रम-परम्परा बनाना भ्रामक है। मनुष्य कई क्षेत्रों में अपनी हालत की परिभाषा में अपने पूरे सत्य की खोज करता है—परिभाषा के लिए औज़ार, अन्तर्दृष्टियाँ और विधियाँ अलग-अलग हैं लेकिन यह मानने का कोई आधार नहीं जान पड़ता कि कविता में उपलब्ध परिभाषा दूसरी परिभाषाओं से अधिक समग्र या अधिक प्रामाणिक है। ऐसा मानना आधुनिक समाज

में कविता के अवमूल्यन के विरुद्ध भावुक प्रतिक्रिया हो सकती है, लेकिन दूसरे अनुशासनों को अवमूल्यित कर सत्य पर कविता के एकाधिकार या अधिक प्रामाणिक अधिकार के दावे को तथ्यों या धारणात्मक दृष्टि से पुष्ट करना लगभग असम्भव है। दूसरा तर्क यह है कि राजनीति कविता को हमेशा भ्रष्ट ही करती है। इस तर्क से एक तो कवि का अपने में आत्मविश्वास न होना ज़ाहिर होता है और दूसरे सारी राजनीति को भ्रष्ट मानने का सरलीकरण। अगर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और धूमिल जैसे कवियों को राजनीतिक घनिष्ठता ने भ्रष्ट नहीं किया है तो खोट राजनीति में नहीं कवि की प्रतिभा में खोजना चाहिए। आखिर स्त्री और भीड़ के चालू मुहावरे भी कवियों की निजता और वैशिष्ट्य को क्षति पहुँचाते हैं। भ्रष्ट होने वाला कवि राजनीति से ही क्या धर्म, नृतत्व, मनोविज्ञान, दर्शन, अपने सँकरे व्यक्तित्व, शुद्धता, जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि, तत्कालीन रुचियों आदि से भी भ्रष्ट होता रहता है, लेकिन महत्त्वपूर्ण कवि इन दबावों के अहसास में जागरूक ढंग से अपनी संवेदना भाषा और अन्ततः कविता के संसार को अधिक गहरा, प्रासंगिक और समृद्ध करता है।

इससे जुड़ा सवाल समकालीनता और आधुनिकता का भी है। मनुष्य की ज़िन्दगी का एक तात्कालिक सन्दर्भ है जिसमें उसके तात्कालिक प्रश्न और समस्याएँ हैं, उसके नितान्त आज के सरोकार, तनाव और अन्तर्विरोध हैं। इनसे अलग लेकिन जुड़ा हुआ मनुष्य का एक व्यापक सन्दर्भ है जिसमें उसके चिरन्तन या चरम प्रश्न और समस्याएँ हैं जिनके रहते मनुष्य संसार में अपने होने, अपनी हालत, अपनी नियति और भविष्य के बारे में चिन्तित होता है, हल खोजता है। जो कवि मनुष्य के तात्कालिक सन्दर्भ तक सीमित रह जाते हैं वे समकालीन तो होते हैं, आधुनिक नहीं। लेकिन ऐसे कवि, जो तात्कालिक सन्दर्भ से सीधे या परोक्ष ढंग से प्रतिकृत होते हुए अपने तात्कालिक अनुभव को मनुष्य के चरम अनुभव के प्रकाश में उजागर करने और समझने की कोशिश करते हैं उन्हें ही आधुनिक कहा जा सकता है। ज़ाहिर है कि जहाँ आधुनिक कवि का समकालीन होना अनिवार्य है यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि समकालीन कवि आधुनिक भी हो। शायद हर समाज कहीं गहरे अपनी नियति, अपने भविष्य, अपने अर्थ की खोज करता संसार है। पर यह अक्सर स्पष्ट नहीं होती। इसी तरह आधुनिक काव्य संसार में इस खोज का अहसास और तनाव ज़रूरी नहीं कि स्पष्ट हो। मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और रघुवीर सहाय की दुनिया अपने-अपने ढंग से सीधे समकालीन हैं लेकिन जहाँ मुक्तिबोध में तात्कालिक चरण सीधे तनाव की स्थिति में प्रगट होते हैं शमशेर बहादुर सिंह और रघुवीर सहाय के यहाँ शायद यह तनाव अधिक प्रच्छन्न है। श्रीकान्त वर्मा की कविता में यह तनाव स्पष्ट महसूस किया जा सकता है। लेकिन अज्ञेय की बाद की कविता समकालीन तनावों से कट जाने के कारण एक सतही शाश्वतता से आक्रान्त हो जाती है और अपनी जड़ें तो आधुनिकता से काट लेती है तथा समकालीन और आधुनिक दोनों ही तरह की प्रासंगिकताओं से नीचे गिर जाती है।

ऊपर कुछ उन धारणाओं और विचारों का उल्लेख है जो समकालीन कविता के दृश्य को देखने-समझने के आधार को स्पष्ट करती हैं। शायद इस आधार की केन्द्रीय धारणा कविता के प्रति यह ट्रैजिक दृष्टि है कि कविता को समकालीन मनुष्य की हालत उजागर करने, समझने और परिभाषित करने की कोशिश करना चाहिए हालाँकि कविता उन शक्तियों में से नहीं रह गयी है जो आधुनिक समाज में उस हालत को प्रभावित या बदल सके। इस कोशिश से निकटता या दूरी समकालीन कविता की क्रमशः समृद्धि और वयस्कता या विपन्नता और अपरिपक्वता की विश्वसनीय पहचान है।

मूल्यांकन

निराला की साहित्य साधना : तीन समीक्षाएँ

निराला की साहित्य साधना
लेखक : रामविलास शर्मा :: प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली :: पृष्ठसंख्या : ६३०
मूल्य : रु० २७.००

औपन्यासिक प्रतिभा का नया परिचय

अमृतलाल नागर

डॉ० रामविलास शर्मा लिखित 'निराला की साहित्य-साधना' का प्रथम (जीवनी) खण्ड पाकर मैंने ऐसा संतोषभरा हलकापन अनुभव किया, मानो मेरी ही बरसों की मेहनत सफल होकर सामने आई हो। रामविलासजी की दो अन्य पुस्तकों—'सन् '५७ की राज्य क्रांति' तथा 'भाषा और समाज' पाकर भी मुझे कमोबेश ऐसा ही अनुभव हुआ था। पिछले ३३-३४ वर्षों के साथ में हमने जिन विषयों पर आपस में अधिक चर्चा की है उनमें तीनों पुस्तकों की विषय-वस्तुओं का प्राधान्य रहा है। इनमें भी निरालाजी की तो बात ही निराली है।

इस पुस्तक को लिखने का संकल्प रामविलासजी ने तब किया था जब उनकी अन्य यशस्वी कृतियों की कोई योजना तक उनके दिमाग में न आई थी। यह पुस्तक उनके लगन-भरे चिन्तन-मनन और कठिन श्रम का सुफल है। रामविलास शर्मा के प्रति निरालाजी के मन में वात्सल्य भाव था। वे उनके जीवन में तब आये जब या तो वे अपने भक्तों से घिरे हुए थे या कटु आलोचकों से। सृजनशील कवि-कलाकार अपने दीवाने भक्तों के बूते पर कभी पनप नहीं पाता, इसलिए आत्म-प्रशंसा की भूख में वह ऐसे भक्तों की किसी हद तक चाहने के बावजूद अपना नहीं पाता है। दीवाने भक्तों की प्रशंसा में उसे अपने संबंध में ऐसी बेपर की 'दिव्य' बातें सुनने को मिला करती हैं जिन्हें उसका ईमान अक्सर गवारा नहीं कर पाता। प्रसादजी अपनी वंशानुगत व्यापारी वृत्ति के मतलब की बातें लेने और बे-मतलब की नज़रअंदाज़ कर जाने की कला में सहजसिद्ध थे। पंतजी ऐसे अवसरों पर मीठे व्यंग्य और अपनी हँसी का सहारा लेते हैं। निरालाजी ठेठ बैसवाड़ी की तरह से डपट पड़ते थे। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन में 'साहित्य परिषद्' के अध्यक्ष पद से बोलते हुए निरालाजी ने एक वाक्य कहा था जो मुझे जस का तस याद है : "हमें देश के विज्ञ चाहिए देश के दीवाने नहीं।" इस वाक्य में 'देश' शब्द की जगह निराला नाम रख देने से उनकी भीतरी तड़प की थाह मिल जाती है। रही आलोचना की बात, मेरा ख़याल है कि हर समझदार व्यक्ति उसका भी आदर करता है, यदि वह खरी हो तो। रामविलास शर्मा निरालाजी की दृष्टि में 'निरालाविद्' सिद्ध हुए। रामविलासजी से उन्हें अपनी उन खूबियों और बारीक निगारियों की सराहना तो मिलती ही थी, जिन्हें वे समझते थे कि केवल वही समझते हैं, साथ ही उन्हें रामविलास से अपनी उन विशेषताओं का भी पता मिलता था जिनकी ओर स्वयं उनका ध्यान तब तक न गया होता था। तन्मय

होकर रामविलास शर्मा की बातें सुनते समय कई बार देखीं उनकी रीझी हुई आँखें और खिला हुआ चेहरा मुझे याद है। साथ ही उनकी बातों से लाजवाब होकर निरालाजी का कटहरे में बन्द शेर की तरह विवश क्रोधभरी दृष्टि से रामविलास को घूरकर देखना और फिर उत्तेजना में घूम-घूमकर उनका बड़बड़ाना भी याद है। रामविलासजी ऊपरी तौर पर कभी उत्तेजित नहीं होते। वे निरालाजी की प्रबल दहाड़ों को अपने पैंने व्यंग्यों या अपनी बहुचर्चित विद्रूपभरी 'फिच्च' मार्का हँसी से परास्त कर देते थे। 'चकल्लस' काल के एक दिन की याद आ गई। पैसों की तंगी में, भाँग की तलब में निरालाजी अक्सर पैदल चलकर मेरे यहाँ पधारते थे। तीन-चार घण्टे तरावट से गुज़ारकर वे डॉ० शर्मा और स्व० पढ़ीसजी के साथ इक्के पर लौट जाया करते थे। कभी मैं इक्का या ताँगा मँगवा देता था। एक दिन डॉ० शर्मा से उनका किसी बात पर शास्त्रार्थ हो गया। जब निरालाजी के तर्क और व्यंग्य-शर चुक गए तो उनकी दहाड़ें शुरू हुईं; इस पर भी जब वे चारों खाने चित हुए तो क्रोध में तम-तमाते हुए उठे और कुर्ता कन्धे पर डालकर चले गए। हम सभी को पछतावा हुआ कि बेचारे पैदल जाएँगे। मैंने डॉक्टर को खरी-खोटी सुनाईं, पर डॉक्टर भी क्या करें। एक जगह पर वे स्वयं अपनी आदत से मजबूर थे, और एक हद तक अब भी हैं। फिर भी, अपनी-अपनी मजबूरियों के साथ दोनों ही एक-दूसरे के प्रति श्रद्धालु और ममतालु बने रहने के लिए भी मजबूर थे। जवाहर और जौहरी की यह पारस्परिक मजबूरी ही निराला और रामविलास के बीच का नाता रही। निरालाजी के समान अहंकारी व्यक्ति अपने से आयु में छोटे किन्तु विद्वान् पुरुष को शिष्य-पुत्रवत् मानकर ही झुक सकते थे और ऐसे ही वे झुके भी। रामविलास शर्मा से साक्षात् परिचित होने से पहले मैंने निरालाजी के श्रीमुख से उनकी प्रशंसा सुनी थी। कहा था—"एक दिन 'सिद्धान्त' को पछाड़ेगा।" अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सिद्धान्त रामविलासजी के गुरु थे। उनकी आड़ लेकर निरालाजी दरअसल अपने पछड़ जाने की बात कह रहे थे। रामविलास शर्मा के समान व्यक्ति ही साहित्य-साधक निराला का जीवन-चरित लिखने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता था। यही कारण था कि आरम्भ ही से उनके सभी निकटवर्ती मित्रों ने उन्हें इस काम के लिए बढ़ावा दिया। रामविलासजी इस पुस्तक से संबधित बहुत-से नोट्स, पुरानी चिट्ठी-पत्रियाँ आदि समय-समय पर मुझे दिखलाते रहे थे। हमने आपस में खूब विचार-विमर्श भी किया। पुस्तक के कुछ प्रारम्भिक अध्याय भी उन्होंने मुझे सुनाये थे। इन्हीं कारणों से प्रस्तुत ग्रंथ के साथ मेरा निजत्व बोध होना स्वाभाविक ही है।

यह किताब ऐसे समय में प्रकाशित हुई है जबकि निराला युग एकदम भूले-बिसरे ज़माने की कहानी नहीं बन पाया। हमारे सौभाग्य से निरालाजी की अग्रज पीढ़ी के सुकवि श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' से लेकर युग-निर्माण में उनके अनन्य सहयोगी श्री सुमित्रानन्दन पन्त तक विद्यमान हैं। महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, केदार, सुमन, श्रीनारायण चतुर्वेदी, वाचस्पति पाठक आदि बहुत-से व्यक्ति, जो इस निराला नाटक में पात्र बनकर बार-बार आते रहे हैं, नज़्रे बद दूर, अब भी हमारे साथ हैं। सम-कालीन इतिहास लिखना भिड़ के छत्ते में हाथ लगाने के बराबर होता है। किसी भी विषय-वस्तु को देखने के लिए हर व्यक्ति के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं। इस सिलसिले में भी डॉ० शर्मा से मेरी बात हुई थी। उनका कहना था कि अपनी ओर से वे कोई अप्रामाणिक या 'ध्वंसात्मक' बात नही लिखेंगे, परन्तु लिखते समय किसी की राज़ी-नाराज़ी की चिन्ता में अपना ध्यान भी न भटकने देंगे। उनकी इस बात का विरोध नहीं किया जा सकता था।

निरालाजी का चरित्र-चित्रांकन करने में डॉ० शर्मा ने खूब ही तन्मयता साधी है। अहम् के तीनों गुणों को समान शक्ति से प्रदर्शित करने वाले योगी-भोगी, काव्य की नई धारा को प्रवाहित करने वाले उग्र आन्दोलनकर्ता, गृहस्थ-अगृहस्थ, कठिन-कोमल चरित्र को सूझबूझ-भरी ममभेदी दृष्टि से देख-कर उनके जीवन-क्रम को यथावत् सँजोने में उन्होंने अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का नया परिचय दिया है। प्रथम अध्याय से ही कहानी का ऐसा समा बँधता है कि किताब पूरी पढ़े बिना रहा नहीं जा सकता। हर व्यक्ति का जीवन एक कथा है और निरालाजी का चरित्र तो यों भी खासा नाटकीय है। कथा-शिल्प के यही मूलभूत सूत्र साधकर रामविलास शर्मा ने एक उपन्यासकार की सिद्धि भी सहज ही प्राप्त कर ली। परन्तु इस विधा को अपनाकर वे एक क्षण के लिए भी

इतिहासकार होने के दायित्व से नहीं हटे। उपसंहार में उन्होंने जीवनी-लेखन विधा के संबंध में अपने विचार भी प्रकट कर दिए हैं। अपना ठेठ 'बौद्धिक मसाला' निराला कथा के उपरान्त सँजोकर उन्होंने हर तरह से उचित कार्य किया है। निराला का जीवन और परिवेश एक बार जस-का-तस हमारे सामने रखकर वे अपनी दृष्टि से उनका मूल्यांकन करने के लिए स्वतंत्र थे, दूसरे अपनी दृष्टि से स्वतंत्र हैं। यह सुनीति निश्चय ही सराही जाएगी।

निराला-कथा अवध बैसवाड़ा, गढ़ाकोला गाँव और चरितनायक के वंश-परिचय से आरम्भ होती है। बैसवाड़े के लोगों के जीवट और हेकड़ी, बजरंगबली और तुलसीकृत रामायण के प्रति उनके आस्थायुक्त संस्कार, वहाँ की वर्णगत संकीर्णता के धक्के, अवधी किसानों का काव्य-प्रेम और वहाँ की दरिद्रता के सारे भले-बुरे संस्कार महिषादल बंगाल में जन्म लेने वाले 'सिधारी' पंडित के पौत्र और जमादार रामसहाय तेवारी के पुत्र सुर्जकुमार तेवारी ने विरासत में पाये थे। रामसहाय तेवारी ने चालीस की उम्र पार करके सुख-सम्पन्नता के दिनों में यह बेटा पाया था सो भी निपट छुटपन में बिना माँ का हो गया था; वे हरदम उस पर अपनी जान ही छिड़कते रहते थे। बेटे के कारण ही दूसरा ब्याह न किया। बिना माँ के बच्चे को पास-पड़ोस की औरतें हाथों-हाथ रखती थीं। इस प्रकार हर तरफ़ से स्नेह पाकर यह नितान्त स्वाभाविक ही था कि होश सँभालने के साथ ही साथ बच्चा अपने-आपको 'कुछ' समझने लगता। सुर्जकुमार 'खिलाड़ी नटखट और कुछ-कुछ ज़िद्दी हो चले।' इस प्रकार उनके भावी जीवन का कर्मबीज पनप चला। सृजन व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया में उपरोक्त विशेषताएँ भी किसी-न-किसी रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। हठ में और चाहे ज़ो भला-बुरापन हो उसके द्वारा इच्छा को चंग पर चढ़ाकर एकाग्र करने की राह अवश्य बनती है। घर में लाड़ पाने वाले बच्चे रो-पीट और फैल मचाकर अपनी ज़िदें पूरी करवाते हैं। इस प्रकार मनमौजी बादशाह बन जाने के बाद बच्चा वयस्क होने पर लाड़ के लिए बे-सहारा होने पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अपने-आपको समाज पर तरह-तरह से आरोपित करता है। बाहर से नामुराद टक्करें मिलने पर वह हठपूर्वक अपने-आपको स्वयं अपने ही ऊपर आरोपित करता है। व्यक्तित्व का एक भाग अपने दूसरे भाग को दासवत् स्वेच्छापूर्ति के लिए कर्म संलग्न कराता है। ज़िद्दी बच्चों में एक दूसरा पक्ष यह भी उभरता है कि ज़िदें पूरी करने वाले समर्थ बड़ों के अभाव में वह ख़ुद उनका रोल साधने लायक बड़प्पन साधकर इच्छा करने वाले अपने पूर्वपक्ष के प्रति लाड़ लड़ाते हुए कर्म संलग्न होते हैं। निरालाजी में ये दोनों ही विशेषताएँ आरं थीं। उनका बहुआलोचित 'बुली-पन' उनका बचपन का अर्जित संस्कार था। 'हम का कोऊ ते कम हन'—नेशनल तकियाकलाम वाली बैसवारी हेकड़ी उनके ख़ून ही में मौजूद थी। अपने कवि बनने की महत्त्वाकांक्षा को उन्होंने स्व अपने प्रति करुणार्द्र होकर बड़ों की तरह लाड़ लड़ाते हु साधा। निराधार के आधार बनने का स्वभाव उनमें इसीलि पनप सका। निरालाजी के व्यक्तित्व में निहित ज़िम्मेदारी ओढ़ने वाला पिता-पक्ष ही उनका साधक पक्ष भी था। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि निराला के रूप रामसहाय तेवारी ही आज सर्वत्र अपनी जय-जयकार पा रहे हैं। 'निराला-राहुल इण्टरव्यू' छपने के बाद जिस शोध-सधान से रामविलास शर्मा ने निराला के पिता को पहचानने के लिए श्रम किया था उसका प्रत्यक्ष गवाह इस पुस्तक में वर्णित स्वयं रामसहाय तेवारी का चरित्र है। अनुशासन की कठोरता और मोह की दुर्बलता के पारस्परिक द्वन्द्व के साथ पिता-पुत्र के नाते को रामविलासजी ने बधाइयाँ पाने लायक कुशलता से अंकित किया है। शिकायत बस यही है कि 'जासूस' शर्मा ने रामसहायजी का जो अलभ्य चित्र प्राप्त किया था वह इस किताब में नहीं छपा।

लाड़-प्यार करने के बावजूद रामसहाय अनुशासन के मामले में बड़े सख़्त थे। बड़े ग़ुस्सैल भी थे। बेजा बातों पर वे जमकर सुर्जकुमार की ठुकाई भी करते थे। इसीलिए तमाम बच्चों की तरह बालक सुर्जकुमार भी अपने ऊपर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों को घोर अत्याचार मानते थे। बचपन में शौच के बाद बग़ैर आबदस्त लिए आने पर पिता जिस तरह एक हाथ से उठाकर लटकाए हुए उन्हें ताल तक ले गए और बार-बार 'सौंचता जा, सौंचता जा' कह-कहकर उन्हें पानी में डुबकियाँ दीं, उससे भोले बालक का तन तो अवश्य स्वच्छ हुआ पर मन सदा के लिए मलिन हो गया। बचपन में होनेवाले ऐसे अनुशासनिक 'अत्याचारों' को आम तौर से यह समझा जाता है कि मनुष्य बड़ी उम्र में भुला देता है, लेकिन मुझे लगता है कि यह नियम हर व्यक्ति के सम्बन्ध

में लागू नहीं होता। गंदगी साफ़ करने के सम्बन्ध में प्यार के बजाय मार से समझाए जाने के कारण ही निराला के मन में एक ऐसा नादान विद्रोह घर कर गया कि वे उससे कभी न उबर पाए। रामविलास शर्मा ५८ नम्बर नारियलवाली गली के घर में उनके साथ रहने गए। घर में कूड़ा देखकर झाड़ू लगाने की सोची। निरालाजी का कमरा साफ़ करने पहुँचे। पर यह प्रस्ताव उन्हें बिलकुल पसन्द न आया। उन्होंने कहा—"अपना कमरा साफ़ कर लो; हम अपना कमरा जब ज़रूरत समझेंगे, साफ़ करेंगे।" श्री सुमित्रानन्दन पंत जब भार्गव मैजेस्टिक होटल लखनऊ में मिले तब "निराला ने थूक-थूककर सारा कमरा गन्दा कर रखा था। पंत ने फ़िनैल से कमरा धुलवाया।" सन् '५४ में इलाहाबाद में श्री कमलाशंकर सिंह के यहाँ मैं निरालाजी से मिलने गया। उनकी एक बगल पक रही थी, उसमें से बदबू आने लगी थी। हाथ को थोड़ा-सा उठाकर मवाद सनी बगल की झलक दिखलाकर निरालाजी बोले : "लुक, वी आर स्टिंकिंग।" मैंने बाद में कमला से शिकायत की। वे बोले कि हम क्या करें। सिविल सर्जन तक मजबूर हैं। कम्पाउण्डर आता है तो कहते हैं कि अभी हाथ नहीं उठता, जब दर्द हल्का होगा तब आकर साफ़ कर जाना। डॉ० शर्मा की पुस्तक में दो उपरोक्त प्रसंग पढ़कर मुझे अपना यह अनुभव याद आया। मुझे लगा कि गन्दगी के प्रति उनकी विद्रोह-भरी काहिली इस रूप में आ गई थी कि अपने को पीड़ित करके भी वे उसे अपने साथ लपेटे रख सकते थे। दीदाओदानिस्ता नादानियाँ करने वाले निरालाजी की प्रबल हठशक्ति बचपन में पाये गए 'सौंचता जा सौंचता जा' जैसी शिक्षाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप अपनी चरम परिणति में कुछ स्थलों पर एकदम जड़ हो जाती थी। लाड़-प्यार और मार के असंतुलन में पलनेवाले बच्चों के स्वभाव में यह झकोला अवश्य ही आता है। अंधे को राह सुझाई जा सकती है, सूझते को कौन बतलाए। इसी प्रकार आलस्य उनका दूसरा 'राज' रोग था। राजा कहीं काम करते हैं, वह तो बैठे-बैठे हुकुम चलाते हैं। और नियति ने यदि हुकुम बजानेवाले नौकर नहीं दिए तो विधना के इस अन्याय के प्रति भी उनके मन में आक्रोश होना ही चाहिए था। बचपन में निहायत ही भोलेमन से बाप को सलाह दी कि सिपाही तो तुम्हारी ही मातहती में हैं, राजा को लूट क्यों नहीं लेते। बच्चे की इस 'नेक सलाह' पर भी बाप का कठिन वज्रप्रहार हुआ था। परिस्थितियाँ यदि उनके मानस को ब्रह्मोन्मुखी कवि न बना देतीं तो उनका जड़-विद्रोह उन्हें लुटेरा भी बना सकता था, या साथ मिलने पर वे क्रांतिकारी भी हो सकते थे। कवित्व-शक्ति ने उन्हें एक बादशाहत तो दे ही दी। एक-पर-एक पारिवारिक मौतों का दर्द अपनी हद से गुज़रकर ब्रह्मरूपी दवा बन गया। इस ब्रह्म-स्पर्श ने भी उन्हें बादशाहत दी। 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजमन' गाने से उन्हें अपनी पत्नी स्व० मनोहरादेवी की याद का स्पर्श और ब्रह्मानुभूति साथ-ही-साथ होने लगी। इस परमपद की छुवनभर से मन की हीनता, सारे अभाव दूर हो जाते थे। हम का कोउ ते कम हन—बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरी शतरंज के। मन को जब इस शहंशाही का स्वाद मिल गया तो बाहरी शानशौक़त और नौकरों-चाकरों के अभाव पर मन के आलस्य ने उभरकर पर्दा डाल दिया। अपने आलस्य और गन्दगी को भी वे ब्रह्मरस में बोर लेते थे। निरालाजी की अनुपस्थिति में एक दिन रामविलास शर्मा ने ५८ नम्बर नारियलवाली गली के घर से सारा कूड़ा-कचरा साफ़ करके ही दम लिया। तीज-त्यौहारी न मिलने वाले घर का इतना नरक ढोते हुए मेहतरानी को शिकायत हुई। उसने निरालाजी से कहा। घर में प्रवेश करने पर चारों ओर झकाझक देखकर निरालाजी के मन में कुछ शर्म भी जगी ही होगी। मेहतरानी की शिकायत और अपनी शर्म को फ़लसफ़े के रंग में रंगकर उन्होंने रामविलास से कहा—"यहाँ का हिसाब-किताब तुम्हें मालूम नहीं।...हर आदमी को अपना काम खुद करना चाहिए।...रामकृष्ण, ईसा मुहम्मद में वही ब्रह्म है जो चमार में है। बाप समझता है वह बच्चे को पालता है लेकिन बच्चा अपनी मुस्कान से उसे जो देता है, बाप क्या उसका बदला चुका सकता है।" कुल मतलब यह है कि घर की सफ़ाई से निराला महाराज प्रसन्न नहीं हुए, फिर भी शर्मा ने इतना ज़ोर तो मारा ही कि अपने कमरे से पीक-भरा गन्दा कुल्हड़ उठाकर बाहर फेंक आए।

जीवनसौन्दर्यचेता निराला के पास यदि महाराज महिषादल या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह नौकर-चाकर होते तो वे निश्चय ही अपने आसपास तनिक-सा भी कूड़ा-करकट शायद बर्दाश्त न कर पाते। यदि संयमनियमानुशासित कर्मठ होते तो भी न कर पाते। रामविलासजी को समझाया

था कि आदमी को अपना काम आप करना चाहिए। परन्तु अपनी अत्यधिक मनोव्यस्तता के कारण उनके बहुत से बाहरी काम सदा भिनकते ही रहते थे। ऊपर से उनका राजालस्य भी कोढ़ में खाज की तरह मिल गया था। न्यूरासिस की अमरबेल उनके जीवन-वट पर शुरू ही से चढ़ चुकी थी।

लेकिन यह गन्दगी, आलस्य, बुलीपन आदि ही निराला नहीं, यह तो वह कीचड़ है जिससे उनका कवि-कमल शतदल प्रस्फुटित होता है। जहाँ सुर्जकुमार तेवारी जन्म भर यथार्थ से कतराये हैं वहाँ सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने छक-छककर यथार्थ ब्रह्म के दर्शन किये हैं। उन्होंने गरीबी-अमीरी के भेदभाव और सामाजिक वैषम्य को खूब अच्छी तरह से समझा था। दूसरों की चिन्ता में वे अपना आपा लय भी कर सकते थे। मानव-मन के चार भेद बखानते हुए पतंजलि कहता है कि उन्मत्त मन वाला कभी योगी नहीं बन सकता; हाँ, बीच-बीच में, वह ऐसे क्षण अपने जोश से पा ज़रूर लेता है। निराला परमपद लाभार्थ योगी बनने लायक स्थिरचित्त और स्वानुशासनबद्ध भले न हो सकते हों पर कवि ज्ञानी वे अवश्य बन सकते थे। यथार्थ जीवन के कठिन संघर्ष ने उनके चित्त को एक समय वर्षों तक इतनी स्थिरता और स्वानुशासनबद्धता अवश्य दे रखी थी। फिर भी उनके मलिन उन्मत्त मन को प्रसन्न मुद्रा अथवा तीव्रावेश के क्षणों की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि पत्रों के उत्तर तक देने के लिए उन्हें अपने 'प्रसन्नमन' का इन्तज़ार रहता था। किसी कविता या लेख, कहानी आदि का मूलभाव मन में चमक उठने पर वे बड़ी मेहनत से उसे अपने मन में सहेजते-सँवारते और विकसित करते थे। 'योगः कर्मसु कौशलम्' में उनका पूरा विश्वास था। डॉ० शर्मा के शब्दों में। "किसी लेख या कविता के बारे में—जिसकी चर्चा वह कर रहे हों और न लिखी हो—मैं पूछता कि कब लिखेंगे, तो वह जवाब देते—"तिनू स्वाँगा खाँगा दुरुस्त कइ लेई।" अर्थ यह कि आवश्यक सामग्री सहेज लें तब लिखना शुरू करें। प्रायः सभी बड़े कलाकारों की तरह से न्यूरासिसग्रस्त उन्मत्त-मना निराला योग क्षणों के कर्मठ साधक थे। उनका बड़प्पन इसी बात में है कि वे अपनी 'कीचड़' से अधिकाधिक शतदल कमल खिलाने के लिए आजीवन अपने से जूझते रहे। मॉपासाँ और गार्शिन पूरी तरह से पागल होकर मरे, उनकी सृजन-शक्ति अन्त तक उनका साथ न दे सकी। निराला इस तरह अपने-आप से कभी पराजित न हो सके। उनकी अन्तिम कविता—'पत्रोत्कण्ठित जीवन का विष बुझा हुआ है'—इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। काल की चोटें खाते-खाते वे टूट अवश्य गये थे पर अन्त तक हारे नहीं। बस, इसी बात के कारण निराला निराला थे। इस अन्तिम कविता को लेकर रामविलासजी ने निरालाजी के मन की अच्छी और सही झाँकी हमें दिखलाई है—"निराला का कलाप्रेमी मन ध्वनि के आवर्तों से अब भी खेल रहा था, ऋतुओं का रूपक बाँधकर वह कविता की आंतरिक संगीति पर मुग्ध था। निराला की सजग अथक अन्तर्दृष्टि शरीर की शिथिलता से लेकर मृत्यु की क्रीड़ाओं और उसकी व्रीड़ा तक को देख रही थी। जब मृत्युलीला समाप्त हो जाएगी, तब भी यह कविता रहेगी। मृत्यु पर यही निराला की विजय थी।"

निराला एक तरफ़ तो यों मृत्यु को पछाड़ रहे थे और दूसरी तरफ़ गन्दगी पालने के सम्बन्ध में अपने बचपन के गलत विद्रोह से घिरकर वे दूसरों को परेशान भी करते थे। कहते हैं कि मरने से पहले आदमी का मन अपने जन्म भर के किये-धरे भले-बुरेपन और भूली-बिसरी यादों से घिर जाता है। निराला की मानसिक अस्वस्थता इस भीतरी घेराव का दोष दूसरों पर डालती। किताब में लिखा है—"इधर उनकी मानसिक अस्वस्थता का नया लक्षण दिखाई दिया। वह आसपास के लोगों पर सन्देह करते कि वे उन्हें गन्दी चीज़ें खिलाते हैं। घी के लिए कहते कि उसमें ... भिगोकर मुलायम किये गये हैं, वही बचा हुआ घी उन्हें खिलाया जाता है। डेरी के मक्खन पर भी शक था। ... जमाकर दही से मक्खन निकाला गया। निराला ने कहा, "गायें मैला खाती हैं, उनके घी में मैले की दुर्गन्ध आती है।" घी छोड़ दिया और तेल में चीज़ें पकवाने लगे।"

हर्निया से पीड़ित होने पर, माँस-भोजन मना होने पर भी स्वाद के लालच में, दूसरों को खिलाने के बहाने ... घन्टे तक स्वयं बैठकर मांस पकाया। दूसरों को तो खिलाया ही, आप भी दो-चार गस्से खाये। उस समय उतना गरिष्ठ भोजन उनके लिए विष था, पर किसकी मजाल थी कि उन्हें रोक लेता। जब तबीयत बिगड़ी तो सारा दोष कमला की ... हुई सेब पर डाल दिया—सेब ज़हरीली थी। भला इतने ध्यानपूर्वक पकाए गये उनके मांसाहार से कोई खराबी कैसे पैदा हो सकती है। अपनी ग़लती वह मान ही नहीं सकते

थे। मगर इसके विपरीत दूसरी ओर, वे अपने सबल-दुर्बल मन का सारा अन्तर्द्वन्द्व, अपना पूरा मन साहित्य में सँजो भी गये हैं।

रामविलासजी की किताब में अंकित निराला का चरित्र पढ़कर मुझे कहीं-कहीं लगा कि मैं दर्पण में अपनी सूरत देख रहा हूँ, फिर बहुत से जाने-पहचाने लोगों की सूरतें नज़र आने लगीं। सूर्य से खंडित होकर गिरने के बाद और फिर सृजन-शील होने लायक बनने से पहले, धरती को आग, पानी, गैस, भाप, हिम, भूडोल आदि के जितने कष्ट झेलने पड़े थे, वे सारे कष्ट नाना रूप रूपाय कवि कलाकारों को एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल तक पहुँचने के लिए सतत झेलने पड़ते हैं; धरती तो केवल एक ही बार सहकर उससे छूट गयी। कला-कारों में बहुतों के दोहरे-तिहरे-चौहरे व्यक्तित्व तक दिखलाई पड़ जायेंगे। कवि कलाकारों की कौम में ऐसे एक नहीं अनेक हैं जिनके जीवन की आधी शक्ति अपने मन पर छाये हुए तरह-तरह के अवसादों और उनमें निहित सही-ग़लत वास-नाओं की तेज़, सुस्त, छोटी-बड़ी भँवरों में चक्कर काटने, उलझने-लिपटने, डूबने, उतराने में ही जूझते-जूझते खर्च हो जाती है। कोई धन की चिन्ता में, कोई माशूकों को रिझाकर उन्हें अपनी अहंता के जाल में फँसाने की चाहना में, कोई अपने नाम-माहात्म्य, पद-लालसा में बँधा अपनी कामना-सिद्धि के लिए प्रयत्न-कुप्रयत्न, ईर्ष्या-द्वेष, अनुराग-विराग उदारता आदि की पहाड़ियों घाटियों और मैदानों में अनवरत चढ़ाइयाँ-उतराइयाँ पार करता हुआ अपने अनुभवपक्व मन की खान से बार-बार सोना खोद-खोदकर निकालता और मानव-संस्कृति को नववैभव प्रदान करता है। निराला ऐसे ही एक अभागे-सौभाग्यशाली पुरुष थे। प्रकृति से वे घुन्ने न थे, खुले थे। बचपन की मारों से, फिर दुनिया की कठिन मारों से मजबूर होकर जहाँ उन्हें घुन्ना बनना पड़ा वहीं उनका ग़लत-सही विद्रोह भी भड़कता रहा। राम-रावणमय निरालाजी महाराज अन्त तक अपने दोनों ही दौरों से बराबर गुज़रते रहे। सोचता हूँ यदि यह साहित्यदेवता हर तरह से संगठित व्यक्तित्व पा जाता तो इसकी अबाध आत्मशक्ति हमें दूसरे ही रूप में विकसित होकर मिलती और हमें बहुत-कुछ दे जाती। खैर उनके इस जड़-चेतनमय व्यक्तित्व में समाई हुई उनकी उन्मुक्त प्रकृति ने उनके जीवन को बड़ी नाटकीयता प्रदान कर दी। अपने साहित्य से अधिक अपने इस व्यक्तित्व के प्रभाव से निराला समाज के आकर्षण का केन्द्र बन गये। वे सृजनशील साहित्यिकों के संघर्ष-स्वाभिमान-मूडमय जीवन के प्रतीक बनकर किंवदंतियों के नायक बन गये। इस पुस्तक की सफलता का आधा श्रेय रामविलास शर्मा को दिया जाना चाहिये और आधा निराला के नाटकीय व्यक्तित्व को। कम जीवनी-लेखकों को ऐसा चरितनायक आँकने को मिलता है।

निराला के साथ-साथ महावीरप्रसाद द्विवेदी, महादेव प्रसाद सेठ, शिवपूजन सहाय, उग्र, मुंशी नवजादिकलाल, स्वामी प्रेमानन्द आदि अनेक व्यक्तियों के चित्रांकन बड़ी सुघराई से किये गये हैं। स्वयं डॉ० शर्मा की भी अच्छी झलक हमें मिल जाती है। गृहस्थी के क्षेत्र में सौभाग्यवती मनोहरा देवीजी और अपने कर्मक्षेत्र में श्रीयुत सुमित्रानन्दनजी पन्त ही से निराला के मन का घना नाता जुड़ा था। निरालाजी ने मनोहरा देवी को जीते-जी कभी चैन न लेने दिया और मरने के बाद वे उनकी 'रत्नावली' हो गईं। पन्तजी को भी उन्होंने अपने बोल-कुबोलों से बेहद सताया और बुलीपन से आतंकित किया। रामविलास शर्मा ने पन्त और निराला के ऐतिहासिक सहयोग को सही महत्त्व दिया है। उन्होंने अलग से भी कवि पन्त के महत्त्व को खुले दिल से सराहा है। डॉ० शर्मा निराला के उस फ़रेब का पर्दा फ़ाश करने से भी नहीं चूके जो उन्होंने 'जुही की कली' की रचना और अपनी आयु की तिथियों में उलटफेर करके पन्त पर अपनी 'सीनियारिटी' का रौब जमाने के लिए किया था। शिकायत केवल इस बात की है कि निराला के जड़-चेतन व्यक्तित्व की झाँकी जहाँ इतने विस्तार से प्रस्तुत की गई है वहाँ पन्त के जड़-चेतन व्यक्तित्व की झलक हमें झाई-सी ही मिल पाती है। यह सही है कि निराला की जीवनी में निराला ही की बातों को अधिक विस्तार मिलना चाहिए, पर पन्त जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का उल्लेख करने पर उनका चित्रांकन भी उसी मार्मिक अन्तर्दृष्टि से किया जाना चाहिये था। इस प्रसंग को रामविलास शर्मा ज़रा और नोकपलक साधकर लिखते तो बात उम्दा तरीके से निखरती; कुछ व्यर्थ के भ्रम न पैदा होते जो उन्होंने अपने अनजाने में पैदा कर दिये हैं या पैदा हो सकते हैं।

प्रसंगवश अपने जी की एक बात यहाँ अवश्य कहना चाहता हूँ, श्रद्धेय पंतजी ने अपने भोले भ्रमवश रामविलास को 'लोकायतन' में वाग्विलास बनाकर जो तान्त्रिक का यश

प्रदान किया है, वह कम्बख्त इसके कतई योग्य न था। 'ऊं ह्रीं क्लीं फट्' वाली साइंस से डॉ० शर्मा की कोई दूरदराज की जान-पहचान भी नहीं है। रामविलास की इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल है कि निराला क्या साक्षात् अल्ला मियाँ भी उन्हें अपने लिए तन्त्र-मन्त्रों का माध्यम नहीं बना सकते। अपने पति के 'संग दोष' से ही रामविलासजी की परम आस्थावान् सरल ग्रामीणा सहधर्मिणी ने अहोई, करवा चौथ जैसे व्रत-उपवास तक छोड़ दिए जिन्हें पढ़ी-लिखी, शहरी समाज में पली औरतें भी नहीं छोड़ पातीं। स्वयं डॉ० शर्मा की अखंड सौभाग्यवती पुत्र-वधुएँ भी सुहाग-सन्तानों की शुभ-कामना में यह व्रत रखती हैं, पर मेरी इस देहातिन भाभी को अपने दूध-पूत सुख-सुहाग की अचलता में आस्था बनाए रखने के लिए अब उनकी आवश्यकता नहीं रही। अपने वर्षों के घनिष्ठ सम्बन्धों के आधार पर मैं यह तो कह सकता हूँ कि रामविलास शर्मा का 'कवि हृदय' निश्चय ही एक जगह पर आस्तिक है पर उनका 'ज्ञानी पंडित' पूजा-अर्चा, मन्त्र-तन्त्रों की हवा तक से कोसों दूर है।

जहाँ तक निरालाजी के जन्तर-मन्तर सिद्ध होने की बात है, उसे मुझसे अधिक निकट से जानने वाले बड़े लोग मौजूद हैं। चकल्लस के 'भाभी' अंक में छपे 'देवर का इन्द्र-जाल' स्केच वाला छछूंदर-मार सुर्जकुमार भावी सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के व्यक्तित्व का एक आरम्भिक रूप भर था। इस किताब को पढ़कर भी यही लगा कि निराला संन्यासियों के बीच में रहकर भी कभी तन्त्र-साधक नहीं रहे थे। निराला जैसा आलसी और अपने 'प्रसन्न मन' की बाट जोहने वाला व्यक्ति ऐसी साधनाओं के काबिल ही नहीं था। इस किताब से यह बात भी साफ़ उभरती है कि अपने प्रति-द्वंद्वियों और विरोधियों को 'पछाड़ने' के लिए उन्हें अपनी कलम और ज़बान पर ही अधिक आस्था थी। वे गाली-गलौज कर सकते थे, झूठ बोल सकते थे, गीदड़ भभकियाँ दे सकते थे, बस इसके अलावा वे कुछ नहीं कर सकते थे। अपने बुलीपन से वे सीधे को तो दबोच लेते थे पर टेढ़े खाँ-मार्का लोगों से कतरा जाते थे। रायबहादुर पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के घर में मैंने बरसों पहले एक बार स्व० हितैषीजी और निरालाजी की नोक-झोंक होते देखी थी। न वह दबने वाले न यह; साथ ही दोनों एक-दूसरे का आदर भी करते थे। श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री निराला में भी सदा बनी-न-बनी वाली बात ही रही। डॉ० शर्मा की किताब से मैंने यह जाना कि छोटे क़द और बड़े बाँके मिज़ाज वाले हमारे भगवती बाबू का नाम निरालाजी ने 'बैंटराज' रखा था। पढ़कर बड़ी ज़ोर से हँसी आई, साथ ही अनूठे और उप-युक्त नामकरण करने वाली निरालाजी की बैसवारी प्रतिभा की दाद दिये बिना भी न रहा गया। भगवती बाबू से भेंट होने पर जब यह प्रसंग आया तो वे बोले—"मैं तो अपने 'लाइक्स' और 'डिसलाइक्स' (पसन्द और नापसन्दगी) में शुरू ही से निरालाजी से एकदम साफ़ रहा। वे हमारे मुँह पर कहते थे, मैं उनके मुँह पर। मगर उनकी 'बाबू तुम मुँह खाते' वाली कविता को 'विचार' में मेरे द्वारा नोट लगाकर छापे जाने के प्रसंग में रामविलास ने मेरे साथ न्याय नहीं किया। मैंने न तो वह कविता मँगाई थी और न रिमाइण्डर भेजा था। यह ग़लत 'स्टेटमेंट' है।

हमारे मित्र ज्ञानचन्द जैन ने कहा कि यह तो निरालाजी के पत्र के आधार पर ही लिखा गया है। इस पर भगवती बाबू बोले—"बात उस पत्र से ही उठती है। निरालाजी की यह बात कि कविता मैंने मँगाई थी और न पहुँचने पर रिमाइण्डर भेजा था, शत-प्रतिशत ग़लत है। तुम तो जानते ही हो, उन दिनों मैं पक्का गांधीवादी था, ऐसी कविता मँगा-कर छापने का सवाल ही नहीं उठता। वह कविता मुझे दी गई थी। बात यों हुई कि मैं इलाहाबाद गया था, वाचस्पति पाठक के यहाँ निरालाजी से भेंट हुई। उन दिनों वे पाठकजी के यहाँ रहते थे। उन्होंने यह कविता सुनाई और मुझसे कहा कि छापोगे। पहले तो मैं सकुचाया पर जब उन्होंने मुझे दो बार चुनौती दी तो हमने भी कहा कि दे दीजिए, छापेंगे। निरालाजी ने वह कविता मुझे वहीं दे दी। पाठकजी भी उस समय मौजूद थे।"

मैं समझता हूँ कि इसके लिए रामविलास शर्मा को दोष देना ग़लत है। बात भगवती बाबू और निरालाजी के बीच की है, शर्मा और वर्मा के बीच की नहीं। निरालाजी कविता छापने की चुनौती भी दे सकते थे और उसके स-नोट छपने पर माँगकर छापने की धौंस भी जमा सकते थे। रामविलासजी ने एक बार प्रसंगवश मुझे एक मज़ेदार घटना सुनाई थी। निराला और रामविलास शर्मा सड़क पर बातें करते चले जा रहे थे। उन दिनों साहित्य-जगत् में सन्नाटा छाया हुआ था। हवा में बहस-मुबाहसे की गर्मी पैदा करने के लिए निरालाजी

ने रामविलासजी से कहा कि कुछ लिखो, न हो तो मेरे विरुद्ध ही लिखो। रामविलासजी ने कह दिया कि अच्छा, आपके विरुद्ध लिखेंगे। बस यह सुनना था कि निरालाजी पलट पड़े। गरमाकर बोले, "लिखौ हमरे खिलाफ़। तुमका बिनौटी आहीं।" निरालाजी के चरित्र में बड़ा विरोधाभास था।

इस पुस्तक में निराला के परिवार में अनेक मौतों वाली घटना, अनाथ भतीजों को पालने के लिए भयंकर संघर्ष भरे दिनों और 'भावों की भिड़न्त' वाले आंदोलन तथा 'सिफ़लिस' से पीड़ित नायक निराला के 'पतन' वाले दिनों का बड़ा ही मार्मिक विवरण अंकित हुआ है। 'भावों की भिड़न्त' लेख के प्रकाशन से 'युगांतरकारी प्रतिभा का धनी' सूर्यकान्त 'बंगाली कविताओं का भाव चुराने वाला' बतलाया जाकर मज़ाक का पात्र बन गया था। रामविलासजी ने अपने चरितनायक का चित्रण खास तौर से उसके कठिन क्षणों में बड़ी ही अन्तरंगता और कलात्मकता से किया है। उनका कलकत्ता जीवन, समन्वय और मतवाला-मण्डल के दिन, निराला-उग्र का आपसी ईर्ष्याद्विन्द्व, सब-कुछ बहुत सजीव रूप से पुस्तक में अंकित किया गया है। वे दिन चूँकि निराला के साथ-साथ छायावाद के उदयकाल के भी थे इसलिए हिंदी साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इतिहासकाल एक बार फिर से जी उठकर हमारे सामने स्पष्ट उभर आता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन-नाटक के साथ एक समाज की साहित्यिक क्रान्तिगत विचारधारा रस बनकर औसत साहित्य-चेता पाठक तक को सहज ही मिल जाती है।

अपने पढ़ने के शौक़ में अनाप-शनाप, बहुत-कुछ पढ़ते रहने के बावजूद आत्मचरित या जीवनचरित मैंने संयोग से कम पढ़े हैं। जीवनी साहित्य के सिलसिले में, अंग्रेज़ी में महारानी विक्टोरिया, तोल्सतोय, बालज़क और रामकृष्ण परमहंस के विस्तृत जीवनचरितों का ध्यान ही इस समय मन में है, शायद दो-चार और भी पढ़े हों। बँगला में रवीन्द्रनाथ का जीवनचरित पढ़ा था। वह देवपुरुष का जीवनचरित अधिक लगा मानव का कम। हिंदी में शिवनन्दन सहाय लिखित तथा राधाकृष्णदास और ब्रजरत्नदास में से किसी एक के लिखे दो भारतेन्दु चरितों को भी मैंने पढ़ा था। इसके बाद, पहला नामलेवा विस्तृत जीवनचरित तो श्री अमृतराय लिखित 'प्रेमचन्द: कलम का सिपाही' ही शायद हिंदी में आया। शिवरानीजी कृत 'प्रेमचन्द घर में' किताब भी मुझे बहुत अच्छी लगी थी, और अमृतराय की किताब से वह एक जगह मुझे इसलिए अधिक अच्छी लगती है कि उसमें चरितनायक की अच्छाइयों के साथ-साथ उसकी कुछ बुराइयाँ भी झलक उठती हैं; हमें प्रेमचन्द का अधिक यथार्थ रूप देखने को मिलता है। खैर, अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद 'प्रेमचंद: कलम का सिपाही' पुस्तक का अपना महत्त्व है और रहेगा। परन्तु रामविलास शर्मा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' अपने चरितनायक के सजीव और यथार्थ चित्रण में नामचीह्न विदेशी जीवनचरितों से बराबर की टक्कर लेने में कहीं अधिक समर्थ है। निराला के यथार्थ स्वरूप को देखकर उनके प्रति मेरी श्रद्धा अब अपने सही सधाव के साथ टिकती है। मोर की सुन्दरता उसके गंदे पैरों के साथ ही अपना सही मूल्यांकन पाती है, उसके पैर काटकर नहीं। मेरे जी से तो बंधुवर रामविलास शर्मा का यह श्रम भरपूर सार्थक हुआ है। सब-कुछ कहे जाने के बावजूद यह पुस्तक हिंदी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी ही जाएगी।

निराला का अर्थ है हिन्दी...

विष्णुकान्त शास्त्री

'निराला की साहित्य साधना' के प्रथम खंड के रूप में निराला के जीवनचरित का प्रकाशन ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है।

हिन्दी में प्रचलित 'सर्वगुणसम्पन्न हमारे चरितनायक'-वाद की अतिशय भावुकतापूर्ण, आधे तथ्य, आधे अनुमान से भरे जीवनचरित-लेखन की धारा से सहज ही अलग दिखनेवाली इस गौरवशालिनी कृति का सबसे बड़ा गुण है आत्मीयतापूर्ण श्रद्धा के बावजूद नीर-क्षीर-विवेकी वैज्ञानिक की-सी वस्तुपरकता एवं तथ्यों के प्रस्तर-खंडों को तराशकर उन्हें जीवन्त कर देने वाले शिल्पी की-सी भावमयता का मणि-कांचन संयोग। सच, डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला को देवता या सन्त बनाये बिना, उनकी दुर्बलताओं पर पर्दा डाले बिना, उनके सहज महान् मानवरूप को इसमें मूर्त्त कर दिया है।

निराला के जीवन की रेखाओं को परिस्फुट करने वाली प्रामाणिक सामग्री के संकलन में बहुत ही विवेकयुक्त परिश्रम किया गया है। उनके साहित्य में आये आत्मव्यंजक उल्लेखों, उनके और उनसे सम्बद्ध अन्यों के पत्रों, संस्मरणों, समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित रिपोर्टों, आलोचना-प्रत्यालोचनाओं, मूल्यांकन आदि को यथासंभव ठोक-बजाकर ही ग्रहण किया गया है। तथ्यों के प्रति निष्ठा इस कृति में इस सीमा तक है कि रामविलासजी इसमें 'गाथा-भंजक' के रूप में प्रकट हुए हैं। अपनी कुछ ग्रंथियों के कारण निराला ने स्वयं अपने बारे में कई गाथाएँ रची थीं, उनके श्रद्धालु भक्तों और द्वेषी आलोचकों ने उनके अनुकूल-प्रतिकूल जो 'गाथा-जाल' रचा है, उसका परिमाण विशाल है। चतुर वकील की तरह जिरह कर और अनुसंधान द्वारा उपलब्ध प्रमाणों की तुला पर तोलकर उन्होंने बहुतेरी गाथाओं को धूलिसात् कर दिया है। प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल उनके कुछ प्रमुख निष्कर्ष हैं : निराला का जन्म वसन्तपंचमी को नहीं हुआ था. महिषादल में उनका लालन-पालन राजकुमारों की तरह नहीं, जमादार के बेटे की तरह अभावों में ही हुआ था, बड़े होने पर भी राज में उन्हें अत्यन्त साधारण नौकरी और प्रचुर लांछना मिली थी, मतवाला का प्रकाशन उनकी प्रतिभा को प्रकाश में लाने के लिए नहीं हुआ था, यह ठीक है कि आरम्भ में मतवाला-मंडल में उनकी स्थिति बहुत सम्मानपूर्ण थी. किन्तु 'भावों की भिड़न्त' के प्रकाशन के बाद वह बात नहीं रह गई थी और 'उग्र' के आगमन के बाद तो वह दयनीय हो गई थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें 'मंडल' से अलग होना पड़ा था, 'जुही की कली' उन्होंने सोलह साल की उम्र में नहीं लिखी थी, न वह उनकी पहली कविता थी, न महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में उसे 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा ही गया था अतः उनके द्वारा उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता, मुक्त छन्द के आविष्कारक निराला नहीं हैं. उन्होंने इसे बँगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष से ग्रहण किया था, दुलारेलाल भार्गव ने उनका पोषण कम और शोषण बहुत अधिक किया, उन्होंने पन्त की काव्य-प्रतिभा का अपहरण कर अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ नहीं लिखीं, वे पागल नहीं हो गये थे उनका मानसिक विक्षेप 'न्यूरोसिस' और 'पैरानोइया' की भूमिका से आगे नहीं बढ़ा था, वे औढरदानी जरूर थे किन्तु रुपये लुटाते नहीं फिरते थे, उन्हें प्रायः अन्त तक अपने बृहत्तर परिवार एवं आश्रितों की चिन्ता रही और यथाशक्ति उनकी आर्थिक सहायता करते रहे। निराला की दुर्बलताओं को भी उन्होंने नहीं छिपाया है, अपेक्षाकृत रूप से अल्पज्ञात तथ्यों 'भोग के पुरस्कार में रोग' पाने का, जीविका के लिए छतरपुर नरेश की प्रशस्ति में कविता लिखने का, अज्ञात कारणों से प्रौढ़ावस्था में हुए उन पर संगीन-आघातों का वर्णन भी किया है और रवीन्द्र एवं पन्त के प्रति ईर्ष्या भरी स्पर्धा का विस्तृत निरूपण भी। इन सबके बावजूद निराला कवि के रूप में ही नहीं, मनुष्य के रूप में भी महान् थे। अपने प्रतिकूल चलने वाले संगठित विरोध अभियान, प्रकाशकों के हृदयहीन शोषण एवं नियति के क्रूर आघातों के विष से दग्ध होते हुए भी अमृतसन्धानी निराला की अदम्य आशावादिता, जीवट भरी संघर्षशीलता, मर्मस्पर्शी कृतज्ञता एवं आघात-जर्जर मन की अपराजेय आस्था के प्रचुर उदात्त, करुण चित्र इस पुस्तक में मिलेंगे। किन्तु शर्माजी ने जिस प्रकार वीर-पूजा की अन्धश्रद्धाभरी प्रवृत्ति से अपने को बचाया है, उसी प्रकार करुणा उगाहने की रुग्ण मनःस्थिति से भी। इस पुस्तक का एवं संभवतः निराला के जीवन का भी करुणतम प्रसंग है सरोज की मृत्यु। दारुण अर्थाभाव में छटपटाता पिता (दुलारेलाल भार्गव ने उस समय निराला को रुपया देने से बिलकुल इन्कार कर दिया था) और सम्यक् चिकित्सा के अभाव में तिल-तिल कर मृत्यु की ओर अग्रसर होती पुत्री किन्तु जिस तरह सरोज की मृत्यु की सूचना पाकर निराला ने 'न एक भी आँसू गिराया, न एक भी शब्द कहा' (पृ० २६३) उसी तरह रामविलासजी की लेखनी ने उस चरम पीड़ा-भोग को परम वाक् संयम द्वारा अत्यन्त प्रभविष्णु ढंग से व्यक्त किया है। सस्ती (प्रायः कृत्रिम) भावुकता से गंभीर भाव-प्रवणता का अन्तर ऐसे ही स्थलों पर स्पष्ट होता है। जो दुःख निराला के खून में ज़हर बनकर घुल गया था और उन्हें जला रहा था, उसके तीखे दाह की अनुभूति पाठक भी करता है, साथ-ही-साथ उस शक्ति का अनुभव भी जिसके लिए रामविलासजी ने लिखा है, 'निराला ने अन्तर की समस्त शक्ति बटोरकर भ्रम और प्रवंचना से दूर अपने क्षुब्ध मन को शान्त किया।' (पृ० २६८) इसी तरह प्रेमचन्द्र, प्रसाद और स्वयं निराला की मृत्यु के प्रकरणों में भी सघन वेदना की हृदयद्रावक अनुभूति के बावजूद अश्रु-छलछल भावुकता

नहीं है।

यह जीवनचरित एक व्यक्ति का होते हुए भी, व्यक्ति-सीमित ही नहीं है। निराला एक व्यक्तिमात्र ही तो नहीं थे। वे संघर्षशील, श्रमजीवी हिन्दी लेखकों के प्रतिनिधि थे, अतः उनकी जिन्दगी बहुत दूर तक सर्वसामान्य श्रमजीवी लेखक की जिन्दगी है। वे अपने युग के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे, स्वभावतः उनके चरित्र में उनके युग की प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ और अन्तर्विरोध भी उभरे हैं। साहित्यिक स्तर पर वह छायावाद के उपहास, विरोध, प्रतिष्ठापन एवं प्रगतिशील, प्रयोगशील धाराओं में रूपान्तर की कहानी है तो राष्ट्रीय स्तर पर कर्मठ वेदान्त, राष्ट्रीयता, गाँधीवाद और 'कास्मिक' समाजवाद के समवाय की गाथा। और फिर वे केवल अपने युग के ही नहीं हैं, रूढ़ियों को निर्ममतापूर्वक तोड़ने वाला यह क्रान्तिकारी परम्परा से सर्वाधिक जुड़ा भी होने के कारण न केवल हिन्दीभाषी जाति का ही बल्कि आद्यमान काल से चली आने वाली भारतीय संस्कृति का मुखपात्र भी है, अतीत का भी है और भविष्य का भी। रामविलासजी ने निराला-चरित के इन विविध स्तरों को सचेत रूप से उद्घाटित किया है, निम्नलिखित उद्धरण इसके प्रमाण हैं—

"आज हर लेखक का भाग्य निराला के भाग्य से जुड़ा हुआ है—उस हर लेखक का भाग्य जिसने ईमान बेचा नहीं है, जो अपनी कला के प्रति सच्चा है। विशेष रूप से हिन्दी लेखक, जो अभावों और रूढ़ियों की दुनिया में एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए जूझ रहे हैं, निराला के भाग्य को अपना भाग्य मानते हैं···" (पृ० ५२२) "निराला अपने युग के साथ महान् थे। भारतेन्दु ने जो आंशिक क्रान्ति की थी, उसे बहुत-कुछ पूरा किया निराला और उनके सहयोगियों ने।" (पृ० ५४८) "निराला का अर्थ है हिन्दी, हिन्दी साहित्य की परम्परा। जिसने परम्परा की कड़ियाँ सबसे ज्यादा तोड़ी थीं, वही उस परम्परा का सबसे समर्थ प्रतिनिधि था।" (पृ० ४६५) "हिन्दीभाषी जाति की अतुल शक्ति और उसके अन्तर्विरोधों के प्रतीक निराला थे।" (पृ० ५५०) "वाल्मीकि और व्यास का उदात्त स्वर भक्ति-काल की विनम्र वाणी में खो गया था। वह स्वर भारतीय जनता ने फिर से इस युग में सुना—निराला के काव्य में।" (पृ० ५५०) हो सकता है कि कुछ लोगों को ये दावे अतिरंजित लगें किन्तु इस विवाद का सही निर्णय तो समय ही कर सकता है। प्रस्तुत जीवनचरित के सम्बन्ध में यही कहना है कि अत्यन्त व्यापक दृष्टि से संवलित होने के कारण यह निराला और उनके युग को बिम्बित करने वाला महत्त्वपूर्ण आलेख बन गया है।

निस्सन्देह इस ग्रन्थ के वे परिच्छेद अधिक मार्मिक और रोचक हैं जो निराला के 'लखनऊ निवास' से सम्बद्ध हैं क्योंकि उस समय रामविलासजी निराला के घनिष्ठ सम्पर्क में थे। प्रत्यक्षदर्शी की अभिज्ञता के कारण उनकी प्रामाणिकता और जीवन्तता बहुत बढ़ गई है। संयोग से यही काल निराला के साहित्यिक चरमोत्कर्ष का काल है, जीवन की सार्थकता के मर्मन्तुद्र प्रश्न को सचेत रूप से हल करने के उनके प्रयास का काल है। इस काल में निराला से अपने निकट साहचर्य के कारण ही रामविलासजी उनकी अन्तःप्रकृति को करीब-करीब ठीक-ठीक समझ पाये थे। 'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' जैसी महान् कविताओं एवं 'प्रभावती', 'चमेली' जैसी गद्य-कृतियों की सृजन-प्रक्रिया के साक्षी होने के कारण ही वे उनकी पृष्ठभूमि को साधिकार स्पष्ट कर सके हैं। अपने परिवेश से सम्बद्ध होते हुए भी ये रचनाएँ किस प्रकार उसका अतिक्रमण करती हैं, इस बात को समझने में उनके विवेचन बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। यह सचमुच प्रशंसनीय है कि रामविलासजी ने इन परिच्छेदों में ध्वजदंड की तरह प्रायः अपने को आवृत्त रखकर निराला की यशः-पताका को ही ऊँचे उठाया है।

निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण एवं पन्त और निराला का तुलनात्मक अध्ययन रामविलासजी की बौद्धिक विदग्धता एवं साहित्यिक मर्मज्ञता का निश्चित प्रमाण तो है ही, इस बात का सूचक भी है कि वे सन् '४८ के संकीर्णतावादी दौर से बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

फिर भी निराला की प्रतिभा इतनी इन्द्रधनुषी और उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी बहुमुखी थीं कि अपनी इस कृति के सम्बन्ध में स्वयं रामविलासजी की यह विनम्र उक्ति कि 'उसके सर्वथा निर्भ्रम और पूर्ण होने का दावा मैं नहीं करता' बहुत उचित है।

निराला के जो दो रूप रामविलासजी को सर्वाधिक भाए हैं उनमें से एक है मर्यादा निभाने के लिए अपने को होम देनेवाला, धरती और लोकजीवन से सम्बद्ध रहनेवाला

उनका बच्च देहाती रूप, जो अमीर माँ-बाप के विदेशफिरत इंटेलेक्चुअलिहा नवाबजादों को—चाहे वे राष्ट्रवादी हों, चाहे समाजवादी—फटकार देता था, और दूसरा है आस्थावान् संघर्षशील योद्धा लेखक का···वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास की परम्परा से जुड़नेवाले लेखक का रूप जो गांधी-नेहरू या सेठ-साहूकारों के सामने अपना मस्तक उन्नत रखता था। स्वभावतः इन्हीं दोनों रूपों को इस ग्रन्थ में प्रमुखता प्राप्त हुई है। किन्तु निराला के व्यक्तित्व के और भी पहलू हैं। रामविलासजी ने ही एक जगह लिखा है, "निराला आधे मन से भोगी हुए, आधे मन से संन्यासी" (पृ० ४७३)। तुलसी के मर्यादावाद के अनुगामी रामविलासजी उनकी तफरीह में शामिल होने से इन्कार करते हैं, वे कुछ तथ्यपूर्ण संकेतों में ही उनके भोगी रूप की चर्चा यथेष्ट समझते हैं।

संन्यासी भाव की चर्चा अपेक्षाकृत अधिक हुई है किन्तु मार्क्सवादी होने के कारण वे उसे पूरा समर्थन नहीं दे पाते। उनका कर्मठ वेदान्ती (ज्ञानी) रूप और रामचरितमानस तथा महावीर का उपासक कर्मण्य, लोकसंग्रही भक्त रूप उन्हें फिर भी पसन्द है किन्तु समर्पणशील विनयपरायण भक्त रूप, लगता है, उन्हें संस्कारतः प्रिय नहीं है। इसीलिए निराला के उत्तरवर्त्ती काव्य की (जो प्रमुखतः विनय काव्य है) एवं तदनुरूप मनोभाव की सम्यक् विवेचना उन्होंने नहीं की है। उस दौर की उनकी कविताओं में भी, जो प्रकृति के रस, रूप, गंध पर हैं, उन्हें ही उद्धृत कर उन्होंने बार-बार यह दिखाना चाहा है कि 'उनका मन संसार की छवि पर अब भी मुग्ध था' (पृ० ४५३)। किन्तु उनका मन मुख्यतः विनय भाव का अवलम्बन कर अपने को विघटित होने से बचा रहा था, यह उन्होंने भलीभाँति नहीं दिखाया है। ऐसा नहीं है कि वे इसको जानते न हों, "लेखनी को लेकर जो हाथ उठा था, अब वह माला की सुमिरनी पकड़ना चाहता है" निराला की यह उक्ति उन्होंने पृ० ४३५ पर उद्धृत की है। उनका यह विश्लेषण बहुत ठीक है, "निराला कल्पना करते थे कि वह बहुत बड़े अद्वैतवादी हैं···पर उनके मूल संस्कार एक भक्त के थे, रामचरितमानस पढ़नेवाले भक्त के थे।" (पृ० ५४०) उनका यह अनुमान भी बहुत संगत है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में वे चेतन-अचेतन रूप से श्री रामकृष्ण परमहंस देव के व्यवहारों का अनुकरण कर रहे थे। किन्तु अपने विश्वासों की सीमा के कारण शर्माजी यह नहीं देख और दिखा पाए कि अन्य भावों के संघात के बावजूद मुख्यतः इसी 'विन[य] भाव' का अवलम्ब ग्रहण कर निराला ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष काटे थे। पूर्वग्रह के कारण व्याख्या किस हद तक विकृत हो जा सकती है इस सन्दर्भ में रामविलासजी के विवेचन से इसका एक उदाहरण देना चाहता हूँ। सरोज के मृत्यु के बाद जीवन की सार्थकता के प्रश्न से जूझते हुए निराला की कुछ पंक्तियाँ और उन पर शर्माजी की टिप्पणी इस प्रकार है—

लाञ्छना इन्धन, हृदय तल जले अनल,
भक्ति नत नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पार कर जीवन प्रलोभन समुपकरण।

"···जो शक्ति रहस्यवादियों के ज्ञान और प्रकाश से मिली थी, वह उन्हें अपने मन में संचित अपमान से मिली। लाञ्छना की अग्नि विकट प्रेरक शक्ति बनकर उन्हें आयु के शेष वर्षों के पार ले जाएगी।" (पृ० २६८) सोचने की बात है कि इन पंक्तियों से यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि निराला को आयु के शेष वर्षों के पार ले जानेवाली शक्ति लांछना की अग्नि है। इसका सीधा अर्थ यही है कि हृदयतल में लांछना इन्धन की आग जलते रहने के बावजूद मैं जीवन के प्रलोभन के समुपकरणों को पार कर भक्ति से नत नयन हो सबल रूप से अविरत चलता रहूँ। उनकी प्रेरणा की शक्ति लांछना की अग्नि नहीं, भक्ति की शीतलता है। इसी गीत के पहले बन्द में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से कही गई है—

भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण।

(गीतिका—गीत सं० ६[illegible])

निराला का सम्बल लांछना की अग्नि जैसी निषेध[क] भावना नहीं, विश्वास और जगन्माता की आज्ञा (निराला का अत्यन्त प्रिय शब्द, जिसे बाद में वे 'आर्डर' के द्वारा व्यंजित करते थे) के अनुसरण के निश्चय जैसे विधायक भाव हैं। किन्तु मार्क्सवादी तो प्रेरणा के भौतिक स्रोत को ही स्वीकार सकते हैं। रामविलासजी ने इसी ग्रंथ में अन्यत्र माइकेल एञ्जेलो और निराला की तुलना करते हुए लिखा है कि अपने मित्र के यह पूछने पर कि, 'इस ठंड में कौन सी चीज़ आपको जिलाये थी ? माइकेल एञ्जेलो ने कहा—अपमान की ज्वाला। अपने गीत में निराला ने लिखा था—

लांछना इन्धन हृदयतल जले अनल—तब वह माइकेल एञ्जेलो की वही अनुभूति व्यक्त कर रहे थे।" (पृ० ५१६) ऊपर के विवेचन से यह साफ है कि माइकेल एञ्जेलो और निराला की अनुभूति में जमीन-आसमान का फर्क है।

इसी तरह इस पुस्तक में हिन्दी जातीयता की रट इतनी अधिक लगायी गई है कि कहीं-कहीं उसके आगे हिन्दू जातीयता और भारतीय राष्ट्रीयता भी दब गई है। हिन्दू जातीयता तो खैर मार्क्सवादियों के लिए साम्प्रदायिकता से भिन्न कुछ है ही नहीं। रामविलासजी के लिए यही कम अफसोस की बात नहीं है कि मतवाला-मंडल में हिन्दू जातीयता की भावना बहुत प्रबल थी, फिर निराला ने भी हिन्दुत्वपरक कुछ कविताएँ लिखी हैं, इस तथ्य से उनको कष्ट पहुँचना स्वाभाविक ही है किन्तु सन्तोष इसी बात का है कि निराला की 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं को 'इच्छानुसार हिन्दू संगठन के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था, अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए भी' (पृ० ११५)। ध्वनि यह है कि हिन्दू संगठन बुरा काम है। निराला को दबाव में पड़कर उसके समर्थन में जब कुछ लिखना पड़ा तो उन्होंने ऐसे ढंग से लिखा कि साँप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी, मतवाला-मंडल के हिन्दू संगठनवादी मित्र भी सन्तुष्ट हो गए और निराला की क्रान्तिकारिता पर साम्प्रदायिकता का धब्बा भी नहीं लगा। यहाँ रामविलासजी ने दुहरा अन्याय किया है, एक तो निराला पर उन्होंने अपनी मानसिकता आरोपित की है, दूसरे 'तू कभी न ले दूसरी आड़' के विश्वासी निराला को कूटनीतिज्ञ बना दिया है। जिस निराला की मान्यता थी 'यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द तो एक गीत मत गाना तुम' वह निराला किसी के दबाव में पड़ कर मुंहदेखी कविताएँ लिखेगा, यह कल्पनातीत बात है। फिर फर्माइशी कविताएँ 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी ओजस्विनी एवं मर्मस्पर्शिणी नहीं हो सकतीं। सच्चाई यह है कि विवेकानन्द के अनुयायी निराला के लिए हिन्दू जातीयता आन्तरिक श्रद्धा और सम्मान की भावना थी तभी वे उसके स्पर्श से अपनी कुछ सर्वश्रेष्ठ वीररसपरक कविताएँ लिख सके थे।

यह भी एक दिलचस्प बात है कि हिन्दू जातीयता को प्रतिक्रियाशील माननेवाले रामविलासजी हिन्दी जातीयता को प्रगतिशील भावना मानते हैं। क्या निराला भी ऐसा मानते थे? रामविलासजी ने 'निराला के मन में हिन्दी-बंगाली जातियों की बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता' के भाव की चर्चा की है। बहुत ठीक, किन्तु क्या इसके चलते वे 'हिन्दी जातीयता बोध' को विकसित करना हितावह मानने लगे थे? इस सम्बन्ध में रामविलासजी द्वारा उद्धृत निराला के वक्तव्य का विश्लेषण करना ही यथेष्ट होगा। निराला का वक्तव्य है, "मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रान्तीयता-बू-विवर्जित हो गया होता, परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ मे प्राप्त होता? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी जरूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रान्तीयता का ज़हर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक्त बंगालियों की एक चाल में।" (पृ० ११३) क्या इस कथन से यह नहीं झलकता कि प्रान्तीयता-बू-विवर्जित होना ही निराला के लिए आदर्श स्थिति थी? क्या बंगाली जातीयता के अनुरूप ही हिन्दी जातीयता से 'प्रान्तीयता का ज़हर' फैलने की संभावना नहीं है? हिन्दी जातीयता, बंगाली जातीयता आदि प्रादेशिक राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा देने वाली अवधारणाओं के साथ निराला का नाम जोड़ना संगत नहीं प्रतीत होता।

जो हो, वैचारिक निष्ठा पर आधारित तत्त्व-सम्बन्धी मतभेदों का सहअस्तित्व भी चल सकता है, किन्तु पर्याप्त सतर्कता बरतने के बावजूद इस ग्रन्थ में रह गयी कुछ भ्रान्तियों का निराकरण तो आवश्यक हो जाता है।

रामविलासजी ने लिखा है कि निरालाजी को 'आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए।' (पृ० २८) इसका कारण उन्होंने बताया है कि रामसहाय तेवारी द्वारा "कम उम्र में बिना पूरी तैयारी के उन्हें जो आठवें दर्जे में भर्ती कराया गया उससे नींव बराबर कमज़ोर रही।" (पृ० २८) इस पुस्तक में कई स्थलों पर इस प्रसंग की कुछ अलग-अलग ढंग से उन्होंने चर्चा की है, उदाहरणार्थ पृ० ४८६ पर लिखा है, "नौ साल की उम्र में वह आठवें दर्जे में भर्ती हुए, सोलह साल के होने तक दसवीं पास न कर पाये। पर राहुल जी से उन्होंने ऊँची हाँकी—एक साल में तीन क्लासें पार कीं।" (पृ० ४८६) इन सबका निष्कर्ष यही निकलता है कि राम-

विलासजी की धारणा के अनुसार वे कक्षाओं में एकाधिक बार फेल हो-होकर ऊपर की कक्षा में चढ़ते रहे। यह सच नहीं है। असल में बंगाल की पुरानी शिक्षा-पद्धति से अपरिचित होने के कारण रामविलासजी से यहाँ अनजाने गलती हो गयी है। महिषादल के हाई स्कूल में निरालाजी का नाम १३ सितम्बर १९०७ को कक्षा ८ सेक्शन बी में लिखा गया था। उन दिनों के नियम के अनुसार हाई इंगलिश स्कूल की प्रारम्भिक कक्षा ही कक्षा ८ होती थी जो आजकल की कक्षा ३ के समतुल्य थी। ऊँची कक्षाएँ क्रमशः सेवेन्थ क्लास, सिक्स्थ क्लास आदि हुआ करती थीं, सर्वोच्च कक्षा को एंट्रेंस क्लास या फर्स्ट क्लास कहा जाता था। (देखिए **रूल्स एंड ऑर्डर्स ऑफ़ द एजुकेशनल डिपार्टमेंट, बंगाल, चैप्टर ३ स्कूल्स—(फिफ्थ एडीसन, १९१९) पृ० सं० ९**) इसका अर्थ यह हुआ कि निरालाजी उस विद्यालय की निम्नतम कक्षा में भर्ती हुए थे और यदि रामविलासजी की यह बात ठीक है कि वे छह साल में ही एंट्रेंस क्लास में पहुँच गये थे तो वे किसी कक्षा में अनुत्तीर्ण तो हुए ही नहीं होंगे, दो बार उन्हें 'डबल प्रोमोशन' मिला होगा अर्थात् राहुलजी से उन्होंने बहुत ऊँची नहीं हाँकी थी। इससे यह साफ हो जाता है कि आरम्भ में वे पढ़ाई-लिखाई में तेज़ ही थे, कमज़ोर नहीं, एंट्रेंस में अनुत्तीर्ण होने का कारण चाहे 'राजपुस्तकालय से अंग्रेज़ी-बँगला-संस्कृत के काव्य' पढ़ना हो, चाहे वैराग्य भाव, चाहे गौना।

इसी तरह रामविलासजी ने लिखा है, "निराला ने बँगला पद्य में उस भाषा में रची हुई अपनी पहली कविता में पन्त को उत्तर दिया।" (पृ० ५५२) संभवतः हिन्दी जातीयता के भाव के ज़ोर मारने पर उपसंहार में रामविलासजी ने यह भी जोड़ दिया, "बँगला उनके लिए मातृभाषा के समान न थी, न आरम्भ में वह बँगला या संस्कृत में कविता करते थे।...जीवन की किसी मंज़िल में भी उनका बँगला-ज्ञान उनके हिन्दी-ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर न था।" (पृ० ६१०) ये निष्कर्ष भी ठीक नहीं लगते। पन्तजी की लिखित निराला की बँगला कविता की प्रसंगगत पंक्तियाँ ये हैं—

आमि एइ भाषाय प्रथम कविता लिखियाछिलाम
ताइ इहातेइ तोमार अभिनन्दन करिलाम। (पृ० १९२)

अर्थात् मैंने इसी भाषा में (अपनी) पहली कविता (या पहले-पहल कविता) लिखी थी, अतः इसी (भाषा) में तुम्हारा अभिनन्दन किया। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि यह कविता बँगला की मेरी पहली कविता है। इसी कविता से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भ में उन्होंने बँगला में कविताएँ लिखी थीं।

रही बात यह, कि उनके लिए बँगला मातृभाषा के समान थी या नहीं अथवा उनका बँगला-ज्ञान जीवन की किसी मंज़िल में हिन्दी-ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर था या नहीं। बंगाल के ग्रामांचल में पलने और बंगाल के माध्यम से एंट्रेंस तक पढ़ने वाले निराला के लिए बँगला मातृभाषा के समान हो गयी होगी, यह अनुमान अत्यन्त संगत है, बिना किसी प्रतिकूल प्रमाण के इसका निषेध करना हठधर्मिता का परिचय देना है। एंट्रेंस तक (अर्थात् १९१४-१५ ई० तक) निराला का हिन्दी साहित्यज्ञान रामचरितमानस एवं पद्माकर के कवित्तों के अतिरिक्त और कहाँ तक था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जबकि बँगला का ज्ञान कम-से-कम एंट्रेंस के स्तर तक का तो था ही। अतः सम्भावना यही कि उस समय हिन्दी साहित्य विशेषकर खड़ी बोली साहित्य के ज्ञान की तुलना में बँगला साहित्य का उनका ज्ञान अधिक होगा। कम-से-कम हिन्दी जातीयता बोध से अनाक्रान्त व्यक्तियों का अनुमान इसी स्थापना के पक्ष में होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस पुस्तक के प्रकाशक से तीन ज़बर्दस्त शिकायतें हैं। पहली तो यह कि छापे की भूलें—हिन्दी के स्तर को ध्यान में रखते हुए भी—इसमें बहुत अधिक हैं, दूसरी यह कि किताब इतनी खराब और कमज़ोर बँधी है कि किताब खरीदनेवाले को सात, आठ दिन बाद ही उसे पुनः मढ़वाना पड़ेगा और तीसरी यह कि दाम इतना अधिक है कि औसत मध्यवर्गीय पाठक इसे नहीं खरीद सकेगा।

पर ये सब बातें गौण हैं। बड़ी बात यह है कि राम-विलासजी की वर्षों की एकनिष्ठ साधना के फलस्वरूप 'तुलसीदास के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि' की इतनी विशद जीवनी... (हिन्दी में अब तक लिखित जीवनी साहित्य की उत्कृष्टतम उपलब्धि) हमें प्राप्त हो सकी। इसके लिए समस्त हिन्दी-जगत् की ओर से कृतज्ञतापूर्वक उनका शत-शत अभिनन्दन।

अन्तर्विरोधों का सरलीकरण

नेमिचन्द्र जैन

किसी सर्जनशील व्यक्तित्व का अन्वेषण तथा साक्षात्कार और फिर उसकी पुनःसृष्टि बड़ा चुनौतीभरा और उत्तेजक कार्य है। और यदि वह व्यक्तित्व निराला-जैसा प्रखर, उग्र और अन्तर्विरोधों से भरपूर हो तो यह कार्य बड़ा कठिन और जोखिम का हो सकता है। कठिन इसलिए कि ऐसा व्यक्ति अपनी सर्जनशीलता के कारण बहुत बार एक से अधिर स्तरों पर जीता और रचना करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व में इतनी तहें बन जाती हैं कि उन्हें ठीक से अलग-अलग देखने और फिर उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए एक ओर बड़ी प्रखर और निर्मम वस्तुपरक दृष्टि की, और दूसरी ओर उस व्यक्ति के साथ सच्ची सहानुभूति और तादात्म्य की, जरूरत होती है। साथ ही, प्रतिभाशाली रचनाशील व्यक्ति के बारे में सहज ही मिथक बन जाते हैं; उसका चुम्बकीय आकर्षण निरंतर ऐसे अंधभक्त और प्रशंसक अथवा विरोधी पैदा करता है जो इन मिथकों की संख्या बढ़ाते रहते हैं; कई बार स्वयं रचनाकार भी ऐसे मिथकों की सृष्टि और वृद्धि में जाने-अनजाने योग देता है। इन सब कारणों से ऐसे व्यक्तित्व की सही-सही पहचान और परख में यह जोखिम रहती है कि वे वस्तुपरक न हों और अतिशय निन्दा या भक्ति के दो भावप्रधान छोरों में उलझी रह जाएँ। निराला का जीवन और कृतित्व इस बात का बड़ा जीता-जागता प्रमाण है। वे जिन्दगी भर अपने व्यक्तित्व और लेखन दोनों से ही अतिवादी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते रहे, और उनकी मृत्यु के बाद भी उनके बारे में जो कुछ लिखा गया है उसमें श्रद्धांजलि का भाव अधिक है, एक समर्थ कृतिकार और तेजस्वी व्यक्ति का वस्तुपरक मूल्यांकन या विश्लेषण बहुत कम। हाल ही में प्रकाशित रामविलास शर्मा के तीन खंडों में प्रस्तावित ग्रंथ 'निराला की साहित्य साधना' का जीवन-चरित सम्बन्धी प्रथम खंड इस कार्य की सभी कठिनाइयों, चुनौतियों और खतरों को जाहिर करता है।

ग्रन्थ का उद्देश्य निस्संदेह बड़ा भी है और महत्त्वाकांक्षी भी। भूमिका में लेखक ने कहा है : "निराला के पारिवारिक, सामाजिक परिवेश से, उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों से, उनके जीवन के बाह्य रूपों के साथ उनके अंतर्जगत से, पाठकों को परिचित कराना मेरा उद्देश्य है।" और कि "मैंने भरसक उनका वस्तुपरक जीवनचित्र दिया है, जिसका उद्देश्य पाठक को मुग्ध करना नहीं, विवेक से निराला के व्यक्तित्व को समझने में सहायक होना है।" रामविलास शर्मा का निराला के साथ लंबे अरसे तक बड़ा गहरा और निजी संपर्क था और वे कवि के बहुत-से बाहरी और आन्तरिक संघर्षों के बड़े समीप के साक्षी रहे। निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ उनका लगाव और तादात्म्य भी ऐसा रहा है जो सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और सहानुभूति के साथ लिखने में सहायक हो सकता है। जाहिर है कि अपनी इस पुस्तक में उन्होंने निराला के जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी नई सामग्री का बड़ी मेहनत और लगन के साथ विभिन्न स्रोतों से संग्रह किया है, और बहुत-सी परिचित अथवा अल्प-परिचित घटनाओं, परिस्थितियों और प्रसंगों को एक तर्कसगत क्रम में रखने की कोशिश की है। विशेषकर जिस युग में निराला की प्रतिभा विकसित होकर निखरी, उस पूरे दौर के साहित्यिक इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण स्थितियों और घटनाओं तथा उनके साथ निराला के संबंध पर प्रकाश पड़ा है।

मगर जीवनीकार की ज़िम्मेदारी केवल तथ्यों के संग्रह मात्र की नहीं है, और न ही किसी पूर्वनिश्चित योजना और पक्षपात या आग्रह के साथ तथ्यों को सजा देने की है। साथ ही जीवनी कोई उपन्यास भी नहीं कि कल्पना के सहारे चरितनायक की सुन्दर प्रतिमा गढ़ने के लिए तथ्यों को खास ढंग से तोड़ा-मरोड़ा या घटाया-बढ़ाया जाए। इसलिए सक्षम और 'वस्तुपरकता' का उद्देश्य लेकर चलने वाले जीवनीकार को दो स्तरों पर कार्य करना पड़ता है : एक, सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को लेकर, चाहे वे कितने ही अप्रिय या अवांछनीय क्यों न हों, एक निष्पक्ष जीवनवृत्त प्रस्तुत करना; और दूसरे, उन तथ्यों में अभिव्यक्त आन्तरिक विरोधों, असंगतियों और विविधताओं के बीच से एक जीवन्त व्यक्तित्व को उभार देना। इस कार्य में जितनी सहानुभूति और अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है उतनी ही निष्पक्षता और निर्मम तटस्थता की भी। इस दृष्टि से इस बात से इंकार करना कठिन है कि रामविलास शर्मा द्वारा प्रस्तुत निराला का 'जीवन-चित्र' 'वस्तुपरक' से अधिक रोमांटिक है, और उसके पीछे नायक-पूजा का भाव तथा प्रतिभा-सृष्टि का उद्देश्य ही

प्रधान है। इसीलिए उसमें निराला के व्यक्तित्व का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह उसके बुनियादी अंतर्विरोध का बेझिझक सामना करने की बजाय उसके मनोविश्लेषण-मूलक या अन्य प्रकार के औचित्य खोजने में उलझ जाता है। निराला के जीवन को रामविलास ने सफलता की कुछ ऐसी रोमांच-कथा के रूप में प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार सुर्जकुमार तेवारी नामक एक साधारण ग़रीब परिवार में जन्म लेने वाला बालक, शिक्षा के अवसरों, साधनों और सुविधाओं से वंचित और अपने सहज स्वाभाविक क्षेत्र से दूर प्रतिकूल प्रदेश में रहकर भी, केवल अपनी 'कल्पना, मेधा और ऊर्जा' के बल पर, अपने अनवरत स्वाध्याय और अथक परिश्रम के सहारे, अपनी भीतरी क्षमता, प्रतिभा और प्रेरणा के ज़ोर से, अमानवीय परिस्थितियों, विरोधों और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—तुलसीदास के बाद हिन्दी का महानतम कवि—बन गया। निराला के बारे में इस तस्वीर की शायद ज़्यादातर बातें, अलग से अपनी-अपनी जगह कमोबेश सही हैं। पर रामविलास शर्मा ने उन्हें जिस चौखटे में और जिस अभिभूत भाव से पेश किया है वह इस समग्र चित्र को वस्तुपरक से अधिक कल्पना-रंजित बना देता है। इस रुझान से सामना पहले ही अध्याय में होता है जिसमें बालक सुर्जकुमार की कथा बड़े प्रगीता-त्मक लहजे में, किसी उपन्यास के काल्पनिक चरित्र की सृष्टि के अन्दाज़ से, कहानी जैसी सजावट और बुनावट के साथ, लिखी गई है। निस्संदेह यह अंश अपने आप में बड़ा रोचक लगता है पर उसकी विश्वसनीयता वस्तुपरक जीवनी जैसी न होकर एक जीवनीमूलक कहानी जैसी है। कम-से-कम यह प्रारंभिक अध्याय लिखते समय रामविलास का आदर्श अर्विंग स्टोन, माइकेल एंजेलो के जीवन पर लिखे उपन्यास 'दि ऐगनी एंड दि एक्सटैसी' ही रहा है, जिसे वे मानते हैं कि "वास्तव में यह पुस्तक उपन्यास कम जीवनी अधिक है, अनेक जीवनी कहलाने वाली पुस्तकों से प्रामाणिक है।" (पृ० ५१७)।

'निराला की काव्य-साधना' में भी प्रारंभ में शायद ऐसी औपन्यासिक प्रकार की प्रामाणिकता की ही तलाश ज़्यादा थी। मगर शैली की दृष्टि से दरअसल यह रामविलास शर्मा का अपना स्थायी निजी रंग नहीं। उनका असली रंग है किसी पूर्व-निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए सुविधा-नुसार तथ्यों तथा तर्कों की एक पर एक चुनाई और प्रतिकूल तथ्यों और तर्कों की या तो उपेक्षा या व्यंग के द्वारा उनकी धुनाई। इस पुस्तक के बाद के 'मृत्यु से संघर्ष' तक वाले अध्यायों में रामविलास ने अपनी इसी सुपरिचित पद्धति का बेझिझक उपयोग किया है। 'साधना-प्रारम्भ' में निराला को नई कविता का नेता और योद्धा सिद्ध करने के लिए लिखा है : "निराला की निगाह इस समय हिन्दी की हर प्रसिद्ध पत्रिका पर थी। कहाँ क्या निकला, छायावाद के पक्ष में कहाँ क्या लिखा गया, विरोध में क्या, यह सब कुशल नेता की तरह वह चौकन्ने होकर देखते थे। प्रसाद वाद-विवाद से दूर रहते थे। पंत अभी उभर रहे थे। गद्य वैसे भी न लिखते थे। केवल 'निराला' ललकार-ललकार कर शत्रुओं का वध करने में लगे थे। पर जो साहित्य की सेवा कर रहे थे अथवा नई कविता को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे, उनके प्रति वह आदर और स्नेह भी प्रकट करते थे।" (पृ० ७७)। और आगे "ऐसी व्यापक प्रसिद्धि उतने कम समय में अब तक हिन्दी में किसी कवि को न मिली थी, उन कवियों को भी नहीं जिनकी रचनाएँ स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में छापी थीं। एण्ट्रेन्स फ़ेल सुर्जकुमार ने अपनी प्रतिभा और पौरुष से युगप्रवर्तक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की इस भव्य मूर्ति का निर्माण किया था। आँखों में चका-चौंध पैदा करने वाली उस छवि पर कुछ विस्मित, कुछ मुग्ध, वह उचित ही गर्व कर सकते थे।" (पृ० ८१)। इस पुस्तक में रामविलास भी अपने द्वारा रची निराला की 'छवि' पर 'कुछ विस्मित, कुछ मुग्ध' ही हैं। इसलिए निराला के विरोधियों की चर्चा में उनकी ख़बर लेते हैं : "वे मौक़े की तलाश में थे कि ऐसा दबोचें कि युगप्रवर्तक महाशय ज़मीन से फिर उठ न पाएँ।" (पृ० ९७)। या, "ज़्यादा अच्छा होता कि राष्ट्रवादी कवि छायावादियों के साथ मिलकर नायिकाभेद और समस्यापूर्ति वाली परम्परा का मूलोच्छेद करते। पर उन्हें लग रहा था कि छायावादी कवि उनकी गद्दी छीने ले रहे हैं।...भावापहरण की बात सही थी पर इस सही बात से यह ग़लत नतीजा निकाला गया था कि निराला का समस्त कवि-कर्म बँगला की नक़ल है, युगप्रवर्तन का दावा ढोंग हैं, उनकी मौलिकता की चर्चा धोखा है।" (पृ० १०५)। और यदि चर्चा निराला के पक्ष की हो तो इस प्रकार—"लेख मुंशीजी ने लिखा, उसमें युक्तियाँ निराला की दीं। मौलिकता का अर्थ पूछने वाला दाँव निराला का था।

स्वयं आवेश में आने पर विरोधी पर आवेश का आरोप लगाना उन्हीं की कला थी।...सारी तर्क-योजना हिन्दी में अपने विरोध से चिढ़े हुए निराला की थी।" (पृ० १०२-१०३)।

दरअसल रामविलास ने अपने इस ग्रंथ में निराला को शत्रुओं, विरोधियों और शोषकों से घिरे हुए पीड़ित किन्तु निरन्तर संघर्षशील क्रांतिकारी योद्धा की भाँति ही देखा और अंकित किया है। दुनिया निराला-समर्थक और निराला-विरोधी दो शिविरों में बँटी हुई थी जिसमें जो निराला का आलोचक या विरोधी था वह अक्षम्य था। उन्होंने कवि के जीवन की प्रायः सारी घटनाओं और स्थितियों को इसी अंदाज में अपनी खास और 'विचित्र द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति' से क्रमबद्ध और संयोजित ही नहीं किया, बल्कि उनको संपादित और संतुलित किया है, उनका वज़न घटाया या बढ़ाया है, उन्हें शामिल किया या छोड़ दिया है। इसलिए सारे प्रसंग यथार्थ होकर भी खास ढंग से सजाए हुए लगते हैं, चाहे रवीन्द्रनाथ से श्रेष्ठता का दावा हो, चाहे मतवालामंडल के सदस्यों से मतभेद हो, चाहे महावीरप्रसाद द्विवेदी, उग्र, रूपनारायण पांडेय, बनारसीदास चतुर्वेदी से झड़प हो। हर प्रसंग में कुछ ऐसा आभास निरन्तर होता है कि रामविलास निराला के व्यवहार या विचार को उचित और सही तथा दूसरे को अनुचित और ग़लत साबित करने का पहले से ही निश्चय कर चुके हैं। शायद इसीलिए ऐसे प्रसंगों को, जिनमें उनकी निगाह में कवि की तस्वीर कुछ कम गौरवशाली दिखाई पड़ती, या तो वे टाल गए हैं, बचा गए हैं, या छूकर छोड़ दिया है, या गोलमोल रहने दिया है। कई जगह उन्होंने कहने के लिए कुछ उल्लेख भर कर दिया है जिससे औपचारिकता तो पूरी हो जाए पर बात खुले नहीं। ऐसे प्रसंगों में निष्पक्षता या वस्तुपरकता से अधिक चतुराई ही अधिक प्रकट होती है। निराला के व्यक्तिगत जीवन और आचरण या चरित्र पर उस ज़माने के दक़ियानूसी या बहुत-से समझदार लोगों की प्रतिक्रिया सहानुभूतिपूर्ण न थी, बल्कि निराला के बहुत-से विरोध या उपेक्षा का एक कारण यह भी था। पर रामविलास उनके जीवन के इस पक्ष के बारे में कोई तथ्य या विवरण नहीं देते। उनके 'व्यसनों' का ज़िक्र भर केवल औपचारिकता के लिए ही करते हैं। रामविलास को तो निराला की 'आधे मन से भोगी और आधे से संन्यासी' की प्रतिमा गढ़नी है। इसलिए उन जैसे सौंदर्य-प्रेमी, ऐंद्रिक जगत के रूप-रस गंध-वर्ण के वैभव के प्रति असाधारण रूप से संवेदनशील, कवि के जीवन में किसी अनुराग का, प्रेम-प्रसंग का, किसी भावनात्मक अंतर्द्वन्द्व या उलझाव एक भी उल्लेख इस इतने बड़े ग्रंथ में नहीं है। निराला की पत्नी का देहान्त बहुत जल्दी ही हो गया था। पर रामविलास के विवरण से कुछ ऐसा आभास होता है जैसे उसके बाद कोई स्त्री उनके जीवन में कभी आई ही नहीं। बल्कि पत्नी मनोहरादेवी के प्रति निराला के भाव को कुछ इस ढंग से रक्खा गया है जैसे वे आजीवन उसी याद का व्रत निभानेवाले गृहस्थ थे। परवर्ती काल में पुत्र रामकृष्ण के साथ उनके संबंध अच्छे न थे, बल्कि शायद बहुत अप्रिय और कष्टदायक थे। पर इसका भी कहीं कोई आभास नहीं मिलता। बल्कि पूरे ही परवर्ती जीवन का चित्र बड़ा अस्पष्ट, अधूरा और भ्रामक है। लगता है रामविलास कोई ऐसा प्रसंग या घटना या व्यवहार नहीं देना चाहते जो निराला की वेदी पर प्रतिष्ठित मूर्ति को नीचे उतार दे। जो कुछ प्रसंग दिए भी हैं उनका औचित्य दिखाने की या कारण खोजने की कोशिश की है। "निराला के चरित्र की बड़ी चर्चा थी इसलिए कि निराला निर्धन थे और पुरानी समाज-व्यवस्था की नींव हिलानेवाले क्रांतिकारी भी थे।" (पृ० ५३६)। "निराला में युग की असंगतियाँ पुंजीभूत थीं।" (पृ० ६१२)। ऐसी ही बहुत-सी गोलमटोल और सामान्य प्रकार की बातों से पूरा जीवनचित्र एक निराशाजनक आत्मपरकता से धुंधला पड़ गया है। निराला की महानता को, कम-से-कम उनके काव्य की महानता को, किसी आड़ या बचाव की ज़रूरत नहीं है। उनके जीवन के दो-टूक स्पष्ट और तथ्यपरक चित्र से तो उनका कवि-व्यक्तित्व और भी अधिक स्पष्टता से उभरेगा और उनके परवर्ती मानसिक असंतुलन को सही परिप्रेक्ष्य मिल सकेगा। इस बात से बड़ी खीझ होती है कि निराला की नायक या योद्धा-जैसी तस्वीर बनाए रखने के मोह में रामविलास ने या तो जानबूझकर उनके जीवन की बहुत-सी घटनाओं का संग्रह ही ज़रूरी नहीं समझा, या संग्रह किया भी तो उन्हें छोड़ दिया, और जिनको शामिल भी किया उन्हें पूरी निरपेक्षता और वस्तुपरकता से नहीं रक्खा। बल्कि एक पूर्व-निर्धारित चित्र के अनुसार उनका संपादन-संयोजन और उनके बलाबल में इतनी घटा-बढ़ी की है कि पूरी तस्वीर ही अधूरी, धुंधली, विकृत और

इसलिए अप्रामाणिक तथा असंतोषजनक हो गई है।

शायद यही कारण हो कि पूरा जीवनवृत्त दे चुकने के बाद पुस्तक के सोलह से बीस तक पाँच अध्यायों में—व्यक्तित्व और परिवेश, विक्षेप-अर्ध-विक्षेप ?, मूल्यांकन, पंत और निराला तथा उपसंहार में—विस्तार से निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है, उसकी कई एक अप्रीतिकर अथवा अवांछनीय समझी जानेवाली 'ग्रंथियों' के संबंध में भ्रम दूर करने के लिए व्याख्या की गयी है। मगर इतने लम्बे जीवनवृत्त के बाद यह अतिरिक्त व्याख्या या मूल्यांकन किस लिए ? क्या वह उस वृत्त में ही निहित नहीं होता या होना चाहिए ? क्या यह इस बात का सूचक नहीं कि वृत्त से कुछ ऐसे प्रश्न उठ गए हैं या छूट गए हैं जिनका समाधान अलग से आवश्यक है ? दरअसल इस ग्रंथ की एक बड़ी असफलता इसकी रूपगत अराजकता है। इसमें कहीं कथात्मक शैली अपनाई गई है, कहीं विशुद्ध वर्णनात्मक, कहीं व्यंग और वाद-विवाद की और कहीं शुद्ध निबंध की। पद्धतियों को इस प्रकार गडमड करने के कारण प्रभाव की समग्रता खंडित हो गई है। सामग्री के चयन और उपयोग में न केवल आवश्यक बौद्धिक तटस्थता और वस्तु-परकता की कमी है, बल्कि रचनात्मक विवेक, संवेदनशीलता का अभाव भी खटकता है। लेखक का मुख्य उद्देश्य विवरण को अधिक रोचक बनाना है, रचना के आंतरिक या बाह्य रूप के बारे में वह लापरवाह है। बहरहाल, ग्रंथ के अंतिम कुछ अध्याय इसलिए दिलचस्प और विचारणीय हैं कि निराला के जीवन की कुछ विशेष घटनाओं और प्रसंगों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त स्वयं रामविलास शर्मा की अपनी दृष्टि को, उनकी पक्षधरता और एकांगी निष्कर्ष-वादी प्रवृत्ति को एकदम स्पष्ट कर देते हैं।

सबसे पहले निराला के मानसिक असंतुलन के प्रश्न को लें। उसके बारे में एक दृष्टिकोण यह हो सकता है कि उनमें अद्वितीय प्रतिभा और सर्जनशीलता के साथ-साथ एक प्रकार का मानसिक असंतुलन भी प्रारम्भ से था, जिसने एक स्तर पर यदि उनके रचनाकार्य में एक विशेष प्रकार की तीव्रता, सघनता और कल्पनाशीलता उत्पन्न की, तो एक अन्य स्तर पर उनका जीवन से और परिस्थितियों से समायोजन कठिन ही नहीं असंभव बना दिया। यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण हो सकती है, पर इससे एक रचनाकार की अद्वितीयता या महानता में कोई अन्तर नहीं आता। महानता पर आँच आने की झूठी आशंका से निराला के विक्षेप के तथ्य पर, उसके कारणों और परिणामों पर, लीपा-पोती या उनकी बड़ी-बड़ी सैद्धांतिक व्याख्याएँ न केवल ग़ैर-ज़रूरी हैं बल्कि वे बौद्धिक खोखलेपन की सूचक हैं, भले ही वे निराला के प्रति गहरे भक्ति भाव से ही उत्पन्न हुई हों। रामविलास ने अपनी पुस्तक में निराला के मानसिक असंतुलन की जैसी व्याख्या की है वह उनके भावुकतापूर्ण भक्तिभाव को सूचित करने के साथ हास्यास्पद भी लगती है। अपने 'विक्षेप—अर्ध-विक्षेप ?' अध्याय के शुरू में वे मानते हैं कि प्रारम्भ से ही निराला के व्यवहार में असाधारणता थी, वे जल्दी आवेश में आ जाते थे, विरोधियों के बारे में अद्भुत कल्पनाओं द्वारा उनसे प्रतिशोध लेते थे, या अपने जीवन के अभावों की पूर्ति कल्पना द्वारा, कहानियाँ, गाथाएँ गढ़कर करते थे। "इन सपनों के साथ त्रास की भावना जुड़ी हुई थी। त्रास से बचने के लिए ही वह अपनी महिमा के भव्य स्वप्न रचते थे। लोग उनका पीछा कर रहे हैं, उन्हें अपमानित करते हैं, उन पर हँस रहे हैं, अपना बड़प्पन दिखाते हैं, उनका राज़ लेकर उन्हें षड्यंत्र में फँसाना चाहते हैं, इस तरह का भय उन्हें लगा रहता था।" (पृ० ५०१)। मानसिक असंतुलन की यह एक ऐसी स्थिति है जो कई कारणों से, परिस्थितियोंवश, कुछ लोगों में होती है। यह त्रास, कम-से-कम उसकी मात्रा या तीव्रता, प्रायः काल्पनिक ही होता है, पर उससे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति के समर्थ जीवनीकार का यह दायित्व है कि चरितनायक के जीवन में यथार्थ और भ्रम के आजीवन प्रति-फलन को सही-सही वस्तुपरक रूप में देखे और प्रस्तुत करे और रचनाकार तथा उसके व्यवितत्व के ऊपर उसके प्रभाव की सही पड़ताल और मूल्यांकन करे। पर रामविलास जी त्रास और उससे उत्पन्न असुरक्षा-भाव के कुछ विवरणों के बाद उसके मनोविश्लेषणात्मक तथा समाजशास्त्रीय कारणों की खोज में जुट पड़ते हैं। "निराला का मानसिक संतुलन बिगाड़ने में उनके साहित्यिक विरोधियों का बड़ा हाथ था। निराला इस विरोध को बढ़ा-चढाकर देखते थे पर वह विरोध था वास्तविक।···यदि वह एक संगठित कुटिल अभियान का रूप ले ले तो उससे लेखक के मन को चोट लगेगी ही।" (पृ० ५११)। विरोध किस प्रतिभाशाली लेखक का नहीं होता, पर मानसिक असंतुलन का कारण विरोध को

चढ़ाकर देखना ही होता है। 'मन को चोट लगने' से असंतुलित हो जाना ज़रूरी नहीं। पर रामविलास इस विरोध को ही असंतुलन का असली और मुख्य कारण मानते जान पड़ते हैं। ऐसा मानने में दो लाभ हैं : उससे निराला की महान् योद्धा वाली प्रतिमा भी पुष्ट होती है और विरोधियों की दुष्टता और नीचता भी स्थापित हो जाती है। "निराला का लिखना बन्द कराने के लिए, साहित्य-संसार से खदेड़ कर उन्हें बाहर कर देने के लिए जितने दिनों तक, जिस तीखेपन से, जितने निम्न स्तर पर, जितने संगठित तरीक़े से आन्दोलन चला, वह साहित्य के इतिहास में अनुपम और अद्वितीय है। आश्चर्य यह नहीं कि उनका मानसिक संतुलन बिगड़ा, आश्चर्य यह कि वह इतने दिनों तक यह सब झेल कैसे गए, उस सब के बावजूद इतना लिख कैसे गए।" (पृ० ५१५)। पर यह साफ़-साफ़ लफ़्फ़ाजी है, भावुकतापूर्ण, पर एकदम बेकार और झूठी। असलियत यह है कि निराला के व्यक्तित्व का ही एक अंश स्वयं अपने विरुद्ध विरोध को निरन्तर उकसाता रहा, अपने असंतुलन से उसको तीव्र करता रहा, और दूसरा अंश उसी भीतरी शक्ति से रचनाशील भी रहा। प्रचारवादी राजनैतिक आन्दोलन की शब्दावली में निराला के मानसिक असंतुलन की बात करना बेमानी और भ्रामक ही नहीं, बौद्धिक ईमानदारी की कमी भी सूचित करता है। इसी तरह निराला के अहंकार की चर्चा करते हुए रामविलास कहते हैं : "किस कलाकार में अहंकार नहीं होता ? अगर वह समझता है कि दूसरे बड़े हैं, वह छोटा है, तो उसे क़लम रख देनी चाहिए; दूसरों का लिखा पढ़े, व्यर्थ काग़ज़ रँगने से फ़ायदा !...जिस समाज में सम्पत्ति पुजती हो, उसमें प्रतिभा का धनी अहंकारी न हो तो नाक रगड़ते-रगड़ते उसकी कला भी घिस जाए।" (पृ० ५१६-१७)। यह मानना मुश्किल है कि रामविलास यह नहीं समझते कि निराला का अहंकार ठीक इस प्रकार का नहीं, बल्कि भीतरी असंतुलन से उपजा अन्य प्रकार का अहंकार था जिसने उन्हें पागलपन की ओर धकेला। दरअसल इस तथा ऐसे ही अन्य वक्तव्यों में भोलेपन की अदा के बावजूद बड़ी चतुराई से बात को ग़लत रास्ते पर ले जाने की कोशिश है। इसीलिए रामविलास यहीं नहीं रुकते, वे इस संदर्भ में हैमलेट, लियर, माइकेल एंजेलो के पागलपन और शेक्सपियर द्वारा चित्रित पागलपन के लम्बे सैद्धांतिक विवेचन के बाद अंत में अपने चरम निष्कर्ष तक पहुँचते हैं : "पर हैमलेट, लियर और निराला का मानसिक असंतुलन, उनकी चिन्ताएँ, थकन-ग्लानि के भाव, उत्पीड़न और आत्मगरिमा के सपने एक ऐसे टाइप के हैं जो पूँजीवादी परिस्थितियों की विशेष देन हैं।" (पृ० ५२१)। मनोविश्लेषणशास्त्र और समाजशास्त्र का यह प्रदर्शन इतना अधकचरा और सतही है कि इस पर कोई भी टिप्पणी बेकार है। इस खोखले 'रेटारिक' से अब कुछ सिद्ध नहीं होता। बस खेद की बात यह है कि रामविलास इस घटिया साधन का उपयोग निराला के लिए करते हैं।

यही निष्कर्षवादी सरलीकरण की प्रवृत्ति अन्य अध्यायों में निराला के समग्र व्यक्तित्व के विश्लेषण में भी प्राय: मौजूद है, जो बहुत-सी तथ्यपरक सामग्री और कई स्थलों पर सूझ-बूझ के बावजूद, पूरे विवेचन को आत्मपरक, नायकपूजाग्रस्त और भावुकतापूर्ण बना देती है। पुस्तक के इन अन्तिम अध्यायों में रामविलास के चिन्तन के बारे में एक बड़ी आश्चर्यजनक जानकारी मिलती है : फ्रायड और मनोविश्लेषणशास्त्र में उनकी अचानक भक्ति। या संभवत: यह इतनी अचानक नहीं है। शायद सरलीकृत समाजशास्त्र के समुद्र में डूबते को सरलीकृत और अधकचरा मनोविश्लेषणशास्त्र सदा तिनके का सहारा सिद्ध होता है। 'व्यक्तित्व और परिवेश' वाले पूरे अध्याय में 'व्यक्तित्व' और 'परिवेश' की मूलतः मनोविश्लेषणशास्त्र की शब्दावली में परिभाषा और व्याख्या करने की कोशिश है। "निराला के मन में बहुत-सी ग्रंथियाँ, बहुत-से तनाव, अनेक अन्त:विरोध, अनेक निषेध भावनाएँ और दमित कामनाएँ, एक-दूसरे से उलझी हुई, सतत क्रियाशील, उन्हें बेचैन करती रहती थीं।" (पृ० ४८१)। इस सन्दर्भ में उन्होंने निराला की बहुत-सी 'ग्रंथियों' की चर्चा की है : 'पंत-ग्रंथि', 'जवाहर-ग्रंथि', 'रवीन्द्र-ग्रंथि', 'गांधी' सम्पूर्णानन्द, नरेन्द्रदेव आदि को लेकर दो-चार गाँठें'।

इनमें 'पंत-ग्रंथि' पर तो एक पूरा अध्याय है : 'पंत और निराला'। छायावादी दौर के इन दो प्रमुख कवियों का आपसी सम्बन्ध लगातार चर्चा और विवाद का विषय रहा है। रामविलास ने इस 'परस्पर सम्बन्ध' को 'वशीकरण और उच्चाटन की विरोधी लहरों के संघर्ष' के रूप में देखा और पेश किया है : "छायावाद के दो प्रमुख कवि, व्यक्तित्व में समानता और बहुत बड़ा वैषम्य, दोनों में परस्पर आकर्षण और दुराव, दोनों के दुःस्वप्नों की प्रक्रिया काफी मिलती-

जुलती-सी।" (पृ० ५८०)। दोनों के तुलनात्मक मूल्यांकन के सन्दर्भ में : "निराला जितने आत्मकेन्द्रित उतने ही वस्तु-केन्द्रित, जितने अन्तर्मुख उतने ही बहिर्मुख, जितने कल्पनाशील, उतने ही यथार्थदर्शी। पंत···आत्मकेन्द्रित अधिक, वस्तुकेन्द्रित कम।···निराला जितने धार्मिक थे उतने ही संशयवादी। पंत के मन में धार्मिक विश्वासों की जड़ खोदनेवाली वृत्तियाँ निर्जीव थीं। निराला मूलतः रूढ़ियों के ध्वंसक क्रांतिकारी थे; पंत मूलतः मध्यमार्गी, समझौताप्रेमी, जीवन में उच्च वर्गों के सहयोगी थे। निराला में कल्पनाशीलता, मेधा, ऐन्द्रिय विलासप्रियता, वैराग्यभावना—इन सबको प्रेरित करने वाली दुर्धर्ष ऊर्जा थी। पंत में···ऊर्जा की ही कमी थी जिसके बिना उदात्त की सृष्टि नहीं होती। दोनों अर्धनारीश्वर, निराला में शिव अधिक पंत में पार्वती।" (पृ० ५६६)। या, "मान, अपमान, घृणा, ग्लानि, अवसाद,—सब कुछ निराला में उदात्त, पंत में सब कुछ वातानुकूलित। निराला ने अपनी काव्य-गरिमा की कीमत चुकाई मानसिक सन्तुलन देकर; पंत अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रहे, काव्य-गरिमा खोकर।" (पृ० ५६५)। यह सब तुलना बेहद दिलचस्प और कई बातों में सूक्ष्म होकर भी कुल मिलाकर प्रभाववादी ढंग की और अर्ध-सत्यों से भरी है और दोनों कवियों के विवेकपूर्ण तुलनात्मक मूल्यांकन की बजाय रामविलास के पूर्वाग्रह को ही अधिक जाहिर करती है। पुस्तक में और भी कई स्थलों पर रामविलास ने पन्त को प्रायः या तो कृपा के स्वर में या व्यंग्य के साथ याद किया है। निस्संदेह पन्त के काव्य और व्यक्तित्व के प्रति रामविलास का यह रुख कोई नया नहीं है। पर इसमें मनोविश्लेषणशास्त्र की शब्दावली कुछ नयी है; और उसमें ध्वनित तथ्य या निष्कर्ष बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं है, कम-से-कम उतना कुरुचिपूर्ण तो है ही जितना 'लोकायतन' में पंत द्वारा माधोगुरु के रूप में निराला का चित्रण। क्या यह उसी का जवाब है? पन्त-निराला के सम्बन्धों का यह विवेचन पढ़ने में चाहे जितना रोचक और नया लगे, पर वह आलोचक या जीवनीकार रामविलास की 'वस्तुपरक' दृष्टि का सूचक नहीं है।

निराला की 'ग्रन्थियों' के अतिरिक्त रामविलास ने उनकी अपने विषय में गाथाओं की रचना करने की प्रवृत्ति का ज़िक्र किया है : अपनी जन्मतिथि के बारे, पिता की हीन स्थिति के बारे में, बँगला-संस्कृत ज्ञान के बारे में, मुक्त छन्द की सृष्टि तथा मतवालामंडल के बारे में। तथ्यों की दृष्टि से यह अंश उपयोगी है और निराला के सम्बन्ध में कुछ सही जानकारी देता और भ्रमों को दूर करता है। पर उसकी मनोविश्लेषणशास्त्रीय शब्दावली निरा धोखा है जिसका उद्देश्य है सीधी बात को घुमा-फिराकर रखना, निराला के जीवन में एक अप्रिय सत्य के तीखेपन को कम करना और एक 'क्लिशे' का उपयोग करें तो, चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारने से बचना। दरअसल रामविलास निराला के व्यक्तित्व में मौजूद एक विभाजन को, एक आत्मपीड़क या आत्मघाती रुझान को, निर्ममता से स्वीकार नहीं कर पाते। वह तरह-तरह के तथाकथित 'उदात्त' कोटि के अन्तर्विरोधों के रूप में रखने का प्रयास इस पुस्तक में लगातार करते हैं : बैसवाड़े के सिपाहियों के धार्मिक संस्कार और इन्द्रजाल की पोथियाँ तथा बंगाल के तंत्रमंत्र; योग और भोग; संन्यास, त्याग-तपस्या, भक्ति और राजसी ठाट-बाट, वैभव, शृंगार; संन्यास और राजनीति; परमपद लाभ और साहित्य सेवा; संस्कृत और भदेस, आदि। निराला के जीवन में संभवतः इन सबसे बुनियादी अन्तर्विरोध उनके सहज स्वाभाविक रुझान या कामना और परिस्थितियों के दबाव के बीच था। इन दोनों के तनाव ने उनके रचनाशील व्यक्तित्व को शक्ति और तीव्रता दी, पर जीवन में इस तनाव को वह सहन नहीं कर सके और टूट गये। इस तनाव और उसकी परिणति का अन्वेषण एक बहुत ही उत्तेजक और मार्मिक दस्तावेज़ बन सकता था जो अधिक मानवीय भी होता और प्रामाणिक भी। पर रामविलास अपने भक्ति-भाव से छुटकारा न पा सके और उसके उदात्तीकरण में लगे रहे। उन्होंने इस तथाकथित 'वस्तुपरक जीवन-चित्र' में निराला के दुर्दम्य, लगभग असामाजिक, व्यक्तित्व को, उसकी तीखी चुभनेवाली नोकों को, उसके प्रचंड वेग और रूढ़िमुक्तता को, तराश-छाँटकर कुछ स्वीकार्य, कुछ आकर्षक बनाने की कोशिश की है। ऐसी कोशिश न केवल लेखक की प्रामाणिकता को संदिग्ध बनाती है, बल्कि स्वयं निराला के व्यक्तित्व के साथ अन्याय भी है, जिसे निराला के प्रति भक्ति के बहाने भी क्षमा करना कठिन है। इसीलिए 'निराला की साहित्य-साधना' एक जीवनी के रूप में इतनी अधूरी, एकांगी और असन्तोषजनक है।

जैसा पहले कई बार कहा गया, पुस्तक में तथ्यों और सामग्री का संग्रह बहुत उपयोगी है। इसने शायद यह संभव

बना दिया है कि निराला की सही जीवनी अब अधिक सफलतापूर्वक लिखी जा सके। जिन बहुत-से अंशों में सामग्री अधूरी, या नामौजूद है, उनके कुछ-कुछ स्रोतों का भी अंदाज़ इस पुस्तक से हो जाता है। साथ ही, निराला के जीवन के अतिरिक्त, हिन्दी साहित्यिक इतिहास के चालीस साल के इतिहास से संबंधित भी बहुत-सी नयी और उपयोगी सामग्री इसमें मौजूद है। विशेषकर सन् २० से ५० तक के दौर के साहित्यिक वाद-विवादों, उलझनों, समस्याओं और उनके संदर्भ में व्यक्तियों और संस्थाओं के व्यवहार का बहुत ब्यौरा बड़ा रोचक और जानकारीभरा है। इससे कई स्थलों पर निराला के सामाजिक और सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश की बड़ी जीवन्त तस्वीर तो बनी ही है, कई साहित्यिक तथा राजनैतिक-सामाजिक घटनाओं के गहरे बुनियादी सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ा है और एक पूरे युग का साहित्यिक जीवन उभर आया है। कई जगह इस जीवन के चित्रों में सर्द ब्यौरा भर नहीं, एक प्रकार की सर्जनात्मकता सजीवता है। इसलिए इस जीवन में हिस्सा लेनेवाले कई साहित्यिक व्यक्तित्व बड़े जीवंत रूप में, बड़ी कुशलता से आँके हुए रेखाचित्रों की भाँति या किसी उपन्यास के पात्रों की भाँति, सामने आते हैं: महावीरप्रसाद द्विवेदी, महादेवप्रसाद सेठ, मुंशी नवजादिक लाल, शिवपूजन सहाय आदि। एक युग के साहित्यिक जीवन की झांकी की दृष्टि से इस पुस्तक का निश्चित महत्त्व है।

स्वयं निराला के सम्बन्ध में भी दो-एक बातें इस पुस्तक में बहुत उपयोगी हैं। जैसे, निराला के पारिवारिक जीवन के कुछ पक्षों और सम्बन्धों का बड़ा आत्मीय और संवेदनशील प्रस्तुतीकरण है, विशेषकर पिता रामसहाय तेवारी, पत्नी मनोहरादेवी तथा उनकी माँ, पुत्री सरोज आदि से सम्बन्धित विवरण मन को छूनेवाले हैं। इसी प्रकार निराला की कुछ कविताओं को और उनके काव्यसंसार की कुछ समस्याओं को उनके जीवन की घटनाओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों से जोड़ने में भी रामविलास ने बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। इससे कई कविताओं के एकदम नये और अनोखे अर्थ तथा व्यंजनाएँ उभर आती हैं। किसी कवि के व्यक्तित्व को उसके परिवेश से जोड़ना साहित्यिक इतिहास के लेखन तथा मूल्यांकन का बड़ा महत्त्वपूर्ण और जिम्मेदारी का काम है। इस पुस्तक में जहाँ रामविलास, अपने पूर्वाग्रहों और सरलीकरण की प्रवृत्तियों के बावजूद, इस कार्य में सफल हुए हैं वहाँ उन्होंने एक नयी दिशा और सफलता की सूचना दी है।

किन्तु ये सब गौण सफलताएँ हैं। जीवनी के रूप में 'निराला की साहित्य-साधना' की बुनियादी कमज़ोरी इतनी बड़ी है कि वह निराशा और खीझ ही पैदा करती है। यह शायद इसलिए भी हो कि उससे अपेक्षाएँ बहुत अधिक थीं, और इसलिए भी कि रामविलास शर्मा की क्षमताओं के साथ उनकी दृष्टि और पद्धति की सारी कमज़ोरियाँ इस बड़ी कृति में पूरी तीव्रता से उभर आयी हैं। सरलीकरण, वस्तुओं और विचारों के सतही, ग़ैर-बुनियादी सम्बन्धों पर अत्यधिक बल, किसी पूर्व-निश्चित धारणा के अनुकूल तथ्यों और सामग्री का चुनाव, व्यंजित की अपेक्षा व्यक्त और ऊपरी बातों का मोह, धारणावादी प्रतिपादन और विवेचन, आदि 'गुण' रामविलास शर्मा के अधिकांश लेखन की भाँति यहाँ भी मौजूद हैं। यहाँ उनमें जाने-अनजाने एक और मोह जुड़ गया जान पड़ता है। पुस्तक के अंत में उन्होंने कहा है: "जीवनी को आधार बनाकर उपन्यास लिखने में कुछ साहित्यकारों ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। वे जीवनी लिखने का दावा नहीं करते, रोचक कथा गढ़ते हैं, परिवेश और व्यक्तित्व का सजीव चित्र खींचते हैं। मैं उनके इस साहित्यिक कृतित्व का आदर करता हूँ। पर अनेक जीवनी लेखक जो उपन्यास लिखने का दावा नहीं करते, फिर भी उपन्यास लिखने लगते हैं, उनके कार्य की प्रशंसा नहीं की जा सकती।" (पृ० ६०१)। 'निराला की साहित्य साधना' में दोनों रुझान ऐसे गडमड हैं कि वह जीवनीमूलक उपन्यास और प्रामाणिक पर सर्जनात्मक जीवनचरित, दोनों में से एक भी ठीक नहीं बन पाया है।

सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला

विजयदेव नारायण साही

इधर अरसे से एक हवा ऐसी रही है कि गाँवों को लेकर कथा रचना एक तरह का पिछड़ापन है, आधुनिकता से वंचित होना है। आधुनिकता का लक्ष्य जब लक्षणों की तरह गिनाया जाने लगे, तब यह ज़रूरी हो जाता है कि यह सवाल पूछा जाए कि आधुनिकता भी एक साहित्यिक रूढ़ि तो नहीं होती जा रही है जिसके फन्दे से बाहर निकला जाए।

कुछ बरस पहले गाँव बनाम महानगर का विवाद चला। यहाँ तक कहा गया कि गाँव से ज्यादा आधुनिक कस्बे के बारे में लिखना है, कस्बे से ज्यादा नगर के बारे में, नगर से ज्यादा महानगर के—और शायद हिन्दुस्तानी महानगर से भी ज्यादा यूरोप या अमरीका के महानगर के।

यह बहस ज्यादातर कथा-साहित्य को लेकर चली। कविता में भी महानगर का एक झोंका आया, लेकिन इस झोंके ने उतना साफ़ कठघरा नहीं बनाया। कथा-साहित्य में भी कहानी में ही ज्यादा शोर मचा। जितनी तन्मयता लोगों ने कहानी लिखने और कहानियों के बारे में बड़ी-बड़ी घोषणाएँ करने में लगायी, उतनी उपन्यासों में नहीं। पिछले बीस वर्षों पर निगाह डालने से उपन्यासों का रक़बा काफी खाली-खाली-सा लगता है। जो कुछ उपन्यास हैं भी, वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें केन्द्र में रखकर आन्दोलन का शोर मचाया जा सके। उतना भी नहीं, जितना कुछ और पहले आंचलिक उपन्यासों को लेकर मचा था।

कहानी और उपन्यास की इस भिन्न गति को देखकर क्या नतीजे निकाले जा सकते हैं? ऐसा नहीं है कि कहानियों की दुनिया में उलटफेर नहीं हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि सिरे से बदला हुआ यथार्थ कहानियों में ही व्यक्त होता रहा। इसमें उपन्यास के क्षेत्र में वैसी ही हलचल पैदा करने की क्षमता नहीं थी।

कहानी को लेकर तेज घोषणापत्र लिखे गये, या लेख लिखे गए, जिनका लहजा घोषणापत्रों सरीखा था। नतीजे निकाले गए जैसे पूरा युग-यथार्थ सिरे से बदल गया। घोषणाओं का स्वर कुछ ऐसा था कि युगबोध-सम्बन्धी ये नतीजे अगर कहानियों पर लागू होते हैं, तो उपन्यासों पर भी। नयी कहानी तो चमत्कारी ढंग से स्थापित हुई, पर नया उपन्यास नहीं जन्मा।

लेखकों के द्वारा दिए गए युग-परिवर्तन सम्बन्धी घोषणा-पत्रों से सिर्फ इतना नतीजा निकलता है। कुछ लेखकों को घोषणापत्रों की भाषा में बोलने की जरूरत महसूस हुई। आलोचक के लिए घोषणा-पत्र कच्चे माल की ही तरह हैं, युग-परिवर्तन के प्रामाणिक संकेत नहीं। कोई जरूरी नहीं है कि युग वैसा ही हो जैसा घोषणापत्र में कहा गया है। या कृतिकार मानस का रिश्ता युग से उसी तरह जुड़ता हो जिस तरह बताया गया है।

कहानियों का इस तरह बहस के केन्द्र में आ जाना जैसे साहित्यिक कृतित्व का पूरा दारोमदार—बल्कि युग की पूरी परिभाषा—उन्हीं पर निर्भर हो, कुछ उसी तरह असन्तुलित लगता है जैसे एकांकियों की बाढ़ के साथ घोषित कर दिया जाय कि नाटक का कायाकल्प हो गया है, जबकि वास्तविक बड़े नाटक न लिखे जाएँ। इस तरह के आन्दोलन में एक क्षीणता, एक तरह का सतहीपन वर्तमान रहेगा, जो कभी-न-कभी खटकेगा। कहानियों के नाम पर तथाकथित आधुनिक कथादृष्टि की परिभाषा के साथ यह सवाल हमेशा बना रहेगा, कि यदि यह कथादृष्टि प्रामाणिक और अनिवार्य है तो उपन्यासों तक आती-आती क्यों सूख जाती है। या तो उपन्यास रचती नहीं, या रचती भी है तो कमज़ोर, खपाचियों से जोड़े हुए, दिमाग़ पर हावी होने में असमर्थ।

शायद इसी तरह की उलझन से उकताकर डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहानी आन्दोलन के पूरे उभार पर यह कहा कि कहानी कलात्मक विधा है ही नहीं। मैं इतनी दूर तक तो नहीं जा सकता, क्योंकि इतना कहते ही, दिमाग़ में बहुत से उदाहरण मँडराने लगते हैं, लेकिन इतना तो, ज़रूर लगता है कि कहीं-न-कहीं कथाकार होने का दावा करने वाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढ़ना ज़रूरी है। खास तौर से तब जब दावा लम्बे-चौड़े इन्कलाब से जुड़ा हुआ हो। गम्भीर आलोचना में उपन्यास के मुकाबले में कहानी का अध्याय निश्चय ही छोटा होगा।

अगर उपन्यास और कहानी की दुनियाएँ अलग-अलग हों, तो ज्यादा प्रामाणिक उपन्यास की ही दुनिया माननी

अलग-अलग वैतरणी : लेखक शिवप्रसाद सिंह, प्रकाशक लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद। मूल्य ७.००

होगी। इस दृष्टि से देखने पर कहानी की तेज़ रफ्तार उपन्यास पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाती बल्कि उपन्यास की मन्थर गति कहानी के तमाम कुहराम पर प्रश्नचिह्न लगाती दिखती है।

•

बहुत-कुछ इसी प्रश्नचिह्नित मनःस्थिति में मैंने श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़ा। काफ़ी अरसा पहले श्री नरेश मेहता का उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' पढ़ा था। उसकी याद आई। 'वैतरणी' नाम से ही प्रेमचन्द्र के 'गोदान' की याद भी आई। पता नहीं वैतरणी नाम रखते समय भी शिवप्रसाद सिंह को गोदान के प्रतीक की याद थी या नहीं। दोनों प्रतीकों में कितना साम्य है। उपन्यास पढ़ जाने के बाद इन दोनों उपन्यासों में प्रतीकों का रिश्ता भी दिखने लगा। प्रेमचन्द का होरी भी वैतरणी में ऊभ-चूभ कर रहा है। लेकिन पूँछ शायद वैतरणी को पार कराने में मदद कर दे। श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास में संस्कारों की गऊ न जाने कहाँ खो गई है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है जिसमें सब ऊभ-चूभ कर रहे हैं। इस वैतरणी को पार नहीं किया जा सकता, सिर्फ इससे भागकर जाया जा सकता है, गाज़ीपुर में डिग्री कालेज की अध्यापकी करने के लिए।

श्री नरेश मेहता के उपन्यास 'वह पथ बन्धु था' की याद आई, इसलिए कि उसमें भी वैतरणी की तलाश है। उसका नायक भी गाँव की वैतरणी से भागता है, लगभग उसी ललक से जिस तरह विपिन भागता है, या यों कहिए कि पढ़ाई और तकदीर के सहारे छूटकर जाता है, करैता ग्राम से। लेकिन श्री नरेश मेहता का नायक उपन्यास के बीच में ही निकलता है। नागपुर, फिर बनारस। लेकिन वैतरणी फिर भी पीछा नहीं छोड़ती। कथा चलती रहती है। एक के बाद दूसरी वैतरणी। स्वर्ग कहाँ है? लेकिन 'यह पथ बन्धु था' का वैतरणी बनाम स्वर्ग का नाटक इतना खरा नहीं है। उसमें अक्सर ऐसी जगहें हैं जो न स्वर्ग है न वैतरणी, सिर्फ सपाट है। जैसे नाटक का एक दृश्य खत्म होने के बाद परदा देर तक गिरा रहे, फिर उठे और दूसरा दृश्य हो।

श्री शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास शुरू किया तो अन्त तक पढ़ता गया। उपन्यास काफी भारी-भरकम है, लगभग सात सौ पृष्ठों का। मगर बीच में सरसरी तौर पर सफहे पलटने की नौबत नहीं आई। शुरू से आखिर तक एकतान प्रवाह खतम करके आश्चर्य हुआ, क्योंकि ऐसा अनुभव इधर कम हुआ था। श्री अमृतलाल नागर के बड़े-बड़े उपन्यासों में, जिनका बड़ा नाम है, बीच-बीच में बहुत-से पृष्ठ छोड़ने पड़े थे। किसी उपन्यास की प्रशंसा में इस चीज़ का जिक्र करना कोई बहुत बड़ी या ज़रूरी बात नहीं है। लेकिन बिना उलझे या उलझाये सात सौ पृष्ठों तक सलीके से क़िस्सा कह सकना जहाँ इतना अलभ्य हो वहाँ यह सुथरापन भी मन को खुश करता है। प्रेमचन्द के 'गोदान' पर आज तक लोग आरोप लगाते हैं कि उसके बहुत से हिस्से की बनावट कमज़ोर है। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' तो पूरा ही न हो सका। 'नदी के द्वीप' में भी, अपनी तमाम दुर्लभ अनुभूतिशीलता के बावजूद, लगता है कि क़िस्सा खत्म कैसे हो, यह सवाल भारी सवाल बन गया है। मैं यह नहीं कहता कि "बुनावट का सुथरापन" बहुत बड़ा गुण है, लेकिन है। इसलिए मुझे लगा कि मुझे उपन्यासकार के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। जैसे इबारत खुशखत लिखी देखकर एक तरह का कलात्मक सुख मिलता है।

लेकिन इबारत पढ़ जाने के बाद यह सवाल ज़रूर दिमाग़ में फिर घूमने लगा—क्या गाज़ीपुर किस्से का अन्त है? अलग-अलग वैतरणी की परिभाषा की तलाश है तो इस उपन्यास का एक दूसरा खण्ड होना चाहिए जहाँ विपिन गाज़ीपुर डिग्री कालेज में नौकरी शुरू करता है। फिर क्या गाज़ीपुर का डिग्री कालेज एक नयी वैतरणी या नये किस्म की अलग-अलग वैतरणियों की टकराहट नहीं होगा। उपन्यास का अन्त इन शब्दों के साथ होता है :

"उधर पच्छिमी छोर पर पेड़ों की पाँत में खोया गाँव का हाशिया, काजल की लकीर की तरह। बीच में ढलते सूरज की रोशनी में फैला है करैता का सिवान, कहीं हरियाली नहीं, कहीं जल नहीं, बिल्कुल वीरान, तेज़ बुखार में तपती उदास आँख की तरह..."

गाँव का हाशिया और उस हाशिए के बाहर गाज़ीपुर की एक दूसरी दुनिया, जहाँ चार सौ रुपये माहवार की तनखाह है, इतिहास की अध्यापकी है, और देख-रेख करने के लिए गाँव के एकमात्र सबके सगे, मस्तमौला, खुदाई खिदमतगार दयाल महाराज।

वैसे वैतरणी से गाज़ीपुर को अलग करने के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह ने हाशिया भी खींच दिया, और चार सौ

रुपये की नौकरी का थोड़ा झूठ भी बोला। क्योंकि सब जानते हैं कि गाज़ीपुर क्या किसी डिग्री कालेज में शुरू में चार सौ रुपये की नौकरी नहीं मिलती। मुझे झूठ पर एतराज़ नहीं है। हाशिए में किसी कुलबुलाती हुई वैतरणी पर एतराज़ है। मन में सवाल अटका रह जाता है। अभी कहानी आधी हुई है। एक खण्ड और होना चाहिए। फिर गाज़ीपुर से भागकर वाराणसी, एक खण्ड और। वाराणसी से दिल्ली··· कहाँ तक वैतरणी का विस्तार है।

राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' की याद इस उपन्यास के साथ आना स्वाभाविक है। दोनों ही गाँव के महाकाव्य की तरह लिखे गए हैं। गंगोली हो या करैता—वही लोगों का व्यक्ति से ज़्यादा रिश्ता होना—ज़मींदार, हरवाह, काश्तकार, पट्टीदार, फौजदारियाँ, इमामबाड़ा या देवी थान, शादियाँ, बच्चों की पैदाइश, खेतों का झगड़ा या जला दिया जाना, ज़मींदारी का टूटना, कुलीनों का पतन, राजनीति, छोटी जातियों का उठना, दारोगा, लूटपाट, लड़कियों का जवान होना, भागना, नाजायज़ बच्चे पैदा करना, बलात्कार, तीज-त्योहार, और इन सबके साथ पस्ती, गिरावट, उठने की बार-बार कोशिश करने के बावजूद भी एक तरह की लाज़िमी पराजय, और इन तमाम चलती हुई गतियों में फँसे हुए लोग, लोग अनगिनती लोग जिनके नाम भी उपन्यास पढ़ते समय बार-बार भूल जाएँ, एक सपाट परदे पर तिलमिलाती हुई तसवीरें जिनमें तीसरा आयाम नहीं है, और यदि है तो वह तीसरा आयाम सबके लिए समान है—दूर-दूर तक फैला हुआ सीवान तपती उदास आँख की तरह।

फिर भी दोनों उपन्यासों में फ़र्क है। राही मासूम रज़ा का उपन्यास एक गाँव या गाँव के सामाजिक अंश के, गंगोली के शीया-सैयदों के सामाजिक दस्तावेज़ की तरह लिखा गया है। राही मासूम रज़ा के सामने एक मुकदमा है, जिसे उन्हें साबित करना है। एक तसवीर पेश करना है। श्री शिवप्रसाद सिंह का उद्देश्य ज्यादा जटिल है। उन्हें एक अन्वेषण यात्रा करनी है। वह अन्वेषण है वैतरणी का। करैता भी सामाजिक दस्तावेज़ है। लेकिन वह एक रूपक के आवरण में लिपटा हुआ है। श्री शिवप्रसाद सिंह की समस्या उन सभी उपन्यासकारों की समस्या है जो सामाजिक दस्तावेज़ के ज़रिए जीवन की परिभाषा तलाश करना चाहते हैं। एक तरह से इस समस्या का जन्म उपन्यास के साथ-साथ ही हुआ। क्या उपन्यास को सामाजिक दस्तावेज़ होना है या ज़िन्दगी का रूपक? और यदि इन दोनों लक्ष्यों में तनाव या टकराहट हो तो उपन्यास का क्या होगा? इस तनाव ने उपन्यास के रूपविधान में बड़े-बड़े प्रयोगों की नींव डाली। सामाजिक दस्तावेज़ को कई बार उपन्यास से निकाल बाहर किया गया। लेकिन वह घूम-फिरकर बारम्बार उपन्यास में उपस्थित हो जाता है।

चूंकि राही मासूम रज़ा का उद्देश्य सरल है इसलिए उनके उपन्यास का अन्त उतना असन्तोषप्रद नहीं लगता। जिस तरह झूले झुलाने वाली बड़ी चरखी की अनगिनत कुर्सियों के ऊपर तरह-तरह के लोग ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटते हैं, उसी तरह तमाम तसवीरें राही के उपन्यास में आधी पहचानी, आधी अनपहचानी आँखों के सामने से गुज़रती रहती हैं—फिर एक वक्त आता है जब उपन्यासकार चरखी का चक्कर बन्द कर देता है, और कहता है—'इत्यादि, इत्यादि'। उपन्यास इसी 'इत्यादि, इत्यादि' पर खत्म हो जाता है। लोगों से घिरे हुए हकीम अली कबीर आखिरी साँस लेते हैं।"

कामिला चीख़-चीख़ कर रोने लगी,

ऐन उसी वक्त फद्दू आया और उसने फिस्सू मियाँ के कान में कहा,

'जल्दी से घर चलिए! सैयदा के हाँ लड़का भवा है।'

फुस्सू मियाँ लाश पर एक निगाह डालकर चुपके से बाहर आ गए!

किस्सा गंगोली से शुरू होता है, गंगोली पर खत्म हो जाता है। और यह गंगोली ज्वार-भाटा से भरे हुए समुद्र की तरह, एक इकाई है जिसमें मौत और पैदाइश की लहरें उठती-समाती रहती हैं। मगर समुद्र खुद एक अब्द की तरह कायम है। राही की कहानी का कोई तार्किक अन्त नहीं है। वह कहीं भी खत्म हो सकती है, आगे भी चल सकती है, 'इत्यादि' की तरह। वह जिस अनन्तता को कायम करना चाहते हैं वह अनन्तता गणित के अंकों की अनन्तता है: १, २, ३......इत्यादि। यह अनन्तता अर्थ की अनन्तता नहीं है। इसीलिए उपन्यास के बाद यह नहीं लगता कि बस आधी बात कही गई है।

सामाजिक दस्तावेज़ पर रूपक आरोपित करना खतरे

का काम है। यद्यपि हर महत्वाकांक्षी उपन्यास इस खतरे को उठाता है। 'अलग-अलग वैतरणी' का असन्तोषप्रद अन्त इस महत्वाकांक्षा के ही कारण होता है। छोटी-सी भूमिका में लेखक ने कहा है :

"इस उपन्यास पर मैं कई बरसों से काम करता आ रहा हूँ। कई बार काटा-पीटा और रद्दोबदल किया है। जानता हूँ यह अन्तिम रूप भी मेरे मन के करैता की सही 'ठनक' को बाँध नहीं पाया है।..."

यदि यही सृजनात्मक प्रेरणा इस उपन्यास की मूल भाषा है तो लेखक को 'आधा गाँव' की तरह हाशिए के भीतर ही रहना चाहिए था। अर्थ के अन्वेषण का प्रयास नहीं करना चाहिए था। उसी भूमिका में इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए थी कि कहीं यह उपन्यास 'आंचलिक' उपन्यासों की पंक्ति में न डाल दिया जाए। शायद 'ठनक' बँध जाती, तो उपन्यास निश्चय ही आंचलिक होता। रेणु का 'मैला आंचल' में 'ठनक' नहीं तो क्या है, जो आंचलिकता उत्पन्न करती है ?

और फिर करैता, सिर्फ करैता कहाँ रह जाता है ? वह भी तो 'गाँव' हो जाता है—एक रिश्ता। लोगों का एक जमाव जो पटवारी के कागज़ात की एक भौगोलिक सीमा में घेर दिया गया है ताकि जन्मे, मरे, और खेती से पुरखों से, और वकील खलील मियाँ के 'जहालत, गरीबी और तंगखयाली' की जमती हुई परतों में डूबता-उतराता रहे।

यह सवाल बना रहता है कि कहानी करैता की है या करैता के माध्यम से मझगँवा, बिराहिमपुर, जाठी, कठौता या इसी तरह के नामों वाले सभी गाँवों की कहानी है ? तब इसमें 'ठनक' अकेले करैता की कैसे होगी ? उपन्यास के अन्त में जब जग्गन मिसिर कहते हैं :

"कीनाराम वाली कवा में तो विपिन बाबू यह भी आता है कि उन्हें कनवाँ के लोगों ने शरबत पिलाया। आदर-सत्कार किया। और उन्होंने खुश होकर वरदान दिया था कि तुम्हारी बस्ती फूलती-फलती रहेगी। यानी कनवाँ आबाद, करैता बरबाद, यही न ?

हाँ ऐसा ही कहते हैं लोग।

तो कनवाँ की हालत तो करैता से अच्छी होनी चाहिए न ? आप कभी वहाँ गए हैं ? साल-भर यहाँ रहे पर बगल के गाँव में तो गए न होंगे।

जाकर वहाँ देखिए। शायद तब आप करैता को गाली देना छोड़ दें। तब लगता है करैता को टँकने वाले हाशिए की स्याही फैलती जा रही है और उस हाशिये के पीछे जो ठनकता है वह महज़ करैता नहीं है, और कुछ भी है।"

इसीलिए मैं श्री शिवप्रसाद सिंह के इस उपन्यास को आंचलिकता की पंक्ति में न रख, सामाजिक दस्तावेज़ों के साथ ही नत्थी करूँगा, बहुत ही खुशखत लिखी हुई दस्तावेज़। सामाजिक दस्तावेज़ तो राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'आधा गाँव' भी है, लेकिन उसमें आंचलिकता के रंग कहीं-कहीं झलकते हैं। शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ दोनों में कोई नहीं है। 'आधा गाँव' शुद्ध आंचलिक और शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ के बीच में स्थित है, जबकि 'अलग-अलग वैतरणी' शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ और जीवन के प्रतीकात्मक अर्थ के बीच स्थित है।

●

इस कशमकश में ही विपिन, जो कथा का केन्द्र है, लुंज-पुंज हो गया है। करैता को एक इकाई या तत्त्व की तरह महसूस करने के कारण वह करैता से कटकर अलग हो गया है। उसका बाहरीपन, करैता के प्रति लेखक के तथा पाठक के बाहरीपन का प्रतीक है। उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह उसे झुठलाने की कोशिश करे। यह रिश्ता अपने-आप में एक दिमाग़ी रिश्ता है। करैता से विपिन के जितने और सम्बन्ध हैं पैदायशी, खानदानी, या पुष्पी के साथ हलकी सिहरन वाले, उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के लिए करैता से जोड़ दें। सिर्फ समस्या को इस तरह उपस्थित कर दें कि विपिन के लिए समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाए। मगर उन रिश्तों में इतना दम नहीं है कि विपिन को विचलित कर सकें, या भीतर का आदमी बना सकें।

जग्गन मिसिर कहते हैं कि विपिन उन थोड़े-से लोगों में से है जिनके पास चेहरा है। बाकी भीड़ बिना चेहरे वालों की है। विपिन के पास चेहरा सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, गाँव को समस्या की तरह देखता है। वर्ना उसके जैसा बिना चेहरे का पात्र पूरे उपन्यास में नहीं है। क्योंकि विपिन व्यक्ति नहीं है, देखने का ढंग है।

विपिन जैसे पात्र को केन्द्र में रखने का मतलब है, करैता को बौद्धिक रूप से देखे जाने वाले गाँव की तरह प्रस्तुत

करना। इस तरह के गाँव के साथ एक ही सार्थक सम्बन्ध कायम किया जा सकता है—उसे सुधारने की कोशिश। उपन्यासकार की यह दृष्टि अगर 'ठनक' बाँधने के कर्तव्य से दूर चली जाए तो क्या आश्चर्य ? मगर, फिर विपिन सुधारने की कोशिश में लगता क्यों नहीं, देखता ही क्यों रह जाता है ?

विपिन का दिमागी सहोदर शशिकान्त मास्टर है। वह सुधार के कठिन और ईमानदार परिश्रम में लगता है। लेकिन उसकी सक्रियता उसे करैता के भीतर का ही एक तत्त्व बना देती है। वह पूरी तसवीर का एक हिस्सा-भर बन जाता है। 'बिना चेहरे वाले' लोगों की भीड़ में से एक उसकी असफलता पूरे माहौल की असफलता है।

सुधारक के लिए ज़रूरी है कि वह सम्पूर्णता से सीधे न टकराए। उसके लिए सम्पूर्ण को टुकड़े-टुकड़े में बाँटना ज़रूरी है, नहीं तो वह सुधार की शुरुआत कर ही नहीं सकता। और टुकड़ों में बाँटने के साथ ही वह बाहर का नहीं रह जाता। पूरी दृश्य-छवि का अंग बन जाता है। शशिकान्त मास्टर सामाजिक दस्तावेज़ का अंग है।

विपिन के माध्यम से उपन्यासकार उस सम्पूर्ण इकाई से टकराने की कोशिश करता है। इस भूमिका को मान लेने के बाद विपिन के लिए दो ही औपन्यासिक स्थितियाँ हो सकती थीं—वह या तो क्रान्तिकारी हो जाता या पलायनवादी। वह पलायनवादी ही होना स्वीकार करता है। या यों कहें कि बराबर पलायनवादी ही रहता है।

●

राही के उपन्यास में विपिन जैसा कोई पात्र नहीं है। यहाँ तक कि उपन्यास के भीतर का मासूम भी औरों की तरह भीड़ में खोया रहता है। इस कारण किसी तरह का उलझाव पैदा होने की गुंजाइश नहीं होती। गाँव के भीतर की ज़िन्दगी समस्या की तरह नहीं, बल्कि एक ममता पूर्ण प्रवाह की तरह सामने आती है। सवाल सब-कुछ को सोचकर, अपनी परिस्थिति को परिभाषित करने का नहीं है बल्कि अपने को उस प्रवाह में बेहिचक छोड़ देने का है, उसके साथ गड्डमड्ड हो जाने का है ताकि मासूम को कोई गंगोली से उठाकर रायबरेली न ले जा पटके। लेकिन विपिन की समस्या मुख्यतः विचारक की समस्या है—इस कुलबुलाती वैतरणी को किस तरह अर्थ दिया जाए।

उपन्यासकार बहुत-कुछ विपिन से अभिन्न है। लेकिन पूरे उपन्यास की समस्या विपिन से एक कदम और आगे है। यह वैतरणी है क्या—कहाँ तक इसका पाट है, कहाँ उद्गम है ?

इस गहरे प्रश्न के सन्दर्भ में ही—उपन्यास के अन्त का प्रश्न दिमाग़ में घूमता है। सीपिया नाले में ऐसा क्या है, कि कथा वहीं आकर खत्म कर दी जाए ?

●

विपिन के चेहरे में औरों से भिन्न सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, शहर हो आया है, और अच्छी नौकरी पा सकता है। सिर्फ इतना ही क्यों ?

इसके प्रतिलोम-स्वरूप विपिन के बाहर जो करैता है उसकी तसवीर भी इन्हीं रेखाओं से बन जाती है। करैता जाहिल है, ग़रीब है, और करैता के बाहर भी कोई दुनिया है, यह नहीं जानता। वह वैतरणी इसी कारण है कि बाहर की दुनिया उससे इतनी भिन्न हो चुकी है कि उसके मुकाबले में करैता ने अपना अर्थ खो दिया है। और इसकी गरीबी की मार।

प्रेमचन्द्र की आरम्भिक ग्राम-कथाओं में ग्राम-जीवन की धुरी आर्थिक समस्याएँ थीं। आपस के नैतिक-अनैतिक सम्बन्ध परम्परा से कुछ-न-कुछ झंकृत ज़रूर होते थे, लेकिन ये सारे सम्बन्ध मूलतः सामाजिक ही थे। 'गोदान' में पहली बार उन्होंने उस एक नये आयाम को स्पर्श किया जो मात्र आर्थिक या नैतिक नहीं है—एक गहरे अवचेतन स्तर पर सांस्कृतिक है, आदिम विश्वासों का आयाम है। होरी की मँडराती हुई आकांक्षा आर्थिक और नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण करती लिखती है।

सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में श्री शिवप्रसादसिंह का उपन्यास आर्थिक विघटन और चुनाव वाले जनतंत्र के दौर में नैतिक-सामाजिक परम्पराओं की झंकार को टूटता हुआ या नपुंसक दिखाता है। सांस्कृतिक मानस तो जलते तवे पर पड़ी हुई पानी की बूंद की तरह कभी का ग़ायब हो चुका है। यहाँ तक कि देवी थान का मेला भी सामाजिक रिपोर्ट ही है। यह तसवीर कहाँ तक सही है इसके बारे में राय ज़ाहिर करना न मेरे लिए सम्भव है, न उचित ही। क्योंकि सही या ग़लत दो में से कुछ भी कहने पर मैं एक अतिरिक्त गवाही ही दे सकूंगा। और लेखक इतना तो हमेशा ही कह सकता है कि

बात करैता की हो रही है। अगर सैयदराजा या चकिया या गंगापुर की हालत इससे भिन्न हो तो भी इस दस्तावेज़ का सत्य कैसे घट जाता है।

इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि धारणाओं के जिस चौखटे में यह साफ़-सुथरी तसवीर पेश की गई है, वह सामान्य धारणाओं से कहीं खराश पैदा नहीं करती। इस अर्थ में उपन्यास कहीं चौंकाता नहीं। और एक तटस्थ तसवीर का आभास देता है जिसके बारे में सुन काफी रखा था, तफ़सील से देखने का मौक़ा अब मिला है। सिवाय एक सरूप भगत और उसके गिरोह के जो न केवल मेरे लिए एक लगभग अपरिचित तसवीर की तरह ताज़गी देता है बल्कि कल्पना और मानवीय सहानुभूति के घेरे को अप्रत्याशित विस्तार देता है। अगर इस बहुत सुथरेपन के साथ बिने हुए पूरे थान में से कुछ ताने-बाने अलग ही करने हों, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरूप भगत और दुलारी और उनके पूरे हुजूम के निर्माण के लिए ही इस उपन्यास का मूल्य रहेगा।

पात्र बहुत हैं, फिर भी वे भरमार होने की उकताहट नहीं पैदा करते। इनमें से कुछ पर निगाह कुछ ज्यादा देर तक ठहरती है: दयाल पण्डित, सरूप भगत, दुलारी जग्गन मिसिर, कनिया और चंचल बदचलन सुगनी—न जाने कितने खुराफ़ातों की जड़। मगर इनमें से कोई इतना नहीं उभरता कि उस पर से करैता की धूल बिलकुल झड़ जाए। और न शेष इतने ही दब गए हैं कि धूल और इन्सान में फर्क करना कठिन हो जाए। इस नक्काशीदार बुनावट पर ही ध्यान सबसे पहले जाता है।

•

अगर इस उपन्यास के ऊपर भावुकता की बेठन होती तो सवाल यह उठता कि गाँव को लेकर लिखी हुई कथा कहाँ तक हमारे आधुनिक मन के साथ मेल खाती है। वैसे 'भावुकता' शब्द को लेकर कोई विश्लेषण करना खतरे से खाली नहीं है। एक तरह का सघन सम्बन्ध तो दृष्टि और दृश्य-छवि के बीच हर कलाकृति में रहता है, जो किसी-न-किसी समय भावुकता की तरह लग सकता है। आज नहीं तो दस बरस बाद। लेकिन यहाँ मैं भावुकता के सिर्फ दो उपकरणों को ध्यान में रखकर इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ: एक तो करुणा वाली भावुकता, दूसरी आंचलिकता की रंगीनीवाली भावुकता। गाँवों को लेकर दो तरह से भावुक हुआ जा सकता है, या अब तक हुआ गया है। या तो 'अहा, ग्राम्य-जीवन भी क्या है' की शैली में आंचलिक छबीलापन इसी दृष्टि का एक विस्तृत रूप है। दूसरे 'उफ़ कितने दुखी हैं लोग, कुछ करना चाहिए' की शैली में। यह दृष्टि कहीं-न-कहीं अपनी अपराध-भावना से बचने के लिए अन्तरात्मा के कलंक धोने की मुद्रा का निर्माण भर करती है। क्योंकि 'कुछ करना चाहिए', निरन्तर 'कुछ किया नहीं जा सकता' की दीवार से टकराता रहता है।

'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़कर लगा कि जिस ज़मीन को चुक गया मानकर चलने की हवा चल पड़ी थी, अभी भी उसमें निरन्तर नयी उद्भावनाओं की गुंजाइश है। यों भी, हिन्दुस्तान में लिखा गया उपन्यास कितने दिनों तक गाँवों को छोड़कर मनुष्य को परिभाषित करने की कोशिश में निःशरीर खड़ा रह सकता है?

कभी विषय-वस्तु के आधार पर चलाया हुआ आन्दोलन कुछ ही दिनों में सतही या यांत्रिक हो जाता है। नगरों और महानगरों में कथाकार को गहरे स्तर पर अनुप्राणित करने की क्षमता अभी तक नहीं पैदा हुई है इतना पिछले दस वर्षों की कोशिशों के जो परिणाम निकले हैं उन्हें देखकर कहा जा सकता है। इस तरह के परिवर्तनों में कहानी तभी तक चमकती है जब तक विषय-वस्तु नयी या अछूती हो। इतने नयेपन की आधुनिकता का मूल्य हर रोज़ छपनेवाले अखबार के ताज़े समाचार से कुछ अधिक हो, इसके लिए विषय-वस्तु की नवीनता से अधिक भी कुछ होना चाहिए। उपन्यास या कहानी को महज़ अखबारी 'स्कूप' की शैली में कब तक चमत्कारी बनाया जा सकता है?

उदाहरण के लिए, निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' का उल्लेख कर सकता हूँ। विषय-वस्तु की दृष्टि से, जेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राहा में स्थिति, इस उपन्यास और करैता में ठनकते शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' में शब्दशः ज़मीन-आसमान का अन्तर है। यदि प्राहा और करैता ही आधुनिकता की कसौटी बन जाएँ, तो सिर्फ विषय-वस्तु का चुनाव ही करैता पर भारी पड़ेगा। लेकिन 'अलग-अलग वैतरणी' का प्रभाव ज्यादा सन्तोषप्रद अनुभव है। निर्मल वर्मा भी सामाजिक विघटन के बीच छटपटाती हुई मानवीयता, या मानवीयता पर जकड़ते हुए शिकंजे की कथा कहते हैं। लेकिन कथा-प्रवाह के बीच हर

पृष्ठ पर इतने होटल और इतनी बियर एवं अन्य किस्म की शराबें हैं कि यह महानगर कहानी की मदद नहीं करता। बीच-बीच में करकता रहता है। यूरोप और अमरीका के बहुत उपन्यास पढ़ने का अवसर मिला है। लेकिन इतना ज्यादा बियर कहीं पीने का मौक़ा नहीं मिला। उकताहट पैदा होती है।

ऐसा क्यों हो जाता है ? हो सकता है कि इसके पीछे कथाकार की कमज़ोरी हो। लेकिन शायद जिस माहौल को कथाकार प्रस्तुत करना चाहता है, उसके ऊपरी लक्षणों में उलझने का मोह भी एक कारण है। इसी तरह स्वर्गीय राजकमल चौधरी का उपन्यास 'मरी हुई मछली' का भी हाल है। राजकमल के अन्य लेखन की तरह यहाँ भी लगता है कि लेखक को ज़िन्दगी की अनुभूति तो बहुत बड़ी हुई, लेकिन वह उस अनुभूति को पचा नहीं सका। उपन्यास का तार बीच-बीच में खूंटी से उतर जाता है, और एक तरह का प्रदर्शनवाद हावी हो जाता है।

यह नहीं है कि नयी विषय-वस्तु के इस आग्रह ने कलात्मक अनुभूति को आगे नहीं बढ़ाया। किन्तु वह परि-पक्वता जो कलाकार की अकड़ नहीं, आत्म-विश्वास का आभास देती चलती है, अभी हाथ नहीं लगी है। जब उपन्यास को पढ़कर महसूस हो कि हम कलाकृति नहीं, किसी बड़े पुस्तकालय में उपलब्ध देश-विदेश के अखबार पढ़ रहे हैं, तब शंका के साथ माथे की त्योरियों पर बल पड़ जाना स्वाभाविक ही हो जाता।

जरूरी नहीं है कि 'अलग-अलग वैतरणी' की प्रशंसा करने के लिए औरों की बुराई की ही जाए। लेकिन मैं इस तुलना के साथ अपने भीतर की उस बेचैनी को ज़रूर ही व्यक्त करना चाहता हूँ जो पिछले दस वर्षों में विषय-वस्तु को बदलने की अधूरी सफलताओं से उत्पन्न होती है। और इन तमाम महानगरी छटपटाहटों के बीच करैता का करै... अपनी पूरे तेवर से ठनकता है तो ज़रूरी हो जाता है कि ह... अपनी धारणाओं, पूर्वग्रहों और प्रतिमानों पर फिर से नज़... डालें। औपन्यासिक सृजनशीलता का अप्रतिहत, अनाविल स्रोत किस ज़मीन से फूटता हुआ दिखता है।

यों भी, यह मानना कि बीसवीं सदी की स्वाभाविक ... नगरों या महानगरों में ध्वनित होती है, गाँव किसी विशे... अर्थ में अठारहवीं या उसके पहले की किसी सदी के अवशे... हैं, एक तरह का ऐतिहासिक दृष्टिदोष है। बीसवीं सदी को खण्ड-खण्ड करके देखना अपने को एक दिमाग़ी भँवर में डा... देना है। बीसवीं सदी के कमल कीचड़ से अलग नहीं किए ज... सकते। अब इस दृष्टिभ्रम का अन्त होना चाहिए, क्योंकि यह यूरोप की उन्नीसवीं सदी दिमाग़ी विरासत में उपजी हु... चीज़ है। करैता मैनहाटन से कम बीसवीं सदी की ... नहीं है। इस तथ्य की पहचान औपन्यासिक सृजनशीलता ... लिए चुनौती है।

कसौटी यही है कि विषय-वस्तु का चयन केवल पृष्ठ... भूमि के लिए ही होना चाहिए। यदि ऐसा लगने लगे कि क... केवल विषय-वस्तु के लिए ही लिखी गई, चाहे वह गाँव ... या मैनहाटन, तो उपन्यास में एक उबाने वाला आग्रह ... हो जाएगा। इस शर्त के साथ, हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि आज के मानवीय महानाटक के लिए, और उससे साक्षात्कार करने वाले लेखक के लिए करैता जैसे ... गाँवों को भूल जाना, या उसका कोई अनुभव ही न होना एक बड़ा सृजनात्मक अभाव होगा। आज भी मनुष्य की परिभाषा करैता की उपेक्षा करके नहीं दी जा सकती। ... दी जाने की कोशिश की जाएगी तो उसका शायद वही परिणाम होगा जो तड़पते-छटपटाते राजकमल चौधरी ... हुआ।

अतुकान्त* और निरर्थकता का कवि

प्रमोद सिनहा

लक्ष्मीकान्त वर्मा की चौंसठ कविताओं का संकलन 'अतुकान्त' मैंने बार-बार पढ़ा है, और हर बार अलग-अलग तरह के सवालों से सीधा टकराना पड़ा है। ऐसा इसलिए हुआ कि ये सवाल लक्ष्मीकान्त की कविता-यात्रा से कहीं-न-कहीं बहुत गहरी तरह जुड़े हुए हैं, और हर बार उनका कवि उन्हीं मूल्यों के बीच अपने-आपको यंत्रस्थ करता रहा है। ऐसे लिखने के नाम पर लक्ष्मीकान्त प्रायः उपन्यास, नाटक और आलोचना में भी उपस्थित रहे हैं पर भाषा, संवेदना और अभिव्यक्ति की एकसूत्रता में कविता इनकी अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। कवि का एकमात्र कविता संग्रह होने से इस संग्रह की सार्थकता बढ़ी है।

यदि नये कवि का संकलन निकले तो वह उसकी संभावनाओं की ओर इंगित करता है, पर लक्ष्मीकान्त की स्थिति कुछ दूसरी है। तैंतीस वर्ष तक की कविता-यात्रा के बाद आज ये नयी कविता के स्थापित कवियों में हैं। इस स्थिति में इस संकलन से अपेक्षाएँ और भी बढ़ जाती हैं। ऐसे भी ये विवादास्पद और बहुचर्चित कवि रहे हैं और समय-समय पर विशेषकर विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने इनकी कविताओं पर अपने मन्तव्यों के साथ सामयिक टिप्पणियाँ भी की हैं जो कि लक्ष्मीकान्त और नयी कविता दोनों के लिए ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही हैं। पर संकलन के अभाव और उनकी कविताओं के बिखराव के कारण अब तक उन सारी बातों की पुनः परख हो सकने की संभावना नहीं थी। इसीलिए लक्ष्मीकान्त का कवि अनायास ही कुछ लोगों के लिए महिमामंडित होता रहा। इन बातों के अतिरिक्त भी इस संकलन से ढेर सारी बातें साफ हुई हैं और अब तक की प्रचलित धारणा से इतर लक्ष्मीकान्त का कवि सामने आया है, जिसकी सहज अभिव्यक्ति ने वह सब-कुछ धोया है, जो आरोपित था और उसका नहीं था।

बारह खण्डों में विभाजित इस संग्रह में प्रस्तुत कवि की विश्लेषक दृष्टि कविताओं को भी अनुभूति के आधार पर खण्ड-खण्ड बाँटकर देखती है। यह बात इन कविताओं तक पहुँचने में मदद दे या नहीं, पर यह स्पष्ट है कि बहुत गहरे इस विभाजन का कोई खास सन्दर्भ नहीं लगता। यदि संकलन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कथन रहता कि कवि की कब से कब तक की कविताएँ अतुकान्त में संकलित हैं तो कवि की कविता-यात्रा और उसके उतार-चढ़ाव को समझने में आसानी होती। पर समय का उल्लेख न करना कदाचित कवि के 'शरारतपूर्ण सह-संयोजन' का ही एक अंग है और यह एक दाँव का बचा जाना है, क्योंकि इन कविताओं के विषय में कुछ भी कहने पर वह कहेंगे कि ये प्रारम्भिक कविताएँ हैं और पहला संकलन होने के कारण अच्छी कविताओं को एक साथ देना सम्भव न था, जबकि खुद उसी ने अपने सेंसर के बाद इसका वर्तमान रूप दिया होगा। यहाँ इन कविताओं पर कुछ भी लिखते समय लक्ष्मीकान्त की पूरी कविता-यात्रा की अपेक्षा सारी बातों को केवल इसी संग्रह के आधार पर कहना अधिक युक्तिसंगत होगा।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ अतुकान्त में ऐसा क्या कुछ है जो कि मुझे एक से अधिक बार पढ़ने और सोचने को विवश करता है। इस प्रश्न के कई उत्तर एक साथ मन में उठते हैं और सही उत्तर की तलाश में उसी तौल का विकल्प ढूंढ़ना पड़ता है।

अतुकान्त की कविताएँ गहरे दायरे में लिखी गई हैं और इनसे कवि की सीधी टकराहट का पता चलता है। लेकिन सीधी पकड़ की अभिव्यक्ति जिस एकालाप की शैली में हुई है वह बहुत-कुछ स्वगत नाट्य बन गई है। एकालाप की यह स्थिति कविताओं में दो धरातलों पर प्रकट हुई है। एक तो नितान्त व्यक्तिगत स्तर पर जिसमें कवि के रमने का भाव अधिक है। दूसरे में पारिवारिकता से अलग सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश को भी भाषा दी गई है। लेकिन जब भी कवि बड़ा कैनवास लेकर चलता है तो भाषा के शिथिल ढाँचे को अपनाने के कारण सब-कुछ अव्यवस्थित और गड्ड-मड्ड हो जाता है। कभी-कभी तो जो कुछ अभिव्यक्ति देना चाहता है, उससे इतर दे जाता है। यह खतरा हर ढीली भाषा की बुनावट वाले कवि के साथ सहज और स्वाभाविक है। ऐसा नहीं है कि कवि इस खतरे से परिचित नहीं है। पर परिचित होते हुए भी सारी सायासता को खोना चाहता है। उसकी सारी अव्यवस्थिति और टूटे-टाटेपन को 'शरारतपूर्ण सह-

* अतुकान्त : लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी। मूल्य ५.००।

संयोजन' में आत्मसात् करना चाहता है। कवि का सेंसर जान-बूझकर यह सब करने की छूट देता है। ऐसा इसलिए कि यह सारे जमाव से बहुत जल्दी ऊब जाता है। किसी भी जमाव के प्रति प्रतिक्रिया लक्ष्मीकान्त की विशेषता है। यह प्रतिक्रिया पहले से सार्थकता देगी या निरर्थकता, यह बात इनके लिए गौण हो जाती है। वे एकरसता की नीरसता से मुक्ति चाहते हैं, मुक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं; भले ही प्रयत्न में असफलता ही हाथ लगे। पर इस बदलाव में 'निरर्थकता' और 'ऊलजलूलपन' पर भी उन्हें पर्याप्त सन्तोष मिलता है। कम-से-कम अतुकान्त की कविताओं से तो ऐसा ही लगता है।

लेकिन आखिर क्या कारण है कि इन सारी बातों के बावजूद लक्ष्मीकान्त का कवि समस्याओं, अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की निजता को इतना गहरा और सार्थक अर्थ दे पाता है, और इस अर्थ की सार्थकता में एक निजी अनुभूति को व्यापक स्तर पर इस तरह प्रकट करता है कि वह बहुत गहरे व्यक्ति का सत्य बन जाती है। शायद इसका कारण सारी विपरीत परिस्थितियों से टकराते-टकराते सत्य को खोजना है, जिस खोज में वह अपने को भी एक भोक्ता मानता है—

यज्ञ मैंने भी किये थे
मानसरोवर के हंसों को मैंने भी बुलवाया था
पर क्या करूँ
वे मोती जिन्हें हंस चुनते हैं
जिन्हें मैंने असली समझ, सँजोया, रखा, वे सब
नक़ली निकल गये [४१]

उन मोतियों के नकली निकल जाने का स्वीकार शायद किसी बड़ी असफलता का स्वीकार है, और सहज स्वीकार है; जिसकी सारी योजना यज्ञ की क्रिया और पवित्र फल से सम्बन्धित होकर भी असफल हो जाती है। अगर यज्ञ की पवित्रता और उसके फल की अपेक्षा मान भी ली जाए तो भी यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि इस असफलता या अस्वीकार की मुद्रा में भी क्षोभ या खीझ नहीं बल्कि सारी याज्ञिक क्रिया पर एक व्यंग्य और उसकी निरर्थकता ही मिलती है और वह भी इसे स्वीकार करता है कि—

'···यज्ञ के पुरोहित। सब बन गये कबाड़ी।' [४३]

अगर कवि की मानसिक बुनावट बारीक नहीं होती तो सामयिक घटित होने वाली बातों की छानबीन भी कविताओं में करने की आवश्यकता न थी। पर लक्ष्मीकान्त सहज प्रतिक्रिया के कवि हैं और उनकी निजी कविताओं में भी सामाजिक परिवेश का उभार है। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं है वहाँ भी इस उभार का छायाभास है। कवि का यज्ञ और उसका संघर्ष नयी कविता के प्रारम्भ और उसके स्थापित होने की स्थिति है। जिसकी 'ताज़ी कविता' कविता के वक्तव्य में उसने खुद ही कपाल-क्रिया कर दी क्योंकि उसे लगा कि उसकी सारी यज्ञ-क्रिया का अन्त पलायनवादी और 'हिमबिद्ध' होकर ही रह जाना था। खुरदरे यथार्थ से यह एक पलायन था जिसमें अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' से लेकर 'चकित है दुख' और 'जो बँध नहीं सका' की कविताएँ भी शामिल हो जाती हैं।

पर यह शामिल होने की बात खुद कवि को उस खुरदरे यथार्थ से पलायन करने वालों की कतार में नहीं खड़ा करती। वह खुद उस कतार में खड़ा होना चाहता है। पर कुछ विशिष्ट कारणों से खुद-ब-खुद अलग कर दिया जाता है। कदाचित इस अलग कर दिये जाने का कारण इसका अपने ढंग से ईमानदार होना है। वह सारी विपरीत और रूखड़ी परिस्थितियों से टकराने और टूटकर हल खोजने की अपेक्षा भारतीय संस्कृति के परम्परागत अपने बचाव के तरीके के अनुसार कछुए की तरह सिकुड़कर आत्मलीन होना अधिक उपयुक्त समझता है। इस तरह आत्मलीन होने में उन्हें दो फायदे हैं: एक तो उन्हें अनायास विपरीत परिस्थितियों से टकराना नहीं पड़ता; दूसरे उनका स्वाभिमान भी आत्मस्थ होने से सुरक्षित रह जाता है और वे गर्वोन्नत बने रह सकने का अहम् रखने में समर्थ होते हैं—यथा—

मैं आत्मलीन हूँ
रहूँगा आत्मलीन
बन नहीं सकता आवाज़ मैं किराये की
नहीं हूँ भोंपू, प्रतिध्वनि किसी विज्ञापन की [३६]

और—

अपना सिर बचा लिया है। ताकि वक्त ज़रूरत काम
आये। [५१]

पर लक्ष्मीकांत की यह आत्मलीनता अध्यात्म से कोई ताल्लुक नहीं रखती और न रख ही सकती है क्योंकि उनमें समर्पित होने जैसा कुछ भी नहीं है। उनकी सारी आस्था और संवेदना हरे बाँस की तरह है जो कि आँधी गुज़र जाने पर यथावत् हो जाती है, झुकती है, टूटती नहीं और यह झुकना

भी सामयिक हुआ करता है। सारे विपरीत सवालों की बौछार में वे चुप रहते हैं और जब मन पर एक बोझ बन जाता है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति से धो देते हैं।

लक्ष्मीकांत में बहुत गहरा स्वीकार है और यह अस्तित्व-बोध के स्तर पर अभिव्यक्ति में बहुत गहरे उतर जाता है—

कभी-कभी सोचता हूँ
यह मैंने क्या किया
मेरा घर
एक हरा-भरा गुलदस्ता हो सकता था
लेकिन इस युग में
मैंने क्यों वह चुना
जिसमें सिर्फ़ रेत है
मरु है, विष है, व्यंग है ? [७०]

सोचता हूँ क्या यह कवि का पश्चात्ताप है जिसमें वह अपने चुनाव को ही गलत ठहराये जाने की बात सार्थक करता है? यह भी संभव है कि शायद यह उसकी विवशता हो, पर ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं था कि रास्तों के विकल्प नहीं थे पर विकल्पहीन रास्ते का चुनाव उसने खुद ही अपनी रुचि से किया और इसके लिए कविताओं में पश्चात्ताप की मुद्रा नहीं मिलती। यह इस बात का प्रमाण है कि वह इन सारी असफलताओं से ऊबा नहीं है और कम-से-कम 'अतुकांत' का कवि ऊब या पश्चात्ताप का कवि नहीं है। हालाँकि हताशा और थकावट की मुद्रा मिलती है पर इन कविताओं में आत्मविश्वास के टूटने जैसा भाव नहीं मिलता।

'"सोचता हूँ,
जो भी किया, अच्छा किया।
ऐतिहासिकता को भोगा,
इतिहास का भोग नहीं बना' [७५]

लक्ष्मीकांत की कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें सामाजिक और ऐतिहासिक संस्कारों को भाषा मिली है। लेकिन आखिर क्या कारण है कि निजी कविताओं में वे जितने ही सफल हैं, सामाजिक और ऐतिहासिक स्तर की कविताएँ उन्हें उतने ही पीछे छोड़ देती हैं। कदाचित् इसका कारण सामाजिक स्तर की व्यापक दृष्टि का न होना है या उनकी पूरी-की-पूरी मानसिकता का केवल व्यक्ति के ही गहरे धरातल पर जुड़ सकना है। ऐसा नहीं है कि उनमें सामाजिकता नहीं है, पर यह सच है कि उनकी कविताओं में व्यक्तिगत स्तर की गहरी अनुभूति सार्वजनिक रूप से एक टाइप और तबके का सत्य बनकर उभरती है; वहीं दूसरी ओर जहाँ वे समाज और इतिहास का शोर और उसकी पुनरावृत्ति करते हैं तो वह एक चिप्पी की तरह लगता है और बावजूद सारी कोशिशों के तालमेल बैठाने में उसका भदेसपन अलग से दिख जाता है। 'इतिहास के दर्पण में' खण्ड के अन्तर्गत रखी गई प्रायः सभी कविताएँ कहीं भी इतिहास-परम्परा और उसकी सार्थकता और समझ को गहरे संदर्भों से नहीं जोड़ पातीं। सारा प्रयत्न 'इतिहास का कीड़ा' (५६) बनकर रह जाता है। इसका कारण यह है कि कवि एक साथ ही दो धरातलों पर जीने का एहसास बनाये हुए है, साथ ही दोनों धरातलों के झूठ या सच की प्रामाणिता को बिना अपने 'सेंसर' के यथावत् व्यक्त कर देता है, जिसमें एक ओर वह इतिहास और प्रेतात्माएँ, इतिहास और चरवाहा, इतिहास और डी० टी० टी०, इतिहास और चूहे में—इतिहास और उसकी परम्परा की निरर्थकता में जीता है तो वहीं इतिहास-सेतु में इस प्रामाणिक निरर्थकता का एहसास भी देता है कि—

'इन पर चढ़कर यात्राएँ की जा सकती हैं
इन्हें वरण कर जिया नहीं जा सकता।' [६४]

प्रश्न उठ सकता है कि इतिहास पर चढ़कर यात्राओं का संकेत कवि की मरमोत्तर ख्याति की लालसा तो नहीं? यदि ऐसा न भी हो तो कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि अतुकान्त का कवि इतना अधिक काल्पनिक नहीं लगता है कि यथार्थ का खुरदरापन भूल जाये और सब-कुछ इतिहास बनने की काल्पनिकता में ढक दे। अतुकान्त की कविताएँ भी इस बात की साक्षी हैं कि वह आज के जीवन में व्यावहारिक है क्योंकि अव्यावहारिकता का वरण कर आज के जलते प्रश्नों के उत्तर की तलाश नहीं की जा सकती। अतः उपर्युक्त दोनों धरातलों को देखने पर सहज ही कहा जा सकता है कि अतुकान्त में कवि जहाँ एकालाप की शैली में निजी स्तर पर सारी बातें कहता है वहाँ उसकी बातों में गहरी पकड़ है। पर जब उससे अलग हटकर वह बड़ा परिवेश लेना चाहता है और उसके अनुरूप सारी अनुभूति को यथावत व्यक्त करना चाहता है, वहीं उसकी एकालाप की शैली रुद्ध हो जाती है और उपयुक्त भाषा की तलाश में लगातार अपने से टकराते-टकराते असमर्थता पैदा हो जाती है। इस एकालाप की शैली में कवि की आत्मरति भी मिलती है। आत्मरति के सम्बन्ध

में विजयदेवनारायण साही का 'मछलीघर' और लक्ष्मीकांत वर्मा का 'अतुकान्त' दोनों एक ही धरातल के कविता-संग्रह हैं। ऐसे यह अलग बात है कि आत्मरति की यह विशेषता साही और लक्ष्मीकांत की ही विशेषता है या पूरी नई कविता की ही ?

अतुकान्त की कविताओं को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसकी भाषा के सम्बन्ध में उठता है। आखिर अतुकान्त की भाषा क्या है और यह भाषा शेष नयी कविता के कवियों की भाषा से कितनी भिन्न है। यों तो इस बात को देखने के पहले उनकी कविता-यात्रा के उन सारे आयामों को भी देखना चाहिए जिसमें उर्दू ग़ज़ल से लेकर उनके 'अतुकान्त' तक की भाषा का विकास हुआ। पर बात फैल जाने के डर से सारी बात को इसी कविता-संग्रह पर केन्द्रित करना अधिक सार्थक होगा।

लक्ष्मीकान्त जो भी कहना चाहते हैं एकदम सीधे तरीके से कहते हैं और अधिकतर उसमें कथ्य और कथनशीलता की भाषा के बीच असमर्थता की भाषा का एहसास नहीं दीखता। ऐसा होने का कारण अभिव्यक्ति के अनुरूप भाषा की तलाश है जिसके लिए वह लगातार अपने से टकराता रहा है। उससे अनुरूप भाषा की बुनावट पैदा होती रही है। शायद इसीलिए आवरणशीलता और निहायत पच्चीकारी का जो दृष्टिकोण विजयदेवनारायण साही में और गलदश्रु भाषा का जो स्वरूप जगदीश गुप्त में मिलता है, उससे अतुकान्त की भाषा अलग है और यह मुक्तिबोध की तराशी गई भाषा से भी अलग है। पर अलगाव का यह स्तर इस एक कविता-संग्रह में भी भिन्न-भिन्न है। शायद ऐसा होने का कारण इस संग्रह में लक्ष्मीकान्त की लम्बी कविता-यात्रा की कविताओं का गड्ड-मड्ड रूप में संकलित होना है। इस संग्रह में कवि की कुछ आरंभिक नयी कविताएँ हैं जिनके कुछ अंशों पर छायावादी कवियों का प्रभाव देखा जा सकता है—

···वह सब कुछ है जो ऋजु है, पावन है, मंगल है,
शुभ है
किन्तु वह भी है जो रौरव है, गलित, वीभत्स, कुरूप,
अपरूप है
वह भी है जो प्रत्येक क्षण बढ़ता क्षयी है
वह भी है जो चिर ध्वंस में एक मंगल-सूत्र-सा अक्षय है
वह भी है जिसके आभा-मण्डल में असंख्य सौर-मण्डल हैं
वह भी है जिसके अस्तित्व से बँधा धूमकेतु अमंगल है
वह भी है विघटन, विपर्यय, विसर्जन, लांछन, व्यंग्य
अपवाद
वह भी है जो संगठन, सक्षम, सम्बोधन, संचरण,
आल्हाद··· [१०]

भाषा की दृष्टि से यहाँ सुमित्रानंदन पंत की लोकमंगल की कामना का टोन स्पष्ट है। अन्यत्र भी कवि ने छायावादी टोन में ही खुद स्वीकार किया है कि—

···वेदना का लेप दे दो।
मुक्ति है निष्काम ! [१६१]

छायावादियों की विराट् अस्तित्व-भावना और लोक-मंगल की कामना तथा प्रगतिवादियों के सामाजिक व्यक्तित्व के विपरीत नयी कवितावादियों ने लघु मानव का जीवन-दर्शन गढ़ा। यह सामयिक था। पर इस सारे गढ़ाव से वे ख़ुद घिरते गये। बाद में उनके व्यक्तिवादी केन्द्र ने भी अपना घेरा तोड़ा। उनकी तर्क-पद्धति जब निष्क्रिय हुई तो उनके सामने अपने छोटेपन के एहसास और कमज़ोरियों के दर्शन के अतिरिक्त कुछ भी न था। इसी बोध के परिणामस्वरूप लक्ष्मीकान्त पंत की तरह अध्यात्म के नज़दीक होने की स्थिति में हो जाते हैं। पर जब उन्हें अपने पूरे परिवेश और साम-यिक वक्तव्यों का ध्यान आता है तो ये फिर अतीत से वर्त-मान में लौट आते हैं और सहज रूप से स्वीकारते हैं कि—

मैं दोनों का साक्षी
दोनों का भोक्ता
दोनों से विलग व्यक्तित्व हूँ
अपनी सहज लघुता के परिवेश में
अपने सौर-मण्डल से प्रदीप्त केन्द्रस्थित, अपरिहार्य,
अनिवार्य···

मेरी अपनी लघुता है रक्षणीय [१०]

लघुता का स्वीकार आज के ईमानदार आदमी की अभि-व्यक्ति है। पर कवि जब उस पर गर्व करता हुआ और उसे रक्षणीय मानकर 'गलत-सलत' और 'उलजलूल' वक्तव्य देता है तो यह उसके मथित का अहम् लगता है।

अतुकान्त में कहीं भी भाषा का अनगढ़पन नहीं है। लक्ष्मीकान्त जिसे 'गलत', 'ऊलजलूल' और 'ऊबड़खाबड़ भाषा' कहते हैं वह भी इसमें नहीं है। दरअसल ये शब्द कवि की मानसिक रुकावट के प्रतीक हैं जिनका उपयोग वह जहाँ-तहाँ

सायास या अनायास ढंग से किया करता है। इस संग्रह में नयी कविता से ऊब के बाद इनकी तलाश से सम्बन्धित कविताएँ नहीं हैं। इन कविताओं में नयी कविता की सही और घिराई हुई शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कम-से-कम भाषा की सतह पर अधिक कुछ नहीं खोजना पड़ा है। इसीलिए अभिव्यक्ति का स्तर सपाट और चिकना है और आरोपित या महिमामंडित नहीं लगता। इन्हें पढ़ने से ऊब नहीं होती, न कहीं अतिरिक्त दवाव से समझने की कोशिश करनी पड़ती है। पर यह एक अजीब बात है कि कविता के इतिहास में भी कभी-कभी ये पीछे लौट जाते हैं। अतुकान्त में आत्मस्वीकृति की भाषा मिले यह तो अनपेक्षित नहीं, पर गीत भी संवेदना में 'समय : एक कार्निवाल' की बात नयी कविता की भाषा और संवेदना से उन्हें एकदम अलग कर दे तो यह एक चौंकने जैसी बात लगती है—

कार्निवाल के खुले द्वार पर
खाली-खाली पैराम्बुलेटर
दूध की शीशी—खाली बोतल
टूटे-फूटे सड़े खिलौने
प्लास्टिक के ये नन्हें बौने
पड़े हुए हैं शव-से सूने—
कार्निवाल के खुले द्वार पर
सोती आया सोती आया [१२०]

इसके पढ़ने से यह लगता ही नहीं कि ये नवगीतकार से इतर भी हैं। पूरी-की-पूरी यह कविता इसी लयात्मक एक-रसता में डूबी हुई है। सारी चीज़ों को एक लगाववादी तरीके से देखा गया है और इसमें तटस्थ अभिव्यक्ति और तटस्थ भाषा की दृष्टि नहीं मिलती।

अतुकान्त के कवि में शिल्पगत आग्रह अतिशयता में नहीं है। यह अच्छा भी है, क्योंकि इससे कथ्य का स्वरूप फीका नहीं पड़ा है और न ही संस्कारगत बिम्बों के माध्यम से उन्होंने कहीं भी आभिजात्यवर्गीय बनने की कोशिश की है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति का रूप बहुत-कुछ आरोपित नहीं लगता। अधिकांश बिम्ब जीवन के सीधे बहते धरातल से उठाए गए हैं। इसीलिए वे सहज हैं और भाव और मुद्रा की प्रेषणीयता रखते हैं। उन्हें पढ़ने पर ग्रहणशीलता में कहीं बाधा नहीं पड़ती और कवि-काव्य और काव्य-पाठक के बीच एक सीधा ग्राफ बनता है। लक्ष्मीकान्त बिम्बवादी कवि नहीं हैं। बिम्ब-प्रयोग करना और बिम्बवादी होना दोनों दो बातें हैं। काव्य में प्रयुक्त इनके बिम्बों की यह एक विशेषता है कि उनका कोई बिम्ब अलग से कोई सार्थकता नहीं रखता बल्कि पूरी कविता को सार्थकता प्रदान करने में मदद देता है। लेकिन इस संग्रह में ही जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए हैं क्रमशः बिम्ब-विधान में भी उनकी काव्य-भाषा की तरह ढीलापन आता गया है और अन्तिम कुछ खण्डों में तो यह कहीं-कहीं प्रयोजनहीनता की ओर भी चलते नज़र आते हैं। लेकिन इस प्रयोजनहीनता में भी सायास या अनायास नये अर्थ-संदर्भों की सृष्टि हुई है। यही उनके बिम्ब-विधान की सार्थकता है।

किसी समय यह माना जाता था कि सशक्त और विकसित पौराणिक प्रतीक नयी कविता की अपनी विशेषता है। पर यह प्रवृत्ति दिनों-दिन कम होती गई है। अतुकान्त की बहुत कम कविताओं में पौराणिक प्रतीकों का उपयोग किया गया है फिर भी जहाँ है वहाँ काफी उभरा है—

रम्भा के घुँघरू : कालबेल पर दौड़ने वाले चपरासी
इन्द्र के वज्र : काठ की इंचों-खानों वाली पटरी
नारद की वीणा : वेश्या के कोठे पर झंकृत सारंगी
शंकर का नाग : पिटारी में बंद स्थिति की लाचारी
[२१]

और इसके अतिरिक्त—

अर्जुन वह
बदल गया रूप-रंग
अस्तित्व-बोध
सभी-कुछ बदल गया
राशन की दूकान पर द्रौपदी का चीर
कट-छँटकर महज़ चार गज़ अड़तालीस इंच
गाण्डीव का वज्र : केवल हाफ़ पौण्ड
प्रत्यंचा : केवल एक फुट इलैस्टिक
कर्ण-कुण्डल : केमिकल गोल्ड
गीता और न्यूज़ प्रिण्ट
व्यास आज का : केवल क्यूरेटर
गणेश : पटवारी
कृष्ण और कृष्णमाचारी
कुछ समझ में नहीं आता
ओ व्यास

ओ अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र···
कहा हूँ मैं···?
मैं कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···? [२२]

धर्म और पुराणों के प्रतीक आज के दोहरे पाटों के बीच किस तरह झूठे और निरर्थक हो गए हैं और मानवीय आस्था किस तरह बदली है, यह दर्शनीय है। सारे बड़े सवालों के बीच केवल अपने को खोजने की प्रवृत्ति खुद को पहचानने की शुरुआत है जिसे पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से 'क्यूरियो मार्ट में अर्जुन की तलाश करते कृष्ण,' 'स्टैम्पीड' और 'यज्ञ मैंने भी किए हैं' में पकड़ा गया है। इनमें आज के खुरदरे यथार्थ और मूल्यों के अवमूल्यन होने की स्थिति, नैतिकता, धर्म, विकृति, विसंगति और आस्था के स्खलन की सहज स्वीकृति है।

लक्ष्मीकान्त का कवि संघर्ष का कवि है। जहाँ संघर्ष है, टकराहट है, अस्तित्व का खतरा है, जटिलता है, विपरीत और विरोधी परिस्थितियाँ हैं, वहाँ कवि और भी संवेदनशील है और सारे उलझाव की एक सुलझी अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों के 'टेम्पर' की ही तरह लक्ष्मीकान्त की कविताओं का भी 'टेम्पर' है। प्रेमचन्द जहाँ मध्यवर्गीय या निम्न-मध्यवर्गीय चरित्रों की बात करते हैं वहाँ उनमें सजीवता और गहरी पकड़ देखने को मिलती है। पर जहाँ वे विलासितापूर्ण जीवन का स्पर्श करते हैं वहाँ उनकी पकड़ थोड़ी ढीली पड़ जाती है। लक्ष्मीकान्त की कविताओं में तो यह कमी और भी अधिक उभरी है। अतुकान्त की अधिकांश कविताओं में मध्यवर्गीय संघर्ष और संघर्ष का तनाव है और यह तनाव तटस्थता का भोग और भोग की तटस्थता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पर कवि जहाँ कहीं मध्यवर्गीय जीवन से इतर विलास की शब्दावली का प्रयोग करता है वही असफल हो जाता है। यहाँ इस बात के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर तीन ही पर्याप्त होंगे—

मैं बिना बोतल का शराबी [५५]
शराबी की बोतल [१७]
जिंजर बॉटल काली भौं है [१२१]

यहाँ ऊपरी दिखावट और केवल स्पर्श की क्षमता ही प्रकट होती है। उसमें रमने या नशे की खुमारी जैसी कोई बात नहीं मिलती। भोंडापन वहीं है जहाँ कि लीकर की पूरी संवेदना को वह बोतल से स्पष्ट करना चाहता है। यह सतही और अनुभवहीनता की बात लगती है। इस सम्बन्ध में अव्याव-हारिकता की एक बात और भी उल्लेखनीय है कि कवि ने अपने उपन्यास 'एक कटा हुआ कागज़, एक कटी हुई ज़िन्दगी' में तो फ्रेंच शराब में भी पानी मिलाकर पीने की बात लिखी है, जबकि उसे यह सब लिखने से बाज़ आना चाहिए था।

कवि 'कुछ गलत यादों के सहारे सार्थक वेदनाएँ' अपने गले से चिपकाये जीने का आदी है। उदाहरणार्थ—

उसे किसी की याद सता नहीं रही थी
पर वह चाहती थी
कोई याद बनकर आये
वह कुछ गुनगुनाये [१७५]

और—

उस दिन शाम उदास नहीं थी
लेकिन वह चाहती थी—शाम उदास लगे। [१७५]

यह एक अजीब बात है कि उदासी की चाह महज़ चेंज के लिए है। उदासी की ऊब और उसकी संवेदना यहाँ फैशन के लिए है। कवि ने उदासी को भी विलास बनाना चाहा है, वहाँ उसकी असफलता अलग से ही दिख जाती है।

इस संग्रह की कविताओं में अंग्रेज़ी शब्दों का (१२, १६, २३, ५१, ११६, १२०, १२१, १३२, १७३, १७७, १८ आदि) खूब खुलकर इस्तेमाल किया गया है और वे कहीं भी पेबन्द की तरह नहीं लगते। अर्द्धबौद्धिक कवियों में जिस तरह इनका उपयोग होता है उसका यथावत् उपयोग कवि ने किया है। पर कुछ शब्द उनके लिए कमज़ोरी हैं जिनका वे अक्सर प्रयोग करते हैं। 'पैराम्बुलेटर' (११६, १२०, १७३, १८ आदि) भी उनमें से एक है। लक्ष्मीकान्त के लिए 'पैराम्बुलेटर' एक विशेष आकर्षण है और उसका उपयोग वे बड़ी ही ललक से करते हैं। सम्भवतः 'पैराम्बुलेटर' उनके लिए एक मानसिक रुकावट है। ऐसे ही दो शब्द लघु और 'लघुमानव' भी हैं जिनका उपयोग अतुकान्त में बार-बार किया गया है।

लक्ष्मीकान्त मानते हैं कि साहित्य या कला की कोई भी प्रवृत्ति शाश्वत नहीं होती ('ताज़ी कविता : कुछ जोड़-बाकी' क ख ग अंक ६) पर घूम-फिरकर परम्परागत शाश्वत मूल्यों

की ओर झुकाव और उन्हीं सारी बातों से तादात्म्य किस बात का संकेत है? उनकी इन कविताओं में विराट् के प्रति अब भी एक मोह बचा हुआ है। (१८४) वे अपनी लघुता का अस्तित्व भी परमाणुवादी सार्थकता ही के साथ जोड़कर देखते हैं। (११) साथ ही मरणोत्तर ख्याति की निरर्थकता में पूरी आस्था से विश्वास करते हैं—

'ओ जनमेजय / मैं उस समय मरकर भी / तुम्हारे आस-पास / जीवित रहूँगा।' [४८]

उनकी सारी आस्थावादिता ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं के आगे नतमस्तक है। कवि खुद मानता है कि आज के सारे अभावों की कुंठा से सुरक्षा के लिए कहीं-न-कहीं समर्पित होना आवश्यक है। वह समर्पित भी है पर उसका समर्पण एकदम निर्जीव है। एक ओर वह अपने आराध्य का भी परिष्कार करता है, उनमें परिष्कृति की चेतना देने का स्वांग करता है और फिर दूसरी ओर सहारे के लिए उनसे खुद के परिष्कार की माँग करता है—'इसीलिए मैं कहता हूँ / संस्कारच्युत, विस्थापित क्षयी रावण से / तुम डरो नहीं / तुम राम हो / मर्यादा के निर्जीव वाहक पुरुषोत्तम नहीं / विश्वास मेरा/मिरी भक्ति है तुम पर / इसलिए डरो नहीं / मेरा परिष्कार करो।' [५०] कवि की पूरी अनुभूतिगत चेतना दो धरातलों पर बँटी हुई है। एक में वह परम्परागत विराट् के प्रति नतमस्तक है; दूसरे में वह खुद और उसके आत्मीय क्षण हैं और वे खुरदरी परिस्थितियाँ हैं जिनके आगे उसे झुकना पड़ता है। वह दोनों को ही अपने जीवन का अभिन्न अंग मानता है। उदाहरणार्थ—

'वह विराट स्वप्न जिसके समक्ष सारा ब्रह्माण्ड केवल तीन / क़दमों में बँध जाता है।'

और

'हाँ यह मैं हूँ / अकेला राहगीरों से अलग / मगर / मेरे साथ भी एक कारवाँ है।' [१४४]

उपर्युक्त दोनों बातों के उदाहरण हैं। यह कारवाँ ही उसे अतीतजीवी होने से रोकता है और उसके इस प्रयत्न को असफल करता है। पर आगे चलकर तो उसके निजी सम्बन्धों की उपयोगिता भी निरर्थक हो गयी है और 'वेस्ट पेपर बास्केट में फेंके हुए उसके प्रेमपत्र' [१६६] भी उसे कोरे कागज की तरह लगते हैं। लेकिन फिर भी सारी याददाश्त को तराशने से कतराने का भाव उसे रोमानी वातावरण में डुबोये रखता है, अलग नहीं करता।

पर रोमानी भाव और उससे रिलीफ़ की प्रवृत्ति भी अतुकान्त के कवि में धीरे-धीरे कम हुई है और विसंगतियों को भाषा देने की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ी है। कविताएँ अगर समाज की विसंगति को इंगित करें एक बात होगी, पर कविताएँ खुद ही विसंगत हों—दूसरी बात। इधर विसंगति की ओर कविता का मोह बढ़ा है और उसकी भाषा में दिनों-दिन कसाव कम होता गया है। वह उसके तराश के प्रति पहले जैसा मोहासक्त नहीं है, और किसी भी मोहभंग की स्थिति एक अच्छी और स्वस्थ बात हुआ करती है।

लक्ष्मीकान्त की इन कविताओं में 'अतिकथन' या अल्पकथन नहीं मिलता। यों तो अतुकान्त में १६१ पृष्ठ तक नयी कविता की पारम्परिक शब्दावली में अधिकांशत: घिसी-पिटी शब्दावली की नितान्त एकरसता में डूबी हुई कविताएँ हैं। पर 'कुछ ग़लत कविताएँ' खण्ड से संग्रह को एकरसता की रोशनी से मुक्ति मिली है; और इस मुक्ति के बाद ही वह समाज के सारे बिखराव, विसंगति, असफलता और निरर्थकता को सपाट भाषा देने में समर्थ होता है। यह अभिव्यक्ति समाज के उस चेहरे को दिखाती है जिस पर एक आवरण था। लक्ष्मीकान्त ने सब-कुछ निरावरण देखा है और उसे इन कविताओं में भाषा दी है। यहीं ये विसंगत (एब्सर्ड) कवि होते-होते रह गये हैं और विसंगति (एब्सर्डिटी) के कवि के रूप में अपनी भाषा स्थापित करते हैं।

आदतन लिखते रहने की नियति

विष्णु खरे

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह[1] में ब्लर्ब पर चूंकि उन्हें शिल्पकुशल कवि सिद्ध किया जा चुका है अतएव उनके शिल्प से ही प्रारंभ करना अनुचित न होगा, हालाँकि यह मुझे मालूम नहीं है कि किसी कवि के शिल्प पर बात करते समय उसके कथ्य से कैसे बचा जा सकता है। राहत की बात है कि इन कविताओं में शिल्पवैविध्य इतना नहीं है कि पूरे संग्रह को छानना पड़े—प्रथम कुछ कविताओं से ही जरूरी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पहली कविता 'दो पाटों की दुनिया' की पहली तीन पंक्तियों में दो शब्द 'चारों तरफ़' तीन बार आते हैं, फिर हर चरण की अन्तिम दो पंक्तियों में 'हम क्या करें' तथा '···के क्रम से कैसे छुटें' का उपयोग हुआ है। इसी तरह दूसरी रचना 'सत्य का अपराध : एक स्वप्न' में, जो चार चरणों में विभक्त है, प्रत्येक चरण के पहले 'मैंने देखा' तथा अंत में 'वह···मेरा है' शब्द आए हैं। 'बौनों की दुनिया' में उनके शिल्प का दूमरा रूप प्राप्त होता है—'हम सब बौने हैं' कहने के पश्चात् उन्हें इस रहस्यमय वक्तव्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है और वे 'अमुक से, अमुक से भी' तिहराते हैं और फिर दसवीं पंक्ति के पश्चात् एक लम्बी फ़ेहरिस्त शुरू होती है जिसमें इसकी गिनती की गई है कि यदि हम बौने न होते तो किसे क्या न मिलता। 'इतिहास का सिंहासन' में प्रथम दो कविताओं का फार्मूला दृष्टिगोचर होता है—कविता चार चरणों में विभक्त है और प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति का गठन इस तरह है—विशेषण + 'दर्शक' + क्रियापद। 'इतिहास : एक बच्चा' में यह गणित फिर मौजूद है—प्रत्येक चरण की व्याख्यात्मक पंक्ति 'इतिहास अमुक है' की टेक है। इससे पहले कि यह कहा जाय कि मैंने संग्रह की प्रारंभिक कविताएँ ही देखी हैं, अन्तिम कविताओं में से 'साक्षात्कार', 'अ-नया वर्ष', 'अवस्तु करुणा' तथा 'सार्थकता' की चर्चा भी की जा सकती है। 'साक्षात्कार' में प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति "अमुक ने पर अमुक किया नहीं" है, 'अ-नया वर्ष' में टेक 'इसके पहले' है, 'अवस्तु करुणा' में यह 'जब मेरी / मेरे अमुक में' है और 'सार्थकता' में यही 'अमुक हो गई अमुक' है। विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना संभव नहीं है।

स्पष्ट है कि माथुर ने अपने इस 'शिल्प' को एक आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया है वरना वह इतने दफ़ा उसका उपयोग न करते। किन्तु आदर्श को लत बनते देर नहीं लगती और कविता में आदत का अर्थ है एक सुविधाजनक मैनरिज़्म का शिकार हो जाना। परिणामतः माथुर अपनी इस तरह की कविताओं में एक साँचाबद्ध कवि बनकर रह गए हैं। इन कविताओं का एक चरण पढ़कर ही मुक्त हुआ जा सकता है क्योंकि वही मूवमेन्ट अगले प्रत्येक चरण में अपनी समस्त दुर्भाग्यपूर्ण एकरसता के साथ आपका रास्ता देख रहा है। कवि साँचे तभी तैयार करता है जबकि उसमें बैठा हुआ स्रष्टा अपनी ऊर्जा खो बैठा हो और केवल आदतन लिखते रहना उसकी नियति बन गई हो या लेखन उसके लिए 'अस्तित्व का संकट' का प्रश्न बन गया हो। हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों के लिए 'सृजनरत' रहना कलात्मक आवश्यकता नहीं होती, अधेड़ अभिनेत्री द्वारा बार-बार 'कमबैक' की त्रासद कोशिश होती है। इस प्रयत्न में कोई अध्यात्मवाद—रूमानी-रहस्यवाद-गांधीवाद और यहाँ तक कि अस्तित्ववाद भी ओढ़ लेता है, कोई सीधा गाली-गलौज पर उतर आता है और कोई कविताओं से उत्तजना प्राप्त करने के लिए 'रिजुविनेशन' के आयोजन करता है।

माथुर की प्रिय 'डिवाइस' एक ही विचार को बदले हुए शब्दों में दुहराने-तिहराने की है और जबकि वे यह समझते होंगे कि इससे कविता में 'वैविध्य' तथा 'वैराट्य' आ रहे हैं, सचाई यह होती है कि प्रत्येक दूसरे शब्द के बाद कविता अनावश्यक रूप से लम्बी और सतही होती चली जाती है। 'समझाने' की यह कोशिश कवि की आत्मरति अथवा अहम्मन्यता का दूसरा स्वरूप है। वह यह समझता है कि उसे शब्दों का जादू आता है और वह सर पर चढ़कर बोलेगा, किन्तु शब्दों के 'रोप-ट्रिक' की रस्सी एक सीमा तक ऊँची पहुँचती है और उसके बाद द्रुत गति से नीचे आकर गले में लिपटने लगती है और भाषा तथा अर्थ में संभावित इन्द्रजाल की परिणति हास्यास्पद अवमूल्यन में होती है। माथुर की कविताओं में तरह-तरह के शब्द भरे पड़े हैं और उनकी मुद्रा कभी बहुत आक्रामक तथा कभी बहुत मृदु प्रतीत होती है, किन्तु यह

१. जो बँध नहीं सका : गिरिजाकुमार माथुर, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य ३ रुपये, पृष्ठ १०२।

प्रतीति शाब्दिकता के अलावा कुछ भी नहीं है। संभव है कि माथुर की कविता में पाठक को रोष, व्यंग्य आदि दीख पड़े किन्तु वह रोष और वह व्यंग्य एक भाषणबाज़ का है, सका-रण टूटते हुए व्यक्ति का नहीं—

"राहें सभी अंधी हैं
ज़्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या ग़ाफ़िल हैं
खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार हैं
लगते सिर्फ़ मुजरिम हैं"

इन पंक्तियों में एक आत्मतुष्ट पवित्रता का स्वर यदि पहचाना नहीं जा रहा है तो शायद इसलिए कि भाषा वक्तव्य-बाज़ी तक पहुँच चुकी है जिसका रज़ामन्द शिकार प्रत्येक मध्यमवर्गीय बन चुका है जो चहुँमुखी गालियाँ देने के पश्चात् पुनः सुबह वहीं दुम हिलाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह एक किस्म की घटाटोपी भाषा है जिसका इस्तेमाल कमज़ोरी ढँके रखने की धोखादेही के लिए हुआ है और दूसरी ओर एक दूसरे तरह का लिंग्वादलमोतवादीवत् घटाटोप है :

"सघन भी, मुलायम भी
अस्खलित, अनिर्वच
गोल-गोल-गोल क्षणों में वलय
गंधपार अन्वितियों में उठती
एक स्निग्ध, सिलकन लय
बीज धारण को मुड़ते चरणों से पूर्व की
मन्द उदित मुग्धता
आसन्न अमरता में बन्द होता
दूरी से लौटा हुआ एक लाल उत्तर"

सम्भव है इन पंक्तियों का कोई 'अर्थ' हो, किन्तु शब्दों और बिम्बों का जो गोल-गोल गोलमाल इनमें हुआ है वह उसका 'आनन्द' उठाने की फ़ुर्सत भी देगा? स्पष्ट है कि माथुर को अभी भी अपनी काव्यभाषा का सन्तुलन प्राप्त करने की सख्त ज़रूरत है।

संग्रह किन्हीं अज्ञात कारणोंवश तीन खंडों में विभक्त है—शायद 'विविधता' का तक़ाज़ा रहा हो—और बीच का खंड, जिसका शीर्षक 'काल दृष्टि' है, अपने विषय में कहता है : "काल की चतुर्थ विभा के रहस्यमय बिम्बों में प्रवेश करनेवाली कुछ रचनाएँ, जिनमें देश काल-संहति की स्पर्श-पार सूक्ष्मानुभूतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, कलात्मक अभि-व्यक्ति की एक सर्वथा अछूती दिशा तथा प्रेरणाभूमि इन रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रथम बार उद्घाटित हुई हैं।" सड़कों पर अभी भी ऐसे मदारी दीख जाते हैं जो पहले कपड़े के एक टुकड़े का सांप बनाते हैं और उसके फन में एक बीड़ी फँसाकर ऐलान करते हैं कि वे उस कपड़े के साँप से बीड़ी पिलवाएँगे। कहना न होगा कि तमाशा पूरा हो जाता है, शीशियाँ बिक जाती हैं और वह साँप बीड़ी नहीं पीता। 'काल दृष्टि' की कविताओं को एकाधिक बार पढ़ चुकने के बाद मुझे ऐसा कहीं नहीं लगा कि कोई 'सर्वथा अछूती दिशा' उनके द्वारा 'साहित्य में पहली बार उद्घाटित' हुई हो। विश्व साहित्य में 'ए कनैक्टिकट यैंकी इन किंग आर्थर्स कोर्ट' तथा 'द टाइम मैशीन' से लेकर साइंस-फिक्शन कॉमिक्स तक तथा 'कैन्टोज़' में पाउंड से लेकर 'फ़ोर क्वार्टेट्स' में इलियट तक 'काल' पर बहुत-कुछ बहुत पहले लिखा जा चुका है। हाँ, यदि 'साहित्य' का अर्थ माथुर के यहाँ 'केवल उनका साहित्य' होता हो तो बात अलग है। जो भी हो, इस खंड की पहली कविता 'समानान्तर-सत्य' : "निर्जन दूरियों के / ठोस दर्पणों में / चलते हुए / सहसा मेरी एक देह / तीन देह हो गयी / उगकर एक बिन्दु पर / तीन अजनबी साथ चलने लगे / अलग दिशाओं में / और यह न ज्ञात हुआ / इनमें कौन मेरा है" में न तो 'देशकाल-संहति' पार की गई है, न यह एक सर्वथा 'अछूती दिशा' है और न ही यह 'प्रथम बार उद्घाटित' हुई है। खंडित व्यक्तित्व पर श्रीकान्त वर्मा की कविता 'दूसरे का डर' कहीं ज्यादा अनुभव के समीप है और तात्कालिक है।

"छायावाद में न केवल शब्द, चित्रभाव, बिम्बभाव और काल्पनिक उद्भावनाओं की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई, अपितु शब्द-नाद भी रीतिकालीन कवियों की भाँति अनुप्रासात्मक रहा। कलकल-टलमल, सरसर-मर्मर, पुलकन-सिहरन, खगकुल-कुलकुल अथवा लहर-छहर, अरुण-तरुण या दल-बादल आदि एक नहीं सैकड़ों उदाहरण इसी ओर संकेत करते हैं।" और यह दुःखद आश्चर्य की बात नहीं तो और क्या है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो इस ओर संकेत करते हैं कि माथुर के इस संग्रह के अन्तिम खण्ड की अधिकांश

कविताएँ नव्य-छायावादी हैं। हिन्दी के जिन कवियों में अभी-भी छायावादी संस्कार कसमस कर रहे हैं वे इस भ्रांति में गिरफ्तार हैं कि महज़ लिरिक शब्द तथा बिम्ब प्रयोग से लिरिक कविता बन जाती है—पिछली शताब्दी में स्विनबर्न भी इसका शिकार हुआ था। 'वसंत की पहली शाम' की अन्तिम पंक्तियाँ : "फूले हुए नीबू रातरानी की महक का / महीन मन्द / बहुत दूर बजता / मुलायम झनक आर्केस्ट्रा / उँगलियाँ तुम्हारी हैं" विश्लेष्य हैं। 'महक' का आर्केस्ट्रा 'बज' रहा है। अब चूँकि दुर्भाग्यवश ऑर्केस्ट्रा वास्तविक जीवन में 'सुना' जा सकता है 'सूँघा' नहीं—किन्तु माथुर का आग्रह है कि उसे 'सूँघा' जाए—इसलिए कविता में जो पंक्ति अन-लिखी है वह 'नाक' को 'कान' की उपमा देने से ताल्लुक रखती है। बात यहाँ समाप्त हो जाती तो भी ठीक था किन्तु अन्तिम पंक्ति 'अँगुलियाँ तुम्हारी हैं' हमारे सँभलते हुए मासूम आश्चर्य को भौंचक्केपन में बदल देती हैं। माथुर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि नीबू रातरानी की महक का जो सुदूर आर्केस्ट्रा है वह 'तुम्हारी उँगलियों' से छेड़ा जा रहा है। मैं जानता हूँ कि आज के कवि की सफलता का एक माप-दंड उसका कम समझ में आना भी है किन्तु पाँच छोटी पंक्तियों में इतना कन्फ़्यूज़न पैदा करना माथुर की उप-लब्धि है।

इस अनुभव के बाद 'रूप-विभ्रमा चाँदनी' की प्रथम दो पंक्तियाँ ही हमें सचेत कर देती हैं। छरहरी चाँदनी समझ में आ भी जाए, किन्तु उसका स्लीवलेस ब्लाउज क्या हो सकता है? फिर यह चाँदनी 'मुँह' में मन्द-मन्द 'इलायची चबाती' है, 'सेक्स रचे' (?) नखरे से अठखेलियाँ करती है, तत्पश्चात् 'हाथों को झुलाती' हुई, 'रुकती', 'मुस्काती', 'नीचे कुछ देख फिर तिरछी नज़रों में पुतलियाँ उठाती हैं', चाँदनी के यह सब कर लेने के बाद बरबस कवि को स्मरण हो आता है—'तुम्हारी' भी तो आदत कभी चाँदनी-सी थी। इस प्यारी-प्यारी कविता में गड़बड़ क्या है? पहले तो चाँदनी का 'मानवीयकरण' या 'मानवीकरण' किया गया—उस पर तमाम अभिसार-गुण लादे गये और शरीरीकृत किया गया—तदु-परान्त इस मानवीकृत अपार्थिवता से ठोस, जीवित, वास्त-विकता का मुकाबला किया गया। बात कुछ इस तरह की है कि पहले प्रेतों में आदमियों के गुण स्थापित कर दिए जाएँ और फिर आदमी से भेंट होने पर कहा जाए—अरे, पहले तो तुम प्रेत सरीखे हुआ करते थे!

स्पष्ट है कि गिरिजाकुमार एक बिम्बप्रिय कवि हैं किन्तु यदि कवि में बिम्ब-नियोजन की शक्ति न हो तो 'कौशाम्बी पर तीसरा पहर' सरीखी कविता प्राप्त होती है। पहली दो पंक्तियाँ कुछ आकृष्ट करती हैं (माथुर को कविता प्रारम्भ करना अवश्य आता है, यह बात और है कि पहले मोड़ के पहले ही स्टियरिंग व्हील हाथों से निकल जाता है)—"यह मंदिर/एक पथरीला पेड़ है"—किन्तु प्रत्येक अगली पंक्ति के साथ बिम्ब अविश्वसनीय होने लगता है और 'एक और गड़ी हुई शिला दूर तक उड़ जाती है' तक पहुँचते-पहुँचते अपनी श्रम-सिद्धता में असह्य हो जाता है। गिरिजाकुमार की कविता की तमाम बाज़ीगरी 'शिलाओं' को 'टूटे पत्ते सरीखे उड़ाने' में सफल नहीं हो सकती और फिर पुनः इसी बिम्ब को दुहराने का भला और क्या अर्थ हो सकता है—"एक विशाल पत्थर तरु/और सहसा छूटकर उड़ते दूर तक/पत्थर के पत्ते/चारों ओर"—कि कवि को वह अपनी समस्त दुर्भाग्य-पूर्णता में प्रिय है और वह उसे पाठक को 'सेल' करना चाहता है।

'गंध लेने लगी आकार' फिर एक बिम्बहत रचना है। अपने शब्द-चयन, गठन, शैली आदि में यह स्व० माखनलाल चतुर्वेदी की दुरूहतर कविताओं का स्मरण दिलाती है। शब्दों की लक़दक़ में जब अर्थ खो जाता है तो मतलब यही होता है कि कवि अपने कथ्य-दारिद्रय को मध्ययुगीन जिरह-बख्तर पहना रहा है। 'गंध लेने लगी आकार' एक प्रकृति-चित्र से अधिक कुछ भी नहीं है, किन्तु उसे ऐसी छायावादी भाषा, बिम्ब-जाल और रूमानियत दिये गए हैं कि संप्रेषणीयता पलायन कर गई है और 'कुहू', 'दिपनार', 'जरी', 'रोमशर', 'किशमिशी अंशुकों', 'चम्पई चीकनी', 'संवलाए गए', 'छूमुई', तथा 'गुँथीली गुराई' के लिजलिजे दलदल में अर्थ का हाथी हौदे तक धँस चुका है।

गिरिजाकुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वे इकट्ठे तीन चीज़ें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वे वास्तव में हैं (अन्तिम उनकी लाचारी है)। अग्रणी होने की आकांक्षा उन्हें इस या उस आन्दोलन का संरक्षक बनने तथा उसके अनुरूप कविता छपाने, लम्बे-चौड़े मैनिफ़ेस्टो, स्पष्टीकरण तथा 'भूल-सुधार' शाया करने तथा

इतिहास-पुरुष (इतिहास-थीम पर कविताओं की बाढ़ आना आकस्मिक नहीं है) कहलाने को बाध्य करती है; समसामयिक होने की ललक उनसे अपनी रजतवर्ण कविताओं में आधुनिकता का खिज़ाब लगवाती है—उनके पास न आज को महसूस करने की शक्ति है और न ही उसको अभिव्यक्त करनेवाले बलिष्ठ शब्द; जबकि जैसे वे हैं वैसा होने की उनकी नियति उनसे इस तरह की कविताएँ लिखवाती है जो विवेन्द्र-रसेन्द्र आचार्यद्वयी को भले ही रुचती हो आज की स्थितियों से उतनी ही दूर है जितना आकाशवाणी से आकाश। अपनी करुण स्थिति को यह न पहचानते हों, इतने 'नाइव ये नहीं हैं, किन्तु रचनाओं की संख्या और ग्रन्थों के वज़न से ही हिन्दी-साहित्य में दाखिल हो सकने की परम्परा में इनका विश्वास निराधार नहीं है। इन्हें यह बतलाने से भी कोई लाभ नहीं होगा कि १९४३ में 'फोर क्वार्टेट्स' के प्रकाशन के बाद १९६५ में मृत्यु तक इलियट का 'इधर आपने क्या नया लिखा है' वाला कोई संग्रह न आने के बावजूद भी उसे लोग विश्वकवि मानते रहे हैं।

आगामी अंक में

- लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में—स्तेफान मोराव्स्की
- मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ—सुरेन्द्र चौधरी
- चिति की लीला में प्रतीक के प्रकार्य—रमेश कुंतलमेघ
- भारतीय काव्य शास्त्र की नयी व्याख्या ?—राममूर्ति त्रिपाठी
- कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स—विजेन्द्रनारायण सिंह
- स्वच्छंदतावादी समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी—विष्णुकांत शास्त्री
- निराला का 'कुकुरमुत्ता' : पुनर्मूल्यांकन—नेमिचन्द्र जैन
- परिवेश : संस्कार और संवेदना (कहानी के संदर्भ में)—रमेशचन्द्र शाह
- विष्णुचन्द्र शर्मा, श्रीराम वर्मा, नीलाभ और विष्णु खरे की कविताएँ।
- 'नौ साल छोटी पत्नी' (रवीन्द्र कालिया), 'रिश्ता तथा अन्य कहानियाँ' (गिरिराज किशोर), 'अंधेरे की आँखें' (श्रवणकुमार) आदि नये कहानी-संग्रहों की समीक्षा
- 'नयी कविता : स्वरूप और सम्भावना' (जगदीश गुप्त), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय) आदि आलोचना पुस्तकों की समीक्षा।

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

90

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वर्ष १८ : नवांक १०, (पूर्णांक ४७) जुलाई-सितम्बर १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में

स्तेफान मोराव्स्की

साहित्य के सम्बन्ध में लेनिन के वक्तव्यों का कोई शास्त्र नहीं है। हम जानते हैं कि लेनिन कोई सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, तथा यह भी, कि वह कभी भी साहित्यिक सिद्धांत और आलोचना से ज़्यादा समय तक सम्बद्ध नहीं रहे। लेकिन मार्क्स की भाँति वह भी साहित्य और कला में बहुत रुचि रखते थे। लूनाचार्स्की के संस्मरणों में यह एक प्रातिनिधिक घटना दर्ज है। सन् १९०५ में एक रात एक सहयोगी के घर लेनिन ने कला के इतिहास की कुछ लोकप्रिय पुस्तकें उठा लीं। दूसरे दिन सुबह उन्होंने लूनाचार्स्की से कहा कि वह सारी रात उन पुस्तकों को पढ़ते हुए जागते रहे हैं, और निःश्वास लेते हुए कहा : "एक मार्क्सवादी के लिए यह कितना अद्भुत क्षेत्र है ! अफ़सोस, मैं कभी इसमें लग नहीं सकूंगा।"

लेनिन सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कोई लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र ही नहीं है। उनकी दार्शनिक कृतियों में सुव्यवस्थित निर्देश मौजूद हैं, जिनके आधार पर स्पष्टतः ही एक लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र की रचना की जा सकती है; और इस दिशा में एकाधिक बार प्रयत्न हो चुके हैं।[1]

यहाँ हमारा उद्देश्य दर्शन तथा अन्य विषयों पर लेनिन के लेखों के आधार पर निर्मित हो सकने वाले उसके सौंदर्य-शास्त्र के स्वरूप का विवेचन करना नहीं है। लेनिन ने साहित्य और कला पर सीधे-सीधे जो लिखा है, हम स्वयं को वहीं तक सीमित रखेंगे। ये कथन तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथमतः, किसी कृतिकार या कुछ कृतियों के बारे में उनकी सैद्धांतिक और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ; फिर, उनकी सौंदर्य-परक रुचियाँ, जो उन्होंने अन्य सवालों के संदर्भ में समय-समय पर अभिव्यक्त कीं, और जो नियमतः उनके सामाजिक परिणामों से जुड़ी थीं; तीसरे, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उनके निर्देश, जो अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने दिये, जोकि शिक्षा तथा संस्कृति के प्रचार-प्रसार की समस्याओं से जुड़े हैं।

अन्य दो श्रेणियों की तुलना में उसकी सौंदर्यपरक रुचियों का प्रश्न आनुषंगिक है, और इसके बावजूद उनके विवेचन के लिए अत्यावश्यक भी है। हकीकत यह है कि वे रुचियाँ सीमित थीं। उन्होंने मुख्य रूप से रूसी कृतियों को आधार बनाकर, यथार्थवादी साहित्य, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की अतियथार्थवादी कला और भावनावादी संगीत को पहला स्थान दिया। फिर भी, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने व्यक्तिगत रुचियों को कभी भी निदेशक-सिद्धांत नहीं बनाया। उन्होंने कुछ खास कृतियों और कृतिकारों को चुना, इससे ही एक खास सीमा तक साहित्यिक आलोचना पर उनकी टिप्पणियों के क्षेत्र और स्वरूप पर उन रुचियों का प्रभाव देखा जा सकता है; लेकिन उनका चुनाव मूलतः तात्कालिक राजनीतिक प्रश्नों के कारण होता था।

सामग्री की बहुलता और प्रश्नों की जटिल प्रकृति के कारण, आधुनिक कला और सांस्कृतिक नीति के निर्देशों की समस्याओं का विशेष विश्लेषण ज़रूरी हो जाता है। हम मुख्यतः १९०५-१९११ की अवधि से प्रारंभ हुई आलोचना तथा सिद्धांत पर लेनिन की टिप्पणियों का—मसलन उनकी तोलस्तोय की समीक्षा और उनका लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में'—विवेचन करेंगे।[2] आगे चलकर १९१४, १९१६, १९२१ के उनके कुछ कथनों का हवाला देना और उनका उपयोग करना आवश्यक होगा, जोकि पूर्ववर्ती अवधि की सामग्री के महत्त्वपूर्ण पूरक हैं। तोलस्तोय

स्तेफान मोराव्स्की पोलैंड के वारसा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

से सम्बन्धित टिप्पणियाँ १९०८-११ में लिखी गई थीं। ये कुल छह हैं, जो **प्रोलेतारी** और **सोत्सिअलदेमोक्रात** से लेकर **ज्वेज्दा** तक विभिन्न पार्टी-पत्रों में प्रकाशित हुई थीं। 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में' नामक लेख १९०५ के अंतिम भाग में पार्टी-पत्र **नोवाया झिज़न** में प्रकाशित हुआ था। उनका विवेचन करने से पूर्व यह ज़ोर देकर कहना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में एक खास अनैरंतर्य है; इसकी विकास-धारा लगातार टूटती रही है और इसकी मूलभूत प्रस्थापनाएँ ज़रूरत पड़ने पर दूसरी या तीसरी बार नये सिरे से निरूपित की गयी हैं। उदाहरणार्थ, लेनिन को कला और साहित्य पर मार्क्स तथा एंगेल्स के कथनों का सम्पूर्ण संकलन उपलब्ध नहीं था। इस तरह का पहला ग्रंथ १९३७ में सोवियत संघ में प्रकाशित हुआ, जिसका संपादन **लिफशित्स** ने किया था। यदि लेनिन तद्वत निष्कर्षों पर पहुँचे थे, तो उसका श्रेय मार्क्सवादी पद्धति को है जिसने उस दिशा में उन्हें अग्रसर किया।

अब हम तोल्स्तोय के सम्बन्ध में लेनिन के लेखों पर विचार करेंगे. परंतु **लेनिन** की उपलब्धियों को समझने के लिए हमें पहले मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में लेनिन-पूर्व प्रयत्नों से आरंभ करके, उसकी ऐतिहासिक पीठिका पर ग़ौर करना होगा। इस सौंदर्यशास्त्र के अनेक मूल थे, जिनके बीज सत्रहवीं सदी में खोजे जा सकते हैं। इसके स्रोतों में से एक है **विको**, **विंकेलमान** एवं **हर्डर** से आरंभ होने वाले और **हेगेल** की कृतियों में समापित ऐतिहासिकतावाद के विश्लेषण तथा प्रातिनिधिक, वैयक्तिक एवं सर्वसामान्य की मीमांसा, जोकि **बाउमगार्टन** से लेकर **हेगेल** तथा उसके अनुयायियों के शास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र में प्राप्त होती है। एक अन्य स्रोत मुख्यतः उन्नीसवीं सदी के प्रथम तीस वर्षों में विकसित **उपयोगी कला और सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के जनतंत्रीकरण** की धारणाएँ, तथा कला-कृति (मुख्यतः साहित्यिक) के सामाजिक दायित्व पर—अर्थात्, **दिदेरो** और **मर्सिए** से लेकर 'डॉक्ट्रिनेयर्स' (सिद्धांतवादियों) के स्कूल तक जाने-वाली फ्रांसीसी परंपरा के विचार भी हैं।

यह एक चौंकानेवाला तथ्य है कि एक खास सीमा तक मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध की इन मूल समस्याओं को आत्मसात किया जोकि कला की अनेक-पक्षीय व्याख्या—उत्पत्तिमूलक, अनुकरणमूलक और वृत्ति-मूलक—का प्रतिपादन करती है।

उत्पत्तिमूलक—यह सुनिश्चित ऐतिहासिक कारणों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में कलाकृति की व्याख्या करती है;

अनुकरणमूलक—यह कला-कृति के **ज्ञानात्मक** मूल्य पर विचार करती है;

वृत्तिमूलक—कला-कृतियों को जिस ढंग से देखा जाता है, किस सामाजिक वर्ग (समूह) के लिए वह उपादेय है, यह विधि इसका विवेचन करती है। मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का मूल विश्लेषण एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है—यह इस अर्थ में कि इसमें ज़ोर कला-कृति की वर्गीय (विचारधारात्मक) व्याख्या पर दिया जाता है। निस्संदेह निष्कर्ष भिन्न होते हैं। और आगे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निदेशक सिद्धान्तों के अनुसार, इस समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण में ही किसी कला-कृति के विश्लेषण की इति नहीं हो जाती।

किसी कृति के वर्ग-चरित्र की उद्घोषणा बहुत आसान दिखायी पड़ती है, लेकिन वास्तविक पड़ताल से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही जटिल और प्रायः विवादास्पद व्याख्याएं उलझा देती है। यदि यह घोषित किया जाता है कि इस **ख** की कला-कृति एक खास वर्ग की है, तो आमतौर पर इसका मतलब यह लगाया जाता है कि लेखक ठीक उसी वर्ग का (सचेत या अचेतन) प्रतिनिधि है। लेकिन हमें इसकी जाँच करनी चाहिए कि यह कैसे होता है; हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि यह तथ्य कि कोई कलाकार एक खास वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा हमेशा ही होता है या केवल कभी-कभी। ऐसे तथ्य निश्चय ही मौजूद हैं। ठोस उदाहरणों पर आधारित अनेक विश्लेषणों में **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने यह प्रदर्शित किया है कि कोई कलाकार किसी सामाजिक वर्ग से जुड़ा होता है और यह भी, कि किस तरह। लेकिन इस विषय के और अधिक विश्लेषण से शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस तरह का सीधा-सादा वृत्तिमूलक अवलम्ब हमेशा ही मौजूद नहीं होता। मसलन्, **लेसिंग**, **दिदेरो** और **होगार्थ** इसका समर्थन करते हैं, लेकिन, मिसाल के लिए, **स्टर्न** और **वॉत्तो** के साथ स्थिति भिन्न है। पूर्वोक्त व्यक्ति निम्न पूंजीपति वर्ग से आये और उसी वर्ग के थे, और अपनी कृतियों में उन्होंने उनका सीधे-सीधे प्रतिनिधित्व किया, लेकिन बाद वाले (स्टर्न और वॉत्तो) उनकी वर्गीय उत्पत्ति से अनुशासित नहीं थे,

उनकी विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं का मामला कुछ जटिल था। मार्क्सवादी दृष्टि में, किसी वर्ग में पैदा होना मात्र एक कामचलाऊ संकेत है। मुख्य तत्त्व सर्जक की विचारधारात्मक मुद्रा है। जल्दी ही यह पता लग गया कि इस विषय के विश्लेषण में दूरदर्शिता जरूरी है। **मार्क्स** की 'अठारहवीं ब्रुमेर' में हमें एक प्रस्थापना मिलती है जो समाजशास्त्रीय विश्लेषण में नये क्षितिज उजागर करती है। 'दूकानदारों' और उनके साहित्यिक प्रतिनिधियों पर लिखित वह सुविख्यात अनुच्छेद है। दूकानदारों के साहित्यिक प्रतिनिधियों की सामाजिक स्थिति भिन्न होती है और वे अपनी शिक्षा के कारण दूकानदारों से अलग जा पड़ते हैं, लेकिन फिर भी उनके विचारों में एक खास समान्तरता होती है। लेखक मात्र अपने निजी वर्ग या सामाजिक समुदाय का सम्पूर्णत: 'प्रतिनिधित्व' (अर्थात्, दुनिया को देखने, महसूस करने और समझने के तरीके को अभिव्यक्त) नहीं करता। उसकी उत्पत्ति किसी एक वर्ग में हो सकती है और विचारधारात्मक रूप से वह किसी अन्य वर्ग के निकट हो सकता है : वह वर्ग उससे सम्बद्ध या उसका शत्रु भी हो सकता है। यहाँ तक कि वह एकाधिक वर्गों की विचारधारा भी अभिव्यक्त कर सकता है, जैसा कि अक्सर ही हुआ है, और इस तरह दुनिया तथा अपने चारों तरफ के परिवेश के परिचायक अन्तर्विरोधों के बारे में खुद अपनी दृष्टि की अस्पष्टता को व्यक्त कर सकता है।

एक अन्य शास्त्रीय व्याख्या की पद्धति है जो बतलाती है कि कलाकार द्वारा एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने की अभिघातमक प्रस्थापना अनेक सम्भावनाओं में से केवल एक होती है : यहाँ हम **गेटे** के बारे में **एंगेल्स** के वक्तव्यों का हवाला दे रहे हैं। गेटे के आंतरिक अन्तर्विरोध, अर्थात् उसकी संस्कारहीनता (फिलिस्तीनिज़्म) और उसका भव्य रवैया (जैसा कि **शिलर** के साथ था—दुनिया से पलायन के साथ-साथ क्रांतिवादिता) न केवल स्वयं उसका बल्कि उसके ऐतिहासिक युग का भी परिचय देते हैं। **एंगेल्स** की व्याख्या के अनुसार, गेटे अपने समय के जर्मनी के अन्तर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन एक समूचे समाज के अन्तर्विरोध साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण के जरिये व्याख्यायित किये जा सकते हैं, न कि केवल कलाकार की जीवनी या केवल उसकी विचारधारा के विश्लेषण से। यह ध्यान रखना जरूरी है कि कलाकार, जिनका अपनी सैद्धान्तिक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्णत: जागरूक मिलना दुर्लभ होता है लेकिन जो अधिकांशत: मनोसमाजशास्त्रीय घटनाओं (मिथकों, निषेधों, आम जज़्बात, अधबनी सामाजिक प्रवृत्तियों, नैतिक प्रश्नाकुलता आदि) के प्रति प्रखर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, खुद अपने पेशे की प्रकृति के द्वारा ही 'एक वर्गीय' दृष्टिकोण से परे जाते रहे हैं। एक उदाहरण रोमांटिकों का है जो अपने समय के समाज की समूची दुनिया के खिलाफ थे। उन्होंने सरकारी, पूंजीवादी कला के वकीलों और रिपब्लिकन-समाजवादी विद्रोही कला के समर्थकों, दोनों को ही लताड़ा। ए० कैसेग्ने ने अपनी पुस्तक 'ला थेओरी द ल' आर्त पोर ल' आर्त एन फ्रांस' (१९०५, भाग १) में उनकी ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दिलेरियों का एक बढ़िया चित्र पेश किया है, और उनके दृष्टिकोणों से 'कला के लिए कला' की परवर्ती धारणा निकाली है। कुछ ही समय बाद **प्लेखानोव** ने ('कला तथा सामाजिक जीवन', १९१२, खंड १ और २ में) बतलाया कि रोमांटिकों की 'उच्च-वर्गीय' मुद्रा बहुत हद तक भ्रामक ही थी।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण का एक और पहलू **एंगेल्स** कृत बाल्ज़ाक के विश्लेषण से प्रकट हुआ, जो उसने १८८५ में **मिन्ना काउत्स्की** को एक पत्र में लिखा था। बाल्ज़ाक की सहानुभूति सामंतवाद के साथ थी, फिर भी उसने 'ह्यूमन कामेडी' में जो कुछ प्रस्तुत किया, वह थी पूंजीपति वर्ग की अपरिहार्य विजय। एंगेल्स का कहना है कि बाल्ज़ाक का उदाहरण उन दो वस्तुओं के बीच आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करता है जिन्हें कृति का वस्तुपरक सत्य अर्थात् उसका **कलात्मक-ज्ञानात्मक सार**, और लेखक का दर्शन कहा जा सकता है। गौर करें कि मार्क्स और एंगेल्स के वक्तव्यों में उनके द्वारा समानार्थक रूप में प्रयुक्त दो शब्दों के दो अर्थों को अलग-अलग पहचाना जाना चाहिए—'विश्व-दृष्टि' और 'विचारधारा'। एक मान्यता के अनुसार, विश्व दृष्टि किसी साहित्यिक कृति में स्पष्ट रूप से कथित धारणाओं या निर्णयों (लेखक द्वारा टिप्पणी, किसी भी रूप में) की प्रणाली है। दूसरे अर्थ में यह कृति में निहित कलात्मक निर्णयों का एक पूरा **सेट** है, या एक ज्ञानात्मक साधारणीकरण है जो प्रस्तुत संघर्षों, चरित्रों, विषय-वस्तु इत्यादि से प्राप्त होता है। हमारा आशय कृति के भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण किये जाने से सम्बद्ध दार्शनिक प्रभावों से, प्रश्नाधीन कृति के

दायित्व से नहीं, बल्कि उससे है जिसे कृति का वस्तुपरक संदेश कहा जाता है। अन्तिम धारणा से, जो काफ़ी कुछ अस्पष्ट है, आशय है कृति की स्वयं संरचना द्वारा प्रस्तुत विश्व-दृश्य, अर्थात्, विषय-वस्तु का विन्यास, कथ्यों और चरित्रों की श्रेणीबद्धता, समूचे (कृतित्व) का फल आदि। स्पष्टतः ही, विभिन्न कृतियाँ अलग-अलग मात्रा में अ-द्वयार्थक (या विसंयुज) होती हैं,[3] अधिक विसंयुजता होने पर वे परस्पर-विरोधी दिशाओं में भी दार्शनिक प्रभाव डालने में समर्थ हो जाती हैं। बहरहाल, यह तथ्य उस 'वस्तुपरक संदेश' के अस्तित्व को नहीं नकारता जिसका अध्ययन और विश्लेषण किया जाना है। उससे भी अधिक, यही एकमात्र प्रभावशाली कार्यविधि है। तदनुसार, 'विश्व-दृष्टि' के उपर्युक्त दो अर्थों में से, बाद वाला अर्थ सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण के लिए परमावश्यक है। यह विधि जिन घटकों पर ध्यान देती है, उनमें यह तथ्य भी शामिल है कि कलाकार अक्सर ही अन्तर-वर्गीय संघर्षों को (अर्थात्, वास्तविक अन्तर्विरोधों को, जैसे कि वे किसी एक ऐतिहासिक युग में दिखाई पड़ते हैं) सीधे किसी एक वर्ग की स्थिति से चित्रित नहीं करता, बल्कि किसी तरह से 'उसके भीतर से' चित्रित करता है। भीतर से—यानी एक संवेदनशील, बुद्धिमान और विवेकयुक्त पर्यवेक्षक की स्थिति से उस पर प्रतिस्पर्धा की उत्तेजना की अपेक्षा तथ्यों का निर्णायक प्रभाव अधिक होता है। तथ्य ही उस पर कोई पक्ष लादते हैं, और अन्ततः, वर्ग-नियमित दिशामान भी।

इसलिए मार्क्स और एंगेल्स के विश्लेषण में उत्पत्ति-मूलक पक्ष के अलावा अनुकरण-मूलक पक्ष भी आता है, अर्थात् एक कृति यथार्थ को जिस ढंग से प्रतिबिम्बित करती है उसकी पड़ताल—वह प्रस्तुत व्यक्तित्व और प्रस्तुत समाज की लाक्षणिक विशेषताओं को चित्रित करती है, या विरूप करती है या उन विशेषताओं को यूँ ही नज़र-अंदाज़ कर देती है।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के दूसरे चरण में, जो कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की समाजशास्त्रीय धारणाओं के समान्तर चल रहा था, इसके प्रमुख प्रतिनिधि **मेहरिंग** तथा **प्लेखानोव** ने साहित्यिक कृति के विश्लेषण को संकुचित और सरलीकृत कर दिया। मसलन, प्लेखानोव ने इसे सामाजिक-जीवनीपरक व्याख्या तक सीमित कर दिया; अर्थात् उसने प्रश्न किया कि सम्बद्ध लेखक किस वर्ग का है तथा वह कौन-सी राजनीतिक विचारधारा प्रदर्शित करता है। मेहरिंग ने 'दि वीवर्स' (बुनकर) के लेखक **हाप्टमैन** के साथ एक बहस में मूलतः यही व्याख्या-विधि अपनायी। अर्थात्, उसने कृति का मूल्य उसके ज्ञानात्मक-कलात्मक मूल्य से नहीं, बल्कि लेखक की राजनीतिक विचारधारा से आँका।[४]

एक भिन्न किन्तु उतने ही सरलीकृत ढंग से प्लेखानोव ने **लेव तोल्स्तोय** की व्याख्या की है। उसके अनुसार, तोल्स्तोय अपनी सभी कृतियों में हमेशा तथा हर जगह एक 'काउंट' है। लेकिन, प्लेखानोव आगे जोड़ता है, कि, मजदूर वर्ग उसकी कृतियों को उसके नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण पसंद करता है। उसने बेशक तोल्स्तोय की कलात्मक प्रतिभा को मान्यता दी, लेकिन उसके विश्लेषण का आरम्भ-बिन्दु, आधार तथा मुख्य निष्कर्ष तोल्स्तोय के संकीर्ण विचार थे, जिन्हें उसने तोल्स्तोय के जन्म तथा उसकी वर्गीय-स्थिति से जोड़कर व्याख्यायित किया।[५]

लेनिन प्लेखानोव के लेखों से वाकिफ़ थे, और उन्हें स्वीकार करते थे, जैसा कि ३ जनवरी, १९११ को गोर्की को लिखे उनके पत्र से ज्ञात होता है। लेकिन यह पूछा जाना चाहिये कि वह क्या था जिससे वह सहमत थे। वस्तुतः, लेनिन का विश्लेषण मूलतः प्लेखानोव की धारणा का प्रतिवाद था। लेनिन इस राय से सहमत थे कि तोल्स्तोय का कृतित्व कलाकार और चिंतक के बीच का अन्तर्विरोध व्यक्त करता है, और उन्होंने 'तोल्स्तोयवाद' पर हमला उचित माना जिसे वह मार्क्सवाद की प्रतिद्वंद्वी विचारधारा के रूप में देखते थे। लेकिन उन्होंने समस्या को प्लेखानोव से भिन्न तरीके से निरूपित किया। उनके विवेचन में जाने से पूर्व हम उस समय दी गयी कुछ अन्य व्याख्याओं पर विचार करेंगे जिन पर लेनिन ने तत्काल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। **आस्तापोवो** स्टेशन पर तोल्स्तोय की नाटकीय मृत्यु के बाद सभी अखबारों ने उसके दर्शन पर बहस करना शुरू कर दिया। सरकारी मुखपत्रों (रूस्कोइ ज़्नाम्या, नोवोइ व्रेम्या, रेच), जिन्होंने उसकी कृति 'पुनरुद्धार' पर १९०१ में उसके सामाजिक बहिष्कार पर प्रशंसा के वर्षों के बाद, एकाएक यह खोज निकाला कि तोल्स्तोय एक महान् ईश्वर-अन्वेषी, अपने युग की अन्तरात्मा था, उन्होंने भी इस विषय की चर्चा छेड़ दी। जहाँ इन 'काले सौ' या 'कादेत' पत्रों ने स्वयं को मामूली बातों तक सीमित रखा, वहीं मेन्शेविक-

उन्मूलकों के मुखपत्र 'नाशा-ज़ार्या' में नेव्यादोम्स्की और बज़ारोव के लेखों ने एक ओर तो कहा कि तोल्स्तोय के विचार निर्बल रूसी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरी ओर यह कि उसकी विश्व-दृष्टि एक महान् एकात्म, एक महान् दार्शनिक संश्लेषण है, जो बुराई के अप्रतिरोध की धारणा पर आधारित है। इस सिलसिले में यह गौर करने लायक है कि उक्त सभी व्याख्याएँ तोल्स्तोय के सैद्धान्तिक उपदेशों को ही उठाती हैं, न कि उसके कृतित्व के कलात्मक-ज्ञानात्मक मूल्य को।

प्लेखानोव ने उसका जो समतुल्य प्रस्तुत किया वह था सामाजिक-जीवनीपरक, जबकि उपर्युक्त लेखकों ने निम्न-लिखित विकल्प सुझाये थे : समाजशास्त्रीय (लेकिन जिसमें ग्रामीण अभिजात वर्ग का स्थान बुद्धिजीवी वर्ग ले लेता है) और दार्शनिक-धार्मिक-नैतिक। इनमें से प्रथम व्याख्या, जैसा कि प्लेखानोव की व्याख्या में भी है, तोल्स्तोय के दर्शन को कम-से-कम एक सुनिश्चित वर्ग या सामाजिक-समूह से जोड़ती थी। बज़ारोव ने तोल्स्तोय के 'बेतरतीब फैल रहे' बुद्धिजीवी वर्ग की अंतरात्मा होने की प्रस्थापना पेश की तथा इस प्रस्थापना का इस्तेमाल उसने तोल्स्तोय को समूची मानवता की अंतरात्मा के मनीषी के रूप में सिद्ध करने के लिए अपने कुछ वायवीय विचारों के आरंभिक आधार के रूप में किया। इस तरह, दर्शन और नीतिशास्त्र तक सीमित इस व्याख्या में एक क़िस्म का आदर्शवाद था, कुछ वैसा ही जैसा कि Literaturgeschichte ats Geistesgeschichte स्कूल में पाया जाता है।

लेनिन ने आदर्शवादी अवधारणा और भौतिकवादी सिद्धांतों पर आधारित अतिसरलीकृत व्याख्या, दोनों का ही खण्डन किया। उनकी टिप्पणियों से **विधिवत शास्त्र** (methodological polemic) स्पष्टतः नहीं उभरता, लेकिन उसका निर्गमन संभव है। इससे भी अधिक स्पष्ट वे राजनीतिक उद्देश्य हैं, जिन्होंने लेनिन को इस विषय पर बोलने के लिए प्रेरित किया।

नवंबर १६१० में सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर मज़दूरों और विद्यार्थियों ने ज़ारशाही के विरुद्ध, तोल्स्तोय की स्मृति के सम्मान में, प्रदर्शन किया।[३] लेनिन ने प्रमाणस्वरूप इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि तोल्स्तोय की समस्या को एक बहुत ही प्लानीविक समस्या के रूप में लिया जाता था तथा लिया जाता है। विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकट की गयी रायों की तुलना मात्र से ज़ाहिर हो गया कि तोल्स्तोय की पृष्ठभूमि में (या उसके माध्यम से), अंतर्विरोधी सैद्धांतिक अवधारणाओं के साथ-साथ, परस्पर-विरोधी राजनीतिक दृष्टिकोण टकरा रहे थे।

लेनिन ने एक अवधारणा प्रस्तुत की, जिसे मार्क्स के दृष्टिकोण की ओर लौटने का प्रयास कहा जा सकता है। सर्वप्रथम, उन्होंने तोल्स्तोय को कृषक अवाम का प्रतिनिधि माना (और यह एक प्रतिभा का कौशल था)। उन्होंने आरंभ इस प्रस्थापना से किया कि इस महान् लेखक की कृतियाँ **गुलामों के जागरण** (Emancipation of the serfs) के बाद १८६१-१६०४ की अवधि में, लेकिन १६०५ की क्रांति से पूर्व, जिसका अग्रणी सर्वहारा वर्ग था, रूस में हुई पूंजीवादी क्रांति की प्रतिच्छाया थीं। इस अवधि में रूस अपनी 'प्रसव वेदना' में से गुज़रा और एक आधुनिक राज्य बना। उस ज़माने के समाज का आधारभूत अवाम—कृषक वर्ग—सरकार, चर्च और 'प्राथमिक संग्रह' की प्रक्रिया के खिलाफ़ बलवा कर रहा था। यह विरोध एक ही साथ पीड़ा और निराशा का इज़हार था। कृषक वर्ग अपने समय की स्थितियों से निपट सकने में अक्षम था; संक्रमण की समस्त यंत्रणाओं से तीक्ष्ण रूप में अवगत यह वर्ग कोई रचनात्मक मार्ग नहीं ढूंढ़ पा रहा था। अधिक-से-अधिक, पुरानी पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था के लिए पश्चात्ताप था, या किसी ऐसे नये धर्म के स्वप्न, जो इस धरती पर सार्वभौमिक न्याय की सृष्टि कर दे। अपनी कृतियों में तोल्स्तोय ने रूसी कृषक-वर्ग में छिपे इन अंतर्विरोधों को प्रकट किया। सितम्बर १६०८ में, 'रूसी क्रान्ति के एक दर्पण के रूप में तोल्स्तोय' शीर्षक लेख में लेनिन ने कहा :

एक ओर, एक प्रतिभाशाली कलाकार, न केवल रूसी जीवन के अप्रतिम चित्रों का बल्कि विश्व-साहित्य में प्रथम श्रेणी की कृतियों का सर्जक। दूसरी ओर, ईसा के लिए पागल एक बड़ा भूस्वामी। एक ओर, सामाजिक आडम्बर और झूठ के विरुद्ध भव्य, सशक्त, तात्कालिक और दो-टूक विरोध; दूसरी ओर 'तोल्स्तोयी' अर्थात्, रूसी बुद्धिजीवी के नाम से विख्यात जीर्ण-शीर्ण, उन्माद-ग्रस्त मिथ्या-विलापी, जो अपनी छाती पीटता है और सबको दिखाता फिरता है : "मैं तुच्छ हूँ, मैं घृणास्पद हूँ, लेकिन मैं नैतिक आत्मोत्थान में

लगा हूँ, मैं मांस नहीं खाता और मैं सिर्फ कढ़ी-भात पर जिन्दा हूँ।'' एक ओर, पूँजीवादी शोषण की निर्मम आलोचना, शासन की हिंसा का मुखौटा उघाड़ना, सरकारी न्याय और प्रशासन का मखौल, संपत्ति की वृद्धि एवं सभ्यता की उपलब्धियों और ग़रीबी की वृद्धि, बर्बरता एवं मज़दूरों के विशाल समुदाय की पीड़ा के बीच के अंतर्विरोध का अतलगामी अनावरण, दूसरी ओर—'बुराई के अप्रतिरोध' की पागलपनभरी कट्टर चीत्कार। एक ओर, गंभीरतम यथार्थवाद, हर एक मुखौटे को फाड़ना; दूसरी ओर दुनिया की निकृष्टतम वस्तुओं में एक—धर्म—का प्रचार।[७]

बाद में लेनिन ने इन अंतर्विरोधों की व्याख्या की: ''तोल्स्तोय की महानता उन विचारों और दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करने में है, जो रूस में पूँजीवादी क्रान्ति के विकास के समय रूसी कृषक समुदाय के लाखों लोगों के मस्तिष्कों में बने। तोल्स्तोय इस मानी में मौलिक है कि उसके विचार, सम्पूर्णतः देखने पर, हमारी क्रांति के अत्यन्त विशिष्ट चरित्र को एक **कृषक** पूँजीवादी क्रांति के रूप में व्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से, तोल्स्तोय के विचारों में निहित अंतर्विरोध उन परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब हैं, जिनके अंतर्गत हमारी क्रांति में कृषक-वर्ग का ऐतिहासिक संघर्ष सम्पन्न हुआ।[८]

प्रथम तीन लेखों में जिनमें, लेनिन ने इन अन्तर्विरोधों की चर्चा की है, उन्होंने इस तथ्य पर ज़ोर दिया कि ये अन्तर्विरोध तोल्स्तोय की विचार-पद्धति और स्वयं उसकी कृतियों की संरचना (अर्थात् उनकी कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु) दोनों में ही मौजूद थे। इस तरह वह प्लेखानोव से आगे गए। प्लेखानोव ने **नताशा रोस्तोव, प्योत्र बेजुखोव** या **कांस्तांती लेविन** के विचारों को, कहानियों में प्रस्तुत परिवेश से जोड़े बिना ही, लेखक के विचारों के रूप में व्याख्यायित कर दिया था। लेनिन ने तोल्स्तोय की कृतियों में प्रस्तुत कृषक-वर्ग और इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि लेखक ने यदा-कदा अभिजात पात्रों के मुँह से कोई विचार कहलवाने के बावजूद 'भोले किसान' की स्थिति अख्तियार की थी और अपनी आलोचना में उनका मनोविज्ञान अभिव्यक्त किया था।

यह एक सूक्ष्म विश्लेषण था। तोल्स्तोय की कृतियों जैसी महान् कृतियों के मामले में कलाकार को केवल अपने ही वर्ग के (या उसके हितों को अभिव्यक्त करने वाले) प्रतिनिधि के रूप में नहीं लिया जा सकता। तोल्स्तोय अपने समय की समूची सच्चाई का उसके आन्तरिक अन्तर्विरोधों को उजागर करते हुए प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार, अनुकरणमूलक दृष्टिकोण से किया गया विश्लेषण संकुचित परिकल्पना वाले उत्पत्तिमूलक विश्लेषण पर हावी रहता है। ज्ञान-शास्त्रीय समतुल्य (ज़ाहिर है कि साहित्यिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न होता है) समाजशास्त्रीय समतुल्य पर छाया रहता है। कृति की 'विश्व-दृष्टि' की व्याख्या का निर्णायक घटक उसकी अन्तर्निहित वस्तु है, न कि लेखक की 'निरी' विचारधारा जो अक्सर ही सीधे उसके वर्गीय मूल से उत्पन्न होती है। यह विधि प्रकटतः ही कृति के वर्ग-मूल के सवाल का परित्याग नहीं करती। उत्पत्तिमूलक और अनुकरणमूलक विश्लेषण परस्पर घनिष्ठ रूप से गुँथे होते हैं। तोल्स्तोय पर लेनिन की टिप्पणियों के मामले में यह बिल्कुल प्रत्यक्ष है। उसका वर्गीय दृष्टिकोण लेखक तथा कृषक समुदायों के विचारों के बीच समान्तरता के माध्यम से ही प्रकट होता है। लूनाचार्स्की अपने विवेचन में, जिसका ऊपर हवाला दिया गया है, यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने ला देते हैं।

अन्य तीन लेखों में, विशेष रूप से 'तोल्स्तोय तथा सर्वहारावर्ग का संघर्ष' (दिसम्बर १९१०) में वृत्तिमूलक (functional) विश्लेषण प्रमुख है।

वहाँ ज़ोर कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु की अपेक्षा अवधारणा-पद्धति पर, स्वयं विचारधारा पर अधिक है। जनवरी १९११ में प्रकाशित 'एल० एन० तोल्स्तोय और उसका युग' शीर्षक लेख में, आलोचक की रुचि 'लुसर्न', 'अन्ना कारेनिना', और 'क्रूत्ज़र सोनाता' में, मुख्यतः उनमें प्रस्तुत दार्शनिक प्रस्थापनाओं के कारण थी। **लेनिन** ने तोल्स्तोय की कृतियों पर लगभग बिल्कुल उसी दृष्टि से विचार किया जिस तरह मजदूर-वर्ग उन्हें लेते थे और उस वर्ग को उनसे जो प्राप्त होता था। ज़ाहिर है कि उन्होंने इस पर कभी संदेह नहीं किया कि तोल्स्तोय की कृतियों का स्थायी मूल्य है। उसने प्रायः ही दोहराया है, जैसा कि हमें गोर्की और **क्रूप्स्काया** के संस्मरणों में मिलता है, कि तोल्स्तोय की टक्कर का कोई अन्य लेखक नहीं है। लेकिन १९११ में तोल्स्तोय उन्हें न केवल एक कलाकार, विगत युग के एक दर्पण के रूप में, बल्कि एक विचारक, मेहनतकश और कृषक समुदायों

के शिक्षक के रूप में भी रोचक लगा। इस पर लेनिन ने बिलकुल प्लेखानोव की ही तरह प्रतिक्रिया की। लेनिन ने लिखा कि जैसा कि उदारवादी दावा करते हैं, तोल्स्तोय जीवन का शिक्षक नहीं है, बल्कि "लेव तोल्स्तोय की कृतियों में गहरे पैठकर रूसी मज़दूर-वर्ग अपने शत्रुओं को बेहतर ढंग से जानता है; और तोल्स्तोय के दर्शन का विश्लेषण करके समूची रूसी जनता यह जानने में समर्थ हो सकेगी कि वह कमज़ोरी कहाँ है जिसने उसे अपने जागरण को पूर्णावस्था तक ले जाने से रोक रखा था और आगे बढ़ने के लिए इसे महसूस करना ही होगा।"[८]

इस प्रकार, तोल्स्तोय का दर्शन, हालाँकि वह ज़ारशाही के इतने विरुद्ध है, फिर भी अपने सिद्धान्तों में इतना स्वप्नवादी और प्रतिगामी है, कि जहाँ समाजवादी आन्दोलन को नुकसान पहुँचता हो वहाँ सर्वहारा वर्ग को उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।

स्पष्ट है कि यहाँ **वृत्तिमूलक** विश्लेषण क़तई पूर्ण नहीं है। इस मुद्दे पर, लेनिन को इसमें कोई रुचि नहीं थी कि तोल्स्तोय को विभिन्न सामाजिक समूह किस रूप में देखते हैं, बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण, उसकी कृतियों की ज्ञानात्मक-कलात्मक वस्तु के ग्रहण करने में थी। यह विश्लेषण प्रस्तुत ऐतिहासिक क्षण में तोल्स्तोय के दर्शन के वर्गीय-दायित्व के अन्वेषण तक सीमित मोटेतौर पर यह एक राजनीतिक दृष्टिकोण था। लेनिन को अगर सिर्फ़ यही कहना होता, तो यह हॉप्टमान की मेहरिंग-कृत व्याख्या से आगे नहीं जाता। लेकिन लेनिन ने एक सुगठित दृष्टिकोण दिया, इस कारण, उनकी व्याख्या अत्यन्त रोचक थी और आज भी है। उस समय मार्क्सवादी आन्दोलन में लेनिन ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो ऐसा विश्लेषण देने में समर्थ थे, क्योंकि केवल उन्हीं के दार्शनिक कृतित्व में **'रिफ्लेक्शन'** (प्रतिफलन) का एक सुविकसित सिद्धान्त था, जिसका एक पहलू 'अनुकरणपरक' विश्लेषण था। रोचक बात केवल यह नहीं है कि लेनिन मार्क्स की प्रस्थापनाओं तक गये। बल्कि सर्वोपरि यह है कि यह एक सच्चा विश्लेषण था, कि तोल्स्तोय ने जो लिखा यह उसकी कलात्मक-ज्ञानात्मक और आत्मसजग विचारधारात्मक विषय-वस्तु के अनुरूप था। हम जानते हैं कि **'अन्ना कारेनिना'** (१८७०-७७) के साथ उसके लेखन में एक मोड़ आया। १८६०-७० में ही 'एक भूस्वामी की सुबह' और 'पोलिकुश्का' में वह किसान की नज़र अपनाने लगा था। 'तीन मौतें' में गाड़ीवान एक किसान की तरह, आत्मसम्मान के साथ, प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए शान्तिपूर्वक मरता है। व्यक्तिवादी तोल्स्तोय, जैसाकि प्लेखानोव हमेशा उसे कहा करता था, के अधिक निकट अभिजात-वर्गीय महिला की उत्तेजनापूर्ण, नाटकीय मृत्यु है, लेकिन पाठक को उसकी अपेक्षा प्योदोर की मृत्यु अधिक छूती है। यहाँ 'युद्ध और शान्ति' के पात्रों प्लातोन काराताएव, कार्प और व्लास का भी ज़िक्र किया जाना चाहिए जो कृषक समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और जो उनकी (भाग्यवादी) बुद्धिमत्ता और उनकी देशभक्ति के साकार रूप हैं। 'अंधकार की शक्ति' तथा 'स्वामी और सेवक' में भी समान विषय-वस्तु खोजी जा सकती है। चीज़ों को किसान की नज़र से देखने के साथ-साथ, व्यवस्था की कटु आलोचना भी चलती रही, जिसे 'अन्ना कारेनिना' में पहले ही देखा जा सकता है, लेकिन जो अपने चरम शिखर पर 'पुनरुद्धार' और तोल्स्तोय की पत्रकारिता (आत्मस्वीकृतियाँ, स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, मैं चुप नहीं रह सकता) में पहुँचती है। फिर भी, यह आलोचनात्मक रुख उस 'नये' धर्म के कारण धुँधला पड़ गया, जिसने साथ-ही-साथ, इस महान् लेखक को अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को समझने में बाधा डाली।

'विद्रोह' में तोल्स्तोय ने जनवादियों (नोरोदनिकी) को अत्यन्त सहानुभूति से वर्णित किया है, लेकिन मार्क्स को पढ़ने वाले मज़दूर के साथ व्यंग्यपूर्ण कृपालुता का बर्ताव किया है। 'दिव्य और मानवीय' (१९०५) कहानी में भी यही दृष्टिकोण दोहराया गया। इस तरह, लेनिन की व्याख्या ने तोल्स्तोय के कृतित्व का मूल, आन्तरिक द्वन्द्व उजागर किया, और आज भी वह सिद्धान्तवादियों और आलोचकों के विवाद का आधार बनी हुई है।

कुछ ही दिन पहले **जे० विदमार** (एक युगोस्लाव आलोचक) और एम० लिफशित्स (सौंदर्यशास्त्र के एक सोवियत लेखक) में इस विषय—दर्शन या विश्व-दृष्टि का कलात्मक सत्य के सम्बन्ध—पर वाद-विवाद छिड़ गया था।[१०] विदमार ने तोल्स्तोय का उदाहरण लेकर यह मान्यता पेश की कि लेखक जिसका प्रतिनिधित्व करता है (जो कि एक स्थायी मूल्य है) और सत्य पर वह जो सोचता है (जो

एक विचारधारात्मक संभ्रम है और केवल अस्थायी मूल्य का है) उसमें अन्तर्विरोध होता है। लिफशित्स ने अपने जवाब में प्रतिपादित किया—और ज़ोरदार ढंग से—कि तोल्स्तोय की कृतियों के अन्तर्विरोध कलात्मक और दार्शनिक दोनों ही थे। द्वन्द्व लेखक के समूचे दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष है और उसकी कलात्मक विशृंखलताएँ उसके समान्तर हैं, बल्कि उसका प्रतिबिम्ब हैं। यदि हम यह मान भी लें कि इस मामले में लिफशित्स सही है, तब भी यह पूरी तरह सच नहीं है कि हमेशा ही ऐसा होता है। सोवियत संघ में हाल में अनेक लेखों ने दिखलाया है कि किसी लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके कृतित्व की कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु के बीच हमेशा ही सादृश्य होता है।

ई० एम० खापचेन्को ने 'विश्व-दृष्टि और सर्जनात्मक कृतित्व' शीर्षक विवेचन (प्रॉबलेमी तेओरी लितरातुरी, स्बोर्निक स्तातेई, मास्को, १९५८, पृ० ३-५७) में न केवल **लूकाच नेदोशिविन** जैसे समकालीन सौंदर्य-शास्त्रियों के खिलाफ़, बल्कि एंगेल्स के खिलाफ़ भी विवाद पेश किया है। उसने स्पष्ट रूप से दावा किया है कि एक झूठा दर्शन अपरिहार्य रूप से कलात्मक-ज्ञानात्मक विफलताओं की ओर ले जाता है, मसलन्, सच्चाई का एक अयथार्थपरक चित्र। एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाल्ज़ाक राजवंशीय उत्तराधिकार का पक्षधर होते भी एक यथार्थवादी था (अप्रैल १८८८ में मार्गरेट हार्कनेस को लिखा एंगेल्स का पत्र देखें)।

इसमें कोई शक नहीं कि सर्जनात्मक कृति विश्व-दृष्टि पर निर्भर होती है, लेकिन यह आग्रह कि उनके बीच सादृश्य होना ही चाहिए, पुनः एक भिन्न चीज़ है। इस सिलसिले में विश्व-दृष्टि का मतलब क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। इससे खापचेन्को (उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ४५) आशय है 'कलात्मक विधि' से अर्थात् कथा के ताने-बाने में मूर्त्त व्यापक विचारों से भिन्न, 'प्राकृतिक और सामाजिक दृश्य-जगत् पर··· विचारों का समाहार।' जीवन-दृष्टि से लिफशित्स का आशय, प्रत्यक्षतः, 'कलात्मक विधि', अर्थात्, कृति के प्रमुख कथ्यों से निकाले गये उसमें निहित विचार। (खापचेन्को के आशय के अनुसार) लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके सर्जनात्मक कृतित्व के बीच अन्तर्विरोध निश्चय ही उठ सकता है। कम-से-कम समाजवादी यथार्थवाद से पूर्व, अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के साथ यही विशिष्टता जुड़ी रही। यदि हम विश्व-दृष्टि का लिफशित्स का आशय लें तो वहाँ भी हम स्वयं कलात्मक रचाव में एक अन्तर्विरोध पाते हैं; लेकिन इस स्थिति की आवृत्ति कम होती है।

लेनिन में भी, तोल्स्तोय पर उनके लेखों के बाहर, हम साहित्य की व्याख्या का एक पद्धतिबद्ध मानदण्ड पाते हैं जो खापचेन्को तथा उसके साथियों के सुव्यवस्थित निर्णयों के विरुद्ध जाता है। लेनिन ने आग्रह किया है कि धारणाओं या निर्णयों के शास्त्र के रूप में कलाकार का दर्शन, विचाराधीन कृति में निहित कलात्मक सत्य के प्रत्यक्ष विरोध में हो सकता है, और यह कि उस दशा में साहित्यिक आलोचना के लिए मूल वस्तु वह है जो कलाकार प्रस्तुत करता है, न कि जो वह सोचता है। २५ फरवरी १९०८ को (जोकि एक अत्यन्त गम्भीर समय था, जिसमें पार्टी के भीतर विवाद चल रहे थे और लेखकों को बोल्शेविक पक्ष में लाने की कोशिश हो रही थी) गोर्की को लिखे पत्र में लेनिन ने कहा: "मेरी राय में, कोई लेखक किसी भी दर्शन के अध्ययन से काफ़ी कुछ हासिल कर सकता है। मैं पूरी तरह और बिना शर्त इस पर सहमत हूँ कि लेखक के रूप में हमारे काम के लिए सभी किस्म की पुस्तकें ज़रूरी हैं, तथा **उस** [लेनिन के दिमाग़ में 'एम्पीरियोमोनिज़्म' (अनुभवैकवाद) था—लेखक] दृष्टि से शुरू करके, स्वयं अपने कलात्मक प्रयोगों से शुरू करके और **यहाँ तक कि आदर्शवादी दर्शन** से भी शुरू करके, ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचना सम्भव है जो पार्टी के लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं···"[11]

यह गोर्की के उपन्यास 'माँ' के संदर्भ में लिखा गया था, जिसे लेनिन पार्टी का उपन्यास मानते थे। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है, लेकिन टीकाकार अक्सर ही इसे नज़रअंदाज़ कर देते हैं। यह टिप्पणी कोई उस समय की ज़रूरत के लिए और गोर्की को अपने पक्ष में करने के लिए चली गई चाल नहीं थी, जैसा कि कुछ लोग सोच सकते हैं। १९२१ में ए० एवरचेंको (पेरिस में एक रूसी श्वेत प्रवासी) की पुस्तक 'क्रान्ति की पीठ में बारह छुरे' पर लेनिन की टिप्पणियों में भी ऐसी ही व्याख्या देखी जा सकती है। लेनिन ने लक्षित किया कि यह पुस्तक भूस्वामियों और उद्योगपतियों के हास का वातावरण कितने सजीव ढंग से प्रस्तुत करती है। हम उस लेख के निष्कर्ष प्रणामस्वरूप पेश कर रहे हैं:

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में क्रीमिया में सेवास्तोपोल में एक भूतपूर्व सिनेटर है—"वह धनी, उदार अच्छे सम्बन्धों वाला रह चुका था," "अब वह एक बारूदखाने में कारतूस उतारने और छाँटने का काम करने वाले दैनिक मजदूर की हैसियत से काम कर रहा था"—और एक भूतपूर्व मैनेजर "विशाल इस्पात मिल का, जो विबोर्ग ज़िले में सबसे बड़ी थी। अब वह एक कमीशन एजेंसी में क्लर्क है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटक-घर और, हाँ, 'लिटिल बिअर', 'वियेना', 'लिटिल यारोस्लाव' इत्यादि की यात्राएँ। उनके संस्मरण बीच-बीच में इन चीत्कारों में टूट जाते हैं: "हमने उनका क्या बिगाड़ा था? हमने किस बात में बाधा दी?···उससे उनका क्या नुकसान होता था? उन्होंने रूस की क्या गत कर दी है?"

आर्कादी एवरचेंको नहीं समझ सकता कि ऐसा क्यों है। शायद मजदूरों और किसानों को यह 'क्यों' समझने में कोई दिक्कत नहीं हुई, और उन्हें कोई स्पष्टीकरण की जरूरत भी नहीं है।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं। योग्यता की मदद करनी ही चाहिए।[12]

व्याख्या करने के इस तरीके की वाक्पटुता ज़ाहिर है। लेनिन एवरचेंको की पुस्तक के 'वस्तुगत सत्य' का बचाव कर रहे हैं। लेखक में सोवियत संघ के प्रति घृणा उफनी पड़ रही है, लेकिन स्वयं अपने तथा अगले वर्ग के बारे में सत्य लिखकर वह स्वयं अपने दर्शन को ध्वस्त कर रहा है। इसलिए, साहित्यिक आलोचना में कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु निर्णायक कारण है, हालाँकि, निस्संदेह वह एकमात्र कारण नहीं है।

हमने जो कहा है वह यदि सही है तो एम० मरलो-पॉन्ती ने अपनी कृति 'ले अवाँतुरे द ला डायलेक्टिक', पेरिस, १९५५, पृ० ५६, ८५-७, ९२-४ में जो विश्लेषण दिया है वह ग़लत है जिसके मुताबिक लूकाच ने यथार्थवाद की अपनी व्याख्या को लेनिन की संकीर्ण, निरी सैद्धान्तिक पद्धति के विरोध में पेश किया है। लूकाच ने 'गेशिश्टे उंड क्लासेन-बेवुस्ट्साइन' (१९२३) में यथार्थवाद की जो प्रस्थापना दी है और जिसे 'लेनिनवादी कट्टरपंथ' से च्युत कहा जाता है, मरलो-पॉन्ती का दृष्टिकोण उसका खण्डन करता है। दरअसल, लूकाच ने, लिफशित्स और अन्य लोगों के साथ-साथ, यथार्थवाद का बचाव लेनिन की प्रस्थापनाओं के ही आशय में और उनके आधार पर १९३०-४० के दौरान किया है।

वस्तुपरक सत्य के सम्बन्ध में लेनिन का दृष्टिकोण कला और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति के सम्बन्ध में उनकी अन्य आनुषंगिक टिप्पणियों के साथ पूरी तरह मेल खाता है। लेनिन की इन प्रस्थापनाओं के पूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए मुझे एक ऐसे दृष्टिकोण का पुनर्निर्माण करना होगा जिसे उन्होंने केवल खंड-खंड रूप में ही पेश किया था। चूंकि मैं ऐसी निवि से बचना चाहूँगा, इसलिए लेनिन के विचार यहाँ सीधे ही दिये जा रहे हैं, अगर्चे ज़रा विश्रृंखल ढंग से। मैं महसूस करता हूँ कि यह अधिक अच्छा होगा, क्योंकि यह अब तक प्रस्तुत सामग्री से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होगा।

१९१४ में लेनिन को इनेसा एरमँण्ड से विनिचेन्को की एक पुस्तक 'पिताओं के उपदेश' प्राप्त हुई। उन्हें यह किताब पसन्द नहीं आयी क्योंकि "यह निरे रोमांचों का संग्रह" था। लेनिन ने कहा कि ज़ाहिर है कि अपराध, रोग, विकृत घटनाएँ आदि होती रहती हैं। लेकिन दुनिया को केवल उसी रूप में पेश करना एक झूठा तरीका है। इस निर्णय में एक प्रकृतिवाद-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साहित्य का ज्ञानात्मक मूल्य किसी भी प्रकार के सामान्यीकरण से विच्छिन्न यथार्थ (Realia) नहीं होता, और एक झूठा, सतही सामान्यीकरण से जोड़ा गया यथार्थ तो और भी नहीं। तदनुसार, किसी कला-कृति के ज्ञानात्मक और कलात्मक मूल्य की महज़ यह दलील देकर वकालत नहीं की जा सकती कि उसमें वर्णित तथ्यों जैसे तथ्य "वास्तविक जीवन में आमतौर पर होते हैं।" यद्यपि लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स की तरह यथार्थवाद पर नहीं लिखा, लेकिन वह भी उसी दिशा में अग्रसर हुए थे। मुक्त प्रेम के विषय पर इनेसा एरमँन्ड को दिनांक २४ जनवरी, १९१५ को लिखे एक पत्र में लेनिन ने प्रसंगवश यह लक्षित किया है कि कहानी एक व्यक्तिगत उदाहरण, एक अद्वितीय स्थिति और विशिष्ट चरित्रों पर आधारित होती है, लेकिन उनके भीतर तथा उनके द्वारा

जातीय लक्षण व्यक्त होते हैं। ये विचार एक प्रकार से तोल्स्तोय के बारे में उनके लेखों गोर्की को १९०८ में लिखे उनके पत्र की टिप्पणियों और एवरचेंको की पुस्तक के उनके व्यंग्यात्मक मूल्यांकन पर सैद्धान्तिक टिप्पणियाँ हैं।

हर जगह मुख्य वस्तु कलात्मक सत्य की समस्या है।[13] कला की प्रकृति के सम्बन्ध में लेनिन के संकेतों को ग्रहण कर उन्हें और भी आगे बढ़ाया जा सकता है। 'धर्म का सार' पर फ़ायरबाख के व्याख्यानों को पढ़ते हुए लेनिन ने इस वक्तव्य की ताईद की कि "कला यह अपेक्षा नहीं करती कि उसकी कृतियों को यथार्थवत् लिया जाय।" यहाँ हम लेनिन के मूल-आलेख की व्याख्या की सीमाओं तक पहुँच जाते हैं। लेकिन, यहाँ तक प्रस्तुत विश्लेषण के संदर्भ में यह कहना संभव प्रतीत होता है कि लेनिन के विचार कला-कृति की सापेक्ष स्वायत्तता की मान्यता की ओर ले जाते हैं। उनकी 'दार्शनिक नोटबुकों' में सामाजिक जागरूकता के विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्ष स्वनिर्भरता के बारे में निखरे हुए प्रणालीबद्ध विचारों से इसकी पुष्टि होती है। एक खास अर्थ में निम्न तथ्यों के बीच लेनिन की द्वन्द्वात्मक प्रतिभा हमें अधिकार देती है कि हम ऐसा करें—राजनीतिक दृष्टि से कलाकृति के तात्कालिक दायित्व की प्रस्थापना और उसके अधिकारों की शोध, जोकि आंतरिक तो है लेकिन प्रकटतः ही, स्व-निर्भर नहीं। लेकिन यह कार्य हमें पुनः लेनिन के सौंदर्यशास्त्र के अपने ढंग से पुनर्निर्माण की देहलीज़ पर ला खड़ा करता है। इसलिए हमें उसी काम पर लौट चलना चाहिए जहाँ से हमने शुरू किया था : स्वयं लेनिन ने जो कहा, उसका विश्लेषण; हम अब दूसरी समस्या पर आते हैं : **साहित्यिक कृति का पार्टी-स्वभाव**।

इस समस्या को भी पहली समस्या के साथ ही लेना चाहिए क्योंकि यह उससे सीधे-सीधे जुड़ी है। कलाकार, चेतन या अचेतन रूप में, किसी कथ्य को उठाते और यथार्थ को सच्चे या झूठे ढंग से प्रतिबिंबित करते समय, हमेशा ही एक या दूसरा पार्टी-दृष्टिकोण अपनाता है। फिर भी, लेनिन की प्रस्थापनाओं की सुसम्बद्ध व्याख्या और शब्दावली के स्पष्टीकरण की जरूरत की दृष्टि से, इस समस्या को विभक्त करना, वांछनीय प्रतीत होता है। साहित्य के पार्टी-स्वभाव की समस्या लेनिन ने उपर्युक्त लेख में १९०५ में पेश की थी। चूँकि इस शब्द के अलग-अलग मतलब लगाये जाते हैं, इसलिए हमें लेनिन के लेख में निहित तीन अर्थों का अंतर समझ लेना चाहिए। लेनिन ने स्वयं कभी भी यह भेद नहीं किया, लेकिन जान-बूझकर, अर्थात् विवाद के कारणों से इन तीनों अर्थों का उपयोग किया और संदर्भ के अनुसार उनमें से किसी एक पर ज़ोर दिया।

'पार्टी' विशेषण का केन्द्रीय अर्थ है किसी संगठन से सम्बद्ध होना। इस लेख का लेखक साहित्यिक व्यक्ति को पार्टी के अन्य सदस्यों की बराबरी का दर्जा देता है। इस तथ्य में कुछ भी विस्मयजनक नहीं है कि यह समस्या लेनिन के समय में प्रकट हुई, जबकि बोल्शेविक क़िस्म की पार्टी गठित और स्थापित हुई। कलाकार और साहित्यिक व्यक्ति उम्मीद कर रहे थे कि वे किसी अर्थ में 'क़ानून से परे' होंगे। सोशल डेमोक्रेटिक आंदोलन के भीतर भयंकर संघर्षों और उसके बाहर शत्रुओं से लड़ाइयों, दोनों ही जगह लेनिन ने इस बात पर जोर दिया कि पार्टी का अनुशासन सभी के लिए एक जैसा है।

एक दूसरे अर्थ में, 'पार्टी-स्वभाव' और 'वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध होना' एक चीज़ है। यानी, जो भी स्वयं को वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध करता है, अथवा किसी भी अर्थ में झुकाव रखता है, उसने इस कृत्य के द्वारा कोई पार्टी चुन ली है। इस अर्थ में, एक व्यक्तिवादी लेखक भी पक्षधर है अगर वह किसी भी कारण से अपनी अमूर्त्त और दिखावटी स्वनिर्भरता को अपनी आस्था के रूप में लेता है और स्वयं को स्पष्टतः प्रतिबद्ध लेखक की स्थिति के मुकाबले में पेश करता है।

'पार्टी' विशेषण का तीसरा मूल अर्थ है **सर्वहारा-वर्ग के पक्ष में, समाजवाद के पक्ष में प्रतिबद्ध होना**। जो कलाकार इस अर्थ में पक्षधर है, उसके लिए यह बहुत आवश्यक नहीं है कि वह पार्टी से संगठनात्मक रूप में भी जुड़ा हो। इस अर्थ में 'पार्टी-पन' (पक्षधरता) का मतलब वही है जो आजकल की परिभाषा में **क्रांतिकारी दृष्टिकोण** का है।

लेनिन की प्रस्थापनाओं के पीछे मार्क्सवादी परम्परा है। १८४८ के बाद, हाइने और फ्रेइलिग्राथ से बहस के सिलसिले में, इस समस्या को मार्क्स और एंगेल्स ने 'न्यू राइनिश ज़ाइतुंग' में उठाया था। मार्क्स ने उपर्युक्त तृतीय अर्थ में 'पक्षधरता' की अवधारणा दी। आगे चलकर

१८६० में फ्रेइलिग्राथ के साथ पत्र-व्यवहार में उसने कहा कि पार्टी लेखक वह है जो खुद को कम्युनिज़्म के पक्ष में घोषित करे; यह आवश्यक नहीं कि वह कम्युनिस्ट लीग का सदस्य हो ही। शताब्दी के अंत में मेहरिंग ने भी इस विषय को उठाया; उसने सर्वहारा लेखन (प्रथम अर्थ) और पार्टी लेखन (तृतीय अर्थ) के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। यदि लेनिन में परिभाषा का कुछ बदलाव आया है, तो वह स्पष्टतः ही राजनीतिक उद्देश्यों से था। अतएव उस समय जिस स्थिति में वह लेख छपा था, उसका वर्णन समीचीन होगा।[14]

१९०४ और १९०५ में पार्टी के कुछ अखबारों में और उनसे सम्बद्ध बुद्धिजीवियों में यह राय व्यक्त की गयी थी कि समाजवाद ह्रासवाद (Decadentism) से अविरुद्ध रह सकता है। मिन्स्की ने 'प्रोलेतारी' और 'नोवाया ज़िज़्न' में सर्जनशील व्यक्तियों के अतिशय-व्यक्तिवाद के लिए सहिष्णुता का नारा दिया। उस समय आधुनिकतावाद के प्रतिनिधि भी ऐसे ही नारे लेकर सामने आये। एक पत्रिका 'पोलार्नाया ज़्वेज़्दा' ने अपने नीति-वक्तव्य में लिखा : "अपनी दार्शनिक-राजनीतिक विश्व-दृष्टि में हम इस प्रतिज्ञा से आरंभ करते हैं कि व्यक्ति ही समस्त आध्यात्मिक मूल्यों का वाहन और स्रष्टा है। हमारे तईं व्यक्तित्व अपने-आप में और स्वतः पवित्र है। उस अर्थ में हम पूर्णतः व्यक्तिवादी हैं।"[15] यह एस० फ्रैंक ने लिखा था, लेकिन ब्रियुसोव, मेरेज़्कोव्स्की और वरद्यायेव ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। 'ज़ोलोतोए रूनो' पत्रिका (जो प्रतीकवादियों के मुखपत्र 'मीर इस्कुसस्तवा' की उत्तराधिकारी थी) में एक संपादकीय में आग्रहपूर्वक कहा गया कि ज़माना खतरों से भरा हुआ है, क्योंकि रक्तपाती सामाजिक संघर्ष सनातन मूल्य के रूप में कला की सीमाओं का उल्लंघन कर रहे हैं। इस पत्रिका के मंच ने निम्नलिखित 'सत्यों' की उद्घोषणा की : "कला सनातन है, कला किसी भी ऐसी चीज़ से नहीं बंधी है जो अनित्य हो···कला एक अद्वितीय चीज़ है, इसकी आत्मा का स्रोत अद्वितीय है। कला प्रतीकात्मक है, क्योंकि हमेशा उसके भीतर एक प्रतीक निहित होता है, अर्थात् वह जो नित्य है, और उस सबको अस्वीकार करती है जो अनित्य है। कला मुक्त है, क्योंकि यह प्रेरणा से उद्भूत होती है।"[16] ब्रियुसोव और वरद्यायेव ने यह कहकर विरोध किया कि वे समाजवादी विचारों को केवल उसी हद तक मान्यता दे सकते हैं जहाँ तक समाजवाद उनकी विश्व-दृष्टि के मूल सिद्धान्त का सम्मान करता है : कलाकार की अनिर्बन्ध स्वतंत्रता।

रूसी प्रतीकवादियों के विचार फ्रांसीसी प्रतीकवाद और 'पारनेसिज़्म' की प्रतिच्छाया थे। इसकी जड़ में, नोवालिस और एफ० श्लेगेल से प्राप्त कला की रोमांटिक प्रस्थापना है, जिसके अनुसार कलाकार 'ब्रह्म' होता है। (साथ-ही-साथ, रोमांटिसिज़्म की एक धारा कलाकार के सामाजिक दायित्वों पर भी ज़ोर देती थी, मसलन्, 'कविता की वकालत' में शेली।) रोमांटिसिज़्म में यह राजनीति-शून्य प्रवृत्ति 'कला कला के लिए' के प्रतिनिधियों से विरासत में मिली थी। 'हीम' में बोदलेअर ने लिखा : "Que tu viennes du Ciel ou de l'Enfer, qu'importe, O Beaute." फ्लॉबेयर सोचता था : "Aimonsnous en l'art comme les mystiques s'aiment en Dien". (पत्रव्यवहार, खंड २, १८९३, पृ० २८६)। गोंकूर बन्धुओं ने अपने जर्नल में १८८६ में लिखा कि केवल 'शुद्ध साहित्य' जीवन और मरण का मसला है। और उनके लेखन में हमें निरन्तर 'सचमुच सुन्दर' की चिरन्तनता, कलाकार की स्वतन्त्रता, अपने पाठकों एवं ग्राहकों के प्रति उसकी (अपनी) श्रेष्ठता और तिरस्कार के सम्बन्ध में वक्तव्य मिलते हैं। बोदलेयर ने पो के बारे में और गॉतिए ने बोदलेयर के बारे में लिखते हुए कहा है कि कवि की महिमा स्वयं को स्वप्नदर्शियों, मानवतावादियों, समाजवादियों इत्यादि से अलग रखने में है। सभी नीति-उपदेशक कवियों के लिए बोलते हुए फ्लाबेयर ने घोषणा की कि "कला की नैतिकता उसके सौंदर्य में ही निहित होती है" (समव्यवहार, खंड ३, उपर्युक्त रचना, पृ० ७१)।

लेकिन 'कला के लिए कला' के प्रतिनिधियों और ब्रियुसोव तथा वरद्यायोव के बीच एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अन्तर है। पूर्ववर्त्तियों ने समस्त महत्त्वाकांक्षी कला के विरोधी पूंजीपति और निम्नपूंजीपति असभ्यों (फिलिस्तीन) के खिलाफ़ विद्रोह किया था (देखें, मार्क्स के वक्तव्य, 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त', खंड १ में)। रूसी **पतनशील** (साहित्यिक) केवल पूंजीपति वर्ग पर ही हमला नहीं कर रहे थे, बल्कि एक ऐसी कला की प्रतीक्षा करने वाले जन-

समुदायों पर हमला कर रहे थे जो उनके लिए अब तक बन्द क्षितिजों को उन्मुक्त करतीं, और शायद उस समय उनका मुख्य लक्ष्य ये जन समुदाय ही थे। अवाम से कलाकारों को भय परवर्ती रोमांटिसिज़्म से शुरू होता है (देखें, 'लूतेतिया' के फ्रांसीसी रूपांतर में हाइने की भूमिका) और बेन्वा तथा मेरेज़्कोव्स्की के समय तक जारी रहता है। १९१२ में **रोजर फ्राइ** ने **फेबियन सोसाइटी** में 'कला और समाजवाद' पर पठित अपने लेख में इसे एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति दी है। किन्तु १८४०-५० और १८५०-६० में कवियों का वैरी (समाजवाद) बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से भिन्न रूप में था। पिछले ज़माने में समाजवाद एक 'प्रेत छाया' था जबकि लेनिन के समय में यह एक वास्तविक उर्वर ऐतिहासिक शक्ति थी। कलाकारों के नज़रिये से भी इसे इसी रूप में माना जा सकना था।

लेकिन उस समय हर एक ने इन पतनशील विचारों को स्वीकार नहीं किया। एफ० माकोव्स्की और वी० स्तासोव, जिन पर प्रतीकवादी लोग सर्जनात्मकता के नागरिक विवेक को अपील करते हुए हमला कर रहे थे; लेकिन उनकी आवाज़ों को व्यतीत समझा जाने लगा था। समाजवादी जनतंत्रवाद से जुड़े लेखक और आलोचक का पक्ष ही इस शास्त्रार्थ में वज़नदार रहा। उनके लेख लेनिन के वक्तव्यों से पहले छपे; उदाहरण के लिए, १८वीं सदी के फ्रांसीसी नाटक और फ्रांसीसी चित्रकला का प्लेखानोव द्वारा विवेचन और सर्वहारा आन्दोलन तथा पूँजीवादी कला पर उसका लेख। उसके बाद लूनाचार्स्की का लेख था 'मार्क्सवाद और सौंदर्यशास्त्र' पर, प्रावदा के ९-१० अंक में; और मैक्सिम गोर्की ने 'नोवाया झिज़्न' में अपना लेख 'निम्न पूँजीपति पर टिप्पणियाँ' छपाया। इन लेखों ने कला की सामाजिक प्रकृति पर ज़ोर दिया; उसके वर्गीय-उद्भव, सारतत्व और दायित्व प्रतिपादित किये, रूपवाद की आलोचना की, उसकी विचार-हीनता के लिए, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की नींव रखी; सामाजिक जागरण (और सांस्कृतिक क्रांति) के लिए सर्वहारा के संघर्ष में पंक्तिबद्ध हुए। नित्य, पूर्ण सुन्दर, और कलाकारों के व्यक्तिवाद के निम्नपूँजीपतिवर्गीय स्रोतों का उद्घाटन करते हुए, उनकी अन्धश्रद्धा का पर्दाफाश किया। लेनिन के लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के सम्बन्ध में' की पृष्ठभूमि यह थी। उसकी पहली मूल प्रस्थापना ने दावा किया कि "साहित्य को सर्वहारा-वर्ग के आम ध्येय का एक अंग, मज़दूर-वर्ग के समूचे जागरूक **अवाँ-गार्द** की शक्ति से चलने वाले समाजवादी जनतंत्र के एकमात्र, ठोस विशाल यंत्र में एक '**गिअर**' पुर्ज़े की तरहही होना चाहिए।" लेनिन ने तुरन्त ही जोड़ा कि कोई भी तुलना लंगड़ा सकती है, और उपर्युक्त घोषणा को निम्नलिखित ढंग से पुनः पुष्ट किया: "इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य दुनिया की अन्तिम चीज़ है जो यांत्रिक समतलीकरण और एकरूपता के लिए, बहुमत द्वारा अल्पमत पर आधिपत्य के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए तैयार हो। इसमें कोई शक नहीं कि इस क्षेत्र में वैयक्तिक पहलकदमी और व्यक्तिगत रुझानों को बहुत अधिक आज़ादी, विचार और कल्पना, रूप और विषयवस्तु को बहुत अधिक आज़ादी सुनिश्चित की जानी चाहिए।"[१७]

इस मूलभूत प्रतिस्थापना का एक निश्चित लक्ष्य था—मिन्स्की और उसके समर्थक। लेकिन यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसकी ओर वापस लौटना होगा कि लेनिन ने एक तीखा राजनीतिक आधार-तत्त्व निरूपित करते समय भी कला की प्रकृति की समस्या को नज़रअन्दाज़ नहीं किया।

इस लेख की दूसरी मूलभूत प्रस्थापना बर्द्याएव, बेनोइस इत्यादि को सम्बोधित थी। लेनिन ने पतनशील लेखकों के परम स्वातंत्र्य-सम्बन्धी वाग्विस्फार की हवा निकाल दी। उन्होंने कहा: "और, यह परम स्वातन्त्र्य एक पूँजीवादी, अर्थात्, एक अराजकतावादी मुहावरा है (क्योंकि दर्शन के रूप में अराजकता उलटी हुई पूँजीवादी विश्व-दृष्टि ही है।) किसी समाज में रहना और समाज से मुक्त रहना असम्भव है। पूँजीवादी लेखक, चित्रकार या अभिनेत्री की आज़ादी केवल 'पर्स' पर, रिश्वत पर, फीस पर, ढंकी हुई (या झूठमूठ छिपायी हुई) निर्भरता है।

यह निष्कर्ष आगे उस प्रस्थापना तक ले गया जो साहित्य को पार्टी के साथ आवयविक रूप से जोड़ने के ढंग से भी आगे जाती है। लेनिन ने कला की स्वतंत्रता को निम्न प्रकार से परिभाषित किया: साहित्य उस हद तक स्वतंत्र होगा जिससे कि व्यक्तिगत लाभ या 'कैरियर' के लिए नहीं अपितु समाजवादी विचार और श्रमजीवी जनता के प्रति सहानुभूति के लिए, उसकी पंक्तियों में नयी शक्तियों का समावेश किया जा सके। साहित्य स्वतंत्र होगा जब वह क्लान्त नायिका की नहीं, ऊबे हुए और थुलथुल 'चोटी के दस हज़ार

लोगों की नहीं, बल्कि करोड़ों लोगों की, करोड़ों श्रमिक जनों की सेवा करेगा जो राष्ट्र के पुष्प हैं, उसकी शक्ति हैं, उसका भविष्य हैं।"[१८]

इस तरह उन्होंने उन सभी कलाकारों से सामाजिक न्याय के संघर्ष में भाग लेने की अपील की, जिन्हें जनता का ध्येय प्रिय था। यह यथार्थपरक और आशापरक सर्जनात्मकता के लिए अपील थी जो भविष्य की ओर अभिमुख थी। लूनाचार्स्की ने 'वेस्तनिक ज़िज़्नी' (१९०७, सं० १) नामक पत्रिका में 'समाजवादी-जनतांत्रिक कलात्मक सर्जनात्मकता की समस्याओं' पर एक लेख में इन सर्जनात्मकता की समस्याओं' पर एक लेख में इन प्रस्थापनाओं का समर्थन किया। ब्रियुसोव और बर्दयाएव ने उसका जवाब दिया। उन्होंने अराजकता को कलाकार का अपरिहार्य रवैया और प्रेरणा ('रहस्यपूर्ण सिद्धान्त') को सर्जन-प्रक्रिया का स्रोत मानते हुए उसका बचाव किया। यह विवाद काफ़ी चला,[१९] और अब भी जारी है, जैसाकि हम सभी जानते हैं।

यहाँ उठायी गयी समस्याओं पर लेनिन के दृष्टिकोण की असाधारण सम्भावनाओं को उद्घाटित करने के लिए हम वापस उसी पर चलते हैं जो लेनिन ने कहा था। लेनिन ने सर्जनात्मक कृति के विचारों के महत्त्व पर ज़ोर दिया और कलाकार तथा पार्टी के बीच सीधे अनुबन्ध के लिए लड़ाई लड़ी। किसी राजनीतिक पार्टी के नेता के लेखन में, जिसने २०वीं सदी के इतिहास को गढ़ा, ये दलीलें आना बहुत स्वाभाविक हैं। लेकिन लेनिन ने लेखक के कार्य की विशिष्ट प्रकृति पर भी ज़ोर दिया। यह उद्देश्य, जो किसी भी हालत में सनसनीखेज़ नहीं है, इस तथ्य से जुड़ा है कि उसका कथन कलात्मक सत्य की उसकी अवधारणा से, तथा बाद की घोषणाओं से पहले का है। गोर्की को कम्युनिस्ट विचारधारा के पक्ष में लाने के लिए लेनिन के संघर्ष के साथ-साथ एक और अनवरत संघर्ष चल रहा था, वह था इस सर्जनात्मक लेखन में किसी भी तरह से बाधा न डालने का संघर्ष। लेनिन ने निरन्तर ज़ोर देकर कहा कि गोर्की का यथार्थ का निजी प्रामाणिक दृष्टिकोण पार्टी के लिए एक अमूल्य उपहार है। ठीक इसी तरह उन्होंने **देमियन बेदनी** का भी पक्ष लिया, लेकिन इसे उन्होंने बेदनी के लिए अहितकर माना और यह तथ्य लाक्षणिक है कि वह कभी-कभी केवल वही दोहरा देता था जिसे पार्टी पहले ही स्थापित कर चुकी है और समाज को वह मालूम है। गोर्की के संस्मरणों में हमें मिलता है कि लेनिन ने देमियन की कृतियों के आंदोलनात्मक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाए बिना ही, कहा, "वह भोंडा है, वह पाठक का अनुगमन करता है, जबकि ज़रूरत इसकी है कि हमेशा ही कुछ आगे रहा जाए।"

इस तरह, लेनिन लेखक से **एक निजी दृष्टिकोण की, यथार्थ के भीतर एक वैयक्तिक पैठ की, उन समस्याओं और दृष्टिकोणों को उठाये जाने की, जिन पर शायद, पार्टी अभी तक नहीं पहुँची है,** अपेक्षा करते थे। लेनिन स्वयं अपना सत्य उद्घाटित करने वाली और अपने दैनिक कार्यों में पार्टी के साथ-साथ चलनेवाली कलात्मक वैयक्तिकता के पक्षधर थे, वह व्यक्तिवाद की अतियों के विरुद्ध थे।

साहित्य के पार्टी-गुण पर लेनिन के कथन मेरी दृष्टि में निम्नलिखित सामान्यीकरणों को उचित ठहराते हैं। कलाकार का चरम स्वातंत्र्य एक भ्रामक स्वातंत्र्य है। कलाकृति अनिवार्यतः सैद्धांतिक लड़ाई में उलझी होती है। सचेत चयन हमेशा ही अचेतन प्रतिबद्धता से बेहतर होता है। और हमारे युग में, एक कम्युनिस्ट समाज के लिए संघर्षरत जनता के साथ गठबन्धन से बढ़कर मानवतापूर्ण अन्य कोई चुनाव सम्भव नहीं है। वह गठबन्धन किस तरह का होगा, यह और बात है। यह कम्युनिस्ट विचारों का सार्वजनिक प्रचार करने के अर्थ में पार्टी-लेखन हो सकता है, लेकिन यह पूंजीवादी व्यवस्था की स्पष्ट आलोचना के ज़रिये उन विचारों तक पहुँचने का तरीका भी हो सकता है।

लेनिन के इन विचारों का विस्तार करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि यह गठबन्धन ऐसे सर्जनात्मक कृतित्व में प्रकट हो सकता है जो हमारे युग के विचारों की समस्याओं पर सीधे-सीधे प्रहार करता हो, लेकिन सौंदर्यशास्त्रीय संस्कृति के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का रूप भी ले सकता है (उदाहरण के लिए, स्थापत्य-कला और व्यावहारिक कलाओं के क्षेत्र में)। कलाकार की तथाकथित चरम स्वतंत्रता एक कपोल-कल्पित स्वतंत्रता है; सच्ची स्वतंत्रता है उन सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों का, जोकि एक समाजवादी समाज की सांस्कृतिक जरूरतों की दृष्टि से मूल्यवान् हों, हर सम्भव विकास और प्रसार। समाजवाद की लड़ाई में सचेत प्रतिबद्धता साथ-ही-साथ विभिन्न भावनात्मक अनुपातों और विभिन्न बौद्धिक अभिमुखताओं

के साथ—हमेशा कलात्मक ग़ैर-एकाकीकरण के लिए लड़ाई भी होती है। उस समय कलाकार न केवल अपने सत्यों को अन्यों तक संप्रेषित करता है, बल्कि उनसे भी सत्य ग्रहण करता है, जिससे एक सर्वसामान्य आधार बनता है और प्रत्येक व्यक्ति 'धरती पर अपना स्थान' निर्धारित कर पाता है। जो कलाकार अपने निजी ढंग से उस विश्व-दृष्टि तक पहुँचता है जो कम्युनिस्ट पार्टी की है, उसे विश्व में निरन्तर अपना दिशामान चुनने, हमेशा ही असत्य को अस्वीकार करने और सत्य का आग्रह करने की कोशिश करने का न केवल अधिकार प्राप्त है, बल्कि वह इसे सहज ही एक आन्तरिक ज़रूरत के रूप में महसूस करता है। यह बात उस कलाकार पर भी, बल्कि प्राथमिक तौर पर, लागू होती है जो पार्टी का सदस्य है। वह किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह पार्टी के अनुशासन से बँधा है, लेकिन वह पार्टी के प्रत्येक बुद्धिजीवी, प्रत्येक सर्जक की भाँति, स्वतंत्र विचार और यथार्थ के बारे में अपनी निजी दृष्टि व्यक्त करने के प्रति भी प्रतिबद्ध है। पार्टी उसे स्वयमेव, एक विश्वास प्रदान करती है और वह इसलिए कि उसने अपनी वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा समाजवादी संस्कृति को समृद्ध किया है, जैसे गोर्की ने अपने उपन्यास 'माँ' के द्वारा किया। लेनिन ने यह सीख तोल्स्तोय सहित अन्य समाजवाद-पूर्व महान् लेखकों के उदाहरणों से ली। वे सत्यों के अन्वेषक थे, न कि पूर्वस्थापित आदेशों का पालन करने वाले दलाल। समाजवादी लेखकों ने उस रवैये को जारी रखा और अभी भी जारी रखे हुए हैं जोकि ऊपर से नीचे तक पक्षधर हैं।[२०]

यह एक चमत्कारिक तथ्य है कि लेनिन ने, जो एक महान् प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ और क्रांतिकारी, असाधारण दार्शनिक और अर्थशास्त्री था, अपनी साहित्यिक आलोचना में भी कुछ असाधारण विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं। यह एक प्रतिभा के देदीप्यमान होने का उदाहरण है, क्योंकि मैंने जो सामग्री उद्धृत की उसके बिखरे हुए टुकड़े स्पष्टतः संकेत देते हैं कि यह ऐसा ज्ञान-क्षेत्र था जिसमें लेनिन कभी-कभार प्रवृत्त होते थे, सो भी राजनीतिक उद्देश्यों—तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्यों के लिए, अथवा कुछेक लेखकों और कुछेक कृतियों में विशेष रुचि होने के कारण। अन्य मामलों उन्होंने अपने निर्णय यदा-कदा टिप्पणियों के रूप में ही दिये हैं जिन्हें वह खास महत्त्व नहीं देते थे, और यह मन्तव्य तो उनका कदापि नहीं था। उसकी रुचियाँ या सामान्य टिप्पणियाँ कभी ऐसे आधारलेख बन जायेंगी जिनसे कोई लेनिनवादी सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा तैयार करेगा।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा कभी स्थापित स्थापनाओं की ओर लेनिन की वापसी, जिनकी लेनिन को कोई जानकारी नहीं थी, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है, लेकिन हमारे लिए सर्वाधिक रोचक है कलात्मक समस्याओं पर उनका द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण[२१] उन्होंने जो कुछ कहा है, उसमें कृति तथा कृतिकार हमेशा ही सामाजिक, राजनीतिक पार्टी के मसलों के सन्दर्भ में सामने आते हैं, और साथ ही, वह उन्हें सापेक्षिक स्वायत्तता भी प्रदान करते हैं। प्रस्थापनाओं की स्वल्पता के बावजूद यह महान् विरासत है। आज का मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र लेनिन का दाय उठाने की कोशिश करता है—एक ओर उन सरलीकरणों का विरोध करते हुए, जो कला-कृति को महज़ किसी सामाजिक स्थिति की उपज बनाकर पेश करते हैं, और दूसरी ओर उन धारणाओं का भी विरोध करते हुए, जो साहित्य और कला को उनके सामाजिक आधार से जुदा करती हैं।[२२]

अन्त में, मैं लेनिन की उन दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जो उनकी प्रत्येक गतिविधि की भाँति उनके सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी लेखन में भी प्रकट हुई हैं: उनकी प्रतिभा और उनकी विनम्रता। कला और सौन्दर्यशास्त्र के विषय का विशेषज्ञ न होने के कारण (यह तथ्य वह स्वयं स्वीकार करते थे) वह विशेषज्ञों के निर्णय को स्वीकार कर लेते थे। साथ ही, एक राजनीतिज्ञ और दार्शनिक होने के रूप में उन्होंने ऐसे विचार और सुझाव रखे जिन्होंने विशेषज्ञों के लिए एक नींव रखी। अपने कृतित्व में एक साहित्यिक आलोचक होने के नाते लेनिन ने दो परस्पर-सम्बद्ध गुण प्रकट किये जो उन्हें एक आदमी बोल्शेविक पार्टी के एक नेता, और एक विद्वान् के रूप में विशिष्ट बना देते हैं; वे दोनों गुण हैं: क्रांतिकारी गठन और मानवता।[२३]

पाद-टिप्पणियाँ

१. देखें-लूनाचार्स्की का लेख "लेनिन और साहित्य" (१९३२, उनके ग्रंथ "साहित्य सम्बन्धी लेख" में पुनर्मुद्रित, मास्को १९५७, पृ० १३-६१), तथा "साहित्य और कला पर लेनिन" (मास्को १९५७) में बी रियूरिकोव की भूमिका "वी० आई० लेनिन तथा साहित्य-सम्बन्धी प्रश्न।"

२. इस सामग्री में प्रस्तुत समस्याओं पर विभिन्न पोलिश लेखकों ने, उल्लेख्य तौर पर सेंट जोल्फिएव्स्की तथा एच० मार्कि-एवित्स्ज ने विचार किया है।

३. देखें—एस० मोराव्स्की, "श्लेष या बहु-कार्यपरता ?" ["अध्ययन और बहस के लिए सामग्री" वारसा, १९५५, सं० २१।२२], और आर० इंगार्देन, "साहित्यिक कृतियों का ज्ञान", १९३७, खंड ४ और ५।

४. देखें—एस० मोराव्स्की, "एफ० मेहरिंग के सौंदर्यशास्त्रीय मतों के सम्बन्ध में कुछ विचार" [स्तूदिया फिलोज़ोफ़ित्स्जने, १९५९; सं० ६ (१५) तथा "फ्रांज़ मेहरिंग का सौंदर्यशास्त्र" (रिविस्त)]।[दि एस्तेतिका, १९६०. सितम्बर-दिसम्बर]।

५. प्लेखानोव १९०२ से १९११ तक तोल्स्तोय पर जमकर चिंतन करता रहा। १९०२ में वह एल० अक्सेलरोद की पुस्तक "टॉलस्टॉयज़ वेल्टेनशाउंग उंड इहरे एंटविकलुंग" की समीक्षा लिखना चाहता था। १९०७ और १९११ के बीच तोल्स्तोय पर प्लेखानोव-लिखित अनेक लम्बे-लम्बे लेख पार्टी के पत्रों में प्रकाशित हुए। १९०७ में प्लेखानोव ने 'तवारिश' नामक पत्रिका में पड़ोसी से बिना शर्त प्यार के पक्ष में तोल्स्तोय के प्रचार के खिलाफ उस पर आक्रमण किया। १९०८ में प्रारम्भ किये गये, प्रकृति से तोल्स्तोय के सम्बन्ध पर एक प्रकाशित लेख में उसने दिखाया कि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति अपनी उल्लेख्य संवेदनशीलता के बावजूद तोल्स्तोय को कभी शांति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मनुष्य की नश्वरता के विचार ने हमेशा उसे नष्ट किया। १९१० में 'ज़्वेज़्दा' में प्रकाशित एक लेख में प्लेखानोव ने स्पष्ट किया कि वह तोल्स्तोय को "आद्योपान्त" क्यों पसन्द करता था। उसे विचारक के रूप में तोल्स्तोय उलझा हुआ, दुखमय लगता था, और उसकी नैतिक शिक्षाएँ पूरी की पूरी भ्रांतिपूर्ण। उसके दीर्घतम लेख (१९११ में मिस्ल, 'सोत्सियलदेमोक्रेत' और 'ज़्वेज़्दा' पत्रिकाओं में प्रकाशित) तोल्स्तोय की ईसाइयत के खिलाफ़ एक अनवरत शास्त्रार्थ थे। इस शास्त्रार्थ की एक अपनी विशेषता यह थी कि प्लेखानोव कुछ अंशों को—उदाहरण के लिए "अन्ना कारेनिना" और "युद्ध तथा शांति" में—तोल्स्तोय के दार्शनिक तथा सामाजिक विचार समझता था, तथा उनकी तुलना मार्क्स के विचारों से करता था।

६. लेनिन ने इस (परावर्तन-बिन्दु) को सिद्ध करने के लिए (सोत्सिअलदेमोक्रात, १९१०, सं० १८ में) एक विशेष लेख "क्या यह परावर्तन का आरंभ हो सकता था," लिखा—

७. लेनिन, "ओ लितरातुर्जे" (साहित्य के सम्बन्ध में), वारसा, १९५३, पृ० १४।

८. वही, पृ० १७।

९. वही, पृ० ३६।

१०. यह बहस "ज़ेज़ितो तेओरेतित्स्ज़्नो पोलितित्स्ज़्ने" १९५७, सं० १२(४३) और १९५८, सं० १-२।४४-५५ में छपी थी।

११. साहित्य और कला पर लेनिन", उपर्युक्त पुस्तक, पृ० २४५। कई वर्ष बाद लूनाचार्स्की ने भी इसी तरह लिखा है, जब वह RAPP की प्रस्थापनाओं का खंडन कर रहा था, जिनकी मान्यता थी कि लेखक की 'diamat' विश्व-दृष्टि, अर्थात् उसका दर्शन उसकी कृतियों के यथार्थवाद को नियमित करता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक एक समीक्षा में, फरवरी १९३३ में लूनाचार्स्की ने घोषित किया कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गहरी पैठ के बिना भी एक समाजवादी-यथार्थवादी होना संभव है, और यह कि सृजन-प्रक्रिया का अतिशय तार्किकीकरण कृति के कलात्मक चरित्र को नष्ट कर देता है। धारणात्मक योजनाओं का प्रभाव कलाकार पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किस्सों में मशहूर शतपद पर हुआ जो यह सोचने में लग गया कि उसके कदम किस क्रम से उठें और इस चक्कर में जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया।

१२. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ५७।

१३. इन सवालों का सूत्र गोर्की द्वारा लेनिन के साथ लंदन के एक संगीत भवन में जाने के विवरण में मिल सकता है। गोर्की ने लिखा है कि एक सनकी कार्यक्रम में मसखरों को देखकर लेनिन प्रसन्न हुए। लेनिन ने कहा कि सनकीपन प्रचलित रीतियों की तार्किक असंगति को रेखांकित करके एक व्यंग्य उद्देश्य की पूर्ति करता है।

१४. देखें—बी० मीलाख, 'लेनिन इ प्रोब्लेमी रुस्कोई लितरातुरी' [लेनिन और रूसी साहित्य की समस्याएँ], मास्को, १९४७, और एम० एस० कागन, '१९०५-१९०७ क्रांति का रूसी सौंदर्यशास्त्रीय विचारणा पर प्रभाव' [उकोनी ज़ापिस्की एल० जी० यू०, सेरिया इस्तोरिकेस्किख नौक, १९५६, सं० २२०।]

१५. एम० एस० कागन से उद्धृत, उपर्युक्त रचना, पृ० २८।

१६. वही, पृ० २९।

१७. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उप० रचना, पृ० ९।

१८. वही, पृष्ठ ११।

१९. कला और साहित्य पर अक्तूबर-पूर्व 'प्रावदा', मास्को-लेनिनग्राद. १९३७।

२०. 'पक्षधरता' के इन तीन अर्थों का भेद न समझ सकने के कारण अक्सर ही उन कलाकारों पर (और यहाँ तक कि

लेनिन का हवाला देकर) दोष मढ़ दिया जाता है जो अपने निजी ढंग से सत्य की तलाश करते हैं।

इन मार्क्सवादी (मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के पद्धति-बद्ध कथनों में कही गयीं) प्रस्थापनाओं से टी० एस० इलियट की प्रस्थापनाओं की तुलना करना रोचक होगा, जो अपने ढंग से कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति और सर्जक की प्रतिबद्धता, दोनों की वकालत करता है। 'दि यूस ऑव पोएट्री एंड दि यूस ऑव क्रिटिसिज़्म' (१९३३) में हम पढ़ते हैं कि कविता को ऐसा दर्शन होना चाहिए जो अनुभूत हो, न कि चिंतित। अपने 'सेलेक्टेड एसेज़' (१९५३) में इलियट ने कविता का बचाव 'महत्त्वपूर्ण भाव' के रूप में किया और कलाकार से सचेत दार्शनिक अभिमुखता तथा अपनी कृति में उसकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का आह्वान किया। टी० एस० इलियट धार्मिक कविता का प्रवक्ता है और उसका दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत है। इसके बावजूद, उसका उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। यह प्रदर्शित करता है कि कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति, कला के मानवीय पहलुओं और कलाकार की प्रतिबद्धता एक सामान्य ढंग से पक्ष लेना काफी नहीं है, आपको आगे बढ़ना पड़ेगा और साफ-साफ बतलाना पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति किन्हीं पहलुओं को क्यों स्वीकारता है और अन्यों को क्यों अस्वीकार करता है; और कौन-सी प्रतिबद्धता मद्दे-नज़र है।

२१. इस दृष्टिकोण से लेनिन के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों की एक रोचक व्याख्या जी० मोरपर्गो-तैग्लियाब्युए ने 'ल एस्थीतिक कंतेपॅरेन' (मिलान, १९६०, पृ० २९८-३०१) में की है। वह कला की प्रकृति और दायित्व पर लेनिन के विचारों को हेगेलीय धारणा 'टोटैलिटाट' से जोड़ता है।

२२. देखें—ए० हाउज़ेर, फिलॉसफी डेर कुंस्टगेशिश्टे, म्यूनिख, १९५८, पृ० २६०-३०६।

२३. कलाकृति के ताने-बाने में रची विश्व-दृष्टि का एक उत्कृष्ट और विश्वसनीय विवेचन। अमरीकी सौंदर्यशास्त्री जे० हॉस्पर्स ने 'साहित्य में सन्निहित सत्य' शीर्षक लेख में 'द जर्नल ऑव एस्थेटिक्स एंड आर्ट क्रिटिसिज़्म' पत्रिका शरद, १९६० के अंक में किया है।

[अनुवादक : गिरधर राठी, 'साइन्स एंड सोसाइटी' वाला त्रैमासिक पत्रिका के शरत, १९६५ के अंक से साभार।]

चार कविताएँ

व्यक्तिगत विरोध-पत्र

विष्णुचंद्र शर्मा

एक : अपने जनतंत्र में

जनतंत्र के चार दरवाज़े हैं
पहले दरवाज़े की
मंत्रीजी ताली दबा कर बैठे हैं
दूसरे दरवाज़े पर लालाजी
कर्ज़ का फंदा फैलाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
तीसरे दरवाज़े पर सागर है
सागर में बेड़े के चौकीदार
रोशनी बुझाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
चौथे दरवाज़े पर पर्वत है
पर्वत में सेंध लगा
देशवासी बैठे हैं

संसद में पलटू साब चढ़े हैं
मंगन चमार पर
अपने जनतंत्र की खबर है
चौथे दरवाज़े पर
भगदड़ मची है।

दो : न्यायिक जाँच की रिपोर्ट

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक काली टोपी को
एक मैली नेकर को
एक फटे बाँस को।

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक पीली कोठी में
एक भगुए चेहरे के
एक चीकट नेता को

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
गणतंत्र दिवस पर
एक बड़े जादू से
उल्टे खड़े साँड को

तीन : अभिनंदन-पत्र

महामहिम राज्यपाल !
पिछले चन्द सालों में आपने
कई शेर मारे हैं

महामहिम !
आपके राज्य में
जंगली सियार बढ़ गये हैं

महामहिम !
संसद के हाथ-पैर बाँधकर
आपके राज्य के विधायक बिक रहे हैं

महामहिम !
पश्चिम में, उत्तर में, पूर्व में
बीस साल बाद भी
आप ही बड़े हैं

महामहिम !
आपके आसपास हाथ जोड़े
आज भी
चौपाये खड़े हैं

चार : माँ के सामने

मैंने हर बार तुम्हारे सामने
जीत का पासा फेंका था
और हर मोर्चे पर हारने के बावजूद
मैं तुम्हारे सामने
ज़हरवाद से चीरी हुई पिता की टाँग को
माँजता रहा
योद्धा की तरह
मैं तुम्हारे सामने रहा

गो मैं कहीं हार नहीं रहा था
मुझे किसी ने पछाड़ा नहीं था
मैं कहीं लड़ा नहीं था

माँ
मैं केवल ज़हरवाद से कटी
पिता की टाँग को घुमाकर
अपने-आपको मज़बूती से
तुम्हारे सामने रख रहा था !

भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या

राममूर्ति त्रिपाठी

काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है—नियम-विधान से हैं। शास्त्र इसीलिए 'शास्त्र' माना जाता है कि वह शासन करता है, अंकुश रखता है—कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। कतिपय साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र या काव्यशासन की जगह 'काव्यानुशासन' शब्द का ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है जैसे व्याकरण के भारतीय चिंतकों ने 'शब्दानुशासन' का। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द-प्रयुक्त शब्द-लक्ष्य—का अनुगामी रहकर शब्द-शासन की बात कही है। लक्ष्य के अनुरूप ही नियमों का निर्धारण किया है—लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार किया है—न कि लक्षणों के द्वारा लक्ष्य का स्वरूप निर्धारित किया है। कहा भी गया है—"लक्ष्यैकचक्षुष्काः वैयाकरणाः।" ठीक इसी प्रकार जब हेमचन्द्र या वाग्भट 'काव्यानुशासन' की बात करते हैं अथवा दशरूपककार उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर नियम बनाने की युक्ति प्रदर्शित करते हैं तब वे भी शब्दविदों की भाँति शासन नहीं, अनुशासन का ही समर्थन करते हैं। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।

बात यह है कि शासन या नियम-निर्माण बुद्धि का कार्य है और काव्य उसकी अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण किसी सर्जनात्मक शक्ति का—जो केवल संश्लेष को जानती है—समग्र से परिचित है—उसके द्वारा की गई सृष्टि में कौन कहाँ से आकर किस अनुपात में किस तरह आवयविक विकास की अखण्ड प्रक्रिया में जुट गया—इसका उसे पता नहीं। यह अवश्य मानने की बात है कि हर कविता उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव नहीं होती। कौन-सी रचना सर्जनात्मक शक्ति की प्रसूति है—इसका निकष भी सबका हृदय नहीं हो सकता—तभी तो किसी को लिखना पड़ा कि 'तार सप्तक' लाला भगवानदीन के हाथों पड़कर अपना प्राप्य नहीं पा सकता। सहृदय, समीक्षक या समझदार को काव्यधारा और जीवनधारा के सम्पर्क में रहकर अपनी समझ या ग्रहण-शीलता को निरन्तर ताज़ा रखना पड़ता है। जिस समझदार में इस ग्रहणशील वृत्ति की ताज़गी अन्य दोनों सम्पर्कों के अभाव में मर जाती है—उसमें अनुशासन की क्षमता नहीं आ सकती—वह अनुरूप प्रतिमान नहीं निर्धारित कर सकता।

कतिपय चिंतकों की धारणा तो यह है कि न तो काव्य का अनुशासन तात्त्विक भूमिका पर सम्भव है और न काव्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। पहली बात इसलिए मान्य है कि कविता अपने हर प्रयास में सर्जनात्मक शक्ति 'नवता' से संवलित रहती है, अतः अनुशासन रखने वाली बुद्धि हमेशा पीछे ही रह जाती है और दूसरी बात भारतीय काव्यशास्त्रियों के साक्ष्य पर इसलिए सही है कि वे काव्य को महज़ आस्वाद की वस्तु मानते हैं—उनका सर्वाधिक मान्य रसात्मक प्रतिमान केवल आस्वाद की निरतिशयता या तारतमिकता बताता है। निरतिशयता रस की अपनी स्वरूपगत विशेषता है जबकि तारतमिकता ग्राहक के संस्कार और व्यंजक सामग्री की। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसात्मक प्रतिमान में आस्वाद या प्रीति के साथ-साथ व्युत्पत्ति अथवा मूल्य की बात इस कदर अपरिहार्य अंग बन गई है कि उसे अलग से न कहकर भी कह दिया गया है। इसीलिए रसात्मक प्रतिमान के विषय में यह कहना कि वह मूल्यांकन की ओर उन्मुख नहीं है—सही भी है और नहीं भी। सही इसलिए कि वह काव्य का लक्ष्य चर्वणा या आस्वादमात्र मानता है और नहीं भी—इसलिए कि आस्वाद-उत्पादक-अवयव **समाज-निर्धारित-औचित्य** (मूल्य) गर्भित होते ही हैं—अन्यथा 'आस्वाद' की निष्पत्ति ही न हो सकेगी। तभी तो आनंदवर्धन ने कहा—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम् ।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

यह औचित्य सामाजिक मूल्य ही है जिसे रससिद्धांती काव्येतर मूल्य कह दिया करते हैं—वस्तुतः यह पक्षपाती उदग्र दृष्टि की परिणति है। औचित्य या मूल्य वह तत्त्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है। वह काव्येतर होकर भी काव्य की है—यदि ठीक ढंग से सोचा जाए। निष्कर्ष यह कि भारतीय काव्यशास्त्र-काव्यानुशासन काव्य का रसात्मक प्रतिमान—सब-कुछ है, अर्थात् प्रतिमान भी, आस्वाद प्रक्रिया भी और आस्वाद भी साथ ही। 'बाई-प्राडक्ट' के रूप में मूल्यांकन कर तथा स्वयं संश्लिष्ट होने से मान में शाश्वत क्षम और काव्य के साथ-साथ चलने में समर्थ। निस्संदेह यह बड़ा ही समर्थ प्रतिमान है। वर्तमान जीवन और जगत् में उन तमाम औचित्य-नियामक मूल्यों का विघटन चल रहा है जिन्हें रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इसलिए अनुरूप सामग्री की योजना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य ने, उसके द्वारा निर्मित समाज ने अपनी सुदीर्घ यात्रा में जिन मानवीय मूल्यों को अर्जित किया है वे टूट रहे हैं। मेरा विश्वास तो यह है कि वे टूट नहीं रहे हैं वरन् पुनः प्राणार्जन की आन्तरालिक प्रक्रिया में हैं। यदि जीवन, जगत् और कविता में कोई सर्जनात्मक शक्ति है तो उसकी सार्थकता, उसके अस्तित्व का प्रमाण इसी में है कि संघटन और विघटन उभयविध प्रक्रिया में निर्माण की ओर ही अग्रसर हों। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रश्न किया है कि विद्रोह और संघर्ष किसके प्रति ? जिस डाली पर मानव और समाज बैठा है—उसी के प्रति ?

जो भी हो—सवाल यह है कि जो प्रवृत्ति छायावाद के अनन्तर हिन्दी साहित्य में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है—उसको व्याख्यायित करने में, उसके सौन्दर्य-परीक्षण में, उसको समझने-समझाने में भारतीय काव्यशास्त्र कहाँ तक समर्थ है ? सवाल इतना ही नहीं है बल्कि यह भी है कि भारतीय प्रतिमानों में ऐसी संभावनाएँ भी हैं क्या—जिन्हें छायावादोत्तर नई काव्यधारा को व्याख्यायित करने में उपयुक्त किया जा सकता है ? 'भाषा और संवेदनाकार' ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि नई काव्यधारा के सौन्दर्य-विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं—उनमें अब ऐसी कोई संभावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ में उघाड़ा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचिंतक हैं जिनके उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचकों की बात तो विचारणीय है ही—एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य-परीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि) नज़दीक आते गये—त्यों-त्यों उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसादजी 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन कवि और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित संभावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौन्दर्य का संवेदन काव्यगत विषय से आगे बढ़कर कवि की अन्तरात्मा के साक्षात्कार से संभव है। (क्योंकि वे लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यम-प्रधान अथवा ढांचा-बद्ध विजड़ित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है—न कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्धन की रसविषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है—साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश में कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाये तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहुत काम की है।

'नई कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को गैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है'—यह समझने के लिए कविता क्या नहीं है—यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया कि '**कविता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं**'। छायावाद और प्रगतिवाद—उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मज़दूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहाँ तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई जहाँ काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छन्द, भावावेग आदि—को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा—जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्‌घाटित किये गये—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' में प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता के अंकुरित होने योग्य भूमियाँ और भी हैं—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करने वालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे—वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवा-कवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई सम्भावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन में या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाय।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नयी काव्यधारा के संदर्भ में पुष्टि करें—एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्य-धारा में भाव या भावना, सामान्य या व्यापकता और सामञ्जस्य या सौंदर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि आस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओं में किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुए कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं हैं। मतलब भावावेग निषिद्ध भी नहीं हैं। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएँ भी आई हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ—सामान्य भावबोध का नहीं—ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया कि उन्हें उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाय। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्त्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो गये हैं। पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी कविता बाहर (जटिल संबंधों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है। भोगे हुए जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाय और न तो ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाय। नई कविता की दिशा में दिखाई पड़ने वाली कतिपय शिथिलताओं की प्रतिक्रिया में युवा-कवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितांतर' तक पहुँच गये। दूसरी ओर नयी कविता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुँदे ढंग से रिस रहा था—नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतंत्र प्रस्थान लेकर चला। नई कविता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर

हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियाँ भी हैं।

युवा लेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती हैं। श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन में कतिपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे हैं जिनमें काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है। 'क्ष त्र ज्ञ' के संपादक को डर है कि समकालीन जीवन संदर्भों और केन्द्रीय स्थितियों से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाय। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वतःसिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज भंगिमाओं की कोई तर्क-संगति नहीं है।

इस प्रकार नई काव्य-प्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलतः न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है। दूसरी बात यह कि उस विद्रोह और विरोध में संभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज भाव नहीं है—वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ भारत के सामूहिक मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्य-प्राण जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलतः आकार ग्रहण करने में असमर्थ—इस दलदल का युवालेखन अजीब फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नई काव्यधारा की चरम उपलब्धि हैं।

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाय और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप : अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खंड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रुक्षता है? या कोई इनसे बड़ी चीज़ है? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताज़गी दे रहा है?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है—साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ 'संवेदना' और 'अनुभूति' की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी अन्तर यह आ गया है कि जहां पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी—आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु काव्य में सदा से अविशेष नहीं है—वह तो अविशेष है ही—पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये हैं—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेव नारायण साही एवं डॉ० नामवरसिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहाँ संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नहीं। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नहीं है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी

स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें तभी बात आगे बढ़ सकती है।

जब डॉ० नामवरसिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं—ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के संदर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्त्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमंत्र कहते हैं, जब अज्ञेय सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकांगिता की संभावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं—जब 'पंत' आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की समरसता को काव्य का निकष मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य—कुंतक, अभिनवगुप्त और आनंदवर्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्त्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमानों की मूल वृत्ति में नहीं है—युगोचित काव्यकृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत अनुरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं—इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि संदर्भ-सापेक्ष रश्मियों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं—यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ तो अभी तो वे सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों में व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाय और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाय—उसके उपरूप निर्मित किये जाएँ।

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है। बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत-कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं—वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति—द्विविध शक्तियों का अर्धनारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन में स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी; दोनों ही उसका स्वभाव हैं। तत्त्वतः जो भी सही हो—स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र-निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुए बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है, 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है—फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है—"किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथनं वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकमोरविनाभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्याविशेषाभेदेनैव प्रतीयते तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम्" अर्थात् यह उक्ति गत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य

नहीं है ? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की ओर वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना संभव है ? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिंबात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रति-भासित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुए। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करने वाले को चाहे अनचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुए कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है—सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आपमें आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गंध) पुष्प के आदि और अन्त में (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अंत में सौन्दर्य या गंध के रूप में)। विश्लेषण के लिए इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है। काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि संवेदनात्मक उद्देश्य, विधायक कल्पना की क्रिया को चलित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभाव तब घटित होता है जब मनः पटल पर बिंबित कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है···संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता-निजबद्धता से मनःपटल पर अंकित बिंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभाव है।···इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़मार्मिक अनुभव है।" मुक्तिबोध को इतना लंबा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक **मनोदशात्मक परिणति विशेष** (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किञ्चियधन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादनेवा कवि-विषयतैव तस्यन स्यात्) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गए हैं—अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त, कलापरक-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सशक्त काव्य प्रतिमान है—और खण्डता में—वस्तुसिद्धान्त (रस ध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि)। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या संक्रान्ति-काल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरवकाव्यमितिस्थितमेतत्" अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें—पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है—ध्वनिकाव्य ही है।

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही उत्कृष्ट **होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके** (जिनके तंतु मर **चुके हों उनकी बात अलग है**) अथवा हर युग के अनुरूप, **प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएं** अपने **भीतर रखे**। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों शर्तें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुनः-पुनः तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्म-राक्षस' या 'आशंका के दीप अँधेरे में'—इन सबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढुलक पड़ते हैं। ब्रह्मराक्षस में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्वों का अस्तित्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को)

मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में भी कोई ऐसी चीज़ है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है—वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन कविताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताजी बनाये रखने की क्षमता है—वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष तात्कालिक स्वातंत्र्य-संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गांधी, मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष—कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्य वीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो सदा-सदा के लिए मनोविज्ञान-सिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं—एक तरफ अकालग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाज़ें साम्प्रदायिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तु ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियाँ भी यहाँ संभावित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिंका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त आज भी अपने मूलरूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हाँ, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथासंभव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नये हो सकते हैं।

काव्य में जिस अभिधा और लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

"···प्रतिभाजुवाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र
व्यापारो व्यतिरेव सा।"

भारतीय काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि गैर रोमांटिक 'नई कविता' अथवा 'युवालेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइडियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है—छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

मुक्तिबोध का 'अँधेरे में' युग के यथार्थ की परिणति है। इसमें छायावाद और नई कविता में उपलब्ध रोमानियत की संगीतात्मक परिणति का निषेध है। संगीत के हट जाने से उत्पन्न शून्यता को तनाव से भरा गया है। यह तनाव ही है जिसके कारण यह कविता गद्य नहीं हो सकी है। इसकी इन्हीं विशेषताओं ने इस कविता को नई कविता की चरम उपलब्धि और युवा कविता का संदर्भ ग्रन्थ बना दिया है। जिस प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' का नायक भारतीय जातीय दमित वृत्ति है, इसी प्रकार इसका काव्य नायक श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में "बेचैन, खण्डित, जर्जर, व्यग्र, स्वाधीनता के बाद का हिन्दुस्तान है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ, सीने पर गोली के घाव और अंतरात्मा में बेचैनी है। इस कविता की बनावट के ज़रिए अपने युग की मानसिक बुनावट का आभास दिया गया है। वह कविता मनुष्य के आत्मसंहार का भयानक और आक्रामक चित्र है।" मुक्तिबोध का दावा है कि यथार्थ अपनी कलात्मक परिणति में फैंटेसी बन जाता है।

कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स

विजेन्द्रनारायण सिंह

आधुनिक आलोचना के प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि कविता में कवि के प्रच्छन्न व्यक्तित्व का क्या स्थान है। संस्कृत का काव्यशास्त्र समग्र सौन्दर्यशास्त्र में इसलिए भी विकसित नहीं हो सका कि उसने कवि-व्यक्तित्व के उस पक्ष पर विचार नहीं किया जिससे कविता में कवि के आभ्यन्तरिक संस्कार की खुशबू रहती है। नई समीक्षा का यह अति स्वीकृत मत है कि प्रत्येक अच्छी और मौलिक रचना अपने-आप में पूर्ण एक नया संसार है और उसकी परीक्षा के लिए नये नियमों की खोज उसी रचना में करनी पड़ती है। यदि विज्ञान का कोई नियम सुन्दर है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि कोई दूसरा वैज्ञानिक भी उस खोज में लगा होता तो परिणाम वही आता। यह वस्तुगत वैज्ञानिक तथ्य कविता पर लागू नहीं होता। यदि कोई कविता सुन्दर है तो इसका मतलब यह है कि उसी विषय पर यदि कोई दूसरा कवि लिखता तो कविता भिन्न हो जाती। इसलिए 'रामचरितमानस' वाल्मीकि की 'रामायण' से भिन्न रचना है और ताजमहल पर रवीन्द्रनाथ और पन्त की कविताओं में तात्त्विक अन्तर है। प्रत्येक कवि वस्तु के सौन्दर्य का भावन अपने ढंग से करता है और वस्तुवक्रता के नए-नए आयामों का उद्घाटन होता चलता है। संक्षेप में, 'कविता कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद' होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र इस बात की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता है क्योंकि एक कवि की रचना दूसरे कवि की रचना से भिन्न होती है। यदि किसी भी रचना में गुणों एवं अलंकारों का उचित सन्निवेश और व्यंजना की शक्ति है तो वह उसे काव्य मान लेता है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही ध्वनि के जो उदाहरण दिए हैं उन्हें आज का समीक्षक ऊँची कविता का उदाहरण स्वीकार नहीं करेगा। इन आचार्यों ने इस समस्या पर सोचने का कष्ट ही नहीं किया कि वह कौन-सी चीज़ है जिससे 'रघुवंश' और 'नैषध' जैसे ग्रन्थ एक ही कोटि की रचना नहीं हो पाए। अभिव्यंजना के बहिरंग उपादानों के वर्गीकरण में संस्कृत के आचार्य इस कदर भिड़े रहे कि कविकर्म के इस पक्ष की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक बड़ा अभाव है और इसका परिणाम यह हुआ कि कई बातें अविवेचित ही रह गईं।

कुन्तक से पहले के आलंकारिकों ने यह तो बतलाया था कि गुण और अलंकार काव्यशोभा के विधायक हैं लेकिन उन्होंने इस मौलिक प्रश्न को समझा ही नहीं था कि काव्य में वे किस वस्तु में शोभा का विधायन करते हैं। वे इस बात का अनुभव नहीं कर सके कि गुण और अलंकार सापेक्षिक शब्द हैं, वे गुणी और अलंकार्य की अपेक्षा रखते हैं। हालांकि वामन गुण और अलंकार से परे किसी चीज़ की अपेक्षा कर रहे थे जिसे उन्होंने रीति की संज्ञा दी है, किन्तु आनन्दवर्धन ने उनकी उचित ही आलोचना की है कि रीतिवादियों ने काव्य की आत्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार किया ही नहीं था। देश के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पांचाली आदि वर्गीकरण की निस्सारता कुन्तक ने उचित ही प्रमाणित की। उन्होंने पहली बार यह स्पष्ट किया कि रीति, गुण और अलंकार की धारणा कविकौशल से युक्त होकर ही औचित्य प्राप्त करती है।

रस-ध्वनिवादियों ने इस समस्या पर कवि नहीं बल्कि केवल सहृदय की दृष्टि से विचार किया है। यों, यह बात तो ठीक ही है कि कविपक्ष और सहृदय पक्ष में परस्पर कोई विरोध नहीं है। किन्तु विचार करने की प्रक्रिया में रसवादियों ने सामान्यतया कविपक्ष पर विचार नहीं किया है। लेकिन ऐसा लगता है कि काव्य में विभाव-पक्ष के द्वारा उन्होंने कविकर्म का संकेत किया है। तो भी यह सच है कि उन्होंने इस पर

स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है। इसी तरह काव्य-प्रयोजन पर भी इन आचार्यों ने जो विचार किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि वे समस्या के वास्तविक पहलू से कतरा रहे थे। कवि कविता इसलिए नहीं लिखता है कि उससे यश, अर्थ, व्यवहारकुशलता अथवा मंगल की प्राप्ति होती है। ये सब तो रचना के आनुषंगिक परिणाम हैं। कवि रचना इसलिए करता है कि उसके भीतर कोई चीज़ होती है जिसे सम्प्रेषित करने के लिए वह कुलबुलाया करता है। एक कवि जब रचना की पीड़ा से बेचैन हो जाता है तब वह रचे बिना रह ही नहीं पाता है। उस समय वह अर्थ या यश की एषणा से नहीं प्रत्युत् केवल सृजन की पीड़ा से रचता है।

यही त्रुटि काव्यहेतु—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सिद्धान्त में भी दीखती है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सभी आचार्यों ने काव्य का हेतु माना था, किन्तु किसी ने भी कवि के व्यक्तित्व के संदर्भ में उसे देखने की कोशिश नहीं की। यह सही है कि कवि जब रचता है तब उसकी तरह-तरह की अनुभूतियाँ, उसके संस्कार, उसके अध्ययन आदि उसकी रचना के उत्पादन बनकर उपस्थित होते हैं। इसलिए रचना का रूप-रंग ग्रहण करने में उनका योग अवश्य है। अतएव ये आचार्य जब यह कहते हैं कि शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग होना चाहिए तब वे समस्या का सटीक विश्लेषण करते हैं। किन्तु कठिनाई वहाँ से शुरू हो जाती है जहाँ वे 'कवि को कवि बनाने' की बात करने लगते हैं। उदाहरण के लिए रुद्रट ने कविप्रतिभा को सहजा के साथ उत्पाद्या भी माना है। यह उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति द्वारा अर्जित होती है। इसी प्रकार यह अपेक्षा की गई कि कवि को सर्वज्ञ होना चाहिए। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में रचना के स्रोतों में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, मीमांसा और छह प्रकार का तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र, लोकवृत्त, अन्य कवियों की रचनाएँ, चौंसठ कलाएँ आदि का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उसे आयुर्वेद, ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, अश्वगज लक्षण आदि में भी पारंगत होना चाहिए। आलंकारिकों का एक ऐसा भी वर्ग है जो कविशिक्षा को ही मुख्य बना लेता है। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' काव्यशास्त्र से अधिक कविशिक्षा का ही ग्रंथ है। उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी 'कविकण्ठाभरण' में कविशिक्षा पर ही अधिक विचार किया है। वस्तुतः काव्यशास्त्र में यह दोष संस्कृत के उत्तरकालीन व्याकरण ग्रन्थों से संक्रमित हुआ है। अवश्य ही ऐसे विश्लेषणों और वर्गीकरणों का वैदुष्य के क्षेत्र में अपना महत्त्व और उपयोगिता है। किन्तु सम्प्रति हम यही कहना चाहते हैं कि इन आचार्यों ने कविकर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा कर दी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कुन्तक का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। उनके एतद्विषयक मत को स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने लिखा है—**'व्यापारप्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे।'**[1] कुन्तक कविकर्म को ही काव्य मानते हैं: **'कवेः कर्म काव्यं।'**[2] उन्होंने 'यह उद्भावना की कि शक्ति और शक्तिमान दो नहीं, एक हैं। कवि की शक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है, उसकी आत्मा का रंग है, उसके संस्कारों की खुशबू है। कवि की शक्ति उसके स्वभाव से उत्पन्न होती है, कवि की व्युत्पत्ति उसके संस्कार से आती है तथा कवि का अभ्यास उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है।"[3] इस प्रकार कुन्तक सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं मानकर आत्मगत मानते हैं।

काव्य को कवि का कर्म मानना सौन्दर्यानुभूति के मूल स्रोत ही इंगित कर देना है। इस प्रकार कुन्तक की ओर भारतीय काव्यशास्त्र में चिन्तन की एक नई पद्धति का प्रवर्त्तन करते हैं। अपने 'जीवित' में वह जगह-जगह कविव्यापार की महिमा का व्याख्यान करते हैं। यथा:

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

—हि० वक्रो० ।।७।।

फिर प्रथम उन्मेष की १४-१५वीं कारिकाओं की वृत्ति में वह लिखते हैं कि सब प्रकार से किसी भी पदार्थ के कविव्यापार के विषय रूप से वर्णनीयता को प्राप्त होने पर उसका सहृदयाह्लादकारी स्वभाव ही काव्य के शरीर रूप में वर्णनीयता को प्राप्त होता है। इसी बात की आवृत्ति वे प्रथम उन्मेष की सत्रहवीं कारिका की वृत्ति में करते हैं कि सारे वाङ्मय के प्राणभूत 'साहित्य' रूप कविव्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्त्व है। कारिका १८ की वृत्ति में वह कहते हैं कि कवियों का व्यापार ही कवि व्यापार है। कारिका २२ के 'व्यापारशाली वाक्यस्य' के व्यापार की व्याख्या करते हुए वह वृत्ति में लिखते हैं कि व्यापार यहाँ

प्रस्तुत रचना रूप है : **'व्यापारोऽत्र प्रस्तुत काव्यक्रिया-लक्षण:।'**

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में काव्य में व्यापार की प्रधानता ही नहीं रहती है प्रत्युत् रचना ही कवि का व्यापार है।

यह कविकर्म या व्यापार ही मुख्य है। यह सभी सौंदर्य का मूल स्रोत है। इसके बिना काव्य वैचित्र्य या रमणीयता प्राप्त नहीं करता है। कुन्तक तीसरे उन्मेष की चौथी कारिका की वृत्ति में इस कविव्यापार की महिमा पर पूरा प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार रस, स्वभाव तथा अलंकार सबका कविकौशल ही प्राणभूत होता है। वह रस, स्वभाव तथा अलंकार तीनों में कवि व्यापार के चमत्कार का उदाहरण देकर अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हैं। कविव्यापार की महत्ता को और भी स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इसी कारिका के अन्त में दो अन्तरश्लोक भी दिये हैं। यथा—

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायातं स्वस्पन्दमहतामपि ।।२३।।

अर्थात् 'यह कविकौशल, अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त और औचित्यशाली वक्रता के प्रकारों को भी उत्तेजित करने में समर्थ है।'

रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ।।२४।।

अर्थात् 'सृष्टि के आदि से स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस कविकौशल के द्वारा सहृदयों को आह्लाद देने वाली अपूर्वता को प्राप्त हो जाते हैं।' उनके शब्दों में अनगढ़ पत्थर के टुकड़े-सी मणि के समान, प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्ध कविरचित वाक्य में उपारूढ़ होकर सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। कुन्तक का कहना है कि एक ही विषय में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित दो वाक्य प्रचुर भेद प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वह कविप्रतिभा के अतिरिक्त एक स्वतंत्र कविव्यापार की उद्भावना करते हुए उससे काव्यसृष्टि संभावित मानते हैं। उनका यह कवि-व्यापार ही सभी प्रकार की रमणीयता का उत्स है।

जिस कविव्यापार को कुन्तक ने इतना महत्त्व दिया उसका बीज 'काव्यकौतुक' के रचयिता भट्टतौत में मिलता है। कुन्तक और अभिनवगुप्त दोनों ने इसी स्रोत से प्रेरणा ग्रहण कर इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की। भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अब प्राप्य नहीं है। अभिनव ने अपनी 'भारती' में भट्टतौत को जितना उद्धृत किया है उतने से ही स्पष्ट रूप से पता चलता है कि वह काव्य में कविकर्म की महिमा स्वीकार करते थे (तस्य कर्म स्मृतंकाव्यम्)। निश्चय ही इस तत्त्व को कदाचित् उन्होंने ही पहली बार उजागर किया और कुन्तक ने यह चीज वहीं से ली है। भट्टतौत ने यह बतलाया है अभिनय को प्राप्त हुए बिना काव्य के आस्वाद संभव है। यह कैसे हो पाता है? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि वर्णनशैली के विस्तार एवं प्रौढ़ता के कारण सुन्दर रूप से अंकित उद्यानकान्ता, चन्द्रमा आदि प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं।[४] उनका तात्पर्य यह है कविकौशल से काव्य अभिनय को प्राप्त हुए बिना भी आस्वाद्य हो जाता है।

हेमचन्द्र ने भट्टतौत का एक श्लोक उद्धृत किया है। उस श्लोक का तात्पर्य है कि जब किसी को केवल दृष्टि है, तब तक ऋषि मात्र है, वह कवि तभी हो पाता है जब वह उस दर्शन को सुन्दर भाषा में व्यक्त करे, यानी कवि में वर्णन की सामर्थ्य होनी चाहिए। वर्णन के इसी माहात्म्य के कारण महाकाव्यों और प्रबन्धकाव्यों का सृजन हुआ। लगता है कि वाल्मीकि को जब आदि कवि की संज्ञा दी गई तब वर्णन की इस महिमा की ओर कहने वालों का ध्यान रहा होगा। ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषियों ने वर्णन को प्रधानता नहीं दी है। अपने दर्शन (विजन) को कुछ मंत्रों में बांधकर ही वे छोड़ देते हैं। तो भी यह सच है कि वर्णन की शक्ति दर्शन से ही प्राप्त होती है। भट्टतौत का श्लोक यों है :

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥[५]

डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी का मत है कि लक्षण और वक्रेक्ति दोनों सिद्धान्तों में कविव्यापार की अप्रतिम महिमा को देखते हुए भट्टतौत के प्रभाव को अस्वीकारा नहीं जा सकता है। उनके अनुसार कुन्तक ने भट्टतौत के कविव्यापार के सिद्धान्त से प्रेरणा ग्रहण कर उसका भामह की वक्रोक्ति से तालमेल बैठा दिया है। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के द्वारा पुराणरीति का व्यतिक्रम किया था तथा अभिनव के

इसे इसलिए नहीं अस्वीकारा कि इसका मुख्य तत्त्व उनके गुरु भट्टतौत से ही ग्रहण किया गया था।

अभिनवगुप्त के अनुसार बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति, कविव्यापार ये पर्याय हैं।[६] अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ का कोई स्निग्ध स्पर्श होता है जो लक्षणों में स्थित रहकर श्लेषादि गुणों को व्यक्त करने में दक्ष होता है। काव्यपक्ष में कविव्यापार भेद से गुणालंकार के लक्षणों का विभाग किया गया है।[७] भामह की कारिका 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' पर विचार करते हुए अभिनव ने लिखा है कि परमार्थ में व्यापार ही लक्षण है जो विषय द्वारा विशेष लक्षण में कहा गया। इस प्रकार स्वीकार करने में अर्थ भी लक्षण है। उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास में लगे रहने वाले तद्विदों का व्यापार भी क्योंकि वे जब वैसे काव्यात्मक विषय का अवलोकन करने लगते हैं तो झट से झलक जाता है। कुशल शिक्षित व्यापार तो काव्य की दृष्टि से झलकता ही है। काव्य में मुख्य है कविव्यापार। गुण और अलंकार तो उसके आश्रित होते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि यहाँ कोई अलंकार नहीं होता बल्कि कविव्यापार के साथ जो शब्द-व्यापार होता है उसी से अर्थ घटित होता है। यह अर्थ स्वयं हृदय हो जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त भी व्यापार के महत्व को समग्रतः स्वीकारते हैं।

रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध के अनुसार विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य है। उन दोनों का वैशिष्ट्य धर्म-व्यापार और व्यंग्य द्वारा व्यक्त होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है—भणिति वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगकृत्व। इस तरह व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादक दो सम्प्रदाय हो जाते हैं। एक वक्रोक्ति सम्प्रदाय है और दूसरा भोग सम्प्रदाय। इस भोग सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भट्टनायक माने जाते हैं। भट्टनायक रसनिष्पत्ति में सहायक तीन व्यापारों का उल्लेख करते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। भरत के लक्षणों पर विचार करते हुए अभिनव भट्टनायक की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं और इस व्यापार की समता वे भामह की वक्रोक्ति से बतलाते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक का व्यापार भामह की वक्रोक्ति का ही पर्याय है। भट्टनायक के व्यापार का रहस्य विन्यास-विशेष ही है। इसी को भामह ने वक्रोक्ति और राजशेखर ने केवल उक्ति कहा है।

यह भावकत्व ही वास्तविक कविकर्म है। यह गुणालंकारपरिग्रहात्मक ही होता है।[८] भट्टनायक बतलाते हैं कि निविड़ निजत्व का मोह तथा संकट आदि के निवारण में यह भावकत्व काव्य और नाटक में दो दिशाओं में कार्य करता है। काव्य में दोषाभाव, गुण और अलंकार रूप और नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप ही भावकत्व अपना कार्य सम्पादित करता है।[९]

जब भट्टनायक नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप भावकत्व के कार्य का उल्लेख करते हैं तब इसका अर्थ नहीं मान लेना चाहिए कि वह नाटक में काव्यवाले दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप कार्य का निषेध कर रहे हैं। नाटक में भी यह होता है। अभिनय रूप कार्य तो दोषाभाव आदि के अतिरिक्त नाटक में सम्पादित होता है। यह श्रव्य काव्य की तुलना में दृश्य काव्य की अतिरिक्त विशेषता है। नाटक भी काव्य ही है, यह संस्कृत काव्यशास्त्र का सहज स्वीकृत मत है। इस प्रकार भावकत्व कवि का व्यापार है। कवि का यही व्यापार सहृदय के पक्ष में भोजकत्व व्यापार को सम्भव बनाता है। चूंकि इसकी सत्ता केवल काव्य-नाट्य में ही मिलती है इसलिए यह कवि का ही कर्तृत्व है।

यदि हम भावकत्व के अर्थ पर विचार करें तो इसी मत की पुष्टि होती है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसका अर्थ किया है 'साधारणीकरण'। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "मोनियर विलियम्स आदि के कोशों में 'भावन' के अनेक अर्थ मिलते हैं—उनमें से प्रसंग के अनुकूल दो-तीन ही हैं, यथा 'चिन्तन का विषय होना', 'कल्पना का विषय होना', 'व्यक्त होना' आदि। इनमें से दूसरा अर्थ अर्थात् 'कल्पना का विषय होना' भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के सर्वथा निकट है। अतः आधुनिक शब्दावली में भावन का अर्थ है "कल्पनात्मक प्रतीति और स्थायीभाव के भावन का अर्थ है—भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति में परिणति।" डॉ० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि "भावकत्व व्यापार का कारण है, आधुनिक शब्दावली में कल्पनातत्त्व का समावेश और कार्य है कार्यसामग्री का साधारणीकरण।" आधुनिक समालोचना की भाषा में कल्पना तत्त्व का समावेश ही कवि का कर्तृत्व है।

डॉ० नगेन्द्र जब भट्टनायक के भावन व्यापार को कल्पना-

तत्त्व के रूप में व्याख्यायित करते हैं तब वह भारतीय काव्य-शास्त्र के पुनराख्यान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। इस प्रकार भावकत्व सृजन व्यापार हो जाता है। कल्पना 'कल्पृ' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण सृजन का बोधक है। भट्टनायक को आधुनिक समीक्षा की मुख्य चिंताधारा के साथ संयोजित करने में यह व्याख्या अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार यह लक्ष्य किया था कि कवि जब विभावानुभाव की योजना—यानी कविकर्म में प्रवृत्त होता है तब कल्पना उसकी सहायिका बनती है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है : "…जो लोग रस-पद्धति को जानते हैं, वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित हैं। वह एक वृत्तिचक्र है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रकृति और शरीर-धर्म आते हैं। हमारे यहाँ रस-निष्पन्न करनेवाली भाव-पद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी उनकी मूर्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पनासाध्य हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में सम्पूर्ण विभाव और अनुभाव कल्पना द्वारा ही नियोजित होते हैं। शुक्लजी ने काव्य के उपादानों को कल्पना द्वारा अनुशासित माना है। उन्होंने कवि और सहृदय दोनों पक्षों पर विचार करते हुए कल्पना के दो मुख्य प्रकारों का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा कि "विधान के लिए कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण करने के लिए पाठक या श्रोता में ग्राहक कल्पना।"[१०] सच पूछिये तो भट्टनायक का भावन-व्यापार विधायक कल्पना है और भोजकत्व ग्राहक कल्पना। इन दोनों कल्पनाओं के कार्य की शुक्लजी बड़ी ही स्वच्छ मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार "श्रोता या पाठक में सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है।" यही बात भट्टनायक की भाषा में इस प्रकार कही जाएगी कि भावकत्व भोजकत्व को सम्भव बनाता है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव काव्य का मूल उपादान है। इसलिए इसके बिना काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। किन्तु भाव का जब तक कल्पना के साथ संयोग नहीं होता है तब तक काव्य सम्भव नहीं हो पाता। "जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है, तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कविकर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।" इस प्रकार शुक्लजी ने कविकर्म के लिए भाव और कल्पना के समीकरण तथा भाषाधिकार को परमावश्यक माना है।

कविकर्म के सिद्धान्त की पुष्टि दोषों की विचिकित्सा से भी होती है। भरत ने दस गुणों और दस दोषों का उल्लेख किया है। ये गुण और दोष शब्द और अर्थ दोनों के होते हैं। दण्डी ने बतलाया है कि यद्यपि माधुर्य शब्द का गुण है तथापि वह रसवद् है। सानुप्रास होने से भी इसकी रसावहता बहुत बढ़ जाती है।[११] लेकिन अर्थ में रस-निषेध का भार अग्राम्यता ही ढोती है। इस प्रकार अर्थालोक से भी माधुर्य का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीसे सीधा यह प्रश्न उठता है कि दोष नित्य हैं अथवा अनित्य। दण्डी ने रचयिता की दृष्टि से इस समस्या पर बहुत ही तात्त्विक ढंग से विचार किया है। 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में उन्होंने दोषों पर विस्तार से विचार किया है। प्रत्येक दोष के विवेचन-क्रम में वह यह बतलाते गए हैं कि कुछ विशेष-विशेष सन्दर्भों में वे दोष गुणवत् हो जाते हैं। उन्होंने प्रथम परिच्छेद में ही "तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा (१।६२)" में 'भूयसा' द्वारा संकेत किया है कि कहीं-कहीं ग्राम्यता और अश्लीलता भी दोषस्वरूप नहीं होती है। अपार्थ नाम के दोष का उल्लेख दण्डी में मिलता है जिसमें पद या वाक्य का अर्थ तो होता है परन्तु समुदाय वाक्य या महावाक्य का अर्थ नहीं होता है। काव्य का गद्य में भी इस दोष से बचना श्रेयस्कर है। किन्तु, दण्डी बतलाते हैं कि उन्मत्त मत्त बालोक्ति में परस्पर असम्बद्धत्व दोष नहीं प्रत्युत स्वाभाविक गुण ही है (३।१२८)। दण्डी का विश्लेषण विरुद्धार्थ के विवेचन में और भी उपादेय हो जाता है। इस दोष में किसी पात्र के साभिप्राय छद्म कथन से उनका अभिप्राय है प्रत्युत उनका अभिप्राय तो प्रचण्ड आवेश में निःसृत सहज उक्ति से है।

किन्तु वह बतलाते हैं कि यदि दुखाभिभूत जन की उक्ति में विरुद्धार्थ दोष पाया जाए तो उसे दोष नहीं प्रत्युत् गुण माना जाएगा। कारण यह कि उस तरह की उक्ति से उसकी आन्तरिक अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है (३।१३३)। इस प्रकार रचयिता के किंचित् कौशल के स्पर्श से भी दोष गुण में रूपान्तरित हो जा सकते हैं।

विश्वनाथ ने इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार किया है। खतरनाक सरलीकरण से बचने के लिए दोष की नित्यता की धारणा का वह पूर्ण परित्याग कर देते हैं। काव्य की परिभाषा देते हुए पहली साँस में वह कहते हैं कि 'दोषा-स्तस्यापकर्षकाः।' किन्तु कदाचित् विश्वनाथ ने स्वयं यह अनुभव किया कि इससे तो दोष नित्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः अपने मन्तव्य को संशोधित रूप में उपस्थित करते हुए वह कहते हैं कि दोष तो वे हैं जो रस के अपकर्षक हुआ करते हैं—'रसापकर्षकादोषाः'। इससे ध्वनि यह निकलती है कि दोष नित्य नहीं हैं। इस प्रकार विश्वनाथ के मत से कोई दोष यदि किसी प्रसंग में रसोपकारक है तो वह दोष न होकर गुण ही हो जाता है। इसीको ध्यान में रखकर उन्होंने कहा है—'सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः (गुणो भवेत्)।' तात्पर्य यह कि कविकर्म की ऊर्जा ही काव्य में मुख्य है।

यह बात नहीं है कि इस सत्य का साक्षात्कार विश्वनाथ ने ही पहली बार किया था। सातवीं सदी में ही, जब श्रुति-मधुर को गुण और श्रुतिकष्ट या श्रुतिदुष्ट को दोष माना जाता था, भामह कहते हैं कि सन्निवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गुँथे हरे पन्ने के समान सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। कुन्तक के अनुसार वर्ण और ध्वनि को प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होना चाहिए। वह कठोर रस के प्रसंग में कर्णकटु वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न वक्रता का उदाहरण भी देते हैं।

राजशेखर इन सभी विचिकित्साओं का समाधान कवि-प्रतिभा में देखते हैं। वे बड़ी ही प्रसन्न मुद्रा में साहित्यिक चौर्य की महिमा का बखान करते हैं और उसके उपादेय पक्ष की सार्थकता बत्तीस प्रकारों से प्रमाणित करते हैं। यायावरीय का मत है कि दूसरे कवियों की अलौकिक कल्पनाओं को लेकर यदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाय तो वे हरण के रूप में पहचानी तो नहीं ही जा सकतीं अपितु सरस और आकर्षक भी हो जाती हैं। काव्य-रचना करने वाले कवि और व्यापारी—ये दोनों चोर न हों—ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। इनमें प्रशंसनीय वह है जो चोरी को छिपा सके और जिसकी निन्दा न हो।

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम् ॥

राजशेखर ने इसी निगूहन की कला में दक्ष कवि को उत्पादक कवि कहा है। चौर्य कर्म तो अनेक कवि करते हैं, कुछ कवि परिवर्त्तक होते हैं, कुछ आच्छादक, कुछ संवर्गक; किन्तु चौर्य कला की महिमा तो उत्पादक कवि में ही सिद्ध होती है। उत्पादक कवि के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने इस प्रकार लिखा है—

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।

—हर्षचरित। ५।

राजशेखर कहते हैं कि जो कवि शब्दों, अर्थों और उक्तियों में कुछ नए भावों को देखने की शक्ति रखता है और अपने प्रतिभा-प्रकर्ष से किसी अलौकिक वस्तु का उन्मेष करता है, उसे महाकवि कहना चाहिए। वह कहते हैं कि कवि में मुख्य चीज़ है शक्ति। शक्ति यानी प्रतिभा कवि के अव्यु-त्पत्तिजन्य दोष को भी आच्छादित कर देती है।

इसी सत्य का निर्भ्रान्त साक्षात्कार कुन्तक भी करते हैं। वह कहते हैं कि अनूतन वस्तु भी केवल शक्ति के वैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति कर लेती है। जिन्हें यह सब कुछ जँचता नहीं हो वे तुलसीदास के कौशल को देखकर आश्वस्त हो सकते हैं। उन्होंने केवल कथा ही नहीं, नाना-पुराणनिगमागम से शब्द ही प्रत्युत पूरे-का-पूरा अनुच्छेद ही उठाकर अपने मानस में रख दिया है। किन्तु रचयिता के कौशल के स्पर्श से 'मानस' में यह निर्धन चौर्यकला सौन्दर्य की पर्त-पर-पर्त गढ़ती चली गई है। क्षुद्र कवि की पहचान यह है कि काव्यमार्ग में स्वीकृत गुणों का उपयोग कर भी वह रचना को चौपट कर देता है।

इस प्रसंग में हम यह भी विचार कर लें कि कुन्तक ने कविकर्म का हेतु क्या माना है। वह सिद्धान्ततः यह मान लेते हैं कि रचना में शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग रहता है। वह कहते हैं कि उस सबल शक्ति से कवि उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त

करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है। कुन्तक व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से ही सम्बद्ध कर अपने सम्पूर्ण विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक गहराई दे देते हैं। वह कहते हैं कि अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्राप्त होता है। साथ ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव हेतुद्वय (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को उत्पन्न करता है और ये दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार कुन्तक हेतुद्वय को कवि व्यक्तित्व के आन्तरीण धर्म से सम्बद्ध कर इन दोनों की जड़ता और यान्त्रिकता का निरसन करते हैं और संस्कृत काव्यशास्त्र के परम्परायुक्त चिन्तन को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

किन्तु, व्युत्पत्ति और अभ्यास तो काव्य-भवन के गारा ढोने वाले मजदूर हैं। इस महल का वास्तविक शिल्पी तो प्रतिभा है। रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने उनकी पंक्ति 'व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे' पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि कविकर्म प्रतिभा के द्वारा विकसित होता है। इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कविप्रतिभा के द्वारा निर्वर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।[१२] स्वयं कुन्तक प्रतिभा को इतना ही महत्त्व देते हैं। उनकी प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ि-प्राप्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह प्रतिभा को सहजा के साथ आहार्या भी मानते हैं। उनके मतानुसार काव्यनिर्माण में यही प्रतिभा सर्वोपरि वस्तु है। कुन्तक के कहने का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त सुन्दर रचना कवि-प्रतिभा प्रसूत होती है और उसमें कविकर्म आहार्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, कविकर्म जहाँ केवल आहार्य होता है वहाँ रचना सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति नहीं करती है। रचना में सौन्दर्य का उन्मेष प्रतिभा के संस्पर्श से ही होता है। वह बतलाते हैं कि शब्द और अर्थ में सौन्दर्य के स्फुरण में ही कविकर्म में प्रतिभा का योग होता है। प्रतिभा का प्राथमिक विलास भी शब्दार्थ को रमणीय बना देता है। निष्कर्षतः कुन्तक काव्यहेतु में व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से सम्बद्ध कर देते हैं और रचना में सौन्दर्य के उन्मेष के वास्तविक हेतु के रूप में प्रतिभा को ही स्वीकारते हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह बतलाया है कि 'कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभावपक्ष और भावपक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभावपक्ष है, दूसरा भावपक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं, अतः दोनों रहते हैं।" शुक्लजी जब भावपक्ष और विभावपक्ष को अन्योन्याश्रित कहते हैं तब वे काव्य-समीक्षा के गहन-तत्त्व का ही उन्मूलन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं। विभाव की योजना भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही की जाती है। इसलिए कुछ विभाव भावों के आलंबन होते हैं और कुछ उद्दीपन। भाव लोकधर्मी हैं। लोक में तो उनका अस्तित्व ऐसे भी है किन्तु काव्य में विभावों के आश्रित होकर ही आते हैं। भरत ने विभावों को ऐसे परिभाषित किया है—'विभावैराहृतो योऽर्थो'। अर्थात् भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होता है। इसलिए भाव विभावों के आधार हैं और विभाव भावों के आश्रित हैं। इसीसे शुक्लजी उन्हें अन्योन्याश्रित कहते हैं। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है: 'जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप में या नख-शिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है।' इस प्रकार काव्य में भाव और विभाव का युगपत् अस्तित्व रहता है।

आधुनिक आलोचना की भाषा में विभाव भाव का 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) है। यह पदोच्च इलियट का अपना आविष्कार है। कविता लिखने के लिए भाव, अनुभूति, संवेग आदि का अनुभावन तो आवश्यक है ही, उससे भी कहीं अधिक आवश्यक है उस अनुभूति को दूसरों तक प्रेषित करना। 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही', शुक्लजी के शब्दों में 'कविकर्म है'। आत्मनिष्ठ भावों को वस्तुनिष्ठ तत्वों के द्वारा प्रेषणीय बनाया जाता है। इसे ही इलियट ने 'वस्तुगत प्रतिरूप' नाम दिया है। उनके अनुसार कला के रूप में भावना को अभिव्यक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि "किसी वस्तुगत प्रतिरूप को, दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की एक ऐसी श्रेणी, एक ऐसी परिस्थिति, घटनाओं की एक शृंखला को, ढूँढ़ा जा सके, जो भावना-विशेष

का इस तरह आधार हो कि जब बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति ऐन्द्रिक अनुभूति में होनी ही है, दे दिये जाएँ, तब तत्क्षण वह भाव उद्बुद्ध हो जाए।" इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में अतिख्यात इलियट का यह सिद्धान्त भारतीय रसचक्र के विभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कविकर्म का चमत्कार वस्तु-विन्यास के क्षेत्र में भी प्रकट होता है। काव्य में महिमा वस्तु की नहीं कविकर्म की होती है। अतएव काव्यात्मक और अकाव्यात्मक वस्तुओं का पार्थक्य निस्सार है। भामह के अनुसार ऐसा न कोई शब्द है, न अर्थ, न न्याय, न कला जिसका प्रयोग काव्य में नहीं होता हो।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवेः॥
(काव्यालंकार : ५।१४)

धनंजय भी भामह के इस मत की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार रमणीय हो अथवा घृणित, अच्छी हो या बुरी, उग्र हो अथवा आह्लादकारी, गहन हो अथवा विकृत, विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, वस्तु ही क्यों अवस्तु भी नहीं है जो कवि और भावना के विषयीभूत होने पर रस और भाव को उत्पन्न न करे।

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं
प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैतिलोके॥

राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का मत है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है। कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं---

"वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

वस्तुस्वभावो च कवेरतन्त्रो
गुणागुणायुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निवध्नात्यमृतांगुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥

मनुष्य की कोई भी कला या विद्या ऐसी नहीं है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रकृति का व्यापार नहीं है। प्रकृति के व्यापार को आधार बनाये बिना किसी भी अन्य विद्या का अस्तित्व ही संभव नहीं है। केवल कवि में ही यह सामर्थ्य है कि वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण ऐसे किसी भी प्रतिबन्ध से मुक्त हो जाए और प्रकृति के समानान्तर नयी पद्धति में विकसित हो। वह या तो प्रकृति के उपादानों की तुलना में सुन्दरतर सृष्टि करता है अथवा ऐसा नूतन सृजन करता है जैसा प्रकृति में कहीं भी विद्यमान नहीं है। इसीलिए धनंजय कहते हैं कि अवस्तु भी कवि की भावना से सिक्त होकर भाव और रस उत्पन्न करती है। इस प्रकार काव्य में वस्तुयोजना सृजन का रूप प्राप्त कर लेती है। अपने कर्म की महिमा में कवि स्वयं प्रजापति बन जाता है।

इसका सीधा मतलब यह है कि काव्य सृजन है, अनुकरण नहीं। लेकिन अरस्तू का कहना है कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है। अरस्तू के व्याख्याकार बुचर के अनुसार अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है 'सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—सांकेतिक उल्लेख नहीं।' कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन करती है, अर्थात् कवि मूल वस्तु का यथा-तथ्य रूप खड़ा नहीं करता बल्कि वह उसके उस रूप को प्रस्तुत करता है जो इन्द्रियों को प्रतीत हुआ करता है। स्काट-जेम्स के अनुसार, "अरस्तू के अनुकरण का तात्पर्य है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[१३] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, अरस्तू 'अनुकरण' का प्रयोग सृजन के अर्थ में ही करते हैं। हाँ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है या तो उनकी भाषा में सृजन के उपयुक्त कोई शब्द नहीं था अथवा वह अपने शब्द का चयन बहुत सावधान मनोदशा में नहीं कर सके थे। इसलिए उनके व्याख्याकारों को 'अनुकरण' का अर्थ करने में इतनी माथापच्ची करनी पड़ी है।

अरस्तू को जो भाषा नहीं सूझी वह अभिनवगुप्त को सूझ गयी थी। भरत ने लिखा है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन नाट्य है।[१४] ऐसा लगता है कि अभिनवगुप्त को जो पाठ प्राप्त हुआ था उसमें 'अनुकीर्तन' नहीं 'अनुकरण' रहा होगा। अतएव उसपर विमर्श करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अनुकरण नहीं, अनुकीर्तन ही होगा। वह स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं कि अनुकरण ने आखिर ऐसा क्या अपराध किया है जिससे उसका वर्जन किया जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि अनुकरण करना अपराध नहीं है। वास्तविक कठिनाई तो यह है कि अनुकरण असम्भव व्यापार है। यह इसलिए कि भाव का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण

तो सदृशकरण है। तो यह अनुकरण किसका होता है? अनुकरण रामादि का नहीं होता। यह इसलिए कि रामादि अनुकार्य हैं। इससे प्रमदादि विभावों का अनुकरण खंडित हो गया। और क्रोध-शोकादि रूप चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण नहीं होता। नट रामादि के समान ही अपना शोक नहीं करता। यह इसलिए कि उस शोक का उसमें सर्वथा अभाव रहता है। भाव में अनुकरण नहीं हो सकता। फिर ऐसी कोई दूसरी वस्तु नहीं मिलती जो शोक के सदृश हो। अतः उसका अनुकरण संभव नहीं है। यह ठीक है कि अनुभावों का अनुकरण किया जा सकता है। लेकिन यहाँ यह याद रखना है कि यह भी सजातीयों का ही हो सकता है न कि तत्सदृशों का। अभिनवगुप्त प्रश्न उठाते हैं कि साधारण रूप का कौन-सा किसके साथ सादृश्य सादृश्यार्थ होता है? त्रैलोक्यवर्ती का सादृश्य तो विशेष रूप से एक साथ नहीं हो सकता। शायद क्रम से नियत का ही अनुकरण हो सकता है।[१५]

अभिनवगुप्त की मुख्य शंका यह है कि सामान्य रूप में अनुकारार्थ क्या होगा? उनका प्रस्ताव है कि यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि अनियत का अनुकरण नाट्य है। उन्होंने अपने उपाध्याय भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' का अपने कथन के समर्थन में हवाला दिया है। उनका कहना है कि नियतानुकार होता है न कि अनियतानुकार। अभिनव के अनुसार अव्यवसायवान विशेष-विषयी कार्य नाट्य है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अनुव्यवसायात्मक कीर्तन, रूपित विकल्प संवेदन नाट्य है। यह इसलिए कि वह वेदन संवेद्य है न कि अनुकरण रूप।[१६] इस प्रकार अभिनवगुप्त यह स्थिर करते हैं कि जिस किसी ने नाट्य को अनुकरण कहा है, वह सही नहीं है।[१७] इस प्रकार अनुकीर्तन भावों का अनुकरण नहीं प्रत्युत उनका गुणगान है। इसमें भाव कई तरह से गूंजते हैं, उनकी प्रसुप्त शक्तियाँ और भी जागरित हो जाती हैं। इस प्रकार भावनाट्य में 'अन्यथाकरण' की प्राप्ति कर लेते हैं।

भरत ने अभिनय को अर्थाश्रित माना है। अर्थ से उनका तात्पर्य लोक से है।[१८] लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अभिनय वस्तु का हू-ब-हू अनुकरण है? यानी काव्य क्या लोक का अनुकरण मात्र है? यदि अर्थ या लोक काव्य का उपजीव्य है तो जैसा कि अभिनव ने कहा नाट्य भित्तिस्थानीय है।[१९] यानी भित्ति तो आधार अवश्य है किन्तु कविकर्म भित्ति पर उभरने वाले चित्र के सदृश भित्ति को अन्यथारूप प्रदान कर देता है। यानी लोकचर्मिता फलक मात्र है। कविकर्म भित्ति पर उभरने वाला चित्र है जो स्वयं भित्ति नहीं। सृजन-प्रक्रिया के क्रम में वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। कविकर्म और वस्तु के घात-प्रतिघात से एक नयी चीज उभरती है। भरत ने कहा है कि स्वभाव तो लोकधर्मी है किन्तु विभाव तो नाट्य में ही होते हैं।[२०] तात्पर्य यह कि नाट्य में स्वभाव यथावत् ग्रहण नहीं किया जाता है। उसे मनोग्राह्य बनने के लिये विभाव के रूप में आना पड़ता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि लोकप्रसिद्ध द्रव्य को शिल्प, कला, कल्पना के द्वारा जो वांछित रूप दे दिया जाता है वह नाट्यधर्मिता है।[२१] यानी लोकप्रसिद्ध वस्तु को काव्य में रुचिकर मूर्ति दे देने की कला ही नाट्यधर्म है। इस प्रकार सौंदर्य कविकर्म का ही प्रपंच ठहरता है।

अनुकरण बाह्यसत्ता का पूर्ण स्वायत्तीकरण है। किन्तु काव्य में, साथ ही चित्र, मूर्ति आदि कलाओं में, बाह्यसत्ता पूरी तरह अँट नहीं पाती है। "मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है। पर उसे ज्यों-का-त्यों वह ले ही नहीं सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है, वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है। वह तथ्यात्मक बाह्यसत्ता को बदलता है, अन्यथा बनाता है। इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथाकरण कहते हैं। अन्यथाकरण अर्थात् जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है।" कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक स्थान पर एक बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता, उसे अन्यथा कर दिया जाता है। फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ जुड़ ही गया है, बढ़ ही गया है—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नहीं है कि अन्यथाकरण शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर

किया जाए कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथा-करण के द्वारा बाह्य-जगत् ज्यों-का-त्यों नहीं आ जाता बल्कि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—'किञ्चित् अन्वितम् ।'[२२] कालिदास ने बात चित्र को लेकर उठायी है किन्तु यह काव्य तथा अन्य सभी कलाओं के विषय में भी उसी प्रकार सच है, यानी अनुकरण असंभव है।

कवि भाव के उपयुक्त विभाव की योजना में ज्यों ही प्रवृत्त होता है, त्यों ही सृजन-प्रक्रिया का काम शुरू हो जाता है। महिमभट्ट ने कहा है कि विभाव आदि की योजना के अतिरिक्त कविव्यापार और कुछ नहीं है।[२३] मुक्तिबोध ने इस प्रक्रिया पर अच्छा विचार किया है। उनके अनुसार कला के तीन क्षण होते हैं। "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[२४] मुक्तिबोध ने जिसे जीवन का 'तीव्र अनुभव-क्षण' कहा है वही काव्य का मूल उपजीव्य है। उनका दूसरा क्षण—'अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना' ही भारतीय रसवाद में साधारणीकरण की स्थिति है। किन्तु कविकर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण है, कला का तीसरा क्षण। इस क्षण की मीमांसा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि "शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैण्टेसी अनवरत रूप से विकसित-परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह फैण्टेसी अपने मूल रूप को बहुत-कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जिस फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैण्टेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैण्टेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की ही प्रतिकृति है।"[२५] विभाव से साधारणतया नायक-नायिका का स्थूल बोध होता है। इसलिए मुक्तिबोध ने नये काव्य के मिज़ाज के अनुकूल इस शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द से नायक-नायिका से परे भी भाव के 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) में आये तथ्यों का बोध हो जाता है। किन्तु फैण्टेसी, जैसा कि मुक्तिबोध ने उचित ही कहा, "वास्तविक अनुभूति की प्रतिकृति नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र बन बैठी।"[२६] वह कवित्वमय भाषा में लिखते हैं कि "फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतंत्र है।"[२७]

इस मत की पुष्टि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी करते हैं। "जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है। इसी से बहुत दिव्य और सुन्दर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते। वे जीवन-भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं। बहुत-सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती, स्मृति-दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरणमात्र।"[२८] अतएव काव्य अनुकरण नहीं है। कवि-कर्म की प्रक्रिया में मूल जीवानुभव बदल जाता है। इसीलिए भरत ने नाट्य को भावानुकरण नहीं, भावानुकीर्तन कहा है। कवि चेतना-सम्पन्न प्राणी है। सृजन-व्यापार के समय चेतना के कई स्तरों पर वह जीता है। इसलिए उसकी मूल अनुभूतियाँ रचना के समय चेतना की नदी में सिक्त हो जाती हैं। तब जो अनुभूति रहती है वह जीवानुभूति नहीं वरन् काव्यानुभूति है। इस तरह स्वयं काव्यानुभूति कविकर्म की प्रसूति सिद्ध होती है।

हमने ऊपर बतलाया है कि कविकर्म के सिद्धान्त द्वारा कुन्तक ने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। कवि का यह काव्यात्मक व्यक्तित्व आखिर क्या है? डॉ० सुशील कुमार दे के अनुसार इसका तात्पर्य रचना में अन्विति से है।[२९] तब यह स्थिर हुआ कि अन्विति जिस तरह प्राप्त होती है वही काव्यात्मक व्यक्तित्व है। यह परस्पर-विरोधी व्यक्तित्वों की लस्टम-पस्टम अन्विति नहीं है बल्कि काव्या-

त्मक व्यक्तित्व की तात्त्विक अन्विति है। हम देखते हैं कि इस काव्यात्मक व्यक्तित्व का इलियट के अव्यक्तिवाद से कोई विरोध नहीं है। वह कवि के मन की तुलना एक उत्प्रेरक (केटेलिस्ट) से करते हैं। उत्प्रेरक के संयोग से दो गैसों के मिलन में तीसरी गैस उत्पन्न हो जाती है, किन्तु 'उसमें न कोई परिवर्तन आता है, न उस पर इस प्रक्रिया का प्रभाव ही पड़ता है और न वही कुछ प्रभाव डाल पाता है।'[३०] इस प्रकार इलियट जब कवि के मन की तुलना (उत्प्रेरक के रूप में) प्लेटिनम के तन्तु से करते हैं तब वह काव्यात्मक व्यक्तित्व की ठीक-ठीक व्याख्या कर देते हैं। इस प्रकार उनका मुख्य विरोध भोक्ता मन के व्यक्तित्व से हो जाता है। वह मानते हैं कि कवि का मन असंख्य भावनाओं, पदावलियों, बिम्बों के ग्रहण एवं संचयन के निमित्त एक आधानपात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके संयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नहीं हो जाते। इलियट—निर्विकारता और नवोन्मेष को—कविमानस की दो विशेषताएँ मानते हैं। भट्टतौत ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा है। यही कवि का असल व्यक्तित्व है।

इस प्रसंग में हम रचना के साथ रचयिता के सम्बन्ध पर भी विचार कर लें। इलियट बतलाते हैं कि प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि के मानस का अन्तर सर्वथा "व्यक्तित्व के मूल्यांकन में निहित नहीं होता—न वह (प्रौढ़ कवि) आवश्यक रूप से अधिक रोचक होता है, न उसके पास आवश्यक रूप से अधिक कहने को होता है। वस्तुतः वह ऐसा परिष्कृत माध्यम होता है जिसमें विशेष अथवा अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भावनाओं को नये संयोगों में ढलने की स्वतन्त्रता होती है।" यही कवि का नवोन्मेष और शक्ति है। इस शक्ति के कार्य की मीमांसा करते हुए इलियट ने अन्यत्र लिखा है : "कवि का मन जब अपने कार्य के लिए पूरी तरह सन्नद्ध हो जाता है तब वह अविच्छिन्न रूप से विरोधी और असदृश अनुभूतियों को समन्वित करता है। साधारण मनुष्य की अनुभूति तो अस्त-व्यस्त, विच्छिन्न और खण्डित होती है। एक साधारण मनुष्य प्रेम में उलझ जाता है या स्पिनोज़ा का अध्ययन करता है, किन्तु इन दो अनुभूतियों का कोई भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा टाइपरायटर की खटखटाहट या पाकशाला की गंध में, किन्तु ये ही अनुभूतियाँ कवि के मन में हमेशा नई समग्रता गढ़ती चलती हैं।"

इस शक्ति के बिना वस्तु और अनुभूति काव्य में चमत्कार दिखला ही नहीं सकती है। हम इसका उदाहरण इलियट की कविता से ही देना चाहेंगे। बूढ़े होने की अनुभूति सभी को उस उम्र में होती है। यह एक तीव्र और महत् अनुभूति है। उसी प्रकार एक क्षुद्र अनुभूति तब भी होती है जब हम अपने पाजामे की क्रीज़ को मुड़ा हुआ देखते हैं। इन दोनों का भोक्ता मन के लिए कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु स्रष्टा मन देखता है कि हम उसी प्रकार बूढ़े हो रहे हैं जिस प्रकार हमारा पाजामा सिकुड़ गया है। इलियट की पंक्तियाँ हैं:

I grow old...I grow old...
I shall wear the bottoms of my trousers rolled.

उसी प्रकार राजकमल चौधरी एक ही युद्ध के दर्शन अपनी कमर की हड्डियों और वियतनाम दोनों में करते हैं—'क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों और कभी वियतनाम में।' साधारण व्यक्ति के लिए उपदंशजनित कमर की हड्डियों में दर्द और वियतनाम युद्ध की विभीषिका में कोई संगति नहीं हो सकती है। किन्तु कवि की प्रज्ञा ने यह सहज ही प्रत्यक्ष कर लिया कि सभ्यता का रोग एक ही है। उपदंशजनित कमर की हड्डियों का दर्द और वियतनाम का युद्ध तो उसका बाह्य उपलक्षण मात्र है। यही अनुभूति का नव्य सामग्र्य प्राप्त करना है। इसी अर्थ में काव्य कवि का कर्म है और शक्ति तथा शक्तिमान् एक ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने समग्र सौन्दर्य को कविकौशल से उत्पन्न होने का कथन किया। भारतीय काव्यशास्त्र की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अलंकारसर्वस्व : सम्पादिका कुमारी एस० एस० जानकी, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, पृ० १०।
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितः, पृ० ७।
३. दिनकर : शुद्ध कविता की खोज, पृ० २६।
४. "प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग—प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।

उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ।।''
—हिन्दी अभिनव भारती : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५०४

५. काव्यानुशासन (काव्यमाला), पृ० ३१६।

६. 'बन्धो, गुम्फो, भणितिर्वक्रोक्तिः, कविव्यापार इति पर्यायाः।'
—नाट्यशास्त्र (गायकवाड़). द्वितीय जिल्द : पृ० ३२२

७. नाट्यशास्त्रम्, (गायकवाड़) दूसरी जिल्द, पृ० २९६।

८. "भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते ।''
—ध्वन्यालोकलोचन, पूर्वार्ध, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ३९६

९. "तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय रूपेण निविडनिजमोहसंकटतानि वारणकारिणा ।''
—हिन्दी अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४६४

१०. चिंतामणि भाग-२, पृ० ८८।

११. हिन्दी काव्यादर्श; आचार्य रामचन्द्र मिश्र. १।५१-५२।

१२. "व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभा निर्वतित्त्वमन्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात्।'
—डॉ० सुशील कुमार दे द्वारा 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका में उद्धृत, पृ० २८।

१३. "Imitation, for the poetics, is the objective representation of life in literature—what in our language we might call the imaginative reconstruction of life.''
—The Making of Literature : Seekers Warburg 1953, p. 53.

१४. "त्रैलोकयस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।''
—नाट्यशास्त्र, १।१०७।

१५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड), पहली जिल्द, पृ० ३७।

१६. वही, पृ० ३७।

१७. वही, पृ० ३८।

१८. वही, दूसरी जिल्द, १३।८५।

१९. वही, दूसरी जिल्द, पृ० २८।

२०. "स्वभावो लोकधर्मा तु विभावो नाट्यमेव हि ।''
—नाट्यशास्त्र, जिल्द ३, २१ २०३।

२१. "कलाशिल्पकल्पनाकलितयस्तदपि''
—वही, दूसरी जिल्द, १३।७५।

२२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आलोचना २८। (सिसृक्षा का स्वरूप), पृ० ९-१०।

२३. "विभावाद्युपनिबन्ध एवहि कविव्यापारो नापरः।''
हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १४२।

२४. एक साहित्यिक की डायरी (प्र० सं०), पृ० १९।

२५. वही, पृ० १९।

२६. वही, पृ० २०।

२७. वही, पृ० २०।

२८. चिंतामणि भाग-२, पृ० १०४।

२९. Sanskrit Poetics As a Study of Aesthetic, Oxford University Press, p. 71.

३०. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २८६-८७।

चौराहे पर ग्रीनविच का एकालाप

श्रीराम वर्मा

तारे गतिमान हैं। सूर्य भी।
पूरा सौरचक्र।
यह पृथिवी भी।—
जिस पर तुम एक चींटी की तरह चल रहे हो :
इतनी ज्वलन्त रश्मि-गति के चक्राकार वर्ष में
स्वयं प्रकाश !

बताओ, मैं कहाँ जाऊँ ?
क्या तुम जा सकते हो ?
क्या तुम सचमुच जा रहे हो ?

तुम मुझे चलते हुए क्षितिज
फिर एक निरीह बिन्दु लगते हो।
क्या मैं वहाँ तक तुमको दिखूँगा ?

क्या तुम चल पाते हो ?
आज़ाद
अपने दिमाग़ से ?

या चलना तुम्हारे लिए आसान है ?
जैसे आदत;
या तुम बेबस हो, आदी हो ?

लेकिन मैं कहाँ जाऊँ, मैं
सोच नहीं पाता।

सुनो, तुम चलते हो तो मैं सिर्फ़ केंचुल छोड़ता
हूँ
चल नहीं पाता, एक लकीर मेरे दिमाग़ से
अनंत तक
तुम तक होती हुई खिंचती है कि आखिर तुम
कहाँ जा रहे हो ?
चलना क्या अन्ततः एक दिन कम करना नहीं
है ?

मैं हूँ एक नहीं के बराबर
होना चाहता हूँ होने के समानान्तर
रोशनी की त्वरा से रास्ते को
केंचुए-सा चाहता हूँ रेडियम-रेखा
बना देना

पर क्या मैं चल सकता हूँ ?
जो मैं सोचता हूँ कि रास्ता है,
(मेरा ख़ुद का बनाया हुआ)
क्या उस पर मेरा अधिकार भी है
कि कहूँ, वह मेरा है।

मैं एक ख़ालिस वोट हूँ,
(मच्छरों ने सर पे भन्ना के कहा।)
और यह रास्ता पट्टे की तरह टूट जाता है
या बन जाता है गले का फन्दा।
मैं चौराहे पर हूँ अनाथ
देश में, समय में, दुनिया के पेंचदार जहन्नुम
में,

दीखते हुए यान्त्रिक स्वर्ग में

मुझे सन्देह है   मैं उतना हूँ
जितना मैं हूँ ।

क्या तुम्हें नहीं लगता कि जूं तक हमसे ज्यादा
आज़ाद हैं;
सुखी हैं । और दरअस्ल क्या यह सभ्यता उन्हीं
की नहीं है ?

मैं=दायित्व—दायित्व की बेबसी+भौतिक
शारीरिक आवश्यकताएँ
+वोट—सर्जनात्मकता—आर्थिक या बेहूदे
अतिरिक्त तनाव—वोट
की कमन्द के साथ दूसरे देश के बक्से में या
कमीने की आँत
में ढहना—सहना+अहं से, चेतना से होना—
इनसे बचना—तिनके
की तरह बहना—भीड़ का होकर खुश रहना ।

उलट दूं तो मैं
नहीं रहता मैं ।
—मैं हो जाता हूँ ।

पर वह भी लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
आक्टोपस की तरह वह मुझे आविष्ट करता
मुझ पर थूकता काला थूक
नहीं होने दे सकता जूं । और इस सभ्यता से
बाहर
अकेला रहकर मैं क्या करूंगा ।

टिक-टिक   टिक...

घड़ी ठीक कर लो ।
बदल लो तारीख़ ।
तुम शायद अब रुक नहीं सकते ।

लेकिन तुम कहाँ जा रहे हो ?

कितना तेज़ चला जा सकता है ?

गति के चरम पर क्या स्थिति नहीं है ?

अन्तरिक्ष में तुम
अधिक-से-अधिक
हो
सकते   हो
बस, फिर
एक पेंचदार जहन्नुम शुरू हो जायगा;
जिसे तुम यान्त्रिक स्वर्ग कहोगे।
कह सको, तो जाओ !
मैं नहीं कहता ।

'चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य'*

रमेश कुंतल मेघ

: १ :

क्योंकि इस लेख के संदर्भ में 'साइके' अथवा 'चिति' की मिथक जुड़ी है और वह एक प्रतीक भी है, इसलिए हम भी एक वैसी मिथक (मिथ) से शुरुआत करते हैं। मिथक का असली और अमली धरातल चिंतन (थाट) का नहीं, बल्कि अनुभूति (फ़ीलिंग) का है। मिथक विश्वास के बजाय 'हठात्-विश्वास' (मेक-बिलीफ़) पर टिकी है। इसलिए विज्ञान के सौर धमाके के आगे मिथक की धुँधली यथार्थता की निष्ठा वाली जोत बुझ जाती है। मिथक की भी यथार्थता है। किन्तु वह पुनीत एवं प्रागैतिहासिक (प्रि-हिस्टोरिकल) है। मिथक की भी चेतना है। लेकिन वह प्राक्चिंतनात्मक (प्रि-लॉजिकल) है। मिथक का सम्बन्ध मनुष्य के बजाय मानवता के सामूहिक इतिहास से है। अतः वे सामूहिक चेतना की विरासत हैं। इसीलिए मिथक मानवता के शैशव और शिशु के सार्वभौम (यूनिवर्सल) अनुभव का पुंज है। अतः वे चैतन्य के पहले भी अस्तित्वमान थीं। अतः उनका उद्गम सामूहिक अवचेतन अर्थात् मानवता के प्राथमिक अनुभव रहे हैं। मिथकों के द्वारा ही हम—प्रतीकों के माध्यम से—मानवजाति के पुरातन इतिहास का ऐतिहासिक एवं आधुनिक अनुभवन करते हैं जिनके कई नाम हैं: प्रतीक, आर्केटाइप, मानसिक ऊर्जा (एनर्जी), फान्तासी, रूपक, बिंब, संकेत और शब्द, आदि। अतः मिथक बिंब भी हैं, और संवेग (इमोशंस) भी। अतः ये रूप और भाव, शब्द और अर्थ, बिंब और प्रतीक, भाव और कार्य के द्वंद्व से बंधे हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मिथक-रचना के कुछ सूत्र छुए हैं। वे मिथक को अव्यक्त अनुभूति मानते हैं। जिस तरह भाषा में आदिम तत्त्व संगीत (छन्द) था जो विकसित होते-होते अर्थ हो गया, उसी तरह आदिम वृत्त में मिथक (अव्यक्त अनुभूति) था जो विकसित होकर 'माइथोलॉजी' बन गया जिसका प्रतिफलन चित्र, मूर्ति आदि हैं। आदिम मनुष्य ने सुबह की लाली देखकर 'उश्श्!' की अनुभूति की और वही 'उषा' हो गई। सिंधु से घुमड़ता हुआ एक बादल का सफेद टुकड़ा उठा होगा और मिथक-अनुभूति ने उसे ऐरावत हाथी बना दिया होगा क्योंकि मिथकशास्त्र में यह इन्द्र (मेघों के देवता) का वाहन तथा बादलों का वाहक है। उदासी तथा अकेलेपन में डूबे हुए पाषाणकालीन आदमी ने कोई एक ऐसी इच्छा की होगी जो उसे जल से, थल से, नभ से आज़ाद कर सके। तब उसके सामने सूअर ऐसा जानवर और कछुआ ऐसा जीव था। अतः उसने महावाराह और कच्छप के सादृश्य (एनालोजी) लिये। रूपक-तत्त्व (मेटाफोरिज़्म) के द्वारा उसने रूपांतरण-तत्त्व (मेटामारफिज़्म) का अनुभव किया। अतः वाराह और कच्छप के इर्दगिर्द मिथक कथाएं जुड़ गईं। वे पवित्र और अतिमानवीय और प्रतीक से मंडित होकर 'अवतार' हो गये। आज अर्थ एवं अभिव्यक्ति-प्रधान बौद्धिक भाषा से आदिम मिथक-तत्त्व छूट गये हैं। लेकिन प्रतीकों के रूप में वे बार-बार नया-नया जन्म लेते हैं, नये अर्थ पाते हैं, नये अनुभवों का रहस्योद्घाटन करते हैं। इस रूपांतरण का सूत्र है—रूपक-तत्त्व से रूपांतरण-तत्त्व की ओर प्रयाण। रूपक (मेटाफर) के प्रति मनुष्य का लगाव यही साबित करता है कि जीवन में प्रत्येक वस्तु स्थायी परिवर्तन और पारस्परिक क्रिया की दशा में है। अतः वह रूपांतरित होती है। "रूपक-तत्त्व संबंधवाद की देन है। वह एक ऐसा दर्शन है जो मानता है कि प्रत्येक वस्तु तुलनीय (कम्पेयरेबल) और हर किसी दूसरी वस्तु से विस्थापनीय

* पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, द्वारा आयोजित 'इण्टर-डिसिप्लिनरी सेमिनार' में फरवरी १९६९ को (मानसिक अमल विच परतीक दा कम्) शीर्षक से पठित संलेख।

(रिप्लेसिबिल) है। इस तरह प्रतिस्थापन (सब्स्टीट्यूशन) का सिद्धांत रूपक तत्व तथा तटस्थीकरण की प्रवृत्ति, दोनों के लिए ही आधार देता है।''[1]

: २ :

तो, हम भी, 'साइके' या 'शक्ति' की चितिमय लीला के मिथक के ज़रिये मानवता, मानवजाति तथा मनुष्य के अनुभवों का मंथन कर सकते हैं और इनकी महानीलिमा के अन्तराल से 'प्रतीकों' के सहस्रदल कमलों को निकलते-डूबते पा सकते हैं। 'साइके' या 'शक्ति' मनुष्य की मानसिक दुनिया में इच्छा-क्रिया ज्ञान के जालों को फैलाती तथा बटोरती है। यूनानी मिथक के मुताबिक नीले सिंधु और उज्ज्वल झाग पर तैरकर आई 'अफ्रोदीत' (अदिति ?) महान् देवी थी। वह दैवी मातृशक्ति के रूप में पूजित थी। किन्तु द्यौस के वीर्य से गर्भवती पृथ्वी से 'साइके' (Psyche) उत्पन्न हुई। वह अपने कौमार्य की समस्त शालीनता के साथ द्वितीय वीनस बनी। मानवीय नारीत्व (फ़ेमिनिटी) एवं नारी भावना (वुमेनहुड) के एक क्वाँरे कुसुम के रूप में साइके का अभिषेक हो गया। ईर्ष्या के कारण अफ्रोदीत ने अपने महान् पुत्र देव इरोस (Eros) को यह काम सौंपा कि वह ऐसा विधान रचे कि साइके एक अमानवीय दानव के प्रति प्रणय में फँसे तथा विरह में भस्म हो जाए। इरोस अदृश्य देवता था अनंग की तरह। साइके थी एक सौंदर्यगर्विता देव-मानव किशोरी; लेकिन प्रेम नहीं पा सकी। इरोस उसका अदृश्य पति तथा प्रेमी था। शर्त यही रही कि वह उसे कभी देखने की कोशिश नहीं करे। अतः इरोस अँधेरे में रहा। इस मिथक-कथा में सभी कुछ अर्थ के परे झिलमिला रहा है। साइके एक 'अनाघ्रात पुष्प' है; इरोस से साथ उसका प्रणय निविड़ अन्धकार (अवचेतन) में होता है। साइके अदृश्य देवता और अमानवीय दैत्य के द्वंद्व के बीच में आन्दोलित है; उसमें रूप है किन्तु उसे प्रणय नहीं मिलता··· और···अन्ततः वह मानवीय 'अनादिवासना' या 'रति' ही है। भारतीय मिथकों में शिव और शक्ति की कथा, शिव द्वारा मदन का दहन तथा उसका अनंग हो जाना, काम की रति एवं प्रीति नामक दो पत्नियों का होना भी हमें एक ऐसे ही समानान्तर अनुभव के नज़दीक ले जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मिथकीय चेतना (मिथिक कांशसनेस) हमें मानवीय वैश्वकता (ह्यूमेन यूनिवर्सेलिटी) से जोड़ देती है। इस जोड़ने की प्रक्रिया में मिथकीय नाम या संज्ञाएँ बिंबों की अपेक्षा 'प्रतीक दशा' (सिम्बालिक सिचुएशन) की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। अतः 'प्रतीक' अर्थ के दायरे में नहीं बँधते। या तो वे बड़े होते हैं अथवा छोटे; या वे अतिमानवीय होते हैं अथवा अवमानवीय; या वैयक्तिक होते हैं अथवा सार्वजनीन। ये अर्थ को धुँधला अर्थात् दुहरा-तिहरा कई परतों वाला करके अनुभूति (फ़ीलिंग) और मनोवृत्ति (एटीच्यूड) को भी धारण कर लेते हैं। ये पदार्थ की न तो परिभाषा करते हैं न वर्णन। बल्कि ये धारणा (कांसेप्ट) को अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), वैशिष्ट्य (सिगनीफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) तथा सारूप्य (कोनोटेशन)—ये चार प्रयोजन माने हैं।[2] अतः लैंगर के अनुसार प्रतीक किसी लक्ष्यवस्तु का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि वस्तुओं की धारणा (कांसेप्शन) का ही वाहन होता है। प्रतीक हमें धारणा-बोध तक ले जाता है। उसके बाद हमारी मानसिक अव्यक्त यात्राएँ शुरू होती हैं जहाँ अनुभूति है, अनुभव है, अवचेतन-चेतन है, अस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस) और भाविता (बिकमिंग) है, तथा चितिमय यथार्थता (साइकिक रियलिटी) भी है। कार्ल जुंग के अनुसार प्रतीक तब तक 'जीवंत' (लिविंग) है जब तक उसमें अर्थगर्भ है। यदि उसके तात्पर्य का जन्म उसी में से हुआ है, यदि वास्तविक प्रतीक से उसका तात्पर्य अधिक दिव्य हो गया है, तो प्रतीक मृत है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। तब वह केवल 'संकेत' (Sign) बन गया है।[3] वास्तव में प्रतीक उद्घाटन करता है। उसका रहस्य-द्रष्टा ऋषि स्वयं उसे नहीं जानता। अतः इन्हीं दशाओं में वह अवचेतन तक धँसता चला जाता है और एकबारगी मानवीय चेतना तथा जीवन-चेतना और मानस-चेतना की सृष्टि करता है। यही सम्पूर्णता जैसी संघटना 'चिति' या साइके है। यह मानवीय प्रकृति (नेचर) का, या मानवीय मानस (माइंड) का, अथवा ऐतिहासिक अर्थों में आत्मा (सोल) का नाम भी पा चुकी है। मूलरूपेण यह विशेषतः मानसिक जीवन का सारत्व तथा सिद्धान्त है। यह मानवता तथा मानव जाति, और मनुष्य तथा व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील है। वस्तुतः 'मानस' की धारणा से बहुत व्यापक और महत् धारणा

'चिति' (Psyche) की है। इसमें चेतन और अवचेतन, अस्तित्व और सत्ता, निस्पन्दन और क्रिया, व्यक्ति और मानवता आदि का द्वंद्वात्मक समाहार हो सकता है। अतः हम आगे 'साइके' को चिति तथा 'साइकिक प्रोसेस' को 'चिति-लीला' या 'चिति-प्रक्रिया' कहेंगे। इसे रेखांकित कर लिया जाए।

: ३ :

चिति में कई बिंब बार-बार आया करते हैं जो विश्व में प्रागैतिहास से लेकर आज तथा अभी तक जीवंत बने हुए हैं। वे मानवता के तथा मानव जाति के संचित अनुभव हैं जो बिंब, मिथक, प्रतीक, धारणा के नाम से अभिहित होते हैं। नाना नामों से बारबार आकर वे मेरी, तुम्हारी, हमारी, उसकी तथा मानव जाति की ज़िंदगी में कई अभिप्रायों को पूरा करते हैं। अतः चिति-लीला (साइकिक प्रोसेस) निरंतर गतिशालिनी है, एक स्थायी गति से बँधी है; एक 'शक्ति' या ऊर्जा (एनर्जी) है जो स्व-नियंत्रण भी करती है। प्राचीन रहस्यानुभवों में इसे प्रकाश (चैतन्य) रूप 'परम् शिव' की विमर्ष 'शक्ति' कहा है जो आनन्द, इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक शक्तियों में विभक्त होकर पुरुष को काल (टाइम), नियति (स्पेस), विद्या (नॉलेज), कला (एक्ट) और राग (पैशन) का भौतिक प्रबोध कराती है। तब शिव 'पुरुष' हो जाते हैं, और शक्ति 'प्रकृति' एवं 'माया'। इस तरह शक्ति के स्व-नियंत्रण के द्वारा शिव ही पुरुष हो जाते हैं। उक्त रहस्यवाद में सामाजिक शक्ति की बहुविधि दशा को प्रतीक पुंज में ढाल दिया गया है। चैतन्य शिवतत्त्व को हम मानवता, मानवजाति, मनुष्य तथा व्यक्ति में समाहित कर सकते हैं; चैतन्य शिव की 'चितिशक्ति' को ही साइकिक 'ऊर्जा' मान सकते हैं जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा और आनन्द रूपों में प्रकट होती है और अंततः समाधिस्थ शिव में लीन हो जाती है। अतः उसका प्रकट होकर 'लीला' करना चेतनावस्था, और 'लीन' हो जाना अवचेतन दशा है। इसका सम्बन्ध शिव से भी है, और पुरुष से। यह पुरुष के 'कंचुक' होकर उसको स्व-नियंत्रित करती है। चिति शक्ति की ऐसी स्थापना को जुंग ने एक लैटिन नाम 'लिबीडो' (उच्चारण : 'लि-बीऽऽडो') दिया है। लिबीडो का तात्पर्य 'कांक्षा, कामना, आवेश है। उन्होंने इसे कामना एवं ऊर्जा [या शक्ति (एनर्जी)] के संयुक्त अर्थ में इस्तेमाल किया है।

मध्ययुग में यथार्थता (रियलिटी) का धर्मरहस्य तथा अलौकिक दर्शन से अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) कर दिया जाता था। अतः मध्यकालीन बोध में यथार्थता पवित्र (सेक्रेड) और रहस्यात्मक (अलौकिक) हो जाती है। फलतः हम मानव की सभी क्षमताओं, श्रेष्ठताओं, कामनाओं को एक दिव्य तथा दैवी धारणा को अर्पित तथा उस पर आरोपित कर देते हैं। इस तरह पुरुष शिव हो जाता है। आधुनिक सामाजिक-विज्ञान इसे आत्मनिर्वासन (सेल्फ़ ऐलियेनेशन) की एक स्थिति मानते हैं। कार्ल मार्क्स से पहले फायरबाख ने मनुष्य को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर की धारणाओं का उन्मूलन किया। इसे उन्होंने 'अव-मिथकीयकरण' (डी-माइथोलाइज़ेशन) की प्रक्रिया कहा। फलतः समाजशास्त्र और नृतत्वशात्र (ऐन्थ्रोपोलाजी) में ईश्वर के बजाय मनुष्य की प्रतिष्ठा हुई। हमने भी 'चिति-लीला' की मध्यकालीन धारणा का अवमिथकीयकरण करके मनुष्य के अंतर्लोक तथा मानस के कई आयामों का विश्लेषण किया है। अगर हम मिथक एवं धर्म के बीच स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींच सकते, तो मिथक और प्रतीक के बीच भी फ़र्क करना मुश्किल काम है। लेकिन इससे हम अलबत्ता मानवजाति की एकता, जीवन की चिरंतनता तथा ऐतिहासिक कालों के अनुरूप मनुष्य की चेतना के रूपांतरण के भेद-विभेद अवश्य जान सकते हैं।

शिव और अनंग का द्वंद्व, शिव और शक्ति की समरसता, अर्द्धनारीश्वर का मिथक, प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक प्रक्रिया आदि भारतीय मिथक एवं प्रतीक हैं जो चितिलीला के अनेक कार्यधर्मों का उद्घाटन करते हैं। इस संदर्भ में हम पुनः साइके संबंधी एक दूसरा मिथक पेश करना चाहेंगे। 'डायनोसियाका' (Dionysiaca) में आई एक मिथक में कुमारियों पर फंदे डालने वाली 'आर्तेमिस' और उसकी सहेली 'आउरा' के बीच एक दृश्य का वर्णन है जिसमें आर्तेमिस आउरा के कुचों के गुदगुदे मुलायमपन तथा उसके शरीर की सामान्य स्त्रैणता (फेमिनिटी) की आलोचना करती है। आर्तेमिस के कटाक्ष से आहत आउरा बदला लेने के लिए वनदेवता नेमेसिस (जो बाद में ट्रेजेडी का अधिशासनदेवता हो जाता है) के पास जाती है। नेमेसिस इरोस के साथ षड्यंत्र करके आउरा का कौमार्य भंग करता है। डायोनीसस को इतनी शराब पिलाई जाती है कि मदमत्त होकर वह सोती हुई आउरा के

साथ विश्वासघात करता है। इस मिथक में इरोस की भूमिका बदली है और अफ्रोदीत का स्थान नेमेसिस ले लेता है। किन्तु यहाँ चिति की गहराई में जाने पर हमारे सामने यूनानी राष्ट्र की यौन-संस्कृति का पैटर्न भी उन्मीलित हो जाता है। आर्तेमिस-आउरा-संवाद में यूनानियों की 'समरति' (होमोसेक्सुअलिटी) की मनोवृत्ति का उद्घाटन होता है। उनके आदर्शों में सच्ची क्वाँरी को छोकड़े-जैसा (boyish) होना चाहिए, अर्थात् उसमें मांसपेशियों का उभार तथा पौरुष का संभार होना चाहिए, अर्थात् नारी-शोभा और नारीत्व का निर्धारण सुहागसेज-वाला-कमरा न करके व्यायामशाला (जिमनेशियम) करती थी। तदनुकूल नारी के पयोधरों के सेब-जैसे (apple-like) आकार तथा आकृति का निश्चय समरतिमूलक दृष्टि करती है। यूनानी मिट्टी के बर्तनों पर अंकित कुमारिकाओं के चित्र किशोर बालकों के अनुरूप-से हैं। इसी कथा का डायनीसस-आउरा वाला खण्ड भिन्नरति (हेटरो-सेक्सुअलिटी) का प्रतीक देता है। लेकिन सम्पूर्ण कथा में रति की द्वैतावस्था है। यूनानियों की समरति की दूसरी मिसाल लेस्बोस द्वीप की कवयित्री सेफो की जीवनी है जो कुमारी एत्थिस से प्यार करती थी। अतः मनोविश्लेषण ने 'लेस्बियन-प्रेम' का भी एक भेद स्वीकार किया है।

यहाँ इस मिथक-कथा को हमने इस ढंग से निरूपित किया है कि मिथक ही रूपांतरित होकर प्रतीक-दशा के वृत्त में प्रतीक बन जाता है। यूनानियों के विलक्षण 'सांस्कृतिक पैटर्न' के अन्तर्गत उनकी प्रजाति (रेस) में चितिशक्ति का प्रवाह उक्त मिथकात्मक प्रतीकों द्वारा कार्यवाहित होता रहा है। इस प्रतीक-कृत्य में नीति एवं धर्म के हाशिये विलुप्त कर दिये गए हैं। धर्म के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रतीकीकरण के उदाहरणार्थ शिव-शक्ति और पुरुष-प्रकृति की रूढ़ व्याख्याएँ दी गई थीं। ऐसी स्थिति का चितिमय (साइकिक) अनुभव अन्यथाकृत होकर 'रहस्यवादी अनुभव' हो जाता है। कुल मिलाकर मिथकीय चेतना से ही **जादू, धर्म, दर्शन** और कला के लोक झिलमिलाते चलते हैं। इस तरह मिथक एक ओर चितिशक्ति (साइकिक एनर्जी) के प्रवाह के कुतुबनुमा हैं, दूसरी ओर स्वयं प्रतीक हो जाते हैं, और तीसरी ओर नई-नई वैयक्तिक अनुभूतियों एवं सामाजिक संबंधों से मंडित होकर चेतना का विकास और रूपांतर भी करते हैं। आदिम मानसिक अमल में तो प्रतीकों की बेहद महत्ता थी और आधुनिक मनुष्य के अंतर्लोक में भी प्रतीक उतने ही जीवंत तथा आदिम होकर मौजूद हैं। अलबत्ता वे अवगुंठित हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं अथवा पदावनत हो जाते हैं किन्तु विनष्ट कभी नहीं होते।[४]

इस तरह प्रतीक यथार्थता के उस पहलू—और सबसे गहरे पहलू—का उद्घाटन करते हैं जो ज्ञान के किसी दूजे कम्पास में नहीं नापा जा सकता। इस तरह मिथकावगुंठित प्रतीक हमें मनुष्य के यथावत् स्वरूप की पहचान कराते हैं। ये प्रतीक सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक 'ऐतिहासिक' मनुष्य अपने संग-संग प्रागैतिहासिक मानवता का बहुत-कुछ अधिग्रहण (एडाप्ट) करता है, और ऐतिहासिकता से पलायन करने पर वह पुनः सपनों, दिवास्वप्नों और चिति (psyche) के लोक में खो जाता है। इन दशाओं में मिथकीय अतीत 'आर्केटाइपल प्रतीकों' के रूप में जाग उठता है। चिति की यथार्थता में से प्रतीक कभी भी हमेशा लापता नहीं हो सकता।

दुनिया के सभी इंसानों तथा राष्ट्रों में हम पुनः आर्केटाइपों को नवजीवित तथा पुनरुज्जीवित होते हुए पाते हैं क्योंकि चिति की यथार्थता से प्रतीक का विलयन कभी नहीं होता। अतः आधुनिक मनुष्य भी आर्केटाइपल प्रतीकों का पुनरान्वेषण करता है, क्योंकि ये प्रतीक और मिथक विशिष्ट सामाजिक दशाओं तथा सामाजिक चेतना से मनोजन्म लेते हैं। अतः मनुष्य की चितिलीला (साइकिक प्रोसेज़) में ये उसकी वैयक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय चेतनाओं का भी विकास करते हैं। इन वैश्वक मिथकाच्छादित प्रतीकों के माध्यम से भी हम 'मनुष्य' और 'मानवता' की धारणा की पुष्टि होती पाते हैं जो प्रजाति (रेस) तथा ऐतिहासिक परिवेश के राष्ट्रीय स्वरूपों की विशिष्टता को भी घुला देती है। इस तरह आदिम प्रतीकों के रूप (फार्म्स) तो राष्ट्रीय होते हैं, किन्तु विषयतत्त्व (कान्टेन्ट) वैश्वक या यूनिवर्सल। ऐतिहासिक हो अथवा आधुनिक, मनुष्य की प्रत्येक अस्तित्ववादी (एक्ज़िस्टेंशियल) स्थिति में प्रतीक अनिवार्यतः प्रकट होकर उसे रूपांतरित (मेटामारफोज़) करते हैं। मनुष्य की चिति नितांत तात्कालिक (इमीडियेट) है, अतः यह अतिशय रूप से यथार्थ है, लेकिन अन्तर्मुखी भी है। अतः यह अपने अनुरूप ही बाह्य यथार्थता का अनुभव करती है। इसलिए यह यथार्थता को

झूठा भी कर सकती है और रूपांतरित भी। चिति के ये कार्यधर्म (फ़ंक्शन) प्रतीकों के माध्यम से होते हैं। कभी किसी कार्यधर्म और प्रतीक में परस्पर **आरोप** हो जाता है, तो कभी किसी अनुभव को प्रतीक बना दिया जाता है। हम शंख और सीप और मछली के प्रतीकों का दृष्टांत ले सकते हैं। शंख और मछली, सीप और घोंघे आदि अफ्रोदीत, वीनस, लक्ष्मी, मीनकेतन (कंदर्प) की कथाओं से जुड़कर काम, रति तथा श्री के कार्यधर्मों का वहन करते हैं। एक ओर तो इन वस्तुओं की आकृतियाँ नारी की योनि या पुरुष के लिंग के समान होती हैं, दूसरे ये मिथकीय देवप्रतीक भी काम एवं रति के कार्यधर्मों से संबंधित हैं। इसलिए देवताओं के कार्यधर्म तथा वस्तुओं की आकृति के आरोप से हम प्रजनन और मैथुन की अनुभूतियों का भोग करने लगे। विष्णु के आयुधों में शंख भी एक है; हिन्दू-विवाह के अवसर पर शंखनाद होता है, गर्भवती नारी को देखने पर उन्मत्त काम अर्थात् प्रतीक सर्प अन्धा हो जाता है, इत्यादि। इस तरह प्रतीक कर्मकांड तथा रूढ़ परम्पराओं के कार्यधर्म भी निबाहते हैं। आधुनिक मनुष्य भी संकट के समय प्रतीकों का इस्तेमाल करता है। शत्रु अथवा शत्रुराष्ट्र के संबंध में यह धारणा कि वह राक्षस है और अमंगलों का पुंज है, हमारे देशों में आज तक जीवित है। प्राचीन कालों में शत्रुओं को आसुरी माया से सम्पन्न माना जाता था। इसकी तुलना में अपने राष्ट्र को स्वर्ग, देश को पवित्र, नेता को अवतारी मानने के पीछे भी प्रतीकों का रहस्यात्मक प्रभाव है। अर्न्स्ट कैसीरर ने 'दि मिथ ऑफ़ दि स्टेट' शीर्षक पुस्तक में मनुष्य तथा राष्ट्र के मानसिक अमल में इन राजनीतिक प्रतीकों की भूमिकाओं का निरूपण किया है। विराट् आंदोलन और महत्तम क्रांतियाँ भी प्रतीकों पर आरूढ़ होकर गतिवान होती हैं। रूसो-संमत 'आदिम भोलेपन और प्राकृतिक स्वतंत्रता' से आंदोलित होकर लोगों ने फ्रांसीसी क्रांति की; प्रोमेथियस के चिरंतन विद्रोह के प्रतीक को लेकर मार्क्स ने 'मज़दूर' का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीक प्रसारित किया; एवं साम्राज्यवाद को समाप्त करने के प्रखर संघर्ष के निर्णय को प्रसारित करने के लिए माओ-त्से-तुंग ने साम्राज्यवादियों को 'कागज़ी बाघ' का शानदार प्रतीक दिया। सारांश में, हमारी चितिलीलाओं को उनसे जन्मे प्रतीक अभिव्यक्त करते हैं, और वे (प्रतीक) हमारी चितिलीलाओं का सूत्र-संचालन भी करते हैं। यह दुतरफा कार्य बहिर्मुखी सामाजिक शक्तियों और अन्तर्मुखी वैयक्तिक संकल्पों के सहयोग से ही हो पाता है।

: ४ :

केवल चितिलीला (साइकिक प्रोसेस) या मानसिक अमल के क्षेत्र में प्रतीक मात्र सैद्धांतिक कार्य (एक्शन) कर सकते हैं, न कि व्यावहारिक काम (वर्क)। अतः गतिशील चिति की गति को रूपकों के माध्यम से प्रकाशित किया गया है और उसके कार्यधर्मों को 'शक्ति' (पावर) अथवा 'ऊर्जा' (एनर्जी) कहा गया है। इस 'चितिशक्ति' या 'चितिऊर्जा' को हम सांख्यदर्शन की 'प्रकृति' के साधर्म्य से समझ सकते हैं जहाँ भूत (मैटर) निरंतर तथा स्थायी गति में व्यस्त है। प्रकृति से 'महत्', महत् से 'अहंकार', अहंकार से 'मन', मन से नाना 'इन्द्रियों' का विकास दार्शनिक मनोविज्ञान के द्वारा बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति सृष्टि और प्रलय के ध्रुवांतों में झूलती है: कभी व्यक्त होती है, उन्मीलित होती है; और कभी अव्यक्त और निमीलित। इन विपरीत अवस्थाओं की निरंतर द्वन्द्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) के फलस्वरूप जो नया समन्वय (सिंथीसिस) होता है वह 'प्रतीक' है जिसमें प्रज्ञा (इंट्यूशन) तथा प्रमा (रीज़न) की विलक्षण अशांत संगति है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक जुंग प्रकृति या 'चितिशक्ति' को 'लिबीडो' कहते हैं जो दो विपरीत ध्रुवांतों (पोलारिटीज़) के बीच सतत् प्रवाहित रहता है: ज्वार-भाटे की भाँति। आप चाहें तो उन दो ध्रुवांतों का नामकरण, चेतन-अवचेतन, या इदम्-नैतिक अहं कर सकते हैं। लेकिन ये विपरीत परस्पर विरुद्ध न होकर प्रतिलोम हैं। फिर भी, यह रूपकों द्वारा की गई व्याख्या ही तो है। इवान पावलोव इसे 'प्रथम सांकेतिक व्यवस्था' (फर्स्ट सिग्नल सिस्टम) तथा 'द्वितीय सांकेतिक व्यवस्था' के नाम देते हैं। मार्क्स इसे दो विपरीत वर्गों के बीच का संघर्ष बताते हैं जिसके परिणामस्वरूप 'क्रांति' का आविर्भाव होता है। अथवा वे इसे काम (वर्क) और चिंतन (थिंकिंग) का नाम देंगे जिसके फलस्वरूप प्रकृति का मानवीयकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन ऑफ़ नेचर) करते-करते 'इतिहास' का आविर्भाव होता है; इसे रोमांटिक योहान् वूल्फगांग गोएथे (१७४९—१८३२) इसे तनाव और खिंचाव (स्ट्रेस एंड स्ट्रेन) का नाम देते हैं जिसमें सुन्दर और कुरूप, अँधेरा और उजाला, गम्भीर और

हास्यात्मक आमने-सामने हो आते हैं। स्वयं गोएथे के 'फ़ाउस्ट' की मार्गरेट और हेलेन, तथा रोमांटिक फ्रांसीसी चित्रकार देलाक्रॉ (१७९८—१८६३) ने 'शिओस का कत्ले-आम', 'पागलखाने में टासो', 'लोगों का नेतृत्व करती हुई स्वतंत्रता' जैसे फलकों को चित्रित किया। इससे यह अनुमान पक्का हो जाता है कि विपरीतों (अपोजिट्स) के द्वंद्व के बग़ैर शक्ति या ऊर्जा का आविर्भाव नहीं हो सकता। और, प्रतीक ऊर्जा के इन्हीं ध्रुवांतों, अथवा शक्ति की सृष्टि-प्रलय धाराओं में डूबती-उतराती मणियों जैसे हैं।

कार्ल जुंग लिबीडो अर्थात् प्राकृतिक चिति शक्ति को प्राकृतिक ऊर्जा मानते हैं। यह जीवन के प्रयोजन संपादित करती है। निरंतर प्रवाहित होने के कारण इसकी मात्रा तथा तीव्रता घट या बढ़ सकती है जो दो विपरीत ध्रुवांतों के बीच तनाव की मात्रा के **अनुपात** में होगी। लिबीडो की अतिरिक्त ऊर्जा—जीवन की मूलप्रवृत्ति वाले (इंस्टिंक्टिव) प्रयोजन पूरा करने के बाद—सृजनात्मक कार्यों और सांस्कृतिक प्रयोजनों में इस्तेमाल हो सकती है। जुंग चेतना की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) अग्रगति को 'प्रगमन' (प्रोग्रेशन) तथा अवचेतन की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) पुरोगति को 'अगमन' (रिग्रेशन) कहते हैं। 'प्रतीक' इस ऊर्जा को दिशा (नियंत्रण) तथा अर्थ (अभिव्यक्ति) देते हैं। अगमन में एक स्वप्निल मानसिक दशा रहती है; और इसी दशा में, तथा केवल अवचेतन में ही प्रतीक का जन्म होता है। यह प्रतीक लिबीडो को आकर्षित करता है तथा उसकी दिशा में बंकिमता (कर्व)ला देता है। इस तरह चेतन में सोच-विचारकर प्रतीक नहीं उत्पन्न होता, बल्कि एक उन्मेष या स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अथवा स्वप्न में उन्मीलित हो उठता है। सारांश में, प्रतीक का संबंध वास्तविक वस्तु से न होकर एक चितिमय तथ्य (साइकिक फैक्ट) से होता है। जुंग यह भी कहते हैं कि प्रतीकों के द्वारा लिबीडो का अन्वयन सभ्यता के आरंभ से होता चला आ रहा है। इसलिए प्रतीक कार्य मानवीय स्वभाव का ही अंग है। अपने लम्बे ऐतिहासिक अभ्यास के दौरान मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक ऊर्जा का एक अंश मूल-प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) से विच्छिन्न करके उसे संकल्प (विल) अर्थात् मन के कार्यधर्म से जोड़ दिया है। अतः यह मनस्तात्विक ऊर्जा मूलप्रवृत्त्यात्मक (कालिदासीय 'अबोध-पूर्वस्मृति') उद्गम भी रखती है और वैयक्तिक संकल्पों से अपना अभिषेक करके 'पर्युत्सुकीभावों' से विकल रहती है। इस तरह प्रतीक में व्यक्ति-मन की मौलिक पर्युत्सुकता भी छिपी है जो बहुत गहरे में जाकर मानवीय मूलप्रवृत्ति (अनादि वासना) के विराट् शक्तिपुंज के द्वारा उछाली गई है। किन्तु इसके लिए एक सामाजिक निश्चयता भी है : यह 'मिथ्या चेतना' के द्वारा आत्मनिर्वासन (सेल्फ़-ऐलियेनेशन) में नहीं बिखर पाये।

अगर हम गहराई में जाएँ, तो कार्ल जुंग के इस प्रारूप (माडल) के पीछे सामाजिक विज्ञानों की देन को खोज सकते हैं। सांस्कृतिक प्रयोजनों तथा कलात्मक कार्यों में इस्तेमाल हो सकने वाली 'अतिरिक्त ऊर्जा' की उनकी धारणा मानों कार्ल मार्क्स द्वारा खोजी गई 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वेल्यू) का अंतर्मुखी रूपांतर है। इसी तरह उन्होंने लिबीडो-प्रवाह की कल्पना भी द्वंद्ववाद से ग्रहण की है। प्राचीन यूनानी समाज में संस्कृति और कला के रिनैसाँ की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया था कि वह दासों के श्रम पर आधारित थी ताकि कुलीनों को बेहद अवकाश मिला। ऊर्जा और अवकाश (लेज़र) के ऐसे ही संबंधों को वेब्लेन ने अपने 'अवकाश-भोगी वर्ग के सिद्धांत' में स्पष्ट करते हुए कहा था कि कला एवं संस्कृति अवकाश में जन्म लेती हैं, कर्म में नहीं। अतः उच्चवर्गीय विचारधारा (आइडियोलाजी) का सारा परि-गठन (सुपर स्ट्रक्चर) कर्म और श्रम को हीन तथा अपवित्र तथा अगौरवपूर्ण मानकर विलासपूर्ण अवकाश (लेज़र) में जिस संस्कृति का निर्माण करता है वह सुखमय (प्लेज़र) है। मध्यकालीन विचारधारा ने इस 'सुख' की धारणा के ऊपर इसकी ही 'आनंद' की धारणा का एक अलौकिक एवं आध्या-त्मिक रूप आरोपित कर दिया।

अतएव निष्कर्ष के तौर पर हमें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि हम चितिप्रक्रिया में प्रतीकों के कार्यधर्म की जाँच-पड़ताल करते समय एक ओर तो घोर असामाजिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों से बचें; दूसरी ओर उच्च वर्गों के दृष्टिकोणों को सामान्य जनता तथा मानवता की प्रकृति न मान लें, तथा तीसरी ओर सामाजिक चेतना का बलिदान करते हुए 'मिथ्या चेतना' के आदर्शवादी-अध्यात्मवादी रहस्य-लोक में न खो जाएँ। केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण ही इस विराट् विश्वैतिहासिक फलक को संतुलित रख सकता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि हम अतीत

तथा इतिहास को एक अस्तित्ववादी मनुष्य की तरह नामंजूर कर दें। इसके एवज़ में हमें मानवीय चिति तथा मानवीय समाज के तत्त्वादि परख के बाद ग्रहण कर लेने चाहिए जो मनुष्य के लिए सर्वसामान्य हैं। अतः हमें जुंग की इस स्थापना से असहमत होना चाहिए कि चितिमय यथार्थता के मिथ्या-धर्म भी बराबर महत्त्व के हैं। इसके बाद ही हम प्रतीकों को व्यक्ति-मन तथा सामाजिक चेतना के अक्षों में संचरणशील बना सकते हैं, अन्यथा वे मात्र 'अनिर्वचनीय ख्याति' में भुला दिये जाएँगे। मनुष्य को प्राकृतिक बनाने के कार्य, तथा प्रकृति को मानवीयकृत करने का संघर्ष सदैव ही अन्योन्याश्रित रहा है। अतः सर्जक प्रतीक केवल चितिप्रक्रिया में ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तनों में भी जन्म लेते हैं, तथा उन्हें प्रभावित करते हैं। हमने यहाँ अपने विवेच्य विषय की सीमा और एकांगिता को परिलक्षित किया है।

: ५ :

प्रतीकों में समग्र 'शक्ति' तथा 'अतिरिक्त' ऊर्जा किस प्रकार अभिव्यक्त होती है? इसे समझने के लिए हमें प्रयोगात्मक (एक्सपेरिमेंटल) मनोविज्ञान की दुनिया में जाना होगा। अर्न्स्ट कैसीरर प्रतीकात्मक रूपों (सिम्बालिक फार्म्स) के दायरे में भाषा और मिथक, धर्म और कला को भी शामिल करते हैं। कला के 'प्रतीकात्मक रूप' होने का तात्पर्य यह है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि कलाकार की चितिशक्ति की दिशा और अर्थ का वहन करते हैं; वैयक्तिक शैलियों और मानसिक मौलिकता को विशिष्टता देते हैं; तथा कला के सामाजिक इतिहास में समाज एवं इतिहास का **दर्पण** तथा **दीपक** हो जाते हैं। उपर्युक्त नतीजे अनिवार्य रूप से स्वयंसिद्ध हो जाते हैं। इनसे यह भी उद्घाटित होता है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि भिन्न-भिन्न माध्यमों से आविर्भूत होने वाली सौंदर्यबोधात्मक इकाइयों (एस्थेटिक यूनिट्स) में कोई एकतान-व्यापार भी है। इसलिए शब्द रेखा में, रेखा मुद्रा में, भाव रंग में, मुद्रा शब्द में ढला रूपकत्व भी पा सकती हैं; तथा रूपांतरित भी हो सकती हैं। कलाकारों के स्वभावों, प्रभावों तथा शैलियों को समझने के लिए यह एक बेहद महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कला-इतिहास तथा इतिहास-दर्शन में इस सूत्र से कलाओं के **वर्गीकरण** तथा उनके **अंतर्संबंधों** की छानबीन करने की दिशाएँ भी मिल सकती हैं। एक मूर्ति बनाने में चितिऊर्जा अधिक **समय** तक इस्तेमाल होगी; एक चित्र बनाने में चितिऊर्जा अधिक **स्थान** पर फैलेगी; एक नृत्य करने में अधिक **बल** (पावर) की अपेक्षा रखेगी; एक वेणुगीत रचने में अधिक **तीव्रता** से फूट पड़ेगी; इत्यादि। इस तरह कलारूपों के प्रतीक चितिऊर्जा की दिशाओं की भूलभुलैया रचते हैं। इसके साथ ही वे सभी कलाओं के एकधारा 'अनुभव' ('अर्थ' के बजाय) की एक 'वैश्वक भाषा' (यूनिवर्सल लैंग्वेज) की संभावना को साकार करते हैं। इस तरह साहित्य एवं काव्य के अलावा अन्य सभी कलाओं में अर्थ के सवाल को हल करने वाले प्रतीक ही हैं।

जेस्टाल्टवादी सौंदर्यबोध-शास्त्रियों ने बोत्तिचेली, राफेल, माइकेल एंजिलो आदि के चित्रफलकों की इन्फ्रा-रेड एक्स-किरणों द्वारा रंगीन फिल्में लीं। एक ही चित्रफलक की निरंतर बढ़ती हुई नितांत सूक्ष्म पर्तों वाली रूपरेखाएं उभारने के लिए मिली-माइक्रोन वेवलैंथों (तरंगदैर्घ्यों) का इस्तेमाल करके उसकी चित्रावली तैयार की गई। बोत्तिचेली कृत 'वीनस का जन्म' तथा लियोनार्दो-दविंची कृत 'मोनालिसा' की जो ऐसी क्रमिक गहराई वाली कई प्रतिकृतियां खींची गईं उनके अध्ययन से यह ज्ञात हो गया कि इन चित्रकारों की पहली रूपरेखा क्या थी; आकृतियों में कहाँ-कहाँ तथा कब-कितनी बार परिवर्तन किये गए; कूचियों की छाप लगाने की पद्धति कैसी है; इससे कलाकार की विशिष्ट शैली का आविर्भाव किस तरह हुआ; किन स्थलों पर कलाकार ऊबा है और कहाँ तन्मय हुआ है; कहाँ उसने जल्दी मचाई है और कहाँ वह आलस्य कर गया है; किन अंगों, वस्त्रों, आभूषणों या वस्तुओं में वह मोहासक्त हुआ है; एक खंड को अंकित करने के बाद दूसरा खंड कितनी देर बाद (रेडियो-कार्बन पद्धति के प्रयोग से) उसने अन्य खंड चित्रित किये हैं…। यह ज्ञात हुआ कि बोत्तिचेली ने वीनस की कटि, कुच तथा झूलती-झूमती केशमाला में अठारह-उन्नीस बार परिवर्तन किये हैं; लियोनार्दो की मोनालिसा की मूल छवि दूसरी थी; इत्यादि।[५] कोई विशेष अंग, मुद्रा, रंग, वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार अंकित होने पर यदि एक पैटर्न होकर शैली बनता है तो हर पुनरांकन में चिति की अनुपम अनुभूतियाँ उस वस्तु को प्रतीक-दशा के प्रभामंडल से ज्योतिर्मय कर देती हैं। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान संपूर्णता को

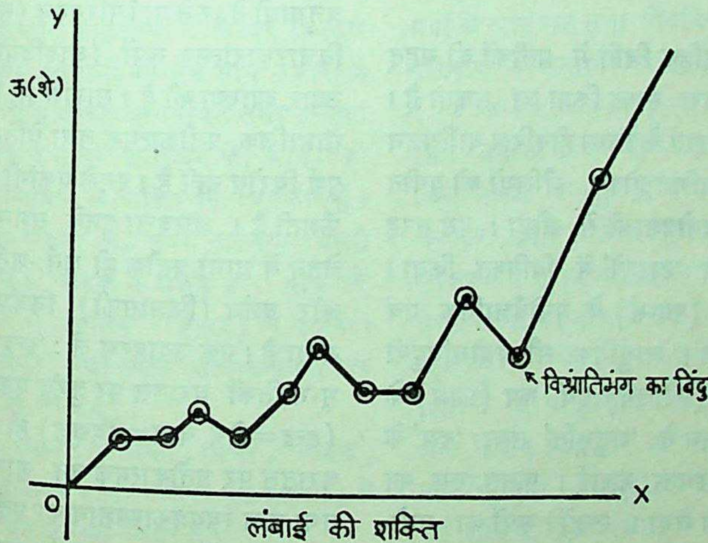
आधार मानकर चलता है। अतः चितिप्रक्रिया में शक्ति या ऊर्जा के विविध रूपों तथा दिशाओं को ग्राफ में बिंदुलित किया जाता है।

किसी एक चरण में सृजन के दौरान मूल शक्ति या प्राकृतिक ऊर्जा 'ऊ' (मू) है, कलाकार की सृजनात्मक ऊर्जा 'ऊ(सृ)' है; और कलाकृति के मुकम्मिल हो जाने पर अवशेष ऊर्जा 'ऊ(शे)' बच जाती है; तब संपूर्ण ऊर्जा को अगर 'ऊ' मानें तो यह स्थिरांक 'K' होती है। इस तरह—

(i) ऊ=K

(ii) ऊ=ऊ(सृ)+ऊ(मू)+ऊ(शे)=K

जिन कृतियों में प्रतीक ऊर्जा-प्रवाहों पर आरूढ़ होकर श्रेष्ठता और मानवचिति का अधिग्रहण कर लेते हैं, उनमें (iii) ऊ(शे) >O होता है। उन कृतियों में ऊ(सृ) क्रमशः घटती जाती है तथा ऊ (मू) बहुत अधिक होती है। जेस्टाल्ट ने ऊ(शे) के आधार पर यह पाया कि प्रतीकों के अर्थ जितने अधिक गहरे तथा व्यापक होते हैं उसी अनुपात से यह ऊ(शे) इच्छाशक्ति की स्थिरता, पाठकों की तृप्ति (रसभोग), प्रतीकों के अर्थगर्भत्व का मानदंड हो जाती है। श्रेष्ठतर दशाओं में ऊ(शे) न्यूनतम होती है; और आदर्श स्थिति में शून्य होती है। इस ऊर्जा-त्रयी से यह भी ज्ञात होता है कि कलाकार किस तरह अधिकाधिक परिष्कार तथा लावण्य के हेतु माध्यम से, और मन से, संघर्षलिप्त रहा है। माइकेल एंजिलो की सृजन-प्रक्रिया तत्स्फूर्त (स्पोंटे-नियस) है और लियोनार्दो की अभ्याससाध्य (पेन-स्टेकिंग)। आमतौर पर इन ऊर्जाओं के अंकन से यह पाया गया कि आरंभ में कलाकारों की ऊर्जा बहुत बिखरी तथा थकी हुई होती है; फिर धीरे-धीरे व्यवस्थित और घनीभूत होती है; तथा अंत में घबराहट कम होती हुई तथा आत्मविश्वास बढ़ता हुआ नज़र आता है। इस तरह प्रतीकों के कार्यधर्म का नक्शा भी खुल जाता है। इसके साथ कला की दैवी प्रेरणा और रस की अलौकिकता के दैवी नकाब भी उतरे आते हैं। ग्राफ़ के X-अक्ष पर लंबाई की शक्ति [चित्र में क्षेत्रफल, काव्य में समय, आदि] को बिंदुलित किया जाता है, तथा Y-अक्ष पर ऊ(शे) अर्थात् श्रम की मात्रा को। शुरू में तो ऊ(शे) बहुत ही नमित होती है किन्तु प्रतीकों के जादू तथा दिशा में बँधकर एकदम ऊँचे उठ जाती है। इस तरह तनाव से उन्मुक्ति होते ही 'विश्रांति (रिपोज) की ऐंद्रिकता' नष्ट हो जाती है। सृजन-प्रक्रिया को वैज्ञानिक भूमिका देने में इस पद्धति का महत्त्व तो स्वयंसिद्ध है ही (दे० संलग्न ग्राफ)—



अब इस फलक का दूसरा पक्ष। एक व्यक्ति की चिति के घेरे में व्यापक समूह, वर्ग, राष्ट्र के व्यापक मानस-वृत्त होते हैं। लेख के शीर्षक की वजह से हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि प्रतीकात्मक अभिव्यंजना किसी वस्तु या कर्म की भौतिक तथा विशेष प्रामाणिकता (वेलिडिटी) को बर्खास्त कर देती है। वास्तव में प्रतीक तो किसी वस्तु या कर्म में एक अतिरिक्त महत्ता भर जोड़ देता है। इस संयोग के बावजूद वस्तु या कर्म की तात्कालिक या 'ऐतिहासिक' महत्ता बरकरार रहती है। हमें 'प्रतीकात्मक' तथा 'ऐतिहासिक' को परस्पर विरुद्ध नहीं मानना चाहिए। ऐतिहासिकता के कारण ही प्रतीकात्मकता को नये-नये हाशिये मिलते हैं, तथा प्रतीकात्मकता इतिहास को वैश्वकता और चिरंतनता प्रदान करती है। इतिहासदर्शन में हम संपूर्ण मानवता, संस्कृतियों, कालों, आन्दोलनों, घटनाओं, चरित्रों तक को प्रतीकीकृत होते हुए पाते हैं। जीवन तथा जगत् के प्रति नये बोध का उन्मेष करने वाली आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ परोक्ष रूप से पुराने बोधों का निमेष कर देती हैं। इटली के रिनैसाँ ने मध्यकालीन दुनिया की आध्यात्मिकता का विलयन कर डाला; गुप्तयुगों की क्लासिकल प्रतीक छवियों ने पूर्ववर्ती भरहुत-साँची के प्राक् (आर्केइक) प्रतीक रूपों को घुलाकर तराश दिया; इत्यादि। हमारी स्थापना यही है कि प्रतीक समूह, वर्ग तथा राष्ट्र की चेतनप्रक्रिया में भी सक्रिय रहते हैं; और अधिक सशक्त तथा प्रकट ढंग से।

प्रजाति या वर्ग की सामूहिक चिति में प्रतीकों की महत् भूमिका को कुछ संकेतों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रिनैसाँ के महान् अध्येता बर्कहार्त के शिष्य हीनरिख वाल्फ़्लिन ने, चित्रकार ड्यूरेर से अनुप्राणित होकर, शैलियों को युगीन चेतनाओं अथवा युग की मनोदशाओं से जोड़ा। इस तरह उन्होंने रूपात्मक शैलियों को 'टाइपों' में विविक्त किया। इसके साथ ही उन्होंने रूपों (फार्म्स) के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय उद्गम खोजे। आधुनिक सौंदर्यबोधविदुषी सुशाने लैंगर ने भी अनुभूति (फ़ीलिंग) एवं रूप (फ़ार्म) के अंतर्संबंध खोजे हैं। वाल्फ़्लिन ने 'अनुभूति' तथा 'रूप' के बीच 'निश्चयता' की मध्यस्थता कराई। फलतः रूप का निर्धारण इतिहास-दशा करने लगा। उन्होंने रूपों का मनोविज्ञान खोजा। रेखा, छवि, भंगिमा, वर्णभंग, प्रकाश-छाया वस्त्रों की चुन्नटों और ज़री की कारीगरी आदि का अनुशीलन करके उन्होंने उन वस्तुओं के अनुभवों की धुंधली छायाएँ बाँधीं। इस उपक्रम में उन्होंने आकृतियों की सरलता और स्वच्छता का, स्वयंप्रकाश्यज्ञान की समृद्धि का, संबंधों की एकता तथा अनिवार्यता का मनोमंथन भी किया। उन्होंने शैलियाँ रूपों की प्रतीक मानीं जो (जुंगीय सादृश्य के अनुरूप ही) छै ध्रुवांत युगलों में प्रवाहित हैं: (क) तकनीकी-वनस्पतीय, (ख) अनुपात कार्यधर्म, (ग) आदर्श-यथार्थ, (घ) स्थिर-गत्यात्मक, (ङ) समीम-असीम और (च) नियमितता-अंतरता। इन सभी के आधार में उन्होंने एक विशेष जीवन की भावदशा (Lebensstimmung) और विश्व-दृष्टि को प्रतिष्ठित किया। आजकल नेत्र, मुख, वेशभूषा, वसन, स्तन, हाथ, मुस्कान, आदि को लेकर ही जो ऐतिहासिक अध्ययन हो रहे हैं उनमें इनसे संबंधित नाना बारीकियां, शैलियाँ, युगबोध, सामाजिक रुचियाँ आदि इन्हें प्रतीक बना देते हैं। तब इनके कार्यधर्म भौतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में भी उद्घाटित हो जाते हैं। आधुनिक समाजशास्त्र के जनक मैक्स वेबर ने शौलियों तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह बताया है कि किस तरह सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में एक ही मिथक अथवा धार्मिक रूढ़ि एक सामाजिक वर्ग में, इसके बाद एक कानूनी व्यवस्था में, एक कलारूप में, एक तर्क व्यवस्था में, एक यौन-नैतिकता आदि में स्थानांतरित हो जाती है। कार्ल मार्क्स के आरंभिक अनुयायी वेबर ने यहाँ परिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) के एकस्तरीय विचारधारात्मक रूपों (आइडियोलाजिकल फार्म्स) की ही उदार व्याख्या की है। सारांश में, चितिमय (साइकिक) तथा सामाजिक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक के बीच असमन्वयपूर्ण विरोध नहीं है। इनके एकांगी ग्रहण के कारण ही गड़बड़ी फैलती है। अलबत्ता इनके समन्वय से रहस्यपूर्ण और अवचेतन में जन्मा प्रतीक ही शनैः-शनैः अन्यापदेश (एलिगरी) और दर्शन (फिलासफी), निजंधर (लीजेंड) आदि बन जाता है। एक उदाहरण लें: 'इन्द्र ने वज्र फेंका'। यह मिथक भू-भौतिकी धरातल पर तुरंत एक सचेतनापरक अन्यापदेश (इन्द्र=मेघ, वज्र=विद्युत) हो जाता है तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतीकात्मक बन जाता है जब इन्द्र चेतना का तथा वज्र स्वयंप्रकाश्यज्ञान का प्रतीक हो जाते हैं। और यही आध्यात्मिक धरातल पर दर्शन बन जाता है जिसके अनुसार माया के पाशों को दिव्य प्रकाश काट देता है। निजंधरों के

रूप में कई सम्राटों ने 'वज्रधारी' की उपाधियाँ धारण कीं, अथवा 'नरेन्द्र' हो गए।

अतः चिति-प्रक्रिया के अंतर्गत भी प्रतीक, चिह्न (साइन), मिथक, अन्यापदेश (एलीगरी), रूपक (मेटाफर), निजंधर (लीजेंड) में रूपान्तरित होकर कार्यरत रहता है। चिति तथा समाज, दोनों ही क्षेत्रों में ध्रुवांतों के बीच प्रवाहित होती हुई शक्ति की धारणा ही केन्द्रीय है।

अब तक हमने जेस्टाल्ट और तदुपरान्त 'सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के अंतर्गत शक्ति की सुव्यवस्था में प्रतीकों का दिग्दर्शन कराया है। अब शक्ति के केन्द्रापसारी (सेंट्रीफुगली) होकर बिखरने की अवस्था में प्रतीक की भूमिका का अध्ययन कर सकते हैं। इसके लिए हम एक लंबी छलाँग लगाकर आधुनिक चित्रकार पैब्लो पिकासो की मिसाल लेंगे। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तीसरे दशक में उन्होंने जिन चित्रों को बनाया उनमें फ्रांसीसी चित्रकार इन्ग्रे, और उसके प्रेरणास्रोत राफेल की क्लासिकल परंपरा के साथ माइकेल-एंजिलो की शिल्पात्मक विलक्षणता का मेल था। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद चौथे दशक में उन्होंने जो चित्र अंकित किए उनमें मुख, भुजाओं और पाँवों के कोण गड्ड-मड्ड कर दिये गये; वे आयामहीन स्थान (स्पेस) में गुड़मुड़ा गये; तथा मानव-शरीर क्षतविक्षत खंड-खंड बना दिया गया। उन्होंने यह अनुभव कराया कि किस सीमा तक कुरूप (अगली) तथा किमाकार (ग्रोटेस्क) मिलकर सुन्दर के पूरक तथा खंडक बनते हैं। उन्होंने आकृतियों में खुरदरे क्रिस्टल की तरह अनेक सतहों तथा आयामों को एक साथ उभारा है जिससे उनकी मूल या अनादि शक्ति अनियंत्रित तथा उन्मुक्त होकर बिखरी। इस तरह वे न तो असौन्दर्य के, और न ही शोभा के चितेरे हैं। वास्तव में वे 'शक्ति' के चित्रकार हैं। इसी तरह मार्क चागल 'स्वप्न' के, तथा साल्वेदोर डाली 'फान्तासी' के चित्रकार हैं। चागल में शैशव और यौवन के भोले प्रतीक हैं, तो डाली में 'आतंक' (हारर) के प्रतीक। 'असौन्दर्य' के अलावा 'घृणा', तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप और शर्म वाले प्रतीक-बिंब भी उभरे।

इस भाँति 'शक्ति', 'स्वप्न', 'भोलेपन', 'घृणा', 'आतंक', आदि की भी प्रतीक-दशाओं (सिम्बालिक सिचुएशंस) ने आधुनिक चिति-प्रक्रिया को अन्वित किया है।

: ६ :

लेकिन ऊपर संकेत की गई प्रतीक-दशाओं में बेहद निजता (प्राइवेसी) के आने की सम्भावना है; और वह आई भी। फलतः 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' (पर्सनल सिम्बालिज्म) का फैलाव हुआ। अब सामाजिक शक्ति या चिति-ऊर्जा के आधार तिरोहित होने लगे। अतः अर्थ-भ्रान्तियाँ (एंबिग्वि-टीज़), विभ्रान्तियाँ (कन्फ्यूज़न्स), वैयक्तिक संदर्भ, आदि प्रतीकों के कार्यधर्म को स्तब्ध और अनुमानविहीन बनाने लगे। किन्तु ऋणक 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' का एक धनक (पाज़िटिव) पहलू भी है। यह अभिव्यंजना की नई संभावनाओं, नये रूपकात्मक सम्बन्धों, विलक्षण अलंकारों, अनुभूति की बारीकियों और रूप के प्रयोगों आदि के द्वार भी खोल देता है। इस तरह से यह चेतनता के विकास के एक अगले कदम का भी प्रतिनिधि होता है। इसके साथ ही यह पहलू कलाकार के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का उन्मीलन भी करता है। रिनैसाँ चित्रकार लियोनार्दो (१४५२—१५१६) का लालन-पालन दो माताओं ने किया था। अतः उनके चित्रों में शिशु-ईसा दो माताओं से घिरे हुए अंकित हुए हैं; टिशियाँ द्वारा अंकित देवियों के बाद रूबेंस ने जिन आभिजात्य नारियों को अंकित किया उनमें विलासमय मांसलता, शरीर में थुल-थुलापन, त्वचा में चिकनाहट लक्षित होती है। उन चित्रों में शिशु-देवदूतों की संख्या भी बढ़ गई है। कारण, कि रूबेंस (१५७७—१६४०) के समय में और उनके परिवार में उच्च-वर्गों के खानपान तथा भोगविलास में इज़ाफ़ा हुआ था तथा परिवारों में सन्तानों की संख्या भी बढ़ गई थी। बोत्तिचेली (१४४४-१५१०) ने सन् १४८५ में 'वीनस का जन्म' शीर्षक चित्र बनाया। उसकी विचार-वस्तु (थीम) तो यूनानी है किन्तु उसके उपचार में मध्यकालीन ईसाइयत की वर्जनाएँ घर कर गई हैं। अतः 'मूल पाप' की ईसाई-धारणा के फल-स्वरूप शर्म तथा अशोभनता को व्यक्त करने के लिए उसने अपने स्तनों को हाथ से ढँक लिया है। बोत्तिचेली का मानस खुद भी तो रिनैसाँ के नव्य-पेगनवाद तथा मध्यकालीन ईसा-इयत के बीच द्विधाविभक्त रहा था। पिछली शताब्दी के अन्त में जब चित्रकार आगस्त रेनोआ (१८४१—१९१९) की अँगुलियाँ आर्थाइटिस रोग के कारण लुन्ज-पुन्ज हो गईं और वे कूची पकड़ने में भी असमर्थ हो गए, तब उन्होंने शरीर की पूर्णता, ऐंद्रिकता और स्वास्थ्य के प्रतीक रूप में

नग्न रमणियों के अनूठ अंकन किये। यही नहीं, इसके बाद से उनके फलकों पर सिंदूरी, लाल और गुलाबी जैसे 'गरम' प्रभाव वाले रंगों की प्रचुरता भी हो गई। पाल गोग़े (१८४८—१९०३) ने (सन् १८९१ में ताहिती जाने के बाद से) अपने चित्रों में प्रतीकात्मक तत्त्वों की भरमार कर दी जिनमें पवित्रता और भोग, भोलेपन और गम्भीरता के नाटकीय द्वन्द्व उभरे हैं। वान गोग़ (१८५३—९०) ने तो अपने रंगों में ही अर्थ तथा विद्युत्तरंगों की अनुभूति की। अतः उनके कैनवास का कोना-कोना आन्तरिक पर्युत्सुकता से छटपटाता मिलता है।···इस तरह हम 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' के उदाहरणों को बढ़ाते जा सकते हैं। लेकिन चिति-प्रक्रिया में प्रतीकीकरण के अनुशीलन पर नीचे दी हुई सम्भावनाएँ ही अनुमित होती हैं: (१) **सारूप्य तुलना** (जैसे चन्द्रमा और सोम, सूर्य और अग्नि); (२) **बहिर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, हृदय जुड़ाने वाला चन्द्रमा); (३) **अन्तर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, गौ और पृथ्वी, मादकता और अंगूर, पयोधर और स्तन); (४) **साधर्म्य तुलना** (जैसे, वियतकांग छापामार शेर की तरह बहादुर और मछली की तरह फुर्तीले हैं)।[६] इस भाँति कम-से-कम चिति-प्रक्रिया में प्रतीक के कार्यधर्मों के उपयुक्त स्तर तथा विधियाँ हैं। इनमें हम रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक और बिम्ब के रूप में भी प्रतीक को रूपान्तरित होते हुए पाते हैं। प्रतीकों की गम्यता का मूल, अनादि रास्ता यही है कि हम 'रूपकात्मक तुलना' (मेटाफोरिक कंपेरीज़न) की क्रीड़ा या स्वप्न या क्रिया में संलग्न हो जाएँ। अतएव चिति-प्रक्रिया में ऊर्जा जिस यथार्थता का अधिग्रहण करती है वह ज्ञानेन्द्रियों एवं मनस् को, प्रतीकों के माध्यम से, अनुभूत तथा अनुमित होती है। अनुभूति की तीव्रता तथा अनुमान के लक्षणों के अनुसार ही प्रतीकपुंज रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक, दिवास्वप्नबिंब आदि हो जाया करता है। इसलिए प्रतीक अकेला न होकर 'प्रतीकपुंज' या 'प्रतीक-स्तवक' के रूप में शृंखलाकार उपलब्ध हो जाता है क्योंकि इस पुंज या स्तबक में अभी बताये गए प्रतीकों के 'प्रकार' तथा 'तुलनाओं' के भेद भी गुँथे हैं। शायद इसीलिए सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), अहमियत (सिगनिफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) और सारूप्य (कोनोटेशन) के चार प्रयोजन संश्लिष्ट किये।

: ७ :

किसी भी 'प्रक्रिया' की तरह चिति-प्रक्रिया (साइकिक प्रोसेस) में भी अपूर्णता तथा निरन्तरता और माध्यम तथा कर्म की आवश्यकता रहती है। तदुपरान्त 'कृत्य' या 'कृति' या 'रचना' पूर्ण होती है। इसलिए प्रक्रिया के दौरान चिति-वृद्धि (साइकिक ग्रोथ) के कई स्तर (levels) उभरते हैं। अब एक ओर तो सामाजिक विकास तथा परिवर्तन होता है, दूसरी ओर मनुष्य का विकास तथा परिवर्द्धन होता है। अतः सही हालत तो द्वंद्वन्याय और पूरकन्याय के द्वारा दोनों पहलुओं के सामंजस्य से हासिल होगी। चिति-प्रक्रिया के प्रकार (स्वप्न, मिथक, अन्यापदेश, रूपक, अलंकार, फान्तासी) भले न बदलें किन्तु इनके वाहक और संचालक प्रतीक अवश्य बदल जाते हैं क्योंकि प्रतीकीकरण में तुलनाओं के लिए आर्थिक एवं सामाजिक उन्नतियाँ, नई-नई वस्तुएँ तथा परिवर्तित सम्बन्ध प्रदान करती हैं। कुषाण शुंगकालीन भरहुत की यक्षिणी-मूर्ति और गुप्तकालीन दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति की तुलना करने पर चिति-वृद्धि के नए स्तर भी मिलते हैं। इन दो मूर्तियों के शिल्पन के बीच के समय में केवल तकनीकी कौशल में ही तरक्की नहीं हुई, बल्कि पुनःप्रस्तुत (रिप्रेज़ेंटेशनल) **प्रतीकों** में ही परिवर्तन हो गया। तैलरंगों के आविष्कार के दौर में बोत्तिचेली तथा टिशियां के समय के बीच यूँ तो केवल अस्सी वर्षों का ही अन्तर है लेकिन वहाँ भी संवर्द्धित कौशल और तदनुरूप अपेक्षित कुशलतर प्रतीकायन साफ़ तौर पर लक्षित होता है। अतः सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के नए-नए वातावरणों में ही मानवीय अस्तित्व चेतनता का निर्धारण करता है। फलतः आवश्यकताओं का बोध ही **मौलिकता, वैयक्तिकता** तथा **स्वतन्त्रता** की त्रयी को उद्धारित (ऊपर उठाता) करता है। जो मनुष्य इस उद्धार का अनुभव करके अभिव्यक्त भी कर पाते हैं उनमें 'वैयक्तिकरण' (इंडिविजुएशन) का अभिधान होता है। इस तरह **वैयक्तिकरण के द्वारा ही चिति-वृद्धि होती है।** इसके अलावा एक शिशु से प्रौढ़ के रूप में विकासशील मनुष्य की चिति-वृद्धि के भी उत्तरोत्तर स्तर होते हैं। अतः हम चिति को अकेला करने पर व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद तथा नव्य रहस्यवाद के शिकार हो जाएँगे।

चिति (साइके) के कम्पास में इच्छा, कल्पना, स्मृति, संकल्प, ज्ञान, संस्कार, वृत्ति, वासना, बुद्धि, मन, अहंकार,

चित्त, चैतन्य, अनुभूति, अनुभव, इंद्रियबोध, स्वयंप्रकाश्यज्ञान (प्रज्ञा) आदि आते हैं। इनका ही योगायोग 'व्यक्तित्व' (पर्सनालिटी) तथा 'प्रारूप' (टाइप) का विभेद करता है। हम इनमें से एक तत्त्व या कुछ तत्त्वों को प्राथमिकता देते हैं। उसके आधार पर मानवीय व्यवहारों (विहेवियर) का वर्गीकरण होता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की चिति आदिम तथा शैशवावस्था से विकसित होती है। पहले चरण का प्रतिनिधित्व बच्चों के चितारहित खेल; दूसरे का आरम्भिक किशोरावस्था या 'यौगंडावस्था' के दुस्साहसिक रोमांच; तथा तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व यौवनावस्था के आत्मोत्सर्ग एवं आदर्शवाद करते हैं।[७] इस भाँति एक अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ व्यक्तित्व का आविर्भाव शनैः-शनैः और चरणों में ही होता है। चिति-वृद्धि की अन्तर्दिशा का एक यह ऐसा भी प्रारूप (मॉडल) मुमकिन है। जिस तरह सांख्य दर्शन में 'अन्तःकरण' की धारणा है उसी तरह जुंग-सम्मत 'चिति' है। अन्तःकरण में बुद्धि, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ शामिल हैं। चिति के केन्द्र में 'स्व' (सेल्फ) है जो अन्वेषी, संगठक और स्रोत है। 'स्व' तभी स्पन्दित या सक्रिय होता है जब अहं (ईगो) प्रयोजनों एवं इच्छाओं से विमुक्त होकर गहराई में डूबे। यूँ अहं चेतन के क्षेत्र में ही व्यस्त रहता है लेकिन नीचे उतरने पर उसका 'इदं' रूप स्व को स्पन्दित कर देता है। यूँ मालूम पड़ता है कि जुंग चिति-प्रक्रिया में प्रयोजनों तथा चेतनता को निर्णायक भूमिका नहीं देना चाहते। वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद (साइको-ऐनालासिस) में 'इंद' के अनुशीलन को ही सर्वोच्च दर्जा दिया गया है। फ्रायड ने इदं-चक्र में ऊर्जा को प्रवाहित होती हुई तथा तत्काल कार्य प्रस्तुत माना है। इसकी तुलना में वे इदं-चक्र में ऊर्जा को बन्दिनी तथा अहं की आश्रिता मानते हैं। इस तरह चिति में दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं और ऊर्जा इन दो चिति-स्तरों में आरोहण-अवरोहण करती है। कला के प्रतीक इंदचक्र से उछलकर अहं-चक्र में सक्रिय हो जाते हैं। इस तरह कलाप्रतीकों का एक प्रमुख कार्यधर्म उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है। कला प्रतीकों का एक दूसरा कार्यधर्म नाटक जैसे कलारूपों में 'कलात्मक भ्रान्ति' (इल्यूज़न) तथा काव्य जैसे कलारूपों में 'अर्थभ्रांति' (एंबिग्विटी) उत्पन्न करना है। इन भ्रान्तियों के निराकरण के क्रम में ही प्रतीक, रूपक, अलंकार, मुद्रा, अभिनय, साधारणीकरण, स्वप्न, आभास, अन्यापदेश, अनुमान, फान्तासी आदि के संसारों के ताने-बाने झिलमिलाते हैं। चिति-प्रक्रिया में प्रतीकों की तीसरी भूमिका क्रीड़ा से आनन्द अथवा कर्म की ओर प्रयाण है। सामाजिक-जीवन में प्रतीक राजनैतिक आन्दोलनों, नैतिक आचरणों, धार्मिक कर्मकांडों आदि को प्रेरित करते हैं, लेकिन कला के संसार में वे आनन्द की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में अदल-बदल और इस प्रक्रिया में प्रतीकों की भूमिका पर हमने संक्षिप्त विचार किया है। किन्तु कलाकार और सहृदयवृन्द प्रसंग में चिति-स्तरों में अदल-बदल के दूसरे ही आयाम खुल पड़ते हैं।

कलाकार-पक्ष से ललित सृजन में अहं के कार्यधर्मों को विश्रांति (रिलेक्सेसन) मिलती है जो कि अगमन (रिग्रेशन) या लिबीडो के अंतर्मुखी होने का ही एक रूप है। अतः कला में 'विश्रांत अगमन' की जो दशा होती है वह प्रयोजनपूर्ण तथा नियंत्रित भी होती है। इसके मुकाबले में फान्तासी और स्वप्न में बाह्य अंकुशों से सर्वतंत्र स्वतंत्रता होती है। इस भाँति हम 'कार्यधर्मी (फंक्शनल) अगमन' और नियंत्रण का सह-अस्तित्व पाते हैं। जब अगमन बहुत दूर तक हो जाता है तब प्रतीक वैयक्तिक (प्राइवेट) हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे स्वयं की भी चिंतनदशा में अबोधगम्य हो जाते हैं। अगर नियंत्रण अत्यधिक हो जाता है, तब भी नतीजा प्रेरणा-शून्य, भावशून्य और घिसा-पिटा होता है।[८] इसलिए अगमन और नियंत्रण की दशा में, तथा इनके सामंजस्य में, चिति-स्तरों में अदल-बदल होती है। इन विभिन्न चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में प्रतीकों की धार्य ऊर्जा की मात्रा, दिशा तथा गुण में विवर्तन होता है।

सहृदयवृन्द (आडियेंस) के मामले में एक दूसरे तरह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घटती है। यह एक साथ सामूहिक एवं वैयक्तिक भी है। सहृदयवृन्द अवचेतन ढंग से कलाकार के साथ तादात्म्य (आइडेंटिफ़िकेशन) करता है। सहृदयवृन्द पक्ष में चिति-स्तरों में अदल-बदल प्रतीपक्रम से होती है। इसकी शुरुआत चेतनता से होती है तथा परिणति इदं में। सहृदयवृन्द अनुभव, ज्ञान एवं रुचियों का कलाकार से **तादात्म्य** तथा **साँझा** करता है। अतः आदर्श स्थिति में कारयित्री और भावयित्री अनुभवों में सरसता हो जाती है। सापेक्ष्य दशाओं में, रचना-प्रक्रिया की भाँति, ग्राहकता में भी 'जब नियंत्रण बहुत अधिक होता है तब परिणाम पुनर्रचना (रिक्रिएशन)

न होकर पुर्नविन्यास (रिकांस्ट्रक्शन) होता है अर्थात् अनुभव बौद्धिकताविधेन (इंटेलेक्चुआलाइज़्ड) हो जाता है। ऐसे में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिक्रिया आलोचना तथा इतिहासवाद में बौद्धिकीकृत हो जाती है।...और जब अगमन बहुत दूर तक होता है तब चिति-स्तर में अनुभव आशंसा (एप्रिशियेशन) वाला न होकर भोग (एंज्वायमेंट) प्रधान होता है। ऐसी दशा में अर्थ प्रक्षेपित (प्रोजेक्टिव) होते हैं।[६] उपर्युक्त चिति-स्तरों में हम प्रतीकात्मक प्रतिबोध को सौंदर्यतात्विक नहीं कह सकते, अगर चिति-स्तर में अदलबदल के साथ-साथ चितिमूलक या 'मनस्तात्विक दूरी' (साइकिकल डिस्टेंस) न हो। इस अवस्था पर एडवर्ड बुलो ने सबसे पहले विचार किया था। इस दूरी पर सभी सांस्कृतिक जेस्टाल्टों में विवेचन हुआ है: यूनानियों में 'कैथार्सिस', भारतीयों में 'साधारणीकरण', पाश्चात्यों में 'डिपर्सनलाइज़ेशन' के रूपों में। इन सभी में केन्द्रीय बात यही है कि अभिनेता या पात्र, या अर्थ के प्रतीक के संचरण की स्थिति में चिति-स्तर में अदल-बदल हो जाती है जिसकी वजह से सक्रियता से निष्क्रियता, व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक फिर भाववाचक संज्ञा की ओर उन्मुख होना प्रधान है। एक अन्य दृष्टिकोण से चिति (साइके) तथा मनोविज्ञान (साइकोलाजी) के अनुशीलन का भेद किया जा सकता है।

चिति मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड को संबंधित करनेवाली लीलाशक्ति है। चिति **मानवीय प्रकृति** का उद्‌घाटन करती है। किन्तु विडंबना यह है कि इसे मनोरोगचिकित्सकों (साइकियाट्रिस्ट) की ऑपरेशन-मेज़ पर लिटा दिया गया है। वास्तव में चिति मनोसौंदर्यात्मक मिथक धारणा है। यह मनुष्य की इच्छाओं, इच्छापूर्तियों, आदिम अभिज्ञानों तथा सहज आवेशों की कलियों को खोलती है लेकिन फ्रायड ने इसे **'दमित अवचेतन'** के द्वारा समझाने का वितंडावाद खड़ा किया। चिति को **'प्रतीकित स्वप्नों'** द्वारा समझने-संवेदने की बात ज्यादा संगत है। यह बात अंतर्साक्षी सामाजिक यथार्थता के संज्ञान से भी जुड़ी है। अतः चिति का मशीनी बहिष्कार कदापि नहीं होना चाहिए।

मनोविज्ञान ने, चिति के बजाय चेतना को केन्द्र में गर्भित करके, स्वयं से चिति को अलग करने का विभ्रम फैलाया है। मनोविज्ञान में चितिमूलक मानवीय प्रकृति के बजाय **मानवीय व्यक्तित्व** को प्रधानता मिली। यह सही है। किन्तु मानवीय व्यक्तित्व को प्रधानतः **स्नायुमंडल** के प्रसंग में ही रखा गया। नये मनोवैज्ञानिक **कंडीशंड रिफलेक्स** को भी शामिल करने की अनबन कोशिशें करते हैं। अलबत्ता प्रत्यक्षीकरण तथा शिक्षण (पर्सेप्शन एंड लर्निंग) के क्षेत्र में मनोविज्ञान की खोजें समन्वयात्मक हैं।

अतएव चिति-लीला के प्रकाशन के लिए हमें अकेले **स्वप्न** तथा **अवचेतन** के अमूर्त विन्दुओं को ही नहीं, बल्कि स्नायुमंडल और प्रत्यक्षीकरण के चक्रों को भी अंगीकार करना होगा। अतएव मनोरोग-चिकित्सकों के 'चिति के आधुनिक धन्वन्तरि' होने के दावे हमें कैसे मंजूर हों? हम तो 'चिति के हमदम और दोस्त' होने की बातें करते हैं। इस भूमिका में हम विचारधारक तथा सामाजिक सौंदर्यवेत्ता हैं। अतः **प्रतीक** (सिम्बल) तथा **विचार** (आइडिया)—ये ही चिति के दो आकर्णलोचन हैं।

: ८ :

जिस तरह कोई हरसिंगार का वृक्ष अपने फूल उगाता-खिलाता है, उसी तरह चिति (psyche) अपने प्रतीकों की सिरजना करती है। लेकिन वृक्ष की जड़ों की तरह चिति का आधार भी मानवशरीर, मस्तिष्क (ब्रेन), भौतिक जगत्, पदार्थ है जो मात्रा से गुण में रूपांतरित होता है। सामाजिक जीवन की बुनियाद के बिना चिति-प्रक्रिया की बात ज्यादा सार्थक नहीं है; तथा व्यावहारिक कर्म के बिना प्रतीकों के कार्यधर्म का अनुमान वेहद अधूरा, ग़लत और एकांगी है। प्रतीकों का उद्‌भव चिति द्वारा होता है; चिति भौतिक मानव-मस्तिष्क की चेतना का धर्म है; मानव-अस्तित्व इस चेतना का निश्चय करता है; तथा यह चेतना आर्थिक संबंधों, श्रम के विभाजन, सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए असली चुनौती तो यह है कि सही विचार और जीवंत प्रतीक कहाँ से आते हैं? वे दोनों एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से उपजते हैं न कि अकेले रहस्यात्मक इदं से। सर्वप्रथम सारा ज्ञान प्रत्यक्ष (पर्सेप्चुअल) होता है। तब वह छलांग लगाकर अवधारणात्मक (कांसेप्चुअल) अर्थात् विचार (आइडिया) बनता है। अतः अवधारणा में प्रत्यक्षीकृत ज्ञान का केन्द्रीभवन होता है। इसके बाद नाना व्यवहारों (प्रेक्टिसेज़) की कसौटी पर विचारों की परख होती है। तब विचार ही कार्य (ऐक्शन) तथा प्रतीक (सिम्बल) के युगल बनते हैं।

अतः ज्ञान के विचार, प्रतीक तथा व्यवहार जैसे स्वरूप प्रति-विवात्मक हैं अर्थात् इस व्यापार में अस्तित्व से सत्ता, भूत से चेतना, मात्रा से गुण में रूपांतर (मेटामार्फोसिस) होता है। इस प्रक्रिया में प्रतीक सेतु का कार्यधर्म निबाहता है। अतएव हमारे मत से निर्धारित विषय अधूरा तथा एकांगी है। इसके दूसरे खंड 'सामाजिक जीवन में कर्म के प्रतीक धर्म' का भी होना लाज़िमी है। अंततः यह मूल सवाल बाकी ही रह जाता है : "कहाँ से सही विचार और प्रगति-धर्मा प्रतीक आते हैं ?" हमराहियो, यही अगली तथा असली चुनौती है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'Mannerism', Vol I, Arnold Hauser, pp. 295.
२. दे० 'Problems of Aesthetics', pp. 219-225.
३. दे० 'Psychological Types', pp 602.
४. दे० 'Images & Symbols', Mircea Eliade, pp. 9-12.
५. 'Aesthetics and the Gestalt', Ian Rawlinson.
६. दे० कार्ल जुंग : 'Symbols of Transformations.'
७. C. G. Jung : 'Man and His Symbols' pp. 160.
८. 'Psychoanalytic Explorations in Art', Erntst Kris, pp. 254.
९. Ibid p. 256.

एक चीज़ के लिए

विष्णु खरे

प्रत्येक पुरागाथा-स्थिति में मैंने अपनी कल्पना की है
शुरुआत में सब-कुछ ठीक रहता है
फिर जब मैं अमर्ष में भरकर अपना माथा झटकता हूँ
तो फूटे अलूमीनियम की ठनठनाहट के साथ
मेरा मुकुट विग को लिए-दिए भरी सभा में गिरता है
मेरे आदेश पर पहरेदार एक-दूसरे की तरफ देखते हुए
नाक छिनकने लगते हैं या पेशाब करने चले जाते हैं
और जिरहबख़्तर के नीचे अण्डकोष पर चलती हुई चींटी को
राजमहिलाओं की उपस्थिति में न मसलने को मजबूर
एक जाँघ को दूसरी पर रखते हुए मैं
अपने मालिशवाले की सेवाओं का स्मरण करता हूँ
जो मेरे अन्दर तक के दुखः-सुख का साथी है

बतलाओ क्या हो जाता है
बलवे राज्यक्रांति और सत्ता-परिवर्त्तन के बाद
मैं पूछता हूँ राजचित्रकार द्वारा 'उकेरे गए' उस युवा अक्स से
उकड़ूँ बैठने से क्यों फूहड़ हो जाते हैं परिधान
क्यों टूट जाती हैं ध्वजाएँ इरादों की
एक धोखे से दूसरे धोखे के बीचवाले अन्तराल में
लोग क्यों इस तरह लोमहर्षित होते हैं और सरासर आमन्त्रित करते हैं
और फिर वही माँगते हैं एक नया सिर और आदर्श वाक्य
सभासद क्यों बैठते हैं दीवार से लगी अँधेरी कुर्सियों पर
कौन ऐन मौके पर काट देता है तार लाउड-स्पीकरों के
मेरे चेहरे वाले डाक-टिकट क्यों नहीं चिपकाते बच्चे अब कापियों में
हथेली पर घिसकर मेरे सिक्कों को बस कंडक्टर क्यों लौटाता है
क्या इसी तरह लौटा जा सकता है समय में
एक निरन्तर प्रचलित क्षण बन सकने के लिए
इतिहास में या तो सतृष्ण मृत्यु है या विस्फारित हत्याकांड
मैं नहीं चाहता अब उठाईगीर के बाद व्यवस्थापक रहना—
किन्तु गैलरी में महिलाएँ आँखों पर रूमाल ढँके हुए
प्रतीक्षा में हैं कि ठहरा हुआ हाथ नीचे आए
और कुछ नया हो
उनके ऋतुमती होने से पहले

उस और इस क्षण के बीच सिर्फ स्मरण ही कर सकता हूँ

जब एक चीज़ के लिए मेरा सब नहीं छीना
गया था—

रंग देखने के लिए आँखें
धरती के घूमने और घूमने के बीच की गन्ध
और औरत के साथ सोने की स्वस्थ इच्छा
दूसरे चेहरों के पसीने को अपने हाथ के विरल
बालों में
और मसूढ़ों से दबाये गए अँगूठे को महसूस
करते हुए
मैं रोज़ जाता था
एक व्याख्याहीन पशु को लड़ाई की अगली
किस्त चुकाने
झाड़फानूस के नीचे पदचापों के दु:स्वप्न देखना
तब तक मेरा व्यवसाय नहीं बना था।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी

विष्णुकान्त शास्त्री

अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य की परीक्षा, समीक्षा और चर्चा पंडित, समीक्षक और पत्रकार तीनों करते हैं। जिस प्रकार तीनों की दृष्टियाँ अलग-अलग होती हैं, उसी प्रकार उपलब्धियाँ भी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपने साहित्यिक जीवन के एक दौर में पत्रकार भी थे और एक दौर में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष भी (जो पद मुख्यतः पांडित्य की ही अपेक्षा करता है) किन्तु वे मूलतः समीक्षक ही थे, पत्रकार और पंडित नहीं। उनके कर्त्तृत्व को ठीक-ठीक समझने के लिए इन तीनों की भूमिकाओं का किंचित् विश्लेषण करना लाभदायक होगा।

पंडित किसी रचना की सृजन-प्रेरणा के ऐतिहासिक कारणों की जाँच करता है, उसके मूल उपादानों की छानवीन करता है, प्रायः परम्परागत रूप से स्वीकृत प्रतिमानों के आधार पर उसका शास्त्रीय अध्ययन करता है, उसके पाठालोचन या भाषावैज्ञानिक विवेचन में प्रवृत्त होता है, परवर्त्ती साहित्य पर पड़े उसके प्रभाव का निर्धारण करता है, किन्तु जैसा कि प्रायः देखा गया है कि अपने तमाम शुष्क, ज्ञानपूर्ण अनुशीलन के बावजूद उस रचना के सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर पाता, उसकी मार्मिकता का रसास्वादन नहीं करा पाता। दूसरी तरफ पत्रकार किसी रचना की चलती-सी चर्चा स्थूल, सामयिक दृष्टि से कर लेता है, अपनी सतही समझदारी के बलबूते पर उसके सम्बन्ध में अनुकूल-प्रतिकूल फतवे देकर विवाद खड़ा कर पाने में चरितार्थता का अनुभव करता है। हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो पहली कोटि के अन्तर्गत आते हैं, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि और दूसरी कोटि के अन्तर्गत पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि। इन कोटियों से भिन्न कोटि होती है समीक्षक की, जो शुष्क गवेषणा और सनसनीखेज फिकरेबाज़ी दोनों से बचकर रचना के मर्म में प्रवेश करता है, उसकी कलात्मक सुन्दरता का, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतिपादन करता है, उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का, रस का आस्वादन करता-कराता है, जीवन को गति देनेवाली उसकी शक्ति का मूल्यांकन करता है, उसे व्यापक सन्दर्भ में रखकर उसके महत्त्व का निरूपण करता है। उसमें पंडित के ज्ञान और पत्रकार की प्रभविष्णुता का भी अन्तर्भाव रहता है, किन्तु सीमा के रूप में नहीं, गरिमा के रूप में। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ऐसे ही सुधी समीक्षक थे।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि वाजपेयीजी को 'पंडित' से पृथक् कोटि का मानना उनकी विद्वत्ता पर शंका करना नहीं है। निश्चय ही वे गंभीर विद्वान् तथा पूर्व और पश्चिम के साहित्य एवं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। हमारा अभिप्राय यही है कि वे पुरातात्त्विकता और शास्त्रीयता के खूँटों से बँधे रहने से इन्कार करते थे। उन्होंने 'पांडित्य' के क्षेत्र में भी काफी काम किया है, सूरसागर और रामचरितमानस का सम्पादन, दर्जनों शोध-प्रबन्धों का निर्देशन आदि इसके प्रमाण हैं, किन्तु यह उनकी मुख्य दिशा नहीं थी। वे स्वयं शोध-कार्य में प्रवृत्त होकर भी नहीं हुए, यहाँ तक कि अपनी पुस्तक 'महाकवि सूरदास' के शोधपरक आरंभिक परिच्छेद भी उन्होंने स्वयं नहीं लिखे, अपने निर्देशन में अपने छात्र श्री मधुसूदन वाखले से लिखवाये और भूमिका में उन्हें अपने मुखर आशीर्वाद दिये। सूरदास को छोड़कर उन्होंने किसी प्राचीन कवि पर विस्तारपूर्वक नहीं लिखा। न हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनुसंधान में, न सैद्धान्तिक समीक्षा के मौलिक गंभीर विवेचन में ही रस लिया। इतिहास-सम्बन्धी उनकी छोटी-सी पुस्तक और पूर्वी-पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से सम्बन्धित उनके कुछ निबन्ध मुख्यतः परिचयात्मक एवं प्राध्यापकीय उत्तरदायित्व के

निर्वाह मात्र हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने स्थान-स्थान पर शुष्क पांडित्य पर कटाक्ष भी किये हैं, उसे 'स्थविर शास्त्राचार' कहा है। परम्परागत पंडितों के प्रति उनकी मान्यता थी कि उनमें "पांडित्य की प्रचुरता तो थी, परन्तु उसका प्रयोग अधिकतर शास्त्रार्थी पद्धति पर किया जाता रहा। लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे।"[1] उनकी दृष्टि में पश्चिमी पंडितों की छत्रछाया में प्राच्य अनुसंधान के कार्य में संलग्न भारतीय "पंडितों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने पश्चिमी अभिभावकों द्वारा बाँधी गई लीक से बाहर निकलने में असमर्थ थे।"[2] सीधे पश्चिमी पंडितों की संकीर्ण साहित्यिक दृष्टि से असहमति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, "पश्चिम के पंडितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए न जाने क्यों धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियों को उससे बहिष्कृत-सा कर दिया है और ब्लेक, ब्राउनिंग जैसे दार्शनिक कवियों को भी उनका उचित आसन देने में संकोच करते हैं।"[3] केवल पांडित्यपूर्ण गवेषणा करने वालों को साहित्य-समीक्षक मानने में उन्हें आपत्ति थी। उनकी उक्ति है, "हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डॉक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे शोधकर्त्ताओं ने साहित्य समीक्षा तथा शोधकार्य का अन्तर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।"[4] आ० द्विवेदी सम्बन्धी उनकी मान्यता को हम संशोधन-सापेक्ष मानते हैं, फिर भी इससे उनकी दृष्टि तो स्पष्ट होती ही है। प्राच्य और पाश्चात्य पांडित्य की उपलब्धियों के ज्ञाता होते हुए भी उनकी रूढ़ियों में बंधने से इन्कार करना, शास्त्र-दृष्टि पर आत्म-दृष्टि को प्रधानता देना समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी की स्वच्छन्दता का एक प्रमुख तत्व है।

यदि वे पांडित्य के घटाटोप से, उसके भारी-भरकम निर्णयों से साहित्यिक विदग्धता को आक्रान्त होने देना नहीं गवारा करते थे तो पत्रकारों की हल्की-फुल्की रायजनी तो उनके लिए और भी अग्राह्य थी। साहित्य और जीवन के प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारते हुए उसके निरूपण में गंभीरता की माँग एवं सतही पत्रकारी फतवों से वितृष्णा प्रकट करते हुए उन्होंने व्यंग्यमयी शैली में लिखा था, "जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया सम्पादक जी की तरह सैनिक और साहित्यिक तथा आनन्द भवन और शान्तिनिकेतन के बीच में ही अटक रहने का भय है।"[5]

किन्तु जिस प्रकार पांडित्य की परम्परा से अभिभूत न होते हुए भी वैदुष्य का पुष्कल प्रमाण उन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है (जो तत्त्व उनकी समीक्षाओं को श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाओं से पृथक् करता है) उसी प्रकार पत्रकारिता के 'चलतेपन' से बचकर भी उसके प्रश्नमुखर पैनेपन को, उसकी जीवन्त विवादोत्तेजकता को उन्होंने अपनाया है, (जिसके फलस्वरूप उनकी समीक्षाएँ डॉ० नगेन्द्र की गुरुगंभीर समीक्षाओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली एवं उपभोग्य बन पड़ी हैं।)

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का ऐतिहासिक कार्य है प्रबल विरोधों के मध्य छायावादी काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन एवं उसके सौन्दर्य का उद्घाटन करना। अवश्य ही श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी एवं डॉ० नगेन्द्र के कार्य भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरावल में आचार्य वाजपेयी ही थे। छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा के लिए उसके अव्यवहित पूर्व की कविता की, तुलना में उसकी श्रेष्ठता का तथा उसके सम्यक् मूल्यांकन में असमर्थ समीक्षकों के प्रतिमानों की संकीर्णता का दिग्दर्शन कराना आवश्यक था। अतीत से प्राप्त संस्कारों में संशोधन कर ही नयी पीढ़ी अपनी जीवन-दृष्टि का निर्माण करती है, अतः उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह अतीत विशेषतः निकट अतीत से अपनी भिन्नता और यदि संभव हो तो श्रेष्ठता प्रमाणित करे। आश्चर्यजनक निर्भीकता, स्पष्टता और सफलता के साथ वाजपेयीजी ने यह कार्य सम्पन्न किया। वाजपेयीजी मुख्यतः कविता के ही आलोचक रहे हैं। प्रसंगवश उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की चर्चा भी उन्होंने की है, किन्तु काव्य-समीक्षा के सदृश तलस्पर्शिता का आभास उनकी अन्य समीक्षाओं में नहीं मिलता।

द्विवेदीयुगीन कविता की तुलना में छायावादी कविता को समृद्धतर सिद्ध करना अपेक्षाकृत रूप से सरल कार्य था। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में दिया गया उनका यह निर्णय कि उनकी कृतियों में, "न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त

भावों का भी सत्कार करती है"[६] द्विवेदीयुगीन कविता के लिए भी सही है। उसके प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की मूलभूत विशेषता को रेखांकित करते हुए वाजपेयीजी ने कहा है, "सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है, जितनी एक भावुकतामय नैतिकता।"[७] अपने कथन की सारवत्ता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने प्रायः समान विषयों एवं भावों पर रचित गुप्तजी एवं प्रसादजी के प्रतिनिधि काव्यांशों की तुलनात्मक विवेचना भी की और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रसादजी के काव्य (छायावादी काव्य) में "एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है"[८] तथा युगानुरूपता की दृष्टि से उसमें कुछ कमियाँ भले हों "किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यंजना से कई कदम आगे वह अवश्य हैं।"[९]

पूर्ववर्ती समीक्षा के प्रतिमानों की सीमाओं का निर्देश कर पाना अधिक कठिन कार्य था, क्योंकि उसके नियन्ता थे आ० रामचन्द्र शुक्ल, जो न केवल हिन्दी के क्षेत्र में बल्कि अखिल भारतीय क्षेत्र में साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त मौलिक एवं प्रशस्त कार्य कर गये हैं। काव्य-समीक्षा के उनके प्रतिमान न केवल वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के आधार पर निर्मित हुए थे बल्कि उन पर शेली, कीट्स आदि की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी। केवल भरत, मम्मट, विश्वनाथ आदि ही नहीं, मैथ्यू अर्नाल्ड एवं रिचार्ड्स आदि भी उनकी दृष्टि के समक्ष थे। श्रेण्य संस्कारों के बावजूद वे स्वच्छन्दतावाद के प्रशंसक थे। जायसी, घनानन्द की ही नहीं, श्रीधर पाठक एवं मुकुटधर पांडेय की स्वच्छन्दता की भी सराहना उन्होंने की थी। अपने 'इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण में उन्होंने छायावाद की जो संक्षिप्त एवं मार्मिक आलोचना की है, वह उसकी सीमा को ही नहीं शक्ति और सुन्दरता को भी उद्घाटित करती है और आज भी कई दृष्टियों से बेजोड़ है। छायावाद के आरंभिक काल में उन्होंने उसकी वादग्रस्त रहस्यात्मकता का ही विशेष विरोध किया था जिसे वे स्वाभाविक रहस्यानुभूति से भिन्न, साम्प्रदायिक एवं अनुकरणमूलक मानते थे, साथ ही अभिव्यंग्य को गौण एवं अभिव्यंजना को अतिशय प्रधानता देनेवाली दृष्टि को भी वे अनुचित मानते थे, क्योंकि उससे हवाई कल्पना के कारण ऐसे निरर्थक वाग्जाल को प्रोत्साहन प्राप्त होता है जिसका अनुभूति की सच्चाई से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है। ईमानदारी का तकाज़ा है कि यह स्वीकार कर लिया जाये कि उनके इन आरोपों में सत्यांश था और एक सीमा तक उनका शुभ प्रभाव भी पड़ा।

किन्तु यह खेदजनक सत्य है कि आ० शुक्ल का पांडित्य छायावाद के रहस्यवादी स्तर को विदेशी भावापन्न एवं उसकी अभिव्यंजना को कृत्रिम सिद्ध करने में इतना उलझ गया था कि आरंभ में वे उसके आधारभूत गुणों के फलस्वरूप हिन्दी काव्य में आये नवोन्मेष का, नवीन सौन्दर्य का स्वागत एवं सहृदय मूल्यांकन नहीं कर पाये। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का श्रीगणेश किया आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने। अपने गुरु आ० शुक्ल से बहुत दूर तक प्रभावित होते हुए भी उन्होंने समीक्षा-सम्बन्धी उनके प्रतिमानों को चुनौती दी। शुक्लजी की छायावाद-रहस्यवाद की कठोर आलोचनाओं से क्षुब्ध होकर अपने युवक सुलभ आवेश एवं 'तलस्पर्शी एकांगिता' के आवेग में बहकर १९३१ में उन्होंने जो आक्रामक लेख उनके विरुद्ध लिखा, वह फेनिल होते हुए भी समीक्षा के पुराने प्रतिमानों के समक्ष कई प्रश्नचिह्न लगाने में समर्थ हुआ। १९४० में शुक्लजी पर लिखे अपने दूसरे अधिक संयत एवं सन्तुलित लेख में वाजपेयीजी ने उनके समीक्षा-सम्बन्धी प्रतिमानों की प्रमुख कमियों का निर्देश करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि "शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते।"[१०]

आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता के स्थान पर (आदर्शोन्मुख!) स्वच्छन्दता का, स्थूल व्यक्त सौन्दर्य के साथ-साथ सूक्ष्म, रहस्यात्मक अव्यक्त सौन्दर्य का, लोकमंगल को मूलतः

स्वीकारते हुए भी कलात्मकता के महत्त्व का, पूर्व-निश्चित दार्शनिक, साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थिर कसौटियों को बाधक बताकर लचीले एवं गतिशील जीवन के सन्दर्भ में रखकर कलात्मक कृतियों के सौन्दर्यानुसन्धान का, घटना-परिस्थिति वहुल प्रबन्धकाव्य की तुलना में मन:स्थिति-विशेष की उत्कट संवेदनशीलता से युक्त प्रगीतमुक्तक का समर्थन एवं प्रतिष्ठापन वाजपेयीजी ने किया। "व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नये समीक्षक उनकी (शुक्लजी की) समता पर नहीं आ सके हैं" इसे स्वीकारते हुए भी शुक्लोत्तर समीक्षा की उपलब्धि के सम्बन्ध में उनकी दृढ़ धारणा है, "शुक्लजी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणाशक्तियों, शैलीभेदों और कलास्वरूपों की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं। शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षकों की सौन्दर्य-अनुभूति और कलाप्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है..."[११] कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा के इस रूप के प्रतिनिधि समीक्षक स्वयं श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हैं।

प्रश्न हैं : समीक्षा के इन नये प्रतिमानों को वाजपेयीजी क्योंकर विकसित कर सके, क्या इनके द्वारा समग्र छायावादी काव्य की समुचित समीक्षा उन्होंने की, क्या परवर्ती साहित्य की सम्यक् आलोचना इनके आधार पर वे कर पाये? वाजपेयीजी के कार्य के सन्दर्भ में ही इन प्रश्नों पर विचार करना संभव है।

पहले प्रश्न के उत्तर में यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनके ये प्रतिमान मुख्यत: छायावादी काव्य के अनुशीलनजन्य संस्कारों से निर्मित हुए हैं, यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम की समशील काव्यधारा में अवगाहन एवं तदनुरूप समीक्षा-सिद्धान्तों के मनन द्वारा उन्होंने उन्हें और व्यापक तथा यथातथ्य बनाया, किन्तु यह द्वितीय स्तर पर किया गया कार्य है। अपने संस्कारों के रचनात्मक काल में वे प्रसाद, निराला, पन्त के नवोन्मेषशाली काव्य के सम्पर्क में आए और उनके 'प्राकृतिक अध्यात्म के शिलान्यास' से, उनके असाधारण उल्लास और वेग तथा उनकी सशक्त भाषा' से, उनकी 'अतिशय सजीव कल्पना सृष्टि' तथा 'कोमल अथच मार्जित' रुचि से आकृष्ट होकर उनके रंग में रँग गये। वस्तुत: कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अन्त:सम्बन्ध होता है एवं युगचेतना जिस प्रकार रचना के स्तर पर प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार आलोचना को भी वह उद्दीप्त करती है। नई रचनाएं जब प्रचलित साहित्यशास्त्र की सीमाओं में नहीं समातीं तो ऐसी नई आलोचना का विकास आवश्यक हो उठता है, जो उनकी संगत व्याख्या एवं समीक्षा कर सके, जो आलोचना के पुराने प्रतिमानों में उन नई रचनाओं के आधार पर कुछ नये प्रतिमान जोड़ सके। छायावाद के सम्बन्ध में आ० वाजपेयी का अग्रणी कार्य इसी सत्य की पुष्टि करता है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' के निकष में वाजपेयीजी ने स्वीकारा है, "प्रसाद के 'आँसू' की मार्मिक पंक्तियाँ, निराला की 'तुम और मैं', 'जुही की कली' और अन्य अनेक रचनाएँ तथा 'पल्लव' के बहुत-से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आये थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।"[१२] प्रसाद, निराला, पन्त के काव्यानुशीलन से उपलब्ध प्रतिमानों के अनुकूल न होने के कारण ही वे अपने समीक्षक जीवन के आरंभ में प्रेमचन्द को उनका वास्तविक प्राप्य नहीं दे सके थे। उन प्रतिमानों में स्वाभाविक रूप से संशोधन, संवर्धन करने के बावजूद मूलत: उन्हीं के कारण वे अपने समीक्षक जीवन के मध्य और उत्तर काल में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अंशत: या समग्रत: प्रत्याख्यान करते रहे।

आगे बढ़ने के पहले संक्षेप में देख लिया जाए कि युग-चेतना के किन उपादानों के आधार पर ये प्रतिमान टिके थे। अपने आदर्श कवियों की जीवनदृष्टि की समन्वित चर्चा करते हुए वाजपेयीजी ने कहा है, "ये तीनों ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती और मानव के अंतर्निहित उत्कर्ष के हिमायती कवि हैं।...इनकी जीवनदृष्टि प्रमुखत: प्रगतिशील और महान् आस्थाओं से समन्वित है, यद्यपि वैयक्तिक वेदना और निराशा के झकोरे भी इनके काव्य में मिल जाते हैं।"[१३] इन्हीं के अनुरूप साहित्यिक क्षेत्र में 'अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत् विन्यास' हुआ छायावाद में। जहाँ एक ओर प्रकृति और मानव-जीवन के सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना को आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा देने के कारण उसमें 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता' हुई, वहीं दूसरी ओर उसमें 'स्वातंत्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी' देख पड़ी, जिसमें 'कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों' की प्रमुखता है, किन्तु 'कर्मचेतना' की सर्वथा उपेक्षा नहीं है।

इन सबके साथ ही आविर्भाव हुआ 'भाषा में नई लाक्षणिकता का', परिष्कृत संगीतात्मकता का। 'समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौन्दर्य भूमि पर स्थित है।''[१४]

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा उनके विकसित युगबोध का प्रमाण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि दार्शनिक या राजनीतिक चिन्तन को साहित्य में वे अनुलोम स्थिति में ही स्वीकार करते थे। साहित्य में भावोन्नयन के साधन के रूप में उनका प्रभाव वे शुभ मानते थे किन्तु साध्य रूप में उनकी प्रतिष्ठा के विरोधी थे। साहित्य में किसी साहित्येतर मूल्य को आत्यन्तिक स्थिति देने के लिए वे प्रस्तुत न थे, चाहे वह कोई क्रमागत साम्प्रदायिक दर्शन हो, चाहे राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक मतवाद। औरों की बात तो जाने दीजिए, पंतजी के परवर्ती विकास से भी वे इसी कारण असन्तुष्ट थे। उनका आरोप है, ''क्रमशः पंतजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गई है और काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है।···काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है। वह सिद्धान्त-चर्चा के वायुवेग से आक्रान्त दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की खोट छिपाए नहीं छिपती।''[१५] महादेवीजी के काव्य के प्रति पर्याप्त आदर रखते हुए भी उनके काव्य में व्यक्त अतिशय रहस्यवादिता (जिसमें उन्हें प्राकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं) तथा वेदना की 'एकपक्षिता' उन्हें प्रिय नहीं थी। एक स्थल पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि महादेवीजी के काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ नहीं मिलतीं।[१६] इन आरोपों का खंडन-मंडन किए बिना हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि वाजपेयीजी के साहित्यिक आदर्श के सर्वाधिक निकट प्रसाद और निराला ही थे, बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि प्रसाद और निराला को आदर्श मानकर वाजपेयीजी ने अपने प्रमुख साहित्यिक प्रतिमान स्थिर किए थे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वाजपेयीजी ने अपने व्यक्तित्व का विलय उनमें भी नहीं किया, वे उनके समशील समीक्षक थे, अनुगत चारण या भाट नहीं। इसकी स्पष्ट उपलब्धि के लिए रचना और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उनकी धारणा को जान लेना लाभदायक होगा।

वाजपेयीजी की दृष्टि में समीक्षा न तो 'रचना विशेष की अनुचरी मात्र है', न 'साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करनेवाली अधिनेत्री' ही। उनके अनुसार ''वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।''[१७] समीक्षा की स्वतंत्र स्थिति का प्रतिपादन करते हुए भी वे रचना की वरीयता को स्वीकारने में कुंठाबोध नहीं करते। उनका कथन है, ''रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रहनी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य-सृष्टि का नियंत्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती।''[१८] अपनी इस प्रशस्त दृष्टि का जैसा मार्मिक परिचय उन्होंने छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद और निराला—की समीक्षा में दिया, खेद है वैसा परिचय वे छायावादोत्तर साहित्य की समीक्षा करते समय नहीं दे सके।

जो हो, बात चल रही थी कि प्रसाद और निराला ही वाजपेयीजी के प्रमुख साहित्यिक आदर्श थे। देखना चाहिए कि ऊपर चर्चित छायावाद की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त उनके किन प्रमुख गुणों ने उन्हें इतना आकृष्ट किया था और इन दोनों में भी कौन उन्हें पूर्णतर कवि प्रतीत होते थे और क्यों।

पहला गुण है इन दोनों की रचनाओं में व्यक्त पौरुष तत्त्व। प्रसाद में वह अधिक संयत, अधिक अन्तर्मुख किन्तु अधिक शक्ति-सम्पन्न है तो निराला में अधिक उद्दाम, अधिक मुखर, अधिक रोमांटिक। वाजपेयीजी के अनुसार ''प्रसादजी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान् कवि थे···प्रसादजी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसादजी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ।''[१९] प्रसादजी का पौरुष उनके आनन्दवादी दर्शन में, नीतिवादी युग के आतंक को काटकर चित्रित किये गए नर-नारी के कुंठारहित किन्तु मर्यादायुक्त प्रेम-प्रसंगों में, तप और भोग के समन्वय में, विरोधों के मध्य आत्मविश्वासपूर्ण, अन्तःस्मित सृजन में अभिव्यक्त हुआ है। निराला का काव्य भी 'पुरुषकाव्य' है, उसमें रंगीनी से अधिक प्रकाश है। निराला का पौरुष अद्वैतवादी सिंह-गर्जना

में, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति प्रखर विद्रोह में, नित नये साहित्यिक प्रयोगों द्वारा नवस्थापित कीर्तिमानों के अनासक्त अतिक्रमण में, अत्यन्त प्रतिकूल क्रूर परिस्थितियों से क्षत-विक्षत हो जाने के बावजूद अप्रतिहत आस्थामूलक सृजन में प्रकट हुआ है। निराला के पौरुष को 'ओजस्विनी शब्दावली' या 'शिवाजी का पत्र' जैसी प्रखर रचनाओं तक ही सीमित मानने को 'एकांगिता' घोषित करते हुए वाजपेयीजी ने ठीक ही कहा है, "किन्तु पौरुष वस्तुगत भी होता है और वह वस्तुतः वस्तुगत ही होता है, यह अभिज्ञता बहुत विलम्ब से हो पाई। निराला के 'बादल राग' में जो स्वतंत्र, अस्खलित उद्दाम और अदम्य भाव-धारा थी, वह सामाजिक क्रान्ति का गम्भीर स्वर उद्घोषित कर रही थी। यह वस्तुगत पौरुष जीवन-दृष्टि का परिणाम था, यह केवल वीर भावना की अभिव्यक्ति नहीं था।...पौरुष शब्दों का गुण नहीं है, न वह कविता का गुण है, वास्तव में कवि की चेतना का प्रतिफलन है, जो सारे काव्य में व्याप्त रहता है।"[२०] इसी पौरुष तत्त्व के कारण ये दोनों कवि जीवन की वास्तविकता को उसकी व्यापकता और गहराई में झेलकर भी न पलायनवादी हुए, न उसके अभिलषित आदर्श रूप के चितेरे-मात्र बने, इन्होंने "मानव-अनुभवों का यथार्थ संस्पर्श कभी नहीं छोड़ा।" वाजपेयीजी का यह मत सही है कि "ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं, न कल्पनावादी, इनके काव्य में मानव-अनुभूतियों की यथार्थता सन्निविष्ट हुई है।"[२१] यह यथार्थता यदि बहुत उत्तेजक या वीभत्स नहीं हुई है तो उसका कारण यही है कि "इनके काव्य का केन्द्रीय तत्त्व जीवन को ऊपर से न देखकर उसके अन्तरंग में जाकर देखने का है।"[२२]

यह ठीक है कि निराला में व्यापकता अधिक है। उन्होंने अपने साहित्य में जीवन के प्रति अन्तरंग दृष्टि की परिधि को इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमें 'वस्तुमुखी और बहिरंग तत्त्व' भी स्पष्टतः समाविष्ट हो गए हैं जिनके कारण एक ओर कुछ विचारक उन्हें प्रगतिवाद का उन्नायक मानते हैं तो दूसरी ओर उनके निरंकुश व्यक्तित्व और प्रयोग-वैविध्य के कारण कुछ विचारक उन्हें प्रयोगवाद का प्रेरक... अन्तश्चेतनावादी घोषित करते हैं। किन्तु यह अंश को पूर्ण के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। परवर्ती काव्य-धाराएँ यदि निराला को गुरु रूप में स्वीकार कर अपना उद्गम उनके काव्य में ढूंढ़ती हैं तो यह निराला के व्यापक प्रभाव की स्वीकृति की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु इन्हें मुख्यतः अपने सम्प्रदायानुकूल सिद्ध करना धींगाधींगी भर है, क्योंकि सच्चाई यही है कि "निराला वर्गवादी नहीं हैं, अन्तश्चेतनावादी भी नहीं हैं। वे अन्तर्मुख कलाकार नहीं हैं। वे भारतीय नवजागरण के अन्यतम कवि हैं।"[२३] इन बहुविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के होते हुए भी निराला काव्य की प्रकृति समरस है। वह प्रकृति स्वच्छन्दतावादी, सांस्कृतिक, मानवतावादी और आस्थामूलक कही जा सकती है।[२४] इसीलिए निराला काव्य का सन्देश 'उत्थानमूलक सन्देश है।'[२५]

प्रसाद के काव्य में गहराई अधिक है। "प्रसाद का काव्य अंतर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है और इस अंतर्द्वन्द्व की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य में प्रतिफलित हो सकी है... (उसमें) उनके अंतरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है।"[२६] इसीलिए जीवन के यथार्थ को छूते हुए भी उनका स्वर मुख्यतः सांस्कृतिक रहा है, प्रेमचन्द की तरह सामाजिक नहीं हो पाया है। मानव के आत्मिक संघर्षों की अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म अनुभूति के कारण उसमें करुणा की स्वीकृति तो है किन्तु अन्तर्निहित अपराजेय पौरुष तत्त्व के फलस्वरूप दुःखवाद की नहीं। "प्रसादजी की संस्कृति पौरुष गुण सम्पन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई सन्देश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही सन्देश है। दुखों और सुखों में मनुष्य की सम्पूर्ण वस्तुस्थिति में यह शक्ति का ही प्रभाव बहता रहे, यही उनकी एकान्त साधना थी।"[२७]

उत्थानमूलक शक्ति और आनन्द की उपासना...संवर्द्धना का संदेश देने वाले प्रसाद और निराला के पौरुष की साहित्य में अभिव्यंजना न तो विवेक-संत्रस्त शुष्क आदर्शवादी सिद्धान्त-निरूपण में हो सकती थी, न विवेक-भ्रष्ट पंकिल यथार्थवादी नग्न चित्रण में। उसका विवेक-सम्मत प्रकाश जिस उदात्त रसात्मक स्वच्छन्दतावादी काव्य-सृजन में हुआ, वाजपेयीजी के अनुसार वह "बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है।"[२८]

इन दोनों कवियों को औरों से वरीयता प्रदान करनेवाला दूसरा बड़ा गुण है 'इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा।'[२९] अध्यात्म-दर्शन हो या राजनीतिक-सामाजिक विचारधाराएँ

अथवा नव्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि, इन कवियों ने उनसे अनुप्रेरित होते हुए भी उन्हें काव्यात्मक मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं किया, इनके काव्य में उनका संयोजन अनुलोमशः ही हुआ है। यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रसाद शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन से एवं निराला विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित नव्य वेदान्त से प्रभावित हैं, वाजपेयीजी ने बार-बार यह प्रमाणित करना चाहा है कि ये दोनों दर्शन इन कवियों को न तो सम्प्रदाय-सीमित कर सके, न इनके काव्योत्कर्ष के लिए अवरोध बने। सच तो यह है कि वाजपेयीजी की दृष्टि में, "प्रसादजी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं।"[३०] अतः काव्य के उपकारक के रूप में ही मानव-जीवन के अन्तःप्रेरक दर्शन का और बहिर्विकाससूचक इतिहास का संयोजन उन्होंने किया था, अनुशासक के रूप में नहीं। प्रसादजी ने निवृत्ति पर आश्रित मायावादी शांकर अद्वैत के स्थान पर शैवागम से जिस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया वह न केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है बल्कि विश्व को समन्वयात्मक कर्म का रंगस्थल भी मानता है। शताब्दियों पूर्व के दार्शनिक चिन्तन को उसके साम्प्रदायिक कर्मकांड से अलग कर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में ग्रहण करना वस्तुतः उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए उसका कायाकल्प करना है, मक्षिका स्थाने मक्षिका की तरह अन्धानुगमन करना नहीं। इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छनी उनकी शास्त्रीय वस्तु में प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है कि सामान्य पाठक ही नहीं आलोचक भी प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्रसाद की ये उद्भावनाएँ 'अधिकांश एकदम नवीन हैं।' वाजपेयीजी के अनुसार कामायनी का समरसता सिद्धान्त मानव-प्रकृति और जीवनगत द्वन्द्वों के वैज्ञानिक निरूपण एवं श्रद्धा की दार्शनिक कल्याणमयी सत्ता के संयोगस्थल पर प्रतिष्ठित है। "इसे नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगम-भूमि भी कहा जा सकता है।"[३१] किन्तु यह दार्शनिक अन्तर्धारा "काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है"[३२] वाजपेयीजी ने इसे आग्रहपूर्वक प्रमाणित किया है कि प्रसाद की पद्धति "प्रकृत काव्य पद्धति है जिसमें समस्त वस्तु-निरूपण और भाववर्णन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है।"[३३] वह कबीर की अन्योक्ति पद्धति या जायसी की समासोक्ति पद्धति से भिन्न है जिसमें काव्य पर दार्शनिकता समग्रतः या अंशतः हावी हो जाती है। वाजपेयीजी ने अत्यन्त जागरूकतापूर्वक प्रसाद की आधुनिकता को और दार्शनिकता पर काव्यात्मकता की वरीयता को अपनी आलोचनाओं में स्पष्ट किया है, अन्यथा ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो उन्हें प्राचीनतावादियों, गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले पलायनवादियों की कोटि में या दार्शनिकता के रहस्यात्मक विचारकों की कोटि में परिगणित करते रहे हैं।

इसी प्रकार निराला के काव्य में आरम्भ में सशक्त नव्य अद्वैतवादी वेदान्त की, मध्य में आध्यात्मिकता के साथ-साथ मानवतावादी, समाजवादी विचारधाराओं की और अन्त में द्वैतभक्ति और शरणागति की उत्कर्षविधायिनी दार्शनिकता का मंगलमय योग स्वीकारते हुए भी वाजपेयीजी का निष्कर्ष यही है कि "निराला स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक हैं परन्तु उनके काव्य में दर्शन का भार कहीं नहीं दिखता।"[३४] उनकी मान्यता है कि कवि का कार्य सौंदर्य-सृष्टि है और उसकी दार्शनिकता का मूल्य उस सौंदर्य को पुष्ट बनाने और आलोकित करने में है...[३५] एवं निस्सन्देह दार्शनिक और भावात्मक चिन्तन और उन्नयन के फलस्वरूप निराला का 'काव्य एक उदात्त भूमिका का काव्य है और ऐसे सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाता है जो सहज प्राकृतिक उच्छ्वास की भूमिका से एकदम ऊपर है।'

दर्शन कविता में परिपचित रूप में, कवि-व्यक्तित्व में समाहित होकर आया है या स्वतंत्र रूप में, इसकी कसौटी यही है कि रचना प्राणवन्त हुई है या नहीं। वाजपेयीजी को 'युगवाणी' एवं 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' एवं 'उत्तरा' के कवि पन्त से यही शिकायत थी कि उन कृतियों में वे स्रष्टा कम और दर्शन-विशेष के व्याख्याता अधिक हो गए हैं। फलस्वरूप उनका काव्यगत सौन्दर्य-बोध खण्डित हुआ है। इसीलिए वे रचनाएं वाजपेयीजी को काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक लगीं। महादेवीजी की भी कुछ कविताओं में रहस्यवादी रूढ़ियों का अतिरिक्त पालन हुआ है, यह शिकायत उन्होंने कई बार की है। छायावादोत्तर काव्य में व्यक्त विविध विचारधाराओं के उग्र विवादी स्वर भी उन्हें प्रकृत काव्य-पद्धति के अनुकूल नहीं ज्ञात होते थे।

जो हो, "प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का

सर्वश्रेष्ठ काव्य है,"[३६] इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी सुनिश्चित हैं, किन्तु इन दोनों कवियों में वे किसे अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, इस प्रश्न का सीधा उत्तर देने से उन्होंने अपने को बचाया है। प्रसाद और निराला की तुलना के प्रयास को अपने-आपमें असंगत बताते हुए उन्होंने यह मन्तव्य प्रकट किया, "दोनों ही कवि अपनी प्रतिभा में महान् अप्रतिम और अपराजेय हैं।"[३७] फिर भी उनके समस्त लेखन और दृष्टि-कोण पर विचार करने पर यही लगता है कि प्रसाद ही उनको अधिक वरेण्य कवि प्रतीत होते थे। वास्तव में निराला के विद्रोही एवं क्रान्तिकारी रूप का वे उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक वह स्वच्छन्दतावाद की व्यापक परिधि के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। 'बादलराग' और 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' सरीखी कविताओं में प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों के माध्यम से किया गया क्रान्ति का आवाहन अथवा 'भिक्षुक' एवं 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं का करुण यथार्थवादी चित्रण उन्हें उत्कृष्ट काव्य के रूप में ग्राह्य है। स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के विद्रोही व्यक्तित्व से निराला की तुलना इसी दृष्टि से वे करते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा' जैसी रचनाओं को व्यंग्य-विनोद की कृतियों के रूप में···सर्वत्र व्याप्त कुरूपता की खिन्न प्रतिक्रिया के रूप में वे ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि में निराला गुलाब के समान ही कुकुरमुत्ता को भी विकृति के रूप में उपस्थित करते हैं और उक्त दोनों विकृतियों के स्थान पर नई अभ्युदयशील संस्कृति की प्रतिष्ठा का रचनात्मक संकेत भी उस कविता में देते हैं। लगता है यह उनकी अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रक्षेपण है, अन्यथा कैपिटलिस्ट गुलाब के मुकाबले में जनवादी कुकुरमुत्ता की महिमा की प्रतिष्ठा उसमें असन्दिग्ध रूप से की गयी है। इसके और एक कदम आगे जाकर लिखी गयी 'ऐ गर्म पकौड़ी' या 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' जैसी उग्र कविताएँ उनके लिए काव्याभास ही हैं। निराला के प्रति अतिशय सहानुभूति रखते हुए भी ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की प्रतिक्रिया का सारांश इन पंक्तियों में उभरा है, "लौकिक जीवन का कुरूप पक्ष उनकी चेतना को बहुत दूर तक क्षुब्ध कर चुका था और वे जीवन-सम्बन्धी कुरूप प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे थे। हास्य और विनोद के माध्यम से उनका यह तृतीय दार्शनिक चरण अभिव्यक्त हुआ। इसे हम निराला की विघटित दार्शनिकता का चरण कह सकते हैं।"[३८] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी की मध्यवर्गीय अभिजात सांस्कृतिक चेतना इस प्रकार के विघटन को अश्रेयस्कर मानती है। उनके प्रतिमानों के अनुसार प्रसाद में इस प्रकार का स्खलन कभी नहीं हुआ, जबकि निराला का काव्य-विकास ऊँची चोटियों और नीची घाटियों के विषम स्तरों पर हुआ है, प्रसाद के काव्य-विकास में निरन्तर अधिरोहण ही नहीं, कामायनी के रूप में छायावाद की सर्वोच्च उपलब्धि भी है। प्रसाद ने भारतेन्दु-द्विवेदी युगों के काव्य-संस्कारों से ऊपर उठकर छायावाद का प्रवर्त्तन, मंडन एवं सर्वाधिक उन्नयन किया था, वे अन्त तक उसी में रमे रहे थे जबकि निराला (और पंतजी भी) छायावाद के प्रमुख सहयोगी स्रष्टा होते हुए भी उसी से बँधे नहीं रहे, इतिहास की गतिशील शक्तियों से उद्भूत नयी काव्य-भूमियों पर उनका संचरण स्वाभाविक ही था। वाजपेयीजी की दृष्टि में इन नयी भूमियों पर इन दोनों महाकवियों का सृजन उनके अपने पूर्ववर्ती सृजन की तुलना में खुरदरा और आयास-सिद्ध है। अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि जयशंकर 'प्रसाद' की भूमिका में १९३८ में व्यक्त किये गए अपने इस मत का पोषण वे अन्त तक करते रहे, "उसे (कवि को) विवेकवान् और पारदर्शी ही नहीं काव्यशक्ति से भी संपन्न होना चाहिए। प्रसादजी न केवल इन दोनों गुणों से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमें रखते थे कि उतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिन्दी साहित्य के इस युग में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नहीं, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते हैं।"[३९] निराला को उन्होंने 'कवि निराला' ग्रंथ में 'शताब्दी का कवि' कहा है, किन्तु इससे यह ध्वनि निकालना कि वे निराला को शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे, ठीक नहीं होगा। इसका अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि निराला के काव्य में वे इस शताब्दी को सर्वाधिक प्रतिफलित पाते थे। इसी ग्रन्थ में राष्ट्रकवि पर प्रासंगिक विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, "राष्ट्र कवि केवल राजनीतिक कवि नहीं हो सकता। उसे समग्र युगजीवन का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। इस दृष्टि से हमारे असली राष्ट्रकवि तो प्रसाद हैं। असली राष्ट्रकवि निराला हैं। जो युगद्रष्टा नहीं होगा, वह राष्ट्रकवि क्या होगा?"[४०] निराला के बारे में लिखते हुए प्रसाद का राष्ट्र-कवि के रूप में अग्र उल्लेख आकस्मिक नहीं, उनकी मान्य-

ताओं के अनुरूप ही है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनके मन में प्रसाद के प्रति अधिक श्रद्धा थी तो निराला के प्रति अधिक प्रेम। फिर भी इन दोनों में से यदि एक को ही सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उन्हें चुनना पड़ता तो संभवतः वे प्रसाद को ही चुनते।

वाजपेयीजी ने आ० शुक्ल की समीक्षाओं की सीमा का निर्देश करते हुए लिखा था, "शुक्लजी का समीक्षाकार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं।"[४१] यही बात स्वयं वाजपेयीजी के लिए भी कही जा सकती है और संभवतः अधिक औचित्य के साथ। प्रेमचन्दजी की कृतियों में कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन न पाकर केवल सामयिकता को उनका आदर्श घोषित करना, पन्तजी के समस्त उत्तरवर्ती काव्य को करीब-करीब नकार देना, महादेवी की रहस्यानुभूति को धार्मिक रूढ़ि के निकट मानकर उनके काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ न देख पाना, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी को समीक्षक न स्वीकार कर केवल शोधकर्त्ता मानना, प्रयोगवाद को बैठे-ठालों का धन्धा करार देना आदि-आदि उनके बहुत से निर्णयों को वस्तुगत और वैज्ञानिक मानना कठिन है। वाजपेयीजी की वैयक्तिक रुचि केवल मुखर समर्थन या प्रखर विरोध में ही झलकी हो, ऐसा नहीं है, संयत मौन में भी उसका आभास मिलता है। यह सचमुच आश्चर्यजनक तथ्य है कि उन्होंने किसी प्रगतिवादी लेखक या कृति पर जमकर अपने विचार प्रकट नहीं किये, कोई पूरा स्वतंत्र लेख नहीं लिखा। अपनी भूमिकाओं या सर्वेक्षणमूलक लेखों में प्रसंगवश उनकी चलती-सी चर्चा कर देना तो 'आधुनिक साहित्य' के प्रतिनिधि समीक्षक के 'दायित्व' के अनुकूल कार्य नहीं है।

ऐसा लगता है कि छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य के साथ वे समरस नहीं हो सके। प्रगतिवादी संकीर्ण मताग्रह एवं साहित्य पर राजनीति के अंकुश से असहमत होते हुए भी वे उसके व्यापक मानव अभ्युदयकामी जीवन-दर्शन के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न थे (तभी प्रगतिशील लेखक संघ की काशी शाखा के कई वर्षों तक वे सभापति रहे) किन्तु उसकी साहित्यिक उपलब्धियों से उन्हें सन्तोष नहीं था। उनका सौन्दर्य-प्रेमी मन इन कृतियों के वीभत्स यथार्थ चित्रण एवं कलाहीन अनगढ़पन से क्षुब्ध था। उसी को नया सौन्दर्यबोध मान लेने के लिए भी वह प्रस्तुत नहीं था। अपनी दृष्टि के अनुसार सैद्धान्तिक स्तर पर बहुलांशतः समर्थनीय एवं रचनात्मक स्तर पर असम्माननीय प्रयासों को वे न तो खुलकर सराह सकते थे, न नकार सकते थे। संभवतः वे अन्त तक इस धारा की ऐसी समर्थ कृति की प्रतीक्षा करते रहे, जिसे वे अपना अकुंठ समर्थन दे सकें। यह मनोभाव इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है, "भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती और दिवास्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।"[४२] फिर भी यदि वे उस आन्दोलन के साथ पूरी तरह से होते तो यशपाल, राहुल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कृतियों की त्रुटियों की रचनात्मक समीक्षा कर सकते थे, उनकी विशेषताओं को उभारकर उजागर कर सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया।

व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विविध रूपों को (चाहे वह गांधीवादी रामनामी ओढ़कर आये, चाहे मनोविश्लेषण की बैसाखी लगाकर, चाहे सामाजिकता का जामा पहनकर) और प्रयोगवादी रचनाओं को अस्वस्थ एवं हानिकर मानने के कारण उन्होंने उसका बहुत प्रबल विरोध किया। 'आधुनिक साहित्य' में संकलित 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक उनका लेख विवादी लेखन का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना ही उनकी एकांगिता और वैयक्तिक रुचि-शासित लेखन का भी। विरोध की झक में उनके द्वारा सन्तुलन खो देने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। हंस के आत्मकथा अंक को लेकर प्रेमचन्द के साथ हुए उनके विवाद में भी यह बात देखी जा सकती है। शुक्लजी के रसवादी मानदण्डों को साहित्यालोचन के लिए अपर्याप्त सिद्ध करने की धुन में वे यहाँ तक कह गये थे कि, "ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृति के सभी साहित्यिक सम्प्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा।"[४३] इसे परिस्थितियों का व्यंग्य ही कहना चाहिए कि 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' तक आते-आते वाजपेयीजी भी काव्य की रसात्मकता के सिद्धान्त को मान लेते हैं। अब उनका मत है, "जब हम कहते हैं कि 'रस' काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए

आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है।"[४४] चलिये, यही सही, तब तो कम-से-कम रस सम्प्रदाय के मूल में आदर्शवादी रहती प्रेरणा भी है, क्योंकि मानवतावादी तत्त्व के कारण उसे इतना श्रेय तो दिया ही जाना चाहिए। इसी ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने यह भी कहा है, 'हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं' और हमें उनकी ऐसी छानबीन करनी होगी जिससे "साहित्य के सार्वजनिक क्षेत्र में···हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें।" उनसे पूर्णतः सहमत होते हुए भी हम यह नहीं समझ पाते कि आ० शुक्ल इससे भिन्न और क्या कर रहे थे, जब उन्हें वाजपेयीजी का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

जो हो, छायावादोत्तर वादग्रस्त रचनाएँ हिन्दी साहित्य को एक ओर अन्तश्चेतनावादी दलदल में और दूसरी ओर बौद्धिकता के अनुर्वर रेतीले मैदान में फँसा रही हैं, एवं 'स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख' भावनाओं को जगाने में समर्थ नहीं हो रही हैं, यह शिकायत उन्होंने कई स्थानों पर कई प्रकार से की है। हिन्दी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने का सन्देश अपने वक्तव्यों में देते रहने पर भी वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की उसकी विकास दिशा से—कम-से-कम उसकी उन धाराओं से असन्तुष्ट ही नहीं विक्षुब्ध प्रतीत होते हैं जो भारतीय समाज को वर्गों में बाँटकर साहित्य को किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम बताकर अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को वर्गों की आड़ में छिपाना चाहती हैं अथवा जो दमित एवं कुंठित कामवासनाओं से उत्पन्न स्वप्न-प्रतीकों को काव्य-प्रतीकों के रूप में परिणत करनेवाली रचनाओं को साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ घोषित करना चाहती हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकारों को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और उन्हें सच्चे एवं गम्भीर अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य के सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए, उनकी इस भावना को समादरणीय एवं उचित मानते हुए भी हम उनके इस अधिनायकवादी आवेश का समर्थन नहीं कर सकते कि, "यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते, तो वे किसी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिये जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है, जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों।"[४५] साहित्य के स्तर पर यह असहिष्णुता समीक्षा को रचनात्मक साहित्य की 'प्रिय सखी और शुभैषिणी सेविका' के स्थान पर नियंत्रिका बनाती है जिससे वाजपेयीजी के ही अनुसार 'निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती' एवं राजनीति के स्तर पर राज्य को अधिनायकतंत्र की ओर उन्मुख करती है जिससे वाजपेयीजी का और नवीन भारत का लक्ष्य कल्याणकारी जनतंत्र खंडित होता है।

राष्ट्रीय साहित्य की रचना की उनकी अपील का अभीष्ट प्रभाव साहित्यकारों पर क्यों नहीं पड़ा? क्या सारा दोष साहित्यकारों का ही है? नई कविता का विवेचन करते हुए 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने लिखा था, "वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत-कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलम्बित है। यदि देश में राजनीतिक क्रान्ति सफल हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत-कुछ कायाकल्प हो जाएगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों तथा वीर प्रबन्धों की ओर अग्रसर होगी।"[४६] उनका राष्ट्रवादी मन इस बात की कल्पना भी नहीं करना चाहता था कि यदि हमारी राजनीतिक क्रान्ति सफल नहीं हो पायी तो क्या होगा। हिन्दी के नवलेखन में व्याप्त कुंठा, अनास्था, निराशा केवल आयातित या अनुकरण-जन्य ही है, यह कहना सच्चाई पर पर्दा डालना है। हमारी राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा अर्थनीतिक अयथार्थवादिता ने देश को जिस दलदल में फँसाया है, हमारा साहित्यिक दलदल बहुत-कुछ उसी की उपज है। सच्चाई के इस कड़वे घूँट को पिये बिना तथा मूल की भूल को सुधारे बिना साहित्यकारों की भर्त्सना कर या उन्हें सदुपदेश देकर अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। वाजपेयीजी 'साहित्य की राष्ट्रीय चेतना' का प्रस्ताव करते हुए जिस अतिशय आदर्शवादी दृष्टि का अनुगमन करते हैं उसका वस्तुगत आधार दुर्बल है। उनका मत है, "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गयी है और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं पर वह यथार्थ वस्तुतः राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नहीं है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है। इस पुस्तक में ऐसे निजी यथार्थों

को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार किया गया है।"[४७] यदि किसी एक कलाकार का निजी यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ के प्रतिकूल है तो एक दृष्टि से उसे वास्तविक यथार्थ नहीं भी माना जा सकता है। किन्तु तब हमें अपने निर्णय के औचित्य के प्रमाणस्वरूप राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ की प्रेरणा से रचित नयी उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत करनी होंगी क्योंकि सामाजिक यथार्थ का विशेषतः उससे उद्भूत मानवीय प्रतिक्रियाओं का जैसा सच्चा प्रतिफलन साहित्यिक कृतियों में होता है वैसा राजनीतिक नेताओं के भाषणों या आयोगों के प्रतिवेदनों में नहीं होता। क्या वाजपेयीजी ऐसा कर पाये हैं ? क्या हमारी अधिकांश उत्कृष्ट नयी साहित्यिक प्रतिभाएँ ऐसे साहित्य का सृजन कर रही हैं ? यदि नहीं तो अधिकांश साहित्यकारों के निजी यथार्थ को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार करना क्या एक अयथार्थ स्थिति नहीं है ?

एक विरोधाभास यह भी है कि वाजपेयीजी समीक्षा के अपने परवर्ती दौर में जिन रचनाकारों के जीवन-दर्शन को सिद्धान्ततः अस्वस्थ और अस्वीकार्य घोषित करते रहे हैं, छायावादोत्तर साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में उन्हीं की कृतियों को उपस्थित करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति उपन्यासों से आरम्भ होकर कविता तक आयी है। उपन्यासों पर लिखे सर्वेक्षणमूलक लेखों को छोड़कर उनके विशिष्ट लेख त्यागपत्र, 'शेखर : एक जीवनी' तथा व्यक्तिवादी उपन्यास पर हैं, झूठा-सच, बलचनमा या समाजवादी उपन्यास पर नहीं। नयी कविता को प्रयोगवादियों की सीर मानने से वाजपेयीजी अपने ग्रन्थों में (एवं अपने द्वारा निर्देशित शोधग्रन्थों में भी) बराबर इनकार करते रहे किन्तु उनकी मृत्यु के कुछ पूर्व 'धर्म-युग' के तीन अंकों में 'नयी कविता : एक पुनरीक्षण' शीर्षक से जो निबन्ध प्रकाशित हुआ उसमें नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध आदि 'सप्तकों' के आठ कवियों के अतिरिक्त जिन दो कवियों को गिनाया गया वे जगदीश गुप्त और दुष्यन्त कुमार हैं, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल या त्रिलोचन नहीं। और इनमें भी (सैद्धांतिक अन्तरों एवं असहमतियों को व्यक्त करते हुए) उन्हें लगा है कि "यदि अज्ञेय में निराला के पौरुष का प्रतिफलन मिलता है तो भारती में निराला की शृंगारिक और कोमल भावनाएँ आभासित होती हैं।"[४८] जबकि 'निराला' की भाँति मुक्तिबोध ने भी अनेक काव्य-रूपों का प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ निराला एक सधे हुए कलाकार के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं वहाँ मुक्तिबोध के काव्यप्रयोग चारुतारहित और ऊबड़-खाबड़ हैं। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा भी किसी सुनिश्चित प्रतिमान की सृष्टि नहीं करती।... मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय मिलता है।"[४९] यह भी स्मरण रहे कि इस 'ऊबड़खाबड़पन' और 'चिल्लाहट' को युग के मिज़ाज के अनुरूप गुण न मानकर वे उनकी त्रुटि ही मानते रहे क्योंकि उनकी धारणा थी कि मुक्तिबोध को संभवतः इन्हें दूर करने का अवसर नहीं मिला। इससे दो निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा। एक तो यह कि साहित्य में 'वस्तु' की प्रधानता को स्वीकारते हुए भी उनकी उत्कृष्टता का विचार समग्र दृष्टि से करते थे और उनकी विचार-प्रक्रिया के अनुसार हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की तुलना में उसका प्रयोगवादी साहित्य (जिसकी परिणति नवलेखन में, विशेषतः कविता के क्षेत्र में नयी कविता में हुई) साहित्यिक उपलब्धि के रूप में उत्कृष्टतर है। उनका यह निर्णय आकस्मिक नहीं है, यह उनकी 'काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा' वाली मान्यता के अनुरूप ही है जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि "किसी भी सिद्धान्त के संबंध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौंदर्य के संबंध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।"[५०] दूसरा यह कि नयी कविता के मर्म का उद्घाटन करने में उनके काव्य-संबंधी प्रतिमान बहुत सहायक सिद्ध नहीं होते अन्यथा मुख्यतः जिस मुक्तिबोध के काव्य के आधार पर नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि आलोचक डॉ० नामवरसिंह 'कविता के नये प्रतिमान' स्थिर कर रहे हैं, उसकी काव्योपलब्धि के बारे में वाजपेयीजी ऐसे अनुदार मत व्यक्त नहीं करते। जो हो, आरंभ में प्रयोगवादी नयी कविता का प्रचंड विरोध करने के बावजूद अपने अन्तिम लेख में उसकी विचारणा से असहमत होते हुए भी उसके साहित्यिक कृतित्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का गौरव प्रदान करना (उदाहरण के लिए भारती के 'अन्धायुग' को टी० एस० इलियट के 'मरडर इन कैथेड्रल' की भूमिका का कार्य कहना) एक ओर प्रबल वैयक्तिक रुचि के ऊपर उनकी काव्यनिष्ठा को प्रमाणित करता है, तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल के संबंध में अभिव्यक्त उनके इस मत को उन्हीं के ऊपर घटित कर उन्हें शुक्लजी का 'सच्चा शिष्य' भी सिद्ध करता है। "नयी काव्य-

प्रगति को 'ब्लैंकचेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति, जिस पर साहित्य का कुछ उत्तर-दायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्यधारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता।"[५१]

आचार्य वाजपेयी की समीक्षा को स्वच्छन्दतावादी कहने के अतिरिक्त छायावादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दता-वादी, रसवादी तथा अध्यात्मवादी भी कहा गया है। स्वयं वाजपेयीजी इन विशेषणों से यह अर्थ निकालकर कि 'मेरी समीक्षा में किसी एक वाद का अधिकार नहीं है' प्रसन्न हैं तथापि उनका कथन है, "यदि विशेषणों को निकालकर केवल साहित्य-समीक्षक कहा जाये तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।"[५२] किन्तु विवेचकों को अन्य साहित्य-समीक्षकों से उनकी पृथकता और उनकी स्वकीयता का निर्देश करने के लिए ऐसे किसी विशेषण की आवश्यकता का अनुभव होता ही है। हमारी समझ में उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना ही अधिक समीचीन है। छायावाद आरंभ में तो हिन्दी के क्षेत्र में मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी प्रेरणा से रचित साहित्य का परि-हासपरक नाम था, बाद में इससे अभिहित साहित्य की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाने पर इस नाम को स्वीकार कर छाया के विशिष्ट अर्थ करने के प्रयास की तुलना पन्तजी ने 'छाया-वाद: पुनर्मूल्यांकन' में 'बुद्धू' को 'बुद्ध' का तद्भव सिद्ध करने के प्रयास से कर, उसकी अयथार्थता भली-भाँति दरसा दी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते समय 'छायावाद' संज्ञा का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करते समय साहित्य-सृजन के मूल में निहित तीन प्रधान प्रवृत्तियों को उनके सर्वजन स्वीकृत नामों—श्रेण्यतावाद (क्लासिसिज़्म) स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज़्म) तथा यथार्थवाद (रियलिज़्म) से पुकारना ही ठीक है। स्वयं वाजपेयीजी ने हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (देखिए पृ० १४) से आरंभ कर 'धर्मयुग' में प्रकाशित अपने अन्तिम निबंध तक मौलिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्देश करते समय इसी व्यापक नाम 'स्वच्छन्दतावाद' का ही प्रयोग किया है। जो विवेचक उन्हें सौष्ठववादी या प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी कहना चाहते हैं, वे निराला के संदर्भ में कही गयी वाजपेयीजी की इस उक्ति पर विचार करें, "निराला का स्वच्छन्दतावादी काव्य केवल सौंदर्यवादी या कल्पना-प्रधान नहीं है। इसमें सामाजिक और युग-जीवन के तत्त्वों का गंभीर योग हुआ है।"[५३] इसके चलते उन्हें 'प्रगतिशील कवि' कहने को अंशतः संगत मानते हुए भी निराला काव्य के वस्तु और कलापक्ष के सम्पूर्ण निरूपण के लिए उसे अपर्याप्त बताकर वे कहते हैं, "स्वयं स्वच्छन्दतावाद शब्द में इतनी व्याप्ति है कि वह केवल सौंदर्यवादी या कलावादी प्रवृत्तियों को ही नहीं, युग-जीवन, व्यक्ति और समाज की नाना प्रगतियों और आदर्शों को समाहित कर सकता है।" जो बात निराला के संदर्भ में वाजपेयीजी ने कही है, उसी को उनकी समीक्षा-पद्धति पर लागू करने पर हम उनके सौष्ठव-बोध और प्रगति-शीलता दोनों को सहज ही स्वच्छन्दतावाद में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं। वाजपेयीजी को परंपरागत अर्थ में 'रसवादी' नहीं कहा जा सकता। रस की जो नयी व्याख्या 'आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों की ... मानवता-वादी सत्ता' के रूप में उन्होंने की है, वह उनकी स्वच्छन्दता-वादी दृष्टि का एक और प्रमाण है। जिस अध्यात्मवाद की वे काव्य में उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उसे भी वे स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत ही मानते हैं। न विश्वास हो तो उनके अन्तिम निबंध में प्रदत्त स्वच्छन्दतावाद की भूमिका का विश्लेषण देख लीजिये, "स्वच्छन्दतावादी धारा का मुख्य स्वर मर्यादाओं के विरोध में रहा है—चाहे वे साहित्यिक मर्यादाएँ हों अथवा मानव-जीवन-संबंधी हों। यह धारा सौंदर्य, प्रेम और रहस्य की आध्यात्मिक अनुभूति पर पहुँचने का प्रयत्न करती रही है। इसका विरोध एक ओर प्राचीन क्लासिकल काव्य की सामूहिकता से रहा है और दूसरी ओर वह यथार्थवाद की तथ्यात्मक पद्धति को पर्याप्त नहीं मानती।"[५४] क्या ऐसी ही भूमिका वाजपेयीजी ने भी नहीं निभायी है? उन्होंने न केवल हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य की मार्मिक समीक्षा ही प्रस्तुत की बल्कि उस जीवन-दृष्टि को सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर भी अधिमान दिया। अतः हम उनके लिए 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक' की आख्या को सर्वथा उचित समझते हैं।

समीक्षक के रूप में वाजपेयीजी की प्रमुख व्यक्तिगत विशेषताओं का निरूपण किये बिना यह लेख अपूर्ण ही रह जायेगा। पहली ही बात जो उनके पाठक को प्रभावित करती है, वह आलोच्य कृति या कर्ता के समग्र प्रभाव को थोड़े में किन्तु नुकीलेपन के साथ अंकित करने की उनकी अद्भुत

क्षमता है। अनावश्यक विस्तार में न जाकर रचना या रचयिता की मौलिक विशिष्टता का उद्घाटन करना ही उनकी सारग्राही प्रतिभा को प्रिय रहा है। इसीलिए उनकी समीक्षाएँ छोटे निबन्धों के रूप में सामने आई हैं वृहदाकार क्रमबद्ध ग्रंथों के रूप में नहीं। 'जयशंकर प्रसाद', 'महाकवि सूरदास' और 'कवि निराला' शीर्षक उनके ग्रंथ भी फुटकर निबन्धों के संग्रह ही हैं और इसीलिए 'पुस्तक रूप में' अपूर्णता का आभास देते हैं। 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूँ, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं···मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंतःप्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसीके साथ-साथ संक्षेप में बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ।"[५५] इसीलिए उन्होंने अपनी समीक्षा शैली को 'इंगित शैली' भी कहा है। यह शैली छायावादी प्रगीत मुक्तकों की शैली के अनुरूप ही है जिनमें वस्तुगत वर्णन के स्थान पर किसी मनःस्थिति-विशेष के उत्कट संवेदन को प्रधानता दी जाती रही है। 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य' नये प्रश्न की दीर्घ भूमिकाओं को 'प्रलय की छाया में', 'परिवर्तन', 'वनबेला' जैसे दीर्घ प्रगीत मुक्तकों के समशील समझना चाहिए।

उनकी दूसरी विशेषता उनकी दबंग आक्रामकता है। उनकी इस प्रवृत्ति के विकास में वह परिस्थिति भी सहायक हुई जिसमें उन्होंने काम किया। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी और आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रबल विरोध के बावजूद समीक्षा के क्षेत्र में छायावाद के महत्त्व की प्रतिष्ठा उन्हीं के सरीखे योद्धा का कार्य था। इस दृष्टि से वे निराला के योग्य सहयोगी सिद्ध होते हैं। बाद में उन्हें उन लोगों से मोर्चा लेना पड़ा जो छायावाद को पलायनवादी साबित करना चाहते थे और उसके स्थान पर मतवादी उत्साहप्रदीप्त या वैयक्तिक कुण्ठाग्रस्त बौद्धिकता-प्रधान काव्यधाराओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यहाँ यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जहाँ पहले दौर में उनकी आक्रामकता विधायक थी वहाँ दूसरे दौर में वह निषेधक हो गयी थी। बात यह है कि व्यावहारिक समीक्षा विधायकता के लिए रचना के साथ सामरस्य की माँग करती है। छायावादोत्तर साहित्य से वाजपेयीजी समरस नहीं हो सकते थे, अतः उनकी परवर्ती समीक्षाएँ मुख्यतः निषेधक होने के लिए बाध्य थीं।

वाजपेयीजी की आक्रामकता की प्रभविष्णुता उनके चुटीले व्यंग्यों और पैने प्रश्नों के कारण बहुत बढ़ जाती है। आलोचना-समर में उतरने पर अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान रखते हुए भी उन्हें वे बख्शते नहीं थे, फिर समवयस्कों की तो बात ही जाने दीजिए। आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय आदि की कतिपय मान्यताओं का विरोध करते हुए उन पर तीखे व्यंग्य-बाणों की वर्षा करने में वे कुण्ठित नहीं हुए। इसी तरह उनकी आक्रामक कला का एक खास कौशल प्रश्न-पर-प्रश्न पूछते चले जाना था। ये प्रश्न इस क्रम से उभारे जाते थे कि अन्त तक आते-आते प्रतिपक्षी स्वतः निग्रह स्थान में पहुँच जाता था।

उनकी तीसरी विशेषता सतत आत्मपरीक्षण की उनकी अनुकरणीय प्रवृत्ति है। इसका प्रतिफलन पूर्ववर्ती अनुदार एवं अतिशय उदार दोनों प्रकार के निर्णयों को सन्तुलित करने में हुआ है। जहाँ एक ओर आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द एवं प्रयोगवादी कविता के प्रति अपने विरोधमूलक अतिरेकों को उन्होंने बाद में संयमित किया एवं उनके प्रदेयों के महत्त्व को स्वीकारा नहीं, दूसरी ओर छायावादी काव्य की सीमाओं का भी उल्लेख किया, उदाहरण के लिए उन्होंने बाद में माना कि "आज जब मैं प्रसाद के 'आँसू' काव्य को देखता हूँ तो उसमें अंग-संघटन की बड़ी कमी दिखाई देती है।"[५६] अथवा "कामायनी की उक्ति के अनुसार यह रचना कोमलता में बल खाती" हुई है···महाकाव्य का गम्भीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा।[५७] अपने पूर्वनिष्कर्षों में इस प्रकार संशोधन करना निस्सन्देह बहुत बड़े कलेजे का काम है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को समझने के लिए वाजपेयीजी की समीक्षाओं का अध्ययन अनिवार्य है। छायावाद की विशेषताओं का उद्घाटन करने में वे अद्वितीय हैं। राष्ट्रीय साहित्य सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ भावी पीढ़ी के कृती साहित्यकारों के लिए उनकी वसीयत हैं। परवर्ती हिन्दी समीक्षा पर उनकी गहरी छाप सहज ही देखी जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य वाजपेयी की अतिशय पौरुषयुक्त, स्वतंत्रचेता, रजोगुणी समीक्षाओं ने भारतीय साहित्य-समीक्षा को महिम्नतर बनाया है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. महाकवि सूरदास, पृ० ५ ।
२. वही, पृ० ५ ।
३. वही, पृ० ८७ ।
४. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २२१ ।
५. आधुनिक साहित्य, पृ० ४०२ ।
६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ११ ।
७. वही, पृ० ३२ ।
८. जयशंकर प्रसाद; पृ० ११ ।
९. वही, पृ० १२ ।
१०. हि० सा० बी० श०, पृ० ८७ ।
११. आधुनिक साहित्य, पृ० २=४-८५ ।
१२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २ ।
१३. वही, पृ० ४-५ ।
१४. आधुनिक साहित्य, पृ० ६ ।
१५. हि० सा० बी० श०, पृ० १६२ ।
१६. वही, पृ० १७० ।
१७. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २७ ।
१८. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध; पृ० अ ।
१९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १९ ।
२०. कवि निराला, पृ० २०१ ।
२१. ,, ,, पृ० १७९ ।
२२. ,, ,, पृ० १७६ ।
२३. ,, ,, पृ० १९० ।
२४. ,, ,, पृ० १०१ ।
२५. ,, ,, पृ० १९० ।
२६. ,, ,, पृ० १८० ।
२७. जयशंकर प्रसाद, पृ० २६-२७ ।
२८. कवि निराला, पृ० १७८ ।
२९. वही, पृ० १७९ ।
३०. जयशंकर प्रसाद, पृ० २९ ।
३१. वही, पृ० १०५ ।
३२. वही, पृ० ११४ ।
३३. वही. पृ० ११४ ।
३४. कवि निराला, पृ० १८५ ।
३५. वही, पृ० १६२ ।
३६. वही, पृ० १७९ ।
३७. वही, पृ० १८५ ।
३८. वही, पृ० १६२ ।
३९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १६ ।
४०. कवि निराला, पृ० १६२ ।
४१. आधुनिक साहित्य, पृ० २७९ ।
४२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ३० ।
४३. हि० सा० बी० श०, पृ० ७० ।
४४. राष्ट्रीय सा० त० अ० नि०, पृ० ३३ ।
४५. आधुनिक साहित्य की भूमिका, पृ० ५० ।
४६. आ० सा०, पृ० ११ ।
४७. रा० सा० त० अ० नि०, पृ० ११ ।
४८. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृष्ठ १९ ।
४९. वही, पृष्ठ ३८ ।
५०. हि० सा० बी० श०, पृष्ठ ८३ ।
५१. वही, पृष्ठ ८२ ।
५२. रा० सा० त० अ० नि०, पृष्ठ १३१ ।
५३. कवि निराला, पृष्ठ ९९ ।
५४. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृ० १८ ।
५५. जयशंकर प्रसाद, पृ० १ ।
५६. नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० ७ ।
५७. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० ३८ ।

पहचान

(लीलाधर जगूड़ी के लिए)

नीलाभ

वह अकस्मात नहीं होगा ।
वह ख़ुशनुमा या ख़तरनाक परिवर्तन ।
अकस्मात नहीं होगा ।
सहसा तुम्हें चकित और डरा हुआ और ख़ुश
बनाकर छोड़ता हुआ ।

वह जब भी होगा ।
ख़ून के फ़व्वारों के बीच आग के शोले लपकेंगे
और अपने बदले हुए चेहरे तुम्हें एकदम और
सचमुच
निराश और अजनबी बनाकर छोड़ जायेंगे ।

कितना मुश्किल हो गया है ।
कितना मुश्किल हो गया है तुम्हारे लिए ।
अपने अन्दर एक टूटे हुए तालमेल को लिये
हुए जीना ।
लगातार और निराश ।
जबकि अब भी वही हवा है । वही मौसम ।
दिमाग़ को अपनी कोहरीली और विषधर
धुंध से
जकड़ता हुआ ।

बहुत-सी चीज़ों की पहचान धीरे-धीरे शुरू
होती है
जलते हुए तेज़ ज़हर की तरह नस-नस में
रचती हुई
और एक ऐसी थकान में बदल जाती है
जिसका कोई अन्त नहीं । तुम्हारे अन्दर और
बाहर ।
लेकिन तुम पूछ नहीं सकते कि :
क्यों नहीं है इस मौसम में
किसी ख़ुशनुमा सच की तलाश ।

कितना मुश्किल है तुम्हारे लिए
यह सब लिखना, जानना, और अपने आपको
दण्डरहित बनाये रख पाना
जबकि तुम्हारे अन्दर से आती हुई
वे मुतवातिर आवाज़ें
तुम्हें निरपराध नहीं रहने देतीं ।

अपने आपको लगातार छलते रहने की मजबूरी
यह सिर्फ़ तुम्हारी नहीं है
अपने क़द से लगातार बड़े नज़र आते रहने की
मजबूरी ।
वह कौन-सी हवा थी ? कौन-सा मौसम ?
जिसमें एकाएक सब-कुछ बदल गया ।
तुम्हारे अन्दर और बाहर ।

अपने एहसास को सँभाल कर रखो ।
दिमाग़ की कोहरीली और विषधर धुंध
की पहचान के बावजूद ।
क्योंकि वही । सिर्फ़ वही ।
तुम्हें अब भी दे सकता है जंगल की ख़ुशबू

और हवा की महक। जादू से नहीं।
अपनी नसों में दौड़ते हुए ज़हर को बरदाश्त
करने के लगातार दर्द से।

लेकिन तुम कोई भी हो। तुम्हारे हाथों पर भी
खून है।
और कन्धों पर लाशों का एक बदबूदार, सड़ता
हुआ जंगल।
एक और गहरी और घातक दुरभिसन्धि की
शुरुआत।
शुरुआत और अन्त। सब-कुछ इसी तरह
होता है।
कमज़ोर हाथों की साज़िश से निकल कर
फिर से उसी में डूबता हुआ।
और तुम इससे इनकार नहीं कर सकते।

आज भी वही बदसूरत, चिरपरिचित फीके
रंगीन चिथड़े
तुम्हें दूर से शहर के ऊपर लहराते हुए
दिखते हैं।
वही अर्थहीन, उकता देने वाली, समरस धुन
घरों में लगातार बजती रहती है।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।
क्योंकि इस सबसे अलग
अगर कोई दुनिया सचमुच तुम्हारी है
तो तुमने उसे अभी तक खोजा नहीं है।
आज़ादी एक ऐसा तवील खून-खराबा है
जिसका तुम्हारे एहसास में ज़रा-सा भी दखल
नहीं।
तुमने पाया है इस अँधेरे, सील भरे और बदबू-
दार तहखाने में
इक्कीस वर्ष काटने के बाद भी तुम वयस्क नहीं
हुए हो। और
समय। ऐसा समय कि सब-कुछ
अपने आप व्यवस्थित हो जाय

नहीं आया है।
अगर कोई खुशी है इस आज़ादी में—
खुद अपने-आपको नष्ट करने की खुशी के
इलावा—
तो उसे तुम पा नहीं सके हो।

एक बहुत गहरी और निर्मम दलदल में फँस
गये हैं।
तुम्हारे पाँव। और तुम कुछ नहीं कर सकते।
तुम भटक गये हो। लेकिन तुम कुछ नहीं कर
सकते।
तुमने अपने एहसास को लगातार मरते हुए
देखा है
तुमने सुनी है सहसा जगकर। नींद के कोहरे
को भेद कर
अब तक आती हुई। वह आवाज़ या चीख-नुमा
कचोट। लगातार।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।

तुम प्रार्थना नहीं कर सकते।
क्योंकि तुम्हारे पास वह आदिम भय नहीं है
जिससे सब प्रार्थनाएँ निकलती हैं।
तुम लड़ नहीं सकते
क्योंकि तुम्हारे पास हथियार नहीं हैं।
वे तुम्हें बोलने भी नहीं देंगे।
तुम्हारे बचपन के सपनों की दूसरी तरफ़
बसा हुआ तुम्हारा असली देश
एक बहुत लम्बी अन्धी गली है
जिसके पार तुम कभी जा सकते थे।

तुम असंतुष्ट हो सकते थे।
इसके बावजूद कि तुम्हें हमेशा
सन्तोष और त्याग का पाठ पढ़ाया गया था।
तुम अपने-आपको रोक सकते थे
अपने अन्तर के ज़हर से लगातार

गुलाम और बीमार और अपंग बच्चे पैदा
करने से
लेकिन तुम्हारे पास उद्धरित करने के लिए
वंश-रक्षा का एक लम्बा और कामयाब
इतिहास था।

तुम एक बार
तुम सिर्फ़ एक बार पूरी साँस से चीख
सकते थे।

अपनी आवाज़ की बुलन्दी से
आकाश को अन्तहीन खण्डों में
विभाजित करते हुए।
लेकिन तुम्हें हमेशा शान्त और सभ्य रहने
और भविष्य में आशा बनाये रखने का
सबक दिया जाता रहा है।
और देश। धीरे-धीरे यह शब्द तुम्हारे लिए
कितना बेमानी और व्यर्थ हो गया है।
तुम्हारे अन्तर के शान्त गहरे निस्तब्ध मौन
पर उगते रहे हैं मदार के जंगल पर जंगल।
तुम्हारे दिमाग़ की परती पर लपटों के अन्तहीन
पेड़।

और अब तुम सिर्फ़ खड़े हो।
तुम एक लम्बे अर्से से अपने साफ़ और सफ़ेद
कपड़ों को बचाते हुए
एक बहुत गन्दे और बदबूदार नाले के किनारे
खड़े हो।
और उसे अपना देश कह रहे हो।

परिवेश : संस्कार और संवेदना

(हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में)

रमेशचन्द्र शाह

हर सार्थक कथाकार का अपना एक संसार—एक निजी मानसिक परिवेश—होता है जो कि उसके अतीत से ताल्लुक रखता है और चेतना-प्रवाह में जिसके जीवित स्पन्दन की सुलभता उसे कथा-रचना में प्रवृत्त करने वाले कारणों में से एक हो सकती है। यह कहना कि कोई रचनाकार संस्कार के स्तर पर अपने एक खास निजी परिवेश में स्थापित है, एक प्रकार से देखा जाय तो, यह कहने के बराबर है कि उसकी संवेदना भी एक खास मायने में 'स्थापित' है। इस दृष्टि से विश्लेषण की सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर की तुलना में मोहन राकेश की संवेदना (सेंसबिलिटी) कम स्थापित है, लगभग उसी प्रकार, जैसे कि प्रेमचन्द के मुकाबले अज्ञेय की संवेदना।

कई कहानियों का अध्ययनानुभव हमें यही सोचने को बाध्य करता है कि कहानी में व्यक्त परिवेश जितना मूर्त्त और स्वतःस्फूर्त्त (यह शब्द सार्थक है) होगा, उससे उभरा हुआ व्यक्ति (चरित्र) भी उतना ही सजीव और प्रत्यक्षसंवेद्य होगा। जो वस्तु को देख सकता है, उसका जीवन्त अनुभव करा सकता है, वह व्यक्ति को, पात्र को 'रियलाइज़' कर सकता है, ऐसा मानना स्वाभाविक लगता है। अन्ततः परिवेश भी तो बहुत सारे व्यक्तियों की—समूहगत मानव की—निर्मिति है। हम अपनी प्राथमिक संवेदनाएँ परिवेश से ही ग्रहण करते हैं, व्यक्तियों से नहीं। हमारे अस्तित्व की प्रथम संवेदनाएँ, प्रथम बोध ही परिवेश के होते हैं। अलग से उनको देखना-समझना—हम बहुत बाद से शुरू करते हैं। व्यक्ति और परिवेश की विभक्ति को हमारी संवेदना धीरे-धीरे ही स्वीकार कर पाती है। एक प्रकार से देखा जाय तो हमारी कहानी और कविता की प्राथमिक जड़ें वही हैं—उसी मानसिकता में निहित रहती हैं।

जिनकी संवेदना इस अर्थ में स्थापित है अर्थात् उसका संस्कार लम्बे अरसे तक एक ही विशिष्ट परिवेश में होने की सुविधा जिन्हें मिली है, वे बाद में चाहे उससे बिलकुल कट जाएँ—विशुद्ध आर्थिक कारणों से, याकि आत्मिक मनोवैज्ञानिक कारणों से (जैसे हेनरी जेम्स और जेम्स ज्वाइस), इसका कोई अनिष्टकारी परिणाम उसके लेखन पर नहीं पड़ता। बल्कि विपरीत ही प्रभाव देखने में आता है। भौगोलिक दूरी स्मृति-प्रक्रिया को अधिक उत्प्रेरित करके संवेदनात्मक निकटता को जन्म देती है : जो पहले सीधी सरल राग-संवेदनाएँ थीं, वे अब रचनाकार की विशिष्ट जीवनानुभूति का पैटर्न बनकर रचना में परिणमित होने लगती हैं। रचनाकार की हैसियत से जिसका कोई अतीत नहीं, व्यक्तिगत संस्कार और परिवेश का कोई ऐसा ठोस अनुभव नहीं, जिसके साथ उसका एक सुनिश्चित और जटिल रागात्मक सम्बन्ध हो (चाहे आकर्षण का, चाहे विकर्षण का, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं), उसकी वर्तमान पर पकड़ भी अस्थिर और अनिश्चित होगी—ऐसी आशंका सहज ही हमें होती है। वर्तमान की पकड़ के लिए अतीत की पकड़ आवश्यक लग उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रचनाकार में गहरे कहीं एक विद्रोह, एक सूक्ष्म प्रतिशोधभाव होता है—उस संसार के प्रति, जिसने उसके अस्तित्व की बुनियादी 'इनोसेन्स' को खण्डित किया—उस 'इनोसेन्स' को, जिसके बल पर वह कभी अपने समूचे परिवेश के साथ आत्मीय और एकतान अनुभव करता था, जबकि तत्कथित अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के बीच कोई फाँक नहीं दिखाई पड़ती थी। दार्शनिक जिस भेद और विच्छेद को अपनी तर्कबुद्धि से पाटने की ओर प्रवृत्त होता है और सामान्य औसत आदमी जिसे अपनी स्वार्थमूढ़ता

या सांसारिक सफलता या अज्ञान और अन्धविश्वास से पाट लेता है (याकि पाटने की ज़रूरत ही नहीं महसूस करता क्योंकि अपनी जीवन-प्रक्रिया की बुनियादी असंगतियों के प्रति वह सचमुच सचेत होता ही नहीं) उसको रचनाकार दूसरे ढंग से पाटता है। अपनी रचनाशीलता से। रचना के द्वारा वह परिवेश और व्यक्ति को पुनः करीब लाता है : दोनों को एक-दूसरे के 'टर्म्स' में परिभाषित कर देता है, एक-दूसरे में अनूदित करता और घुलाता है।

जिसने एक खास परिवेश के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पहचान पाई है, परिवेश और व्यक्तित्व की पारस्परिकता को गहरे राग-बोध के स्तर पर जिया है वह दूसरे विपरीत और अनात्मीय परिवेश से बिंधे हुए व्यक्ति की विडम्बना को भी रचनात्मक अभिव्यक्ति दे सकता है। जो आदमी 'देवा की माँ', 'मुर्दों की बस्ती' और 'कस्बे का आदमी' जैसी कहानियाँ लिख सकता है, वही अगर 'दिल्ली में एक मौत' और 'खोई हुई दिशाएँ' जैसी रचनाएँ भी दे जाता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं होती। वह नितान्त स्वाभाविक विकास लगता है कथाकार का। मनुष्य और उसके परिवेश के जीवित अन्तःसम्बन्धों का वही बुनियादी विवेक उसे वहाँ भी काम देता है। काल और स्थान आदमी के अस्तित्व के मूल घटक हैं। काल और भूगोल का यह प्रारम्भिक मौलिक आस्वाद रचनाकार के व्यक्तिगत विकास-क्रम से सम्बद्ध प्रत्येक कालान्तर और स्थानान्तर की जीवनानुभूतियों के आस्वाद और अर्थ को प्रभावित करता है। जो एक निश्चित आत्मानुभूत परिवेश को अपने राग-बोध में ज़िन्दा और सक्रिय, स्फूर्त्त रख सकता है, वह दूसरे परिवेश की मानवीयता को भी मज़बूती से पकड़ सकता है। उस परिवेश को भी, जो कि उसे अनात्मीयता का दंश देती है। विरोध के न्याय से। कमलेश्वर की कहानियों का दृष्टान्त लें तो वहाँ हमें यह पकड़, यह आत्मविश्वास भरपूर दिखाई देता है। यह भी एक कारण—और प्रमुख कारण है कि वे हमें न केवल तथाकथित सामाजिक यथार्थ की, बल्कि तथाकथित व्यक्ति-चेतना के यथार्थ की माँगों को भी पूरी करती जान पड़ती हैं। यह आत्मविश्वास प्रेमचन्द्र में है और कौशिक में भी। प्रसाद और अज्ञेय में वह अपेक्षाकृत कम है। वे इस कमी को दूसरे ढंग से पूरा करने का यत्न करते हैं। और आगे बढ़ें तो, एक आत्मीय परिवेश—जिससे रचनाकार का अन्तरात्मिक लगाव है—और वयस्क जीवन के अनात्मीय परिवेश के बीच का तनाव कमलेश्वर की तरह प्रयाग शुक्ल में भी मिलता है। निश्चय ही इस तनाव की अभिव्यक्ति भिन्न है : अधिक एकालापी, अन्तराभिमुख तथा मनःस्थित्यात्मक···। किन्तु वह है अचूक।···और व्यक्ति तथा उसका परिवेश उनकी कहानियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से एक-दूसरे को संप्रेषित करते प्रतीत होते हैं। स्मृति-प्रवाह का नैरन्तर्य एक परिवेश में दूसरे परिवेश की, एक बिम्ब में दूसरे बिम्ब की घुलावट और टकराहट को संप्रेषित करता है और मनःस्थितियों का तटस्थ चित्रण—वास्तविक अनुभव संभव बनाता है और उनके माध्यम से आत्म-स्थितियों के अन्वेषण की—अनात्म यथार्थता के बीच, उसके ऊपर ही, व्यक्ति की सार्थकता को, उसके अस्तित्व को, सिद्ध और प्रमाणित करने की—भूमिका प्रस्तुत करता है। केवल भूमिका।···इस वैशिष्ट्य को समझने और अलगाने के लिए हम रामकुमार की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। मोटे तौर पर प्रयाग शुक्ल और रामकुमार के बीच कुछ वैसा ही अन्तर दिखाई पड़ता है, संवेदना के गुणधर्म और स्वभाव का, जैसा कि कमलेश्वर और मोहन राकेश के बीच दिखाई देता है। इतना अवश्य है कि प्रयाग शुक्ल अभी उस भूमिका से आगे बढ़ते नहीं दिखाई देते।

परिवेश और व्यक्ति के इस अन्तरावलम्बन को, सामंजस्य और तनाव की इस सर्जनात्मक प्रेरणा को एक-दूसरे स्तर पर रचनाकार के संस्कारों और संवेदना के बीच की कशमश के 'टर्म्स' में भी समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई कलाकार उसी अनुपात में सार्थक और महत्त्वपूर्ण होता है जिस अनुपात में कि यह कशमकश संस्कार-जगत् की अधिकतम गहराई और संवेदन (याने भावबोध) की अधिकतम जटिलता के बीच सक्रिय रहकर रचना में परिणमित होती है। आधुनिक रचना का इतिहास इस कशमकश की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। यहाँ तक कि विद्रोह की 'क्वालिटी' और उसकी रचनागत सार्थकता के बारे में भी आलोचक तभी आश्वस्त हो सकता है जबकि जिससे विद्रोह किया जा रहा है, उसके साथ रचनाकार के सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का प्रमाण रचनाओं से मिले। और यह भी ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का अर्थ मात्र संवेदना के एक विशेषीकृत उलझाव से नहीं है, जैसा

कि अक्सर अपने यहाँ समझ लिया जाता है।

कमलेश्वर की संवेदना और भावबोध अपेक्षाकृत सरल-अजटिल है। किन्तु संस्कारगत जीवन और परिवेश की पकड़ गहरी है। संवेदना की सरलता (और किंचित् सरलता) के कारण बौद्धिकता के आग्रह के वशीभूत होकर मोहवश कई कमज़ोर और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ भी उन्होंने लिख मारी हैं। कुछ रचनाकार होते हैं जिनकी विशिष्ट संवेदनशीलता का, जटिल राग-बोध का ही अनिवार्य तकाज़ा होता है कि वे बौद्धिकता और स्वचेतना का आग्रह रखें, जैसे अज्ञेय, रघुवीरसहाय और श्रीकान्त वर्मा जैसे कथाकार। उनकी यह स्वचेतना उनकी संवेदना का ही अंग याकि कवच हो जाती है। आवश्यक हो जाती है। किन्तु कमलेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। अतः जब कभी उन्होंने अपनी कथाओं को सायास किसी बौद्धिक आशय से, किसी मनस्तात्त्विक विश्लेषणवृत्ति से बुनना चाहा है, वे असफल हुए हैं; जैसे एक 'अश्लील कहानी' और 'पीला गुलाब' जैसी कहानियों में। यों कमलेश्वर की भावुकता बहुधा उनके नियंत्रण में रहती है; पर ऐसी जगहों में वह रिसने लगती है। इसी तरह उनकी व्यंग्य रचनाओं को भी देखा जा सकता है। क्या कारण है कि 'जार्ज पंचम की नाक' एक सचोट कहानी है और 'प्रेमिका' एक घटिया चीज़ ? इसका कारण शायद यही है कि वे परिवेश पर चोट कर सकते हैं; व्यक्ति पर नहीं। व्यक्ति को व्यंग्य का विषय बनाने के लिएं चेख़ोव जैसी निर्मम तटस्थता और जटिल वेदन-तंत्र चाहिए। या श्रीकान्त वर्मा जैसी विश्लेषण-वृत्ति। कमलेश्वर की व्यंग्यवृत्ति और 'विट' भी प्रेमचन्दीय है। जो काम प्रेमचन्द ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में किया है, कुछ-कुछ वैसा ही काम कमलेश्वर ने 'जार्ज पंचम की नाक' में किया है। व्यक्ति की संवेदन-क्षमता और मानवीय जागरूकता को ही कुंठित करने वाले परिवेश पर चोट···। (मैं केवल निहित उद्देश्य और प्रेरणा की समानता दर्शाना चाहता हूँ) जो कथाकार 'मुर्दों की दुनिया' और 'दुःखभरी दुनिया' लिख सकता है, वह 'जार्ज पंचम की नाक' भी लिख सकता है। जिसे वह 'मुर्दों की दुनिया' कह सकता है; उससे घृणा भी कर सकता है क्योंकि वह उससे प्यार कर सकता है—पूरी सजीवता के साथ उसे प्रत्यक्ष करा सकता है एक-एक ब्यौरा···। इसलिए वह उस यांत्रिक परिवेश पर तगड़ा प्रहार कर सकने में सक्षम होता है जो 'मुर्दों की दुनिया' से भी ज्यादा जड़ और अमानवीय है। किन्तु 'प्रेमिका' का व्यंग्य सपाट है। गहरे संस्कार और सरल-सीधी संवेदना का कथाकार यदि व्यक्ति को छीलकर नंगा करना चाहेगा तो यही परिणाम होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि विश्लेषणात्मक—तटस्थ न हो सकेगी इसलिए अधूरी और विकलांग भी होगी। परिवेश में गहरी डुबकी लगाकर सत्य को (और व्यक्ति-सत्य) को उभारना एक बात है और व्यक्ति में डुबकी लगाकर और सत्य को (और परिवेश को) उबारना बिलकुल दूसरी बात है। 'पानी की तस्वीर' का रचयिता 'एक थी विमला' लिख सकता है, सहज लाघव के साथ, क्योंकि वहाँ वह अपनी ज़मीन पर है; क्योंकि वहाँ वह परिवेश के माध्यम से मनुष्य को पकड़ रहा है। इसके विपरीत 'प्रेमिका' में वह अनधिकार चेष्टा करता प्रतीत होता है। वैसी वस्तु को उजागर करने के लिए 'आयरनी' के सूक्ष्म औज़ार की अपेक्षा होती है, हल्की-फुल्की विनोद-वृत्ति या शरारत की नहीं। किन्तु 'आयरनी' एक ऐसा अस्त्र है जिसका उपयोग जटिल-भाव-बोध-संवेदना की अपेक्षा रखता है, सरलता की नहीं। आयरनी का उपयोग देखना हो तो चेख़ोव की 'द डार्लिंग' या 'द किस' को पढ़ा जा सकता है। या मोहन राकेश की 'मिस पाल' को।

'राजा निरबंसिया' एक सार्थक प्रयोग है, जबकि 'देवा की माँ' एक शक्तिशाली रचना है: पूरी कथास्थिति मानो रचनाकार के अपने आत्मसंघर्ष का प्रतीक है।···गहरे संस्कारगत अस्तित्व के भीतर से, परिवेश के पूरे लगाव और जुड़ाव के भीतर से निर्मित व्यक्तित्व···, जो उसी संस्कार और उसी परिवेश को आत्म-चेतना के एक ही विस्फोट में अपने से अलग झटक दे सकता है···उसके ऊपर स्वयं की स्वतन्त्र मर्यादा को स्थापित कर दे सकता है।

जहाँ परिवेश रचनाकार के अस्तित्व-बोध का एक बुनियादी घटक हो, वहाँ रचने वाली संवेदना के किसी विशेषीकृत उलझाव (involvement) के साथ या उसके बग़ैर भी कलात्मक उत्कर्ष सम्भव हो जाता है। रचनात्मक वैशिष्ट्य इस विशेषीकरण का मोहताज ही रहे, यह ज़रूरी नहीं है। हाँ, रचनाकार जटिल संवेदना का धनी होना चाहिए। डी० एच० लॉरेंस की अनेक कहानियों का, जेम्स ज्वाइस का और स्वयं कैथरीन मैन्सफील्ड का उदाहरण हमारे सामने है। आत्मान्वेषण, आध्यात्मिक सार्थकता के

लिए छटपटाहट, अवचेतना की गोताखोरी, सन्देश, जीवन-दृष्टि—यह सब विकसित होते जाते हैं समय के साथ-साथ, किन्तु परिवेश की वह पकड़, वह बुनियादी सम्पृक्ति और संगति शुरू से आखीर तक कायम रहती है। मानो अस्तित्व और व्यक्तित्व के सर्जनात्मक संघर्ष की वह शाश्वत पीठिका ही हो। परिवेशगत अस्तित्व की वह पहचान, वह संस्मृति मानवीय तत्त्व के साक्षात्कार के हर सोपान पर सक्रिय रूप से उपस्थित रहती है। और उसे विशिष्ट रंग और ढलन भी देती है। यहाँ तक कि वह एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की तरह बार-बार रचनाकार के भीतर पुनः-पुनः सृष्ट होती रहती है। व्यक्तित्व के विकास का प्रत्येक सोपान मानो अपनी प्रामाणिकता के लिए उसी सन्दर्भ-पीठिका को—जो कि एक तरह से उसके अस्तित्व की ही सन्दर्भ-पीठिका है—टटोलता है। जॉयस का डबलिन बार-बार जन्म लेता है—उसकी रचना-प्रक्रिया की क्रमशः बढ़ती हुई जटिलता में से। सर्जनात्मक दृष्टि से सच्चे निर्वाचन और विच्छेद की पूर्व प्रतिज्ञा ही सच्चा जुड़ाव और उलझाव है। वह परिवेश उनकी संवेदना में बार-बार जन्म लेता है और नया रूप, नया अर्थ ग्रहण करता है।

एक दूसरे प्रकार के रचनाकार भी होते हैं जिनमें अस्तित्व-बोध का संघर्ष पूर्णतः या मुख्यतः उनकी संवेदना—अत्यधिक परिष्कृत और जटिल संवेदना—का ही संघर्ष होता है। संघर्ष का दूसरा आयाम अर्थात् मिले हुए संस्कार का दबाव—एक विशिष्ट काल और स्थान में संपोषित अस्तित्व का दबाव—उनकी सर्जनात्मकता के लिए मूलभूत चुनौती नहीं बन पाता। फलतः संवेदना और संस्कार के रचनात्मक द्वन्द्व की समस्या उनके लिए दूसरे छोर पर सरल हो जाती है। एक सरलता तो वह है जहाँ संवेदना (भाव-बोध) अपेक्षित जटिलता को प्राप्त नहीं हो पाती है जैसा कि कमलेश्वर के यहाँ है। दूसरे प्रकार का सरलीकरण निर्मल वर्मा और रामकुमार के यहाँ दीखता है। इसलिए बहुत बड़े तनावों और तत्त्वों को रचनात्मक उन्मोचन देनेवाली कला की सम्भावनाएँ यहाँ भी स्थगित ही रही आती हैं। अज्ञेय का नाम भी लिया जा सकता है : जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है उनके यहाँ भी परिवेश की—संस्कारगत गहराइयों की—वैसी स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मक सत्ता नहीं है। कम-से-कम जहाँ तक उनके कथा-कृतित्व का सम्बन्ध है, एक विशिष्ट काल एवं भूगोल का अस्तित्व-सिद्ध उलझाव उनकी रचनात्मकता का मूल घटक नहीं है, संस्कारगत मनुष्यता के इस अन्तराल को वे एक ओर अपनी सांस्कृतिक रुचि-दृष्टि से, और दूसरी ओर अपनी विशेषीकृत संवेदना से पाटते हैं। संस्कार की प्रकृति सामान्य होती है; अतः अधिक निकट और प्रत्यक्ष-संवेद्य भी, आम पाठकों के लिए, जबकि संस्कृति में एक दूरी होती है। संस्कार के सर्जनात्मक कार्य को संस्कृति भी पूरा कर सकती है। पर इसके लिए रचनाकार की संवेदना को (सेंसिबिलटी को) दोहरा-तिहरा बोझ वहन करना पड़ता है। उसे अपने विशेषीकृत उलझाव का निर्वाह भी करना पड़ता है और उसके वज़न के परिवेश की प्रकल्पना भी।"
'रोज' को पढ़िए और फिर 'देवा की माँ' को। दोनों अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ हैं। किन्तु 'देवा की माँ' की मार्मिकता का स्रोत हमारे संस्कारगत अस्तित्व की हमारी गहरी पहचान में निहित है, जबकि मालती से पूर्णतः संवेदित हो सकने के लिए उसमें व्यक्त-चित्रित परिवेश पर्याप्त नहीं पड़ता। हमें स्वयं रचनाकार की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। कथानायक के रूप में एक अतिरिक्त संवेदनशीलता के तीखे काव्य-गुण का सहारा लेना पड़ता है। पहली कहानी में परिवेश स्वयं परिस्थिति है कथाकार की संवेदना सिर्फ उसका आकलन करती है। किन्तु 'रोज़' में कथाकार की संवेदना को दोहरा श्रम करना पड़ता है। वहाँ परिवेश की बजाय 'वातावरण' की रचना है। वह यथार्थ लगता है तो इसलिए नहीं कि उसमें संस्कारगत सम्पृक्ति की पूर्णता है, बल्कि इसलिए, कि उसमें रचनेवाली मनीषा का संवेदनात्मक उलझाव पूरा है। वहाँ परिवेश ही संवेदना है। यहाँ संवेदना ही परिवेश है। यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है—दो भिन्न कथा-प्रतिभाओं को परिभाषित करनेवाला।

प्रसाद के 'आकाशदीप' में भी परिवेश क्षीण है; वातावरण ही प्रधान है। रामकुमार की 'डेक' में परिवेश के दबाव की अनुमति है; संस्कार और संवेदना के द्वन्द्व की स्थिति है। किन्तु वह सब कहानी की पृष्ठभूमि जान पड़ती है; अग्रभूमि नहीं। महानाविक बुद्धगुप्त की तरह 'डेक' का नायक भी अकेला ही स्वदेश को लौटता है। प्रेयसी पीछे ही छूट जाती है क्योंकि 'अतीत' (संस्कार) दोनों का भिन्न है। हो चुके को अनहुआ करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। दोनों कहानियों में आत्म-निर्णय नायिकाओं ने लिया है जोकि स्वाभाविक

है, क्योंकि संस्कारगत अस्तित्व की गहराई का बोध और संपृक्त स्वाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक होता है। यह बल्कि कहना चाहिए कि उसके प्रति स्त्री की दृष्टि ज्यादा यथार्थ-वादी होती है। 'डेक' का नायक अपने भीतर के जिस यथार्थ को सरलीकृत भावुकता में घुलाना चाहता है उसकी असल ताकत को नायिका अपनी सहज 'इन्स्टिंक्ट' से समझ लेती है। चम्पा भी सारी कशिश के बावजूद जानती है कि स्वदेश वाली एक भावुक भावना भर नहीं है; वह स्व-देश इसलिए (और तभी तक है) कि उसमें हमारे संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों की पहचान उपलब्ध है, सुरक्षित है। वैसी किसी पहचान का आश्वासन चम्पा के लिए सम्भव नहीं रह गया है। पिता की हत्या के साथ जो चला गया उसे बुद्धगुप्त नहीं लौटा सकता; उल्टे उसकी उपस्थिति बार-बार उसे उसी अतीत में प्रत्यावर्तित करेगी जिसकी कोई पहचान अब स्वदेश में भी शेष नहीं है। अगर शेष है कहीं तो उन्हीं समुद्रों में···। स्वदेश बुद्धगुप्त के लिए है; चम्पा के लिए नहीं, क्योंकि उसके अस्तित्व की परिस्थितियाँ—परिवेश भिन्न रहे हैं। उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों और उसकी संवेदना की बीच की अखण्डता को ही मानों पिता की हत्या ने खण्डित कर दिया है। अतः बुद्धगुप्त का प्यार उसकी संवेदना को ही शेयर कर पाता है; उसे अपने विभाजित व्यक्तित्व का ही तीव्र अहसास कराता है। ऐसी स्थिति में और विकल्प ही क्या रह जाता है! सिवा इसके कि वह उस परिवेश को ही अंगीकार करे—उसी को अपनी संवेदना भी अविभक्त सौंप दे, जहां कि उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों के आच्छादित-आक्रान्त होने की गुंजाइश न हो। बुद्धगुप्त के प्रति समर्पित हो जाने में और उसके साथ स्वदेश लौट जाने में उन गहराइयों के ही विच्छिन्न हो जाने का खतरा निहित है। समर्पण इसलिए सम्पूर्ण भी नहीं हो सकता जिसके बिना व्यक्तिगत प्रेम की सार्थकता सन्दिग्ध है। अतः निर्वैयक्तिक प्यार ही एकमात्र विकल्प है; वही उस अकेलेपन को भर सकता है। वही संस्कार और संवेदना के क्रूर विभाजन को नियति से उबार सकता है। कम-से-कम सह्य तो बना ही सकता है उसे।

प्रसादजी और बाद में रामकुमार जैसे कथाकारों में परिवेश एक धुंधले मनोवैज्ञानिक यथार्थ के रूप में संकेतित होता है···। व्यक्ति मानस के साथ उसके सम्बन्धों को उनकी वास्तविकता में—समूचे जटिल सन्दर्भ के साथ—मूर्त्त करने का उत्साह वैसा नहीं मिलता। हम देखते हैं कि रामकुमार की कथा-स्थितियों और पात्रों में अकेलेपन का यह पैटर्न रूढ़-सा होता जाता है···। परिवेश···और उससे छूटकर स्वतंत्र होना चाहती संवेदना के बीच अधर में झूलती व्यक्ति-चेतना का अकेलापन···। मुश्किल यही है कि परिवेश की···संस्कारगत अस्तित्व (या अनस्तित्व) की बुनियादी चुनौतियों के साहसिक साक्षात्कार की प्रेरणा और शक्ति वहाँ बहुत क्षीण है। अवगति है, तनाव भी है; पर जड़ें कमजोर होने के कारण तनाव ढीला हो जाता है,—और वही—वही संवेदना का—अतिरिक्त संवेदना का धुँधलका—पुनः-पुनः घिर आता है। कलाकारिता की विजय इसीलिए बहुत बड़ी और कन्विन्सिंग नहीं हो पाती, क्योंकि कहीं उसमें हमें कलाकार की थकान भी अन्तर्निहित प्रतीत होती है। यह स्थिति और भी तीखे रूप में हमें निर्मल वर्मा की कहानियों में अनुभव होती है। संस्कारगत अस्तित्व की सारी चुनौतियां वहाँ जैसे कलात्मक संवेदना के एक खास विशेषीकरण में रूपान्तरित होने को छटपटाती जान पड़ती हैं और इस वैशिष्ट्य का महँगा मोल चुकाना पड़ा है। परिवेश रूपान्तरित होते-होते लुप्त हो गया है और उसका पूरा भार सवेदना पर आ गया है। मोहन राकेश के साथ ऐसी चरमता तो नहीं है। फिर भी उनकी संवेदना और संस्कार काफी विस्थापित हैं। परिवेश एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की चुनौती के रूप में कम सक्रिय है।

स्थिति-स्थापकता का यह पैटर्न जो प्रसाद और प्रेमचन्द, अज्ञेय और जैनेन्द्र, मोहन राकेश और कमलेश्वर, रामकुमार और प्रयाग शुक्ल इत्यादि के बीच सक्रिय दिखाई देता है, कुछ-कुछ लगभग वही पैटर्न बाद की पीढ़ी में दूधनाथसिंह और ज्ञानरंजन जैसे कथाकारों के बीच झलकता है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव यदि दूधनाथसिंह में अधिक प्रगट है तो परिवेश की आत्मीयता-अनात्मता के अवगाहन की चेष्टा ज्ञानरंजन में···। 'फेंस' के इधर-उधर' और 'पिता' जैसी कहानियों में यह रुझान स्पष्ट है। उधर आत्मस्थितियों की अतिसंवेदना को कथास्थितियों की अतिरंजना से संतुलित और सघन करने की जिस कला का सूत्रपात 'रोज़' द्वारा हुआ था, कुछ-कुछ उसी प्रकार का पैटर्न दूधनाथसिंह की 'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि इन रचनाओं के संतुलन की अपेक्षा अति-

रंजना का अनुभव अधिक होता है। दूसरी ओर दूधनाथसिंह ने 'दुःस्वप्न' और 'प्रतिशोध' जैसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें व्यक्त यथार्थ अधिक वास्तविक, गत्वर तथा परिवेश की सामान्य लय-गति से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव वहाँ उस तरह आड़े नहीं आता क्योंकि परिवेश की सत्ता वहाँ काफी कुछ प्रत्यक्षसंवेद्य है और उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति-चुनौती के समकक्ष ही स्नायविक उत्तेजना भी प्रतीत होती है। थोड़ी अतिरिक्तता है भी, तो वह उस तरह खलती नहीं।

इसे एक विडम्बना ही कहें कि अपने यहाँ अनेक कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे परिवेश का प्रश्न संस्कार और संवेदना के जटिल अन्तःसम्बन्धों का प्रश्न न होकर मात्र शिल्प-सज्जा का, याकि तथाकथित नग्न यथार्थवाद का प्रश्न हो। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यदि परिवेश-कृत संवेदना आपकी रचनात्मकता की बुनियादी घटक नहीं बन सकी तो न सही ; आप अपनी विशेषीकृत संवेदना की जटिलताओं को ही ईमानदारी से निबाहिए। पिछली पीढ़ियों में यह ईमानदारी थी। वे अपनी सीमाओं से परिचित थे और अनधिकृत अतिक्रमण का लोभ संवरण कर ले जाते थे। मगर ठेठ वर्तमान का जहाँ तक सवाल है कुछेक अपवादों को छोड़कर हिन्दी कहानी का विकास एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का शिकार होता जान पड़ता है। यहाँ न तो विशेषीकृत संवेदना की वैसी एकाग्र-संकेन्द्रित संरचनाएँ दीखती हैं, न परिवेश-संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों का—वैसा मन्थन ही; जबकि परिवेश की चर्चा जितनी आज होती है उतनी शायद ही पहले कभी हुई हो। संस्कारगत अस्तित्व की गहरी संघर्षशीलता के अभाव में परिवेश-चित्रण मात्र अलंकरण रह जाता है : निरी संवेदना का विलास, याकि हराम की, अनर्जित, अनधिकृत कड़वाहट—जिसके पीछे संस्कार और संवेदना के जीवनव्यापी संघर्ष की कोई सन्दर्भ-पीठिका नहीं है। जिसके पीछे रचनाकार का कोई निजी और विशिष्ट अन्तर्जगत् भी नहीं होता।

परिवेश की आत्मीय अनुभूति तो भारतीय प्रतिभा के सन्दर्भ में सहज स्वभाव-सिद्ध-सी लगती है। होनी चाहिए। किन्तु उसके निकट निरीक्षण और ऐन्द्रिक पकड़ की प्रवृत्ति अपने यहाँ के साहित्य में उतनी परिलक्षित नहीं होती। किसी-न-किसी आदर्श, दार्शनिक कल्पना, नैतिक आग्रह की आक्रान्ति के फलस्वरूप ही मानवीय चित्रण धुँधला और सुदूर-सा हो जाता है। इस धुँधलेपन और सुदूरता की विस्तृत चर्चा बाद में···। अभी तो सिर्फ इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि इस धुँधलके में मानवीय उपस्थिति की सजीव तात्कालिकता क्षीण हो जाती है और रचना की संभावनाएँ, उसका उत्साह भी क्षीण होते जाते हैं। सदियों के बाद भारतीय रचनाशीलता (और हिन्दी कहानी) जिस कुण्ठा से उबरी है, अभूतपूर्व और स्पृहणीय विकास, गति के बावजूद उपर्युक्त खतरे के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है।

युवा-कविता की भाषा

प्रभातकुमार त्रिपाठी

कविता की प्रामाणिकता या उसकी रचनात्मकता पर सोचते हुए मैंने यह बात शिद्दत से महसूस की है कि शायद 'भाषा' ही वह रास्ता है जिससे गुज़रकर या जिसे पहचानकर हम कविता पा सकते हैं। यह भी जान सकते हैं कि शब्दों के भीतर छिपे हुए कवि-चेहरे को, शब्दों ने गढ़ा है या अनुभव की रचनाकुलता ने। इसलिए मुझे यह भी लगा है कि कविता का महत्वपूर्ण होना विषय या कथ्य पर नहीं, बल्कि भाषा पर है। कवि की अनुभूति की सार्थक-अद्वितीयता और उसकी प्राण-भरी पीड़ा की पहचान उसकी भाषा ही कराती है और इसलिए यह शायद ज़रूरी है कि कविता की भाषा के वास्तविक मूल्य को पहचानने की कोशिश की जाए।

इस कोशिश की शुरुआत के पहले, इससे जन्म ले सकने वाली, एक संभाव्य ग़लतफ़हमी की चर्चा भी ज़रूरी है। ग़लतफ़हमी यह पैदा हो सकती है कि भाषा को इस प्रकार के 'उच्च-आसन' पर विठाकर मैं शिल्पचेतना को अतिरिक्त महत्व देना चाहता हूँ। दरअसल भाषा को महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे मेरा आशय, भाषा के द्वारा कविता के भीतरी रचाव को पकड़ने से है। यह पकड़, सिर्फ़ शिल्प-संचेतना की पहचान नहीं है बल्कि कवि के होने और न होने की पहचान है। अगर ऐसी कोशिश के द्वारा यह पहचान संभव नहीं हो पा रही हो, तो ज़ाहिर है कि इस कोशिश का—भाषा पर सोचने की इस कोशिश का—नतीजा एक ऊब-भरा शास्त्रीय व्यायाम ही हो सकता है। पिछले दिनों हिन्दी की युवा-कविता की चर्चा में, यह कई बार हुआ भी है कि कविता की भाषा का मतलब, शब्दों का एक खास और स्थिर समूह ही मान लिया गया है।

कविता की भाषा कहाँ पैदा होती है—यह कह सकना कठिन है, पर इस बात को अस्वीकार कर सकना कठिन भी है कि वह शब्दावली में पैदा नहीं होती। कवि शब्दों के सहारे कविता नहीं, बल्कि कविता के सहारे (सहारे क्यों—कविता के मारक दबाव के कारण) कुछ शब्द तलाशता है और पारस्परिक-विनिमय की सामान्य भाषा को निजी बनाने की कोशिश करता है। यह कोशिश ही कवि का वास्तविक धर्म है, इस योग के साथ कि इसमें हमेशा एक गतिशील अधूरापन है।

कवि के द्वारा शब्दों की तलाश की मूल-प्रेरणा, उसका भीतरी संसार है। अपनी तड़प, अपनी यातना और अपनी लड़ाई को कहने के लिये वह इसलिए विवश है क्योंकि वह एक 'भाषा-भरे' संसार का निवासी है। यही कारण है कि उसके भीतरी संसार की तमाम रीतियाँ 'वैयक्तिक भूमि पर सामयिक संबंधों की निर्भरताओं' (श्याम परमार) के कारण पैदा हुई हैं। कविता की भाषा के संबंध में इन 'निर्भरताओं' का महत्त्व सर्वाधिक है, पर युवा-कविता की भाषा—इन निर्भरताओं की भाषा नहीं है। अपने अधिकांश में युवा-कविता का मुहावरा एक नये किस्म की सजावट का मुहावरा है, जो सामयिक-संबंधों से विद्रूप होते जा रहे व्यक्ति जीवन की यातना को सिर्फ़ 'शब्द' बना देता है।

ऐसा क्यों हुआ है? क्या कारण है कि भाषा और भीतरी ईमानदारी के संबंध में इतनी घोषणाएँ करते रहने के बावजूद कविताएँ भोथरी और शब्द-गर्विता हो गई हैं। मैंने पहले भी कहा है कि कविता की भाषा शब्दों से नहीं प्राप्त होती, बल्कि काव्यानुभव से शब्द प्राप्त होते हैं। अगर युवा-कविता के चेहरे में आदमी की परेशानी की सलवटें उभरी हुई नहीं हैं बल्कि सलवटों के उभरे होने के भाषण हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि अधिकांश युवा-कविता, निजी-अनुभवों की सामान्यता से प्रतिबद्ध न होकर, एक स्थिर विषय-समूह से प्रतिबद्ध है। यही कारण है कि युवालेखन की चर्चा के दौरान, संकट, अनास्था, आक्रोश, विद्रोह, अकेलापन जैसे विषय-सूचक शब्दों का प्रयोग बार-बार किया गया है। इसलिए कवि जब अपनी

यातना को कहता है :

बेहद टूटते जिस्म पर गीली पट्टियों का
कोई असर नहीं होता
चेहरे के नीचे एक उस्तरा निरन्तर काटता रहता है
नाजुक हड्डियों को
अब तक किये गए आभिजात्य कर्म मात्र
चेहरे के पीले बुखार को बढ़ाते हैं
(जगदीश चतुर्वेदी)

या फिर :

मेरे भीतर उग आया है अघोरी प्यार
और बैताल का शव कंधों पर लटक गया है
एक तिलिस्मी सुरंग पर
बहती हुई नदी में मैंने छोड़ दिया है
शताब्दी का कुहराम
(मोना गुलाटी)

—तब लगता है कि कवि की तकलीफ भाषण बन गई है। सामयिक संसार की व्यर्थता से पैदा हुई भीतरी रिक्तता की पीड़ा अपनी अभिव्यक्ति के लिए इसी संसार की भाषा की माँग करती है। ऊपर की पंक्तियाँ आदमी की तकलीफ को अद्वितीयता की एक नकली भाषा में कहती हुई लगती हैं और यह भी लगता है कि उनकी भाषा में अतिरंजना का स्वर भीतरी दुनिया की अनुभवहीनता के कारण है।

ध्यान से देखा जाये तो यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि भाषा की यह हालत कवि-प्रतिभा के नितान्त अभाव के कारण नहीं हुई है। अगर ऐसा होता तो, इस तरह की बहस की कोई जरूरत नहीं थी। इसलिए मुझे लगता है कि कविता की भाषा की समझ के अभाव से और 'विषयवद्धता' के 'दलीय-अनुशासन' के कारण ज्यादा कवि झूठ और अतिरंजना की भाषा के शिकार होते गये हैं।

आधुनिक-संवेदना आदमी के भीतरी संसार को पहचानने और कहने की प्रतिज्ञा और चुनौती को वहन करती है। आदमी का भीतरी संसार न सिर्फ़ प्यार और सुकुमारता से भरा हुआ है और न केवल उग्रता, आक्रामकता और आक्रोश से। दरअसल यह एक चालाक साधारणीकरण है कि दुनिया में तकलीफ, संत्रास, मौत और हिंसा-ही-हिंसा भरी हुई है। और अगर व्यक्तिगत अनुभव की दुनिया में इन स्थितियों को सच मान लिया जाये तो भी रचना की दुनिया इन्हें पहेली और वक्तव्य की भाषा में नहीं स्वीकारेगी। आधुनिकता की चर्चा के बहुत पहले भी जब भारतीय काव्यशास्त्री इसके सम्बन्ध में स्थायीभाव की चर्चा कर रहे थे तो उन्होंने संचारी-भावों की और भावों की आंगिक-वाचिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना भी की थी। यह तब की बात है जबकि जीवन में आज की अपेक्षा कम जटिलताएँ थीं। आज के जटिल जीवन में कविता के मुहावरे को स्थायीभाव की कैद में डाल देना सचमुच एक दुर्घटना है।

कविता अगर इस स्थायी भाव की कैद से छूटकर मानवीय और सहज होने की कोशिश करती है तो हम पाते हैं ढेर सारे साधारण शब्दों के भीतर आदमी की वह दुनिया है, जहाँ भाषा चौंकभरी और सलवटों वाली नहीं है। केवल अभिधार्थों के ऊष्म-प्रयोग से समृद्ध और जीवन्त हो गई है।

ट्रैफिक सिगनल पर रुकी हुई भीड़ में
कहीं नहीं था
मेरे शरीर के लिए कोई अर्थ
कहीं नहीं थी वह शान्त निजी गरमी
जिसे मैं अपना प्रेम कह सकता।
(अशोक वाजपेयी)

या फिर :

अँधेरे और बारिश और हवा की तेज़ धार में
तुम्हारी देह उग आती है
चरम सान्त्वना में भीगती हुई आँखें
सुबह से ही ठहर जाती हैं
एक नन्हें चेहरे का सपना लिए
तुम्हारे स्तन काँपते हैं
चारों ओर फ़ूलों की ढेर में तुम्हारा सुख
तूफान की तरह बेचैन हो उठता है
(दूधनाथसिंह)

अगर हम 'स्थायी-भाव' के चश्मे उतारकर ऐसी पंक्तियाँ पढ़ें तो सिर्फ़ यह कहकर इन्हें टाल सकना कठिन होगा कि ये प्रेम-सम्बन्धी रोमेण्टिक-अवधारणाओं की कविताएँ हैं। सही तो यह है कि ये 'मान्यताओं' की नहीं बल्कि अनुभव के दबाव की कविताएँ हैं। इसलिए उस संसार के व्यक्तिगत साक्षात्कार की भी कविताएँ हैं कि जिस संसार में निजी गरमी पाने का अवकाश नहीं और फिर भी जहाँ प्रेम की, मानवीयता की संभावनाएँ विद्यमान हैं।

इस तरह की कविताओं की भाषा, कविता की भाषा के एक नितान्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत करती है। वह यह कि इस भाषा के द्वारा कवि अनुभव की उपस्थिति को एक ऐन्द्रिक-सांद्रता मिलती है। कवि के निकट दुख या प्रेम अगर एक सामान्यीकृत अनुभव या निष्कर्ष है तो ज़ाहिर है कि उसकी कविता 'ऐन्द्रिक-ऊष्मा' से रहित ही होगी। इस ऐन्द्रिक-ऊष्मा या व्यक्तिगत-अनुभव के अभाव में एक दूसरा नुकसान यह भी होता है कि कविताएँ 'प्रोज़ेइक' हो जाती हैं। हिन्दी की युवा कविता में इस 'प्रोज़ेइक-भंगिमा' के अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। स्पष्टीकरण के लिए एक बात और कह दूं कि 'वर्स' का अभाव ही प्रोज़ होना नहीं है—बल्कि 'पोयट्री' के अभाव के कारण ऐसा होता है।

कविता की भाषा की यह गद्य-परकता, कवि के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह इसलिए एक कठिन चुनौती है कि मानवीय-अनुभव और चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में 'गद्य' के इस अपरिहार्य-प्रभाव को देखा जा सकता है। इससे भागने और भागकर 'शब्दों' की शरण में जाने का रास्ता—कवि का रास्ता नहीं है—नहीं होना चाहिए। इसलिए 'गद्य' से लड़ने के लिए कुसुम रागिनी चाँदनी जैसे 'छायावादी' शब्दों की दुनिया में लौटना लड़ाई से इनकार करना है और इनके स्थानापन्न वाचाल-शब्दों की राह लेना भी क्या वही करना नहीं है? वस्तुतः भाषा को, विज्ञान या प्रविधि की गद्यमय-दुनिया से मुक्त करने के लिए—मैं दुहराना चाहूँगा—शब्द-साधना का रास्ता ही ग़लत है।

भाषा के लगातार गद्य होते जाने की इस नियति को झेलने के लिए कवि-दृष्टि और कवि-संवेदना के हथियार का ही इस्तेमाल किया जा सकता है। संभवतः भीतरी तड़प और रचनाकुशलता के द्वारा शब्दों का ऐसा सांद्र-घोल तैयार किया जा सकता है कि गद्य की उपस्थिति भी उसकी अनुपस्थिति का पर्याय हो सकती है। समर्थ कवियों ने ऐसा किया ही है। हिन्दी में मुक्तिबोध की कविताएँ—जन-कविताएँ—इसका प्रमाण है। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में अंतर्निहित-संवेदना शब्दों के महसूस किए जा सकने वाले गद्यपन को सोखती है। कुछ इस तरह कि मुक्तिबोध की व्याख्यात्मक-उक्तियों की 'आलोचनात्मक-शब्दावली' तक कविताएँ हो जाती हैं। एक सोंधे महकते देशज शब्द के बिलकुल पास—एक संस्कृतनिष्ठ (या तत्सम) का शब्द बेझिझक खड़ा रहता है और भाषा की एकतानता नहीं टूटती।

कहना न होगा कि कविता की भाषा तमाम बाह्य-उपस्थितियों का—दृश्यों और वस्तुओं का—आन्तरिकीकरण करती है। इसके उदाहरण मुक्तिबोध से लेकर, कमलेश जैसे कवियों तक में देखे जा सकते हैं जिनकी कविताओं में आधुनिक-संकट की शब्दावली भले ही न हो, आधुनिक-पीड़ा की रचना ज़रूर है।

कहा जा सकता है और कई बार कहा भी गया है कि आज के आदमी की जटिल दुनिया को, सहज और सामान्य शब्दों की सपाटता में कह सकना सम्भव नहीं है। सौमित्र मोहन ने अपनी लम्बी कविता 'लुकमान-अली' के पश्चात् वक्तव्य में यह कहा भी है कि आज की दुनिया की भयावह विसंगतियों को कहने के लिए फंतासी का शिल्प ही एकमात्र रास्ता है। फंतासी के प्रयोग के औचित्य को स्वीकारना एक बात है किन्तु यह कहना कि यह एकमात्र रास्ता है, फतवा है। पर शब्दों के चौंकभरे-प्रयोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अक्सर ही यह तर्क दिया गया है और पुष्टि के लिए मुक्तिबोध का नाम तो है ही।

पर क्या यह बात सच है कि शब्दों के सहज और साधारण-प्रयोगों के द्वारा आज की दुनिया की विसंगतियां नहीं कही जा सकतीं? शायद ऐसा नहीं है। कामू के उपन्यास 'आउट-साइडर' की भाषा इस तथ्य को प्रमाणित करती है। कामू के उपन्यास की सफलता का मुख्य कारण ही यही है कि इसमें 'कविता' का सार्थक उपयोग सम्भव हो सका है। ब्रेख्त के नाटकों के संवंध में भी यह बात कही जा सकती है गो कि ब्रेख्त में 'फंतासीनुमा' कौशल का ऊष्म-उपयोग भी है।

हिन्दी में रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा की कविताएँ भी भाषा के रचनात्मक प्रयोग को प्रमाणित करती हैं।

लौट आओ फिर उसी खाते-पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर बुलाते हैं
मार फड़फड़ाते हैं पंख साल-दो-साल गले बँधी घंटियाँ
पढ़ी-लिखी गरदनें बजाती हैं, फिर उड़ जाता है विचार
हम रह जाते हैं अधेड़
कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का, मेरे भीतर एक कायर
टूटेगा

टूट, मेरे मन टूट एक बार सही तरह अच्छी तरह टूट
मत झूठमूठ ऊब, मत रूठ

(रघुवीरसहाय)

कई बार एक अँधेरे से निकलकर
दूसरे अँधेरे में जाने की कोशिश की
लेकिन प्रत्येक बार रुका, मुड़ा
और नहीं जानता हूँ क्यों
अपने ही बनाये हुए रास्तों को पीठ पर लाद
फिर वहाँ लौट आया
जहाँ वह निढाल पड़ी हुई थी

(श्रीकांत वर्मा)

ऊपर की पंक्तियाँ--दोनों ही कवियों की—अनुभव के दो भिन्न छोरों का बोध कराती हैं लेकिन एक बिंदु पर आकर वे एक हो जाती हैं। यह बिंदु है भाषा के भीतर अनुभव का नाटकीय-विन्यास। मैं दोहराना चाहता हूँ कि यह सिर्फ़ कौशल नहीं है, बल्कि सीधा साक्षात्कार है। यह आकस्मिक नहीं है कि ये कविताएँ अतिरंजना-धर्मी शब्दों की कविताएँ नहीं हैं बल्कि भीतरी छटपटाहट को एक्शन में—भाषा के एक्शन में पकड़ सकने वाली ऊष्म-कवि-पंक्तियाँ हैं।

युवा-कविता में कवि की सार्थक उपस्थिति को पाने के लिए, भाषा में विन्यस्त कवि-संवेदना की पहचान और पकड़ ज़रूरी है। अगर इस तरह की कोशिश की जाए तो लगेगा कि मुक्तिबोध की फंतासी से लेकर रघुवीरसहाय की 'अखबारनवीसी' और श्रीकांत वर्मा की नाटकीय-विदग्ध-उक्तियों से लेकर अशोक वाजपेयी के 'फूल' से शब्दों तक में खरी संवेदना का प्रवाह है।

मूल्यांकन

नयी कविता : शोधक, बोधक, अवरोधक ?

प्रेमकान्त टण्डन

पिछले लगभग दो दशकों के बीच हिन्दी काव्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ विकसित होती रही हैं उनके सम्बन्ध में सोचने और लिखने वालों में डॉ० जगदीश गुप्त का प्रमुख स्थान है। 'नयी कविता' के विविध अंकों के सम्पादकीय आदि के माध्यम से डॉ० गुप्त ने इस विषय पर जितना लिखा है उतना संभवत: किसी अन्य लेखक-विचारक ने नहीं लिखा। 'नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ'[1] नामक सद्य:प्रकाशित उनका ग्रन्थ उनके इसी चिंतन एवं लेखन का परिणाम है। विवेच्य कृति में लेखक के ३२ फुटकर निबंध संकलित हैं, जो जहाँ तक हम समझते हैं, 'नयी कविता' के प्रथम अंक के प्रकाशन वर्ष (सन् १९५४) से सन् १९६७ के बीच समय-समय पर लिखे गए हैं। संकलित प्राय: सभी निबंध किसी-न-किसी पत्रिका में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं, अत: इस दृष्टि से पुस्तक में नया कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि संभवत: भारतीय ज्ञानपीठ के अन्य प्रकाशनों, जैसे 'विवेक के रंग', 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' आदि से प्रेरणा ग्रहण करके इस पुस्तक में भी निबंधों को 'जीवन दृष्टि', 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद', 'प्रस्थापना', 'मूल्यांकन' और 'पूर्वापर'--इन छ: प्रधान शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इसके पूर्व कि निबंधों पर किसी प्रकार की चर्चा की जाय, ग्रंथ के प्रारम्भ में 'पुरोवाक्' स्वरूप 'नयी कविता और मैं' शीर्षक दस पृष्ठीय वक्तव्य में लेखक के द्वारा कही गई कुछ बातें विचारणीय हैं। उदाहरण के लिए :

"'नयी कविता' अपने प्रकाशन-वर्ष १९५४ ई० से वर्तमान समय तक यानी लगभग दो-ढाई दशक में···।"

—इस वाक्यांश में सन् १९५४ से अब तक के कालखण्ड को 'दो-ढाई दशक' कहा गया है। प्रस्तुत कालखण्ड 'दो-ढाई दशक' का नहीं, सिर्फ डेढ़-दशक का है। व्यवहार में इसे डेढ़-दो दशक कहा जा सकता है। 'नयी कविता' की प्राचीनता सिद्ध करने का यह प्रयास किस उद्देश्य से प्रेरित है, यह स्पष्ट नहीं हो सका।

आगे डॉ० गुप्त का कथन है : "···मेरे कुछ निकटतम मित्र···मन-ही-मन शंकित हो उठे कि इस भक्ति-काव्य के शोधक और रीति-काव्य के बोधक द्वारा नयी कविता के इतने बड़े काव्यान्दोलन की बागडोर सँभलेगी भी। यह 'कपट-मुनि' तो नहीं है। ताकुला में जो साहित्यिक शिविर·· आयोजित किया गया था···, नयी कविता की चर्चा से आपूरित था।··· 'नयी कविता' का सम्पादन मैं करूँ यह प्रस्ताव भारती का था।"

इस विषय में जानकार लोगों (जो ताकुला के उक्त शिविर में सम्मिलित हुए थे) का कहना है कि शिविर में नयी कविता का प्रसंग कभी-कभार आनुषंगिक रूप से भले ही आ गया हो, आयोजन के अंग के रूप में नयी कविता की कोई चर्चा वहाँ नहीं हुई। शिविर यदि वस्तुत: किसी विशिष्ट प्रसंग में उस अर्थ में आपूरित कहा जा सकता है तो वह था मामा वरेरकर से सम्बद्ध प्रसंग जो निरन्तर किसी-न-किसी रूप में चर्चा का विषय बना रहा। जहाँ तक डॉ० गुप्त को 'नयी कविता' के सम्पादन का दायित्व दिये जाने का प्रश्न है, यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि 'राजकमल' से 'नयी कविता' के प्रकाशन की योजना मूलत: 'आलोचना' के तत्कालीन सम्पादक-मण्डल की एक बैठक में बनी थी जो उस बार भारतीजी के निवास-स्थान पर आयोजित थी और जिसमें 'आलोचना' के प्रकाशक श्री ओमप्रकाश भी उपस्थित थे। 'आलोचना' के सम्पादकों के अतिरिक्त 'परिमल' के अन्य सक्रिय सदस्य उस समय किसी-न-किसी 'प्रायोजना' अथवा पत्रिका के संपादन में व्यस्त थे जबकि डॉ० गुप्त के

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ : लेखक—डा० जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० संख्या ४०८, मूल्य दस रुपये।

पास संयोगवश कुछ अवकाश था, इसलिए 'नयी कविता' के संपादन का कार्य उन्हें ही दे दिया गया था। लेकिन 'कपट-मुनि' पर लोगों को वस्तुतः संदेह था इसलिए 'परिमल' के सदस्य एक ओर तो 'नयी कविता' की समस्त गतिविधियों का पार्श्व-संचालन करते रहे और दूसरी ओर 'नयी कविता' के संपादक के रूप में किसी एक अन्य सदस्य को भी डॉ० गुप्त के साथ निरन्तर रखते रहे। वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए इतना लिखना पर्याप्त है।

अब आइये निबंधों पर।

'जीवन दृष्टि' के अन्तर्गत संकलित 'मानव-मूल्य और साहित्य' शीर्षक निबंध पुस्तक का पहला निबंध है और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मानव मूल्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन करने के अनंतर डॉ० गुप्त ने मानव-मूल्य की जो सटीक तात्त्विक परिभाषा प्रस्तुत की है उसे डॉ० गुप्त के समग्र चिन्तन की एक उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साहित्यिक मूल्य और मानव-मूल्य तत्त्वतः अभिन्न हैं, अतः साहित्यकार के निकट समादरणीय हैं—उनका यह निष्कर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

'नयी कविता : नये मनुष्य की प्रतिष्ठा' शीर्षक निबंध में नयी कविता के उद्देश्य और नये मनुष्य की कतिपय विशिष्टताओं का निदर्शन है। लेखक का कथन है : "अगर कवि के आत्मरंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदन-संप्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।"

(पृ० ३६)

परन्तु 'मानव-मूल्य और साहित्य' के अन्तर्गत कलाकृति के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लेखक यह कह आए हैं कि 'कलाकृति की सार्थकता मुख्यतया इसमें है कि वह अपने जीवन्त सम्पर्क में अनुभूतशील व्यक्ति की सुप्त अथवा अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत और व्यक्त होने की स्थिति उत्पन्न कर दे।" (पृष्ठ २२)

कविता अथवा कलाकृति के उद्देश्य के विषय में डॉ० गुप्त की चाहे जो मान्यता हो, यहाँ जो कथन नयी कविता और कलाकृति के विषय में किये गए हैं उनमें संगति बैठाना कठिन है। या तो नयी कविता कलाकृति नहीं है, या भावाभिव्यक्ति और अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत करने के अतिरिक्त उसका कोई उद्देश्य नहीं है।

यह सुविदित है कि किसी नवीन काव्यधारा की प्रतिष्ठा अथवा किसी नये काव्य-सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त उसके तात्त्विक आधारों, परम्परागत सिद्धान्तों के प्रतिवाद और नई दृष्टि की प्रस्थापना का महत्त्व सर्वाधिक हुआ करता है। विवेच्य कृति में क्रमशः 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद' और 'प्रस्थापना' शीर्षक वर्गों के अन्तर्गत संकलित निबन्धों का इस दृष्टि से अपना महत्त्व है।

'तात्त्विक आधार' के अन्तर्गत सर्वप्रथम काव्य-बिम्ब पर चर्चा की गई है। संस्कृत काव्यशास्त्र में बिम्ब विषयक खोज करते हुए डॉ० गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' का निकटवर्ती शब्द 'अर्थचित्र' है। थोड़ा आश्चर्य होता है कि 'रस-पाश' से मुक्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील डॉ० गुप्त को यह चिन्ता क्यों सताने लगी है कि "यदि 'बिम्ब' कविता के सन्दर्भ में इतनी महत्ता रखता है, तो काव्य का सूक्ष्म तात्त्विक विश्लेषण करनेवाले इस देश के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से वह ओझल कैसे हो गया···।" डॉ० गुप्त की इस चिन्ता को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति अतिरिक्त आसक्ति ही कहा जाएगा। ज्ञातव्य है कि 'बिम्ब' एक आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा है; इसके लिए प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में कोई समानार्थी शब्द ढूँढ निकालने का आग्रह बिल्कुल असंगत है। और यदि किसी को काव्यशास्त्र और काव्यशास्त्रीय शब्दावली में आसक्ति है ही तो 'अर्थचित्र' को ही 'बिम्ब' का एकमात्र निकटवर्ती शब्द क्यों माना जाए? 'शब्दचित्र' उसका निकटवर्ती क्यों नहीं हो सकता, विशेषकर तब जबकि ल्युइस ने भी अपनी पुस्तक 'द पोइटिक इमेज' में बिम्ब के लिए 'शब्दचित्र' पद का प्रयोग किया है और डॉ० गुप्त ने ल्युइस की बिम्ब-विषयक मान्यताओं का समर्थनपरक विवेचन भी प्रस्तुत निबन्ध में किया है? वास्तव में बिम्ब के लिए काव्यशास्त्र में कोई निकटवर्ती शब्द ढूँढ़ना निरर्थक है; मूल वस्तु है अन्तर्निहित दृष्टि और बिम्ब की अवधारणा में अन्तर्निहित दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र में व्यापक स्तर पर लक्षित की जा सकती है। 'सादृश्य' बिम्ब का मूल तत्त्व है; इस विशिष्ट तत्त्व को किसी काव्य-कोटि विशेष में सीमित कर देना उचित नहीं है। अनवरत अर्थानुरणन में सक्षम अनुभूत वस्तु का 'विविड' प्रत्यक्षीकरण—हमारी समझ में यही

बिम्ब है, और इसकी व्याप्ति अलंकार से लेकर ध्वनि तक लक्षित की जा सकती है। रूप और अर्थ के तत्त्व भी इसमें समाविष्ट हो जाते हैं।

निबन्ध के दूसरे अंश में लेखक ने पाश्चात्य बिम्ब-आन्दोलन का सिंहावलोकन करते हुए ल्युइस की बिम्ब विषयक मान्यताओं का स्पष्ट और सरल निदर्शन किया है। अगला निबन्ध है 'अर्थ की लय'। इस निबन्ध के कुछ प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१. "'अर्थ की लय' का प्रश्न नई कविता के रूप-विधान से सम्बन्ध रखता है।"

२. "शब्दार्थमयी कविता का इस लय तत्त्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किए बिना उसके स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है।"

३. "कविता में···भावनाओं की लय प्रकारान्तर से अभिव्यक्त होकर 'अर्थ की लय' का रूप धारण कर लेती है।"

निबन्ध में 'अर्थ की लय' विषयक विवेचन का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :

"'शब्द' और 'अर्थ' तत्त्वतः पृथक सत्ता रखते हैं। संगीत में शुद्ध 'शब्द' ध्वनि एवं नाद रूप में ग्रहीत होता है—अर्थ से असृम्पक्त, निरपेक्ष। इसी प्रकार लिपि में तथा अन्य संकेत-विधियों में 'अर्थ' शब्द-निरपेक्ष होकर अवतरित होता है। शब्द श्रवणीय है; अर्थ बुद्धि-ग्राह्य। वाणी एवं साहित्य में ही आकर शब्द और अर्थ दोनों **अन्योन्याश्रित, असम्पृक्त** तथा अभिन्न अवस्था प्राप्त करते हैं।" (पृ० ८५)

अन्तिम से ऊपर वाक्यों में जो मान्यता प्रस्तुत की गई है, बिल्कुल निराधार है, क्योंकि शब्द और अर्थ का वही सम्बन्ध नहीं है जो शब्द और लिपि का है। शब्द लिपि के बिना भी सम्पूर्ण, समग्र और स्वायत्त है, पर अर्थ के अभाव में शब्द, शब्द नहीं रह जाएगा, ध्वनि हो तो हो। अर्थ के बिना शब्द की कल्पना ही असंगत है। इसी प्रकार, संगीत के संदर्भ में 'शब्द' का प्रयोग उचित नहीं है। संगीत का उपकरण 'स्वर' है, 'स्वर' ही उसमें नाद रूप में गृहीत होता है, शब्द नहीं। और, 'शुद्ध शब्द' से लेखक का क्या आशय है, यह भी स्पष्ट नहीं है। वास्तव में, प्रस्तुत उद्धरण में शब्द, लिपि और अर्थ को लेकर जो विभ्रम की स्थिति है, वह व्याकरण, भाषा-विज्ञान और एक माने में भाषा की प्रक्रिया मात्र से लेखक के अपरिचय की द्योतक है।

उद्धरण के अन्तिम वाक्य के विषय में क्या कहा जाए!—हमारे निकट तो वह एक रहस्य बना हुआ है। हमें इसमें अनुभव की किसी विलक्षण स्थिति की झलक मिल रही है। आचार्य गुप्त ही कभी इसका स्पष्टीकरण कर हमें अनुगृहीत करें कि जीवनानुभव की वह कौन-सी स्थिति है जो अन्योन्याश्रित होते हुए भी असम्पृक्त है; साधना की वह कौन-सी विलक्षण भावभूमि है जो असम्पृक्त होते हुए भी अभिन्न है?

वाणी और साहित्य में शब्द और अर्थ की अन्योन्याश्रित, अभिन्न स्थिति लेखक को भी मान्य है। इसका तात्पर्य यह है कि कविता में भी वे शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार करते हैं। परन्तु जब एक बार शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार कर ली गई है, तब शब्द से असम्पृक्त, उससे सर्वथा स्वतंत्र 'अर्थ की लय' का क्या अर्थ है? लय तत्त्व काव्य का अन्तर्निहित अनिवार्य तत्त्व है, इस अर्थ में कि लय कवि-मानस में भावावेग के रूप में स्वतःस्फूर्त होती है और कवि उसके माध्यम से जीवनानुभव की पुनः सर्जना करता है। यह एक सहज स्वीकृत लक्ष्य है और इसके लिए दुनिया भर के प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं है। और, काव्य क्या, भाषा मात्र में लय-तत्त्व सुलभ है; पर उसका निर्धारण और विवेचन शब्दार्थ समवेत के आधार पर किया जाता है। भावों के अनुरूप विशिष्ट छन्दों के प्रयोग की मान्यता काफी पुरानी है। ऐसी स्थिति में 'शब्दार्थमयी कविता' में अन्तर्निहित लय-तत्त्व को यदि कोई सार्थक और समुचित संज्ञा दी जा सकती है तो वह संज्ञा 'काव्य की लय' हो सकती है, 'अर्थ की लय' नहीं, क्योंकि काव्य में लय-तत्त्व केवल अर्थाश्रित नहीं है, वह शब्दार्थ समवेत की लय है; और इस दृष्टि से लय-तत्त्व का सम्बन्ध कविता के रूप-विधान मात्र से नहीं, कविता की शब्दार्थ संयुक्त सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया से है। 'अर्थ की लय' की कल्पना बिल्कुल असंगत, निराधार और भ्रामक है।

निबन्ध के अन्त में विद्वान लेखक ने 'अर्थ की लय' का बोध कराने के लिए कुछ उद्धरण यह कहकर दिए हैं कि "बहुत-से कुशाग्र-बुद्धि व्यक्तियों के आगे बात तब तक स्पष्ट

नहीं होती जब तक उन्हें उदाहरण देकर न समझाया जाय।" उद्धरणों में से दो, सुधी पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिए जा रहे हैं :

१. अर्थ की लय से हीन **पद्य**

बंजर बुन्देली धरती पर केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।

२. अर्थ की लय से युक्त **पद्य**

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
हर बटोही जिला, ज्योति प्लावन चला;

यहाँ पर लेखक द्वारा 'पद्य' शब्द का प्रयोग कविता और पद्य के मान्य अन्तर को भी अकारण विभ्रमित कर देता है जो एक आचार्य विश्लेषक की शैली में निश्चय ही खटकने वाली बात है, पर यह दूसरा प्रसंग है। 'अर्थ की लय' का बोध कराने के निमित्त लेखक के सतत् सात्त्विक प्रयत्नों के बावजूद भी हम यह समझने में बिल्कुल असमर्थ रहे हैं कि उक्त दोनों उद्धरणों में लय की दृष्टि से क्या अन्तर है ? अब हम इसका निर्णय सुधी पाठकों पर ही छोड़ते हैं कि यदि उद्धरणों का क्रम उलट दिया जाए तो क्या कोई अन्तर पड़ेगा ? स्मरणीय है कि डॉ० गुप्त ने इन उद्धरणों का विश्लेषण करके यह बताने का कष्ट नहीं उठाया कि एक में 'अर्थ की लय' क्यों और कहाँ नहीं है और दूसरे में क्यों और कहाँ है !

'रसानुभूति और सह-अनुभूति' शीर्षक अगले निबंध के अंतर्गत परिवर्तित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'रसानुभूति' के समकक्ष 'सह-अनुभूति' की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में लेखक का कथन है : "नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये बिना विवेक की जागृत अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा देने की क्षमता रखती हो। यही विधा काव्यशास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक् कर देती है। 'रसानुभूति' के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है।" (पृ० ६५)

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना चाहिए कि डॉ० नगेन्द्र 'रस-सिद्धान्त' नामक अपने विषय की प्रसिद्ध और प्रामाणिक कृति में लेखक के उक्त कथन तथा अन्य सम्बद्ध कथनों की निस्सारता का निर्भ्रान्त निदर्शन अपने ढंग से कर चुके हैं। (द्रष्टव्य, 'रस-सिद्धान्त', पृ० ३४६-४८)

इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की हैं: एक तो यह कि रसमय काव्य व्यक्ति (भावक) को शिथिल, निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य नहीं बनाता। व्यक्ति सत्ता के लोप और विवेक के परिहार की स्थिति काव्यानुभूति के परिपाक के क्षण-विशेष—रसानुभूति की स्थिति—में ही आती है, न उसके पहले, न उसके बाद। काव्य के माध्यम से व्यक्ति और समाज के विविध संदर्भों के प्रति भावक की जागरूकता और सक्रियता की सिद्धि अपरोक्ष रूप से बराबर होती रही है, चाहे वह काव्य तुलसी का रामचरितमानस रहा हो चाहे रघुवीर सहाय की कविता। यदि ऐसा न होता तो रससिद्ध कवीश्वर बिहारी के रसमय दोहे ने मिर्जा राजा जयसिंह को अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत न किया होता। दूसरी बात यह है कि रसानुभूति और सह-अनुभूति परस्पर विरोधी अनुभूतियां नहीं हैं। वस्तुत: ये एक ही अनुभूति की दो सरणियाँ मात्र हैं : प्रतीति प्रत्यय रसानुभूति परिपाक की स्थिति है और सह-अनुभूति उसके पहले की, किन्तु अनिवार्य स्थिति है। सह-अनुभूति तीव्र और गहन होकर रसानुभूति में परिणत हो जाती है जो अनिवार्यतः आनन्दलक्षणीय है। अतः सह-अनुभूति रसानुभूति की प्रक्रिया में अंतर्भुक्त है। बल्कि रसानुभूति तो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि सह-अनुभूति की स्थिति पूरी गहराई के के साथ घटित हुई और उसने भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा दिया है। इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'द म्यूजिक ऑव पोइट्री' में लिखा है : "If we are moved by a poem, it has meant something, perhaps something important, to us; if we are not moved, then it is, as poetry, meaningless."

'नयी कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक निबंध में लेखक का कथन है : "नयी कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है, अतः उसमें एक अंतर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है : यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शैली-गत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषताएं

कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।" (पृ० १०२)

यह देखकर आश्चर्य होता है कि 'सह-अनुभूति का बार-बार उद्‌घोष करने वाले डॉ० गुप्त नयी कविता के संदर्भ में बौद्धिकता की वकालत कर रहे हैं। यही नहीं, विवेच्य कृति में संकलित निबंधों में उन्होंने कविता के विषय में यत्र-तत्र जो कथन किये हैं, वे भी इस दृष्टि से रोचक हैं। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(१) वह (कविता) मनुष्य के भावसंवलित, संवेदना-पूर्ण एवं आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती है। (पृ० ८६)

(२) कविता मानव-हृदय की गहराई और भाव-संवेगों की, विशिष्ट क्षणों में आन्तरिक रूप से परिचालित, गति का प्रतिफलन है। (पृष्ठ ८६)

(३) नयी कविता ने···भावाभिव्यक्ति के अनेक द्वार खोल दिए। (पृ० १०९)

(४) नयी कविता भावना को बिना किसी आडम्बर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने पर आग्रह करती है। (पृ० ११०)

डॉ० गुप्त ने 'कविता क्या है' जैसे मूलभूत प्रश्न को एक बार पुनः उठाकर कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है :

"कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्द है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।" (पृष्ठ ११६)

इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर समर्थ आलोचक डॉ० नामवरसिंह के कुछ सम्बद्ध वाक्य उद्‌धृत कर रहे हैं जिनसे हमारे मन्तव्य की पुष्टि होती है :

(१) "ध्यान देने की बात है कि यह परिभाषा 'नयी कविता' के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है और परिभाषाकार 'नयी कविता' के एक प्रवक्ता ही नहीं, बल्कि स्वयं नये कवि भी हैं। ···इसमें ऐसी कौन-सी नयी बात है जो किसी पूर्ववर्ती परिभाषा में सुलभ नहीं है? ···ऊपर-ऊपर से नया भाव-बोध ओढ़े रहने वाले जब 'कविता क्या है' जैसा बुनियादी सवाल उठाते हैं तो अपने उत्तर में अनजाने ही पुरानी बात दोहराते पाए जाते हैं।" (कविता के नये प्रतिमान, पृ० १८)

(२) "डॉ० जगदीश गुप्त और डॉ० नगेन्द्र दोनों ने कविता के एक ही मूल तत्त्व का सहारा लिया और वह तत्त्व है 'अनुभूति' जिसे काव्य-चर्चा में प्रचलित करने का श्रेय छायावाद को है।" (वही, पृ० २०)

विवेच्य कृति में इस प्रकार की चिंतन-विसंगतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं, पर हमें दुख इस बात का है कि लेखक ने जिन मुन्शी लक्ष्मीकान्त वर्मा को विवेच्य कृति समर्पित की है और जिन्हें वे "नयी कविता की प्रमुख संवेदना के एक विशेष रूप का प्रतिनिधि कवि" मानते हैं, उनके भी एतद्विषयक मत की उपेक्षा कर दी है। लक्ष्मीकान्तजी का निर्भ्रान्त मत है—

१. "काव्यानुभूति की पहली शर्त उसकी रागात्मकता है।" (क ख ग, अंक १३, पृ० ५०)

२. "कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति है।" (नई कविता के प्रतिमान, पृ० १६४)

अब आइये 'प्रतिवाद' वर्ग के निबन्धों पर। पहले दो निबन्ध 'रससिद्धान्त अथवा सिद्धरस का अन्त' और 'साधारणीकरण और कवि की अनुभूति', डॉ० नगेन्द्र की 'रस-सिद्धान्त' नामक कृति की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे। लेखक को डॉ० नगेन्द्र द्वारा किए गए 'काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र वस्तु-तत्त्व के आत्यन्तिक निषेध' पर आपत्ति है। डॉ० गुप्त काव्य में वस्तु-तत्त्व की सत्ता की स्वीकृति के पक्षपाती हैं और अपने इस पक्षाग्रह से प्रेरित होकर उन्होंने एक बात और कही है : "मेरे विचार से रस के प्रसंग में 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' के स्थान पर 'काव्यानुभूति का साधारणीकरण' कहना अधिक उपयुक्त है।" (पृ० १६५)

हम अपने एक निबन्ध ('साधारणीकरण सिद्धान्त और डॉ० नगेन्द्र का दृष्टिकोण', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १६ : अंक १) में डॉ० गुप्त की उपर्युक्त मान्यताओं की निस्सारता का निदर्शन कर चुके हैं। यहाँ उक्त निबन्ध के सम्बद्ध अंश को पुनः उद्‌धृत कर रहे हैं : "डॉ० नगेन्द्र का मत है कि एक ही विषय से संबंधित, एक ही काव्य-प्रसंग में जहाँ वही विभावादि परस्पर भिन्न और विरोधी रूपों में उपस्थित होते हैं, वहाँ उनकी विषयगतता का क्या महत्त्व हो सकता है। उदाहरण के लिए, रामचरित से सम्बन्धित काव्य अथवा नाटकों में सीता कहीं राम की पत्नी के रूप में प्रस्तुत की गई हैं, कहीं उनकी भगिनी के रूप में और कहीं रावण की भगिनी या पुत्री के रूप में। इसके अतिरिक्त, जनकवाटिका आदि के प्रसंग कहीं हैं, और कहीं वे प्रसंग ही नहीं हैं; तुलसी यदि

राम के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं और रावण के प्रति घृणा-भाव तो माइकेल को रावण से सहानुभूति है···। इन परस्पर विषम या नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या साधारणीकरण-व्यापार सम्पन्न नहीं होता ?—यदि सम्पन्न होता है तो वस्तु की वस्तुगतता अथवा विषय की विषयगतता का क्या अर्थ रह जाता है ? इसलिए काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग वस्तुतः कवि की सर्जनात्मक अनुभूति का ही बिम्ब मात्र है। काव्य-प्रसंग तो अपने-आपमें 'जड़-वस्तु' है, उसका चैतन्य अंश है 'अर्थ' और यह कवि के संवेद्य से इतर कुछ नहीं है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु-तत्त्व की सत्ता का पूर्ण निषेध सिद्ध हो जाने पर काव्यानुभूति के साधारणीकरण का विकल्प स्वतः असिद्ध हो जाता है।

डॉ० गुप्त ने डॉ० नगेन्द्र द्वारा स्वीकृत सौन्दर्य-चेतना के 'प्रीति' अथवा 'आनन्द' और 'विस्मय' नामक योजक तत्त्वों के अतिरिक्त 'विश्रान्ति' नामक एक अन्य तत्त्व भी प्रस्तावित किया है : "'विश्रान्ति' भी उसका एक योजक-तत्त्व हो सकती है इस ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया···। 'विश्रान्ति' और 'आनन्द में' में इतना भेद है कि शैवकला दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रान्ति उत्पन्न करने वाली कला को कला ही नहीं माना, केवल उसी को परा कला बताया जो आत्मा को परमानन्द में लीन कर दे।" (पृ० १४०)

जिस प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक के आधार पर यहाँ 'विश्रान्ति' की प्रतिष्ठा की जा रही है, वह यह है—

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥

किसी कला-मर्मज्ञ के द्वारा प्रस्तुत श्लोक का इतना अनर्गल अर्थ किया जाना वास्तव में उसके लिए लज्जा का विषय है। श्लोक में 'विश्रान्ति' शब्द 'रिपोज़' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, उसका आशय 'ध्येय' अथवा 'डेस्टिनेशन' है, जिसके अनुसार श्लोक की प्रथम पंक्ति का सीधा अर्थ होगा : जिस कला का ध्येय संभोग (अर्थात् भोग-विलास) है, वह कला, कला नहीं है।

और, 'रिपोज़' के अर्थ में 'विश्रान्ति' के विषय में तो प्रख्यात मनीषी नोली का स्पष्ट मत है : "In aesthetic language, VISRANTI denotes...the fact of being absorbed in the aesthetic object and the sensation of pleasure sui generis which accompanies that state of consciousness." (एस्थेटिक् एक्सपीरिएंस एकार्डिंग टु अभिनव गुप्त, पृ० ५६)

इस प्रकार, दोनों दृष्टियों से डॉ० गुप्त का 'विश्रान्ति' विषयक प्रस्ताव भ्रामक सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'नये सौन्दर्यबोध' के तथाकथित प्रस्तावक और पोषक डॉ० गुप्त 'आनन्द' और 'विस्मय' के अतिरिक्त और कोई प्रामाणिक तत्त्व सौन्दर्य-चेतना के योजक-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। हम यह बलपूर्वक कह सकने की स्थिति में हैं कि जब तक ये ही दोनों तत्त्व सौन्दर्य-चेतना के योजक-तत्त्वों के रूप में गृहीत किये जाते हैं तब तक सौन्दर्य-बोध मात्र को अनिवार्यतः आनन्द लक्षणीय ही मानना पड़ेगा।

'प्रतिवाद' वर्ग के शेष दो निबन्ध तथा अगले वर्ग 'प्रस्थापना' के अंतिम निबन्ध को छोड़कर सभी निबन्ध सामान्य कोटि के हैं। इनके अंतर्गत नई कविता के विविध पक्षों के सम्बन्ध में प्रायः वे ही बातें एक प्रकार से दोहरा दी गई हैं जो नयी कविता के विषय में सामान्यतः कही जाती हैं। 'प्रस्थापना' वर्ग का अन्तिम निबन्ध 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' उल्लेखनीय है, विशेषकर इस दृष्टि से कि इसमें लेखक नयी कविता को विकसनशील काव्य-प्रवृत्तियों से जोड़ने के लिए आतुर दिखाई देता है।

प्रस्तुत निबन्ध ६५ पृष्ठों का एक लम्बा निबन्ध है। लेखक ने इसमें कविता के उन लगभग चार दर्जन नामों को सूचीबद्ध करने की चेष्टा की है जो "पिछले तीन-चार वर्षों में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रह-संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं।" नयी कविता के समकक्ष समकालीन काव्य का इन अनेक नाम-रूपों में उपस्थित होना डॉ० गुप्त को सम्भवतः सहन नहीं हो सका। इसलिए डॉ० गुप्त ने यथासम्भव प्रत्येक नाम और उसके प्रस्तावक पर वज्रप्रहार करते हुए एक ओर तो उसकी घोर भर्त्सना की है और दूसरी ओर प्रत्येक इतर प्रवृत्ति को नयी कविता का ही एक रूप मानकर उसे नयी कविता के साथ जोड़ने की भरपूर चेष्टा भी की है। डॉ० गुप्त का यह प्रयास सोद्देश्य है, हमें ऐसा लगता है। हमारा अनुमान है कि जिस 'नवीनता' के

आधार पर कविता को परम्परा से काटकर नई कविता की प्रतिष्ठा की गई थी, उसका आकर्षण अब धुँधला पड़ गया है, नयी कविता के स्वघोषित आचार्य अब उससे काफ़ी ऊब चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप डॉ० गुप्त, जिनका आचार्यत्व नयी कविता-आन्दोलन के पहले चरण के साथ अब समाप्त हो रहा है, एक ओर यह कहकर कि "उसने (नयी कविता ने) अपनी उदार बाँहें फैलाकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की यथार्थोन्मुखी चेतना को उन्मुक्त हृदय से अपने में समाहित कर लिया।" (पृष्ठ ४२) और नयी कविता के नाम पर 'हिमविद्ध' की छायावादी कविताएँ लिखकर नयी कविता को परम्परा से जोड़ने के लिए व्यग्र हैं और दूसरी ओर प्रत्येक नवोदित काव्य-प्रवृत्ति को नयी कविता में अन्तर्भुक्त कर नयी कविता को सामान्य से भी जोड़ने के लिए आकुल हैं।

सुधी आलोचक डॉ० माहेश्वर ने डॉ० गुप्त के प्रस्तुत निबंध की उपलब्धियों का बहुत ही समुचित आकलन 'प्रेम लपेटे' वचनों में किया है। (द्रष्टव्य, 'युयुत्सा', जुलाई '६८)। उसका एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है: "साठोत्तरी काव्य-प्रवृत्तियों अर्थात् 'समकालीन कविता-संबंधी विचारधारा का परिदृश्यात्मक अवलोकन' करने वाले नयी कविता के ठेकेदार आलोचक जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' में जिस आलोचना-कौशल का प्रदर्शन किया है, वह समकालीन काव्यान्दोलनों की समीक्षा कम, भँड़ैती ही अधिक मालूम होती है।······समकालीन काव्यान्दोलनों··का कोई गहरा विश्लेषण न प्रस्तुत करके गुप्तजी ने केवल लफ्फाजी का आश्रय लेकर जो मसखरापन प्रदर्शित किया है, वह समकालीन कविता के आक्रोश और नयी कविता-विरोध के विश्लेषणात्मक अध्ययन में बाधक ही सिद्ध हो सकता है।"

डॉ० गुप्त ने विशेषण-वक्रता की ओट में अपने को 'भक्ति-काव्य का शोधक और रीति-काव्य का बोधक' घोषित किया है। डॉ० माहेश्वर के उपयुक्त कथन के आधार पर मूल लेखक की शैली में क्यों न उनको 'नयी कविता का अवरोधक' भी कह दिया जाए? क्योंकि अब तो यही एक अच्छा तुक बैठता है।

समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से नयी कविता को जोड़ने के उपक्रम में डॉ० गुप्त ने प्रस्तुत निबन्ध में यह भी बताया है कि नयी कविता कहने से किन अर्थों का बोध होता है। उनमें से एक अर्थ इस प्रकार है :

"वह कविता, जिसमें पूर्ववर्ती स्थिति के निषेध के साथ अभिव्यंजना की अपरिचित प्रणालियाँ, कथन की विचित्र एवं अप्रचलित भंगिमाएँ और अद्यतन प्रभावों को ग्रहण करने तथा नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति हो।" (पृ० २८२)

नयी कविता का 'साधारणीकरण' करने के लिए अतिशय व्यग्र लेखक ने यहाँ जो शब्द-जाल फैलाया है, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर एक बात हम अवश्य कहना चाहेंगे कि किसी भी भाषा की किसी भी काव्यधारा में 'नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति' नहीं रही है; इस विलक्षण प्रवृत्ति का श्रेय डॉ० गुप्त ने सिर्फ नयी कविता को ही प्रदान किया है। काश, नाम को महत्त्व-हीन मानने वाले शेक्सपीयर आज जीवित होते!

आचार्य गुप्त ने इन निबंधों में जिस शैली का प्रयोग किया है, उसके कुछ रमणीय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(१) उगती हुई हर अरुणाभ किरन को मरोड़ते हुए जो सूरज को (पान की तरह) मुँह में दबा रखने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अब यह सूरज प्रभात का नहीं रहा, इसके ललाट से मध्याह्न का तेज फूटने लगा है और अब इसको छूने-मिटाने का साहस 'संकट-मोचन' पवन-पुत्र ही नहीं बनायेगा, वह वर्षों तक गुफावास करने के लिए झुलसे पंखों वाला क्षुधाजीर्ण संकटग्रस्त सम्पाती भी बनाकर छोड़ सकता है। (पृ० ८२-८३)

(२) 'नूतन कविता' में फिर किसी ने कटौती नहीं की, पर वह अपने आप 'न कविता' सिद्ध हो गयी और सारा सनातन सूर्योदयी आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया तथा उसका घोषणा-पत्र 'घोषित राम' की तरह उत्खनन की वस्तु बन गया। (पृ० २२३)

(३) 'क ख ग' के जुलाई १९६५ के अंक में अकेले 'मुन्शीजी' शहीद होकर रह गये। इक्का-दुक्का पत्रिकाओं और गोष्ठियों में 'ताज़ी' या 'ताज़ा' विशेषण की गूँज-भर सुनाई दी अन्यथा, बिना किसी शोर-गुल के, 'ताज़ी कविता' के ताजिये अपने-आप दफ़न हो गये। (पृ० २४७)

रोचक यह है कि लेखक ने अपने निबंध 'नयी कविता : नया संतुलन' में आचार्य पद्मसिंह शर्मा को छायावाद के विरोधी के रूप में स्मरण किया है और इतिहास का उदाहरण

देते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि जैसे शर्माजी के विरोध के बावजूद छायावाद आगे विकसित हुआ, उसी तरह समकालीन समीक्षकों के विरोध के बावजूद नई कविता विकसित हो रही है। पर यह इतिहास का व्यंग्य ही है कि उसी आचार्य पद्मसिंह शर्मा शैली का अनुकरण कर आचार्य जगदीश गुप्त ने भी नयी कविता के परवर्ती आन्दोलनों का व्यंग्य-विद्रूप-शैली में ज़िक्र किया है। नयी के नाम पर एक ही साँस में नयी कविता का समर्थन और परवर्ती आन्दोलनों का विरोध डॉ० गुप्त के विराट् व्यक्तित्व में ही समा सकता है।

हिन्दुस्तान की कहानी : शवयात्रा

विष्णुचन्द्र शर्मा

'टोपी शुक्ला' **कार्टून की भाषा** में लिखा हुआ एक साम्प्रदायिक तनाव का खाका है। कई घुमाव और मोड़ के बावजूद इसका कथानक एक शवयात्रा में परिणत हो जाता है, जिसमें शवयात्रा का आँखोंदेखा नैरेटर (वाचक) खुद एक मुसलमान लेखक है। लेखक की हैसियत से खुद को नैरेटर (वाचक) के दर्जे पर बैठाने की वजह, शायद यह हो सकती है कि लेखक एक नागरिक की आँखों से उन चेहरों को बहुत करीब से जानता रहा है—और अब स्वाधीनता के बाद वह नागरिक की आँखों से उन चेहरों-मोहरों से तंग आ चुका है। उसे शायद स्वाधीनता के बाद के हिन्दू और मुसलमान चेहरों में एक-सी दहशत, एक-सा खोखलापन, एक-सी मायूसी और एक-सी दकियानूसी हरकतें छेड़ती, छकझोरती और एक हद तक तोड़ती रही हैं। वह नागरिक के दायरे से बाहर आकर, एक नैरेटर (वाचक) की आँखों से, देश के ज्यादातर चेहरों में रेंगती घिनौनी कोशिश की 'शल्य क्रिया' करने में जुट जाता है। और यहीं यह उपन्यास कार्टून की भाषा में, बोलता है, जाने-माने चेहरों को बकोटकर, जानी-मानी सच्चाई के भीतर का गुद्दा निकाल देता है, और भारत के भविष्य की चिन्ता में 'मद्दू के बच्चों, गड्डू और बबलू' से अपनी समझ, प्रयत्न और उलझनें कहने लगता है। और महसूस करता है कि एक हिन्दुस्तान १९४७ के समय मरा था, और एक हिन्दुस्तान, भारत-पाक युद्ध के दरम्यान जीतकर हारा था, और अब एक हिन्दुस्तान है, जिसकी शवयात्रा का वह महज़ एक नैरेटर (कथक या वाचक) है और जिसके दर्शक महज़ अभी तक नाबालिग हैं। सडीवू, मुन्नी और सुर्रो, अनिला, मद्दू के बच्चे, गड्डू और बबलू सभी अपने 'हिन्दुस्तान' के अभी पूरे या अधूरे नागरिक भी नहीं, महज़ शवयात्रा के दर्शक हैं, डरे हुए, हारे हुए, भौंचक-से।

टोपी शुक्ला, लेखक राही मासूम रज़ा, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००, पृष्ठ १७३।

'टोपी शुक्ला' इन्हीं डरे हुए, हारे हुए और भौंचक-से खड़े हुए लोगों के पास रखा हुआ एक कार्टून—एलबम है—सकीना, इफ़्फ़न और टोपी की समस्याओं को समझने और सुलझाने का प्रयत्न। सकीना हँसती है क्योंकि 'अधूरापन और तनहाई शायद इस युग की तकदीर हैं।' इफ़्फ़न महसूस करता है कि नफ़रत, शक और डर काफ़ी नहीं है। और टोपी 'रात के सन्नाटे में उल्लुओं की तरह' बोलता है। और अन्त तक तीनों जन अपने हिन्दुस्तान की तरह कबूल करते हैं—"हमसे तो कुछ न हो सका। हम तो हार गये शायद।"

हिन्दुस्तान की यह कहानी—या शवयात्रा—हिन्दू और मुसलमानों को अभी तक जुदा रखने की घिनौनी कोशिश के बावजूद चल रही है। हिन्दू अपनी 'संसकीरत', अपने खान-पान और अपनी परम्परा की लाश ढो रहा है और मुसलमान अपनी जहालत की लाज ढक रहे हैं। दोनों अपने-अपने संस्कारों में, अलग बने रहने की कोशिश कर रहे हैं, और 'टोपी के सामने कोई और रास्ता नहीं' रह जाता है। वह किसी-न-किसी अवसर पर 'दोनों' के बीच की दूरी को पाटने का मौका तलाश करता है। हारकर अपने लेखक के हाथों नैरेटर (कथक) यह फलसफा कबूल कर लेता है कि 'आत्महत्या सभ्यता की हार है।' और आखिरी वक्त में टोपी के एक हिन्दुस्तान ने 'आत्महत्या कर ली।'—पर 'शवयात्रा' चलती रही।

टोपी मर जाता है और लेखक 'टोपी शुक्ला' की शवयात्रा के नैरेटर (वाचक) के नाते आँखोंदेखी कहानी कहने लगता है। इसके पहले 'आधा-गाँव' उपन्यास में लेखक आधे-अधूरे संस्कारों के तनाव या समग्र की अधूरी पहचान को, आशा से रच रहा था। अब समय वही है, कहानी का हीरो भी वही है—केवल नैरेटर, लेखक और नागरिक की

दूरी बढ़ गयी है। अब लेखक और नागरिक की खीझ का, संदेशवाहक नैरेटर बन गया है।—

'भूमिका' में दो बातें एक साथ, खास उद्देश्य से लेखक ने लिखी हैं—

एक: "टोपी कोई देवता या पैग़म्बर नहीं था। किन्तु उसने 'कम्प्रोमाइज़' नहीं किया। और इसीलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। परन्तु 'आधा-गाँव' की तरह यह किसी एक आदमी या कई आदमियों की कहानी नहीं है। यह कहानी भी समय की है।...**समय के सिवा कोई इस लायक़ नहीं होता कि उसे किसी कहानी का हीरो बनाया जाए।**"

दो: "'आधा गाँव' में बेशुमार गालियाँ थीं। मौलाना 'टोपी शुक्ला' में एक गाली भी नहीं है।—परन्तु शायद यह पूरा उपन्यास एक गन्दी गाली है। और मैं गाली डंके की चोट बक रहा हूँ। **यह उपन्यास अश्लील है—जीवन की तरह।**"

सच पूछिए तो आज की 'हर कहानी और हर जीवनी शुरू' यहीं से होती है। "टोपी बेनाम पैदा हुआ था। पैदा होते ही टोपी ने अपनी छोटी-छोटी आँखों से दुनिया को देखा। उसे जो चीज दिखाई दी वह बड़ी भयानक थी। वह डरकर रोने लगा और उस **अंधकार को ढूंढने लगा जिसमें वह अब तक कुलबुलाया** करता था।" यह भयानक चीज़, मुक्तिबोध को 'अँधेरे में' दीखी थी और यहाँ नैरेटर (कथक) ने 'जीवन की तरह' महसूस की है। 'टोपी एक ही है।' जैसे समय एक ही होता है। केवल 'अँधेरे में ढूंढने की कुल-बुलाहट, समय में सबकी आँखों में अलग-अलग रूपों में पैदा होती है। 'सफ़ेद हो तो आदमी कांग्रेसी दिखाई देता है, लाल हो तो प्रजा सोशलिस्ट और केसरी हो तो जनसंघी।'

सच पूछिए तो यह समय की अश्लील कहानी—एक राजनीतिक पहचान की कहानी है। टोपी, देश की राजनीतिक निराशा या असफलता के लड़ाई-दंगों से 'चीर-चीर' हो जाता है। और यह पहचान बनाये रखता है कि उसने अँधेरे में जो महसूस किया है—वह समय की अधूरी सच्चाई है—समय का एक अवसरवादी हिन्दू-मुस्लिम, भयानक दर्द है—जिसे वह और केवल उसकी जगह से खड़े हुए लोग ही महसूस कर रहे हैं—। गरज़ की, समय की और टोपी की निगाहों में सब बराबर है। 'जीवनी केवल टोपी की नहीं है। यह कहानी इस देश, बल्कि इस संसार की कहानी का एक स्लाइस है।

शवयात्रा या जीवनी या हिन्दुस्तान में, एक 'मुस्लिम लीग, कांग्रेस और जनसंघ से' बड़ा सम्बन्ध भी था, जिसे टोपी के घर वालों की तरह ज्यादातर राजनीतिक अपने अवसरवादी चश्मे की वजह से देखकर भी नहीं देख या समझ सके। और वह **बड़ा सम्बन्ध** इस अलगाव के बावजूद, टोपी और इफ़्फ़न में, टोपी और सकीना के सीने में सुलगता रहा। यह 'बड़ा सम्बन्ध' ही समय का बड़ा भयानक दर्द था—जिसे दादी और टोपी या दोनों तबके के आदमी बड़ी सिद्दत से महसूस करते रहे। 'दोनों अलग-अलग अधूरे थे। दोनों ने एक-दूसरे का अकेलापन मिटा दिया था। एक बहत्तर बरस की थी और दूसरा आठ साल का।'

"तोरी दादी की जगह हमरी दादी मर गई होती न ठीक भया होता।" टोपी ने इफ़्फ़न को पुरसा दिया।

इफ़्फ़न ने कोई जवाब नहीं दिया। उसे इस बात का जवाब आता ही नहीं था। दोनों दोस्त चुपचाप रोने लगे।"

यह कहानी, कहीं वहीं जाकर समाप्त हो जाती है जहाँ देश के पास इस डर, दहशत और नफ़रत की दुनिया का कोई जवाब नहीं है। राजनीति में इस डर का जवाब नफ़रत था, दंगे, खून-खराबी, आगज़नी। और हिन्दू अवसरवाद के हाथ में युवक जनसंघी हो जाता है और मुसलमान मौलवी के हाथ में युवक 'इसलामी छाप'। और आखिर तक 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज़्म की धारा की राह में रुकावट' बनी रहती है।

और इफ़्फ़न सोचता रह जाता है कि 'इन लड़कों को यह कैसे बतलाया जाए कि इतिहास अलग-अलग बरसों या क्षणों का नाम नहीं है बल्कि इतिहास नाम है **समय की आत्मकथा** का।'

वह सोचता है—'पता नहीं **हिन्दुस्तानी हिस्ट्री** कब लिखी जायेगी।'

समय का नैरेटर (कथक) सोचता है—'क्या यह शब्द यूँही पीछा करता रहेगा? टोपी, तुम हिन्दू क्यों हो—या फिर मैं मुसलमान क्यों हूँ? क्यों? यह भी कितना अजीब शब्द है। मनुष्य को जवाब देने पर मजबूर कर देता है। परन्तु अगर किसी के पास जवाब ही न हो तो? तो वह क्या करे आखिर?"

जवाब न मिलने के बावजूद 'नफ़रत की दीवार पर चढ़कर पुरानी दोस्ती झांकना शुरू' करती है और पाती है

कि दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे और उदास हो गये हैं। इफ़्फ़न का इस्तीफा अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी से मान लिया गया। 'उसका इस्तीफा नहीं माना तो टोपी ने।' वह कहता है—"जिस देश की यूनिवर्सिटियों में यह सोचा जा रहा हो कि ग़ालिब सुन्नी थे या शीआ और रसखान हिन्दू थे या मुसलमान, उस देश में पढ़ाने का काम नहीं करूँगा।"

'पाकिस्तान एक बेनाम डर का नाम है।' और नैरेटर (कथक) इस 'बेनाम' डर की पहचान करने के लिए 'समय की आत्मकथा' या टोपी की कहानी सुना रहा है। इस 'समय की आत्मकथा' में लेखक ने डाक्यूमेंट्री न्यूज़ रील की टैकनीक से कथा को कई टुकड़ों में जोड़कर तैयार किया है। वह कथानक में 'जोड़' जानकर कायम रखना चाहता है, ताकि यह बात आसानी से पाठक के दिल में उतर जाए और वह इस कहानी के अन्तरालों में, एक-एक क्षण रुककर सोच सके। सोचने और देखने की यह टैकनीक, महज़ रोचकता बनाये रखने के लिए नहीं चुनी गई है, बल्कि अपनी और समय की 'यातना' को महसूस करने के लिए इस्तेमाल की गई है। फक्कड़ साधु अपनी ही देह पर कोड़े बरसाकर यातना का अनुभव ही नहीं करते हैं, देखने वालों की आँखों में यातना का असर भी उतार देते हैं। यह एक स्तर पर 'आत्म-हनन का तमाशा' भी है, और दूसरे स्तर पर यह उन यौन कुंठाओं, असफल शिक्षा-व्यवस्था गन्दी अफ़वाहों, दमघोटू गुण्डागर्दी और न खत्म होने वाले दो सम्प्रदायों के तनाव की शल्य-क्रिया है। मैं मानता हूँ—राही मासूम रज़ा ने अपनी 'न्यूज़ डाक्यूमेंट्री' में मानव-सम्बन्धों की कुछ मानवी मर्म की गम्भीर तस्वीरें उभारी हैं। और 'शवयात्रा' के अपने देश को वहाँ लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ से पीछे लौटना असम्भव है।...

देह की ढाल : 'रेडीमेड' माल

विष्णुचन्द्र शर्मा

जाँ-पाल-सार्त्र ने अपने नाटक In Camera में तीन चरित्रों को एक गुप्त कक्ष में, अपने-अपने भीतर की आहत मनःस्थितियों की खोज के लिए, एक-दूसरे के आमने-सामने बैठा दिया है। आहत मनःस्थितियों के तीनों ही चरित्र बुरी तरह महसूस करते हैं कि उनके भीतर का नरक किसी दूसरे में है। नरक यातना के तीनों 'डाँडी यात्री' अपनी-अपनी उत्तेजनाओं में मायावी रहते हैं। और यह अजनबीपन की नरक यात्रा, तीनों को भरे-पूरे जीवन से हटाकर अपनी-अपनी आध्यात्मिक गिरावट के 'खोखले शून्य' में भटका देती है। यह खोखला शून्य संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं की आधुनिक जगत् की पगडंडियाँ हैं। तीनों चरित्रों को दूसरों में स्थित अपने-अपने नरक का प्रतिरूप इस खोखली शून्य की यात्रा में दिखता है और अंत तक तीनों अपने ही भीतर के संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं से अजनबी बने रहते हैं।

यही मायावी बुद्धिजीवियों की यात्रा है। वे मानसिक यात्रा से अपने-अपने नरक से साक्षात्कार करने को एक नाटकीय प्रयास करते हैं। उत्तेजनाओं में अक्सर मायावी बुद्धिजीवी औरों का जीवन जीते हैं और अपनी 'कंथा' उधेड़ते रहते हैं।

एक स्तर पर '६० के बाद की कहानी' की रचनाप्रक्रिया 'खोखले शून्य' की खोज का 'नाटक' था और काफी हद तक वह नाटक, मायावी बुद्धिवाद का भी नाटक कहा जा सकता है। यह अपने-अपने नरक के मायावी बुद्धिजीवियों की **अंधी पहचान का नाटक**—हिंदी की '६० के बाद की कहानी' आंदोलन की 'शुरुआत' का नाटक भी कहा जा सकता है।

इस नाटक के तीन अंक हैं—(१) नई कहानी की, नई शुरुआत से, 'नई' कहानी की सांघातिक मौत, (२) सांघातिक मौत के भय का सवाक-चिंतन : नई कहानी की शव-परीक्षा के बाद संबंधों के परिवर्तन का सवाल ! और (३) मौत, सवाक-चिंतन के बीच से 'आत्मीयों को शत्रु में बदलने का सचेत तरीका !

'६० के बाद की हिंदी कहानी' की शुरुआत के पहले से कथा-आंदोलन में ही दो 'खतरे' भी उभर आये थे। एक खतरे की नींव में 'अश्क' की मध्यमवर्ग की कुण्ठित प्रवृति थी जो आत्मीयों को शत्रु में बदलने का सचेत कथा-प्रयोग कही जा सकती है। 'पलंग' से 'अजगर' (विकल्प) तक की यह कथा-यात्रा निजी बदले की भावना की लसदार खीझ की प्रक्रिया है और उसमें घिनौने कथा-प्रयोग का खतरा है। इसी

१. रिश्ता और अन्य कहानियाँ—गिरिराज किशोर, प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या, १६२, मूल्य ४·५०

खतरे का एक दूसरा प्रतिरूप मध्यवृत्त की आत्महीनता की प्रवृत्ति है। यह अपने-अपने 'बचाव' का तरीका है। इस खतरे को एक पंगु और ठण्डी-कथा के दायरे में 'अटका हुआ प्रयास' भी कहा जा सकता है। राजेन्द्र यादव के संग्रह 'अपने पार' में एक ऐसी ही निजी हिदायतों और रुकावटों का ठण्डा कथा-प्रयोग है।

'६० के बाद की कहानी'—आंदोलन ने बड़ी खूबी से इन खतरों को लाँघने या पछाड़ने का प्रयास किया था।

'फेंस के इधर-उधर' के लेखक ज्ञानरंजन ने एक खोखले शून्य या मायावी वातावरण की रचना की थी। यह नया वातावरण पुराने सम्बन्धों से छुटकारा पानेवाले या नये संबंधों में बेहद उत्तेजित रहने वाले युवक की आध्यात्मिक गिरावट का 'खोखला शून्य' था। ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों में अजनबीपन के संस्कारों के युवक की यातना, तनाव, कुण्ठा, विवशता और खीझ को रेखांकित किया। अपनी कहानियों की नयी नाट्य-स्थितियों में ज्ञानरंजन ने एक नये संबंध के तनाव को जन्म दिया।

यह बता देना आवश्यक है कि यह 'संबंधों के तनाव' का नाटक, एक बारीक सूत की बुनाई का, 'मौन तनाव का नाटक' है, जिसमें कुछ भी परिवर्तित नहीं होता है, केवल 'खोखले शून्य' की यातना को महसूस करने की हद तक बर्दाश्त किया जाता है। ज्ञानरंजन के (या उसकी 'काट' की 'रेडीमेड' कहानियों में भी) सभी चरित्र अपने-अपने नरक की यात्रा की तैयारी करते हैं। और खोखले शून्य में अपने 'निजी' अनुभव के 'संबंधों का तनाव' बनाये रखते हैं या उत्तेजनाओं के दौरे को कायम रखते हैं। कहानी की संरचना में, इस सिलसिले को कायम रखने की हरचंद कोशिश की जाती है। दूधनाथसिंह की 'रीछ' कहानी उसी 'यात्रा' के सिलसिले की एक फैंटेसी है। 'रीछ' की प्रतीक-रचना के पीछे एक-एक चरित्र अपनी-अपनी असफल या नपुंसक उत्तेजना को 'छिपाकर मौजूद' रहते हैं।

यह 'छिपाकर मौजूद' रहने का नाटक—सार्त्र के० नाटक का 'रेडीमेड' परिणाम है, जिसमें एक बारीक 'साफ-सुथरे कोण' को बनाने का काम 'ऊब' की मनःस्थिति को सौंपा गया है। साठोत्तर कहानी में ऊब 'साफ सुथरे कोण' का संचालन-सूत्र है—और वह "औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।"

यही ऊब, काशीनाथ सिंह की कहानियों का ज़ायका बदलती है। रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों में ताज़गी लाती है और नये संबंधों के सम्भावित प्रश्नों पर एक खुशहाल 'हेला हवाली' का माहौल रचती है। विजय मोहन सिंह की कहानियों में, यही ऊब नई संवेदना के उदासीन बौद्धिक प्रेतों की ज़बान बन जाती है। महेन्द्र भल्ला और श्रीकान्त वर्मा, ऊब के एक ही स्तर पर रहते हैं, और अपने-अपने निजी अनुभव के मौनाचार को दुहकर, ऊबते हैं, और एक ही स्थिति में ऊभ-चूभ करते हुए, अपने-अपने नरक या 'आत्मप्रेम' की व्याख्या करते हैं।

साठोत्तरी हिंदी कहानी में 'ऊब' का यह अन्वेषण दिलचस्प और सपाट है। एक ही स्तर पर किसी भी कहानी में यह दुहरा रूप मिल जाता है। कहीं शिल्प में दिलचस्प प्रवाह है और कहीं पिटी-पिटाई सपाट संवेदना—'औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।'

हिंदी की साठोत्तर कहानी का एक पर्याय आत्मप्रेम है, और दूसरा आत्मभर्त्सना!

'आत्मप्रेम' लेखक की आंतरिक यात्रा से शुरू होकर आंतरिक खोखले शून्य की महत भूलभुलैया में राह भूल जाता है। आत्म-भर्त्सना, बाहरी जगत् के संबंधों से शुरू होती है और सतही नोक-झोंक में उलझ जाती है। दोनों कथा-यात्री आत्म-यात्राओं के एक बिंदु पर मिलते हैं—वह बिंदु 'आत्म-निचोड़' का होता है जहाँ वे एक साथ अपनी पहचान और दूसरों के नरक की तलाश करते हैं। 'आत्म-निचोड़' की उपलब्धि के बाद औरत के पैर से कहानी शुरू होती है और अपने-अपने नरक के दिमाग तक कहानी को पहुँचा देते हैं।

आत्म-प्रेम आत्म-भर्त्सना और ऊब पर खड़ा हिंदी के '६० के बाद की कहानी' का आंदोलन अब एक संचालन-सूत्र का अन्वेषण कर चुका है। वह मूल संचालन-सूत्र, गिरिराज किशोर की 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह का भी आधार है। वह सूत्र है—'रेप का मज़ा लेंगें और निचोड़ पेश करेंगे।'

अपने-अपने नरक की यातना में 'छिपाकर मौजूद रहने' का सार्त्र का सूत्र नाटक में उसकी समझ को, 'बंद दिमाग की तिजोरी' से बाहर लाने की एक साधना है! लेकिन हिंदी की '६० के बाद की कहानी' की समझ का नाटक, तिजोरी

में दिमाग को बंद रखने का एक पुरज़ोर कार्य है। दिमाग तिजोरी में बंद रहता है, और तनाव भरे नाटक के चरित्र, 'छोटे घर' से बाहर आते हैं, और फिर खुद में उलझकर घर के छोटे दायरे में, मानसिक 'रेप' करते हैं और अपनी आध्यात्मिक गिरावट का निचोड़ पेश कर देते हैं। इस तरह नाटक 'खाली-शून्य' से चलकर 'खाली-शून्य' में 'जीते-जागते आदमी' को छोड़ आता है।

कहानी की 'संरचना' में 'चुपचाप' कुछ घट जाता है। और लेखक अपने भीतर के नरक को, 'दूसरों में चलता या रेंगता हुआ' महसूस करता है। और देखते-देखते दिमागहीन, प्रेतात्मक खोज की यह यात्रा—अचानक 'इन्टेलेकच्युअल डिसकशन' का विषय बन जाती है।

'नई कहानी' की 'नई शुरुआत', 'उसके सांघातिक परिणाम', 'आदमी के भय का सवाक् चिंतन', 'आंतरिक आघात या विकास यात्रा की शव-परीक्षाओं के बाद 'महाशून्य' में एक 'शव' रह जाता है—और तीन अंकों के हिंदी कथा-आंदोलन की यात्रा समाप्त हो जाती है। योरप में महायुद्ध के बाद संकट तथा वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की खुली होड़ शुरू होती है। रंगभेद का युद्ध फैलता है। नये गृहयुद्ध में, नये 'यातना शिविर' बनते हैं। और आदमी अपनी मानसिक विकास की यात्रा में हताश हो जाता है। विश्व-सभ्यता का यह संकट—हिंदी कहानी में 'बावन के तीन डग' की यात्रा रह जाती है। और 'पुराण-गाथा' में वापस लौट आने वाली अज्ञेय-जैनेन्द्र-यशपाल की पीढ़ी के समानान्तर एक तीसरी पीढ़ी जन्म लेते ही 'मायालोक' की 'यौन गाथा' लिखने लगती है। ज़ोरदार बौद्धिक आज़माइश में लगी एक बीच की मोहन राकेश-यादव-कमलेश्वर की पीढ़ी 'पुराण-गाथा' से 'मांस के दरिया' में हेल कर 'यौन गाथा' में मर-खप जाती हैं। और तीन डगों या अंकों का यह नाटक—यह हर बार यही स्वीकार करता है कि 'नये जीवन की शुरुआत' हो गई है। फिर से चौथी पीढ़ी '६० के बाद की पीढ़ी'—'जीवन की शुरुआत में' अपने 'संवाद' और मायावी बुद्धिवाद कोपसार रही है।

गिरिराज किशोर की दस कहानियाँ, इसी संदर्भ में नये रिश्ते के तनाव की कहानियाँ हैं। वे पिछली तीन पीढ़ियों की कहानियों से अधिक अपनी आन्तरिक बुनावट में बहुरंगी कहानियाँ हैं। इन कहानियों का बौद्धिक पाट, हिंदी 'मायालोक' का बौद्धिक पाट है। और हिंदी यात्रा के विकास में, यह पाट चौड़ा भी है। कहानी में बौद्धिक पाट की बारीकी—नोकदार व्यंग्य या कुटावों में—उभरती है। लेकिन गिरिराज किशोर की कहानियाँ भी तनाव या उत्तेजनाओं की 'बाहरी' यात्राओं से शुरू होती हैं। दरअसल उसके नैतिक सवाल 'औरत की देह की गठन' और उसके उपयोग के नैतिक बोध के सवाल हैं। गिरिराज का नैतिक बोध—ज्ञानरंजन की कहानियों की तरह संबंधों के टूटने का आघात नहीं देते हैं। बुनियादी तौर पर गिरिराज किशोर 'राजनीति के सेक्स' के समानांतर 'देह की बेपर्दगी' को खास अहमियत नहीं देते हैं। इसके बावजूद उनकी कहानियों में 'घुटने और टाँग के बीच एक **साफ-सुथरे कोण**' की बेपर्दगी बनी रहती है।

दो कहानी 'समीकरण' और 'क्लर्क' के अलगाव के बावजूद यह साफ-सुथरा कोण ही गिरिराज की कहानी का मूल कोण है। 'समीकरण' कहानी की 'बीबी साहिबा' का हिपोक्रेट व्यक्तित्व कहीं अपनी सभ्यता के चौड़े पाट में पूरे देश को लपेटे लेता है। इस कहानी का सामाजिक व्यंग्य काफी ठण्डा है और शिल्प के गठन में भी बुनियादी 'ठण्डापन' है।

हिंदी का नया पाठक जितेन्द्र, अमरकांत, राजकमल चौधरी, ज्ञानरंजन, विजय मोहन सिंह, विजय चौहान, दूधनाथसिंह और रवीन्द्र कालिया की कहानियों को पढ़ते समय एक 'ठण्डेपन' और ऊब की मनःस्थिति से गुज़रता है, और यह महसूस करता है कि 'ऊब और ठण्डापन' ज़िंदगी का हिस्सा है और ज़िंदगी, 'जीते-जागते आदमी' के अपने-अपने नरक में होती है। गिरिराज किशोर की कहानियाँ, पाठक के इस अनुभव में, इतना और जोड़ देती हैं कि 'ऊब मज़ेदार भी होती है क्योंकि वह ठण्ड में देह की गरमाई बनाये रखती है।'

गिरिराज किशोर अपनी आंतरिक या बाहरी यात्रा के अन्वेषण में निर्भय नहीं हैं और न ही उनकी कहानियाँ काफी निर्ममता के साथ ज़िंदगी की चीड़-फाड़ करती हैं। संजीदगी के साथ गिरिराज किशोर कहानी को उठाते हैं। पाठक महसूस करता है कि 'वास्तविकता और गहराई' को बहुत देर तक इन चरित्रों ने बर्दाश्त किया है। और लोगों का हिस्सा लोगों के हाथों में सौंपने की लेखक में बेताबी है।

'शीर्षकहीन' कहानी के क्लर्क को पत्नी और उसके पिता के संस्कारों से तिलमिलाहट होती है। और तिलमिलाहट या रोबवाद के भीतर से एक हिस्सा और खुलता है जिसमें 'संयुक्त पत्नी वाले दर्शन' का रेशा-रेशा उलझा हुआ है। और 'औरत की देह से शुरू होकर कहानी आदमी के दिमाग तक पहुँच जाती है।' मित्र-पत्नी से काफी प्यार हासिल करने का यह 'दर्शन' कहानी के परिदृश्य-बोध में रेंगता है। और इस प्रक्रिया में पाठक को चरित्र की तरह 'गर्वमिश्रित सन्तोष मिलता' है। दिमाग को तिजोरी में बन्द करने के बावजूद कहानियाँ यह घोषित करती हैं कि 'दिमाग खराब करने में सफल' हुई हैं। जैसे बच्चे अक्सर कच्छा खराब करने के बाद चीखते हैं—गिरिराज किशोर की कहानियाँ—अपने-अपने नैतिक बोध के अन्तर के बावजूद—'राजनीति के सेक्स' के सवाल पर अपने चरित्रों को लिथड़ती या मैला करती हैं। एक फजीहत भरी क्लर्क या पिछड़े तबके की ज़िन्दगी पर—रंग-बिरंगी पत्तियों की तरह 'एक और ज़िन्दगी' चिपकाकर लेखक प्रगतिवाद के शस्त्रागार का एक 'शस्त्र' चमका देता है और काफी 'कान्फ़ीडेन्स' के साथ अपनी 'साइकोलॉजी' का असर डालता है।

'रेप' कहानी में 'राजनीति का सेक्स' थोड़ा बदलता है और वह 'बुद्धिजीवी की आवाज़' बन जाता है। कहानी के चरित्र 'रेप' का मज़ा लेते हैं—और दिमाग पर चढ़ी हुई कहानी मानसिक मैथुन में ढल जाती है। विजय चौहान की कहानी 'माँ' में जो संबंधों के प्रश्न अचानक 'सीधे, निश्चित और प्रगाढ़ सम्बन्ध' को 'डरावनी बात' में बदल देते हैं—'हत्या' कहानी में वही सवाल, गिरिराज किशोर के उतावलेपन में महज़ एक शैतानी-भरा खेल रह जाता है। इस शैतानी-भरे खेल में अकारण 'हत्या' कहानी के सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया—शरीर के दबाव की तरह 'घट-बढ़कर' एक पेंडुलम की तरह जगह-जगह अटक जाती है। यही अटकी हुई 'प्रश्नात्मक दृष्टि' गिरिराज किशोर की कहानियों का 'साफ-सुथरा कोण' है। 'रिश्ता' कहानी के अन्दर 'झाँकने' पर निरी शरीर की 'थरथराहट' नज़र आती है। एक के नंगेपन और दूसरे के नंगेपन के बीच की 'भिन्नता' ही कहानी का 'निचोड़' है।

अक्सर लेखक या चौथी पीढ़ी के आम लेखक 'घुटन के सच्चे प्रवक्ता कहलाने' के जोश में—कहानी में 'फ्री शो' दिखाते हैं। 'फ्री शो' दिखाने के साथ ही—'फ्री-स्टाइल' से 'नायक' कहानी चलती है। 'दरअसल औरतों के प्रति आदमी का दृष्टिकोण ही उसके और दृष्टिकोण को बनाता है।' और जब लेखक का दृष्टिकोण ही औरत को 'चापाकल' और 'पुरुष' को 'नायक' मानने का हो तो उससे आगे बहस पाई ही नहीं जा सकती है। 'रिश्ता', 'नायक', 'वी० आई० पी०', 'हत्या', 'शीर्षकहीन', 'रेप' और 'गाउन' कहानियाँ अपनी 'समझ' में मध्ययुग की कहानियाँ हैं और अपने मायालोक के सन्दर्भ में आधुनिक फैशन की झलकियाँ देती हैं।

'६० के बाद की कहानी' जहाँ अपने सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया में लिखी गई—वहाँ गिरिराज किशोर की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित विश्लेषण के 'खूझे' पेश करती हैं। साठोत्तर कहानी आंदोलन के बाद 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह के आने से हिंदी-जगत् में थोड़ी-सी उत्तेजना के अलावा और कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। साठोत्तर आंदोलन से जुड़ी रहने पर कहानी की बुनावट में जो सलवटें नज़र आती हैं वे विचारों या संवेदना के स्तर की सलवटें हैं।

कथा फैला देने की वजह से काफी बातें खटकती रहती हैं। 'गाउन' कहानी में वही फैली-पसरी सलवटें—भारतीय और जर्मन महिला—सुनीताजी और कार्ली की—'फ्री स्टाइल' की देशी-विदेशी नोंक-झोंक में बदल जाती है—और अद्भुत सामर्थ्य के बावजूद—कार्ली नामर्जाद नंगी—फ्री शो में सारा मज़ा ठण्डा पड़ जाता है। लेखक के बौद्धिक परिवेश का भारतीय और विदेशी संस्कारों का यही प्रतिवाद है।

'क्लर्क' कहानी में—साहब, चपरासी, क्लर्क के 'तिकोने दाँवपेंच में' वास्तविक ज़मीन उभरती भी है—एक अधिकार के बिंदु पर—और मि० सिंह दफ्तर के आघात में महसूस करते हैं कि 'शायद वे नंगे थे।' यह नंगे हो जाने का अहसास—'गाउन' की सुनीताजी को कार्ली से टकराता है और 'क्लर्क' का संस्कार अपने अधिकार के झपट लिए जाने से आहत होता है। इसी एक बिंदु पर 'समीकरण' कहानी की 'बीबी साहिबा' और उनके 'तालुकात' का किस्सा आता है जहाँ लेखक की मूल सूक्ष्मता 'गड्डमड्ड' हो जाती है—और एक माध्यम से लेखक एक 'भारतीयता' के 'संदर्भ' की हिपोक्रेसी को 'चीरफाड़' कर एकाएक किस्से-दर-किस्से की पर्त को खोलने का मज़ा लेता है।

'लोग तो अफवाहजीवी होते हैं।' और अफवाहजीवी लोग जब 'राजनीति के सेक्स' की सूक्ष्मता से हटकर 'क्लर्क', 'समीकरण' जैसी कहानियाँ लिखने लगते हैं—तो एकाएक ख़याल आता है कि आदमी और औरत के हिस्से में लेखक ने नाहक वक्त ज़ाया किया है।

मुल्क़ की सब-कुछ पेचीदगियों को 'निचोड़' कर रख देने में यही भ्रम बना रहता है कि गिरावट का निचोड़ रह जाता है और ज़िन्दगी जीते-जागते आदमी की न होकर—'लेखक की एक विशेष सैद्धान्तिक दृष्टि का पोषण-भर करती है।'

सिद्धान्तों की बुलन्द आवाज़ में कभी-कभी कहानी में छोटी-छोटी बातों के टुकड़े रह जाते हैं जिन्हें लेखक 'निजी अनुभव' के काँटे से फँसाता है। कहीं-कहीं ख़यालों को पुख्ता करने के लिए बड़ी घटना घट जाती है, कभी 'करामाती' परिदृश्य उभर आता है और कभी गप्प या चुटकी बजाकर खासी ज़िन्दगी में दिलचस्पी महसूस की जाती है। यह केवल चरित्रों की रचना-प्रक्रिया का गणित नहीं है बल्कि गिरिराज किशोर जैसे कहानीकारों का यही भूगोल है।

वे ज्यामितीय रेखाओं के टूटने या स्थिति बदल जाने के बाद भी मन से भावुक हैं। उनकी कहानियों में 'टूटेपन का भाव' है, टूटे सम्बन्धों का आघात नहीं है। ऊब का स्वाद है, लेकिन '६० के बाद के जीते-जागते आदमी की ऊब की विवशता नहीं है। अज्ञेय की अतीतजीवी चुनचुनाहट है, लेकिन पुराणग्रन्थ से चलकर देहगाथा की विकास-यात्रा नहीं है। सम्बन्धों की दरार में भाभी, माँ आती हैं—लेकिन पत्नी का 'दर्शन' सब पर हावी हो जाता है।

इसी संदर्भ में रामकुमार की 'समुद्र' की कहानी की याद आती है—जो अपनी गम्भीरता में पूरे मानवीय सम्बन्ध के खोखले रिश्ते को झकझोर देती है—पर झकझोरे जाने की भावुकता या उतावलेपन से उसके चरित्र काफी दूर हैं। जब कि गिरिराज किशोर के चरित्र ही शादी के बाद और शादी के पूर्व की उत्तेजनाओं में अपनी और पराई पत्नियों से जुड़े हैं —और 'फ्री शो' तक पति के संदर्भ में शर्त बदते रहते हैं।

ये कहानियाँ साफ-सुथरी हैं। भाषा, शिक्षा, प्रयोग, शब्द के ऊबड़-खाबड़पन से बचने का लेखक में एक संगठित और इमारती अंदाज़ भी है। भाषा बुद्धिजीवी तौर पर कहानीकार की है जो किस्से को रोचक बनाती है। कहानी की उत्तेजनाएँ मानवीय एसोसियेशन को चमकाने का काम बड़ी खूबी से करती हैं। इसीलिए कहानी में 'एकाएक' सब होता है। 'एकाएक' कहीं लेखक का प्रिय शब्द भी है जिससे उसे सकून-सा मिलता है।—इसी सकून में कभी-कभी ऐसे वाक्य भी आ टपकते हैं—'कभी-कभी के चेहरे जिस्म को गायब कर देते हैं।'

'अर्थहीनता' के संदर्भ का अस्तित्ववादी दर्शन का मुहावरा भी कहानी में नग की तरह जड़ा हुआ है। लेखक पर एक खालीपन ऊपर से लटक गया है और कहानी के प्रवाह में इन मुहावरों की वजह से बातें अधिक जमती भी हैं।

आधुनिकता—शायद लेखक के निजी कोश में—'रुचि-सम्पन्नता का प्रमाण-पत्र' है। वह बहुत-कुछ जानकारी में पढ़ी हुई रचनाओं से अपना मतलब पूरा कर लेता है और अपने अस्तित्व की मौलिकता को 'छिपाकर मौजूद' रखने में भी एहतियात बरतता है।

कई अर्थों में वह 'करामाती' कथाकार है। एक तरह की व्यापारिक कहानियों की 'सिसिआहट' का वह बड़ी खूबी से अपनी कहानियों में इशारा करता है, क्योंकि 'वह अपनी परछाईं को बड़ी और लम्बी रखना चाहता है।' यह बड़ी और लम्बी परछाईं अवसरवादी समझ की भी परछाईं है—जो मध्यवृत के बुद्धिजीवी से ज़रा सटकर घटती और बढ़ती रहती है।

चौथी पीढ़ी के 'सच्चे प्रश्नों और सन्दर्भों' की नोकदार दृष्टि की खोज में निकली गिरिराज किशोर की कहानियाँ, नैतिक बोध की 'कसावट में ढीलापन' लाकर अक्सर निशाने से चूक जाती हैं। राजनीति की पहचान के बावजूद ये कहानियाँ—अराजनीति के शून्य में अटक जाती हैं। हिपोक्रेसी या अधिकार की टक्कर के बावजूद ये कहानियाँ 'अधिकार के लिए' बेचैनी पैदा नहीं करतीं। खास स्तर या दृष्टिकोण के दबाव में ये कहानियाँ 'देह की ढाल' बनाती हैं और बाहरी गिरावट की 'रेडीमेड' भावनाओं की गर्मी महसूस कराती हैं।

समय कम, बेचैनी ज्यादा, या एक छोटे 'रचना संसार' का अंत

विष्णुचन्द्र शर्मा

१६५८ की 'कहानी' पत्रिका में डॉ० नामवरसिंह ने 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' का सवाल उठाया था। १६६६ में 'नौ साल छोटी पत्नी' संग्रह की कहानियाँ पढ़ते समय वह सवाल खुद में 'पर्याप्त कौतुकपूर्ण' लग रहा है। कालिया की कहानियाँ पढ़ने में एक 'हल्की-सी खुशी' महसूस होती है। यह 'रहस्य खुलने की एक हल्की-सी खुशी' कुछ देर तक पाठक को 'अनिश्चय की स्थिति में' खिन्न या भौंचक-सा खड़ा रखती है।

यह 'रहस्य खुलने की हल्की-सी खुशी' की कला, निर्मल वर्मा की कहानियों से रवीन्द्र कालिया को 'उत्तराधिकार में प्राप्त' हुई है। 'खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़' कालिया की कहानियों की 'सफलता और सार्थकता' का जादू है। इस जादू में, 'व्यंग्य के लहज़े' में, 'चौंकाने के लिए छोटी-छोटी बातें ही रह जाती हैं।' बल्कि 'खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़' में ही, कालिया की कहानियाँ 'छोटी-सी बात को लेकर परेशान' कर देती हैं।

डॉ० नामवरसिंह ने नयी कहानी की सार्थकता के सवाल पर इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रांति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी **वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे** जाता है। यह खंडगत अन्तर्विरोधों की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में **कहीं नाटकीय मोड़** पैदा करती है तो **कहीं वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष** करते दिखलाती है। और कभी स्वयं **उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा** दरसाती है या फिर उसके **चिंतन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी)** को चित्रित करती है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोधों पर निहित होता है।"

नौ साल छोटी पत्नी : लेखक रवीन्द्र कालिया, प्रकाशक अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-२। मूल्य छः रुपये।

रवीन्द्र कालिया की ज्यादातर कहानियाँ 'व्यंग्यात्मक लहज़े' में लिखी या कही जाती हैं। उनकी कहानी के 'कथानक में' नाटकीय मोड़ ('बड़े शहर का आदमी' तथा 'पचास सौ पचपन' कहानियों में) भी है, वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष करते चरित्र भी ('दफ़्तर' और 'इतवार नहीं' कहानियों में) दिखते हैं, स्वयं चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा भी ('डरी हुई औरत' में और 'पत्नी' कहानियों में) है, और चरित्रों के चिन्तन और कार्य के बीच विडम्बना को भी ('काला रजिस्टर' तथा 'क ख ग' कहानियों में) चित्रित किया गया है, लेकिन कालिया की कहानियाँ न श्रेष्ठ कहानियाँ हैं और न ही उनके खंडगत अन्तर्विरोध, वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास देते हैं।

कालिया 'नयी कहानी' के नहीं '६० के बाद की कहानियाँ' के लेखक हैं। वे 'अपनी अनुभूति ही' लिखते हैं, और अज्ञेय की तरह ज़ोर देकर अपनी संवेदना के धरातल पर स्वीकार करते हैं कि 'मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति लिखे।' और अपनी अनुभूति के अन्वेषण में, वे अपने 'आभ्यन्तर मोड़' (इनवर्ड टर्निंग) से होकर बाहर की ओर आते हैं। निजी अनुभूति की खोज में कालिया 'संबंधों की कहानियाँ', 'डरी हुई औरत', 'पत्नी', 'मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'सिर्फ़ एक दिन', 'कोज़ी कार्नर', 'सत्ताइस साल की उम्र तक' तथा 'त्रास' लिखते हैं और वृहद् अन्तर्विरोध के 'आधुनिक जीवन की कहानियाँ' 'पचास सौ पचपन', 'दफ़्तर', 'क ख ग', 'इतवार नहीं', 'सड़क पर अँधेरा था', 'काला रजिस्टर' और 'बड़े शहर का आदमी' लिखते हैं। यही वृहद् और लघु अन्तर्विरोधों का 'छोटा', 'बड़ा' संस्करण है। और '६० के बाद की कहानी' के 'परिवर्तन की प्रक्रिया' है।

दोहरे तनाव की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया में कालिया निजी अनुभव में, तीव्रता उत्पन्न कर, एक खास किस्म का पेच डालते हैं और विजयमोहन के लहज़े में दुहराते हैं कि 'हमारे तमाम सम्बन्ध अचानक संदिग्ध और 'सवाल' बन गये हैं!' यह संदिग्ध और 'सवाल' बने हुए सम्बन्ध—बाहरी जगत् की 'मानसिक गुत्थियाँ' और वृहद् अन्तर्विरोध या 'क्राइसिस' ही है। लेकिन यह क्राइसिस सामाजिक चेतना की पहचान में भिन्न रूप से खोजी जाती है और निजी अनुभूति की खोज में भिन्न रूप से प्राप्त की जाती है। रवीन्द्र

कालिया निजी अनुभूति की खोज के धरातल पर सामाजिक चेतना की पहचान करते हैं। और 'सवाल' बन गए तमाम सम्बन्धों पर या तो कालिया स्पष्टीकरण पेश करते हैं या उनकी कहानी निजी अनुभव को बहलाए रखने के साधन ढूंढ़ने में लग जाती है। यह साधन ढूंढ़ने और सफाई देने की प्रक्रिया संवेदना में परिवर्तन का गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाती है।

शिकायती, स्पष्टीकरण और सफाई देनेवाले रवीन्द्र कालिया के ज़्यादातर चरित्र, 'आहत चरित्र हैं। ये चरित्र संवेदना में परिवर्तन के स्तर पर कहीं किसी भी व्यवस्था को सीधा झटका नहीं देते हैं। वे अपने परिवेश का एक माया-लोक निर्मित कर लेते हैं और उन चीज़ों से, जो अचानक हो जाती हैं, ये आहत चरित्र अक्सर घबराते रहते हैं।

'चीज़ें जब इन चरित्रों की बर्दाश्त के बाहर हो जाती हैं,' तब वे या तो 'प्रामाणिक झूठ' गढ़ने लगते हैं, या स्पष्टीकरण देकर ('मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'डरी हुई औरत' में) अपने-अपने 'रोमांटिक लहज़े' को तर्कसंगत बनाने का विकल्प खोजने लगते हैं।

यह संकल्प-विकल्प की दुविधा और चिन्तन कार्य के बीच अटके हुए कालिया के चरित्र, अपने परिवेश या माया-लोक में चलने-फिरने के बावजूद 'निष्क्रिय' रह जाते हैं। वे कहीं संवेदना में परिवर्तन का आभास नहीं देते हैं।

इस दार्शनिकता के निष्क्रिय चरित्रों के मायालोक की निर्मल वर्मा ने शुरुआत की थी और कालिया ने उसे अपने ही कठघरे में सफाई देने को बाध्य कर दिया है।

'काला रजिस्टर' का शिल्प-कौशल और 'क ख ग' कहानी की 'शिल्प-चालाकी' कालिया की इन दो कहानियों को सपाट होने से बचा लेती है। इन दो कहानियों में लेखक जानकर, गढ़ी हुई शिल्पीय कला का सहारा लेकर पाठक के 'दिमाग को एक हल्का-सा झटका देता' है। ये कहानियां पढ़ते समय अनायास यह महसूस होता रहता है कि लेखक के दिमाग़ में या उसके निजी अनुभव के एक कोने में—एक 'हल्का-सा बोझ पड़ा हुआ था' और वह दिमाग पर पड़े हल्के-से बोझ से निजात पाना चाहता है।

यह कथाशैली की 'चातुरी' या 'जादू' कहीं कालिया के निजी संस्कारों के संघर्ष का भी सवाल है। कालिया, पूंजी-वादी व्यवस्था ('दफ्तर', 'क ख ग') या पूंजीपति-कुनबे की व्यवस्था ('काला रजिस्टर') के खिलाफ सीधा झटका देनेवाले लेखक नहीं हैं। वे महज़ हल्का-सा दबाव महसूस करने वाले लेखक हैं। अपने-अपने दायरे की उत्तेजनाओं से विनष्ट रवीन्द्र कालिया के चरित्र, बॉस या 'कैबिन' का स्पष्टीकरण देते हैं, अपनी सफाई चाहते हैं, और 'शरारत' के तौर पर 'शिकायत करने की शिकायत' के बोझ को कबूल कर लेते हैं।

दरअसल कालिया की कहानियाँ, सामाजिक चेतना के धरातल पर, चरित्रों के प्रेम-प्रसंग, उनके नर्वस हो जाने के सवाल और दिमागी तौर पर उनके रोगी हो जाने के खतरों का स्पष्टीकरण पेश करती हैं।

निजी अनुभव में, कालिया की कहानियों के चरित्रों का एक दायरा (या उसका रचना-संसार) विवाह के पूर्व की कुण्ठा का होता है और दूसरे दायरे में पहुँचकर उसके चरित्र प्रेम का **सही अर्थ** शादी के बाद की घुटन में ही जानते हैं। निजी अनुभव के कुण्ठा और घुटन के दायरों में कालिया के चरित्रों को प्राप्त होती है, यौन सम्बन्धों की बेहोशी, बदहवासी और पति-पत्नी या युवक-युवती दोनों की लापरवाहियों का नतीजा! यह 'यौवन-गंध' का सिलसिला ज़िन्दगी को एक बिन्दु पर पहुँचा देता है। यहाँ से पुराने ज़माने के दायरे बदलकर नये जमाने का रचना-संसार बन जाता है और पुराना मनोरंजन, परिवर्तित होकर नये मनो-विलास के साधनों की तलाश में लग जाता है।

'सत्ताईस साल की उमर तक' कहानी का नायक यही सफाई देता है कि 'बरसों से यह बड़े-बड़े शहरों में अकेला रह रहा है और इसने **अपने को बहलाये रखने के साधन** ढूंढ लिये हैं।'

'सिर्फ एक दिन' कहानी का युवक महसूस करता है कि 'अखबार में यदि **विचारोत्तेजक सामग्री** का अभाव हो, तो मुझे नींद-सी आने लगती है और यदि सामग्री अधिक हो, तो नींद की गोलियाँ खाकर सो जाता हूँ।'

'साधन ढूंढकर' या 'सोकर' रवीन्द्र कालिया का युवक अपनी नसों के दबाव से छुटकारा पाना चाहता है। इस युवक की निजी ज़िन्दगी का बहुत संक्षिप्त परिच्छेद होता है—अतीत की कुण्ठा की रहस्यमयी आशंका और वर्तमान ज़िन्दगी की बेकारी, घुटन, 'बोरडम' और आत्महत्या की असफलता। संक्षिप्त अपने परिच्छेद पर सोचते हुए वह आहत होता है, निष्क्रिय रहता है और 'पैरोडी करने में उसे आनन्द' आता है।

कभी-कभी कालिया की पूरी कहानी 'डरी हुई औरत' और 'पत्नी' एक पैरोडी बन जाती है—हताशा और घुटन

की त्रासदीय पैरोडी !

मामूली-मामूली बातों पर निहायत सादगी से कहानियाँ लिखना कालिया की खूबी है। निहायत सादगी से कही हुई कहानियों में आहिस्ता-आहिस्ता कुछ घट जाता है (जैसे 'अकहानी') या आँख-मिचौनी में कुछ होता रहता है (जैसे ('ब···बेशर्म') या कुछ आशंका दबी रह जाती है (जैसे 'बड़े शहर का आदमी') या पत्नी, माँ और पिता के सम्बन्धों में अपनी-अपनी विवशताओं के उघड़ जाने के खतरा बना रहता है (जैसे 'मैं', 'त्रास', 'सिर्फ एक दिन')।

ऐसी कहानियाँ उत्तेजना में लिखी नहीं जाती हैं, बल्कि आहिस्ता-आहिस्ता बातें करती हैं। और खामखाह ही पाठक इन कहानियों को पढ़कर 'बतियाने के मूड में आ जाता है।'

कालिया की कहानियों के ज्यादातर चरित्र 'छोटे परिवार' के हैं। ये चरित्र अपनी-अपनी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ज़िन्दगी से तंग आये, निम्न-मध्यवर्ग के आदमी हैं, जिनके पास 'समय कम या बेचैनी ज्यादा' है। ये चरित्र बम्बई या दिल्ली जैसे महानगरों के हैं जो 'कम समय' में बहुत-कुछ देख या महसूस कर लेते हैं। एक हद तक ये युवक चरित्र कुण्ठित और घुटन-भरी स्वाधीनता के बाद की पीढ़ी के प्रतीक हैं। दरअसल ये प्रतीक चरित्र देश के उस बिन्दु तक पहुँच चुके हैं जहाँ से संस्कृति के घटियापन की शुरुआत होती है। प्रेम और आत्मीय संबंधों (घर, दफ्तर और अस्पताल के परिवेश में) के स्तर पर ये चरित्र 'कमीनगी की हद तक' व्यावसायिक समझौतों में जीते हैं और एक दायरे से दूसरे दायरे में, या एक नतीजे से दूसरे नतीजे तक पहुँचने के लिए बेचैन रहते हैं। बीच की विभाजक रेखा पर—मनोरंजन से मनोविलास तक के अन्तराल में रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ—एक झूठ का हिसाब दे दिया करती हैं।

यह 'झूठ का हिसाब' भारतीय युवक के साहस या बुज़दिली, या पत्नी, बॉस, पिता से समझौता करने और उनके प्रति निरपेक्ष रहने की यात्रा नहीं है। यह झूठ का सिलसिला, किसी बड़ी ज़िन्दगी से युवक या नई पीढ़ी को जोड़ता नहीं है, बल्कि विशाल भारतीय दायरे से हटकर ये कहानियाँ अपनी-अपनी 'द्वीप-भावना' का निर्माण करती हैं।

यह 'द्वीप-भावना' या 'प्रामाणिक झूठ' का सिलसिला कालिया की कहानी-कला का भी सिलसिला है। यह 'भाषा की सौंदर्यात्मक विशेषता' को जारी रखने का भी सिलसिला है जिसमें 'सही अर्थ' की तरह 'सही भाषा' की खोज की चेष्टा भी शामिल है। इस नवलेखन की 'भावना' ने, पूरे हिन्दुस्तान से अलग-थलग, एक छोटे या लघु हिन्दुस्तान के 'मूल्यों की चेतना', 'यथार्थ का नया स्तर' और 'नया सौंदर्यबोध' खोज लिया था। पूरे हिन्दुस्तान पर अपने 'लघु हिन्दुस्तान' को लादकर, हिन्दी साहित्यमें एक 'बौद्धिकीकरण' का सिलसिला शुरू हुआ था। 'आत्मनेपद' में ही वात्स्यायन ने लिखा है कि 'हमारा सम्पूर्ण कलाकृतित्व यथार्थ के इस बौद्धिकीकरण से आक्रान्त है। यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की हमारी क्षमता को वह कुण्ठित कर रहा है।'' 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों की संरचना और बुनावट में इसी 'कुण्ठित क्षमता' का जादू है। इस 'जादूगरी' में 'कला की सफाई' और 'हाथ की सफाई' आमने-सामने रहती है। रवीन्द्र की कहानियों के सिलसिलाविहीन सिलसिले में जादूगरी का कोई अपूर्ण परिच्छेद बराबर सामने बैठा रहता है। 'नई कहानी' में जो लघु अन्तर्विरोध के ऊपर 'वृहद् अन्तर्विरोध' को थोपने का, आंचलिक या कस्बे की कहानी आदि का कलावाद था, वही कुछ घट-बढ़कर '६० के बाद की कहानी' में 'अपने में' और 'अपने पार' का सिलसिला बन गया है। कालिया 'अपने में' कुण्ठित और आहत हैं और 'अपने पार' अपूर्ण और कातर !

'अकेलेपन' का यह 'कलावाद' मूल में दूसरे महायुद्ध के बाद का संकट कहा जाता है। सेमुअल बेकेट के नाटकों (एण्ड गेम, वेटिंग फॉर गोडो) या ब्रेख्त आर्थर मिलर और आएनेस्को के नाटकों तथा 'एबसर्ड' नाटकों की परम्परा में और सार्त्र तथा कामू के उपन्यासों और 'मिथ ऑफ़ सिसिफस' में एलबर्ट कामू की 'एब्सर्डिटी एण्ड सोसाइड' की चिन्तनधारा से छनकर 'अर्थहीन घबराहट' का चक्र हिन्दी कहानी में आया है। और कालिया के चरित्रों की तरह 'भावुक होने के बजाय दार्शनिक' होता जा रहा है।

यह भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का सिलसिला कविता में बिम्बवाद और प्रतीकवाद से होता हुआ 'अकविता' में 'योनिवाद' तक पहुँच चुका है। कहानी में यह 'संबंधों' के पेच में उलझ गया है। और उस उलझन की यह दलील है कि 'कम समय की वजह से जीवन का यौन-सुख या आनन्द, सिमटकर 'संभोग सुख' में बदल गया है। और श्रीकान्त वर्मा, महेन्द्र भल्ला की कहानियों के युवक-युवती

इसी बदलाव की स्थिति में एक 'फड़फड़ाहट' महसूस करते हुए अपने प्रेम में हताश रहते हैं। कालिया की 'पचास सौ पचपन' कहानी का 'फ्रीलांसर' इसी मजबूरी में प्रेम करता और "मुर्गे की तरह ही, बहुत जल्दी फड़फड़ाकर वह सफाई से अलग हो गया तो प्रेमिका उसकी ओर हताश होकर ऐसे स्कूटर वाले की तरह देखने लगी, जिसकी सवारी को मीटर पढ़ना आता हो।" कालिया अपनी कहानियों के प्रेम-प्रसंग में 'मीटर' के जानकार लेखक 'अश्क' ('पलंग', 'चट्टान') और मोहन राकेश ('आलपिन', 'मिस पाल') से 'सफाई से अलग हो गये' हैं। यह सफाई से अलग होना, कहीं से भी 'डिपार्चर' नहीं है। यह महज़ भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का एक अनुक्रम है।

राजेन्द्र यादव ने दिसम्बर १९६० की 'कल्पना' के एक लेख 'शह और मात : मेरा अपना दृष्टिकोण' में लिखा था— 'लेकिन जीद से लेकर सार्त्र और कामू तक की इस परम्परा ने मुझे यह ज़रूर सुझाया कि कहानी सिर्फ पात्रों के बाह्य-चित्रण और गतिविधियों का लेखा-जोखा और परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर 'ट्रेजेडी' या 'कामेडी' ही न हो—अपने पार भी कुछ कहती हो—और वह 'पार कहना' अन्त में या बीच-बीच में संकेत रूप में ही आकर समाप्त न हो जाए बल्कि समानान्तर चलता रहे।'

अपने संग्रह 'अपने पार' में कुछ कहने के लिए राजेन्द्र यादव ने कुछ हिदायतें या 'पारपत्र' गढ़ लिए हैं जबकि कालिया 'अपने में' कुछ रुकावटें महसूस करते हैं—और अपनी सीमाओं को लाँघने के लिए अन्तर्विरोधों से गुज़रते हैं।

पाठक 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियाँ पढ़कर यह महसूस करता है कि आकाश की तरह कालिया की कहानियों का जीवन वही है, केवल उसमें छोटे-छोटे अनुभवों से जोड़ने वाला सिलसिला या खुला संवेदनात्मक आकाश नया है। इस नये जीवन या आकाश के साये में, अकेलेपन की बोरडम की साया है और निष्क्रिय घुटन है! कालिया की मूल संवेदना का धरातल पुराना है, लेकिन नये संदर्भ से जुड़े रहने की वजह से पाठक को पुराने आकाश के नीचे बैठना बुरा नहीं लगता है।

'क ख ग', 'दफ्तर', 'इतवार नहीं', 'पत्नी' और 'काला रजिस्टर' के आहत चरित्र व्यवस्था के दबाव को बर्दाश्त करने वाले कमज़ोर या डरपोक चरित्र हैं। ये चरित्र गुमनाम रहते हैं। साधारण व्यक्तित्व के ये चरित्र, 'क ख ग' कहानी की संज्ञाओं में, एक तीखी चुभने वाली हवा की तरह जीवन में धँसते हैं और टूटकर अपने दायरे में बिखर जाने का एहसास पैदा करते हैं।

'दफ्तर' कहानी में आदमी 'डिस्टर्ब' होता है और 'चुगद की तरह' चापलूसी करता है और अधीनस्थ कर्मचारी की अपराध-भावना के दायरे में दबा रह जाता है। घर की 'पेशाब की बू' और दफ्तर में नौकरी पक्की रखने की अस्त-व्यस्तता में, वह 'अपने में' अटका रह जाता है। 'अपने में' अटका हुआ अभाव 'पत्नी' या 'इतवार नहीं' कहानी का 'परिचित साया' एक 'हल्का-सा बोझ' बन जाता है। और लेखक की तरह 'अपने में' टूटे हुए चरित्र यह महसूस करते हैं कि वे खुद में 'भावुक होने की बजाय दार्शनिक होते जा रहे हैं।'

'अस्तित्ववाद' के खटके हैं 'नपुंसकता', 'अर्थहीन घबराहट', 'कमज़ोरी', 'टखनों में दर्द', 'आत्महत्या का भय'। और ऐसी ही 'दार्शनिकता' कालिया अपनी कहानी पर लाद आते हैं। यह दिमाग का 'हल्का-सा बोझ', अन्त में कलावाद का लम्बा सिलसिला बन जाता है।

एक हद तक कालिया की कहानियों का 'व्यंग्य का लहज़ा' झूठी उम्मीद' में जीते रहने का लहज़ा है। और उसका 'व्यंग्य का लहज़ा' उसकी कहानियों में एक विचारोत्तेजक अभाव का सिलसिला बन जाता है। उनका व्यंग्य या अन्तर्विरोध एक ट्राली की तरह एक दायरे से दूसरे दायरे तक पहुँचाने का काम करते हैं और खाली ट्राली की तरह अन्तराल में भटक जाते हैं। अपनी 'हल्की-फुल्की' गम्भीरता से वे इतना ही काम लेना चाहते हैं।

एक जीवन में घुटकर दूसरा विकल्प जानने की कोशिश में ही, रवीन्द्र कालिया की कहानी पूरी हो जाती है। वह न तो अपने अन्तर्विरोधों से साक्षात्कार करने में निर्मम हो पाते हैं, और न ही अपनी 'सामाजिक समझ' को पहचानने में, वृहत्तर भारत से अपना नाता जोड़ पाते हैं।

कालिया 'छोटे-छोटे वर्तमान' के करामाती लेखक हैं। और छोटी-छोटी खुमारी में झूलना उन्हें प्रिय है।

ये छोटी-छोटी सरसराहटों का 'छोटा-सा भारत' '६० के बाद की कहानी' की 'अराजनीति की सरसराहट' थी जिसमें शरीक अधिकांश लेखकों को खुशी हो रही थी कि वे कुशलता से 'मूल्यों,' 'प्रगतिवाद', 'यथार्थ' और 'नंगी राजनीतिक

अच्छाई से' सफाई से बचकर अपने छोटे 'रचना संसार' में पहुँच रहे हैं। लेकिन वास्तविकता खुफिया सिपाही की तरह, उनके अन्तर्विरोध के छोटे संसार का पीछा कर रही थी।

एक पीढ़ी-की-पीढ़ी अब देखते-देखते इसी अपूर्ण दर्शन के परिच्छेद' में लुढ़क रही है। कालिया भी उसी पीढ़ी के भावुक दार्शनिक' हैं और उनकी कहानी 'छोटे संसार' के अन्त की आखिरी कड़ी है।

कोरी बातों का सिलसिला

विष्णुचन्द्र शर्मा

आधुनिक युवक की कुंठाओं और अपने परिवेश से सीधे टकराने की मनःस्थितियों के बीच कहीं श्रवणकुमार की कहानियाँ अपना दायरा तलाश कर रही हैं। ये कहानियाँ न तो पूरी तरह आधुनिक हैं और न ही आधुनिक समाज के भीतर और बाहर, टकराहट पैदा करने के लिए लिखी गई हैं। श्रवणकुमार समसामयिक जीवन की किसी भी बात को लेकर कहानी लिखे जाने पर विश्वास करते हैं, और उनका विश्वास उनकी 'आंतरिक छुअन' पर आधारित है। वे यह मानते हैं कि 'कहानी तो किसी को भी लेकर लिखी जा सकती है। हाँ, कुछ छू जाना चाहिए।" यह एक पात्र की ही दलील या पहचान नहीं है, बल्कि रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को समझने की एक अनिवार्य शर्त है।

इस शर्त के साथ उनकी कहानियाँ कुछ अंतरंग व्याख्याएँ भी चाहती हैं। श्रवणकुमार पंजाबी हैं, और १९५४ से कहानियाँ लिख रहे हैं, तथा उनका उपनाम 'दिव्य' (उनके विभिन्न स्तरीय जीवन जीने में') उनके आंतरिक विश्वास का अंग है। मझोला कद। पतली-दुबली काठी। और जो कुछ आंखों के सामने घटता है, उनका रचनाकार 'मूक-अवाक् उसे देखता रहता है।'

कोरी भावुकता से हटकर सोलह कहानियों के इस संग्रह में श्रवणकुमार, 'कोरी बातों' तक की यात्रा करते हैं और यह महसूस कराते रहते हैं कि उनका पंजाबीपन, उनकी खास सीमा तक की दिव्यता, और विभिन्न स्तरीय जीवन जीने का अन्दाज़, उनकी 'मूक-अवाक आँखों से बचा-छिपा' नहीं है। यह अहसास, वे अपने संस्कारों और अपने परिवेश की पहचान करते समय लिखकर ज़ाहिर करना चाहते हैं, क्योंकि वे लिखकर उससे उऋण हो लिए होते हैं। लिखकर उऋण होने का भाव: श्रवणकुमार की रचनाओं की योजना, दिव्यता, संभावना और सपनों की कसौटी पर कसा हुआ है।

'धुआँ' कहानी में लेखक के निर्माण की काफी बाधाएँ हैं और यह आभास भी है कि मंगलवार को लिखना एक शुभ काम है।

उनका लेखन एक खासतौर की शुभकामना की शुरुआत करता है—बसों की इंतजार करते-करते या बसों के पीछे भागते या हाथ हैंडल-बार से छूटेगा और पहिए के नीचे दब जाऊँगा, पिच्। यह महानगर की यात्रा या ज़िंदगी का संकट है। यही संकट—एक कचोटते हुए आदमी का मृत्यु-भय।

परिवार, पत्नी, दफ़्तर, चपरासी और छोटे-से त्रिकोणात्मक दायरे में श्रवणकुमार की कहानियाँ इसी कचोट को छूना चाहती हैं।

उनकी कहानियाँ इसके बावजूद परिवार के विघटन की ओर आधुनिक व्यक्ति के मृत्यु-भय की कहानियाँ नहीं हैं। वह अपने सपनों को कसौटी पर कसकर एक शुभ काम करने की शुरुआत से आगे नहीं बढ़तीं। एक सनसनीखेज यात्रा, एक खाली, एकदम उदास उत्तेजना और एक प्रकार की भीरुता के वशीभूत रहना। यह स्पर्श या छुअन की पहचान का विचारमात्र ही उनकी कहानियों का अनायास मिल गया गुर है। यही तीखा एहसास कहानी के रचनाकार का दबाव, विरोध और अभाव-पूर्ति है और आदमी के नंगे होते रहने की एक सीधी बात है।

शरीर की गरमी का तीखा एहसास—"उसके उरोज, उसके भारी कोट के बावजूद भी जैसे मेरे भीतर गड़े जा रहे थे। उसके पेड़ू एवं जंघाओं का भी मुझे तीखा एहसास था। उसका संतुलन ठीक रखने के लिए मेरे हाथ उसके नितम्बों पर दबाव दे रहे थे।" (पृ० १९ 'मैं और वह') यह बस यात्रा की दुनिया कहीं लेखक की निजी कुंठाओं की दुनिया भी है।

'नंगे', 'बच्चा', 'विरोध', 'कहकहा' जैसी कुछ कहानियों के अलावा संग्रह की ज़्यादातर कहानियों का शिल्प ऊबड़-

अँधेरे की आँखें—कथाकार श्रवणकुमार, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। मूल्य : चार रुपये

खाबड़ है जहाँ बहुत सारी बातों के किस्से बेतरतीबी से भरने की हाबड़तोड़ कोशिश है। कहानी के शिल्प के सादेपन में बातों और यादों को जोड़कर, मान-मनौवल से कह देने का अंदाज़ है। शिल्प का यह अंदाज़ अपनी दिलजोई करने का एक बहाना है। ज़्यादातर चरित्र 'स्वीकारात्मक ढंग' की बातें पुलक भरकर कहते-सुनते हैं। कहीं-कहीं पूरी कहानी 'अपनी-अपनी आपबीतियों' का किस्सा रह जाती है। और प्रतीकों, उपमानों या दृष्टांत में लेखक ने 'काम-शास्त्र की बारीकियों को मात कर दिया है।' श्रवणकुमार की कहानी, कभी-कभी 'बात जारी रखने' के सिलसिले में केवल रोचकता का दामन पकड़े रह जाती है।

एक आलोचक ने 'अँधेरे की आँखें' देते समय मुझसे कहा था—"श्रवणकुमार नये लेखक हैं और किसी कहानी-ग्रुप से जुड़े नहीं हैं।" मुझे आलोचक की उदारता पुस्तक पढ़ने के बाद 'मुंहदेखी' या वंध्या उदारता लग रही है। पहली बात यह है कि १३ अगस्त १९३१ को जन्म लेने वाला लेखक, अगस्त १९६९ में ३८ वर्ष पूरे करके 'नयों में' अपने को शुमार नहीं करना चाहेगा। श्रवणकुमार जितेन्द्र, अमरकांत, ठाकुरप्रसाद सिंह, ओमप्रकाश श्रीवास्तव तथा कमलेश्वर की पीढ़ी के लेखक हैं—हाँ, वे उस पीढ़ी के साथ चलनेवाले लेखक नहीं हैं—पीछे से जुड़े रहनेवाले लेखक हैं। दूसरी बात 'नये' कहे जाने के संदर्भ में स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रवणकुमार के रोचक या कुछ एक वास्तविक दृष्टांत भी जितेन्द्र, अमरकांत और शेखर जोशी की सामान्य कहानियों के स्तर तक भी नहीं पहुँचते हैं। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह और विजयमोहन की आधुनिक भावबोध की कहानियों के समीप तो इस संग्रह को महज़ 'कोरी बातों' का एक सिलसिला ही कहा जाना चाहिए। ●

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

•

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त इस नयी योजना का शुभारम्भ कर चुका है।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी ख़ास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................. हस्ताक्षर........................

पूरा पता........................

....

पोस्ट........................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन........................

—यहाँ से काटिये—

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा' पर संवाद जिसमें सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेश कुंतल मेघ, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव और देवेन्द्र-नाथ शर्मा भाग ले रहे हैं।
- कविता समाज द्वारा प्रदत्त मुक्तिबोध-पुरस्कार संबंधी आयोजन की विशिष्ट सामग्री।
- नवीन प्रकाशनों की समीक्षा।
- कविताएँ।

प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता

एक ऐतिहासिक रूपरेखा

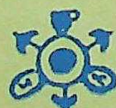
भारत की समृद्ध एवं गौरवपूर्ण संस्कृति को प्रायः राजाओं और पैग़म्बरों की जीवनियों के अप्रामाणिक वृत्तान्तों के आधार पर चित्रित किया जाता रहा है। प्रसिद्ध लेखक डी० डी० कोसाम्बी ने **प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता** को प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही-सही प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया है। पुस्तक को एक संदर्भ ग्रन्थ का रूप देने के लिए उन्होंने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से दुर्लभ चित्र भी जुटाये हैं। छः मान-चित्र, आर्ट पेपर पर मुद्रित ६८ छायाचित्र और १६ रेखाचित्र पुस्तक का महत्त्व द्विगुणित करते हैं। विश्वप्रसिद्ध पुस्तक का हिन्दी में पहला अनुवाद श्री नेमिचन्द्र जैन ने किया है। रायल आठपेजी आकार में लगभग ३०० पृष्ठ।

मूल्य : २५.००



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६




श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

प्राय:
णिक
ा रहा
प्राचीन
णिक
प्रस्तुत
संदर्भ
न और
मान-
ीर १६
ते हैं।
नुवाद
ठपेजी

५.००



११

—सम्पादक : नामवर सिंह—

आलोचना

त्रैमासिक

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वर्ष १८ : नवांक ११, (पूर्णांक ४८) अक्तूबर-दिसम्बर १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी• ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

आलोचना

अक्तूबर-दिसम्बर '६९

संपादकीय

यदि विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली साहित्य-शिक्षा से सचमुच असंतोष है और उसे बदलना है तो आज की समाज-व्यवस्था में विश्वविद्यालयों की वास्तविक भूमिका को ध्यान में रखना ज़रूरी है, क्योंकि साहित्य-शिक्षा की समस्याएँ शुद्ध शैक्षणिक या साहित्यिक नहीं हैं। आज़ादी के बाद भारत के नये शासक-वर्ग ने परम्परागत विश्वविद्यालयों का विकास तथा नये विश्वविद्यालयों का निर्माण शुद्ध विद्यानुराग के कारण नहीं, बल्कि अपने वर्गीय हितों की रक्षा और विस्तार के लिए किया है। आकस्मिक नहीं कि भारत जैसे पिछड़े देश में साक्षरता से ज्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। निश्चय ही साक्षरों की संख्या में वृद्धि शासक-वर्ग के लिए खतरा है जबकि विशेषज्ञों की सेना उसके लिए सहायक साबित हो सकती है। राज्यों में नये-नये विश्वविद्यालय खोलने के लिए क्षेत्रों का जिस प्रकार चुनाव किया गया उससे शासकों की नीयत के बारे में किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती। निस्सन्देह समय-समय पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का नारा भी लगाया गया लेकिन 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के हाथों अर्थतंत्र की बाग-डोर देकर। यहाँ तक कि उपकुलपतियों की नियुक्ति भी सरकार ने अपने हाथ में ले ली। पुलिस ने जब-तब विश्वविद्यालयों में घुसकर साबित कर दिया कि ये विद्या के पवित्र मन्दिर (या मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजा) ही नहीं, बल्कि एक सामान्य सामाजिक संस्थान हैं।

इस नये शासक-वर्ग के हाथों विश्वविद्यालय के ढाँचे में कितना बुनियादी परिवर्तन हुआ, इसे समझने के लिए शान्तिनिकेतन और काशी विद्यापीठ के उदाहरण काफी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आश्रम शान्तिनिकेतन का विश्वभारती विश्वविद्यालय में रूपान्तरण और शिवप्रसाद गुप्त के काशी विद्यापीठ

का विश्वविद्यालय के रूप में उन्नयन वर्तमान शासक-वर्ग के चरित्र और शक्ति में परिवर्तन के ज्वलन्त रूप हैं। इन दो शिक्षा-संस्थाओं को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग शिक्षा के संसार में प्रवेश करके किसी संस्था को किस प्रकार आधुनिक बनाता है और आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में किस प्रकार सारी सामन्ती जीवन-पद्धति, कार्य-पद्धति, यहाँ तक कि सम्पूर्ण व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी प्रणाली छा जाती है। इन संस्थाओं को देखकर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के ये उदात्त शब्द सहसा साकार हो उठते हैं : "पूंजीपति वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और 'काव्यात्मक' सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने 'स्वाभाविक बड़ों' के साथ बाँध रखने वाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है।...जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभा-मण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डॉक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को उसने अपना वेतन-भोगी मज़दूर बना लिया है।...उत्पादन-प्रणाली में निरन्तर परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चयता और हलचल—ये चीज़ें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत सम्बन्ध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी श्रृंखला होती है, मिटा दिये जाते हैं, और सभी नये बनने वाले सम्बन्ध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ भी पावन है वह भ्रष्ट हो जाता है, और आखिरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक हालतों को, मानव-मानव के आपसी सम्बन्धों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।" पावन वस्तु कैसे भ्रष्ट होती है इसका उदाहरण है स्वयं विद्या; मानवीय सम्बन्ध किस प्रकार 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार में बदल जाते हैं इसका उदाहरण है गुरु-शिष्य सम्बन्ध; पेशे से श्रद्धा का प्रभामण्डल किस तरह छिन जाता है इसका मूर्तिमान प्रतीक है स्वयं शिक्षक और निरन्तर क्रान्तिकारी परिवर्तन का उदाहरण उपकुलपतियों के रोज़-रोज़ परिवर्तन से बढ़कर और क्या होगा ? जिस प्रकार एक जीवन्त सामूहिक शिक्षा-परिवार विश्वविद्यालय नाम की अमूर्त इकाई में बदल गया उसे देखकर क्या यह समझने में कोई कठिनाई रह जाती है कि पूंजीपति वर्ग के स्पर्श मात्र से जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है।

यदि आज सभी विश्वविद्यालयों के तंत्र में नौकरशाही, शिक्षा-पद्धति में यांत्रिकता, छात्र-छात्र तथा छात्र-शिक्षक सम्बन्ध में नितान्त निर्वैयक्तिकता आदि प्रवृत्तियों का बोलबाला दिखाई पड़ता है तो यह दैव का कोई अबूझ अभिशाप नहीं

बल्कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का सामान्य नियम है जो कल-कारखानों से लेकर बाबुओं के दफ्तरों से होता हुआ शिक्षा-संस्थाओं तक अबाध फैल चला है। विभागीकरण भी इसी तंत्र की कार्य-कुशलता का एक नुस्खा है जिसके कारण सरकारी दफ्तर ही विभागों में नहीं बँटे बल्कि विश्वविद्यालयीय ज्ञान भी अलग-अलग विभाग के रूप में विभक्त हो गया, यहाँ तक कि हर विभाग दूसरे को अपना शत्रु समझता है। ऐसे अलगाव के वातावरण में यदि साहित्य भी अपने-आपसे अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। जब साहित्य स्वयं विभिन्न प्रश्न-पत्रों में विभक्त होगा तो जाहिर है कि प्रश्नपत्र ही पढ़ाए जाएँगे, साहित्य नहीं। इसीलिए कहते हैं कि विश्वविद्यालय में आकर साहित्य साहित्य न रहकर एक विश्व-विद्यालयी **विषय** बन गया और अन्य विद्याओं से अलग होकर एक **विभाग** भर रह गया। दूसरों से अलगाव की अनिवार्य परिणति है अपने-आपसे अलगाव—अपने धर्म से अलगाव। इसलिए शिक्षा की दुनिया में साहित्य का स्वधर्म से अपसरण कुछ शिक्षकों की अयोग्यता का परिणाम नहीं बल्कि विश्वविद्यालयीय तंत्र में पूंजी-वाद के प्रवेश की देन है। पुराणों की भाषा में कहें तो यह ऐसा राक्षस-राज है जिसमें आग जलना छोड़ देती है, हवा बहना छोड़ देती है, पानी शीतलता छोड़ देता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपना धर्म छोड़ देती है। जब लोग पाठ्यक्रम में नये साहित्य के न होने की शिकायत करते हैं तो भूल जाते हैं कि पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है। और विकास की जो गति है उसमें जल्द ही वह दिन आने वाला है जब पुराना साहित्य सचमुच न रहेगा—न पढ़ने वाले मिलेंगे और न शायद पढ़ाने वाले। इस तरह अपनी परम्परा से एकदम कट जाना भी अलगाव का ही एक रूप है।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा में साहित्य के साहित्य न रह जाने के लिए आज की जिस जटिल परीक्षा-प्रणाली को दोषी ठहराया जाता है वह भी इस पूंजीवादी व्यवस्था का अपना इजाफा है। परीक्षा-प्रणाली का इस हद तक निर्वैयक्तिक, रहस्यपूर्ण और भाग्याधीन बन जाना पूंजीवादी व्यवस्था के नियमों का ही शैक्षणिक अनुवाद है। सट्टा बाजार में अपनी तकदीर आजमाने वाला पूंजीपति वर्ग किसी विद्यार्थी को भाग्य के अधीन बाँधे बिना कैसे रह सकता है? संख्या और मात्रा की भाषा समझने वाली समाज-व्यवस्था योग्यता की जाँच के लिए एक निर्वैयक्तिक प्रणाली पर भरोसा करने के सिवा और कर ही क्या सकती है? ऐसी व्यावसायिक परीक्षा-प्रणाली में यदि नोट-कुंजियों की व्यावसायिकता भी घुस जाय तो क्या आश्चर्य! अनिश्चय, अविश्वास और होड़ पर कायम पूंजीवादी तन्त्र का बाजार यदि शिक्षा की दुनिया में भी इन्हीं मूल्यों का प्रचलन कर दे तो इसे उसकी स्वधर्म-परायणता ही समझना चाहिए।

यदि इन तमाम बातों में भारतीय विश्वविद्यालय और अधिक भ्रष्ट दिखाई देते हैं तो इसलिए कि अपने देश का पूंजीवाद भी यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का नायक क्लासिकी पूंजीवाद नहीं बल्कि कुंठित और अवरुद्ध पूंजीवाद है जो आज भी अनेक सामन्ती विकृतियों का शिकार है। इस विकार की अभिशप्त छाया हमारे

सांस्कृतिक जीवन को ग्रसे हुए है जिसे विश्लेषण के पैने औजारों के अभाव में 'भ्रष्टाचार' का एक गोलमोल नाम दे दिया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजसत्ता पर आज सबसे ज्यादा प्रभाव इसी पूंजीपति वर्ग का है, जिसमें एक हद तक पुराने सामन्ती तत्त्वों का भी साझा है। इस वर्ग ने जिस प्रकार राजसत्ता पर अधिकार जमाने की कोशिश की है, उसी प्रकार शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में भी इसकी महत्त्वाकांक्षाएँ प्रबल हैं। स्वभावतः इस प्रयास का न्यूनतम कार्यक्रम है यथास्थिति को किसी तरह बनाए रखना और किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन को भरसक रोकना। यह सोचने का कोई कारण नहीं कि यह वर्ग साहित्य की शक्ति से अपरिचित है। संस्थाएँ व्यक्तियों से ज्यादा कारगर होती हैं, इसलिए विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के द्वारा साहित्य को इस प्रयोजन के लिए इस्तेमाल करना सहज-स्वाभाविक है। जैसा कि इस 'संवाद' में एक लेखक ने सप्रमाण दिखलाया है, स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी-विभाग जहाँ लोक-वादी, वैज्ञानिक, आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं, स्वतन्त्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि संकुचित और विचार दकियानूसी हुए हैं। इसीलिए विश्वविद्यालयों में आज भरसक हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नजरअन्दाज किया जाता है। निस्सन्देह इसके लिए पाठ्यक्रम में कोई लिखित नियम और कानून नहीं है और न ऊपर से कोई स्पष्ट आदेश ही है। किन्तु जो शिक्षक पदोन्नति चाहता है वह साहित्य के अर्थ-सोपानों को भले ही न पहचाने, उन्नति के चक्करदार सोपानों को भलीभाँति जानता है, और कहना न होगा कि यह प्रलोभन ही उसे शासक वर्ग के साथ बाँध देता है। यदि यह सच है कि 'हित-अनहित पसु पच्छिउ जाना' तो साहित्य का शिक्षक ही अपने हितों से अनजान कैसे हो सकता है? ये हित स्वभावतः यथास्थिति से जुड़े हैं, इसलिए वह क्यों न ऐसी बातों से बचे जो यथास्थिति के विरुद्ध जाती हैं। इसलिए यदि हिन्दी साहित्य की आग विश्वविद्यालयों में आकर पानी भी नहीं, बल्कि धुआँ हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। यहाँ चारण काव्य तो सहज-उपयोगी है ही, भक्ति-काव्य भी 'प्राकृत जन गुण गाना' बन जाता है।

निश्चय ही ऐसे बहुत से शिक्षक हैं, जो बड़ी दृढ़ता से शिक्षक-सुलभ तटस्थता और शुद्ध साहित्य की मर्यादा का निर्वाह करते हैं। उन्हें पता नहीं कि यह तटस्थता और शुद्ध साहित्यिकता भी आत्म-निर्वासन का ही एक रूप है जिसमें साहित्य अपने सामाजिक सन्दर्भ से कटा हुआ अमरबेलि मालूम होता है। साहित्य का यह शुद्ध शिक्षण परोक्षतः यथास्थिति को ही मजबूत करता है। जिस छात्र को साहित्य अपने जीवन के लिए अप्रासंगिक लगे वह साहित्य से ही विमुख न होगा बल्कि यदि वह केवल साहित्यजीवी है तो समाज से भी विमुख ही रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी ही व्यापक उदासीनता पर यथास्थिति कायम रहती है।

आकस्मिक नहीं कि भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग सबसे ज्यादा दकियानूस और प्रतिक्रियावादी विचारों के गढ़ हैं। कारण हिन्दी की विशेष

स्थिति। एक तो हिन्दी प्रदेश में प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शक्तियों का गहरा प्रभाव और दूसरी ओर कांग्रेस के दक्षिणपंथी पक्ष और जनसंघ जैसे राजनीतिक दलों का हिन्दी के हितैषी के रूप में सामने आना—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों का हित अनिवार्यत: ऐसे राजनीतिक तत्त्वों से जुड़ गया जो हिन्दी के हित के नाम पर एक बड़े सांस्कृतिक संस्थान को अपने प्रतिगामी विचारों के समर्थन में खींचना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संसर्ग का गहरा प्रभाव हिन्दी साहित्य की शिक्षा पर पड़ा। हिन्दी के एक प्रोफेसर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि हिन्दी का औसत छात्र एम० ए० पास करने के बाद 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर मध्यकालीनता को विरासत में पाकर बाहर निकलता है। पाठ्यक्रम में नये साहित्य का विरोध भी इसीलिए हिन्दी में इतना है कि हिन्दी विभाग अपने छात्रों को शुद्ध 'भारतीयता' ही विरासत में देना चाहते हैं जो प्राचीन साहित्य में बड़ी आसानी से दिखाई जा सकती है।

हिन्दी विभागों की प्रतिगामिता की एक अभिव्यक्ति है असहमति का सर्वथा दमन। यथास्थितिवाद और अधिनायकवाद का पहला मंत्र है पूर्ण सहमति। यह मंत्र हिन्दी विभागों में अध्यक्ष से लेकर समस्त छात्रों तक के बीच के आपसी सम्बन्ध का विधायक नियम है। यही नहीं बल्कि एक हिन्दी विभाग का अध्यक्ष दूसरे हिन्दी विभागों से भी इसी प्रकार की सहमति की अपेक्षा रखता है। इस वातावरण में विचारों का विरोध भी व्यक्तिगत विरोध मालूम होता है। ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में विचारों का विकास होना असम्भव है। इसीलिए इतने अधिक विश्वविद्यालय खुलने तथा शिक्षकों एवं छात्रों की संख्या में ऐसी अभूतपूर्व वृद्धि होने के बावजूद विश्वविद्यालयों में हिन्दी आलोचना का कोई उल्लेख्य विकास न हो सका। विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए भी साहित्य के किसी शिक्षक ने हिन्दी आलोचना में यदि उल्लेख्य योग दिया है तो विश्वविद्यालय की सीमा के बावजूद! सांस्थानिक दृष्टि से हिन्दी आलोचना के विकास में विश्वविद्यालय के स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी विभागों का कोई योगदान नहीं है क्योंकि सांस्थानिक रूप में वे ऐसा वातावरण दे सकने योग्य ही नहीं रहे। इसीलिए विश्वविद्यालयों में कुछ-एक समर्थ आचार्यों के रहते हुए भी उनके विचारों की कोई चिन्तन-परम्परा न बन सकी। यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि जिस विश्वविद्यालय को रामचन्द्र शुक्ल जैसा आचार्य प्राप्त हुआ वह पिछले तीस वर्षों में शुक्लजी के विचारों के विकास का कोई ठोस प्रमाण न दे सका। विकास होता भी कैसे जब हिन्दी विभाग को अपनी विशिष्ट चिन्तन-परम्परा का न तो कोई अहसास हो न बोध! इसके अतिरिक्त गुरु की चिन्तन-परम्परा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरु सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं, शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा?

इस अंध सहमतिपरक आग्रह का प्रभाव हिन्दी विभागों के अखिल भारतीय ढाँचे पर इस हद तक पड़ा है कि कम-से-कम आगामी बीस-पच्चीस वर्षों के

लिए विश्वविद्यालय में किसी प्रकार के स्वाधीन चिन्तन की सम्भावना नहीं दिखाई देती। इस अखिल भारतीय ढांचे को ही हिन्दी विभागों के कुछ आचार्य 'हिन्दी विभाग' कहते हैं और इस विभाग पर अपनी अधिनायकशाही कायम रखने के लिए उसे एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र साम्राज्य के रूप में संजोए रखना चाहते हैं। इस प्रकार यह शैक्षिक ढांचा जिस प्रतिगामी तन्त्र की उपज है उसी के अनुरूप छोटे पैमाने पर एक भयावनी दुनिया है—ऋफ़्का के 'दुर्ग' की तरह या मुक्तिबोध की 'चम्बल घाटी' की तरह; आधार उसका भले ही खोखला हो। भविष्य की यह कल्पना निस्सन्देह भयावह है।

वर्तमान स्थिति में कुल मिलाकर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों की देन यह है कि औसत छात्र एक ओर नितान्त 'साहित्यिक' हिन्दी लिखना सीखता है तो दूसरी ओर श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों से घृणा करना। इस योग्यता के साथ वह या तो कहीं शिक्षक होने के लिए अभिशप्त है या फिर किसी दफ्तर में अनुवादक। विश्वविद्यालय से जो 'साहित्यिक भाषा' और जो 'साहित्यिक रुचि' लेकर वह बाहर निकलता है उनसे तो वह लेखक होने से रहा। आकस्मिक नहीं कि हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार—जिनमें रचनाकार और आलोचक शामिल हैं—दोनों हिन्दी के अलावा किसी अन्य विषय के छात्र रहे हैं अथवा कम-से-कम उन्होंने किसी हिन्दी विभाग में शिक्षा तो नहीं पाई है। क्या इसी फल के लिए पचास साल पहले हिन्दी को विश्वविद्यालयों में लाने की लड़ाई लड़ी गई थी? ध्यान देने की बात है कि हिन्दी-शिक्षण की इस स्थिति का प्रभाव सामान्य साहित्य के प्रकाशन और लेखन पर भी पड़ने लगा है। प्रकाशन का अधिकांश तो छात्रोपयोगी सामग्री प्रकाशित करने की दिशा में चल ही पड़ा है, लेखन भी इस दबाव को शिद्दत से महसूस कर रहा है। आलोचना तो खैर नब्बे प्रतिशत शिक्षोपयोगी हो ही रही है, शिक्षोपयोगी उपन्यास भी इधर आ निकले हैं और वे भी कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों द्वारा, जिन्हें देखकर साफ लगता है कि उन्हें खास तौर से पाठ्यक्रम में रखे जाने की उम्मीद में लिखा गया है।

गनीमत है, विश्वविद्यालयों के भीतर और बाहर अनेक साहित्यकार और साहित्य-प्रेमी स्थिति की गम्भीरता के प्रति पूरी तरह सतर्क हैं। जो अपने साहित्य-चिन्तन और सृजन में आज की समूची व्यवस्था के खिलाफ मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं वे इस व्यवस्था के शिक्षा-संस्थानों की साहित्यिक और सामाजिक भूमिका से किसी तरह उदासीन नहीं रह सकते। जैसा कि 'संवाद' में एक लेखक ने कहा है, इस शिक्षा-व्यवस्था को बदलने के लिए सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ ही सामाजिक क्रान्ति की भी आवश्यकता है। ऐसी क्रान्ति साहित्य की शिक्षा को सम्पूर्ण 'संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन' का अंग बनाकर ही की जा सकती है—और इस प्रकार एक ऐसे क्रान्तिकारी बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया जा सकता है जो विश्वविद्यालयों के ढांचे को बुनियादी तौर पर बदलने के साथ ही उस ढांचे को सहारा देने वाली समाज-व्यवस्था को भी बदलने में योग दे सके।

अब वक्त आ गया है

अशोक वाजपेयी

अव वक्त आ गया है
कि मैं भी कोई पैगम्वराना हरकत करूँ।
जिन्दा लोगों को भीड़ करार देकर
मेरे दोस्त
असम्भव स्त्रियों के ऐश्वर्य में
मेज़ के दूसरी तरफ बैठे हैं
और इस लालच से बच सकना
मुश्किल है
कि एक विशाल घृणा में सरलीकृत
मैं भी कर सकता हूँ सारा संसार।
वक्त आ गया है कि मैं
कहीं भी ढेर में से
हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख
जली हुई हरिजन हड्डियाँ
कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें
और अपने साल भर के बेटे के पास
ले जाकर
चालू मुहावरे में कहूँ : यह है
मेरा देश—संविधान में सना हुआ।

या
उस हरी साड़ी में लिपटी
गदगद ब्याहता की ओर
चटखारे भरता हुआ जाऊँ
इस कुजबुच्चे शहर में
और इसके पहले कि वह विगलित हो
उसके हाथों में थमादूँ
—संसद की आज की कार्यवाही की रिपोर्ट।
अब वक्त आ गया है
कि अपने घर के कस्बाई उजास को
भूलकर
एक भीड़ जमा कर पूछूँ :
कौन कहता है इस सूअरबाड़े को
अपना घर ?
कितना सुखद है
इस तरह अपने डर को
भाषा के ताण्डव में छुपाना
और मेज पर
उत्सुक ताकते हुए नबी की तरह
ऊबी स्त्रियों को अपने अकेलेपन की
वीर गाथाएँ सुनाना।
अब वक्त आ गया है
कि कचरा, कामना
बस की पुरानी टिकटों
और जुलूस को गड्डमड्ड कर
एक अलगण्ट का नारा बनाऊँ
और बेवकूफों और गधाचेहरा लोगों को
बार-बार धिक्कारता दुतकारता हुआ
प्रजातन्त्र की ओर निकल जाऊँ।
दुनिया और प्रेम के तहस-नहस होने की
खबर सबके पास है
वक्त आ गया है कि पूँछ उठाऊँ
फिर अपनी कविता की गधापचीसी में ऊँचे से
उसी की गुहार लगाऊँ······ •

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'सम्पूर्ण साहित्य' के भाव का विकास

रामस्वरूप चतुर्वेदी

विश्वविद्यालय के उन्मुक्त, बौद्धिक वातावरण में साहित्यिक अभिरुचि और जागरूकता के विकास के लिए सामान्यतः सबसे अधिक उपयुक्त अवसर होना चाहिए। इस आरम्भिक निबन्ध में हमें देखना है कि यह अवसर किस सीमा तक और किस मात्रा में उपस्थित है, और जिस सीमा तक नहीं है उसके क्या संभाव्य कारण हो सकते हैं। एक बार कारण ज्ञात हो जाने पर उनके समुचित निराकरण का दायित्व तो विश्वविद्यालयों का ही हो सकता है। कारणों के विश्लेषण में हम न केवल विश्वविद्यालयीय साहित्य-शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट कर सकते हैं, वरन् साहित्य के अध्ययन और आस्वादन की अपनी सामान्य प्रक्रिया को भी समझने का यत्न कर सकते हैं। एक तरह से यहाँ हम साहित्य के संप्रेषण को अधिकाधिक दक्ष बनाने की समस्या पर विचार करने के लिए प्रस्तुत हैं।

विश्वविद्यालयों के माध्यम से एक ओर साहित्य और साहित्य की समझ का विकास और विस्तार हुआ है, दूसरी ओर विश्वविद्यालय अपनी जड़ एकेडेमिक दृष्टि के लिए भी कुख्यात रहे हैं। और वस्तुतः विश्वविद्यालयों के बारे में उक्त दोनों ही स्थितियाँ एक सीमा तक सच कही जा सकती हैं। हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी साहित्यिक समीक्षा का अधिकतर विकास विश्वविद्यालय क्षेत्रों में हुआ है। ब्रेडले और रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-चिन्तन विश्वविद्यालयों के ही बीच विकसित और संभव हुआ है। समीक्षक ही नहीं, कुछ रचनाकार भी विश्वविद्यालयीय अध्यापन में संलग्न रहे हैं। पर समीक्षकों की तुलना में रचनाकारों की संख्या निश्चय ही बहुत कम है। पर क्या कारण है कि हिन्दी समीक्षा के अधिकतर नाम विश्वविद्यालयों से संबद्ध होने के बावजूद विश्वविद्यालय दुर्नाम हैं घिसी-पिटी समीक्षा और परंपरित अध्यापन-प्रक्रिया के लिए? इस प्रश्न के विवेचन में हम उपर्युक्त विरोधाभासी स्थिति का संगत कारण खोज सकते हैं।

यह निर्विवाद है कि आधुनिक युग का सभी मौलिक और युगांतरकारी चिन्तन अधिकतर विश्वविद्यालयों में हुआ है, विषय चाहे गणित हो या भौतिकी, साहित्य या दर्शन-शास्त्र। पर चिन्तन की यह मौलिकता सामान्य अध्यापन-प्रक्रिया में सन्निविष्ट नहीं हो पाती। अध्यापक ने जो कुछ नया सोचा है, वह कुछ गिने-चुने शिष्यों को छोड़कर सामान्य विद्यार्थी वर्ग में संक्रमित नहीं हो पाता। सामान्य विद्यार्थी—और सामान्य अध्यापक भी—संख्या में अधिक होते हैं और वे जिस परंपरित वातावरण को ढोते और पुष्ट करते रहते हैं, उसे मौलिक प्रतिभा से युक्त अध्यापक तोड़ नहीं पाता। बहुत बार इसलिए नहीं कि वह उसे तोड़ नहीं सकता, वरन् इसलिए कि वह उसे उपेक्षित कर जाता है। इसी का परिणाम होता है कि विश्वविद्यालय का सामान्य वातावरण परंपरित पाठ्य-क्रमों, परीक्षाविधियों आदि के सहारे एक दिशा में चलता है, जबकि विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन विश्वविद्यालयों में उद्भूत होकर भी उस वातावरण की एकरसता को अक्षुण्ण बनाए रखने में अपनी उपेक्षा से सहायता ही देता है। मौलिक चिन्तन में इतना धैर्य प्रायः कम होता है कि वह औसत विद्यार्थी या श्रोता के स्तर पर उतरकर उसे अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में सहभागी बनाता चले। फलतः विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन और अपेक्षया परम्पराभुक्त वातावरण एक-दूसरे के बावजूद चलते रहते हैं।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि विश्वविद्यालय क्षेत्र का समीक्षक अध्यापन-प्रक्रिया से असंबद्ध रहकर अपनी समीक्षा

रचना करता है। यहाँ अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि कई बार विद्यार्थियों से कोई खास बौद्धिक उत्तेजना पाए बिना केवल अध्यापन के दौरान अपनी साहित्यिक समझ को विकसित और समृद्ध करने का अवसर हुआ है। और जिस देश-काल में विद्यार्थी बौद्धिक उत्तेजना के भी कारण बन जाएँ, वहाँ तो अध्यापक के लिए और भी संभव है कि वह अपनी चिन्तन-प्रक्रिया को इस माध्यम से अधिकाधिक परिशोधित और प्रशस्त कर सके। पर कक्षा में विद्यार्थियों के ही बीच किसी नए अर्थ-स्तर का साक्षात्कार होने पर भी यह हो सकता है कि विद्यार्थी उसके साक्षी और सहभागी न हो सकें।

मुझे पहली स्नातकोत्तर कक्षा में नाटक पढ़ाना होता है। पिछले कई वर्षों से विश्वविद्यालय क्षेत्र विद्यार्थी आंदोलन और अनियोजित युवा शक्ति के प्रदर्शन-स्थल रहे हैं। ऐसे ही किसी अवसर पर जयशंकर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' पढ़ाना शुरू किया था। और तब इस नाटक के रचना-विधान में मैंने पाया कि पुरानी विगलित पीढ़ी के समक्ष नई युवा पीढ़ी की शक्ति-संभावना को प्रशस्त करने का यत्न प्रसाद ने किया है। एक ओर नन्द और पर्वतेश्वर की साम्राज्यवादी-सामंतशाही मूल्यों की खोखली होती हुई पीढ़ी है, और दूसरी ओर तक्षशिला के उन्मुक्त वातावरण में पले युवा चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण हैं, जो व्यापक और नवीन राष्ट्रीय मूल्यों को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष के कई पूर्वपरिचित स्तरों के साथ यह एक नया और महत्त्वपूर्ण स्तर है, जिसके अन्वेषण में विश्वविद्यालयीय परिवेश का विशिष्ट योग है। पढ़ाते समय नाटक के ये वाक्य मेरे लिए विशेष रूप से अर्थपूर्ण हो गए हैं—"विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है"—या "विद्यार्थी और कुचक्र! असंभव! यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो।" अर्थ के ऐसे अन्वेषण के क्षणों में मैंने अपनी अध्यापन और समीक्षा वृत्ति को कृतकृत्य हुआ माना है। और तब अज्ञेय की इस छोटी-सी कविता का भाव भी और अच्छे ढंग से समझा है—

फोड़-फोड़कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने-अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूँ।

साहित्य के खेत में अपने विद्यार्थियों के साथ लगने का क्रम कभी-कभी कितना सार्थक और संतोषप्रद हो सकता है, यह अनुभव ही अध्यापक के जीवन की सबसे स्पृहणीय उपलब्धि है।

साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के क्रम में एक कठिन अंक माना जाता रहा है श्रृंगारिक अंशों को पढ़ाना। पर वस्तुतः इन श्रृंगारिक अंशों को पढ़ाने में कठिनाई विद्यार्थियों की ओर से उतनी नहीं आती जितनी कि स्वयं अध्यापक के अपने मन से उपजती है। पढ़ाना चाहे सूरदास हो या नन्ददास, या कि प्रसाद का 'आँसू'—"परिरंभ कुंभ की मदिरा, निःश्वास मलय के झोंके," यदि अध्यापक अपनी सहज, स्वाभाविक गति से रचना के सृजन-सौंदर्य की उन्मुक्त व्याख्या करता चलता है तो कभी कोई कठिनाई नहीं होती, पर पढ़ाते समय यदि अध्यापक स्वयं उन श्रृंगारिक स्थलों को लेकर कुंठित और संकुचित है तो विद्यार्थी यह तुरन्त ताड़ जाते हैं कि आपके मन में साहित्य प्रमुख न होकर अब शरीर-विज्ञान प्रमुख है। और तब कक्षा का अनुशासन तो भंग होता ही है, उस रचना-प्रसंग के साथ अन्याय भी होता है। अध्यापन के इस पक्ष से सीखा जा सकता है कि कला-रचना में अश्लीलता नहीं होती —हो ही नहीं सकती—वह पाठक या दर्शक की दृष्टि में होती है। जहाँ कला है वहाँ अनुभव की समग्रता है, जहाँ अनुभव खण्डित हो जाता है वहीं अश्लीलता आती है। इसलिए कला, जो अनुभव की समग्रता की ही अभिव्यक्ति है, में अश्लीलता का प्रश्न नहीं उठता। जहाँ भी अश्लीलता है वहाँ या तो कला ही नहीं है, या फिर कला-अनुभव को समझने की दृष्टि नहीं है। यह मान्यता साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के अनुभव से अधिक व्यावहारिक रूप में पुष्ट होती है।

पर उपर्युक्त दोनों उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि अध्यापक को पढ़ाने के क्रम में दिशा-बोध भी होता है, वह अपने अध्यापन से स्वयं सीखता चलता है। पर दूसरे सिरे पर क्या है? और तब मानना होगा कि विद्यार्थी के लिए साहित्य का संप्रेषण प्रायः उतना दक्ष और प्रभावशाली नहीं होता जितना कि उसे होना चाहिए। इसका मुख्य कारण यह है कि अध्यापक को परीक्षा की दृष्टि से पढ़ाना होता है, परीक्षा का आधार प्रायः अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रम है, और परीक्षा-

प्रणाली तथा पाठ्यक्रमों की जकड़ में अधिकतर अध्यापक जड़ और नोट-लिखाऊ हो जाते हैं। यद्यपि यह सही है कि कुछ अध्यापक परीक्षा के कर्मकांड के बावजूद अपने रचनात्मक व्यक्तित्व और प्रखर विचारों को विद्यार्थी समुदाय में संक्रमित करते चलते हैं, और साथ ही विद्यार्थी के मस्तिष्क को विचारोत्तेजन के लिए तैयार करते चलते हैं, पर उनकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है। अधिकतर अध्यापक विद्यार्थी की तर्क-शक्ति को विकसित करने का क्रम और खतरा नहीं उठाना चाहते, वह क्रम और खतरा जो सच्चे अध्यापक के लिए अध्यापन की गहरी प्रक्रिया और उपलब्धि है। अध्यापन की इस सुकुमार और चलित प्रक्रिया में अध्यापक अपने अनुभव और विचारों को विद्यार्थी में संक्रमित करता है, पर उसके मानस को बाधित करने के लिए नहीं, वरन् उसे और संवेदनशील तथा प्रबुद्ध बनाने के लिए। एक माने में यह साहित्य-सृजन जैसी ही रचनात्मक प्रक्रिया है। पर जैसे हर छपी पुस्तक साहित्य नहीं है, वैसे ही हर अध्यापक पढ़ाता नहीं (हाँ, लिखाता है!)

परीक्षा-पद्धति के बारे में यहाँ कुछ चर्चा करना बहुत संगत न होगा, क्योंकि यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इसका सम्बन्ध केवल साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से न होकर सभी विषयों से है। पर प्रस्तुत संदर्भ में विश्वविद्यालयीय—विशेषतः परस्नात्मक कक्षा के हिन्दी पाठ्यक्रमों का विश्लेषण मूल विषय के विवेचन में सहायता दे सकता है। अच्छे-से-अच्छे पाठ्यक्रमों को भी देखने पर लगता है कि साहित्य के अध्यापन में सहायक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गए हैं, साहित्य का अध्यापन गौण हो गया है। कई जगह जहाँ पाठ्यक्रम का अपना गठन सानुपातिक है, वहाँ अध्यापन-प्रक्रिया में साहित्य विलुप्त है और उसके सारे अंग-उपांग उपस्थित हैं। इस तरह यह एक दुष्टचक्र बन गया है, जिसमें पाठ्यक्रम और अध्यापन-प्रक्रिया दोनों एक-दूसरे को जड़ और ग़ैर-साहित्यिक बनाते रहते हैं। विश्वविद्यालयों में 'संपूर्ण साहित्य' के भाव को विकसित करने के लिए इस दुष्टचक्र को तोड़ना होगा, जिसमें पहल अध्यापन-प्रक्रिया की ओर से करनी होगी, क्योंकि दोनों के बीच वही महत्त्वपूर्ण है और निर्णायक भी। पाठ्यक्रम को अध्यापन-प्रक्रिया का अनुगामी होना चाहिए, न कि अध्यापन-प्रक्रिया अपने को पाठ्यक्रमों से बँधा रहने दे।

साहित्य की अध्यापन-प्रक्रिया की कुछ अपनी निजी कठिनाइयाँ हैं। अध्यापन सामान्यतः व्याख्यान और विश्लेषण पर आश्रित है। पर साहित्य अपनी प्रकृति में संश्लेषण है। इस संश्लेषण की सार्थकता एक सीमा तक ही विश्लेषण की पद्धति से जानी-समझी जा सकती है। आत्यंतिक विश्लेषण तो साहित्य के स्वरूप को ही विकृत और नष्ट कर देगा। ऐसी स्थिति में साहित्य के अध्यापक को विश्लेषण का सहारा लेते हुए भी दृष्टि इस पर रखनी है कि रचना की समग्रता और उसका अनुभव सही-सही संप्रेषित हो जाए, कहीं विश्लेषण की पद्धति उसे खंडित न कर दे। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों के तर्क-वितर्क और चीड़-फाड़ से साहित्य के अध्यापन की प्रक्रिया अलग है, पर बहुत बार अध्यापक की नासमझी से साहित्य की कक्षा विज्ञान की प्रयोगशाला बन जाती है। और तब विद्यार्थी कविता के संघटन को मेंढक के आवयविक गठन की तरह देखने लगते हैं। फल होता है कि साहित्य की समझ पूरे वातावरण से समाप्त हो जाती है।

साहित्य के अध्यापन में एक और समस्या उत्पन्न होती है विशेषीकरण की स्थिति को लेकर। ज्ञान-विज्ञानों के विकास ने विशेषीकरण लगभग अपरिहार्य बना दिया है। एक डॉक्टर बाएँ कान का मर्म जानता है तो दूसरा दाएँ ही कान का। तब अवशेष का एक विशेषीकृत वर्ग बना है, जिन्हें 'सामान्य डॉक्टर' कहा जाता है, जो पूरे शरीर की व्याधियों और उनके अंतस्संबंधों को जानते हैं। साहित्य के अध्यापन में भाषावैज्ञानिक, काव्यशास्त्री और पाठविज्ञानी का निश्चय ही महत्त्व है, पर मूलतः तो साहित्य के अध्यापक को समग्र रचना का केन्द्रीय अनुभव ही उद्घाटित करना है। बिना इस क्षमता के उसका सारा शास्त्र और विज्ञान अध्यापन प्रक्रिया में अर्थहीन लगने लगते हैं। इस दृष्टि से अध्यापक के अपने अध्ययन और शोध के लिए विशेषीकरण की सीमा मान लेने पर भी यह ध्यान रखना होगा कि उसका मूल दायित्व है रचना के अनुभव से टकराना, और उसका इस ढंग से विश्लेषण और व्याख्यान करना कि वह विरूप और विकृत न हो जाए।

इसी संदर्भ में साहित्य के अध्यापक में शोध और अध्यापन का सानुपातिक संबंध देखा जा सकता है। शोध की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो शोधकर्ता अध्यापक को साहित्य की व्यापक धारा से जोड़े, न कि एक छोटे-से क्षेत्र में सीमित कर दे। शोध का सबसे बड़ा प्रयोजन यह है कि उसके माध्यम

से अध्यापक अपनी बौद्धिक क्षमता को जड़ हो जाने से रोकता है। पर अध्यापन-क्षेत्र की यह भी एक विडंबना है कि हिन्दी के अध्यापकों ने प्रायः शोध के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को गतिशील बनाने के बजाय सीमित और संकीर्ण कर लिया है। यहाँ भी दोष शोध का उतना नहीं जितना कि शोध को लेकर हमारी दृष्टि का है। हिन्दी का अधिकांश शोध स्वतः-स्फूर्ति कम, व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरित अधिक है। स्वभावतः ही ऐसा शोध व्यक्तित्व के उन्मेष में नहीं संकोच में सहायक होगा। शोध में निर्देशक और छात्र के मस्तिष्क टकराते हैं, फलतः अध्यापक का चिंतन इस प्रक्रिया से बराबर तरोताज़ा होता चलता है। पर यहाँ भी शोध से पाए ज्ञान को संप्रेषित करने के लिए अध्यापन की कुशलता अपेक्षित है। कई बार अध्यापन के ऊपर शोध को महत्त्व दिए जाने से इन दोनों के पारस्परिक संबंध विकृत होते हैं। अध्यापन और शोध एक-दूसरे की सहायक प्रक्रियाएँ हैं, न कि परस्पर-विरोधी। यद्यपि विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को देखकर बहुत बार दूसरी बात ही सच होती जान पड़ती है।

विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा को लेकर एक बड़ा कठिनाई है उसकी भाषायी सीमा को लेकर। हमारे इस विवेचन में साहित्य का समग्र रूप एक मूल प्रतिज्ञा है। पर साहित्य का समग्र रूप क्या भाषाओं में बँटकर खण्डित नहीं हो जाता? इसी एक समस्या से जूझते हुए पश्चिम के एक प्रसिद्ध समीक्षक अध्यापक ने कहा था कि उपनिषद् तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते जब तक कि कीट्स और शेली का रोमांटिक काव्य पढ़ा न लिया जाए। हमारे यहाँ वही बात बाइबिल, शेक्सपियर, गेटे या फिरदौसी को लक्ष्य करके कही जा सकती है। और ये कृतियाँ तथा कृतिकार तो दूसरे देश के हैं। हमारे साहित्य विभागों के पाठ्यक्रम क्या भारतीय साहित्य का भी कोई परिप्रेक्ष्य उभार पाते हैं? यह समस्या सचमुच कठिन है, और हम वस्तुतः अनुभव करते हैं कि कला विस्तृत है।

कुछ विश्वविद्यालयों ने तुलनात्मक साहित्य का एक विभाग खोलकर इस समस्या को हल करना चाहा है। पर यह भी समस्या से जूझना नहीं कतराना है। साहित्य की समग्रता का अनुभव तो तभी हो सकता है जब हम किसी विशेष साहित्य के संदर्भ में समूचे भारतीय साहित्य और साहित्य मात्र की आत्मा का साक्षात्कार करा सकें। इसका एक ही उपाय हो सकता है कि प्रत्येक साहित्य के पाठ्यक्रम में साहित्य के व्यापक अध्ययन को सांकेतिक रूप में सम्मिलित किया जाए। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को यदि एक वर्ष एक प्रश्नपत्र के अंतर्गत भारतीय साहित्य, उसकी परम्परा, और कुछ चुने हुए अंश—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, कन्हैयालाल मुंशी, इकबाल—का पाठ कराया जा सके तो संक्षिप्त रूप में ही सही, उसका भारतीय साहित्य से कुछ साक्षात्कार हो सकेगा। इसी प्रकार से दूसरे वर्ष में विश्व-साहित्य का एक प्रश्नपत्र—बहुत-कुछ विश्व-इतिहास की तरह का—रखा जा सकता है। प्रश्नपत्रों की कमी होने पर कुछ अधिक कड़े चुनाव के साथ भारतीय साहित्य और विश्व-साहित्य को एक साथ भी मिलाया जा सकता है। पर शर्त यह रहेगी कि इस प्रश्नपत्र में महत्त्व केवल आलोचनात्मक प्रश्नों का ही न रहे, वरन् कुछ श्रेष्ठ कृतियों के अनूदित अंश आस्वादन के लिए ज़रूर जाएँ। तभी हम साहित्य के समग्र और संपूर्ण रूप को समझने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्यापन को विकसित और समृद्ध करने के लिए इन सब पक्षों की ओर ध्यान देना होगा। पर यहाँ दुहराकर कहना है कि इन सबके केन्द्र में अध्यापन-प्रक्रिया है, जो प्रत्येक अध्यापक के लिए इतनी मौलिक और विशिष्ट है कि विश्वविद्यालयीय स्तर के अध्यापकों को किसी संस्थान में प्रशिक्षित करने की बात कभी नहीं सोची जाती। पर विश्वविद्यालय के साहित्य-विभागों में प्रायः अध्यापन-प्रक्रिया उपेक्षित है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों में किसी रचना को पढ़ाते समय उसका पाठ प्रमुख न होकर उसकी 'समीक्षा' प्रमुख रहती है। और इस 'समीक्षा' के अंतर्गत अध्यापक उपन्यास या नाटक पढ़ाने के लिए कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन और देश-काल बता देता है। यदि कविता पढ़ानी हुई तो रस-छंद, अलंकार पर टिप्पणी कर देना प्रमुख होता है। अध्यापन के इन स्थूल और भौंडे नुस्खों से साहित्य के जटिल और सुकुमार अनुभव का साक्षात्कार किस कदर बेमेल है, इस पर और कुछ न कहना ही अच्छा है। एक अच्छी समीक्षा विकसित करके भी हम मानो विश्व-विद्यालय की कक्षा में गुण-दोष-कथन की पद्धति से ही साहित्य पढ़ाना चाहते हैं। जब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग आरम्भ हुए थे तब इस प्रणाली की अनिवार्यता मानी जा

सकती थी, आज भी हाई स्कूल या इंटरमीडिएट तक इन स्थूल उपायों का अभिप्राय किसी सीमा तक समझा जा सकता है, पर विश्वविद्यालय स्तर पर वस्तुपात्र कथोपकथन या रस-छन्द-अलंकार के सहारे पढ़ाना साहित्य की ऐसी शव-परीक्षा है जिसका किसी के लिए कोई उपयोग नहीं।

यदि विश्वविद्यालय की साहित्य-शिक्षा में साहित्य को सचमुच महत्त्व देना है तो हमें अपनी अध्यापन प्रक्रिया में रचना के पाठ को केन्द्र में रखना होगा। शेक्सपियर की उक्ति को कुछ संशोधन के साथ कहना होगा, रचना ही असली चीज है। विद्यार्थी को किसी कृति के आमने-सामने लाकर इस तरह छोड़ देना होगा कि वह उससे सीधे अनुभव ग्रहण कर सके। इसके लिए ज़रूरी है कि किसी भी साहित्यिक रचना को खण्ड सृष्टि से न देखकर उसके पूरे रचना-विधान की व्याख्या की जाए। और रचना-पाठ तथा समीक्षा को अलग-अलग न रखकर पाठ्य-ग्रंथ पढ़ाते समय ही उसकी साहित्यिक सर्जनशीलता का उद्घाटन किया जाए। इससे रचना और समीक्षा के बीच वह आवश्यक और मौलिक सम्बन्ध स्थापित रह सकेगा जो विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के मन से प्रायः लुप्त रहता है। उसके लिए पाठ्य-ग्रन्थों के उद्धरणों का भावार्थ लिखना एक अभ्यास है, और उसकी 'समीक्षा' करना एक अलग अभ्यास है। पर पूरी रचना क्या है, इसकी न उसके मन में कोई परिकल्पना है और न वह इस दिशा में कुछ सोचना चाहता है।

साहित्य को लेकर अध्यापक और विद्यार्थी के इस रिश्ते को बदलना है, और यह हमारे विश्वविद्यालय, साहित्य और युवा जीवन की एक आधारभूत समस्या है। यदि विश्वविद्यालय में साहित्य का शिक्षण समुचित रूप में नहीं होता, तो इन विद्यार्थियों का जन-रुचि के विकास में सही योगदान नहीं हो सकता। फिर गलत जन-रुचि साहित्य पर भी गलत ढंग का ही प्रभाव डालेगी। और गलत साहित्य से विकसित जीवन सही दिशा में कैसे जा सकता है? इस दृष्टि से यह समूचा प्रश्न केवल विश्वविद्यालय या केवल साहित्य का प्रश्न न होकर बौद्धिक वातावरण का प्रश्न है, जहाँ समाज की रचना-प्रक्रिया रूप ग्रहण करती है। आज जबकि युवा पीढ़ी हमारे सोचने के केन्द्र में बरबस आ गई है, साहित्य का शिक्षण उत्तरोत्तर परिशोधित और दक्ष होना चाहिए—एक अस्त्र के रूप में व्यक्तित्व को किसी खास तरह से नियमित और निर्धारित करने के लिए नहीं वरन् विद्यार्थी के मानस को अधिकाधिक उन्मुक्त और प्रबुद्ध बनाने के लिए। ●

शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन

देवेन्द्रनाथ शर्मा

आपने विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा शीर्षक परिसंवाद का आयोजन करके एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करने का उपक्रम किया है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। इस समस्या के अनेक पहलू हैं और इस पर बहुत सारी दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इस समस्या से सम्बद्ध ये प्रश्न स्वभावतः सामने आते हैं: विश्वविद्यालयों में साहित्य की शिक्षा कैसी होती रही है, कैसी हो रही है या कैसी होनी चाहिए? साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है? साहित्य की शिक्षा की प्रचलित पद्धति से वह उद्देश्य क्या सिद्ध हो रहा है? यदि हो रहा है तो कहाँ तक? यदि नहीं हो रहा है तो क्यों? साहित्य की वर्तमान शिक्षा-पद्धति में क्या गुण-दोष हैं? दोषों के निराकरण के लिए क्या करना उपेक्षित है? साहित्य के अन्तर्गत किन विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए? शिक्षा का रूप और पद्धति क्या हो? आदि। इस तरह के और भी अनेक प्रश्न विचार-विमर्श के प्रसंग में उपस्थित हो सकते हैं। इन सभी पर विचार करने के लिए पर्याप्त समय और स्थान आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उतना एक लेख में संभव नहीं हो पायेगा। तत्काल उपर्युक्त प्रश्नों को मैं दो प्रश्नों में समेटना चाहता हूँ:

१. विश्वविद्यालय में साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

और

२. साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो?

साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन का प्रश्न कोई नया नहीं है। प्रत्येक देश और काल में विद्वानों ने इस पर विचार

किया है और विभिन्न उत्तर दिए हैं। काट-छाँटकर सबका अन्तर्भाव मुख्यत: दो में किया जाता है और वे हैं आनन्द तथा उपदेश। विश्वविद्यालय में साहित्य के अध्ययन तथा अध्यापन की जो प्रविधि चालू है, उसमें आनन्द मिलता है, यह मानना मेरे लिए कठिन है। लगभग तीस वर्षों के साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अनुभव के आधार पर मैं अब ऐसा अनुभव करने लगा हूँ कि कक्षाओं में हम साहित्य का एक ही उपयोग कर पाते हैं और वह है उसकी शव-परीक्षा और यह शव-परीक्षा साहित्य की अन्तर्निहित ताज़गी, सजीवता और सुन्दरता को सर्वथा नष्ट कर देती है। रोचक-से-रोचक साहित्य कक्षाओं के शास्त्रीय विश्लेषण की प्रक्रिया में जड़ एवं निष्प्राण हो जाता है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि यह दोष शास्त्रीयता का है। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि आज के शिक्षण की जो दिशाएँ और पद्धतियाँ हैं वे बहुत दूर तक असन्तोषप्रद हैं। उनके द्वारा न तो साहित्य का बोध हो पाता है और न अनुभूति। अध्यापकों के व्यक्तिगत ज्ञान एवं अध्यापन-प्रणाली से इसमें थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही पड़ता हो किन्तु परिणाम में विशेष अन्तर पड़ते मैंने नहीं देखा है। कुछ ग्रन्थ तो कक्षाओं में पढ़ाने की आवश्यकता की पूर्ति मात्र करते हैं। इनमें कामायनी का स्थान सर्वोच्च माना जा सकता है। एम० ए० के परीक्षार्थियों के अतिरिक्त कामायनी का अनुशीलन और कौन करता है? और दो वर्षों तक कामायनी पढ़ने के बाद कितने लोग कामायनी के काव्यत्व से प्रभावित और आनन्दित हो पाते हैं? हाँ, कामायनी की क्लिष्टता का रोना रोते मैंने निरपवाद रूप से अवश्य सुना है। इस युग के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य की यह स्थिति है। इसीसे दूसरे महाकाव्यों या काव्यों की स्थिति का हम अनुमान कर सकते हैं। मतलब कि साहित्य की शिक्षा से आनन्द प्राप्त नहीं होता। रही बात उपदेश की, तो आज के छात्र-समुदाय की उपदेश में आस्था ही नहीं है। उपदेश का नाम सुनते ही उसमें आक्रोश का भाव जग पड़ता है। कारण इसका यह है कि उपदेश में सत्ता की गन्ध रहती है और आज का वातावरण प्रतिसत्तावादी हो गया है—वह किसी प्रकार की सत्ता को स्वीकार करना नहीं चाहता। आज कोई विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जो उत्पात, उपद्रव, अशांति और अनुशासनहीनता से मुक्त हो। कविराज विश्वनाथ ने कहा है कि साहित्य से कार्य और अकार्य का निर्णय करने में सहायता मिलती है, अर्थात् विधि और निषेध के द्वारा वह हमें यह बताता है कि अमुक कार्य करने योग्य है और अमुक नहीं। यदि कविराज विश्वनाथ का यह कथन साहित्य के सम्बन्ध में सही होता तो किसी भी विश्वविद्यालय का वातावरण अशान्त नहीं होना चाहिए था, क्योंकि साहित्य का कुछ अंश तो ऐसा पढ़ाया ही जाता है जिसका सम्बन्ध कार्य और अकार्य से स्पष्टत: रहता है और जिसे जान लेने पर छात्रों को यह सोचने-समझने का अवसर मिलता कि हमें यह कार्य करना चाहिए और यह नहीं। पर साहित्य इस स्थल पर आज बिलकुल निरुपयोगी है। यह दोष सोलह आने साहित्य का ही नहीं है। आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य है रोटी कमाना। कोई छात्र कोई भी विषय इसलिए नहीं पढ़ता कि उसमें उसकी गहरी या वास्तविक अभिरुचि है, बल्कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कुछ विषयों को लेना जरूरी है और वह जिन्हें अधिक आसान या अधिक अंकप्रद समझता है उन विषयों को ले लेता है। इसलिए उसका लक्ष्य विषय का ज्ञान अर्जित करना नहीं बल्कि सरलतापूर्वक उपाधि प्राप्त करना होता है जिसके चलते उसे रोटी कमाने में सुविधा हो। परीक्षा के लिए दर्जनों उपयोगी विषयों में साहित्य भी एक विषय बनकर रह गया है। इसलिए उससे उन उद्देश्यों की पूर्ति की आशा करना व्यर्थ है जो परम्परा से दुहराए जाते रहे हैं। मेरी अपनी धारणा है कि जब तक शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन नहीं होगा तब तक शिक्षणीय विषयों के प्रति छात्रों की रुचि एवं दृष्टिकोण में भी परिवर्तन नहीं होने का। हिन्दी के पाठ्यक्रम में रामचरितमानस प्राय: सर्वत्र पढ़ाया जाता है और उसका भी विशेषत: अयोध्याकांड, जिसका यह दोहा :

> अनुचित उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु बेन।
> ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पितृभक्ति सम्बन्धी यह आदर्श परीक्षा भवन की उत्तर-पुस्तिकाओं में व्याख्या का विषय भले ही हो, लोक में बहुत कम पुत्रों को प्रभावित कर पाया है, यह कोई भी दृढ़तापूर्वक कह सकता है। इसीलिए मैंने कहा कि साहित्य की शिक्षा आज निरुपयोगी हो गयी है; वह न आनन्द देने में समर्थ है और न उपदेश। हम चरित्र-निर्माण जैसे भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग केवल आत्मसन्तोष के लिए करते हैं, वास्तविकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

दूसरा प्रश्न मैंने ऊपर यह उठाया है कि साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो? विचार करने के लिए साहित्य की शिक्षा के तीन स्तरों को अलग-अलग करके देखना होगा—उपस्नातक, स्नातकोत्तर और अनुसंधान। यद्यपि ये तीनों स्तर कुछ दूर तक परस्पर-सम्बद्ध और सापेक्ष हैं, फिर भी तीनों की शिक्षण-विधि में अन्तर है या यों कहें कि अन्तर होना चाहिए। अभी वस्तुतः उपस्नातक और स्नातकोत्तर में कोई मौलिक भेद नहीं, एक तरह से स्नातकोत्तर अध्ययन उपस्नातक अध्ययन का ही विस्तार है। दोनों की दृष्टि, बोध और अभिव्यक्ति में जो बौद्धिक अन्तर होना चाहिए वह पंचानबे प्रतिशत छात्रों में नहीं मिलता। अनुसंधान की भी स्थिति कोई बहुत संतोषप्रद नहीं है। आज एक प्रकार से सभी लोग मान बैठे हैं कि अनुसंधान का उद्देश्य सारस्वत-साधना नहीं, अर्थ-साधना है और अर्थ-साधना की प्रेरणा से किए गए अनुसंधान यदि अनुसंधान के उत्कर्ष-बिन्दु तक नहीं पहुँच पाते तो इसमें न खेद होना चाहिए और न आश्चर्य।

हम किन विषयों को पढ़ाएँ, उनमें क्या अनुपात रखें और उनके लिए कौनसी पद्धति अपनाएँ, इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए अनेक विश्वविद्यालयों ने समय-समय पर संगोष्ठियाँ की हैं जिनमें एक-से-एक विद्वान् सम्मिलित हुए हैं। जमकर बातें हुई हैं; खुलकर विचारों के आदान-प्रदान हुए हैं; परिवर्तन का ज़ोर-शोर से समर्थन हुआ है, पर जैसा हमेशा होता है, ये सारे आयोजन शुद्ध बौद्धिक विलास होकर रह गए हैं और कभी कोई निर्णय नहीं हुआ। इसमें जितने द्रव्य, समय और शक्ति का अपव्यय हुआ है उसे सोच-कर कभी-कभी गहरा खेद होता है। पर जिस देश में बौद्धिक विलास ही कार्य का प्रतिरूप और पर्याय माना जाता हो, उसमें इस पर खेद करना व्यर्थ है। जिस विषय पर दर्जनों बार आठ-आठ, दस-दस दिनों तक सामूहिक विमर्श करने के बाद भी कोई निर्णय नहीं हो सका, उस पर इस छोटे-से निबन्ध में स्पष्ट, निर्णयात्मक संकेत देना मेरे लिए न सम्भव है और न संगत। फिर भी एक-दो बातों की ओर मैं इंगित करना चाहता हूँ।

विश्वविद्यालय, चाहे भारत के हों चाहे दूसरे देशों के, कुछ दूर तक प्राचीनता के आग्रही होते हैं। जो लोग विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध नहीं होते वे इसे रूढ़िवादिता की संज्ञा दिया करते हैं। बात यह है कि विश्वविद्यालय के शिक्षक जिस परिवेश में काम करते हैं उसमें इस तरह की भावना या संस्कार कुछ दूर तक नैसर्गिक है। इसलिए विश्वविद्यालय का अध्यापक बहुत आलोच्य नहीं माना जाना चाहिए। बहुतों को शायद न मालूम हो कि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में मैथ्यू आर्नल्ड के बाद की आलोचना का पाठ्य-क्रम में समावेश नहीं है, यद्यपि हम जानते हैं कि उसके बाद अंग्रेज़ी के अनेक ऐसे ख्यातनामा आलोचक हुए हैं जिनकी आलोचना दूसरे देशों में भी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में इसमें संशोधन की गुंजाइश है। नवीनता की उपेक्षा करना या उसके प्रति तटस्थता बरतना किसी भी साहित्य के लिए हितकर नहीं। केवल प्राचीनता की दुहाई देकर आगे बढ़ना असम्भव है। अतीत की उपलब्धियों को ही सर्वस्व मानना अकर्मण्यता का लक्षण है। इसलिए अतीत से निकलकर हमें वर्तमान और भविष्य पर भी दृष्टि रखनी होगी। समय पर प्रश्रय, प्रोत्साहन और प्रशंसा न प्राप्त होने से बहुत बार उत्कृष्ट प्रतिभाएँ भी कुंठित या विनष्ट हो जाती हैं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि छायावाद के जिन कवियों की रचनाएँ १९३५ तक अपाठ्य मानी गयीं, उन्हीं पर १९६५ तक दर्जनों शोध-प्रबन्ध साभिनिवेश प्रस्तुत कर दिए गए। दृष्टि की जो उदारता १९५० में आविर्भूत हुई वह यदि १९३० के आसपास हुई होती तो साहित्य को अधिक लाभ पहुँचा होता। नई कविता या साहित्य की दूसरी वर्तमान विधाओं को लेकर आज जो असहानुभूतिपूर्ण विचार-वितर्क चल रहा है, वह निश्चय ही दस वर्षों के बाद सहानुभूतिपूर्ण बोध में परिणत होगा और आज जिन्हें हम 'पंक्तिबाह्य' मान रहे हैं उन्हें ही 'पंक्तिपावन' मानकर शिक्षण और शोध का विषय बनाएँगे। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक नए लेखक को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। यह चाहने पर भी सम्भव नहीं होगा। भक्तिकाल, रीतिकाल या आधुनिक काल के ही बहुत सारे उत्कृष्ट कवियों या लेखकों को पाठ्य-क्रम में स्थान नहीं दिया जा सका है, पर इससे उनकी उत्कृष्टता खंडित नहीं होती। पाठ्यक्रम हमेशा ही सीमित और चयनात्मक होगा, पर सहानुभूतिपूर्ण विचार और चर्चा से उसका विरोध कहाँ है? मेरा इतना ही कहना है कि

किसी नई प्रतिभा या नई कृति को देखकर उसके प्रति पहली प्रतिक्रिया स्वागत की होनी चाहिए, उपेक्षा की नहीं। दृष्टि-कोण का यह हल्का-सा अन्तर साहित्य की समृद्धि के लिए अकल्पनीय रूप से श्रेयस्कर सिद्ध होगा और इससे प्राचीन-नवीन के बीच की खाई अनायास पटती नज़र आएगी।

आलोचक का काम लेखक और पाठक को एक-दूसरे के समीप लाना है। हिन्दी में यह काम अभीष्ट रूप में नहीं हो रहा है, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है। इसके कई कारण हैं जिन सबकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। एक-दो बातें सिर्फ ध्यान में रखने की हैं। कुछ आलोचकों की बातें इतनी शास्त्रगूढ़ होती हैं कि पाठकों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता; कुछ आलोचकों की आलोचना निरर्थक वाग्जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती और कुछ लेखक आलोचना के नाम पर इतनी सतही चीज़ें देते हैं कि उनका पढ़ना, न पढ़ना बराबर है। ऐसी आलोचना बोध का आधार प्रस्तुत न कर अबोध या भ्रांतबोध का कारण बन जाती है। ऐसी ही आलोचना साहित्य की कक्षाओं में भी चलती है। इसलिए वह छात्रों को साहित्य के प्रति उन्मुख करने के बदले उन्हें और भी विमुख बना देती है। किसी अध्यापक के कक्षा से बाहर जाने के बाद छात्रों की प्रतिक्रिया सुनिए तो विनोद के साथ निराशा भी होती है। छात्रों में विषय के प्रति रुचि और जिज्ञासा जगाने वाले अध्यापकों की संख्या कितनी कम है, यह सभी जानते हैं। यदि मैं कहूँ कि महीने में एक नई पुस्तक पढ़नेवाले अध्यापकों की संख्या दस प्रतिशत भी नहीं होगी तो इसका खंडन किसी के लिए आसान नहीं होगा। जब मैं यह कह रहा हूँ तो वे सारे अध्यापक भी मेरे सामने हैं जो देहातों में फैले हुए कालेजों में साहित्य के अध्यापन का कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। उन्हें न तो पुस्तकालयों की सुविधा उपलब्ध है, न नई पुस्तकों की सूचना मिल पाती है और न नए प्रकाशनों को लेने की उन्हें आर्थिक शक्ति है, न बौद्धिक अभिरुचि। अध्ययन-अध्यापन का पिछड़ापन केवल बौद्धिक निष्क्रियता या रुचिहीनता का ही परिणाम नहीं है, उसके लिए सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति की विवशता भी है। मगर विवशता चाहे जो भी हो, उससे परिणाम में कोई फर्क नहीं आता। परिणाम यह है कि साहित्य का अध्यापन सन्तोषप्रद ढंग से नहीं हो पा रहा है।

पाठ्य-विषय का प्रसंग होने से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के सम्बन्ध में कहने का कुछ अव-काश तो है ही, किन्तु इन सब पर थोड़ा-थोड़ा भी कहना इस लेख को अत्यन्त विस्तृत रूप दे देगा। यदि यह प्रसंग आगे चला तो मैं बाद में अधिक विस्तार से अपना विचार व्यक्त करूँगा। अभी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि इन विधाओं की तुलना में आलोचना को अधिक रचनात्मक बनाने की आवश्यकता है और यह कार्य उसी आलोचना से सम्भव हो सकता है जिसमें ताज़गी, सजीवता और गम्भीरता हो। गम्भीरता का अर्थ क्लिष्टता नहीं है; दोनों दो चीज़ें हैं। गम्भीरता विषय के ज्ञान से उत्पन्न होती है और क्लिष्टता अभिव्यक्ति की अक्षमता से। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना गम्भीर है पर क्लिष्ट नहीं। हिन्दी के लिए यह चिन्त्य परिस्थिति है कि लगभग पचास वर्ष पहले का लिखा हुआ 'साहित्यालोचन' आज भी साहित्यालोचन का सर्वमान्य आधार-ग्रंथ है। इस अवधि में रूप और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से साहित्य कहाँ से कहाँ पहुँच गया पर छात्रों को पढ़ायी जाने वाली आलोचना में उसका सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य आदि हम कितने अभिनिवेश से छात्रों को पढ़ाते हैं (मैं स्वयं भी इसका अपवाद नहीं हूँ) पर आज की आलोचना में इसका उपयोग कभी होता भी है? और तब मैं अपने-आप से पूछता हूँ—इस बौद्धिक व्यायाम की व्यावहारिक उपादेयता क्या है? आलोचना साहित्य की विशेषताओं के उद्घाटन और बोध में समर्थ होनी चाहिए, इसके बदले आज आलोचना और साहित्य की परस्पर-निरपेक्ष धाराएँ रेल की पटरियों की तरह केवल समानान्तर चल रही हैं पर कभी एक-दूसरी को छूती नहीं। यह स्थिति साहित्य के ह्रासकाल में हुआ करती है। आनन्दवर्द्धन के समय संस्कृत की यही स्थिति थी। ध्वनि-सिद्धान्त जैसी सूक्ष्म, उपयोगी और व्यापक आलोचना-पद्धति से संस्कृत साहित्य ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया और उत्तरोत्तर ह्रास की ओर अग्रसर होते-होते कोरा वाग्जाल बनकर रह गया।

शिक्षण-पद्धति की सदोषता में बहुत दूर तक हाथ आज की परीक्षा-पद्धति का भी है। परीक्षा के घिसे-पिटे, बँधे-बँधाए प्रश्न हैं; चरित्र-चित्रण, शिल्प-विधान, भाषा-शैली, जैसे निश्चित शीर्षकों में गद्य-पद्य, महाकाव्य-खंडकाव्य, नाटक-उपन्यास सबकी आलोचना बैठानी है जो बाज़ारू

लोगों में अनायास उपलब्ध है। स्वभावतः छात्रों में आत्मचिंतन तथा आलोचनात्मक क्षमता का विकास नहीं होता। ●

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता

विश्वनाथ त्रिपाठी

जिसे हम-आप हिन्दी साहित्य कहते हैं वह क्या है? वह हिन्दी प्रदेश यानी मोटे तौर पर हरियाणा से लेकर बिहार और हिमालय की तराइयों से लेकर बुंदेलखण्ड के बीच बसने वाले लोगों के दुख-सुख, उनकी आशा-निराशा या उनकी भावनाओं का इज़हार है। जो लोग भारत के पुराने साहित्य को नहीं जानते या कम जानते हैं। वे साहित्य में आध्यात्मिकता, दूर की उड़ान या लोक से ऊपर का आनन्द ज़्यादा ढूँढ़ते और बताते हैं, लेकिन संस्कृत और प्राचीन भाषाओं के सचमुच के विद्वान जानते हैं कि संस्कृत के सबसे प्राचीन काव्य वाल्मीकि रामायण की पहली पंक्ति अपने ज़माने के और इसी दुनिया के इन्सान (कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके) की कथा से शुरू होती है। जानकारों का कहना है कि संत जेने से हज़ारों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए डाकू कवि वाल्मीकि के इस कथन में साहित्य का सिद्धान्त तो है ही, देवताओं और हमारी रोज़मर्रा की दुनिया से सम्बन्ध न रखने वालों को आधार बनाकर कुछ लिखने से विद्रोह और इन्कार का भाव भी है।

हिन्दी के बारे में संस्कृत साहित्य की यह चर्चा मैंने जान-बूझकर और एक खास उद्देश्य से की है। हिन्दी के कुछ विद्वानों और खास तौर पर विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वाले और पाठ्यक्रम तैयार करने वालों पर एक ग़लत तरह की ज़ेहनियत बुरी तरह हावी है। यह प्रवृत्ति कभी प्राचीनता, कभी संस्कृति, कभी राष्ट्रीयता और कभी शुद्ध साहित्यिकता की दुहाई देती है। लेकिन दिक्कत यह है कि ये लोग प्राचीनता, संस्कृति, राष्ट्रीयता या शुद्ध साहित्यिकता के विश्लेषण से हमेशा बचते और कतराते रहते हैं। विश्लेषण और वैज्ञानिकता के इन दुश्मनों ने हिन्दी को कुछ ऐसी चीज़ बना रखा है मानों वह एक हज़ार वर्षों की उत्तरी भारत की साधारण जनता की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति न हो, मानो वह चौके में छुआछूत बनाए रखने वालों का साहित्य हो, मानों वह सिर्फ 'शाकाहारियों' का साहित्य हो, सिर्फ हिन्दुओं का—और उसमें भी केवल सवर्णों का हो, जैसे उससे और गोरक्षा आन्दोलन से कोई बहुत गहरा लगाव हो, जैसे हिन्दी अपने अलावा भारत की और संसार की सारी भाषाओं की दुश्मन हो। नीयत यह और हौसला हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और उसे यू० एन० ओ० की भाषाओं में स्थान दिलाने का!

मैं इस हौसले को नहीं, नीयत को ग़लत समझता हूँ। हिन्दी साहित्य का रूप वह नहीं है जैसा कि कुछ लोग, चाहे वे विश्वविद्यालयों के कुछ अध्यापक ही क्यों न हों, पेश कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य वह है जो कि उसका इतिहास है। वह उतना ही विविध, उदार, विद्रोही और आधुनिक है जितना कि हिन्दी क्षेत्र की जनता और उसके लोकप्रिय कवि। यह प्रदेश बुद्ध और महावीर जैसे विद्रोही और प्राणी मात्र की समानता का प्रचार करने वाले अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक नेताओं, नाथों और सिद्धों जैसे वर्णाश्रम-व्यवस्था विरोधी और जात-पांत की घोर निन्दा करने वालों, कबीर और तुलसीदास जैसे उदारमना संत सूफ़ियों की क्रीड़ा-भूमि रहा है। आधुनिक काल ही में १८५७, १९२०, १९२१, १९४२ के जनान्दोलनों का मुख्य क्षेत्र यही प्रदेश रहा है। क्या इस विपुल-विविध और इतना ज़्यादा ऊँच-नीच देखने वाले जन-समूह ने साहित्य के रूप में अपनी जिन भावनाओं को अभिव्यक्त किया है वह ऐसा ही है जैसा कि हिन्दी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है?

विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी की पढ़ाई के इतिहास पर ग़ौर किया जाए तो एक अजीब तथ्य सामने आता है। हिन्दी में एम० ए० की पढ़ाई १९२० ई० के आस-पास शुरू हुई। तब से लेकर आज़ादी की लड़ाई के दौरान यानी करीब-करीब १९४७ ई० तक विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों ने जो साहित्य लिखा और जो पाठ्यक्रम तैयार किया वह आश्चर्यजनक रूप से लोकवादी (सेकुलर) और प्रगतिशील रहा है। यहाँ विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है, नहीं तो दिखाया जा सकता था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य परलोक के स्थान पर इस लोक, ईश्वर की जगह पर मनुष्य और निजीपन की जगह पर सामाजिकता की स्थापना करते हुए जनम ही लेता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के

निर्माताओं का आग्रह भौतिक विज्ञान पर आज से कहीं ज़्यादा दिखलाई पड़ता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी अंग्रेज़ी, बँगला, मराठी, उर्दू पुस्तकों और पत्रिकाओं से वैज्ञानिक लेखों का अनुवाद करके 'सरस्वती' में छापते थे। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण उनका दिल व दिमाग़ खुला हुआ था। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के बारे में इनका क्या दृष्टिकोण था वह उन्हीं के शब्दों से जाना जा सकता है। हिन्दी वालों को उर्दू भाषा और साहित्य का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—"उर्दू का साहित्य-समूह हिन्दी से बढ़ा-चढ़ा है। इस बात को क़बूल करना ही चाहिए।...उर्दू में इस समय अनेक विषयों के कितने ही ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका नाम तक हिन्दी में नहीं। उर्दू लेखकों में शम्स-उल उलमा हाली, आज़ाद, ज़काउल्ला, नज़ीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी में शायद ही कोई हो" (ज्ञान-भारती, पृ० ९६)। इस परम्परा को आगे बढ़ाया पं० रामचन्द्र शुक्ल ने। हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने अपना लेखक जीवन 'माडर्न रिव्यू' और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में अंग्रेज़ी लेखन से शुरू किया था। हिन्दी का अध्यापक बनने की उन्होंने कितनी तैयारी की थी यह देख लेना चाहिए। चौदह वर्ष की आयु में ही उन्होंने एडिसन के 'ऐसे ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया था। मेगस्थनीज़ की पुस्तक का अनुवाद 'भारत विवरण' नाम से किया था। एडविन अर्नाल्ड की पुस्तक 'लाइट ऑफ़ एशिया' का छन्दोबद्ध अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया था। राखालदास वन्द्योपाध्याय के बँगला उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद किया था। एक और पुस्तक का हिन्दी अनुवाद उन्होंने किया था, वह थी जर्मन वैज्ञानिक हैकल की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल ऑफ़ यूनिवर्स'। इस पुस्तक का परिचय देते हुए उन्होंने जो लिखा था वह देखने लायक है--"आज जर्मनी के जगद्विख्यात वैज्ञानिक हैकल की पुस्तक हिन्दी पढ़ने वालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है...इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।" हैकल की यह अनूदित पुस्तक १५२ पृष्ठों की है। शुक्लजी ने इसकी भूमिका १५५ पृष्ठों की लिखी है। भूमिका की शुरुआत में ही वे लिखते हैं—"जहाँ पहले लोग छोटी-से-छोटी बात के कारण को न पाकर ईश्वर की ओर दौड़ते थे वहाँ चारों ओर विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी कड़ी मौजूद हो गई है कि बीच में ठिकने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई।" हिन्दी के इस अध्यापक आलोचक ने यह भूमिका १९२२ ई० में लिखी थी और इस नतीजे पर पहुँचा था कि सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ हैं वे अब ढाल-तलवार का काम नहीं कर सकतीं। अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके उस सीमा पर जाएँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं।

यानी इन लोगों ने भौतिक विज्ञान का परिचय प्राप्त करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया था। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे: साहित्य में लोकमंगल या लोकवादी सिद्धान्तों की स्थापना और प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन। शुक्लजी ने सैद्धान्तिक स्तर पर साहित्य का स्रोत जीवन प्रमाणित किया। इसके लिए उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्यशास्त्र के आधार पर किन्तु उससे अलग हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र की नींव डाली। पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने तुलसी और सूर की लोकवादी व्याख्या करके उन्हें साहित्य में फिर से स्थापित किया। सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की कविताओं की मार्मिक व्याख्या करके उन्हें हिन्दी का महाकवि ही नहीं सिद्ध किया बल्कि उन मुसलमान सूफ़ी कवियों को, जो अपनी मसनवी अल्लाह, हज़रत मुहम्मद, उनके चारों दोस्तों और शाहे वक्त की वन्दना से शुरू करते हैं—भक्त कवियों की श्रेणी यानी तुलसी, सूर और कबीर की श्रेणी में रखा। जायसी महाकवि के रूप में हर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखे गए। भाषाविज्ञान आज भी नवीन विषय समझा जाता है। लेकिन काशी और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में यह विषय सन् '२० के आसपास से ही पढ़ाया जाने लगा।

शुक्लजी की मृत्यु १९४० ई० में हुई और उसी वर्ष शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन के अध्यक्ष पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' निकली। इस पुस्तक की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास को अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के संदर्भ में देखा गया है। हिन्दी साहित्य के विषय में यह एक अकेली पुस्तक है जो ग़ैर हिन्दी वालों को भी ध्यान में रखकर लिखी

गई है। इसमें एक तो हिन्दी साहित्य को जनता की संस्कृति और देश के इतिहास के साथ-साथ रखकर देखा गया है, दूसरे इसमें यह बात भी अच्छी तरह और पहली बार दिखाई गई है कि अशिक्षित जनता के रीति-रिवाजों, सामान्य विश्वासों ने ऊँचे-से-ऊँचे साहित्य को भी कितना प्रभावित किया है।

वस्तुतः उस समय हिन्दी के विद्वान अध्यापक आधुनिकता की रोशनी में पुराने साहित्य का पुनर्मूल्यांकन कर रहे थे। द्विवेदीजी ने अपभ्रंश काव्य, आदिकालीन साहित्य और कबीर की भी व्याख्या सामान्य मनुष्य और लोकजीवन के विकास के साथ-साथ की।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी विभाग निश्चित रूप से लोकवादी वैज्ञानिक आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल और द्विवेदीजी दोनों के इतिहास ग्रन्थ पहले क्लास में विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए 'नोट्स' के रूप में तैयार किये गए थे। डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' (और उन्हीं का 'भाषा रहस्य' भी) विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया था। इस दृष्टि से देखें तो आज उल्टी स्थिति है। शुक्लजी, द्विवेदीजी, डॉ० श्यामसुन्दरदास के छात्रोपयोगी नोट्स ने साहित्य और साहित्य के इतिहास की नवीन और वैज्ञानिक व्याख्या की है, जबकि आज पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी और समृद्ध प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित ऊँचे दामों वाली चमचमाती हुई किताबें अच्छे विद्यार्थियों के भी काम की नहीं होतीं। बात कहने-सुनने में अजीब लगती है, लेकिन है सच कि स्वतंत्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि विशाल बनने के बजाय संकुचित हुई है। जिस क्षेत्र में संकुचित नहीं हुई है वहाँ भी ठहरी हुई है। यह बात ठोस उदाहरणों से साबित की जा सकती है। 'छायावाद' १९४० के पहले तक नया काव्य-आन्दोलन समझा जाता था। प्रसादजी शुक्लजी के समकालीन थे। वे प्रसाद के प्रशंसकों में से न थे लेकिन उस समय का नया महाकाव्य 'कामायनी' उनके विभागाध्यक्ष होते हुए ही पाठ्यक्रम में लगा था। जहाँ तक मुझे पता है आज कहीं भी किसी प्रगतिवादी कवि या अज्ञेय की भी कोई कविता पुस्तक एम० ए० में नहीं लगी है। 'भाषा रहस्य' में अपने समय की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों को समेट लिया गया है। आज हिन्दी विभागों में भाषाविज्ञान के नाम पर जो पढ़ाया जाता है वह 'भाषा रहस्य' से आगे का नहीं उससे भी पीछे का मालूम पड़ता है। पश्चिमी समालोचना के क्षेत्र में आज भी 'साहित्यालोचन' निर्धारित है। यह नहीं कि आज भाषाविज्ञान या पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्रों में हम आधुनिक बन नहीं सकते। पहले हिन्दी के लोगों को ही हिन्दी में लिखने के लिए अंग्रेज़ी पढ़नी होती थी। आज अंग्रेज़ी साहित्य के ही ऐसे अध्यापकों की कमी नहीं है जो अवसर दिए जाने पर हिन्दी में लिख सकते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० रामअवध द्विवेदी, विजयदेव नारायण साही, प्रकाशचन्द गुप्त अंग्रेज़ी के सफल अध्यापक हैं, आज हिन्दी के विद्यार्थियों को इनसे लाभ उठाने का क्या अवसर दिया जा रहा है? अंग्रेज़ी के अध्यापक अब हिन्दी में लिखने में लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं करते। उदाहरण के लिए आलोचना के एक अंक में ही अंग्रेज़ी के अध्यापकों—युवा अध्यापकों ने इलियट और नई आलोचना, शिकागो आलोचक और नार्थ्रपफ्राई की आलोचना जैसे नवीन विषयों पर हिन्दी में ही लेख लिखे हैं। लेकिन ज़माना वह है कि पढ़े-लिखे लोगों की ज़ात को अब महापुरुष मुँह नहीं लगाते।

इससे कहीं अधिक चिन्ताजनक स्थिति साहित्य के पाठ्यक्रम और अध्ययन-अध्यापन की है। लगता है जैसे जान-बूझकर हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नज़रन्दाज़ किया जा रहा हो। अंग्रेज़ी में चासर पढ़ाया जा सकता है किन्तु हिन्दी में स्वयंभू पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान जैसे अपभ्रंश के महाकवि नहीं। हालत यह है कि हिन्दी अध्यापकों और विद्यार्थियों की नई पीढ़ी अपभ्रंश साहित्य की अपनी महान् परम्परा से वंचित की जा रही है। परम्परा और संस्कृति की दुहाई देने वाले अपभ्रंश साहित्य, जिसे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान पुरानी हिन्दी कहते हैं, से कोई प्रेम नहीं दिखाते। क्या कारण है? कारण यह तो नहीं है कि अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्मकाण्ड आदि का विरोधी है। क्या यह कारण तो नहीं है कि उसमें "आवागमन तो मेंट नहीं पाता और निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है" जैसी पंक्तियाँ हैं। क्या १२वीं शताब्दी के भारत के प्रथम मुसलमान कवि अब्दुल रहमान, जो अपने को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का मर्मज्ञ कहते हैं, हमारी उपेक्षा के योग्य हैं? क्या उनका नाम देखकर ही हम नहीं जान लेते कि वास्तविक हिन्दी साहित्य के पहले भी भारतीय भाषाओं की साहित्य-रचना में

मुसलमानों का हाथ रहा है।

पुराना साहित्य तो पुराना साहित्य, नए साहित्य के प्रति भी हमारा रवैया बहुत दकियानूसी है। नए साहित्यकारों में विश्वविद्यालयों द्वारा सबसे अधिक उपेक्षित निराला रहे हैं। बहुत कहने सुनने पर उनकी कोई कविता रखी भी जाती है तो उनकी एक बहुत पुरानी कविता 'तुम और मैं' जो जीव और ब्रह्म को लेकर लिखी गई है। कुछ विश्वविद्यालयों के एम० ए० पाठ्यक्रम में उनकी सबल कविता 'राम की शक्ति-पूजा' अवश्य निर्धारित है, जो निश्चय ही प्रशंसनीय है, लेकिन पाठ्यक्रम में किसी कविता का रखा जाना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की व्याख्या कैसे की जाती है। मुझे इस कविता के पढ़ाए जाने की पद्धति में गहरी जिज्ञासा है क्योंकि अब तक हिन्दी के किसी वरिष्ठ अध्यापक ने 'छायावाद की उपलब्धि' इस सशक्त कविता पर कोई स्वतंत्र लेख भी नहीं लिखा है, जबकि दूसरे कवियों विशेषकर हिन्दी विभागों के दुलारे कवियों मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानंदन पंत की अनेक अपेक्षाकृत कमज़ोर कृतियों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई हैं। निराला की अन्य सशक्त कविताएँ जैसे, 'बादल राग' या 'तोड़ती पत्थर', 'सरोज स्मृति' मेरी जानकारी में, कहीं नहीं हैं। नीची कक्षाओं में प्रेमचन्द की भी 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा' जैसी कहानियाँ बहुत कम निर्धारित दिखलाई पड़ती हैं। इस मामले में 'बूढ़ी काकी' और 'बड़े घर की बेटी' ही बाज़ी मार ले जाती हैं। यहाँ एक और गम्भीर तथा अत्यन्त चिन्ताजनक खतरे की ओर इशारा करना निहायत जरूरी है। इधर विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापकों का एक ऐसा दल खड़ा हुआ है जो साहित्य को तो इलहाम समझता ही है, आलोचना और अध्यापन को भी इलहाम समझता है और अपने को पढ़ा-लिखा नहीं, प्रतिभाशाली (जीनियस) कहलाने में विश्वास करता है। इनकी एक मान्यता यह है कि हिन्दी के पुराने विद्वान सूफ़ी कवियों की चालाकी को समझ नहीं पाए थे। सूफ़ी कवि कट्टर थे और वे भोली-भाली हिन्दू जनता में इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। मैं इस कथन से ज्यादा खतरनाक साहित्य को समझने-समझाने की इस प्रवृत्ति को समझता हूँ। उनके साहित्य को पढ़-लिखकर उनकी निष्पक्ष आलोचना करने के बजाय उनके उद्देश्य पर फतवे देना कहाँ की आलोचना है। और अगर साहित्य का इतिहास समझने-समझाने की इतनी ही लगन है तो यह भी जान लेना चाहिए कि धर्म समूचे मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणा है। सूफ़ी ही नहीं, कबीर, सूर, तुलसी सभी अपने मत का प्रचार एक सीमा तक करते थे।

वस्तुतः हुआ यह है कि स्वतंत्रता के उपरान्त विश्वविद्यालयों के अधिकांश हिन्दी विभाग और अध्यापक, विश्वविद्यालयों की चारदीवारियों में बन्द हो गए हैं। बाहर संसार में ज्ञान-विज्ञान, राजनीति में क्या हो रहा है, इसकी ओर ध्यान देने का उन्हें कोई चाव ही नहीं है। लेकिन साहित्य को समझने-समझाने की दृष्टि भी आखिरकार हमें समाज से मिलती है। रीतिकाल के आलोचक और आधुनिक आलोचक एक ही साहित्य पर अलग-अलग राय क्यों देते हैं? जिसे अर्थ का विस्तार कहा जाता है वह समाज के विकास से ही तो सम्भव होता है। इस संकीर्णता का प्रभाव पाठ्यक्रमों के निर्धारण और अध्यापन पर लाज़िमी तौर पर पड़ा है। पाठ्यक्रम के निर्धारण की समस्या अध्यापकों की सामाजिक चेतना से अलग नहीं है। अच्छी-से-अच्छी कविताएँ भी सफल और सजग अध्यापन के अभाव में अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाएंगी। यह समझना कि विश्वविद्यालय और अध्यापक साहित्य में यथास्थिति बनाए रखने के लिए हैं, गलत और हानिकर है। अध्यापक बढ़ते हुए मानवीय ज्ञान और मानवीय संवेदना का परिचय छात्रों को देने के लिए हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का सम्पर्क विश्वविद्यालयों के बाहर के सर्जक साहित्यकारों से या तो बिलकुल टूट गया है या बहुत कम रह गया है। साहित्य की रचना और उसके अध्यापन की इस बढ़ती हुई खाई को पाटना आवश्यक है और यह कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है। हमारे छात्र सिर्फ़ विश्वविद्यालयों की ही दुनिया में नहीं रहते हैं। अगर हम नहीं तो वे बाहर की ज़िन्दगी, उसकी संवेदनाओं में ज़रूर साँस लेते हैं। इसके पहले कि वे विश्वविद्यालयों की दमघोंटू दीवारों पर ज़ोर आज़माइश करें हमें ही ताज़ी हवा और नई रोशनी का इन्तज़ाम कर देना चाहिए।

आज हमारी शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार और प्रसार है। विज्ञान का प्रचार तो वैज्ञानिक ही कर सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार साहित्यकार और साहित्य के अध्यापक भी

प्रभावशाली ढंग से कर सकते हैं। हमारे देश की आधुनिकता वाली उसकी सर्वांगीण उन्नति में इसके प्रचार और प्रसार की सबसे ज्यादा ज़रूरत है। दबी ज़बान से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी प्रदेश देश का निर्णायक और गत्वरता की क्षमताओं से मुक्त प्रदेश है। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस महत्वपूर्ण प्रदेश में अन्धविश्वास, अशिक्षा, प्रतिक्रियावादिता, रूढ़िवादिता भी बहुत ज्यादा है। इससे भी बढ़कर दुर्भाग्य की बात यह है कि अभी तक हिन्दी का नेतृत्व कमोबेश रूढ़िवादी और पुराणपंथी लोगों के ही हाथ में रहा है। इससे हिन्दी की हानि हुई है। अन्य भाषा-भाषियों ने हमारे प्रति एक सन्देह-वादी दृष्टि अपना ली है। इसकी ज़िम्मेदारी केवल राजनैतिक नेताओं पर ही नहीं—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों पर भी है—उसी सीमा तक जिस सीमा तक उनका प्रभाव समाज पर पड़ता है। हमारे हिन्दी विभाग इस स्थिति को दूर करने में सहायक भी हो सकते हैं—पाठ्य-क्रम और शिक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर। कैसे ?

अंग्रेज़ी में बी० ए० पास के विद्यार्थियों के लिए 'दि इम्पैक्ट ऑफ़ साइंस ऑन सोसायटी' (बर्ट्रेन्ड रसेल) जैसी पुस्तकें निर्धारित की जाती हैं तो हिन्दी में केवल साहित्य और एक हद तक उबाऊ और घिसा-पिटा साहित्य पढ़ाया जाता है। न जानने वाले पूछेंगे कि हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य कहां है? उत्तर है, राहुलजी का मानव समाज, विश्व की रूपरेखा। राहुलजी के नाम से चिढ़ें तो पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा अनूदित 'विश्व प्रपंच' की भूमिका है। हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य आज से नहीं भारतेन्दु-युग से ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहा है। पढ़ने का कष्ट करें तो देखेंगे कि अभावों में संघर्ष करके हिन्दी की सेवा करने वाले लेखक हिन्दी भाषी जन-समुदाय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार करने के लिए छटपटा रहे थे। लेकिन इन लेखों को पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित कैसे किया जाए ? ढूंढ़ने और परिश्रम करने की फ़ुरसत और इच्छा चाहिए। और भी कई चक्कर हैं। मैंने बी० ए० की अंग्रेज़ी किताब में 'वोलगा से गंगा' की अनूदित कहानी 'प्रभा' पढ़ी थी। हिन्दी के सवाल के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी से निष्कासित त्रिपिटिकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का, जिनके पैर ल्यूडर्स ने छुए थे, जो लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में 'बुद्धिस्ट लॉजिक' के लेखक श्चेर्वात्स्की द्वारा निमंत्रित किये गए थे, एक भी लेख हिन्दी के उच्च पाठ्यक्रम में मैंने कहीं नहीं देखा। हिन्दी प्रदेश की सारी विविधताओं, परम्पराओं का प्रतिनिधित्व हिन्दी विभागों को करना चाहिए। इसके साथ-साथ वैज्ञानिकता का सहारा लेकर हमें आगे भी बढ़ना है। काम केवल भूषण, मतिराम, बाबू गुलाबराय और सेठ गोविन्ददास से नहीं चलने का—उन्नति करनी है तो सरहपा, कबीर, मीर, नज़ीर अकबराबादी, निराला, राहुल और रामविलास शर्मा, रसेल भाभा जैसों को साथ लीजिए—नहीं तो विश्वविद्यालयी हिन्दी संयुक्त राष्ट्रसंघ और तमिलनाडु में तो क्या पहुँचेगी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश, बिहार के भी लोगों की दुश्मन हो जाएगी। हिन्दी साहित्य और होगा, हमारे विभागों का साहित्य और होगा। कामना है कि ऐसा न हो। ●

कविता के अध्यापन की रूढ़ियाँ

परमानन्द श्रीवास्तव

विश्वविद्यालयों में कविता आज के युवकों को ठीक से पढ़ाई जाने लगे—इस तरह कि उनकी कल्पनाशीलता विकसित और जाग्रत हो सके, तो आने वाले समय के निर्माण में उनकी भूमिका कुछ और होगी—पर यह तो हुई आदर्श की बात—स्थितियाँ जैसी हैं, यह उम्मीद नज़र नहीं आती कि आसानी से कविता या साहित्य के अध्यापन की वे रूढ़ियां दूर हो सकेंगी जिनका दायरा इतना विस्तृत है कि उसमें आचार्य-अध्यापक और अध्ययन-रत छात्र सभी आ जाते हैं—यही रूढ़ियाँ कविता के विद्यार्थी-पाठक को उसके आन्तरिक संसार में जाने से पहले ही रोक लेती हैं—कविता में शब्दार्थ-सम्बन्धों की निजी विशिष्टता (जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'स्थिर' न होकर 'लचीला' और 'सृजनात्मक' होता है, 'एक और एक' का न होकर 'एक और अपरिमित' का होता है) से परिचित होने से पहले ही अन्य सरलीकृत युक्तियों से उनके प्रति उसकी दिलचस्पी ही समाप्त कर देती हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में कविता का अध्यापन जिस दृष्टिकोण से या कौशल से प्रायः किया जाता है उससे तो अच्छा होगा कि कविता का अध्यापन कुछ दिनों के लिए बन्द कर

दिया जाय और यही प्रयोग (जब तक उसकी भी अपनी 'शैली' नहीं बन जाती) किया जाय कि कुछ चुनी हुई कविताएँ विद्यार्थी-पाठकों को स्वतः पढ़ने के लिए दी जायँ—सम्भव है अपने-आप उन्हीं कविताओं को पढ़कर वे कुछ दूसरे ढंग के उन अतिरिक्त पूर्वग्रहों से बच जाएँ जो उनकी सर्जनात्मक ग्रहणशीलता के सहज मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं—उन पूर्वग्रहों से जो वर्ष-प्रतिवर्ष उनके सिर मढ़ दिए जाते रहे हैं। उन पूर्वग्रहों के चलते रचना या भाषा का मर्म तो अप्रासंगिक बना रहता है और 'तर्यौना' शब्द में श्लेष है—वह भी सभंग—इतना ही दिमाग में बचा रहता है।

मध्यकालीन कविता पढ़ाने तक तो ये युक्तियाँ चल भी जाती हैं कि यहाँ वक्रोक्ति है, यहाँ विभावना, यहाँ परिसंख्या या मुद्रा या परिकरांकुर—(हालाँकि यहाँ भी यह देखने की कोशिश कम की जाती है कि अलंकार जैसे उपादान का रस, ध्वनि आदि दूसरे उपादानों से कहाँ और क्या विशिष्ट सम्बन्ध है!)—विद्यार्थियों पर आचार्यत्व का आतंक भी स्थिर ही हो जाता है—आगे की कविता पढ़ाते समय असली मुश्किल पैदा होती है—कुछ ईमानदार व्याख्याता-अध्यापक तो सचमुच 'सांसत' में होते हैं, पूछताछकर काम चलाते हैं और अक्सर उन्हें गलत राय भी मिलती है—इनकी संख्या फिर भी नगण्य होगी—ऐसे मँजे हुए और कुशल खिलाड़ी, अध्यापक अधिक मिलेंगे जो छायावाद की सूक्ष्म अर्थ-छायाओं वाली कविता को भी मनमानी दिशाओं में हाँक ले जाएँगे—जैसे वे अर्थमीमांसा की चिन्ता छोड़कर विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर खींचना चाहेंगे कि प्रसाद की कविता में व्यक्तिगत प्रेम का फलाँ पहलू है या महादेवी की कविता में···और नतीजा यह होता है कि विद्यार्थियों के मुक्त ठहाके में कविताओं की पंक्तियाँ और उन्हें समझने-समझाने की दिक्कतें दोनों हवा हो जाती हैं। यह सब बचाव की युक्तियाँ हैं जिन्हें हमारे विश्वविद्यालयों के अभ्यस्त अध्यापक ज्यादातर काम में लाते हैं (हमारे देश के असंख्य महाविद्यालयों में कविता के अध्यापन की अवस्था और भी खराब है जहाँ आश्चर्य नहीं कि राजनीति का अध्येता समय पाकर पंत-महादेवी की कविताएँ भी पढ़ा आता हो)—और कविता के नए या बारीक या गहरे अर्थों के लिए बिलकुल परेशान नहीं होते—पदों की 'सन्दर्भ सहित व्याख्या' बनाने या पूछने के लिए ये युक्तियाँ काफी हैं। यहाँ तक कि कविता की भाषा में जो खास तरह का संगीत है, जो काव्य-पंक्तियों को पढ़ने की लय को नियंत्रित करता है और उन्हें अर्थ देता है—उसे भी वे नज़र-अन्दाज़ कर जाते हैं। उदाहरण के तौर पर विद्यापति की कविता पढ़ानी हो तो उनके लिए सद्यःस्नाता वाले चित्र का बाह्य रूमान ही काफी है—शब्द और शब्द के बीच फिसलता हुआ रूमान—फिर कौन फ़िक्र करता है उस 'देसिल बयना' की जो सौन्दर्य संवेदना के बारीक-से-बारीक उपकरणों से समृद्ध है। इनकी पहचान के बिना विद्यापति की कविता की आन्तरिक सत्ता से साक्षात सम्भव नहीं है—न हो—उनके लिए तो फिसलता रूमान 'कवच' है—अर्थमीमांसा की मुश्किलों से बचाता है। और तो और, अलंकार की हर पल चर्चा करने वाले कितने ही अध्यापक हैं जो 'बिम्ब' शब्द से चौंक उठते हैं—वे 'पृथ्वीराज रासो' की उत्तेजक गतियुक्त बिम्बों वाली पंक्तियाँ पढ़ा जाएँगे और बिम्बधर्मिता से अनजान बने रहेंगे—'चिराग तले अँधेरा'! अपवाद ज़रूर होंगे—ऐसे अध्यापक तो आखिर विश्वविद्यालयों में भी हैं ही, जिनकी रचना की पहचान असंदिग्ध है—कम-से-कम जो इन सवालों से उलझते ज़रूर हैं और विद्यार्थियों को रचना के निजी संसार में लाने के लिए, उन्हें उत्सुक बनाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, पर इस विडम्बना का सामना तो उन्हें करना ही पड़ता है कि अक्सर उनके मार्मिक और अर्थपूर्ण संकेतों पर उनके विद्यार्थी चौंकते हैं—कई-कई सालों से एक ही यांत्रिक प्रभावहीन ढंग से कविता पढ़ते-पढ़ते उनकी काव्यरुचि इतनी बद्ध और सीमित हो जाती है कि—'मेरी भव बाधा हरौ' के तीन-तीन अर्थ तो उन्हें समझ में आते हैं, पर यह संकेत उनके लिए अबूझ रहस्य बना रहता है कि निराला ने यहाँ 'अथवा' जैसे साधारण शब्द का इतना सार्थक, काव्यात्मक प्रयोग किया है—'उसका एक स्वप्न अथवा है'—शब्द जो कविता की दो दुनियाओं को एक-दूसरे से अलग करता है और नियति की विडम्बना को प्रकाशित करता है। अधिकांश विद्यार्थी इन संकेतों को अन्त तक नहीं पकड़ पाते और कुंजियों से ही काम चलाते हैं—वे उत्तीर्ण भी हो ही जाते हैं और कहीं अध्यापक हुए तो कविता की इसी व्यापक हत्या के अभियोग में शामिल हो जाते हैं—कविता की हत्या का यह प्रसंग है तो इतना ही भयानक—यदि इसका असर इस पर देखा जाय कि एक पीढ़ी-की-पीढ़ी किसी तरह की

सर्जनात्मक चिन्ताशीलता से विमुख कर दी गई है—पर लगता है हमारे विश्वविद्यालयों के अधिकारी और सहृदय विद्वानों ने भी इस स्थिति को स्वाभाविक मान लिया है। आश्चर्य है कि 'आलोचना' इस विषय पर संवाद चलाने जा रही है—पिछले दिनों काव्यभाषा की चर्चा को 'आलोचना' ने जितनी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह एक अनोखा ही अनुभव है—मुश्किल यह है कि जिन अध्यापकों पर कविता के इस निष्क्रिय या तर्कहीन या सरलीकृत अध्यापन के बहाने होने वाली कविता की बड़े पैमाने पर हत्या का सीधा अभियोग है वे न 'काव्यभाषा' सम्बन्धी बहस से सीखेंगे न इस संवाद से—क्योंकि वे पूर्णतः सन्तुष्ट हैं। वे न पढ़ाते निराला की कविताएँ—कबीर की ही सही, कविता पढ़ाने के लिए मन में थोड़ी खरोंच तो पैदा करते और देखते, कि कबीर की नितान्त सीधी शब्दावली में जो काव्यात्मकता है उसके उपादान क्या हैं—कबीर की उलटबासियों में ही जो काव्य-तत्त्व है उसे वे समझ सकें तो आज के कवि रघुवीरसहाय की 'विडम्बना' भी कल ज़रूर समझेंगे।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या कविताओं के चुनाव की भी है। अक्सर विश्वविद्यालयों में ऐसे काव्य-संकलन पढ़ाए जाते हैं जिन्हें देखकर कोफ़्त होती है। इधर कुछ विश्वविद्यालयों का ध्यान इस दिशा में ज़रूर गया है। हमारे विश्वविद्यालय (गोरखपुर) में भी यह बात उठाई गई है कि अच्छी कविताओं का विश्वविद्यालय का अपना प्रामाणिक संकलन होना चाहिए जिनके चुनाव के पीछे काव्यतत्त्व की दृष्टि, कृतिकार की आंतरिक मानसिकता को सामने लाने की दृष्टि प्रमुख होगी। अच्छा होगा कि ऐसे संकलनों में व्याख्या-टीका के स्थान पर महत्त्वपूर्ण कविताओं की काव्यानुभूति की बनावट, वाक्यगठन, लय का विधान, बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया आदि से सम्बन्धित कुछ विश्लेषणपरक टिप्पणियाँ दी जाएँ—जो उद्देश्य की गम्भीरता के अनुरूप विद्वान् अध्यापकों या लेखकों से लिखायी जाएँ। ऐसे संकलनों की कुंजियों का प्रकाशन सर्वथा निषिद्ध होना चाहिए। साथ ही विश्वविद्यालयों को समय-समय पर ऐसे 'सेमिनार' आदि भी आयोजित करने चाहिए जिनमें कविता के मर्म या कविता की भाषा आदि के सम्बन्ध में अध्यापकों-विद्यार्थियों के बीच मुक्त संवाद सम्भव हो सके।

यह प्रश्न आज अधिक विचारणीय इसलिए भी है कि इन दिनों साहित्य के अध्यापन की दिशा में कहीं थोड़ी-बहुत प्रगति के साथ स्तरीय ह्रास अधिक हुआ है—पहले के आचार्य कम-से-कम शब्दानुशासन के कायल और शब्द या अर्थ में निहित विच्छित्ति या चमत्कार के अन्वेषक थे—अब वह बात भी नहीं रही। शब्द की उपेक्षा हुई तो पूरे काव्यात्मक वाक्यविन्यास की उपेक्षा तो होगी ही। निराला की ये पंक्तियाँ :

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूं लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।

अर्से से पढ़ाई जा रही हैं—इनके वाक्य-गठन में जो खास तरह की परिवर्तित लय है—लय का विशिष्ट नियंत्रण है—टेक का जिससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं—दूसरे शब्दों में पंक्तियों के कहीं बीच में ही टूटने में जो 'कविता' है—कितने अध्यापकों का ध्यान उस पर जाता होगा।

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

इन सीधी-सामान्य उक्तियों में जो 'कविता' है उसे समग्र अवतरण के यथातथ्य बिम्बों से सम्बद्ध मूक पर गहरे दबावों से अलग और अनजान रहकर उपलब्ध करना असम्भव होगा।

अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते,

—यहाँ कितना सार्थक और काव्यात्मक अन्तराल है और वही पूरे अवतरण की अर्थव्यंजना को तीव्रतर बनाता है—यहाँ कविता के पूरे अवसाद को ग्रहण करने का एक ही रास्ता है—इन अन्तरालों की काव्यात्मकता समझने के लिए यथा-स्थान रुकना—यहाँ भाषाशास्त्र और साहित्यशास्त्र का मिला-जुला विवेक उपयोगी होना चाहिए पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि कविता में ध्वनि तत्त्व या वाक्य तत्त्व के विशिष्ट गठन के प्रति वे अध्यापक भी उदासीन हैं जो अलग से उसी कक्षा को भाषाविज्ञान पढ़ाते हैं। जब तक 'संदर्भ सहित व्याख्या' पूछने का क्रम समाप्त कर काव्य-प्रक्रिया पर

ही प्रश्न नहीं पूछे जाते, स्थिति यही रहेगी।

कुछ दिन पहले तक हमारे विश्वविद्यालय में उपाधि कक्षा के विद्यार्थियों को 'राम की शक्तिपूजा'-जैसी लम्बी और विशिष्ट कविता पढ़ाई जाती थी—इस कविता का जो विशाल परिप्रेक्ष्य है, विशाल और नाटकीय संक्रमण या तनाव का आवेग है—जो पढ़ते हुए मन में बेचैनी पैदा करता है, दृष्टि देता है कि संदेह राम के मन में ही नहीं, निराला के मन में भी है—बहुत कोशिश करने पर भी इस कविता का पुनर्सृजन विद्यार्थियों के मन में नहीं हो पाता था। कारण, वही साल-दर-साल की कविता की पढ़ाई से बने हुए संस्कार बाधक होते होंगे। उन्हें बताइए 'हेतुत्प्रेक्षा'—वे हाशिए पर लिख लेंगे पर कविता के अर्थ-संसार में जो छूटी हुई जगहें हैं, एक और दूसरे अर्थ के बीच जो मूक फासले हैं, दूरियाँ हैं, उन्हें वे भला कैसे समझेंगे! काव्यशास्त्र के गम्भीर सवालों से कटे हुए अध्यापकों में नए-पुराने दोनों ही हैं—किसी सर्जनात्मक कृति को जाँचने के लिए काव्यशास्त्रीय उपकरणों का दृष्टि-सम्पन्न उपयोग करने की जैसी आवश्यकता है उसके प्रति सचेत अध्यापकों की संख्या कम-से-कम है। 'सीधे' शब्दों में भी जो स्मृति सम्बन्धों की 'सघनता' होती है उसकी चिन्ता कम अध्यापकों को होगी। 'मैं कोरी आँख निरखता' जैसी पंक्ति वे पढ़ा जाएँगे और 'रिक्तता' जैसी मनोदशा का दबाव न खुद महसूस कर सकेंगे, न करा सकेंगे—कोरा तो कागज भी होता है लेकिन जब आँख 'कोरी' होती है तो शून्यता, रिक्तता, भावहीनता, विषादमग्नता की पराकाष्ठा आदि कितनी अर्थच्छायाओं के मिले-जुले विशिष्ट प्रभाव को व्यक्त करती है। इसीलिए मैंने कहा कि एक बार 'शब्दों' पर रुकने की आदत डालनी चाहिए—कविता को आखिर पुराने आचार्यों ने 'शब्द' कहा है—

तिर रही अतृप्ति जलधि में / नीलम की नाव निराली

जो नहीं समझेंगे कि 'नीलम की नाव' प्रिय की पुतलियाँ हैं वे भला क्यों समझने लगे कि उसी की आँखें 'अतृप्ति का सागर' भी हो सकती हैं। कविता की भाषिक सर्जनात्मकता के प्रति सचेत हुए बिना यह अनुशासन या विवेक सुलभ नहीं होगा। इस अभ्यास से ही जाना जा सकेगा कि भिन्न वस्तुओं की टकराहट की उत्तेजक चमक से जो तीसरा बिम्ब बनता है उसकी विशिष्ट काव्योपयोगिता क्या है, विशिष्ट शब्दों या ध्वनिविधानों की गुणात्मक पुनरावृत्ति से किस प्रकार की काव्यात्मक अर्थवत्ता उत्पन्न की जाती है, या कविता में विशेषणों का अतिरिक्त प्रयोग किस प्रकार कविता की प्रकृत अर्थ-संवेदना को क्षीण करता है, या रूपकों का व्यवहार कविता को कौन-सा नाटकीय चरित्र देता है, या शब्दों पर विशिष्ट कवियों की व्यक्तिगत छाप कैसी है, या एक ही शब्द की अलग-अलग स्थानों पर योजना अर्थ की दृष्टि से कहाँ अलग है! माना कि कविता की पढ़ाई में रस, अलंकार वक्रोक्ति, रीति, गुण, शब्द-शक्ति आदि का मतलब है। पर इन विभिन्न गुणात्मक उपादानों के आपसी सम्बन्धों का भी तो कुछ खास मतलब होता है—कविता प्रक्रिया है तो इसी अर्थ में—कि ये समस्त उपकरण परस्पर सम्बद्ध या अविच्छिन्न रहकर ही विशिष्ट अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। सपाट, प्रसरणशील, वर्णनात्मक और अनेक प्रकार के बिम्बों के योग से बनने वाली काव्यात्मक शब्दावली पर कविता के अध्यापक विचार नहीं करेंगे तो उन्हें आगे की कविता पढ़ाने में और भी दिक्कत होगी—यदि वे पढ़ाना चाहेंगे। अज्ञेय कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में आ गए हैं और मुक्तिबोध भी हमारे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में तो शामिल कर लिए गए हैं—अन्यत्र भी कर लिए जाएंगे—यह कहकर मैं कुछ नई कविता की अर्थमीमांसा की ज़िम्मेदारी की ओर नहीं, बल्कि कविता की नई अर्थमीमांसा, नई विधि से अर्थमीमांसा की ज़रूरत की ओर ही कविता के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ। मुक्तिबोध की कविता को ही नहीं, तुलसी और केशव की कविता को भी नई अर्थमीमांसा की ज़रूरत है।

कविता ऊपर-ऊपर दिखने वाले वाक्यों से अधिक वस्तुओं की अन्तर्योजना में होती है—इसे क्या वे कभी समझेंगे जो 'तर्यौना' के सभंग श्लेष पर ही रीझे और रुके हुए हैं। कलात्मक अभिव्यक्तियों के पीछे संवेदनात्मक उद्देश्य भी छिपे रहते हों, तो इसकी चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी! अन्त में यह जोड़ने की ज़रूरत भी समझ में आती है कि कविता की सही समझ की कमी अध्यापकों में ही नहीं (जिन्हें कर्म की बाध्यता से कविता गलत-सही पढ़ानी ही है), बहुत-से गैर-अध्यापकों या शुद्ध रचनाकारों में भी उसी रूप में दिखाई देगी—कविता या भाषा की सृजनशीलता और ऐसी दूसरी समस्याओं से वे भी उतने ही अनासक्त और अनजान पाए जाएँगे—बल्कि बहुत-से अध्यापकों पर तो व्यवहारवादियों के लिए कही हुई यह उक्ति ही लागू की जा सकेगी: 'यह नहीं कि वे गलत हैं,

बल्कि यह कि वे ठीक हो सकते थे'—इसलिए समस्या कविता के अध्यापन की ही नहीं, कविता को ठीक से समझने-समझाने की भी है, पूर्वग्रहों से निर्मित कविता सम्बन्धी धारणा में हेर-फेर करने की है। अपने आदर्श रूप में कविता का अध्यापन भी श्रेष्ठ मूल्यांकन की तरह पुनर्सृजन या पुनराविष्कार है—पर वही—आदर्श रूप में ! ●

परिप्रेक्ष्य का विस्तार

रमेश कुंतल मेघ

गरीब एशियाई भारत के विश्वविद्यालयों की वर्तमान स्थिति चिंतापूर्ण है, तथा उनमें साहित्यिक शिक्षा—विशेष रूप से हिन्दी साहित्य-शिक्षा—की हालत तो दयनीय भी है; और भयानक भी। अभी तो मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि शुरू कहां से करूँ, और किस सीमा में रहूँ !

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के प्रसंग में केवल वर्तमान की बात करने से बहुत-कुछ ऐतिहासिक छूट जायेगा; और आधुनिक विश्वविद्यालयों का ही विवेचन करने पर भारतीय विश्वविद्यालयों के औपनिवेशिक विकास की यंत्रणा का हाशिया गुम हो जायेगा। विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालयी शिक्षा को अलग-अलग कर देने पर भारतीय समाज के संगठन, परिवर्तन और पुनर्जागरण की समझ विलुप्त हो जायेगी। इसलिए मैं विश्वविद्यालयों की थोड़ी ऐतिहासिक भूमिका देने की इजाज़त ज़रूर चाहूँगा।

१९ जुलाई, १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से एक 'एजुकेशनल डिस्पैच' तैयार किया था जिसे **भारत में अंग्रेजी शिक्षा का मैग्ना-चार्टा** अथवा भारत का **बौद्धिक चार्टर** कहा जाता है। वुड-डिस्पैच ने प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक की व्यवस्था की सिफ़ारिश की थी। उसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की प्रेसिडेंसी-नगरियों में विश्वविद्यालय क़ायम किये गये (१८५७) तथा प्रान्तों में पब्लिक इंस्ट्रक्शन विभाग क़ायम किये गए जिनके स्कूल-इंस्पेक्टर स्कूलों का मुआयना करते हैं; गैर-सरकारी स्कूलों को वित्तीय सहायता देते हैं। वुड-डिस्पैच ने ही प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय (संस्कृत, फारसी, अरबी) भाषाओं तथा प्रान्तीय भाषाओं के अग्रवर्ती अध्यापन की सिफारिश की। इसके साथ-साथ उसमें डॉक्टरी (मेडिसिन), इंजीनियरी और क़ानूनी पेशों और प्रशिक्षणों की आवश्यकता भी बताई गई।

सन् १८५७ के ऐक्ट के अनुसार विश्वविद्यालयों की प्रशासिका समितियों में अध्यापक सदस्य नहीं हो सकते थे और गवर्नर-जनरल (बंगाल) तथा गवर्नर (बम्बई और मद्रास) ही कुलपति होते थे। कुलपति ही उपकुलपति को नामज़द करते थे तथा कुछ 'फ़ेलो' भी नियुक्त करते थे। सन् १९०४ के ऐक्ट ने फ़ेलो की संख्या निर्धारित कर दी; तथा 'सिंडिकेट' को सांविधिक-सभा बना दिया। इस समय के बीच कलकत्ता विश्वविद्यालय के महासाम्राज्य को छोटा करने के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर (१८८२), तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी (१८८७) भी स्थापित की गईं। अब तक ये पाँचों विश्वविद्यालय केवल कालेजों का **सम्बद्धीकरण** तथा छात्रों का **परीक्षण** करते थे। यह हालत सन् १९१६ तक रही थी।

सन् १९१३ में भारत सरकार के एक प्रस्ताव के अनुसार यह घोषित किया गया कि विश्वविद्यालयों को केवल परीक्षा लेने वाली संकीर्ण संस्थाएँ नहीं रहना है, बल्कि उन्हें **अध्यापन और शोध** भी करना है। अतः प्रत्येक प्रान्त में एक निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम करने का प्रस्ताव हुआ। स्वयं केन्द्रीय सरकार ने ढाका (१९२१), अलीगढ़ (१९२०) और बनारस (१९१५) में अध्यापकीय एवं निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम किये। फलतः अब विश्वविद्यालय क्षेत्रों में अध्यापकों, छात्रों और शोध-विद्वानों का एक संगम क़ायम हुआ। प्रस्ताव में यह भी कह कहा गया कि विश्वविद्यालयों को अध्यापन-सुविधाएँ विकसित करनी चाहिये, और सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक उन्नति के अनुकूल सामूहिक वातावरण भी बनाना चाहिये। सन् १९१९ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' या 'सैंडलर कमीशन' ने माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय-शिक्षा को परस्पर जोड़कर देखा। प्रान्तों में 'इंटर-कक्षा बोर्डों' की स्थापना हुई। सेडलर कमीशन द्वारा प्रस्तावित 'मॉडल' के अनुसार लखनऊ (१९२१) तथा दिल्ली (१९२२) के विश्वविद्यालय क़ायम हुए। इसके अलावा नागपुर (१९२३), आंध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलाई (१९२९) तथा पुनर्गठित इलाहाबाद (१९२२) विश्व-

विद्यालय भी क़ायम हुए। कमीशन ने दो-तीन महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिशें कीं—(i) विश्वविद्यालयों पर सरकार का न्यूनतम नियंत्रण हो; (ii) विश्वविद्यालयी प्रशासन में अध्यापक ज्यादा भाग लें; तथा (iii) उपकुलपति पूरे समय के लिए सवैतनिक नियुक्त हों।

वुड-डिस्पैच, सैडलर कमीशन के बाद 'सर्जेंट रिपोर्ट' (१९४४) महत्त्वपूर्ण रही जिसने युद्धोपरांत भारतीय शिक्षा-विकास पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के रूप में काम किया। सर्जेंट रिपोर्ट ने भारतीय विश्वविद्यालय-व्यवस्था के कई दोष गिनाये—इसमें परीक्षा को अवांछित महत्त्व दिया जाता है; मौलिक चिंतन के बजाय किताबी-रटन्ती पर आग्रह होता है; अध्यापकों तथा छात्रों के बीच निजी संपर्क का अभाव होता है; राज्य उपयुक्त वित्तीय समर्थन नहीं देते जिससे विश्वविद्यालय परीक्षा-फीसों पर आश्रित होते हैं और उनके स्तर गिरते चले जाते हैं; गरीब और योग्य छात्रों की सहायता के लिए कोई योजनाएँ नहीं हैं; तथा अधिक विश्वविद्यालयों की अपेक्षा है।

यह हुई हमारी विश्वविद्यालयी शिक्षा की पुरानी उपनिवेशवादी विरासत, जो एक विदेशी, किन्तु प्रबुद्ध, शक्ति की देन है। यह विरासत मूलरूपेण विश्वविद्यालय से लेकर शिशु-पाठशाला तक व्यक्ति और समाज की पारस्परिकता की उपेक्षा करती है; शिक्षा को सामाजिक दायित्व और सामूहिक रहनी से पृथक् करके मात्र ऊँची **नौकरी** तथा ज्यादा **आमदनी** का आधार बनाती है; ऐसे भद्रलोक (बाबू) या श्रेष्ठजन (बुद्धिजीवी साहब) पैदा करती है जो जनता से विच्छिन्न हो जाते हैं; इत्यादि-इत्यादि।

आज़ादी (१९४७) और गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के बाद हमारे विश्वविद्यालयों को आधुनिक बनना था, तथा शिक्षा को सामाजिक। किन्तु राजनैतिक आज़ादी के बाद न तो सामाजिक क्रांति हुई और न ही आर्थिक क्रांति। अतः विश्वविद्यालय बूढ़े अजगरों की तरह सरकते-सरकते चल रहे हैं। आज विश्वविद्यालय और शिक्षा भी समाज का यथारूप लघुवृत्तचित्र उपस्थित कर रहे हैं।

आज़ादी के बाद 'दि यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन' (१९४८-४९) ने भी स्वीकार किया कि "भविष्य में विश्वविद्यालयों की योजना **अनिवार्य** प्राथमिक शिक्षा तथा **नई** माध्यमिक शिक्षा के आधार पर बनाई जाए जिसकी सिफ़ारिशें सार्जेंट रिपोर्ट में की गई हैं।" यह कमीशन डॉक्टर राधाकृष्णन् के सभापतित्व में कायम हुआ था। इस कमीशन ने विश्वविद्यालयों के नये दायित्वों और कर्तव्यों को स्पष्ट किया कि उन्हें "राजनीति और प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य में नेतृत्व प्रदान करना है।" स्पष्ट है कि ये लक्ष्य पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकताओं की सूचना देते हैं। लेकिन उदार मानवतावाद अथवा स्थापित व्यवस्था के सहिष्णुतावाद की झाँकी भी देते हैं कि "साहित्यिक और तकनीकी, वैज्ञानिक और व्यावसायिक— सभी प्रकार की शिक्षा का लक्ष्य यह हो कि वह देश को जल्दी-से-जल्दी अभावों, बीमारियों और मूढ़ता से आज़ाद कर सके।" कमीशन ने यह चेतावनी भी दी कि विश्वविद्यालयों को उस सामाजिक व्यवस्था को अनदेखा नहीं करना चाहिए जिसके निमित्त वे युवा छात्र-छात्राओं को शिक्षित कर रहे हैं। आज सन् १९६९ में हम एक निरन्तर बहस में पूछ सकते हैं कि इस सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप और स्वधर्म क्या है जिसके लिए हम शिक्षित किये गये हैं। कमीशन ने यह भी कहा कि विश्वविद्यालयी शिक्षा 'समधिकारी सूची' में रखी जानी चाहिए तथा स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध के खर्च का ५० प्रतिशत केन्द्र को देना चाहिए। कमीशन ने अंग्रेज़ी की अनिवार्य शिक्षा पर, आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने पर भी सहमति प्रकट की।

पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने के काल में ही सन् १९५६ में 'यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन' एक सांविधिक संस्था के रूप में कायम हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यू० जी० सी०, विभिन्न पाठ्य-विषयों के पाठ्यक्रमों का संशोधन करने के लिए प्रसिद्ध विश्वविद्यालय प्राध्यापकों की कमेटियाँ बनाईं, तथा उनके **आधुनिकीकरण** और **संवर्द्धन** के लिए सुझाव प्राप्त किये। इस बीच [उत्कल (१९४३), सागर (१९४६), राजस्थान (१९४७) को छोड़कर] आज़ादी के बाद लगभग पैंतालीस नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

सबसे ताज़ी महत्त्वपूर्ण घटना तो १६ जुलाई १९६४ को 'एजुकेशन कमीशन' की स्थापना है। इसका लक्ष्य एक "**राष्ट्रीय शिक्षा** को लागू करना है जो **राष्ट्रीय जीवन** के सभी क्षेत्रों में योगदान कर सके।" कमीशन ने २९ जून १९६६ में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसे 'कोठारी कमीशन' (१९६४-६६) भी कहा गया है। इसने प्राथमिक अवस्था से विश्वविद्यालयी

रण तक की शिक्षा के रूपांतरण के लिए ऐसी सिफ़ारिशें कीं जिससे शिक्षा जनता की ज़िन्दगी, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं पर लागू हो सके; तथा हमारे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का साधन बन सके। तेज़ औद्योगीकरण, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, पूरा रोज़गार, और राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विकास आदि के लिए 'परिवर्तन' ज़रूरी है, यह कमीशन ने स्वीकार किया। यह भी स्वीकार किया गया कि इस परिवर्तन में शिक्षा एक साधन है। अतः भारत सरकार के प्रस्ताव (१४ जुलाई, १९६४) के अनुसार "देश में एक सचमुच प्रजातांत्रिक समाज के निर्माण के लिए, राष्ट्रीय अंतर्ग्रथन और एकता के लिए, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए शिक्षा की भूमिका" का महत्त्व है। अतः अब शिक्षा को राष्ट्र और जनजीवन से जोड़ने की आवश्यकता प्रकट हो गई है। लेकिन, आज भी सन् १९६९ में, इस दिशा में केवल ऊपरी हेरफेर ही हुए हैं: जैसे किसी क्रम में एक साल जोड़ना या घटाना; एक विषय में कुछ पाठ्यक्रम बढ़ाना या छाँटना; कुछ पाठ्यपुस्तकों को बदलना; अध्यापकों के वेतनमान सुधारना; इत्यादि।

कमीशन ने यह राय भी जाहिर की अंग्रेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाओं में शिक्षा देना महत्त्वपूर्ण तथा अत्यावश्यक है। इसके लिए भारतीय भाषाओं में अपेक्षित साहित्य रचा जाना चाहिये और शिक्षितों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। यह भी कहा गया कि जब तक अंग्रेज़ी का स्थान पाने के लिए हिन्दी प्रभावशाली ढंग से विकसित नहीं हो जाती और जब तक वह अ-हिन्दी क्षेत्रों के छात्रों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, तब तक अंग्रेज़ी ही जारी रहे। किन्तु यह बुनियादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि अध्यापन (कक्षा में पढ़ाई जाने वाली भाषा) तथा मूल्यांकन (परीक्षा की भाषा) की भाषा एक हो। कमीशन ने एक अन्तिम महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह की कि फ्रांसीसी, जापानी, स्पेनी, चीनी और रूसी आदि अन्य विश्वभाषाएँ भी सभी विश्वविद्यालयों, कुछ कालेजों तथा चुने हुए स्कूलों में पढ़ाई जायें। कमीशन ने त्रिभाषा-फ़ार्मूले (१९६१) में भी संशोधन करके मातृभाषा या राज्य-भाषा, संघभाषा (हिन्दी) या सहकारी संघभाषा (अंग्रेज़ी) तथा एक अन्य भारतीय भाषा के पढ़ाने का प्रतिपादन किया।

अतः भारतीय विश्वविद्यालयों की यह कहानी भारतीय सामाजिक संगठन के अवरुद्ध स्वरूप की कहानी का सांस्कृतिक प्रतिबिंब है। अगर हम भारतीय विश्वविद्यालयों की आज़ादी के पहले और बाद की दशाओं की तुलना करें तो हमें अतिक्रुद्ध बेकार तरुणों के आंदोलन, उदासीन और बेपरवाह अध्यापकों की पस्तहिम्मती, गुटों और भ्रष्टाचार से खोखले विश्वविद्यालय नज़र आते हैं। आज़ादी के बीस वर्षों की वास्तविक उपलब्धि यही है कि अब विश्वविद्यालय सरकार के नियन्त्रण में हैं, हारे हुए बूढ़े नेता उपकुलपति हैं, विश्वविद्यालय कैम्प में आये दिन विद्रोह और असन्तोष की आग भड़कती है तथा वे पुलिस की गोलियों से लहू-लुहान बने रहते हैं। आज भी युवक विश्वविद्यालयी शिक्षा को बड़ी नौकरियों तथा ऊँची आमदनियों को साधन मानते हैं; आज भी शिक्षा सामाजिक दायित्व से विहीन है और आज भी वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है [जिसकी हिमायत 'शिक्षा-कमीशन १९६४-६६' ने की है]। इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में हम कुछ तथ्य विषयांतर करके भी प्रस्तुत करना चाहेंगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर ऐक्ट १८१३ की तैंतालीसवीं धारा के अनुसार डायरेक्टरों ने भारत के **विद्वान** नेटिवों को प्रोत्साहित करने, तथा **साहित्य** को संवर्धित एवं पुनरुद्धारित करने के लिए एक लाख रुपये का अनुदान दिया। इस राशि से भारतीय क्लासिकल कृतियाँ छापी गईं तथा कलकत्ता में संस्कृत कालेज (१८२४) कायम किया गया। सन् १७८४ में संस्थापित बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी से लेकर मैकाले के समय तक अरबी और संस्कृत की विद्या को प्रोत्साहित किया गया। भारतीय विद्या की धारा यही थी।

लेकिन इसका विरोध पश्चिमी शिक्षा की धारा के समर्थक कर रहे थे। यदि उनमें से राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक भारत का नवारम्भ चाहते थे तो अनेक लोग कम्पनी में नौकरी पाने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ना चाहते थे। सन् १८३५ के 'मैकाले नोट' ने भारतीय विद्यावादियों के मुकाबले पश्चिमी शिक्षावादियों को जिता दिया। मार्च १८३५ में गवर्नर-जनरल ने 'भारत के वासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहित करने' की घोषणा की। यह भी घोषणा की कि अनुदान की राशि आगे से प्राचीन कृतियों को छापने में खर्च नहीं की जायेगी; आगे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी। अतः विलियम बैंटिक की घोषणा के बाद दो वर्षों में ही बारह नये स्कूल खुल गये जो अंग्रेज़ी के माध्यम से

यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने लगे। अब गरीब छात्र पाठशालाओं में जाने लगे तथा समृद्ध छात्र स्कूलों में। सन् १८३६ में शुरू किये गये हुगली कालेज में तीन दिन के अन्दर बारह सौ छात्रों ने दाखिला लिया। किन्तु 'मैकाले नोट' के बारह साल पहले ही प्रस्तावित संस्कृत कालेज के बाबत राजा राममोहन राय ने लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था : "इस पाठशाला से यही उम्मीद की जा सकती है कि यह युवकों के दिमाग व्याकरण की बारीकियों तथा आधिभौतिक भेदों-प्रभेदों से बोझिल बना देगी जिनका व्यावहारिक उपयोग न तो अध्येता के लिए है, और न ही समाज के लिए।··· शिक्षा की संस्कृति-पद्धति नाप-जोखकर इस देश को अंधकार में जकड़े रहेगी।"[1]

यह कितना बड़ा अचम्भा है कि राजा राममोहन राय ने सन् १८२५ में उस सामन्तीय शिक्षा-पद्धति का विरोध किया जो मात्र **साहित्यिक** और **धार्मिक** रही है और जो **आधुनिक** विज्ञान से अछूती है। इस क्रम में 'शिक्षा-कमीशन' (१९६४-६६) ने उस आधुनिक उपनिवेशी अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध किया जो राष्ट्रीय नहीं है, जो जनता के जीवन तथा समाज की उन्नति से जुड़ी नहीं है तथा जो सामाजिक के बजाय व्यक्ति-केन्द्रित है। इसका वास्तविक निष्कर्ष यही निकला कि हमारी शिक्षा-पद्धति सामन्तीय चरण में अन्धकार में जकड़ी थी; उपनिवेशवादी चरण में गुलाम बाबू बनाने का साधन थी, तथा आज़ादी के बाद के चरण में एक श्रेष्ठजनगण का निर्माण करती रही, बेकारों की सेना खड़ी करती रही, तथा सामूहिक जीवन और सामाजिक दायित्व से निरन्तर कटी रही। प्रजातन्त्र के बाईस वर्षों में शिक्षा ने हमें अधिक मानसिक गुलाम बनाया, तथा समाज में व्यक्ति को अधिक नंगा तथा गन्दा किया। आखिरकार हमने ये कीमती ऐतिहासिक बाईस वर्ष गँवा दिये जबकि एशिया के प्रतियोगी गरीब राष्ट्र स्वावलम्बी तथा उन्नत होते गये।

अतएव ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पहले हमारे विश्वविद्यालयों का प्रकार्य परीक्षाएँ लेना और सम्बद्धीकरण करना था; बाद में निवासीय विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ उनके प्रकार्य अध्यापन और शोध भी हो गए। किन्तु शिक्षा का बुनियादी चरित्र यही रहा कि वह अन्तर्निर्माण करती है, सामाजिक वृद्धि नहीं; उसका काम इन्सान के खाली दिमाग में सूचनाएँ भर देना है जिन्हें वह याद करके परीक्षा के समय उगल दे। वे सूचनाएँ भरने की गलतफहमी को बौद्धिक विकास और स्वतन्त्र चिन्तन की संज्ञा दे रहे हैं। सामान्य मुहावरों में भी विश्वविद्यालय वह जगह मानी जाती है जहाँ पाठ्यक्रम (सिलेबस) पढ़ाया जाता है और परीक्षार्थियों को डिगरियों के लिए तैयार किया जाता है ताकि वे अच्छी नौकरियाँ और ऊँची आमदनी पा सकें। अतः सूचनाओं तथा उनकी उपयोगिता, और आत्मनिष्ठ सार्थकता के बीच खाई चौड़ी होती गई; तथा विश्वविद्यालयों की **सृजनात्मक भूमिका** ओझल होती गई। छात्रों की संख्या में अन्धाधुन्ध वृद्धि और देश में आर्थिक संकट तथा उत्पीड़न का आलम—इन सबने मिलकर विश्वविद्यालयों को एक ओर तो छात्र-विद्रोह का केन्द्र बना दिया है तो दूसरी ओर बौद्धिक पाखण्डों का मठ। अतः विश्वविद्यालय केवल थोड़े अधिक अग्रिम स्कूल-से बन गए हैं। इस दुर्दशा की वजह यह भी रही है कि हमारे आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना में तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी की कोई भी परम्परा नहीं शामिल हुई। हमारे बम्बई, इलाहाबाद, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों पर मध्ययुगीन आदर्शों वाले ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस और पेडुआ के विश्वविद्यालयों की छायाएँ पड़ीं। उन विश्वविद्यालयों ने कुछ ऐसे विचार दिए जिनसे वैज्ञानिक क्रान्ति का रास्ता साफ हुआ; रिफार्मेशन के आविर्भाव को बल मिला। बाद में उन विश्वविद्यालयों ने तर्कशील (रीज़न) की उपासना शुरू की। उन्होंने तर्कशील के युग (Age of Reason) तथा रोमांटिक आन्दोलन के विचारों को मिलाकर तथा निथारकर एक नये रूप का विकास किया—'एकेडेमिक इतिहास'।[1] यहाँ से विश्वविद्यालय अलबेले होते गए। अतः 'एकेडेमिक मानस', 'एकेडेमिक इतिहास' और 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' की भावनाओं का बोलबाला तब हुआ जब विश्वविद्यालयों के इर्द-गिर्द का सारा वातावरण क्रान्तिकारी ढंग से बदलता चला जा रहा था।

हमारे देश में आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना ग्रेट ब्रिटेन के 'एकेडेमिक इतिहास' को विकसित करने तथा

१. दे० जेम्स एच० आर० 'Education and Statesmanship in India', पृ० ३२।

१. 'The Universities and Education Today', Herbert Butterfield, pp. 27-28; Routledge and Kegan Paul, 1961.

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बिलकुल आरम्भिक वैज्ञानिक ज्ञान को प्रदान करने के लिए हुई। आज सन् १९६९ में जब हम सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलक चरण में हैं और जब 'सामाजिक इतिहास' तथा 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की स्थापना हो रही है तब हमारे उपनिवेशवादी रूपधारी विश्वविद्यालय एकेडेमिक मानस, एकेडेमिक स्वतन्त्रता और एकेडेमिक इतिहास की अहंकेन्द्रित दास्तानें बघारते हुए नहीं अघाते। एकेडेमिक मानस की व्यावहारिक खूबी यह है कि वह कल्पना की भूमिका को नामंजूर करने के साथ-साथ समकालीनता के सृजनात्मक धर्म का भी विरोध करता है। अतः मानविकी शास्त्रों तथा साहित्य के क्षेत्र में बाहर से जो शतदल-विकसित समकालीन चिन्तन-धाराएँ विश्वविद्यालयी 'एकेडेमिक इतिहास' पर प्रहार करती हैं, उनकी विधि चाहे जितनी भी उग्र हो, विधेय उत्कर्षधर्मा हैं। हमारे नये विश्वविद्यालय तक आधुनिकता के संस्थान बनने से इन्कार करते रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में तो इस अस्वीकृति के परिणाम बड़े दुर्भाग्यपूर्ण निकले हैं।

हमारे आधुनिक भारत में तकनॉलाजी का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ रहा है और यह प्रभाव हमारे ग्रामों का 'शहरीकरण' कर रहा है, पिछड़े वर्गों का 'संस्कृतकरण', तथा अगुआ वर्गों का 'पश्चिमीकरण'। हमारे आधुनिक भारत में आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता बढ़ रही है और इसके साथ-साथ सामाजिक असन्तोष फैल रहा है। इसके फलस्वरूप—चार्ल्स स्नो की शब्दावली में—दो पृथक् संस्कृतियों (मानविकी तथा वैज्ञानिक) का अलगाव और बहाव भी शुरू हो गया है। अतएव आज हमारे विश्वविद्यालय दो प्रकार के समाजों (सम्पन्न एवं विपन्न), तथा दो प्रकार की संस्कृतियों (मानविकी एवं वैज्ञानिक) के टकराव के वातावरण में मूर्त रूप से मौजूद हैं। अतः हमारे विश्वविद्यालयों का सैद्धान्तिक आदर्श भी यह नहीं हो सकता कि वे तात्कालिक सामाजिक आन्दोलनों से असंपृक्त होकर अकादमीय विद्वत्ता की ऊँचाइयों के प्रति समर्पित हैं। साहित्यिक विद्वत्ता के भावात्मक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में तो यह गलतफ़हमी उचित भी आभासित होने लगती है। जिस तरह आज तकनॉलाजी के क्षेत्र में मानविकी में शिक्षित **विशेषज्ञों** को तैयार किया जा रहा है, उसी तरह साहित्य के क्षेत्र में तकनॉलाजी एवं विज्ञान से परिचित **विद्वानों** की भी ज़रूरत है।

वास्तव में निवासीय विश्वविद्यालय केवल स्कालरों और छात्रों तथा अध्यापकों का समुदाय ही नहीं होता; बल्कि समाज और नगर का बौद्धिक केन्द्र भी होता है। यह स्वायत्त भी होता है अर्थात् राज्य के अंकुश से स्वमुक्त। यहाँ 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' के लिए ही सत्य की तलाश होती है चाहे वह नाज़ियों के नियमों के विरुद्ध हो, या कांग्रेसियों के पोले ढोल में बेसुरी। विश्वविद्यालय 'ज्ञान'—सच्चे ज्ञान—की आकांक्षा की अनवरत चेष्टा हैं। इस पुराने आदर्श को संशोधित करके कहा जा सकता है कि 'विश्वविद्यालय पूर्ण **ज्ञान** तथा प्रयोगात्मक **कौशल** के माध्यम से आधुनिक युग का संश्लिष्ट बोध कराते हैं। यह विश्वविद्यालय का एक महान् लक्ष्य है।

ऐसे लक्ष्यों के सामने एकेडेमिक स्वतन्त्रता का विस्तार केवल चिन्तन और शोध में ही नहीं, बल्कि अध्यापन में भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'छात्र और अध्यापक दोनों की ही वैयक्तिक ज़िन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती एकरूप हो गई है।'[1] अतः अगर साहित्य के छात्र और अध्यापक यह कहते हैं कि उनका विषय प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक नहीं है, और वे तकनॉलाजी के आगे आज स्वयं को निरर्थक पाते हैं तो उनकी (तथा मानविकी क्षेत्र में साहित्य की) सार्थकता पाण्डित्य एवं अभिज्ञान के प्रति निरन्तर तीव्रावेश के द्वारा ही खोजी जा सकती है। उनकी क्रियात्मकता आन्तरिक है और यह उनके विषय की विवशता है। किन्तु आज वे भी अपने 'एकेडेमिक मानस' में कल्पना की शक्ति को नामंजूर करते हैं, जबकि साहित्य की विधा में कल्पना एक महत्तम सौन्दर्यविधि है जो यथार्थता को प्रतिबिंबित करती है। इसके बावजूद भी उन्हें तकनॉलाजी के प्रभाव को ग्रहण करना है। एकेडेमिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम मध्यकालीन घोंघावसन्त या समकालीन कूपमण्डूक बने रहें। "मूल्य-निर्णयों का स्थगन करने से तटस्थ उदासीनता में पतन हो सकता है; व्यावहारिक कर्म के स्थगन से आलस्य में पतन हो सकता है; तथा बौद्धिक सतर्कता के स्थगन से चुनौती के न्यूरोटिक भय में डूब जाने की आशंका है जो हमारी शक्ति को क्षीण कर सकता है।"[2] निस्सन्देह विश्वविद्यालयी

१. 'The Idea of the University', Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

२. वही, पृष्ठ १३३।

साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में हम मूल्यनिर्णयों को स्थगित करके, तरक्कियों के साँप-सीढ़ी वाले व्यावहारिक कर्म करके तथा बौद्धिक सतर्कता का आतंक फैलाकर इसी स्थिति में आ गए हैं। चिंतन और अध्यापन में एकेडेमिक स्वतन्त्रता एक ओर वैयक्तिक ज़िन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती की अस्मिता कायम करती है, दूसरी ओर उन ऐतिहासिक शक्तियों की जागरूकता देती है जो हमें तात्कालिक स्वार्थों तथा संकीर्णताओं से मुक्त कर सकें। "एकेडेमिक स्वतन्त्रता का दूसरा तात्पर्य यह है कि छात्र अपने निर्णय के अनुसार शोध करे, और अध्यापक अपने औचित्य के अनुसार पढ़ाये। अंततः 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' तभी ज़िन्दा रह सकती है जब मनीषी और विद्वान उसके अर्थ तथा आदर्श से प्रतिबद्ध हों और उसके लिए भौतिक कुर्बानियाँ भी कर सकें।"[१] अन्यथा वे अध्यापक और बुद्धिजीवी के दर्जे से गिर जाते हैं। अतः 'यूनिवर्सिटी सत्य की खोज करती है'—यह कथन उतना ही एकेडेमिक है जितना एक यूतोपिया। यूनिवर्सिटी बहुत-कुछ करती है और उसमें बहुत-कुछ घटता है। हमें यूनिवर्सिटी के कुछ मिथकों का भंजन करना ही होगा। यह ठीक है कि यूनिवर्सिटी पांडित्य और विज्ञान को अग्रसर करती है बशर्ते कि ये संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन तथा व्यावहारिक सामाजिक परिवर्तन का अंग बन जाएँ।

'यूनिवर्सिटी-शिक्षा' की आत्मा के दो अंग हैं : **अध्यापन और शोध**। अगर अध्यापक शोध से श्रीहीन है तब वह मात्र कंकाल है। और अगर शोध अध्यापन से स्वतंत्र है तब वह मात्र मशीनी है। अतः शोधपरक अध्यापन तथा शिक्षित विशेषज्ञ या विज्ञानोन्मुख विद्वान, और सामूहिक चेतना तथा वैयक्तिक विकास की क्षमताओं से युक्त विद्यार्थी—ये आधुनिक विश्वविद्यालय के सार्थक संदर्भ हैं। विश्वविद्यालय के तीन कार्य हैं—**शोध** (रिसर्च), **शिक्षण** (एजुकेशन) और **निर्देशन** (इंस्ट्रक्शन)। विश्वविद्यालय वे संगम हैं जहाँ मानविकी और तकनीकी संस्कृतियों का संगम ज्ञान की एकता प्राप्त कर सकता है। अतः विश्वविद्यालय पूर्ण **ज्ञान और प्रायोगिक कौशल** के द्वारा छात्रों के एक व्यवसाय के लिए प्रस्तुत अथवा प्रशिक्षित करते हैं।

विश्वविद्यालय में ही संस्कृति के दो रूप उभरते हैं—वैज्ञानिक अनुशासन तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचन। इन दोनों रूपों में जो दृष्टिकोण होता है उसमें एकसूत्रता है अर्थात् वह केवल विशेषीकृत ज्ञान एवं निपुणता के अलावा अहंलीनता का विलोप भी है ताकि निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त हो सके। साहित्य-शिक्षा उदार एवं ललित कलाओं का क्षेत्र है। अतः उसके शैक्षणिक मूल्य प्राकृतिक विज्ञानों के मूल्यों से भिन्न होंगे। पहले क्षेत्र का सांस्कृतिक आदर्श 'मानवतावाद' है, तो दूसरे का 'यथार्थवाद' (व्यापक अर्थों में सत्य की सिद्धि)। किन्तु दोनों ही सामाजिक यथार्थ और प्राकृतिक तथ्यों पर आश्रित हैं। साहित्य-शिक्षा का हाशिया विस्तार पाकर उदार-कलाओं में मिल जाता है और तब उसके अंतर्गत **मानवीय चेतना** तथा **सृजन का इतिहास** शामिल हो जाता है। फलतः मनुष्य (कलाकार और सहृदय), कृतियाँ (पात्र और जनता), और काल (आन्दोलन, शैलियाँ) साहित्यपुरुष का त्रिभंग शरीर हैं। हमारा आधुनिक आदर्श तो यही है कि साहित्य का मानवतावाद विज्ञान के यथार्थवाद को भी अंगीकार कर ले। इसी वरण में आधुनिक औद्योगिक समाज में साहित्य और संस्कृति जीवित भी बच सकती हैं।

हमें इस तथ्य को नहीं भुलाना चाहिए कि साहित्यपठन, साहित्य-रसास्वादन और साहित्य-अध्यापन मूलतः एक प्रयोगात्मक तथा हस्तात्मक (मैनुएल), निरपेक्ष तथा बहिर्मुखी सक्रियताएँ नहीं हैं। इनमें प्रमाणित स्वयंसिद्धि और स्पष्ट (यथारूप) विचारों की प्रधानता नहीं होती। इनमें कलाकार अनंत विधियाँ (शैलियाँ) तथा विविध वास्तविकताएँ (विषयवस्तु) अपने मस्तिष्क से उत्पन्न करता है; तथा छात्र या पाठक या श्रोता इनका अनुभव करता है, तथा इन कल्पनात्मक (प्रतीकात्मक) रूपों की सार्थकता अपने कार्यों तथा व्यवहारों, विचारों तथा भावनाओं, बिंबों तथा यथार्थताओं आदि की अंतर्यात्रा में खोजता है। यही उसकी **चिंतन** की आदत और **विश्लेषण** का प्रशिक्षण है। इसके लिए साहित्य-शिक्षा कहीं किसी प्रकार की भूमिका अदा करती है। क्या वह यह भूमिका अदा करती है ? क्या इस भूमिका की सिद्धि का प्रमाण परीक्षा और परीक्षा में प्राप्तांकों से उत्तीर्णता है ?

इस संक्रांत प्रश्न पर विवाद करने के पहले हम 'साहित्य-शिक्षा' पर कुछ और स्थापनाएँ करना चाहते हैं। विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा में अध्यापन और शोध तो शामिल होगा ही, किन्तु साहित्य की कल्पनात्मक क्षमता और निर्देशन

१. 'The Idea of the University' Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

की सृजनात्मक विद्वत्ता भी शामिल होगी। मैं इसे 'विश्वविद्यालयी साहित्य शिक्षा का चतुरंग' कहता हूँ।

इस चतुरंग का पहला रूप यह है कि साहित्य विश्वविद्यालय में भाषा-संकाय या कला-फैकल्टी का एक भाग हो जाता है। अतः हिन्दी साहित्य हिन्दी विभाग में पढ़ाया जाता है। हिन्दी विभाग में साहित्य एम० ए० अथवा पी-एच० डी० की डिग्री का विषय होता है। अतः विशाल हिन्दी विषय (सब्जेक्ट) में बदल दिया जाता है जिसे दो वर्षों में पढ़ना पड़ता है।

इस पढ़ाई के लिए पाठ्यक्रम होता है जिसमें कुछ कवि, कुछ कृतियाँ तथा कुछ कालों को चुनकर अध्ययन-अध्यापन होता है। यह निर्धारित चयन 'सिलेबस' है। इसके अनुसार छात्र-छात्राएँ पढ़कर परीक्षा में बैठती हैं और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी में पास अथवा फेल होती हैं। उन्हें पढ़ाने के लिए अध्यक्ष और प्रोफेसर, रीडर तथा लेक्चरर होते हैं। अतः एक ओर तो हिन्दी साहित्य रूपांतरित होकर हिन्दी का विषय बनता है, तो दूसरी ओर इसका अध्यापन एक सीढ़ियों वाले संगठन के तंत्र में जकड़ जाता है।

साहित्य-शिक्षा के परिणामों का पूरक हाशिया समाज में मिलेगा। साहित्य-अध्ययन में उद्योग और विज्ञान दैत्याकार संगठनों वाले शहरों में अपना असर और अपनी प्रतिष्ठा खो चुका है। कुछ पेशेवर लेखकों, वेतनभोगी अध्यापकों तथा पुस्तक-प्रकाशकों को छोड़कर यह हमारे जीवन की अवस्था (कंडीशन) नहीं बदल पाता बल्कि जीवन के गुण (क्वालिटी) को बदलता है। किन्तु भद्रलोक की संस्कृति की शिक्षा देने वाला हिन्दी सहित्य तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अप्रचलित हो गया है। साहित्य-शिक्षा अंततोगत्वा वैयक्तिक मूल्यों एवं अंतर्निर्माण से जुड़ी रही है जबकि हिन्दी में एम० ए० या पी-एच० डी० पास व्यक्ति को भी तो जीविका चाहिए और पठित मूल्यों की कसौटी। समाज में जीविका के बजाय बेरोज़गारी फैली है, तथा मूल्यों के बजाय पूँजीवादी समाज का शोषण-उत्पीड़न और आत्मनिर्वासन है। अतः उसके पाठ्यक्रम के विहारी और भूषण, सूरदास और केशवदास, मैथिलीशरण गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी उसकी नजर से ओझल होते जाते हैं। फलतः साहित्य-शिक्षा का पाठ्यक्रम पुरानी परंपरा वाला होने के कारण 'झूठ मिथकों' का खंडन नहीं कर पाता। इसके साथ ही जब इस पुरानी परंपरा वाले पाठ्यक्रम की शास्त्रीय और आध्यात्मिक व्याख्याएँ ही की जाती हैं तब विश्लेषण के औज़ार भी अनुपयोगी हो जाते हैं। इसके अलावा जब साहित्येतिहास के पाठ्य में साहित्य के इतिहास-दर्शन को अस्वीकृत किया जाता है तब हिन्दी साहित्य एक जीवित यात्रा के बजाय शव-साधना बन जाता है। यही नहीं; हिन्दी सहित्य में यत्र-तत्र गुँथे सामाजिक एवं बौद्धिक इतिहास के हाशिये भी सामंतीय दृष्टिकोणों तथा सांप्रदायिक प्रवृत्तियों से परोक्षतया रँग दिये जाते हैं। अतः बाद में समाज में आँखें फाड़कर एक साहित्यार्थी **'झूठे आदर्शों'** को खंडित होते हुए देखता है। अगर वह पहले उनका विरोध करता, तब शायद इतनी निराशा और पस्तहिम्मती नहीं फैलती। अतएव हिन्दी-साहित्य का अध्ययन और अध्यापन हमारे जीवन के गुण को भी नहीं बदल पाता। 'भद्रलोक संस्कृति' और 'झूठे आदर्शों' को ओढ़े हुए जब हम बाहर निकलते हैं तो बेहद अनुपयुक्त, अनाधुनिक, अनुपयोगी और असार्थक साबित होते हैं।

हमारी हिन्दी साहित्य-शिक्षा का विश्वविद्यालयी मॉडल तीसरे दशक में बनारस और इलाहाबाद में तैयार हुआ था। तब उसका लक्ष्य यह बताना था कि हिन्दी साहित्य बहुत प्राचीन है, उसका एक सुदीर्घ इतिहास है, वह हिन्दू जनता की धार्मिक और नैतिक जीवन की भागवत है, वह अंग्रेज़ी से टक्कर ले सकता है, आदि। अतः पाठ्यक्रम में पचहत्तर प्रतिशत से पचासी प्रतिशत भाग आधुनिक काल और आधुनिक साहित्य से पहले का शामिल हुआ। यही पूर्वाग्रह आज भी कायम है, यद्यपि कहीं-कहीं आधुनिक साहित्य का प्रतिशत पच्चीस से बढ़कर पैंतीस हो गया है। इसलिए सवाल यह उठता है कि पाठ्यक्रम का यह पुराना तथा परंपरागत प्रारूप अभी तक क्यों है? यह तो बदला जा सकता है क्योंकि यह कोई ज्यादा क्रान्तिकारी कदम भी नहीं है। इस अचलता का एक कारण तो यह है कि अधिकांश अध्यक्ष तीसरे दशक की व्यापकता और सनातनी नैतिकता के मुकाबले सातवें दशक की संक्रान्ति और विद्रोह की आधुनिकता को ईमानदारी से स्वीकार नहीं कर पाये। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि आधुनिक साहित्य के पठन और पाठन की प्रवृत्ति और आवश्यकता का पुनर्भव अनुभव नहीं हुआ क्योंकि नई पीढ़ी की साहित्यिक परम्परा से विद्वानों की टोली असहमत है तथा उसका विरोध करती है। इसका अंततोगत्वा कारण

यह है कि पुरानी पीढ़ी के अध्यापकों की रुचियों और संस्कारों में स्थापित स्थर्य और अंधरूढ़ि आ गई है जिससे वे नई संवेदना, आधुनिकताबोध और आत्मनिर्वासन की फूहड़तापरक तथा अवमानवीयकृत अवस्थाओं की यंत्रणा तथा विद्रोह के प्रति हृदयसंवाद नहीं कर पाते। इस स्थिति में अध्यापकी का पेशा करने वाले अपने पेशे के शब्दकोषों के आधार पर चतुरंग शिक्षा-क्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं; किंवा उसमें निमग्न भी रहते हैं। वे आधुनिक विश्लेषण तथा अध्ययन के नये प्रतीक रूपी औज़ारों को इस्तेमाल करने की सूचना तक नहीं पाते। अतः वे एक संकीर्ण शास्त्रीय विवाद के लिए, प्राचीन विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान चर्वित करके, गैर-शास्त्रीय पाठकों के रसबोध तथा मौलिक लेखकों की अभिव्यक्ति की नवीनता से कोसों दूर होते जाते हैं। फलतः विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा और बाहरी जीवन में साहित्य-दीक्षा (सृजन और पठन) के बीच संवाद खत्म-सा हो जाता है और एक विरोधी मोर्चा भी कायम-सा हो जाता है। फलतः साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा विशुद्ध अध्ययन से आगे नहीं बढ़ पाती और उसकी सामाजिक दीक्षा चटखारे आवेश से अधिक गहरी नहीं हो पाती। नब्बे प्रतिशत का औसत यही है।

तो फिर विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा का असली प्रयोजन क्या है? जिस तरह विज्ञान वैज्ञानिक, मेडिसिन डॉक्टर या कानून वकील प्रशिक्षित करता है उसी तरह क्या हिन्दी में एम० ए० अथवा पी-एच० डी० का कोर्स विद्वान, आलोचक या अध्येता तैयार करता है? इसका उत्तर नहीं' है। हम यह जानते हैं कि साहित्यिक विद्वत्ता तथा आलोचना की अंतर्दृष्टि प्रत्येक छात्र या पाठक में नहीं विकसित हो पाती। अतः आलोचना के पाठ्यक्रम में छात्र आलोचनात्मक निर्णय नहीं दे पाते और वे विलक्षण सौंदर्यबोधात्मक संस्पर्शों से तो बिलकुल अछूते और कोरे होकर निकल जाते हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी या किसी भी भाषा के छात्रों का भारी बहुमत विद्वान, आलोचक और रचयिता नहीं बनता। तो फिर किसी भी भाषा के साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता ही क्या है, अगर वह छात्रों को किसी पेशे या व्यवसाय के लिए प्रशिक्षित नहीं करती अथवा उनके जीवन्धर अनुभव के नज़दीक नहीं होती, अथवा उनकी नई संवेदना को गहरा और सार्थक नहीं बनाती? विशेष रूप से सन् तीस के पहले का हिन्दी-साहित्य हमसे उतना ही दूर है जितना कि नाथों-सिद्धों का साहित्य अथवा वीरगाथाकाल। आज ये पुराने क्लासिक नव छात्रों के किसी भी समसामयिक संदर्भ में सार्थक तथा प्रयुक्त नहीं हो पाते। अतः नए विश्वविद्यालयों के अपेक्षाकृत कमसिन और आधुनिक अध्यक्षों को नया पाठ्यक्रम बनाने में एक सांस्कृतिक उलझन का सामना करना पड़ता है कि वे कितना पुराना छोड़ें तथा कितना नया स्वीकारें। किन्तु यह स्पष्ट है कि नई पीढ़ी के हिन्दी के अध्यापक तथा तरुण छात्र खड़ी बोली से पहले की साहित्यिक धारा को पढ़ने-पढ़ाने से कतराते अथवा घबराते हैं। उन पुरानी साहित्यिक परम्पराओं के मानवमूल्य तथा उपभाषागत मुहावरे आधुनिक समाज और खड़ी बोली के चरण में कम-से-कम प्रामाणिक हो गए हैं। इसका अस्थायी समाधान 'कोठारी-कमीशन' के सुझावों के दायरे में ही हो सकता है अगर हम एक ओर विश्वविद्यालयी हिन्दी-साहित्य की शिक्षा को अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, चीनी, जापानी, रूसी, जर्मन आदि साहित्य तथा भाषा से गूँथें। दूसरी ओर भारत की राज्य भाषाओं के साहित्य से जोड़ें तथा तीसरी ओर सांस्कृतिक और अन्य कला-इतिहासों के संदर्भ में साहित्येतिहास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करें। हमें विकल्पों के प्रश्नपत्रों के लिए इतने ज्यादा विषय चुनने चाहिएँ जिससे छात्र अपनी रुचि और ज्ञान तथा सामर्थ्य को विकसित कर सकें। अभी तक हमारे अधिकांश छात्रों को उर्दू-साहित्य तक का परिचय नहीं है। अभी तक वे जोशीले झूठे आदर्शों और मध्यकालीन मूल्यों के संसार में विभ्रमित हैं। आज भी वे साहित्यिक इतिहास को राष्ट्रीय इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास के 'संपूर्ण' से नहीं जोड़ पाए। अभी तक वे अपनी आलोचनात्मक शास्त्रीय पद्धतियों में नव विकसित प्रणालियाँ नहीं शामिल कर सके। अतः हिन्दी साहित्य-शिक्षा भी सम्पूर्ण राष्ट्र के एक सांस्कृतिक जेस्टाल्ट अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के प्रवाह में नहीं बह सकी। फलतः वह कूपजल की तरह स्थिर-सी हो गई है।

तो फिर 'हम साहित्यिक शिक्षा से क्या प्रत्याशा करते हैं?' इसका एक उत्तर ग्राहम ह्यूम ने दिया है: "कुछ लोगों की सर्वोच्च कोटि की विद्वत्ता और निर्णय! किन्तु कुछ लोग कोई समस्या नहीं है। तो फिर उनके लिए क्या करें? जिनकी अविशेषीकृत सामान्य बुद्धि है और जो मानवतावादी शिक्षा के उचित पात्र हैं? हम यह प्रत्याशा करते हैं कि साहित्यिक

शिक्षा उनकी मानवीय संवेदना और सहानुभूति का दायरा बढ़ाये; उनके वर्ग तथा देश की सीमा से परे उनकी कल्पना का विस्तार करे; उन्हें यह दिखाए कि उनकी समस्याएँ एवं अभिशाप एक व्यापक मानवीय अनुभव के पैटर्न के अंग हैं जो उस वृहत्तर पैटर्न के अन्तर्गत नये अर्थ प्राप्त कर लेते हैं।... ...यह व्यापक रूप से **कल्पना** और अनुभूतिकी शिक्षा है।... आवश्यक यह है कि यह शिक्षा अन्य भाषाओं के साथ, इतिहास के साथ और विचारों के इतिहास के साथ गूँथ दी जाय।"[1] हमारा पूरा अनुभव है कि कोई भी साहित्यिक शिक्षा सामान्य छात्रों को यह सब नहीं दे पा रही है। हिन्दी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु हमारे प्रसंग में असली सवाल यह है कि क्या हिन्दी की मानविकी (ह्यूमेनिटीज़) की शिक्षा राष्ट्रीय (धर्मनिरपेक्ष और सामाजिक जनता के जीवन के नज़दीक और विभिन्न भाषाओं से गुँथने वाली) है? इससे भी आगे बढ़ें। क्या स्वयं हिन्दी साहित्य आधुनिक शिक्षा देने में सक्षम है? क्या यह उस ओर बढ़ रहा है? इसका उत्तर हमारे जीवंत अनुभव ही दे सकते हैं। साहित्यिक शिक्षा ज्ञान, कौशल और रोज़गार तीनों से दूर होती जा रही है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का दूसरा भाग शोध है। विज्ञान के विषयों में यह धारणा है कि बेसिक (सैद्धान्तिक) विज्ञानों में शोध का व्यावहारिक महत्त्व कम है क्योंकि वह उपयोगितावादी नहीं है। इसकी तुलना में साहित्य विषय में शोध या तो किसी ज्ञानक्षेत्र का विस्तार करे, कोई नई व्याख्या करे अथवा किसी नई धारा या नए ग्रन्थ की खोज और विश्लेषण। शोधों की बढ़ती हुई संख्या आज केवल ज्ञानक्षेत्र के विस्तार के बजाय मात्र मात्रात्मक उपलब्ध ज्ञान सामग्री की नकल और संग्रह के पोथे बन चुके हैं। अतः कुछ विश्वविद्यालयों में रिसर्च छात्रों को भी औपचारिक शिक्षण (एम॰ लिट्) देने की जो योजना बनाई है वह बिलकुल सही है। आज स्नातकोत्तर अध्ययन ही इस दिशा में बढ़ रहा है कि कहीं भी अध्यापक होने के लिए और तरक्की पाने के लिए पी-एच॰ डी॰ की डिग्री न्यूनतम योग्यता हो गई है। साथ-साथ यह डिग्री निम्नतम हो रही है। अतः शोध एक जिज्ञासा और नवान्वेषण की भावना से नहीं हो रहे हैं। शोधार्थी विश्लेषण और संश्लेषण की नई विधियों से अपरिचित हैं, वे उन्हीं शीर्षकों को चुनवाना चाहते हैं जिन पर एक ही स्थान में सामग्री मिल जाये और जिनकी प्रकृति विश्लेषणात्मक के बजाय संग्राहक हो; वे स्वयं किसी भी विषय की धारणा नहीं रखते और अपने अधीक्षक चुने गए विषय पर बेसमझे काम शुरू करके जल्दी छुट्टी पाना चाहते हैं; वे किसी भी शोध संस्था तक में अनमने ढंग से जाने को तैयार होते हैं; वे किसी भी प्राचीन विषय पर तथा चुनौती भरे क्षेत्र में कार्य करने को अप्रस्तुत हैं; उनके निर्देशक भी इतने सर्वज्ञ हैं कि अपभ्रंश साहित्य से लेकर अस्तित्ववादी दर्शन तक के विषयों के दर्जनों छात्र उनके अकेले अधीक्षण में रहते हैं; निर्देशक बहुधा स्वयं भी विषय का ज्ञान नहीं रखते और ढाई-तीन वर्ष के बाद टाइप किये गए बारह मसाले को आँखपट्टी बाँधकर 'थीसिस' का सर्टीफिकेट दे देते हैं। आश्चर्य है कि ब्रह्मरूप अधीक्षक के नाम की मुहर की कीमत के कारण उसी थीसिस पर परीक्षक भी सहर्ष डिग्री प्रदान करके बौद्धिक उदारतावाद और राष्ट्रभारती की सेवा का परिचय देते हैं। इस तरह हिन्दी साहित्य-शिक्षा और शोध, दोनों ही मात्रा तथा गुण की दृष्टि से समदर्शी साबित हुए हैं। इसका एक मूल कारण यह है कि निरीक्षक तथा शोधार्थी, दोनों को ही व्यावसायिक प्रशिक्षण नहीं मिला है; दोनों ही व्यक्तिगत ज्ञान और व्यक्तिगत संग्रह पर आश्रित हैं। इसका असर शोधार्थियों पर पड़ता है जिनके दिल, दिमाग़ और हाथ के प्रकार्य पृथक्-पृथक् ही नहीं, परस्पर-विरोधी भी हो जाते हैं। अतः "जितनी नामी मुहर, उतनी निश्चित डिग्री; जितनी घटिया चमचागीरी उतनी बढ़िया नौकरी" का फार्मूला सरे-आम लागू है। इसकी कीमत कुछ ईमानदार और स्वतंत्रचेता शोधार्थियों को देनी पड़ता है जो किसी भी गुरु से कान नहीं फुँकवाते अथवा किसी सिद्धगुरु की चरणधूल शिरोधार्य नहीं करते। यह त्रासदी है। किन्तु त्रासदी के लिए तो शर्त ही है कि त्रासद नायक नेक, ईमानदार और चरित्रवान हो जिससे सामाजिक अत्याचार उसे खत्म कर दें। कार्ल जास्पर्स के अनुसार यूनिवर्सिटी मॉडल ऐसा हो जो एक साथ एक व्यावसायिक स्कूल, एक सांस्कृतिक केन्द्र तथा एक शोध-संस्थान हो। शोध के बाबत उन्होंने कहा है कि शोध स्वयं में ज्ञान के सम्पूर्ण में अनुप्रवेश पर, तथा सभी प्रकार के विशेषज्ञों से

1. दे॰ 'Crisis in Literary Education', in 'Crisis in the Humanities' Ed. by J H. Plumb. Penguin 1964, p. 107.

विनिमय के अवसर पर निर्भर करती है। इसके लिए विश्वविद्यालय ज्ञान के अतिरिक्त सहायतार्थों—संग्रहालय, पुस्तकालय, प्रयोगशाला—से सज्जित करती हैं। किन्तु ऐसे गुट और ऐसे निजी रिश्ते बन जाते हैं जिनका अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता।···लेकिन अगर केवल विद्याडबरी और विषयासक्त अध्येता भौतिक सुविधाओं के पीछे ही व्याकुल रहें तो विश्वविद्यालय दरिद्र हो जाता है। यह तब भी दरिद्र हो जाता है, जब वहाँ केवल भाषाविज्ञान होता है, दर्शन नहीं; केवल तकनालॉजी होती है, सिद्धान्त नहीं; अनन्त तथ्य होते हैं, विचार नहीं।"[1]

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में यह दयनीय हालत तब और भी भयानक और फूहड़ बन जाती है जब हम यह पाते हैं कि कुछ अध्यक्ष और पर्याप्त प्राध्यापक लेखक और श्रेष्ठ आलोचक भी हैं। चलो, मान लो कि बहुसंख्यकों का भेड़ियाधसान है; और कुंजी तथा खुलासे लिखकर दौलत कमाने की भेड़चाल है। लेकिन विश्वविद्यालयों में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नलिनविलोचन शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र और रामकुमार वर्मा जैसे कीर्तिलब्ध स्कॉलरों की उपस्थिति भी वहाँ कुछ विशेष नहीं कर सकी!! वे भी नीरस और संकीर्ण शैक्षणिक नित्यचर्या के अनुयायी होते गये। इनमें से कई स्वयं को कभी-कभी निर्वासित अनुभव करते रहे हैं। इन्हें लगता रहा है कि ये अपनी सृजनात्मक स्कॉलरशिप की शक्ति और स्फूर्ति को छात्रों में संप्रेषित करने में असमर्थ रहे हैं। क्या इसके निवारण का कोई रास्ता नहीं है? क्या विशेषज्ञता की सतही छीछालेदर के आगे अन्य ज्ञान-विज्ञानों से कोई एकता स्थापित नहीं हो सकती? इस आधुनिक शैक्षणिक पक्षाघात से विमुक्त होने का एक ही रास्ता है: (१) हिन्दी साहित्य-शिक्षा राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि मानविकीशास्त्रों तथा समाजविज्ञानों से गहरा संपर्क स्थापित करके व्यापक और सृजनात्मक बने; (२) साहित्यालोचन को कम-से-कम सौंदर्यबोधशास्त्र से, तथा कला के सामाजिक इतिहासों से संयुक्त किया जाए; तथा (३) हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में एक नये 'व्यक्ति-आदर्श' की प्रतिष्ठा की जाए जो न तो सामंतीय विद्वान की तरह उत्तरीय, तिलक और धोती से लकलकाता हो; न ही हवाना शर्ट और कसे पतलून पहनकर आधुनिक बनने का पाखंड करता हो; और न ही पुराने बूर्ज़ुआ-संस्कारों में जकड़ा हुआ अपौरुषेय साहित्य की कल्पित संजीवनी और आर्षदृष्टि का कायल हो। यह 'व्यक्तित्व-आदर्श' एक मामूली, संवेदनशील, ज्ञानजिज्ञासु, जागरूक, आत्मनिर्वासित आधुनिक ऐसे मनुष्य का ही हो सकता है जो संकोची हिन्दी छात्रों-अध्यापकों की हीनताग्रंथियों से विमुक्त होगा।

इससे बड़ी दयनीय हालत क्या होगी कि 'हिन्दी वालों' और हिन्दी के अध्यापकों का सामाजिक बिंब आज भी एक पुराने कथावाचक तथा भजनीक का, शास्त्री और पुरोहित का, अथवा एक आधुनिक असामाजिक, घोर नतिकतावादी, तटस्थतावादी, पवित्र सूरदासवादी का ही बरकरार है। अध्यापकों और पाठ्यक्रम का ही यह असर है कि बहुधा हिन्दी साहित्य के छात्र साहित्येतर गोष्ठी-समाजों में शामिल होने अथवा स्वयं को हिन्दीवाला कहलाने में शर्म और संकोच का अनुभव करते हैं; समाजविज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के अध्येता हिन्दी-अध्येताओं को 'प्रखर रसालिया' पाते हैं। इस अपमान और हीनता को ओढ़ने-ओढ़ाने वाले अध्यापक भी हैं। बहुधा हिन्दी के छात्र-छात्राओं की यह आरोपित मूढ़ता और यंत्रणा मर्यादा पुरुषोत्तम अध्यापकों के लिए गर्व और हर्ष का विषय बनती है कि उनके विद्यार्थी छात्र असंतोष जैसे क्षणभंगुर रसभंगों; सामाजिक कर्म जैसे राजनैतिक षड्यंत्रों; बौद्धिक वाद-विवाद जैसे अमर्यादित अपराधों; तथा आधुनिक रहन-सहन जैसे अभारतीय कृत्यों में न पड़कर अनन्तम् और आत्मन् की साधना में तल्लीन हैं। वे तो कबीर की तरह श्रीराम के कूकुर हैं। उन्हें हिप्पियों और नक्सलपंथियों से क्या लेना-देना!

विश्वविद्यालयों में हिन्दी छात्र-छात्राओं के पैटर्न भिन्न-भिन्न हैं। मुझे कुछ राज्यों का निजी अनुभव है। मूलरूपेण ये निम्न-मध्यवर्ग के होते हैं जो बनावट और गरीबी, रूढ़ि और असंतोष के बीच घुटते रहते हैं। इनकी तात्कालिक समस्या नौकरी की है, क्योंकि ये छात्र संवेदनशील रोमांस और मिथकीय आदर्शों के इन्द्रजाल से कहीं गहराई पर वशीभूत हुए होते हैं, अतः ये हिन्दी के विषय को चुन लेते हैं। इनमें से अधिकांश पहले अन्य विषयों में दाखिले की कोशिश करते हैं किन्तु उनमें बेहद कमजोर होने के कारण, सभी जगह से अस्वीकृत होकर, लाचारी में हिंदी विभाग के अनाथालय में

1. 'The Idea of the University,' pp. 56-57, Peter Owen, London, 1965.

भर्ती होते हैं और 'साहित्य साधना' तथा 'गुरु के आशीर्वाद' जैसे तकियाकलामों से शालीन बनने का स्वाँग रचते हैं। ये चापलूसी और चुगलखोरी में संस्कारतः प्रशिक्षित होते हैं। ये राजनैतिक चेतना और सामाजिक कर्म से दूर भागते हैं। इनमें से अधिकांश बचपन में ही विवाहित होते हैं जिससे उनका भावात्मक और मानसिक विकास कुंठाग्रस्त होता है। बहुधा कुछ राज्यों और छोटे विश्वविद्यालयों में एम० ए० (हिन्दी) में दाखिल होने वाले छात्र तक नहीं मिलते हैं। तब स्वयं प्राध्यापक उनके घरों के चक्कर लगाकर उन्हें मुफ्त किताबें, फीस मुआफ़ी, हाज़िरी मुआफ़ी आदि की रियायतें देकर कक्षाएँ 'बनाते' हैं। ऐसी हालत में स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। पंजाब के एक शहर के एक प्रसिद्ध कालेज में इस जुलाई में अर्थशास्त्र में दाखिल होने वाले आवेदक ३६० थे, जबकि हिंदी में केवल पाँच। ये आँकड़े एक शोकगाथा का मंगलाचरण हैं। कुल मिलाकर ये बेहद निराश और दिशाहीन होते हैं। छात्राएँ मीरां-सूर-तुलसी या प्रसाद-पंत-निराला के रहस्य-रूमानी प्रभावों से संमोहित होकर आती हैं और दो माहों के भीतर ही कुंजीनुमा अध्यापन पाकर स्वयं साहित्य से विरक्त हो जाती हैं। वे भी अन्त में इसीलिए आती हैं कि अन्य विषयों में या तो वे चल नहीं पातीं अथवा उनमें फेल होती हैं। इसके अलावा उनके अभिभावक इसलिए हिन्दी पढ़वाते हैं कि वे भक्त कवियों वाली भाषा पढ़कर पवित्र कन्या और साध्वी-सती बनी रहेंगी। वे अभी भी यह समझते हैं कि रामायण-गीता की गृह-संस्कृति ही एम० ए० हिन्दी में दुबारा परिपूर्ण होती है। उन्हें 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी', 'सुनीता' और 'उर्वशी' के पाठ्यक्रम का अनुमान तक नहीं है। अन्यथा परिवार-नियोजन को उद्धत देश के सत्तर प्रतिशत विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में हिन्दी की एम० ए० ठप्प हो गई होती क्योंकि हिन्दी को 'लड़कियों और युवतियों का विषय' होने का भी सम्मान मिला है। कुछ क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं: जैसे पंजाब में हिन्दी के छात्र-छात्रा बहुत हैं और वे कुछ पश्चिमी ऐटिकेट, नये फैशन तथा सामाजिक स्वतंत्रता की तमीज़ रखते हैं; बिहार के छात्र संकीर्ण जातिवाद और पुराने सिलबिल्ले पहनावे को ही हिन्दी की सेवा का सबूत मानते हैं; उत्तर प्रदेश में हिन्दी छात्र छायावादी रोमांसों में तड़पते हैं किन्तु स्वयं अपनी बहनों को बिना अंगरक्षक के रसोई के पार भी नहीं झांकने देते। प्रत्येक राज्य के हिन्दी छात्र-छात्राओं की सामाजिक चेतना और सामूहिक आचरण में अल्ट्रा-माडर्न से लेकर अल्ट्रा-पुरातन का अन्तर है। अतः इसका असर पाठ्यक्रम में पुराने साहित्य बनाम नये साहित्य की पढ़ाई पर पड़ता है। वाराणसी के छात्र प्राचीन साहित्य की ओर मुड़ते हैं तो इलाहाबाद के मध्यवर्गीय तरुण छायावादी संस्कारों की ओर, दिल्ली के शास्त्रीय रस तत्त्व की ओर, और चण्डीगढ़ के अत्याधुनिक कहानी की राह की ओर। इसके अलावा इन क्षेत्रों में अपने-अपने आंचलिक लेखकों को शामिल करने की सर्वथा उचित चेतना है जिससे हिन्दी साहित्य हरेक राज्य में स्वतंत्र रूप से उन्नत भी हो रहा है। इतने फैले हुए मानक बटखरों में हम एक छोर पर हिन्दी साहित्य के प्रति पूज्य-भावना पाते हैं, तो बीच में कलात्मक लगाव, तथा दूसरे छोर पर उपयोगितावादी लेन-देन। इनके मेल से ही हम छात्र-छात्राओं के संस्कारों और मनोलोकों को समझकर हिन्दी शिक्षा को सही ढंग से संप्रेषित कर सकते हैं।

छात्रों में सार्थक संप्रेषण के कई रूप हो सकते हैं—मित्रता का रूप, युवक संगठनों का रूप, विवाह का रूप तथा प्रेम का रूप। सौभाग्यवश बेचारी हिन्दी के छात्र-छात्राओं में पहले रूप की प्रधानता है। किन्तु यह संप्रेषण एक सामूहिक कार्य नहीं बन पाता। बौद्धिक-परंपरा की निरंतरता का प्रतिनिधित्व 'चिंतन के संप्रदाय' करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों—सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, वाराणसी आदि—में ये संप्रदाय प्रचलित-से हैं। विश्वविद्यालयों में ये वांछनीय होते हैं, बशर्ते इनके अनुवर्ती केवल चापलूस अनुकरण न करें बल्कि अपने गुरु से स्वतंत्र होकर चिंतन करने का सामर्थ्य और समर्थन भी पायें। हिन्दी में अनुकरणमूलक संप्रदाय की प्रधानता उसके सामंतीय आदर्शों का एक बचा हुआ जीवाश्म है। वस्तुतः छात्र इसीलिए विश्वविद्यालय में आता : कि वह एक 'व्यवसाय' (प्रोफेशन) के लिए प्रस्तुत हो सके। यह उसका उचित मूल प्रयोजन है। इसके लिए व्याख्यान, पाठ्यक्रम, सेमिनार आदि उसकी सहायता करते हैं ताकि वह अपनी कठिनाइयाँ दूर कर सके। इसके लिए उसे पुस्तकों और अन्य सामग्रियों की भी आवश्यकता पड़ती है। यूनिवर्सिटी के छात्र शिशु न होकर वयस्क होते हैं। अतः अपने निर्माण की प्रक्रिया को वे तेज़ और श्रेष्ठ बना सकते हैं अगर वे बौद्धिक तथा

सामाजिक जीवन में भाग लें। अतः अगर उनके अध्यापक श्रद्धा-भक्ति के स्थान पर तर्कना और विवाद की क्षमताओं को प्रोत्साहित नहीं करते, अगर उनमें स्वयं भी व्यक्तिगत संवर्धन की आकुलता नहीं होती, अगर विश्वविद्यालय का गठन विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ दूर नहीं करता, तो वे बाज़ारू और घटिया कुंजियों की सहायता से पाठ्यक्रम तैयार करते हैं और सामाजिक जीवन में केवल स्वार्थसिद्धि को ही लक्ष्य मान लेते हैं। यही प्रक्रिया समाज में भी घट रही है। अतः इसका आन्दोलक विरोध नहीं हो पाता।

पुरानी शास्त्रीय साहित्य शिक्षा का 'व्यक्ति आदर्श' एक साधुपुरुष, सहृदय, गृहस्थ का निर्माण था जिसके लिए व्याकरण, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। आज यह बुनियादी माडल खत्म हो चुका है। आज अगर हिन्दी साहित्य-शिक्षा का कोई ध्येय हो सकता है तो वह विद्यार्थी में साहित्याशंसा द्वारा उसकी **संवेदना** (सेंसिबिलिटी) और **प्रत्यक्षीकरण** को प्रशिक्षित करे ताकि वह आधुनिक जीवन की जटिलताओं को झेल सके। मैं बार-बार अनुभव करता हूँ कि यह तभी होगा जब विद्यार्थी झूठे आदर्शों को प्रचंड खंडन द्वारा तहस-नहस कर देगा और प्राचीन रहस्यवादी तथा रीतिकालीन माया से उद्धारित होगा। हमें यह भली-भाँति मालूम है कि छात्र-छात्राओं की बहुसंख्या पेशेवर स्कॉलर, आलोचक, मनीषी और सर्जक नहीं बनेगी; उसे जीविका चाहिये। अतः उसे साहित्य और आडम्बर एक लगते हैं। साहित्य के बहुसंख्यक छात्र हताश और उदासीन हो जाते हैं क्योंकि वे साहित्य में जीवनपर्यन्त अन्तर्लीन होने की स्थिति में नहीं हैं, क्योंकि जो पाठ्यक्रमी साहित्य प्रदान किया जाता है वह उनके लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि रटे-रटाये ढंग की आलोचनाएं और रद्दी व्याख्याएँ उनकी नैसर्गिक रुचियों तक को भद्दा कर देती हैं। फिर हम केवल उन्हें एक ही साहित्य-प्रयोजन बता सकते हैं—मनोरंजन और रसानन्द। जो साहित्य छात्रों के **जीवित अनुभव** से नहीं संपृक्त हो पाता वह उन्हें रस-संप्रदाय और अनपढ़ फ़ायडवाद तो रटा देता है किन्तु उन्हें अन्ततोगत्वा **वैयक्तिक अनुभव** से वंचित रखता है। छात्र दिलफेंक फिल्में देखते हैं, उत्तेजक पाकेटबुक्स पढ़कर गुलशन नन्दा और दत्त भारती, कुशवाहा कान्त और मीना सरकार का यशकार्य बढ़ाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि परम्परागत हिन्दी साहित्य का जो पाठ्यक्रम उन्हें पढ़ना पड़ता है उसमें से पर्याप्त उनके बोध की परिधि में आज 'असौंदर्यात्मक' है क्योंकि बहुधा पाठ्यपुस्तकें भी तो व्यापार और स्वार्थ के दवावों से निर्धारित की जाती हैं। अतः इसका अकेला इलाज यही है कि हिन्दी वे ही पढ़ें जिन्हें या तो नौकरी की तलाश नहीं है, अथवा जो स्वतन्त्र स्वाध्याय द्वारा साहित्य को कम-से-कम भाषा, इतिहास और दर्शन, समाजशास्त्र-सौंदर्यबोधशास्त्र और मनोविज्ञान से अन्तर्ग्रथित करें। अतः 'सृजनात्मक स्कॉलरशिप' की धारणा ही साहित्य-अध्ययन में आधुनिक तथा सार्थक है।

इसी कड़ी में हिन्दी के अध्यापक आते हैं। हिन्दी-अध्यापन के प्रसंग में वे तीन स्थितियों में होते हैं—(१) विश्वविद्यालय गठन की दृष्टि से वे एक संकाय और उसके डीन के अन्तर्गत एक विभाग के सदस्य होते हैं जिसका एक प्रोफेसर-अध्यक्ष होता है। (२) विभाग में उनकी प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, रिसर्च असिस्टेंट आदि की श्रेणियाँ होती हैं। (३) सामान्य अध्यापकों के तौर पर एक विश्वविद्यालय के अध्यापक संघ के वे सदस्य होते हैं जो उनके एकेडेमिक उत्थान, कार्य की दशाओं, नौकरी की शर्तों, अधिकारों और कर्तव्यों आदि को प्रोत्साहित करता है। व्यवसाय के स्तर पर वे ऐच्छिक रूप से 'अखिल भारतीय हिन्दी (प्राध्यापक) परिषद्' के सदस्य भी हो सकते हैं। इन तीनों स्थितियों में शक्ति और कार्यों का विभाजन होता है लेकिन बहुधा समाज में एकाधिकारी व्यवस्थाओं के सुदृढ़ होने के अनुरूप—यह शक्ति और कार्य उच्च पदाधिकारियों में अकेले निर्वाधित केन्द्रीभूत होने की दिशा में बढ़ते जाते हैं। अतः इनका प्रजातांत्रिक ढांचा अन्दर से निरंकुश तत्त्व वाला हो जाता है। उदा०, हर्बर्ट बटरफील्ड ने 'अमेरिकन हिस्टोरिकल एसोसियेशन' की महान् प्रसभाओं के बावत कहा है कि वे अक्सर एक मंडी की शक्ल में बदल जाती हैं जहाँ प्रोफेसर अपने रिसर्च छात्रों के लिए नौकरियाँ पकाते हैं। एकसमान विचारों वाले व्यक्तियों का मिलना-जुलना, अधिक ज्यादा एकसमान-विचार पैदा करता है; और हमेशा अचलता तथा अनुदारता का हेतु होता है।[1] इस कड़ी में विभागीय प्राध्यापकों के चयन में सिद्धांततः तो सर्वोत्तम को चुनने का लक्ष्य होता है लेकिन व्यवहारतः उत्कृष्ट को प्रतियोगिता के न्यूरोटिक भय के कारण नहीं

१. दे० 'The University and Education Today,' p. 47.

चुना जाता, तथा निकृष्ट को प्रतिष्ठा के कारण अस्वीकृत कर दिया जाता है। फलतः अतिसामान्य चुना जाता है बशर्ते कि वह बुद्धिमान से अधिक वफ़ादार हो; और मर्यादा प्रोफेसर का परमभक्त हनुमान हो। हर विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोधछात्रों की एक गणपतिसेना तथा छात्राओं की देवसेना होती है जिसमें पुराने-से-पुराने विनीत छात्र की नियुक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा मौरूसी हक बनता जाता है। इससे विश्वविद्यालय में प्रान्तीयतावाद और प्रसादनवाद फैलता जा रहा है। कुछ प्रोफेसर अपने छात्रों के लिए अकादमीय पद तथा पदलाभ दिलाने के कारण दिग्विजयी हो जाते हैं और वृहत्तर भारत में उनके दिग्विजयी अश्व तथा द्वारपाल कूकर तक पूजे जाने लगते हैं। नियुक्ति की लिजलिजी सुविधाजनक तिकड़मों की दास्ताँ एक आधुनिक राजतरंगिणी बन सकती है। किन्तु मूलरूपेण नीति यही है कि एक स्वतन्त्र चिन्तक के बजाय मामूली पढ़न्तू को नियुक्त किया जाए, एक 'बाहरी' के बजाय अन्दरूनी (जाति, गुट, प्रान्त वाले) तथा अपने (केवट, या हनुमान, विभीषण या अंगद) को नियुक्त किया जाय; तथा अगली पदोन्नति भी सिविल सर्विस के स्वचालित ढंग से स्वतः दे दी जाये। मेक्स वेबर ने इस दुर्दशा से निकालने का सुझाव दिया है कि एक विश्वविद्यालय का डॉक्टर-शोधकर्ता हमेशा दूसरे विश्वविद्यालय में ही नियुक्त किया जाये। अतः विश्वविद्यालय की विद्यासमिति भी उन विद्वानों के हाथ का मोहरा हो जाती है जो शक्ति की कामना करते हैं, धन इकट्ठा करना चाहते हैं और अपने सम्पर्कों के मायाजाल को फैलाते-फैलाते अपने गुट का अदृश्य साम्राज्य क़ायम कर लेते हैं जिसमें ऐसी सीढ़ियाँ लगी होती हैं कि अपनी तेज़ प्रज्ञा और मौलिक आलोक के कारण आरती से एक बार उतरा दीपक जीवनपर्यन्त किसी भी प्रभावित विश्वविद्यालय में जगह नहीं पा सकता। गुटों के कारण ज्ञान के सहस्रदीप जलने के बजाय पुस्तक निर्धारण, परीक्षक-नियुक्ति आदि की काजल-लीकें लगती-फिसलती जाती हैं और अनेकानेक अध्यापक साल में दस-बारह हज़ार रुपयों तक की आमदनी कर लेते हैं। उनके घरों में किताबें नहीं होतीं, किन्तु कुछ ही वर्षों में एक कोठी बनने लगती है, भारी बीमा पालिसियाँ ली जाती हैं और ज्ञान-फलाभ की प्रतीक एम्बेसेडर मोटर दरवाज़े पर चिंघाड़ने लगती है। यह एक आम बात है। लेकिन इसके भागवत में नवों रस हैं। अतः विश्वविद्यालयों में बौद्धिक और दार्शनिक वादविवाद का स्वतन्त्र सम्प्रेषण नहीं हो पाता। उसके स्थान पर दो विरोधी शख़्सियतों के लड़ाई-झगड़े तथा धुक्का-फज़ीहतें शुरू होती हैं जिससे साहित्यकारों के व्यक्तित्व के प्रभामंडल झरते जाते हैं। ईर्ष्या और विद्वेष से अनेकानेक हिन्दी-विभागों का वातावरण फदक और भभक रहा है। यह सब अभिनय इसलिए ज्यादा नंगा हो गया है कि उच्चतर शिक्षा की वृद्धि के कारण नौकरियों की संख्या बढ़ी है और इसके साथ ही सुयोग्य प्रशिक्षित स्कॉलरों की कमी हुई है जिससे अनेक संकीर्ण आधारों पर चुनाव किया जाता है ताकि जातिनेता, गुटनेता, गुरुनेता की गद्दी न डगमगाये। ऐसी हालत में कई रचनात्मक अध्यापक तथा कुछ प्रोफेसर भी अत्यन्त उत्पीड़ित रहते हैं। कभी-कभी तो योग्य प्रोफेसर भी केवलमात्र अपने घोंसलों—अर्थात् विश्वविद्यालय के अपने सिलेबस—में ही प्रवीण और दक्ष होते हैं। उनमें फुरतीलापन तथा अनुकूलनशीलता गायब हो जाती है। जब समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम बदलने की आवाज़ उठती है तब उसको कुचल दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि नये पाठ्यक्रम की स्वीकृति का मतलब नये ढंग से पढ़ाना भी है; और इसके लिए नये बोध वाले अध्यापक चाहिये। यह नहीं; यह नहीं; यह नहीं। अतएव पाठ्यक्रम नया नहीं हो सकता; उसमें थोड़ा-बहुत ढाँचा परिवर्तन ज़रूर किया जा सकता है। फलतः विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य-शिक्षा का नवीकरण और आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। देश में भी तो समाज-गठन का आधुनिकीकरण और नवीकरण नहीं हो पाया। अब दोनों साथ-साथ ही होंगे।

अन्तिम बात अध्यापन-विधियों की है।

हमारे विश्वविद्यालय परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ हैं। अतः वहाँ हज़ारों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों को सूचनाओं से भर दिया जाता है जिससे यह गलतफहमी भी फैलती है कि उनकी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास हो रहा है। यह मानो साहित्य के एक छात्र को 'अन्धकार का बालक' बना देना है। "अगर उसे पढ़ना सिखाया गया है तो विद्यालय को इस बात की चिन्ता नहीं है कि वह महाग्रंथों का पाठक बनेगा या रद्दी साहित्य में रुचि लेगा। अगर उसे केवल परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने के लिए समुचित ढंग से शिक्षा दी गई है—जो परीक्षा न न्यायसिद्ध है और न विश्वसनीय—तो यह शिक्षा का काम नहीं होता कि उससे पूछे कि वह ईमानदार एवं

सच्चा, समाज का सहयोगी एवं सहायक बना है कि नहीं, या कला और प्रकृति में कोई सौन्दर्य देख सकता है या नहीं, जिस पूर्ण इकाई का वह एक अंश-मात्र है, उसके हित के लिए वह अपने क्षुद्र स्वार्थों का बलिदान करने में समर्थ हो सकेगा या नहीं।"[1] वस्तुतः साहित्य की शिक्षा स्वशिक्षा है जो संवेदना को गहरा तथा प्रत्यक्षीकरण को व्यापक बनाती है। अतः यह मनोसौंदर्यात्मक अन्तर्लोक को समृद्ध बना सकती है। यह शिक्षा आत्मनिर्माण करती है। अतः इसके सामाजिक प्रयोजन आनुषंगिक हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य-शिक्षा अनुभूति, संवेदना और चिंतन की शिक्षा है जिसमें हृदय और मस्तिष्क का संयोग है किन्तु हाथ अपेक्षाकृत अजानुबाहु बनकर कटे-से लटके हैं। इसके अलावा यह भी सच है कि परीक्षा के प्रयोजन के लिए हर बुनियादी अध्ययन भ्रष्ट और भ्रान्त हो जाता है। इससे बड़ा सत्य यह है कि शिक्षा के घेरे में हिन्दी 'साहित्य' एक पाठ्यक्रम' (सिलेबस) का खंड रूप बन जाता है जिसमें साहित्यिक पाठ (टैक्स्ट) तथा आलोचनापरक टिप्पणियाँ (नोट्स) होते हैं जिनका स्वरूप प्रश्नोत्तरी वाला होता है। इसलिए तथ्यों को याद करना (परीक्षा) तथा अनुभव को भोगना (एस्थेटिक) : ये दोनों नितांत भिन्न हैं। हम यह कैसे पता लगा सकते हैं कि साहित्य ने छात्र पर कैसा तथा कितना गहरा असर डाला है, जब बाहर दुनिया में आते ही उसकी सारी शिक्षा की बारीकियाँ अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी साबित हो जाने के जोखिमों पे भरपूर होती हैं। फिर भी साहित्य की शिक्षा क. सम्बन्ध मूलतः 'भाषा' से है। अतः हमें निम्न प्रकार के भाषा-प्रयोगों का भेद करना पड़ेगा—

(क) भाषा के व्यवहार अर्थात् वाक्य-रचना और व्याकरण का ज्ञान;
(ख) तार्किक वाक्यों के अर्थों का ज्ञान तथा व्यवहार;
(ग) कविता के काल्पनिक सत्यों को समझने की क्षमता;
(घ) व्यक्तिगत अनुभूति और भावना की महीन भाषा की अभिव्यंजना (व्याख्याएँ);
(ङ) विश्लेषण और स्थापन में अनालंकृत भाषा के प्रयोग की शक्ति; और
(च) दैनिक भाषा (उपन्यास, नाटक) में तथ्यों, अर्थों और अभिप्रायों की भावक शक्ति का प्रज्ञान;

अतः साहित्यिक शिक्षा में कम-से-कम **भाषा-व्यवहार** और **संप्रेषण-व्यापार** की शर्तें तो अनिवार्य हैं। भाषा की उपयुक्त शक्तियों का संस्पर्श करके ही कोई छात्र तथ्यों को चतुराई से याद करने (परीक्षा) से आगे अनुभव का भोग (एस्थेटिक्स) करके ईमानदार तथा सच्चा बन सकता है। साहित्य का आकृतिबंध ही ऐसा होता है कि वह सैद्धान्तिक सक्रियता-प्रधान है तथा भाषा की लीलाओं से शोभन है। आज जब हम सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं तब एक 'राष्ट्रीय शिक्षा' की भी याद आ रही है ('एजुकेशन-कमीशन' १९६४-६६)। अतः सामाजिक गठन और शैक्षणिक गठन परस्पर प्रतिबिंब हैं। हर प्रकार के शिक्षण में 'आदर' एक आधिकारिक तत्त्व है जिसका ईमानदारी और सच्चाई के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र चिन्तन की सिद्धि होती है।

हिन्दी साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा में भी निर्देशन के कुछ रूप हैं—

व्याख्यान (लेक्चर), ट्यूटोरियल परिसंवाद (सेमिनार), और वादविवाद (डिस्कशन) आदि। यहाँ ये चार अध्यापन-विधियाँ ही प्रमुख हैं। स्नातकोत्तर हिन्दी में व्याख्यान और परिसंवाद प्रणाली ही प्रमुख हैं।

जब अध्यापक का छात्रों से अनुपात बहुत कम होता है (जैसे बी० ए० की कक्षाएँ) तब व्याख्यान-प्रणाली उचित होती है। इसमें छात्र निष्क्रिय श्रोता बन जाते हैं तथा उन्हें पकी-पकाई खीर खाने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि वे सुनने के बजाय सब-कुछ लिखने लगते हैं और बाद का पढ़ना बन्द कर देते हैं। इससे छात्र न तो आपस में और न ही अपने अध्यापक से, विचारों का आदान-प्रदान कर पाते हैं, अगर बाद में वादविवाद के लिए समय या अवसर न दिये जाएँ। बहुधा घटिया व्याख्यानों से छात्र ऊब जाते हैं क्योंकि पुस्तकों में—कभी-कभी तो कुंजियों तक में—उनसे अच्छी सामग्री होती है। अक्सर यह भी होता है कि व्याख्यानों में हर साल एक ही अपरिवर्तित मुर्दा सामग्री की लाश का डिक्टेशन दिया जाने लगता है। अतः व्याख्यान एक महाजड़ श्रुतलेख में बदल जाता है जिसमें किसी भी प्रकार का नया ज्ञान न तो जोड़ा जाता है, और न ही पुराना ज्ञान छोड़ा जाता है। जब तक

१. डॉ० जाकिर हुसैन, 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', पृ० १९, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, १९६१।

व्याख्यान अध्यापक की जीवनपर्यन्त साधना तथा सृजनात्मक स्कॉलरशिप के अंग नहीं होते, तब तक वे रद्दी, बेहूदा और कूपमंडूक होते हैं; तब वे समकालीन बौद्धिक जीवन से विच्छिन्न हो जाते हैं। बहुधा होता यह है कि कुंजियाँ लिखने, परीक्षक बनने, कमेटियों में चुनाव लड़ने और स्वार्थ साधने वाले अध्यापकों को व्याख्यान तैयार करने अथवा स्वाध्याय करने का मौका ही नहीं मिलता। अतः वे एम० ए० कक्षाओं के उन पत्रों के नोट्स किसी एक गर्मी की छुट्टी में ले लेते हैं जो उन्होंने पढ़ाने हैं। वे उन्हें प्रश्न-पत्रों के आधार पर प्रश्नोत्तर रूप में तैयार करते हैं। उन प्रश्नोत्तरों का विस्तार तथा संख्या इतनी नपी-तुली होती है कि पूरा कोर्स 'कवर' हो जाए तथा पिटे-पिटाये ढंग से पूरा साल भी बीत जाए। कभी-कभी हुनरमौला अध्यापक एम० ए० की उत्तर-पुस्तिकाओं से सर्वोत्तम उत्तरों की नकल कर लेते हैं और फिर उन्हें सालों तक डिक्टेट कराते रहते हैं। इस तरह दस वर्षों तक विभिन्न प्रश्न-पत्रों का परीक्षक बनने वाला प्रकाण्ड अध्यापक बड़ी ही शान और सम्मान से, पूरे आत्मविश्वास के साथ ठेंगा दिखाते हुए, आठों पत्रों को पढ़ाने का दावा करता है। ये व्याख्यान के कुछ रामबाण और तावीज़ हैं। इसी विधि से पच्चीस वर्ष का एक युवा अध्यापक छब्बीसवें वर्ष से ही ताउम्र पूरे वेतन को पेंशन रूप में पाने के काबिल हो जाता है। ऐसी मंज़रकशी में सूफ़ी बने हुए छात्र भी हैं जो 'कामायनी' के केवल वही सर्ग पढ़ेंगे जो पाठ्यक्रम में हैं; निराला की निर्धारित कविताओं में से भी केवल उन्हीं कविताओं की व्याख्याएँ रटेंगे जो 'इम्पार्टेंट' हैं; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास का अकेला वही एक प्रश्न तैयार करेंगे जो इस साल प्रश्न-पत्र में पूछा जाने वाला है। उन्हें 'सम्पूर्ण कामायनी' का ज्ञान नहीं है; निराला के छायावदोत्तर कृतित्व से परिचय नहीं है; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास के अलावा किसी भी अन्य उपन्यास का नाम तक नहीं मालम। ऐसे बहुसंख्यक छात्र-छात्राएँ तक अच्छी द्वितीय श्रेणी में एम० ए० में उत्तीर्ण होने के बाद हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध या निर्मल वर्मा, कुबेरनाथराय या ज्ञानरंजन, कुमार विमल या राजकमल चौधरी का नाम पहली बार सुनकर चौंकते हैं, मुँह बनाते हैं और खीसखिये आचार्य की अवधूत मुद्रा में डगमग पाँव हिलाने लगते हैं। महाकाल का अंधेर तो तब होता है जब वे दो वर्षों में व्याख्यानों के दौरान एक भी लघुपत्रिका का दर्शनह न कर पाते, एक भी नये लेखक का नाम नहीं सुन पाते, और एक भी उत्तेजक संवाद में अध्यापक तथा लेखक को आमने-सामने टकराते हुए नहीं देख पाते। इसी तरह बाहरी टुटपूंजिये लेखक हिन्दी साहित्य की दीर्घ परम्परा को बिना जाने ही उसकी तथा विद्वान अध्यापकों की भर्त्सना करते हैं। उनके मनोजन्मा काल्पनिक पाठक कहीं नहीं हैं। मेरे सनम, वास्तविक पाठक तो ये ही हैं! और इनकी अर्थात् हमारी हालत ऐसी खस्ता है। आम पाठक तो जासूसी और रोमानी, बिस्तरी और सफ़री अफ़साने पढ़ता है। अतः टुटपूंजिये लेखक टुटपूंजिये आलोचकों को गाली देते हैं; टुटपूंजिये आलोचक मूढ़मति छात्रों को कोसते हैं; बेचारे बेचैन छात्र बौद्धिक पाखंड का भण्डाफोड़ करते हैं। अंततः सभी टुटपूंजिये निकलते हैं। एक लेखक और एक अध्यापक के बोध में पचास वर्ष का अन्तर है तो एक अध्यापक और छात्र के बोध में एक पीढ़ी का। कई जगह तो नए लेखक भी अध्यापक हैं। वे ही कौन-सा चाँद तोड़ लाते हैं। पहाड़ खोदते-खोदते अन्ततः वे इतने सिकुड़ते जाते हैं कि स्वयं चुहिया लगने लगते हैं। निष्कर्ष यही है कि नकलटीपू व्याख्यान-प्रणाली पाठ्य-उद्धरणों में संवेदना को जागृत नहीं कर पाती, तथा आलोचना में तार्किक शक्ति को प्रबुद्ध नहीं कर पाती। फलतः छात्र 'भाषा' की पूर्ववर्णित पंक्तियों से अछूते रह जाते हैं; साहित्य का भोग तथा बोध तो बहुत बाद की बात है। नतीजा यही है कि हम सब अलीबाबा के चालीस यार हैं।

दूसरी प्रणाली वाद-विवाद (डिबेट) की हो सकती है। बहस के द्वारा संप्रेषण सीधा और चिन्तनात्मक होता है। इस प्रणाली में ज्योंही हमारी स्थापना पर प्रश्न किया जाता है त्योंही तुरन्त संप्रेषण शुरू हो जाता है। इसमें अध्यापक और छात्र एक साथ वक्ता, श्रोता तथा सहभोगीहोते हैं। इसके अन्त में हम कुछ बहुमान्य या सर्वसम्मत निर्णयों को प्राप्त करते हैं। इस प्रणाली में प्रतिरोधी को पछाड़ने का निष्कपट उछाह होता है। किन्तु ईर्ष्या या प्रतिष्ठा, विद्वेष या अहंकार की गाँठें जब तड़ातड़ टूटकर खुलती हैं तब वाद-विवाद की प्रणाली लफ्फ़ाज़ी, हठधर्मिता तथा दुराग्रह में डूब जाती है। वाद-विवाद का अनुशासन समाज-विज्ञानों के अध्यापन में ज्यादा उन्नत है क्योंकि वहाँ कुछ निरपेक्ष आधार हैं, कुछ बाह्य-निष्ठ कसौटियाँ हैं तथा कुछ स्वीकृत सिद्धांत हैं। किन्तु साहित्य के आधार मूलतः निजी अनुभूतियाँ हैं, कसौटियाँ

शास्त्रीय हैं, तथा सिद्धान्तों से बहुव्यापी असहमति है। हिन्दी में श्रद्धा का आतंक और चापलूसी का संत्रास इतना प्रचंड है कि छात्र अध्यापक के सामने तथा अध्यापक अध्यक्ष के सामने, पालतू तोता या भीगी बिल्ली बन जाता है। अतः स्वभावतः अनंत विवाद का सुखान्त होता है और हमेशा ही क्रमशः प्राध्यापक, रीडर, अध्यक्ष ही विजयी होता है। इसका कारण यह है कि विवाद का 'सामूहिक कार्य' चिंतन के एक सम्प्रदाय का कोरा अनुकरण बन जाता है। इस प्रणाली में यह अपेक्षा की जाती है कि अध्यापक पहले छात्रों को आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण पठन सामग्री बताये। जब समूह के सभी छात्र उससे अवगत हो जायें तब वे आपस में बहसें करें। इसमें अध्यापक भी बीच-बीच में एक विवादी की हैसियत से भाग लेता है, तथा विषयांतर होने पर बहस को ठीक लक्ष्य की ओर मोड़ता रहता है। प्रश्नोत्तरों की बौछार के बीच निर्धारित समस्या के सभी पक्ष खुलते जाते हैं। विवाद का मूल ध्येय यह रहता है कि छात्रवृंद अपने आप भी चिंतन करे तथा बिना संवीक्षण (स्क्रूटिनी) के दूसरों के मतों को नहीं स्वीकारे। विवाद छात्रों में आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा करता है। व्याख्यान के मुकाबले में विवाद प्रणाली (साहित्य-शिक्षा में) लाख दर्जे बढ़िया है जो भाषा की अनुभूति और साहित्य में अभिव्यक्ति पर चार चाँद लगा देती है। किन्तु इस प्रणाली को अध्ययन-भीरु और पस्तहिम्मत छात्रों ने भी असफल कर दिया है। विवाद में वार्ता की मात्रा से गुण ज्यादा महत्त्व का है। अतः वे सेमिनार के घंटों में अनुपस्थित होकर मैटिनी फ़िल्में देखते हैं।

तीसरी प्रणाली सेमिनार की है। यह अधिकांश विश्वविद्यालयों में लागू भी है। "एक सेमिनार अग्रवर्ती छात्रों का विवादकर्ता समूह है जो विश्वविद्यालयों में या तो स्नातकोत्तर चरण में होता है अथवा डिग्री कोर्स के वरीय वर्ष में। सेमिनार का आवश्यक अंग बहस है। आमतौर पर सेमिनार का एक सदस्य या कई सदस्य एक लेख अथवा कई लेख पढ़ते हैं। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। जिस तरह सामूहिक विवाद की प्रणाली में समस्या पर कुछ निश्चित निर्णयों तक पहुँचना ही पड़ता है, उस तरह इसमें आवश्यक नहीं है।"[1] सेमिनार में एक ही समस्या पर भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों को प्रकट किया जाता है और सर्वमान्य निर्णयों के बिना भी विचारों का विनिमय किया जाता है। स्वतंत्र संप्रेषण का यह सर्वोत्तम माध्यम है।...सेमिनार में वैचारिक प्रौढ़ता के कारण गुरु और शिष्य के संबंध परोक्ष हो जाते हैं। सेमिनार ज्ञान की अगली खोजों के लिए नई भूमिकाएँ पैदा करता है। अतः इसका लक्ष्य व्याख्यान की तरह केवल ज्ञान का संवहन नहीं है। हिन्दी साहित्य-शिक्षा में यह प्रणाली ही सार्थक हो सकती है, कम-से-कम 'व्यक्तित्व आदर्श' के विन्यास में। सेमिनार के लिए एक समृद्ध पुस्तकालय जीवन्धर कसौटी है।

ट्यूटोरियल का संबंध बहुधा स्नातक पूर्व-कक्षाओं में होता है। अतः हम उसे छोड़ देते हैं।

[हमने संबद्धित कालेजों में उच्चतर शिक्षा पाने वाले लगभग ८५.५ प्रतिशत छात्रों की चर्चा नहीं की है। यह इस विषय की सीमा है। किन्तु कालेज अध्यापकों तथा विश्वविद्यालयी अध्यापकों के बीच जो बनावटी दीवारें हैं उनसे कालेज अध्यापकों को हीनता-ग्रंथि का शिकार नहीं होने देना चाहिये।[2] काबुल में केवल घोड़े ही नहीं होते।]

अन्ततः समापन करने पर हम कुछ नतीजे निकालना चाहेंगे।

पहले हमें 'हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी पाठ्य विषय' के बीच स्पष्ट अन्तर करना होगा। स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा तथा हिन्दी साहित्य शिक्षण के बीच गहरी खाई है। इसी तरह हमें 'सामान्य हिन्दी' और 'साहित्यिक हिंदी' के बीच भेद करते हुए प्राकृतिक विज्ञानों, समाजविज्ञानों आदि पर लिखी गई पुस्तकों को सामान्य हिन्दी तथा सामान्य ज्ञान के अंतर्गत रखना होगा। इसके साथ ही मानविकी संस्कृति और तकनीकी संस्कृति की एकता को अधिक वास्तविक बनाना होगा—स्वाध्याय और आत्मसंस्कार के द्वारा। 'संपूर्ण सत्य' को **कला** की उदारता और **विज्ञान** की यथार्थता की कान्त मैत्री द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। अतः हिन्दी साहित्य को ज्ञान की आंचलिकता, प्रान्तीयता और अन्ध-राष्ट्रीयता से विमुक्त होना पड़ेगा। हिन्दी-साहित्य-शिक्षा में पाठ्यालोचन और व्यवहारात्मक आलोचना पर बल दिया जाना चाहिए; सेमिनार और विवाद की प्रणाली प्रोत्साहित की जानी चाहिए। हिन्दी-परीक्षाओं में स्टैंडर्ड मूल्यांकन के

१. S. R. Dongerkerry : 'University Education in India', Manaktalas, Bombay 1967, p.147.

२. दे० वही, पृ० १२२।

मानदंडों का अभाव है। अपवादों को छोड़कर कभी कोई थीसिस अस्वीकृत नहीं होती; कभी कोई छात्र फेल नहीं होता; कभी कोई द्वितीय श्रेणी से कम अंक नहीं पाता; और कभी कोई हिन्दी का एम० ए० अध्यापकी के अलावा अन्य प्रकार के किसी भी कार्य को करने की इच्छा, क्षमता या योग्यता नहीं रखता। यह व्यावसायिक नपुंसकता और साहित्यिक बहुरूपियापन विदूषकीय ढंग से प्रगटाव है। कम-से-कम अन्य विषयों के छात्रों की तरह हिन्दी के छात्रों के सामने जीविकोपार्जन के कुछ और रास्ते तो खुले हों; अन्यथा एम० ए० में उन्हें फुसला-बहकाकर निहंग लाड़िली कक्षाओं में बंद करना शायद कुछ के लिए अस्तित्व का सवाल बना रहेगा। जब मैं हिन्दी के बेकार छात्र को देखता हूँ तो उसके चेहरे पर कातरता, जुगुप्सा और प्रतिहिंसा की त्रिमूर्त धूपछाँह देखकर कंपित हो जाता हूँ। उसके आत्मनिर्वासन के सामने हमारी आचार्य मुद्रा एक बृहन्नला अथवा रँगेसियार जैसी लगती है। इसके लिए कहा जा सकता है कि एक 'प्रवेश-नीति' बनाई जाय। किन्तु जब पाँच-छै छात्रों को पकड़कर इकट्ठा किया जाय (हिन्दी क्षेत्र के महानगरों को छोड़कर) तब भला यह सोचना ही निरर्थक है। सबको द्वितीय श्रेणी में पास करना तथा प्राइवेट छात्रों की कैरियरपंथी सेना को अन्धाधुन्ध विजयी बनाते जाना भी हिन्दी साहित्य में परीक्षण के प्रतिमानों को धुँधला कर चुके हैं। हिन्दी छात्र अन्य कोई भी डिग्री (जैसे बी० एड०, अन्य भाषाओं के सर्टिफिकेट अनुवाद-डिप्लोमा आदि) लेना भी नहीं चाहते। वे शुद्ध साहित्य के उपासक हैं जो साहित्य के समाज-दर्पण होने का, अथवा सत्यं-शिवं-सुंदरं के अध्यात्म का धुरंधर मंत्र जप आये हैं। बगुला जोगियों की बहुतायत से मठ उजाड़ हो गया है।

हिन्दी-अध्यापकों को केवल **विषय का उत्तम ज्ञान** ही नहीं हो; बल्कि उन्हें **शिक्षण का विज्ञान** भी पता हो। अतः हिन्दी शिक्षण में भी बी० एड०, अथवा भाषा-प्रशिक्षण, शोध-पद्धति आदि के कोर्सों का पढ़ाया जाना भी अनिवार्य योग्यता बना दी जाय। केवल प्रथम या द्वितीय श्रेणी पाकर, अथवा केवल पी-एच० डी० होने के बाद ही, हिन्दी अध्यापक हुमकता धौला बछड़ा नहीं बने। जिस तरह बहुधा सभी जगहों से अस्वीकृत लोग हिन्दी के छात्र बन जाते हैं क्योंकि यह विषय 'आसान' है, अर्थात् सभी अच्छी द्वितीय श्रेणी में (कुंजियों को पढ़कर तथा कक्षा नोट्स को रटकर) पास हो जाते हैं; उसी तरह बहुधा हिन्दी के अधिकांश अध्यापक भी सिफारिशों, दबावों और चोर रास्तों से इस क्षेत्र में धँसे हैं; उनके चुनाव में अतिश्रेष्ठ उम्मीदवार खुल्लमखुल्ला अस्वीकृत किये गये हैं; और औचित्य की आँखों में धूल झोंकी गई है। अतः ऐसा मंडल किसी भी कनिष्ठ और योग्य के आगे बढ़ने में हर तरह के रोड़े अटकाता है। ऐसे कापीराइट-विक्रेता 'प्रतिभावान' अध्यापक प्रत्येक पत्र की उपशाखाओं पर एम० ए० के छात्रों के लिए कई पुस्तकें लिख चुके हैं और थोक के हिसाब से सालाना चार-पाँच छात्र तेज संवर्द्धक, 'मौलिक' एवं 'अनुभवी', 'आधुनिक' एवं 'वैज्ञानिक' समीक्षाएँ लिखते जाते हैं। उनके बहुविध ज्ञान की कमी का कोई भी असर पद की मर्यादा पर नहीं पड़ता। अतः माँ भारती का सपूत उर्फ़ हिन्दी का अध्यापक स्थापित स्वार्थों की दास्य-भाव से भक्ति करते हुए इहलोक-परलोक दोनों सुधार लेता है। इसीलिए भक्तिकाल पढ़ाते समय वह पूरा वैष्णव भक्त और महाप्रभु वल्लभाचार्य ही बन जाता है लेकिन कवि तुलसी और सौंदर्यचेता सूर को छोड़ जाता है; रीतिकाव्य पढ़ाते समय वह पूरा कोका पंडित बनकर अभिसार, विपरीत रति और नखशिख के प्रसंगों की रंगारंग जुगाली करता है; आधुनिक साहित्य पढ़ाते समय एक दरोगा की तरह पूरी की पूरी पीढ़ी को तुलसी, भूषण, बिहारी, प्रसाद और पंत आदि के कठघरे से बाहर फड़फड़ाने नहीं देता।

यह बात तो स्वयंसिद्ध है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय वैसा ही बनेगा जिस तरह के विद्वानों को वह आकर्षित करेगा। किन्तु आकर्षित करने के तुरंत बाद नियुक्ति की पद्धतियाँ रहस्यात्मक हो जाती हैं। तथापि व्यापक राष्ट्रीय पटल पर समाजशास्त्रीय और राजनैतिक प्रभाव विश्वविद्यालय का गोपनीय कायाकल्प कर डालते हैं। आज़ादी के बाद हमारे विश्वविद्यालयों का जो कायाकल्प हुआ है वह देश की सामाजिक व्यवस्था और अवस्था के अनुसार ही है। इसके लिए विलाप करना भी एक प्रवंचना और विडंबना है जिस गठन ने प्रोफ़ेसरों को ऊँचे वेतन और महान् स्टेटस प्रदान किये हैं, भला वे उसके विरुद्ध क्यों हों? अतः उनकी नैतिक निष्ठा को काल्पनिक भय और वास्तविक खतरे खत्म-सा करते जाते हैं। उनके लिए 'एकेडेमिक फ्रीडम' एक आड़ और ढाल बन जाती है। वे व्यावहारिक समाज-परिवर्तनों से

कटकर शुद्ध बुद्धि अथवा शुद्ध साहित्य के उपासक बनकर अलकाओं में समाधिस्थ हो जाते हैं। कार्ल जास्पर्स की बात को पुनश्च दुहराकर कहा जाये कि वे मूल्य-निर्णयों को स्थगित करके तटस्थतावादी उदासीनता में अपभ्रष्ट हो जाते हैं; न्यायोचित व्यावहारिक कर्म को त्यागकर आलसी-प्रमादी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनका अभिषेक मर्यादावादी उदार सम्प्रदायों के संस्थापक के रूप में ही हो सकता है। वे रूढ़िभंजक और विद्रोही बुद्धिजीवी होने के लिए अपना मेरुदंड ही उखड़वा लेते हैं।

इस स्थिति से कैसे उद्धार हो? सामाजिक और आर्थिक क्रांति के साथ-साथ ही शैक्षणिक क्रांति और सांस्कृतिक क्रांति आ सकती है। तभी हम 'राष्ट्रीय शिक्षा' और 'नई प्रणाली' को स्वीकार कर सकेंगे। अत: इन सबके लिए संघर्ष किया जाए।

हिन्दी पाठ्यविषय को कैसे समसामयिक बनाया जा सकता है? उसे कम-से-कम एक ओर सौंदर्यबोधशास्त्र, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान से संश्लिष्ट किया जाए; दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावसायिक कुशलता से मंडित किया जाए; तथा तीसरी ओर पाठ्यक्रम को पढ़ाने की नई विधियाँ अपनाई जायें जिससे परीक्षा का उपक्रम पूरे शैक्षणिक सत्र तक लिखित सेमिनारों, अणुबन्धों, ट्यूटोरियलों के रूप में अनवरत चलता रहे। सेमेस्टर-व्यवस्था व्याख्यान-व्यवस्था से अधिक उपयोगी है।

क्या हिन्दी साहित्य-शिक्षा को आधुनिक शिक्षा बनाया जा सकता है? यह पाठ्यक्रम को सुधारने से उतना नहीं होगा जितना कि नयी सामाजिक चेतना को ग्रहण करने से। इसका एकमात्र उपाय है: विभिन्न ऐतिहासिक कालों से चले आ रहे—'झूठे आदर्शों' का निर्मम विध्वंस! इसके लिए हमें आज सामाजिक क्रांति से **प्रतिबद्ध** और व्यावसायिक प्रशिक्षण में **विशेषज्ञ**—अर्थात् प्रतिबद्ध और विशेषज्ञ—अध्यापक के 'व्यक्तित्व-आदर्श' की आवश्यकता है। इसके बिना नवीकरण और आधुनिकीकरण के आत्मनिष्ठ संकल्पों के प्रभामंडल कभी नहीं जगमगा सकेंगे।

क्योंकि शिक्षावृत्त में अध्यापक सक्रिय होता है अतः हम उसके विषय में भारत के महान् शिक्षाशास्त्री और स्वर्गीय राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन के उद्धरण से अपना प्रकथन समाप्त करते हैं—

"यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनका मर्म ऐसे कुछ मूल्यों से कभी छू न गया और उन्होंने इनका मीठा दर्द कभी न जाना, तो सच में, उनका स्थान शिक्षकों में नहीं है। जो इस प्रकार कभी द्रवित नहीं हुआ, जो कम-से-कम कुछ देर के लिए ही किसी उच्चतम मूल्य के सम्मोहन का शिकार होने का मज़ा न ले पाया, जो निस्तेज है, और जो अपने क्षुद्र भौतिक अस्तित्व से आगे किसी भी मूल्य के संबंध में निस्तेज रहने की सम्भावना दिखाता है, ऐसे व्यक्ति को शिक्षक बनने या बने रहने का विचार, वास्तव में, नहीं करना चाहिए।"[1]

●

१. ज़ाकिर हुसैन : 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', नेशनल बुक ट्रस्ट १९६१, पृ० ५७।

पिता के लिए एक कविता

मंगलेश डबराल

मैं नहीं जानता
कब यह रेगिस्तान
तुम्हारी आँखों से छूट कर
मेरे बिस्तर तक फैल गया है
एक अन्तिम ऋतु के सिलसिले में
तुम सहसा मौसमों और रोटियों की
तेज़ भगदड़ से बाहर फेंक दिये गये हो
बची हुई महज़ एक बुश्शर्ट के साथ
सुविधाओं को भाग्य की तरह
चमकाते हुए
तुम समस्याओं के चश्मे पोंछ रहे हो
अपनी सारी अंधता के आगे
अपने अतीत को क़ानून बनाकर
लागू करते हुए घर में
एक की भूख और दूसरे के भविष्य तक
पिता तुम्हारा गुस्सा टहल रहा है
और कहीं कुछ नहीं बज रहा है
पड़ोसी औरत की चूड़ियों के अलावा
अपनी बेरंग आकांक्षाओं के ख़िलाफ़ तुम
अपने स्वाद का शरीर टटोल रहे हो
तब और अब की दूरी में
इतिहास एक लँगड़ी भाषा है
जिसे तुम बार-बार बोल रहे हो
तुम्हारी झुर्रियों में गुम
हो गया है हर रास्ता
बंजर शरीरों से होकर गुज़रता हुआ
समूचा दिन तमाम जगहों पर
गर्द की तरह पड़ गया है
शोर और सिसकियों के बीच
लोग लिपटकर सो गये हैं
बाहर सिर्फ़
पत्ते हिल रहे हैं : जंगल झड़ रहे हैं
गुणगान से लथपथ
बीते हुए वर्षों की जनगणना में
खुद को तलाशते हुए
पिता तुम देख रहे हो
बेरिश्ता चीज़ों की चापलूस नैतिकता में
भागते-हड़बड़ाते लोग
प्रकट या ग़ायब हो गये हैं
एक-दूसरे का संदेह कुतरते हुए
अचानक तुम्हारी जवानी के
रसिक स्वप्न तकिये के नीचे
नोटों की गड्डियाँ बन गये हैं
और तुम्हारे पास सिर्फ़ नींद है
अकेले लालच की तरह बची हुई
ज़िम्मेदारियों के कटघरे में
खुलता हुआ यह दरवाज़ा
तुम्हारे लिए आसमान है
जहाँ वसंत एक खुशखबरी होकर
चिपक गया है
और धूप तुम्हारी ज़रूरतों को लगातार
चकमा दे रही है

सारे-के-सारे दृश्य अचानक
बाढ़ में बदल गये हैं
जहाँ धीरे-धीरे तुम्हारा स्वार्थ डूब गया है
और महज़ लाचारी है
तुम्हारी नाक में गुर्राती हुई
एक मुश्किल की तरह
दूर हो गया है
वह चेहरा पिता
जो षड्यंत्र होकर हर जगह शामिल था
इस महान् और शर्मिंदा माहौल में
हड्डियों का दर्द दबोचता हुआ
दफ्तर और दाँतों के बीच
मैं ग़ायब हो रहा हूँ
और एक वायुमंडल
अगली तरक्की की सूचना बनकर
मेरी पसलियों में घुस रहा है
पेट और प्रतीक्षा में
एकाएक सब-कुछ जम गया है
उन आहटों के अलावा
जो अपराध की हैं
मेरी दिशाएँ हर बार
उन दीवारों से शुरू होती हैं
जहाँ तुम हस्तक्षेप कर रहे हो
रोज़-रोज़ घिसी हुई घटनाओं के पीछे
ग़लतफ़हमी की तरह
तुम्हारे शब्द लपलपा रहे हैं
तुम्हारे एकांत के हाथ
समय के मुँह पर कहीं नहीं पड़ रहे हैं
अपनी अकेली बुश्शर्ट के साथ
तुम रह गये हो
पिता
हलचलहीन
एक अन्तिम ऋतु तुम्हारी
हथेलियों से उतर रही है
और यह रेगिस्तान
मेरे बिस्तर तक।

गुरु नानक देव

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज से ५०० वर्ष पहले गुरु नानक देव का आविर्भाव हुआ था। भारतवर्ष के अधिकतर महापुरुषों के समान गुरु नानक का जीवनचरित भी चामत्कारिक कथाओं से ढँका हुआ है। उनकी 'जनम-साखियाँ' तो बहुत मिलती हैं परन्तु सबमें श्रद्धातिरेक के कारण चामत्कारिक कथाओं से ऐतिहासिक तथ्य ढँक गए हैं। इन पुराने विवरणों में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य है। उनके आधार पर गुरु नानक देव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल जाती है। पर वस्तुतः गुरुजी के विचारों का सच्चा निदर्शक 'गुरु ग्रन्थ साहब' नामक महान् ग्रन्थ ही है। इसमें गुरुजी के प्रामाणिक उपदेश ही नहीं हैं—उनका शान्त-शोभन, उदात्त और मोहन रूप भी उपलब्ध होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस महान् ग्रन्थ को गुरु का प्रतिरूप ही मान लिया गया है। वस्तुतः गुरु का जैसा महिमामय व्यक्तित्व और उनका चिन्मय रूप इस ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

गुरुजी का जन्म तालवंडी ग्राम के एक खत्री परिवार में हुआ था। गाँव के मालिक एक मुसलमान रईस (राय सलार) गाँव का वातावरण ही ऐसा था जिससे गुरुजी के बालचित्त पर साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रभाव पड़ा था। उन्हें पाठशाला में पढ़ने को भी भेजा गया था और अन्य विद्यार्थियों की तुलना में उनकी गम्भीरता, शालीनता और भगवन्निष्ठा का आभास भी उन्हीं दिनों मिल चुका था। उनकी एक बड़ी बहन थी जिसका नाम नानकी बताया जाता है। नानक का विवाह भी हुआ था। उनकी पत्नी सुलक्खनी थीं। नानक का मन घर के कार्यों में नहीं लगता था। वे साधु-संग, एकान्तवास और अध्यात्म-चिन्तन में लगे रहते थे। माता-पिता इन्हें गृहस्थी के बन्धन में बाँधना चाहते थे। बहनोई जयराम की सहायता से पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी के एक कर्मचारी के मोदी खाने में नौकरी मिल गई। परमात्मा जिसे अपना बनाना चाहता है उसके लिए सुयोग भी विचित्र प्रकार से दे देता है। कहा जाता है कि उस नौकरी के बन्धन से उन्हें एक विचित्र प्रकार से मुक्ति मिल गई। आटा तौलते समय वे एक-दो-तीन गिनते गिनते जब तेरह पर आए, तो तरह शब्द पंजाबी उच्चारण 'तेरा' पर उनका ध्यान दूसरी ओर चला गया। 'मैं तेरा हूँ' इस भावना ने उन्हें तन्मय कर दिया। हाथ तौलते रहे, मुँह 'तेरा', 'तेरा' की रट में लग गया। सारा भाण्डार तौल दिया गया 'तेरा', 'तेरा', 'तेरा'! यद्यपि यह 'तेरा' वाला अभिप्राय (अर्थात् मोटिव) और भी मध्यकालीन अनेक सन्तों के साथ जुड़ा हुआ है, पर गुरु नानक के मुख से निःसृत वाणियों के प्रकाश में यदि देखा जाए तो इसका अन्तर्निहित मर्मार्थ बिलकुल ठीक लगेगा। कदाचित् गुरु नानक वाली कहानी सबसे पुरानी भी है। इसे वास्तविक मान लेने में बिलकुल हिचक नहीं होती।

नतीजा जो होना था वही हुआ। नौकरी छूट गई। नानक की अध्यात्म-भावना के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। साधु-संग, भ्रमण और धर्मोपदेश का अवकाश प्राप्त हुआ। उन्होंने कामरूप से लेकर मक्का-मदीने तक की यात्रा की। उन्हें संसार बाँध नहीं सका पर संसार के बन्धन से छुटकारा देने और दिलाने का रहस्य उन्हें अवश्य प्राप्त हो गया। इन सारी यात्राओं में गुरु के मुख से जो अनुभूत सत्य प्रकट हुआ वह अनायास गीत रूप में उच्छ्वसित हुआ। सौभाग्य से उन्हीं के गाँव का एक मुसलमान रागी 'मरदाना' बराबर उनके साथ रहता रहा और यथासंभव उन वाणियों को राग के ढाँचे में बाँधकर स्मरण रखा। निरन्तर मनन से गुरु के अन्तरतर की निर्मल ज्योति जाग पड़ी और वह राम नाम जपते-जपते राममय हो गए।

कुछ साक्ष्यों के आधार पर गुरु नानक का जन्म अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल ३) को हुआ था, ऐसा माना गया है।

पर काफी अर्से से उनकी जन्म-तिथि का उत्सव कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है। कुछ विद्वान् इस तिथि को ही उनकी सही जन्म-तिथि मानते हैं। आजकल यह उत्सव इसी तिथि को मनाया जाता है। वैसे तो गुरुजी जैसे महानुभाव की जो भी जन्म-तिथि हो वही पवित्र और स्मरणीय है, पर मुझे कार्तिक पूर्णिमा अधिक अर्थपूर्ण लगती है। शरद् ऋतु की इस अन्तिम पूर्णिमा को सारे भारत में न जाने कब से बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस तिथि के साथ भारतवर्ष की धर्म-साधनाओं का विशाल और समृद्ध इतिहास जुड़ा हुआ है। कार्तिकी पूर्णिमा शामक ज्योत्स्ना से अधिक निर्मल और पवित्र होती है। गुरु नानक जैसे निर्मल यशः महामानव के आविर्भाव के लिए इस तिथि को अगर उपयुक्त समझा गया तो उचित ही हुआ। अगर उनकी मृण्मय काया के आविर्भाव होने की यही तिथि हो तो यह सोने में सुगन्ध है। वस्तुतः सिख गुरुओं ने मृण्मय गुरु रूप को कभी महत्त्व नहीं दिया। उनके चिन्मय रूप को—ज्ञानमय विग्रह को—ही अधिक महत्त्व देते आए हैं। इसके दो बड़े प्रमाण हैं। एक तो गुरु की वाणी को ही गुरु का स्वरूप समझना और दूसरे गुरु परम्परा में बिन्दु सृष्टि को अधिक महत्त्व न देकर नाद सृष्टि की महिमा पर बल देना। गुरु की परम्परा दो रूपों में चलती है—(१) बिन्दु सृष्टि पुत्र-पौत्र परम्परा का नाम है और (२) नाद-सृष्टि शिष्य-प्रशिष्य परम्परा का नाम है। गुरु नानक के पुत्र थे, पर दूसरे गुरु का स्थान उन्हें न मिलकर शिष्य-प्रशिष्यों को मिला। ऐसा भी हुआ है कि बाद में पुत्र-परम्परा और शिष्य-परम्परा एक-दूसरे से मिल गई है पर उसका कारण योग्यता ही रही है। पुत्र यदि गुरु के जलाए प्रदीप को वहन करने में समर्थ है तो वह भी नाद परम्परा का ही उत्तराधिकारी है। स्वयं को सिख या शिष्य कहने का अर्थ भी नाद परम्परा को ही अधिक गौरव देने की भावना का फल है। इसलिए गुरु की जन्म-तिथि यदि पूर्ण, शामक और निर्मल ज्ञान तथा परमानन्द का विग्रह या प्रतीक शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ जोड़ दिया गया तो इसमें कोई न तो आश्चर्य है न अनौचित्य। कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा निर्मल और शामक ज्ञान का प्रतीक है—

जगन्तापहरं दिव्यं परमानन्दविग्रहम्।
वन्दे शरच्चन्द्रनिभं गुरुम् ब्रह्मस्वरूपिणम्॥

परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकाल के निर्गुण मार्गी सन्तों में गुरु नानक का ही व्यक्ति शरच्चन्द्र के समान ही स्निग्ध-शामक और आह्लादजनक है। उनके पूर्ववर्ती संतों में कबीर अद्भुत शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व में तीखापन भी है। वे कसकर व्यंग्य करते हैं, तीखी और तिलमिला देने वाली आलोचनाओं से पंडित और मौलवी दोनों पर चोट करते हैं परन्तु नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त मृदु और शान्त है। उनकी भाषा में शरच्चन्द्रमा की किरणों की ही भाँति शामक गुण है। उनके व्यंग्यों में भी तीखापन या कटुता नहीं है, यद्यपि चोट करने में भी कम समर्थ नहीं हैं। इसीलिए मध्यकालीन निर्गुणमार्गी सन्तों में सच्चे अर्थों में वे शरच्चन्द्र हैं। उनकी आविर्भाव-तिथि इस पूर्णिमा को मानने के संगत कारण हैं। यह केवल भक्तों की कल्पना नहीं है, सुचिन्तित योजना है। निर्मल आकाश में शुभ्र राजहंस की तरह भ्रमण करने वाला चन्द्रमा ही उनके व्यक्तित्व की ओर संकेत कर सकता है। उसकी मीठी वाणियों में अजीब आकर्षण है, मधुर वचन को वे भक्त के आवश्यक गुण भी मानते हैं।

बाबा बोलिए पति होइ।
ऊतम ते दर ऊतम कहीअहि नीच करम बहि रोइ॥

सच पूछिए तो मध्यकालीन सन्तों की ज्योतिष्कमंडली में गुरु नानक देव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त निर्मल, उसी प्रकार शामक रश्मि के भाण्डार थे। कई सन्तों ने कस-कस के चोटें मारीं, व्यंग्य-वाण छोड़े, तर्क की छुरी चलाई, पर महान् गुरु नानक देव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की बात है कि विचार और आचार की दुनिया में वह इतनी बड़ी क्रान्ति ले आने वाला है। किसी का दिल दुखाए बिना, किसी पर आघात किए बिना, कुसंस्कारों को छिन्न करने की शक्ति रखने वाला, नई संजीवनी धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करने वाला, यह सन्त मध्यकाल की ज्योतिष्क-मंडली में अपनी निराली शोभा से शरत् पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान् है।

जनम-साखियों में गुरु नानक की यात्राओं का बड़ा मनोहारी चित्र बनता है। इनमें कुछ निश्चय ही कल्पना और श्रद्धातिरेक जुड़े हुए हैं। पर वे महान् पर्यटक थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता और इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन यात्राओं में उनका प्रधान संबल उनका

सत्यपरायण सहज जीवन और निरहंकार मधुर व्यक्तित्व ही था। अपने जीवन के सत्तर वर्षों में लगभग एक-तिहाई उन्होंने यात्रा में ही बिताई थी। उन दिनों की कठिन परिस्थितियों में उनकी यात्राएँ अद्भुत साहसपूर्ण कही जाएँगी। पाँच बार उन्होंने लम्बी यात्राएँ कीं। उद्देश्य साधु संग और भगवद्भक्ति का प्रचार था। पहली यात्रा पूरब की थी। उस समय उनकी आयु ३१ वर्ष की थी। साथ में उनके प्रिय शिष्य मर्दाना थे। इनकी यह यात्रा कामरूप तक की थी। वे सईदपुर, नालन्दा (मुलतान), पानीपत, वाराकुसी, गोरखमाता होते हुए कामरूप गए और फिर अपने स्थान को लौट आए। लौटते समय पाकपत्तन (मांटगुमरी) में शेख फरीद के शिष्य शेख इब्राहीम से धर्मालाप किया। सर्वत्र उनके मोहक व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता था। मर्दाना के बीन पर उनकी रचनाएँ श्रोताओं को मुग्ध कर देती थीं। दूसरी यात्रा सन् १५०६ में शुरू हुई। इस बार वे दक्षिण की ओर गए। सिरपा, बीकानेर, अजमेर, आबू होते हुए वे पुरी गए और उधर से नागपत्तन और श्रीलंका तक उनके जाने का विवरण मिलता है। इस बार उनके साथ सैडो और धैबी नाम के दो जाट शिष्य भी थे। तीसरी यात्रा ८ वर्ष बाद सन् १५१४ में शुरू हुई। इस यात्रा में वे उत्तर की ओर कैलास और मानसरोवर की ओर गए। साथ नासू और सीहा नाम के दो शिष्य थे। मानसरोवर में इनका योगियों के साथ सत्संग हुआ। इसी यात्रा में ये तिव्वत और दक्षिणी चीन भी गए। चौथी यात्रा पश्चिम की ओर हुई। वे हाजी के रूप में मक्का गए। बताया जाता है कि इसी यात्रा में वे यरूशलम, दमिश्क और अल्लेप्पो होते हुए बगदाद पहुँचे और अनेक मुस्लिम सन्तों और पण्डितों से सत्संग किया। उनकी प्रेममयी वाणी ने सर्वत्र जादू का असर किया। कहते हैं कि बगदाद में उन्होंने बहोल के शाह को सिख धर्म की दीक्षा दी। पाँचवीं यात्रा में उन्होंने मुख्य रूप से पंजाब का भ्रमण किया। उन्होंने पाकपत्तन, देयालपुर, कंगापुर, सुलतानपुर, जलालाबाद, तिरिया आदि स्थानों में धर्म-प्रचार किया। वे जब बटाला होते हुए अमीनाबाद पहुँचे तो बाबर ने उन्हें साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया और इस प्रकार बाबर से उनकी भेंट सम्भव हुई। गुरुजी ने अपनी मीठी और स्पष्ट वाणी में बाबर के कुकृत्यों की खरी आलोचना की। बाबर पर उसका प्रभाव भी पड़ा। इस प्रकार उन्होंने अपनी लम्बी यात्राओं से देश का कोना-कोना छान डाला। पड़ोसी देशों की भी यात्रा की और एक ओर जहाँ उन्होंने मनुष्यों के दुःख-कष्ट का अनुभव किया वहीं उनके अन्धविश्वासों और गलत मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। यात्रा-वृत्तान्तों में कई करामाती प्रसंगों की भी चर्चा है। पर उनको हटा देने पर गुरु की अत्यन्त साहसिक प्रकृति, भगवान् पर अखंड-विश्वास, अपूर्व जिज्ञासा और दीन-दलित पर दयाभाव का परिचय अवश्य मिलता है। उनकी वाणी की मोहकता, उनके व्यक्तित्व का आकर्षण और उनकी भगवन्निष्ठा का प्रभाव इन यात्रा-वृत्तान्तों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि परवर्ती पुस्तकों में उन्हें शास्त्रार्थी विजेता के रूप में चित्रित करने का भी प्रयास है पर यह उनकी नहीं, उस काल की श्रद्धालु जनता की मनोवृत्ति का प्रतिफलन है। गुरु नानक बहुत वाद-विवाद में नहीं पड़ते थे। वे अपने पवित्र आचरण के द्वारा ही विरोधी को सत्य का साक्षात्कार करा देते थे। कितने ही विरोधियों ने जो उनके चरणों में आत्मसमर्पण किया वह शास्त्रार्थ-वैदूष्य को देखकर नहीं, अत्यन्त प्रभावशाली आचरण और मधुर व्यवहार के कारण ही किया।

गुरुजी अपनी यात्राओं में सैकड़ों प्रकार के लोगों से मिले। विरोधियों से भी और प्रशंसकों से भी; चोरों, ठगों और लुटेरों से भी; पंडितों, योगियों और तांत्रिकों से भी; शेखों, काजियों और मुल्लों से भी—सर्वत्र उनके मृदुल स्वभाव और सत्यशील आचरण ने विजय पाई। कटुता कहीं नहीं आई। विरोध ने वैर का रूप कभी नहीं लिया। यह ऐसी सिद्धि है जिस पर सहज ही विश्वास करना कठिन है, पर है सत्य। ऐसे ही निर्वैर निरहंकार निस्पृह मनुष्य के माध्यम से परमात्मा अपना तेज संसार को देता है। एक भजन में ऐसे भक्त-जन का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

जो नर दुख नहिं माने।
सुख असनेह अरु भय नहिं जाके कंचन माटी जाने।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरस सोक ते रहे नियारों नाहि मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि के जग तैं रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहीं तेहि घर ब्रह्म निवासा।
गुरु किरपा जो इन पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सो ज्यों पानी संग पानी।

वस्तुतः यही गुरु के आकर्षक व्यक्तित्व का रहस्य भी है और स्वरूप भी। उन्होंने तथाकथित छोटी जातियों को भी भरपूर

सम्मान दिया। भेदभाव तो उनमें लेशमात्र नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों को वह समान भाव से स्नेह करते थे। कैसा भेद-भाव ? गुरु ने कभी अपने को किसी से अलग नहीं माना। उन्होंने कहा था कि एक ही ज्योति से संसार उत्पन्न किया गया है। इसमें कौन अच्छा है कौन बुरा—एक जोति ते पग उपजा कौन भले कौन मेंदे।

गुरु नानक का आविर्भाव जिन दिनों हुआ था उन दिनों भारतवर्ष का हिन्दू समाज अनेक प्रकार की जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त था। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली इस्लाम धर्म का प्रवेश भी हो चुका था। आपसी भेदभाव पहले से ही बहुत जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाता जा रहा था। धार्मिक साधना के क्षेत्र में रामानन्द, नामदेव और कबीर जैसे कई महिमाशाली व्यक्तित्व प्रकट हो चुके थे जो जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव मिटाने का प्रयास कर चुके थे, पर भेदभाव की मनोवृत्ति कठोरतर सिद्ध हुई थी। जिस किसी ने जाति-भेद को हटाने का प्रयास किया, उसी के नाम पर एक नई जाति और एक नये सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। जिस किसी ने झाड़ू देकर मन्दिर के आँगन को साफ करने का प्रयत्न किया उसी के नाम पर कोई ईंट-पत्थर आँगन में और डाल दिया गया। भेदभाव बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ, अभेद और एकता की बात कमज़ोर साबित हुई। फिर भी महात्मा लोगों ने अपना प्रयास जारी रखा। गुरु नानक ने अपनी समकालीन सामाजिक परि-स्थितियों को यदा-कदा चित्रित किया है। तत्कालीन शासकों की निर्दय निरंकुशता और सामान्य प्रजाजन की असहाय स्थिति के प्रति वे सचेत थे। उनकी वाणियों में इस बात का प्रमाण मिल जाता है। परन्तु गुरु नानक बहुत कम अवसरों पर ही उनकी चर्चा करते हैं।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए भी वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जागृत करने का ही आह्वान करते हैं। वे निर्भय-निरहंकार और निर्वैर अकाल पुरुष में अखण्ड विश्वास करते थे और उसी विश्वास को प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में जागृत करते थे। अत्याचारी का अत्याचार इसलिए सह लिया जाता है कि साधारण मनुष्य के मन में भय और आशंका का भाव रहता है। भयवश और लोभवश मनुष्य क्या-कुछ नहीं करता। विरूप परिस्थितियों में गुरु नानक भय को छोड़कर सत्य पर अडिग रहने की बात कहते हैं। कहते तो और लोग भी हैं पर इतिहास साक्षी है कि गुरु के अनुयायियों ने भय का सही अर्थों में त्याग किया था। उनके ऊपर घोर अत्याचार हुए। उन दिल दहलाने वाली कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, पर गुरु नानक के शिष्यों ने प्राणों को हथेली पर रखकर मृत्यु का तिरस्कार कर, काल के विधान को तोड़कर सत्य पर अटल रहने की साधना की है। कितनी अतल गहराई से यह महावाक्य निकला होगा जो पीढ़ियों तक भय को चुनौती दी है—

मरणै की चिन्ता नहीं जीवन की नहि आस।

समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए वे बँधी-बँधाई बोलियों का नुस्खा नहीं बताते। वे ऐसी महान् धर्म-साधना का निर्देश करते हैं, जिसे पाकर मनुष्य को कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता है। वे भगवद्-भक्ति और त्यागपरायण निर्भीक जीवन की बात कहते हैं और सम्पूर्ण रूप से सर्वात्मना समर्पित जीवन को मुख्य सम्मान मानते हैं।

स्मरणीय है कि उत्तर मध्यकाल में भक्ति का आन्दोलन विराट् जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। सिख-गुरुओं ने निराकार निरंजनपरक भक्ति मार्ग का प्रचार किया। इस बात में अन्यान्य निर्गुणमार्गी सन्तों से एक बात में विशिष्ट बने रहे। मध्यकाल में भाष्यों-टीकाओं और मन्त्रों से उपलक्षित भक्ति सम्प्रदायों का बड़ा ज़ोर था। कोई भी भक्ति सम्प्रदाय तब तक मान्य नहीं होता था जब तक किसी-न-किसी प्रस्थानत्रयी समर्थित सम्प्रदाय का आश्रय न ले लेता था। गुरु नानक और उनके भक्त कवियों ने इस पराधीनता को अस्वीकार किया। नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में उन्हीं निर्गुणमार्गी सन्तों को स्थान दिया जो इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध माने जाते थे। कबीरदास को इसलिए स्थान मिला कि वे रामानन्द के शिष्य थे और इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय से दूर से सम्बद्ध थे। गुरु नानक को स्थान नहीं मिला, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी से नहीं जोड़ा जा सका। गुरु के अनुयायियों, भक्तों और सन्त-कवियों ने इस बात की परवाह न की। उन्होंने उन समस्त सन्त कवियों की बानियों का आदर किया जो अनुभव-सिद्ध सत्य के गायक थे। सम्प्रदाय या आचार्य ग्रन्थ विशेष के समर्थन के लिए उन्होंने रुकना उचित नहीं समझा। यह विशेष दृष्टि उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभव—हेतुक उपलब्धि पर

बल दिया गया है। पंजाब में बहुत महत्त्वपूर्ण भक्ति-साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी को सबसे बड़ी देन इन सन्तों की स्वाधीन चिन्तना ही मानी जाएगी। प्रस्थानत्रयी क्या है—

'प्रस्थानत्रयी' वैदिक धर्म के आधारभूत माने जाने वाले मुख्य तीन ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों भागों का नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया गया है। ये तीन हैं, उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता। प्रस्थानत्रयी का दिनों-दिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और सम्प्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो सम्प्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को, प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों पर (अर्थात् उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता पर) भाष्य लिखकर, यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई, कि इन सब सम्प्रदायों के प्रचलित होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हीं के आधार पर हमारा सम्प्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य सम्प्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए हैं, तो उनके सम्प्रदाय का महत्त्व घट जाता—और, ऐसा करना किसी भी सम्प्रदाय को इष्ट नहीं था। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न-भिन्न पण्डित अपने सम्प्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे। यह टीका उसी सम्प्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी।

इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक की स्वाधीन चिन्तना का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जिन दिनों सारा भारतवर्ष अपनी बात को आप्त वाक्यों द्वारा समर्थित सिद्ध करने का प्रयास कर रहा था, व्याकरण और मीमांसाशास्त्र की बताई विधियों का सहारा लेकर हर प्रतिकूल बात का अर्थ बदलने में व्यस्त था, गुरु नानक और उनके अनुयायियों ने इस बन्धन को अस्वीकार कर दिया। वे सीधी बात को सीधी भाषा में कहते थे। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परा से एकदम विच्छिन्न हो, पर यह भी आवश्यक नहीं कि पद-पद पर वह उसके समर्थन का मुहताज हो। क्या है वह गुरु का अनुभूत सहज सत्य?

गुरु ने परमात्मा को सत्य रूप माना है। वह अतीत का सत्य है, वर्तमान का सत्य है और भविष्य का भी वह त्रिकालातीत भी सत्य है।

आदि सचु, जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी सचु।

सत्य का अर्थ ही 'है' है। परम्परा क्रम से हम जिस सच्चिदानन्द को सुनते आए हैं उसके तीन तत्त्व हैं, सत्, चित् आनन्द। उसकी सत्ता त्रिकाल में है इसलिए वह सत् है। काल हमारी सीमित दृष्टि का आभासित तत्त्व है। इसलिए केवल यह कहना कि वह अतीत, वह वर्तमान और भविष्य में बना रहता है, बहुत कम करके कहना है। वह काल से परे है—अकाल रूप है। वह अयोनि है, स्वयंभू है—

एक ओंकार सति नाम करता पुरुष निरभउ निरवैर
अकालमूरति अजूनी सैंभं गुरु परसादि'

सो, गुरुजी परम प्राप्तव्य को 'सत्य रूप' मानते हैं। जो सत्य रूप है वह सत्य से ही प्राप्त हो सकता है, मौन से, व्रत से, उपवास से, कृच्छ्र आचारों से उसे नहीं पाया जा सकता। सिद्धियों से, सांसारिक समृद्धियों से, धन से, मान से, वह अलभ्य है, अलह है।

सोचै सोचि न होवई,
जो सोची लख वारि।
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि॥
भुखियाँ भुखि न उत्तरी
जे बन्ना पुरिआं भारि॥

उसके पाने का मार्ग है, उसी के नाम-गुण का श्रवण, उसी का मनन और उसी का ध्यान—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

श्रवण का बहुत माहात्म्य है।

फिर मनन भी आवश्यक है—

निदिध्यासन के लिए प्रमुख साधन 'पंच' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पंच' या 'पंज' शब्द का प्रयोग गुरुजी ने अन्यत्र भी किया है। जान पड़ता है यह संस्कृत 'प्रजा' का पंजाबी रूप है: शुभ बुद्धि ही 'प्रज्ञा' या 'पंजा' है—

पंच परवाण पंच परधानु।
पंचे पावहि दरगहि मानु।

पंचे सोहिहि दरि राजानु ।
पंचा का गुरु एक धियानु ।।

प्रज्ञा ही प्रमाण है, प्रज्ञा ही प्रधान है। प्रज्ञा से ही दरगाह में मान मिलता है। प्रज्ञा का ध्यान एकमात्र गुरु ही होना चाहिए। जिस मनुष्य की प्रज्ञा एकमात्र गुरुपरक होती है वही स्थितप्रज्ञ होता है।

गुरु नानक का परमात्मा पर अखण्ड विश्वास था। वे मानते थे कि हमारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास का हिसाब उसके पास है। ऐसा भक्त ही सच्चे अर्थों में निर्भय हो सकता है। जब उसकी मर्ज़ी के बिना कुछ भी नहीं हो सकता तो मृत्यु का भय और जीवन का लोभ दोनों ही मिथ्या सिद्ध होते हैं। भक्त न तो मरण की चिन्ता से उद्विग्न होता है न जीवन के प्रलोभनों से विचलित—

मरणै की चिंता नहीं, जीवन की नहीं आस।
तू सर्व जिया प्रतिपालही लेखे सासि गिरासि ।।

भय का अस्तित्व ऐसे भक्त के लिए है ही नहीं। केवल एक बात का ध्यान उसे बना रहता है। कहीं ऐसा न हो कि मन सत्य मार्ग से विचलित हो जाए। परन्तु जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है—सत्य, जो स्वयं परमात्मा का स्वरूप है उसका यह भय मिट जाता है। सत्य का भय उसे परमात्मा के और निकट ले आ देता है। वह और भी मगन होकर भगवद्रस का पान करने लगता है। जिसने ज्ञानलभ्य इस महारस का पान कर लिया है, उसकी सांसारिक माँगवृत्ति निवृत्त हो जाती है—

मन वैरागी धरिवसै सच भय राता होइ।
ज्ञान महारस भोगवै बाहुहि भूख न होइ ।।

यह ज्ञान महारस केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों के अध्ययन से, बाह्य अनुष्ठानों से और अर्थहीन आचारों से वह अलभ्य है। शास्त्र विवेक दे सकते हैं, ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग नहीं बना पाते। गुरु नानक कहते हैं—

पढ़ि पुस्तक संध्यावादं । शिल पूजसि बगुलसमाधिं।
मुखि झूठ विभूषत सारं । त्रैपालनिहाल विचारं।
गलि माला तिलक लिलाटं। दुई धोती वस्त्र कपाटं।
जो जानसि वरम्ह करमं। सभ फोकट निश्चै करमं।
कहु नानक निश्चै ध्यावै। बिन सतगुरु बाट न पावै।

अरे ओ पंडित, तू पुस्तक पढ़ता है। संध्या-वंदन करता है, शिला की पूजा करता है और बगले की तरह अर्थहीन समाधि लगाता है! भाई मेरे तेरा मुख सत्य से नहीं मिथ्या से विभूषित है, तेरे विचार निस्सार हैं। तू गले में माला और ललाट पर तिलक देता है, पर तेरा हृदय धौत वस्त्र और उत्तरीय के दो कपाटों से बन्द है—तू केवल ऊपरी दिखावा कर रहा है। भाई मेरे जो तू ब्रह्म का विचार जानता तो इन सारे कर्मों की व्यर्थता भी जान जाता। नानक कहते हैं कि निश्चित रूप से समझ ले सत्यात्मक गुरु के ध्यान के बिना मार्ग नहीं मिलता।

सत्य ही परमात्मा का रूप है। परन्तु सत्य क्या है? बहुत प्राचीन काल से इस देश के मनीषियों ने इस पर बहुत ऊहापोह किया है। महाभारत में ऐसे बीसियों प्रसंगों का उल्लेख करके पुराण मुनि व्यास ने इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होने की ओर इशारा किया है। केवल एक उदाहरण यहां दिया जा रहा है। सनत्कुमार के प्रसंग में सत्यवादिता जैसे अत्यन्त निर्विवाद धर्म के बारे में कहा गया है कि सर्वत्र सत्य बोलना भी अच्छा नहीं है। जहाँ सत्य बोलने से लोक-कल्याण में बाधा पड़ती हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि 'सत्य बोलना प्रशस्त है', यह ठीक तो है, परन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हितचिन्ता। इसीलिए सत्य वही है, जिससे सर्वभूत का आत्यन्तिक हित या कल्याण होता हो, वह नहीं जो मुँह से बोला जाता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तम्, एतत्सत्यं मतं मम ।।

शान्ति ३२९-१७

शास्त्रों में ऐसे और भी प्रसंग हैं, जहाँ सर्व प्राणिमात्र की कल्याण भावना को धर्म के मूल तत्त्वों अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह (मनुस्मृति १०-६३) आदि से श्रेष्ठ बताया गया है। ऐसे कथनों का तात्पर्य यह हुआ कि सर्व भूतमात्र की कल्याण बुद्धि से किया हुआ कार्य ही धर्म कार्य है। उसके अनुसार सामाजिक कल्याण के अनुकूल सत्यादि धर्म ग्राह्य है और प्रतिकूल होने पर अग्राह्य है। सत्य या अहिंसा, इसलिए धर्म नहीं है कि वे सत्य और अहिंसा हैं, बल्कि इसलिए कि उनसे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण के साथ सत्य या अहिंसा समझी जाने वाली वस्तु का विरोधी हो, वहाँ समझना चाहिए कि वह तथाकथित सत्य और अहिंसा वस्तुतः सत्य और अहिंसा

नहीं है। इसलिए तुलाधार ने जाजलि को उपदेश देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति प्राणिमात्र के हित में नित्य रत है, वही धर्म को जानता है। (शान्ति २६१-६)।

स्वयं गुरु नानक ने प्रज्ञा या शुद्ध बुद्धि पर जोर दिया है, ऐसी प्रज्ञा जो गुरु-केन्द्रित हो, गुरु ही जिसका एकमात्र ध्यातव्य हो। यहाँ गुरु स्पष्ट ही अन्तरतर की महाज्योति का नाम है जिसके प्रकाश से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। अपनी-अपनी संकीर्ण सीमाओं के भीतर हम जो कुछ देखते हैं वह वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तविक सत्य अपनी छोटी अहमिका या 'हउम' को मिटाकर विश्वात्मा के साथ एकमेक होकर प्राप्त किया जा सकता है। तभी सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

मनुष्य अपने दृष्टिकोण से सुख-दुख को देखता है। मगर सुख-दुख का कोई एक ही मानदण्ड समस्त प्राणियों के लिए नहीं है। शास्त्र का यह कथन कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

अर्थात् अपने ही समान जो प्राणिमात्र के दुख-सुख को देखता है वही वास्तव में देखता है, यह भी विचार सापेक्ष है। मुझे पानी में डूबे रहने से कष्ट होता है, इसलिए मछली को भी कष्ट होगा, यह कहना नितान्त उपहासास्पद है। वस्तुतः इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना ही ठीक नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अपनी अन्तरात्मा को जिस प्रकार स्वयं को प्रतिकूल परिस्थितियों में कष्ट और अनुकूल परिस्थितियों में अनुभूति होती है वैसा ही सबके लिए सोचना चाहिए। व्यक्ति-विशेष की अनुकूल परिस्थितियाँ अलग-अलग होंगी। इस प्रकार के वाक्यों का सारी दुनिया के साहित्य में उल्लेख है पर उपरले स्तर की सच्चाई है। जिस व्यक्ति का हम उपकार करना चाहते हैं, उसका सचमुच उपकार कर रहे हैं या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऊपर के उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि उपचिकीर्षु (उपकार करने का इच्छुक) का अनुभव प्रमाण नहीं। रही यह बात कि उपकार्य (जिसका उपकार किया जा रहा है) का अनुभव प्रमाण हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि हैजे के रोगी से पूछो तो वह ठंडा पानी पीने से ही अपना उपकार मानेगा, परन्तु वह उसके लिए हानिकर है। सही बात तो यह है कि उपकार करना, सुधार करना आदि बातें बहुत गहराई तक नहीं जातीं, क्योंकि ये भी सीमित अहंकार की देन हैं।

गुरु नानक उस काल के नाथ साधकों की भाँति स्वीकार करते हैं कि यह मनुष्य का शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा प्रतिरूप है। जो कुछ इस पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, 'जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे'। इसका अर्थ यह है कि अगर अपने अन्तरतर की ज्योति को पहचान लिया गया तो ब्रह्माण्डव्यापिनी महाज्योति को पहचान लिया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य उतना ही जानता है जितना उसको अन्तरतर के चैतन्य से एकमेक हुआ रहता है। हम जब कुछ नई बात जानते हैं तो होता सिर्फ यह है कि हमारे चैतन्य पर पड़ा हुआ एक पर्दा हट जाता है। परन्तु जानना ही बहुत बड़ी चीज़ नहीं है। बड़ी चीज़ है ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग बनाना। सत्य जब आचरण में रूप ग्रहण करता है तो धर्म बनता है। जो चीज़ केवल जानकारी के रूप में कही जाती है वह 'कथनी' मात्र है। 'करनी' के साथ जब तक वह एकमेक नहीं हो जाती तब तक वह भार मात्र सिद्ध होती है। वही पुरुष महात्मा होता है जिसकी कथनी और करनी में भेद नहीं होता। परन्तु इतना होने के बाद भी 'सत्य' 'हित' नहीं बनता। कोई महात्मा बहुत सच्चा है, पवित्र है, भगवद्भजन में निरंतर लीन है, जीवन्मुक्त है तो हमारी श्रद्धा का पात्र है। वह प्रणम्य है। पर साधारण मनुष्य के लिए वह दूर की चमकीली वस्तु ही है। उसे देखकर हमें प्रसन्नता होती है। परन्तु ततः किम्? मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था—'ये नाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्' अर्थात् मैं जिस बात से स्वयं अमृत नहीं बन जाती उसे लेकर मैं क्या करूँगी? कोई बहुत बड़ा सिद्ध हो गया, अच्छी बात है, पर साधारण सांसारिक जीवों को क्या मिला? जब सत्य जीवन में इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि वह अन्तरतर को परिपूर्ण करके बाहर भी ज्योति विकीर्ण करने लगता है तो उसके प्रकाश में साधारण जन को भी अनायास प्रकाश मिलता है। अन्धकार में भटके हुए प्राणियों को रास्ता दिखाई देने लगता है। ऐसा ही महात्मा 'गुरु' रूप में प्रकट होता है। भगवान् की ज्योति के साथ वह जितना ही अधिक एकमेक होता है उतना ही वह समाज का सही मार्गदर्शन करता है। यह सोचकर नहीं कि मैं मार्गदर्शन कर रहा हूँ। सूर्य कभी नहीं सोचता कि वह मार्गदर्शन कर रहा है। उसकी ज्योति ही ऐसी होती है कि दुनिया अपना मार्ग ढूँढ़ने में समर्थ हो जाती है। उसकी ज्योति भटके हुओं को रास्ता

दिखाती है। महागुरु ऐसा ही होता है। उसके निर्मल चरित्र में अपनी दीप्ति होती है। वह सत्य और प्रेम की साधना द्वारा स्वयं सत्य और प्रेम का रूप बन जाता है। गुरु नानक ऐसे ही महागुरु थे। उनकी अत्यन्त सीधी भक्ति-भावित वाणियों में कहीं भी इस बात का आग्रह नहीं है कि वे दुनिया को सुधारने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। ऐसा करना स्वयं 'हउम' या क्षुद्र अहमिका का रूप बन जाता है। वे तो सच्चे हृदय से महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर देते हैं—'हे महागुरो मैं तेरी शरण आया हूँ। तू ही पाक परवरदिगार है। तेरी ज्योति से ही समूचा जगत् ज्योतिष्मान् है।' महाग्रहीता को दिया हुआ यह अर्घ्य ही धन्य है। तुलसीदास ने कहा था—'जानत तुम्हिं तुम्हिं होइ जाई' (जो तुम्हें जानता है वह तुम-रूप ही हो जाता है)। सत्य इसी अवस्था में आकर प्राणिमात्र को मार्ग दिखाने वाला प्रकाश बन जाता है। ऐसा सत्य केवल 'व्यक्ति सत्य' न रहकर 'सर्वभूत हित' बन जाता है। अहंकार से आच्छन्न बुद्धि द्वारा निर्णीत सत्य सीमा का सत्य होता है, वह सीमित सुख देता है। अपने-आपको सर्वात्मना उत्सर्गीकृत भक्त का सत्य, असीम का सुख होता है, वह प्राणिमात्र का असीम सुख होता है। उपनिषद् में कहा गया है, 'भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'। गुरु नानक ने अपने-आपको उसी महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर दिया था। उनका सत्य सर्वजन के सुख का हेतु बना है। नानक महागुरु थे। उनकी ज्योति मानवता को प्रकाश देने वाली ज्योति हुई।

विचित्र है वह रसमय पुरुष। वह रस भी है, रसिक भी, रसास्वादी भी है। वह प्रिया भी है, प्रिय भी है, यह अलबेला प्रियतम प्रभु निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके रम रहा है। परम प्रेयान् के इस रूप की बलिहारी है—

आपै रसीआ आपि रसु आपे रावणहारु।
आपै होवै चालड़ा आपै सेज भतारु ॥१॥
रंगि रता मेरा साहिबु रवि रहिआ भरपूरि ॥
आपै बहुविधि रंगुला सखीए मेरा लालु ॥
नित रवै सोहागणी देखु हमारा हालु ॥

अखण्ड प्रेम स्वरूप को जिसने अपना लिया है उसके आचरण में भेदभाव का स्थान कहाँ है। उसकी प्रत्येक गतिविधि भेदभाव को मिटाने में समर्थ होती है। गुरु नानक की प्रेम-साधना समाज में फैली हुई विषमता, छूतछात, साम्प्रदायिकता को दूर करने की अमोघ शक्ति के रूप में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई।

भारतवर्ष में जाति-भेद और छूतछात का मनोभाव दीर्घकाल से चला आ रहा है। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व यह मनोभाव और भी तीव्र था। हमारे इस देश में अनेक मनीषी हुए हैं जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों के ऊपरी भेदों को, नानात्व को मिथ्या बताया है और एक ही अद्वैततत्त्व को सत्य घोषित किया है। परन्तु इस विस्मयकारी चिन्तन के बावजूद सामाजिक भेदभाव और समाज के अनेक वर्गों को अस्पृश्य मानते रहने का क्रम भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा है। विचार के सत्य को परमार्थ सत्य और आचार के भेदभाव को व्यवहार सत्य मानकर संगति बैठा ली गई है। विचार और आचार के बीच दरार पैदा करने वाली ऐसी विसंगति की भी संगति लगा लेने का प्रयत्न एक बड़ा करिश्मा ही है पर इस देश में वह जम के बैठ गया है।

गुरु नानक ने इस व्यवधान को दूर करने का सफल प्रयत्न किया था। दीर्घकाल से चले आए हुए एकत्व की—नेह नानास्ति किंचन—की आवाज को उन्होंने नई शक्ति दी। मार्ग उनका प्रेम और मैत्री का था। उनका आदर्श निराकार, निरहंकार और निर्वैर सत्यपुरुष था, उनका बल कथनी और करनी के व्यवधान को पाटने पर था, उनका उपाय एकान्त भवन्निष्ठा और अकुण्ठ शरणागति था, उनकी एक विशेष निष्ठा 'गुरु' की शिक्षा पर थी।

कई विद्वानों ने कहा है कि 'गुरु' की मध्यस्थता उन्होंने साभी धर्म से ली। इस धर्म में ईश्वर और जीव के बीच एक पैगम्बर मध्यस्थ का कार्य करता है। यह बात कुछ अनावश्यक आडम्बर के साथ कही जाती है।

निस्सन्देह गुरु नानक के सामने महान् इस्लाम धर्म था। मुस्लिम सन्तों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था और उनके संवेदनशील चित्त पर उसका प्रभाव भी पड़ा था। परन्तु उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया था। भेदभाव जिसके मन में कभी आया ही नहीं उससे यह आशा करना कि सत्य के निर्णय में वह हिन्दू और मुसलमान का भेद करेगा, एकदम बेबुनियाद बात है। उन्होंने शक्तिशाली इस लाभ के उत्तम सिद्धान्तों को सहज भाव से अपनाया है। सहज भाव से मौलिक तत्त्वों को अपनाना ही सच्चा समन्वय है।

कुछ लोग धर्मों के नाम पर चलने वाले ऊपरी आचारों

को एक साथ जोड़ देने को समन्वय कहने लगे हैं। रोजा भी अच्छा और एकादशी भी अच्छी। त्रिपुंड धारण भी ठीक और कृपाण का पहनना भी ठीक। सलाम भी सही और नमस्ते भी सही। इस प्रकार समन्वय आरम्भ किया गया है। समन्वय की यह नीति ठीक नहीं जँचती। समन्वय में तत्तद् धर्मों के उन मूल तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनको केन्द्र करके इन ब्राह्य आचारों को अपनाने लगे, जो भिन्न-भिन्न धर्म के पालन करने वाले ग्रहण करते हैं। समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें, और उस विशाल मानवता वाली दृष्टि को अपनाएँ जो समग्र मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावों के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास कर रही है। गुरु नानक ने इसी मूल तत्त्व को पकड़ा था।

कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य की क्या कसौटी होनी चाहिए, इस विषय पर अनेक शास्त्र लिखे गए हैं। क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, यह दीर्घकाल से सामाजिक नैतिकता के मनीषियों का विचारणीय विषय रहा है। गुरु नानक व्यक्तिगत शुचिता और सार्वभाव से आत्मार्पण की महिमा घोषित करते हैं। वे मनुष्य के चित्त से अहंकार, भय और लोभ का उन्मूलन करने पर बल देते हैं। जो चित्त अहंभाव, भय और लोभ से मुक्त होता है वह अनायास सामाजिक मंगल की ओर प्रवृत्त होता है। अहंकार वस्तुतः अपने-आपको सबसे अलग समझने के कारण ही होता है। अहंकार अर्थात् पृथकत्व बुद्धि। गुरु नानक ने कहा है—मन मेरे तू क्षुद्र अहमिका का अभिमान छोड़ दे और हरि-रूप गुरु के शीतल सरोवर का सेवन कर। तभी तू उसके दरबार में आदर पा सकेगा—

मन रे हउमे छोड़ि गुमानु।
हरि गुरु सरवर सेवि तू पावहि दरगहि मानु।

सिरी रागु, महला १

अपने-आपको जगत्-प्रवाह से विच्छिन्न समझने वाले के मन में ही मैं और मेरा अहंकार और ममता के भाव आते हैं। जिसने अपनी आभा को महागुरु के चरणों में समर्पित कर दिया है उसे अहंकार और मिथ्या गर्व हो ही नहीं सकते। हे प्रभु तू इतना बड़ा दाता है, देवनहार है कि तेरी भक्ति के भाण्डार में कभी कोई त्रुटि नहीं आती। कहाँ का गर्व और कैसा अहंकार? गर्व करने से कुछ हाथ नहीं लगता। किस बात का गर्व किया जाय? यह जीव भी तेरा, यह शरीर भी तेरा। मेरा है ही कहाँ कि ममता का आकर्षण हो—

तू एवडु दाता देवणहारु।
तोटि नाही तुधु भगति भंडारि।
कीआ गरबु न आवे रासि।
जीउ पिंडु सभु तेरे पासि॥

भक्ति-भावना की विशाल पटभूमि पर लोभ, मोह, भय, भ्रान्ति, अहंकार, ममता की समस्याओं को सुलझाने का यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। इसमें परमार्थ और व्यवहार का द्वन्द्व नहीं है, कथनी और करनी का व्यवधान नहीं है और व्यक्तिसत्य और समष्टिसत्य की निरर्थक ऊहापोह भी नहीं है। जो भी अहंकार, भय, लोभ और तृष्णा द्वारा चालित वह मनमुख है इसलिए त्याज्य है। जो भी अन्तरतर की ज्योति के सम्मुखीन है वह ग्राह्य है, गुरुमुख होने से वह स्वीकार्य है। जो मनमुख होता है उसे ममता सताती रहती है, वह पुत्र-कलत्र की धन-सम्पत्ति को अपना समझकर 'तेरा-मेरा' के चक्कर में पड़ा रहता है। इसी का नाम भवजाल है। वह उलझता है, छटपटाता है, वह काम-वासना से विचलित होता है, सम्पत्ति के नष्ट होने के भय से कातर हो जाता है वही असामाजिक हो जाता है—

मनमुखु जाणे आपणे धीआ पूत संजोगु।
नारी देखि विगासी अहि नाले हरखु सु लोगु।

परन्तु जो गुरुमुख होता है, जिसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तरतर को महागुरु की ओर प्रवृत्त रखती है वह दिन-रात हरि रस का पान करता रहता है—

गुरुमुखि सबदि रंगावले अहनिसि हरिरसु भोगु॥

हरिरस—चरम प्राप्तव्य, समष्टि सत्य, अगजग-व्यापिनी मंगलेच्छा। यही व्यक्तिसत्य है, यही समष्टि-सत्य—जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे।

अन्यायी से भय न पाने वाला ही सच्चे अर्थों में निर्भय है, पर निर्भयता के साथ-ही-साथ निर्वैरता भी होनी चाहिए। नानक ने कहा था डरो मत और डराओ मत। निर्भय भी बनो और निरहंकार भी बनो और निर्वैर होना भी मत भूलो। इसलिए नहीं कि यही सफल जीवन-यात्रा की नीति है बल्कि इसलिए कि सत्यात्मा गुरु स्वयमेव ऐसा है और उसके

प्रेम पाने का यही मार्ग है। दूसरे मार्ग धोखा हैं। गुरु ने कहा दुखियों की सेवा करो, सब पर दया करो, इसलिए नहीं कि इससे समाज की व्यवस्था सुधरती है बल्कि इसलिए जो परमगुरु है उसका ऐसा ही स्वरूप है। गुरु ने कहा, अपने-आपको उलीचकर दे दो, जो कुछ है उसे महाग्रहीता को निछावर कर दो, इसलिए नहीं कि ऐसा करने से सामाजिक मंगल की साधना होती है, बल्कि इसलिए कि वह प्रभु स्वयं महादाता है, परमदेवणहारु है, उसका प्रेम इसी मार्ग से पाया जाता है। अपूर्व है यह तत्त्वज्ञान। यह वह भक्ति है जो सब-कुछ को छापकर सत्य का जयोद्‌घोष करती है।

इतिहास साक्षी है कि गुरु के इन उपदेशों ने सामाजिक क्रान्ति का द्वारा खोल दिया। वह प्रक्रिया जारी है। आज भी उसकी प्रभाविनी शक्ति कार्यरत है।

पाँच-सौ वर्ष बीत गए। भारतवर्ष के विशाल आकाश के नीचे न जाने कितनी घटनाएँ घटीं। धरती को न जाने कितनी बार रक्तस्नान से सिक्त होना पड़ा, अन्याय और शोषण ने न जाने कितने ताण्डव किए, पर कार्तिकी पूर्णिमा का चाँद अपनी स्निग्ध शामक शोभा उसी प्रकार बिखेरता जा रहा है, गुरु की पवित्र वाणी उतनी ही स्निग्ध ज्योति विकीर्ण कर रही है।

●

गुरु नानक देव : एक समसामयिक मूल्यांकन

अत्तर सिंह

पिछले वर्षों में सिक्ख-अध्ययन इतिहास के गुरु नानक से निष्ठा के गुरु नानक के विशेषीकरण की एक सम्भावना को आंकने की सीमा तक आगे बढ़ चुका है। इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु नानक के बहुमुखी भव्य व्यक्तित्व का कोई नया पहलू प्रकाश में आया है या ऐतिहासिक प्रमाणों के ज़रिये कोई ताज़ी क्रान्तिकारी खोज की गई है। वास्तव में ये अध्ययन भी उस कार्य को पूर्ण करने में सक्षम नहीं रहे हैं, जो उन्हें गहरी और उच्च श्रेणी की सार्थक शोध के लिए एक सुरक्षित आधार प्रदान करता। यहाँ तक कि ऐसा विशद ऐतिहासिक अध्ययन-कार्य अभी तक प्राप्य नहीं बनाया गया है जिसकी कि अपने कृत्यों के द्वारा गुरु नानक ने महत्त्वाकांक्षा की थी और जिन्हें प्राप्त किया था। हुआ यह है कि विद्वानों का एक नया सम्प्रदाय आ खड़ा हुआ है, जिनकी खोजें निष्ठा-परक उपदेशों तक ही समाप्त नहीं हो जातीं। गुरु नानक के कार्यों और जीवन के बहुत-से पहलू हैं और यह नयी विद्वत्ता एक ऐसी प्रक्रिया तैयार करने में लगी हुई है, जो कि भजनों की निष्ठा से टकराये बिना भी इनकी एक गहरी और उचित समझ प्राप्त कर सके।

सौभाग्यवश हमारे लिए एक प्रमुख और सर्वाधिक प्रामाणिक आधार, जिसके ऊपर गुरु नानक के व्यक्तित्व की पुनर्रचना सम्भव है, आदि ग्रन्थों में सम्मिलित उनका अपना कृतित्व है। 'जनम साखी' के रूप में जनपरिचित उनके जीवन की कहानियाँ मात्र ऊपरी ढाँचे की रेखाओं को प्राप्य बनाती हैं। यदि हम ऐतिहासिक प्रमाणों पर उनकी निर्भरता जैसी बहसों में न उलझें, तब भी, हम इस सचाई से नहीं बच सकते कि इन साखियों का गुरु नानक एक ऐतिहासिक घटना है, कि वह बाह्य परिस्थितियों में से होने वाले विकास में एक व्यक्तित्व के रूप में, एक अन्तर्मुखी तनाव के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। इन साखियों में हम गुरु नानक को अपनी परम्पराओं और अपने समय के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थानों को अस्वीकार करते हुए पाते हैं; अपने सगे स्नेहियों को छोड़ते, अपने माता-पिता, पत्नी और बच्चों को छोड़ते, सामन्त सरदार द्वारा सेवा के लिए मुकदमों का सामना करते, मानव के लिए कष्टों के सर्जक राजनीतिक उभारों का सामना करते, सत्य की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए और अपने दर्शन का प्रवचन करते हुए पाते हैं। और एक सम्पूर्ण जीवन से भी बड़े, इन अनुभवों के दौर से गुज़रते हुए गुरु नानक की एक ऐसी मूर्ति हमारे सम्मुख आती है जो लोगों के लिए भावुकता से सम्बद्ध होने से परे है। एक संवेदनशील आत्मा की सारी पीड़ाएँ, एक अन्वेषणशील मस्तिष्क की सारी समस्याएँ, एक जिज्ञासु चेतनता के सारे प्रश्न, और वस्तुतः ही इस मूर्ति में अस्तित्ववादी स्थिति के किसी भी मनोभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। इस बात को स्वीकार करने के लिए हमें स्वयं उनकी रचनाओं, और उनके प्रसिद्ध साथी भाई मरदाना द्वारा उनके गायन के लिए रचित रचनाओं से बहुत-कुछ उद्धृत करना पड़ेगा। यहाँ फिर हमारे सम्मुख वही कठिनाई उठ खड़ी होगी कि उनकी रचनाओं को किस दृष्टि से देखा जाय। और यही वस्तुतः गुरु नानक की गुत्थी को समझने के उद्यम की निर्णायक लड़ाई लड़ी जायगी और जीती जायगी।

गुरु नानक की कविताएँ पवित्र पाठ्य-पुस्तकें हैं। उनमें सिक्ख-आन्दोलन को चलाने वाला अमर दर्शन सुरक्षित है। इसके बावजूद इन कविताओं में कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान है, संगीत से इस तरह सन्तुलित हैं, कि इनके माध्यम से तात्कालिक सौन्दर्य-बोध हमारे सामने आता है। इन रचनाओं की धार्मिक प्रवृत्ति और व्यंग्यात्मक टोन के बीच, उनके उच्च नैतिक भक्ति-भाव और कलागत संरूप के बीच, मनुष्य अस्तित्व की विविधताओं पर दृष्टि रखने तथा उनकी बहुरूप-

दर्शी ऐन्द्रिय आकर्षणों के बीच, उनकी भविष्य के प्रति और वर्तमान सम्बद्धता के बीच, जो एक प्रकार का तनाव है, अन्तर्विरोध है, उसे गुरु नानक के युग में उनका विश्व से जो सम्पर्क हुआ उससे सम्बद्ध करना होगा। अधिकतर व्याख्याकार और प्रचारक उनकी उन्हीं कविताओं को चुनते हैं जो गुरु नानक के अतिमानवीय वास्तविकता में संलग्न व्यक्तित्व को ही प्रदर्शित करती हैं या जिनमें अपने युग की बुराइयों की आलोचना होती है। उन पंक्तियों और उद्धरणों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, जो इनकी खोज में व्यथा और उल्लास को प्रदर्शित करती हैं। हर समय गुरु नानक बाहरी दुनिया की ओर अपनी दृष्टि रखते हैं, और उस दुनिया की ओर जो पीछे है; वे अपने वस्तुगत या तात्विक ज्ञान का समाधान अपने अन्तर्मुखी दर्शन में या दृष्टि से करते हैं।

कलि कातो राजे कासाई
धर्म पंख करि उडरिआ
कूड अमावस सच चन्द्रमा
दीसै नाही कै चड़िया
हडं भालि विकुन्नो होई
अँधेरे राह न कोई

[समय एक चाकू के समान है और राजा कसांई है, नियम उड़ता हुआ पंख है; झूठों की गहरी अँधेरी रात में मैं सत्य के चन्द्रमा का उगना नहीं देख सकता; मैंने सब जगह तलाश लिया इस अँधियारी में कहीं रास्ता नहीं सूझता। अन्दर जो घमण्ड है न! वही दुःखों का मूल है। हे नानक! अब हम कल पर किस तरह जीवित रहेंगे?]

इन और ऐसे क्षणों में ही गुरु नानक की खोज वास्तविकता के साथ उनकी व्यक्तिगत और व्यक्तिकृत संम्बद्धता प्राप्त कर लेती है। यह सम्बद्धता एकदम प्रामाणिक और ईमानदार है। यह कहना पर्याप्त है कि जागरूकता के इस स्तर पर न केवल उनके समय के परम्परागत धार्मिक विश्वासों बल्कि उनकी अपनी ही भक्ति और निष्ठा पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। अपने चारों ओर के जीवन के रहस्यों और ईश्वरीय विधान के मध्यस्थ रहकर वे इस पहेली को समझते हैं।

जेते जीअ जीआं का तोहि
कित को साहिबु आवहि रोहि

[सभी जीव तुम्हारे हैं, तुम्हीं केवल उनके हो, फिर हे ईश्वर, यह क्रोध और दैव-दुर्विपाक क्यों?]

या—

एति मारि पई कुरलाणे
तैं को दरद न आया

[क्या तुझे मौत दिखाई नहीं देती? क्या तुझे यह रोना सुनाई नहीं पड़ता? क्या तेरा हृदय दुःख से नहीं भर जाता?]

गुरु नानक के व्यक्तित्व के इस पहलू की ओर आपका ध्यान आकर्षित करके मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनकी काव्य-दृष्टि की शुद्धता को उनके धार्मिक संदर्भों और उनकी कृतियों की कथन-शैली के अन्तर्गत ही समाहित नहीं किया जा सकता। और इस रूप में, इस विशिष्ट क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन निश्चित रूप से उनकी मानसिक और आत्मिक प्रतिपादन के अन्तर्विरोधों या तनावों को दुहरायेगा। साथ ही उनके भक्तिमय भजनों के साथ उनके सम्पूर्ण वातावरण को उजागर करने वाली सूक्तियाँ भी हैं। ये सूत्र केवल निष्ठा से नहीं बल्कि गहरे सामान्य ज्ञान से संतुलित यथार्थ की आलोचनापरक दृष्टि से पोषित हैं। गुरु नानक का चमत्कार, यदि व्याख्या इस प्रकार भी की जाये तो, एक नए धार्मिक अनुशासन के कायम करने में नहीं बल्कि धार्मिक निष्ठा और सजगता को सामाजिक परिवर्तन का हथियार बना देने में है। गुरु नानक का युग अधिकारवादी राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों का युग मध्य युग था। यह मध्ययुगीन विश्व नियम एक ओर तो परम्परा के आधिपत्य के प्रति श्रद्धा पर टिका था और दूसरे विधर्मी आचरण के लिए दी जाने वाली सजा के डर पर कायम था। मध्ययुगीन विश्व-नियम के ये दोनों ही पक्ष गुरु नानक द्वारा विवेचित हुए हैं। गुरु नानक मूलभूत अभिधारणा से शुरू करते हैं—

सोचै सोचि न होवई
जे सोची लख बारि
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि
भुखियां भुखि न उत्तरी
जे बन्नां पुरीआं भारि
सहस सिआणप लख होवहि
तां इक न चलै नालि

किव सचिआरा होईऔ
किव कूड़ तुटै पालि

[केवल चिंतन से ही वह नहीं जाना जा सकता चाहे लाख बार चिंतन करो; न मौन से वह जाना जा सकता है, विश्व का कोई धन उसके लिए भूख नहीं मिटा सकता; हज़ारों युक्तियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं; तब फिर सत्य को कैसे जाना जा सकता है? झूठे भ्रमों के नक़ाबों को कैसे दूर किया जा सकता है?]

वे सत्य, रहस्य, ध्यान, अर्जन आदि के विभिन्न रास्तों के नकार पर ही अपनी बात समाप्त नहीं करते। इसके विपरीत गुरु नानक अपनी समस्या को लिए चलते हैं और एक खोज को लेकर सामने आते हैं—

काल नाही जोग नाही नाही सति का ढब
थानिसट सब भृष्ट होय डूबता इव जग

[समय का कोई मूल्य नहीं है, योग, तप की कोई संगति नहीं है, नानक कहते हैं कि सत्य की खोज को भुला दिया गया है। ये वस्तुत: इस विश्व नियम रूपी रिसते जहाज़ के डूबने के चिह्न हैं, कि इसके सभी विश्वास और सभी संस्थान भ्रष्ट हो गए हैं।]

मानव की दृष्टि को धुँधला करने वाले इन सभी कारणों के विरुद्ध कठोर संघर्ष के माध्यम से गुरु नानक ने अपने समय के सभी संस्थानों के आधिपत्य को समाप्त करने का प्रयास किया है और मानव पर छाए उनके भय को दूर करने की कोशिश की है। उन्होंने यह न केवल इनको इन्हीं के आदर्शों के विरुद्ध बताकर किया है बल्कि इन संस्थानों के द्वारा मानव पर किये गए अत्याचारों का भण्डाफोड़ करके, उनके उद्भव और उनकी परिवर्तित प्रकृति को बताकर भी किया है। गुरु नानक ने शासकों के दुष्कर्मों पर ही प्रहार नहीं किया बल्कि उनकी असमर्थता का उद्घाटन करके, और इस प्रकार, मानव को ईश्वर और परिस्थितियों के विरुद्ध भी प्रदर्शित किया। इसी प्रकार उन्होंने न केवल धर्म-विधियों की व्यर्थता को बताया बल्कि धार्मिक ठेकेदार पुरोहितों के पूर्णतया स्वार्थी व्यवहार को भी खोलकर सामने रखा। इन दोनों ही क्षेत्रों में गुरु नानक के प्रयासों का लक्ष्य, अपने समय के संस्थानों को अपदस्थ करने, तथा उनके अतिमानवीय मुखौटों को उतारकर उनके असली मानवीय चरित्र को दिखाना था, जिससे कि आम आदमी उनकी चुनौतियों का मुकाबला करने में समर्थ हो सके। इस परिप्रेक्ष्य में गुरु नानक के व्यक्तित्व के प्रभाव पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने अपने अनुयायियों में अपनी दु:खद परिस्थितियों के प्रति आई उदासीनता को किस प्रकार तोड़ा और किस प्रकार उन्हें इतिहास की गति में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्साहित कर सके। उनके इस प्रयास का एक और प्रतीक यह भी है कि उन्होंने संस्कृत भाषा और उसकी साहित्यिक परम्परा का परित्याग करके जनभाषा को अपनाया और उसकी नृत्य विधाओं, गीतों को अपने काव्यगत उद्देश्यों का सहायक बनाकर क्लासिकल संगीत की पद्धति के आडम्बरहीन रूप में संस्कारित किया।

अत: हम अनुभव करते हैं कि गुरु नानक की भूमिका का मूल्यांकन उन्हें उनके अपने युग से सम्बद्ध करके ही हो सकता है। ऐसा करने के लिए एक अत्यन्त समृद्ध प्रलेखन की आवश्यकता है जिससे कि उनके वातावरण को पुनरुज्जीवित किया जा सके और देखा जा सके कि उस समय सामान्य व्यक्तियों की भौतिक स्थिति क्या थी और किन विशिष्ट भय और आशाओं, स्वप्नों और असंतोषों से वे अपना जीवन-यापन करते थे। इस विशालदर्शी नाटक में गुरु नानक की भूमिका को तभी सावधानी से विश्लेषित किया जा सकता है और उन्हें विभिन्न स्वायत्त श्रेणियों में रखकर देखा जा सकता है यथा, उनका व्यक्तित्व, उनकी निष्ठा, उनकी विचारणा और उनकी कविता; और तभी हम उनके सम्पूर्ण को एक अगत्यात्मक एकता के रूप में नहीं (जैसा कि अब तक उन्हें प्रस्तुत किया जाता रहा है) बल्कि एक गत्यात्मक अन्तर्विरोध, तनाव के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उनके प्रति हमारी श्रद्धा मार्ग का अन्त नहीं होनी चाहिए बल्कि प्रयाण का एक बिन्दु होनी चाहिए। केवल तभी हम उनके द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या में भागीदार हो सकते हैं—

किव सचआरा होईऐ ?

[तब सत्य को कैसे जाना जा सकता है ?]

बाज़ार में

रमेशचन्द्र शाह

मैं
अनुभूति कर रहा हूँ
रंग और रूप की
परिक्रमा करते हुए
इस
बृहदाकार
स्तूप की…
जहाँ भी जाता हूँ
खोजने
अपना
संसार
वहीं लगा मिलता है
पहले से
मुझको
बाज़ार
मैं
क्या चाहता हूँ
क्या खोजता हूँ
कहीं मेरा यह प्रश्न ही
बिकाऊ न रक्खा हो यहाँ
घबड़ा जाता हूँ

मैं
हर 'भाव' का
भाव पूछता हुआ
आगे
बढ़
जाता
हूँ।

मेरी जेब में
रस्ते से बीने हुए
पत्थर हैं
जिन्हें मैं
जिस किसी के झोले में
चुपके
रख देता हूँ
जब यह खेल भी
ख़त्म हो जाता है
मैं
जेब की सारी रेज़गारी
हवा में उछालकर
"राम नाम सत्त है" जोर से
चिल्लाता हूँ
और
खुश होता हूँ
कि सारे खरीदार
झोला-झंटा छोड़कर
लगे हैं…
बटोरने…

किसको ख़बर है यहाँ
कौन
कब
किसकी
अर्थी में कन्धा देकर
कैसे
कहाँ
गुम
हो गया! ●

मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता

विजय मोहन सिंह

पिछले दिनों साहित्य में अधिकांश परिवर्तन 'यथार्थ' के नाम पर हुए हैं, इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि 'यथार्थ' आज के साहित्य का सर्वाधिक व्यभिचारग्रस्त शब्द बन गया है। बीते हुए कुछ वर्षों में अनेक कहानीकारों ने—जिन्हें 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, 'यथार्थ' को 'वातावरण' से काटकर पेश किया। जबकि सच्चाई यह है कि केवल वातावरण से जुड़ा हुआ 'यथार्थ' ही यथार्थ हो सकता है—'भोगा हुआ यथार्थ' कहानी का अपने-आप में कोई गुण नहीं है, क्योंकि यह पूरा-का-पूरा तथाकथित 'भोगा हुआ यथार्थ', 'आत्मवंचना' (सेल्फ डिसेप्सन) का एक नमूना मात्र हो सकता है। आवश्यक है कि यह 'भोगा हुआ यथार्थ' (जो मात्र एक आत्मगत उद्घोषणा है) परिवेश-सम्पन्न हो। 'यथार्थ' की यही 'परिवेश-सम्पन्नता' उसे 'प्रामाणिक' बनाती है और 'भोगा हुआ यथार्थ' की सार्थकता केवल यही हो सकती है कि वह लेखक के 'आन्तरिक सत्य' का अंग बन चुका हो।

लगभग यही हाल 'यथार्थ' से जुड़े हुए दूसरे प्रचलित शब्द 'प्रामाणिकता' का हुआ है। 'प्रामाणिकता' की छीछालेदर आलोचकों ने कम कहानीकारों ने ज्यादा की, क्योंकि यह 'प्रामाणिकता' कहानीकारों के लिए लगभग उसी तरह की बैसाखी का काम करती रही जिस तरह 'परम्परा' और आधुनिकता' का सहारा लेकर साहित्य का एक हिस्सा घिसटता रहा है। 'प्रामाणिकता' को कभी 'भोगे हुए यथार्थ' से नत्थी कर बिल्ले की तरह लगाया गया और कभी छायावादी 'अनुभूति प्रवणता' से जोड़कर हर सांस का लेखा-जोखा रखने वाली 'प्रामाणिकता' बताया गया।

'यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर होने वाले इस 'व्यभिचार' ने केवल 'आलोचना' और विचार की दिशा को ही विकृत नहीं किया है बल्कि कहानी के पूरे स्वरूप को बेमानी और बाज़ारू बना दिया है। ऊपर जिस 'परिवेश-सम्पन्न यथार्थ' की चर्चा की गई है, दरअसल प्रामाणिकता का सीधा सम्बन्ध उसी से है, क्योंकि साहित्य में प्रामाणिकता का प्रश्न साहित्य की उस मौलिक अक्षमता का द्योतक है जिसे बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का साहित्यकार सहसा अनुभव करने लगा है अर्थात् साहित्य को साहित्य के रूप में सार्थक होने की अपेक्षा अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक और प्रामाणिक होना है अन्यथा यह बेजान और निकम्मा है। बीसवीं शती के साहित्यकार ने इस सत्य को अत्यन्त तीव्रता तथा व्यथा के साथ अनुभव किया कि सामान्यतः साहित्य का 'अच्छा' या बुरा' होना समाज के लिए कोई 'फ़र्क' नहीं पैदा करता। तमाम महत्त्वपूर्ण 'निर्णय' उससे अलग होकर ही लिए जाते हैं और साहित्यकार अपने को इस निर्णय-प्रक्रिया के 'बाहर' पाता है।

निरन्तर 'बाहर' होते जाने का यह बोध ही साहित्य में 'प्रामाणिकता' के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण बनाता है। साहित्यकार अपने समय के 'निर्णयों' में अधिक-से-अधिक कितना 'शामिल' हो सकता है, यह उसके साहित्य की 'प्रामाणिकता' की पहली शर्त है। इस रूप में 'प्रामाणिकता' निषेधात्मक आधुनिकता तथा सम्भावनाहीन अतीत के बीच एक सार्थक और धनात्मक खोज है। 'प्रामाणिकता' एक ओर परिवेश निरपेक्ष साहित्य की प्रतिक्रिया है तो दूसरी ओर परिवेश को बाह्य राजनीतिक स्तर तक सीमित करने वाले 'नारी-साहित्य' की प्रतिक्रिया भी है। 'प्रामाणिक' होने के क्रम में साहित्यकार साहित्य के विरुद्ध सारे षड्यंत्रों के बीच अपने को तथा अपने परिवेश को सार्थक बनाता है।

आज की हिन्दी कहानी 'यथार्थ' और प्रामाणिकता' से उत्पन्न होने वाली 'विडम्बना' से अपने को बचा नहीं पाई है और अपनी वर्तमान स्थिति में वह 'यथार्थ', 'प्रामाणिकता'

तथा इसी तरह के अनेक उत्सवघोषित शब्दों की व्याख्या बनकर जीने लगी है। अधिकांश कहानियाँ इसी कारण या तो 'मुद्राएँ' हैं या व्याख्या-स्थितियाँ मात्र।

इसलिए यह कहना झूठ नहीं होगा कि कहानियाँ या तो 'फार्मूलों' की भाषा अपना सकती हैं या 'स्लैंग्स' की। वर्तमान सन्दर्भ में यह एक विकल्पहीन स्थिति है और दो बुराइयों के बीच चुनाव करने की दुविधा तक ही पहुँचाती है। यह सही है कि 'स्लैंग्स' की भाषा, भाषा के अनुभवहीन सिद्धान्तों का आश्रय अभिव्यक्ति के लिए नहीं लेती—लेकिन 'स्लैंग्स' की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वे प्रायः इकहरी भाषा का निर्माण करते हैं और प्रायः उनकी सीमा एक वैयक्तिक 'मैनरिज़्म' के रूप में निर्धारित हो जाती है। लेकिन ज़िन्दगी का यथार्थ कभी इकहरा नहीं होता—रचनात्मकता हमेशा अन्तर्विरोधों की पकड़ में होती है। पर विडम्बना यह भी होती है कि आगे चलकर इन 'अन्तर्विरोधों' के भी 'फार्मूले' बन जाते हैं और भाषा फिर अपने इकहरेपन में टँगी रह जाती है। दरअसल भाषा हमेशा अनुभवों को 'धारणाओं' (कॉन्सेप्ट्स) में बदलती रहती है। भाषा द्वारा वस्तुओं के धारणाओं में बदलने के इस क्रम में धारणाएँ (कॉन्सेप्ट्स) 'अनुभव' से अलग होती जाती हैं और ताज़ा अनुभवों से अलग होते ही 'धारणाएँ' 'फारमूलों' में बदल जाती हैं। अतः अनुभवों को उनकी ताज़ा स्थिति में पकड़ने के लिए 'स्लैंग्स' का इस्तेमाल काफी दूर तक सहायक सिद्ध होता है।

इधर के कुछ कहानीकारों ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, गोविन्द मिश्र आदि में 'स्लैंग्स' के आधार पर भाषा गढ़ने का आग्रह दीख पड़ता है, लेकिन वहीं इन्हीं कहानीकारों में से कुछ की कहानियाँ पहले 'अनुभव' की धारणाओं में बदलती हैं फिर अपनी भाषा में उनका अनुवाद करने का प्रयास करती हैं। दूधनाथ सिंह की 'विकल्प'-३ में प्रकाशित कहानी 'सुखान्त' इसका उदाहरण है। कहानी में यथार्थ के सारे जीवित उपकरणों को लेकर एक अविश्वसनीय वातावरण रचा गया है जिसमें उन उपकरणों के बावजूद कहानीकार का सम्पर्क जीवित यथार्थ से टूट गया है और कहानीकार कहानी की अविश्वसनीयता में ही रस लेने लगता है, जबकि कहानी की यह 'अविश्वसनीयता' उसके 'यथार्थ' को अधिक तीव्र करने के लिए निर्मित होनी चाहिए थी। ठीक इसी के समानान्तर उसी अंक में प्रकाशित काशीनाथसिंह की कहानी 'सुबह का डर' में एक प्रचलित अमानवीयता का केन्द्र बनाकर परिवेश का 'इस्तेमाल' किया गया है और उसके बीच से एक विडम्बना को देखा गया है। काशीनाथ सिंह की कहानी में परिवेश का 'इस्तेमाल' है लेकिन उसका ध्यान दूधनाथ सिंह की तरह उस परिवेश में रस लेने की ओर नहीं है बल्कि उसकी अमानवीय परिणति की ओर है। इसी कारण जहाँ 'सुबह का डर' सपाटता की कीमत पर भी 'निच्छल' बनी रहती है वहीं 'सुखान्त' अतर्कित मुद्राओं में खो जाने वाली कहानी बन जाती है।

हिन्दी कहानियों में इधर विकसित होने वाले इस बारीक 'छल' को पकड़ना दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा है और 'भोगा हुआ यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर अनेक मुद्राजीवी कहानियाँ उत्सवघोषित बनी रही हैं। इस 'भ्रम' का एक सीधा और सामयिक कारण है: कहानीकार अपने परिवेशगत 'यथार्थ' को व्यक्त करने के क्रम में उस 'अलगाव' (यहाँ 'अलगाव' की व्याख्या अप्रासंगिक है) को भी व्यक्त करता है जो उसके और 'यथार्थ' के बीच आ जाता है। अतः कहानीकार के 'यथार्थ' में इस 'अलगाव' को भी शामिल समझना चाहिए। लेकिन यहीं कहानीकार उस विडम्बना का भी शिकार होता है जो कहानी तथा उसकी भाषा में 'मुद्राओं' को जन्म देती है, क्योंकि तभी यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि कहानीकार उस 'अलगाव' को व्यक्त कर रहा है या अपने और 'यथार्थ' के बीच के 'अन्तराल' को अपनी 'मुद्राओं' से भरने की कोशिश कर रहा है। पिछले दिनों लिखी गई अनेक कहानियों में 'अलगाव' के नाम पर केवल 'अलगाव की मुद्राओं' को व्यक्त किया गया है।

कहानी की भाषा में 'मुद्राओं' की सृष्टि एक ओर इस 'अलगाव' के नाम पर हुई तो दूसरी ओर 'प्रतिबद्धता' के नाम पर। 'प्रतिबद्धता' ने 'अलगाव' से कम मुद्राएँ कहानी की भाषा को नहीं प्रदान कीं। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि एक ही लेखक की भाषा में इस तथाकथित 'अलगाव' और 'प्रतिबद्धता' दोनों की मुद्राएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस 'अलगाव' तथा 'प्रतिबद्धता' के मुद्राधारी लेखकों की संख्या '६० के बाद की कहानियों में विशेष रूप से बढ़ी है, क्योंकि जहाँ '६० के बाद कहानियों में परिवर्तन की 'पहचान' उत्पन्न हुई वहीं उस 'पहचान' की रूढ़ियाँ भी उसी तेजी से बनीं। वैसे एक

स्तर पर कहानी की भाषा हमेशा से 'मुद्राओं' की भाषा रही है, क्योंकि कहीं-न-कहीं 'कहानी' की शुरुआत ही एक मौलिक 'छल' से होती है और मुद्राओं से घिरा हुआ यह कहानी का 'छल' क्रमशः कहानी का 'स्वभाव' बनता गया। कहानी-सम्बन्धी समस्त आन्दोलनों ने कहानी के इस 'छली स्वभाव' से ही अपने को मुक्त करने का प्रयास किया, लेकिन 'छल-मुक्ति' के इन आन्दोलनों ने कहानी को एक 'छल' से दूसरे 'छल' तक ही पहुँचाया और 'सामयिकता की रूढ़ियों' ने 'रूढ़ियों' की जगह ले ली।

मुद्राओं की इस भाषा की शुरुआत इस दौर में नए सिरे से हुई है—न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक तथा राजनैतिक स्तर पर भी यह पूरा-का-पूरा दौर मुद्राओं का दौर रहा है। हिन्दी कहानीकार ने मुद्राओं की भाषा में जीना आज़ादी के साथ उत्तराधिकार में पाया है। दरअसल इस दरम्यान कहानी में नए सिरे से उत्पन्न होने वाली मुद्राओं को कहानी की अपनी विशेष स्थिति के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है : लिखना शुरू करते ही आज के कहानीकार के सामने छपने की समस्या आती है और छपना शुरू होते ही वह पाता है कि वह 'बाज़ार' में खड़ा है—उसकी कहानी बाजार के लिए और बाजार के द्वारा लिखी जाती है। 'व्यावसायिकता' के द्वारा अगर कोई विधा सबसे अधिक 'भ्रष्ट' हुई है तो वह कहानी है। साहित्य की व्यावसायिकता को समझने वाले जानते हैं कि व्यावसायिकता 'विद्रोह' की भी होती है और जब 'विद्रोह' व्यापार बन जाता है तो कहानीकार रूढ़ियाँ तोड़ने के बजाय रूढ़ियां तोड़ने की मुद्राएँ धारण करने लगता है। पिछले दिनों 'धर्मयुग' जैसी व्यावसायिक पत्रिकाओं में विद्रोह, विघटन और अलगाव व्यक्त करने वाली अनेक कहानियाँ सम्पादकीय टिप्पणियों के साथ छापी गई हैं जिनमें दावा किया गया है कि वे छद्म यथार्थ का पर्दाफाश करने वाली कहानियाँ हैं जबकि वे मूलतः अलगाव, विघटन आदि का व्यापार करने वाली मुद्राधारी कहानियाँ हैं। यह अकारण नहीं है कि तमाम असुविधाओं तथा आंतरिक असंगतियों के बावजूद पिछले दिनों की सही अर्थों में महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छोटी पत्रिकाओं द्वारा ही प्रकाशित की गई हैं। इस सन्दर्भ में 'कथा'-१ में प्रकाशित ज्ञानरंजन की कहानी 'घंटा' का उल्लेख किया जा सकता है 'घंटा' में 'स्लैंग' की भाषा का तिलमिला देने वाला इस्तेमाल तो मिलता ही है, साथ ही सुविधा तथा स्वतंत्रता के बीच खड़े कहानीकार के ठेठ रूप को भी वह कहानी बड़ी बेबाकी के साथ पेश करती है। नितान्त व्यक्तिगत धरातल पर घटित होती हुई भी यह कहानी पूरी तरह सम्पृक्त रचना है जो सुविधा की तरफ ललचाई निगाह की हास्यास्पद विसंगति को परत-दर-परत खोल देती है। यह कहानी इसलिए भी उल्लेख्य है कि एक निगाह में वह पूरी तरह मुद्राओं की भाषा का उदाहरण पेश करती हुई नज़र आती है लेकिन ग़ौर करने पर इस भाषा की ढकोसलेबाज़ी 'मुद्राओं' की पोल खोलने के लिए विशेष रूप से निर्मित लगती है। वस्तुतः यह कहानी आज की कहानी की मुद्राओं की कहानी कहती है और इस रूप में लगातार तिलमिला देने वाले आघातों से भरपूर बनी रहती है।

मुद्राओं की भाषा में लिखी गई उत्सवघोषित कहानियों से अलग लेकिन उनके ठीक समानान्तर ही उन कहानियों की भाषा भी विकसित होती रही है जो प्रायः बिल्लों की ओट में नहीं लिखी गई है। रामकुमार, रामनारायण शुक्ल और अशोक सेकसरिया की कहानियों की भाषा ऐसी ही रही है जो कदम-कदम पर मुहावरे गढ़ती कहानियों की तुलना में ठंडी और बेअसर समझकर अनदेखी जाती रही है। शोर मचाने वाली बिल्लेदार कहानियों के प्रति शीघ्र ध्यान जाने की क्रिया के पीछे हिन्दी कहानी का एक निश्चित ऐतिहासिक सन्दर्भ भी रहा है : हिन्दी कहानी का पाठक प्रारम्भ से ही बँगला कहानी का पाठक रहा है और काफी दिनों तक उसे आधुनिकता भी बँगला आधुनिकता के रूप में ही प्राप्त होती रही है। 'दुलाईवाली' बंग महिला तथा 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' की बंगाली भावुकता काफी दूर तक हिन्दी के कहानी पाठक का संस्कार बनी रही है। इसी कारण छलहीन सच्चाई व्यक्त करने वाली कहानियाँ ठंडेपन तथा बेअसरी का पर्याय मानी जाती रही हैं और स्थितियों को भावुकता की चिकनाई के साथ बेलकर बढ़ाई गई व्याख्यात्मक कहानियाँ रचनात्मक प्रभावात्मकता की कसौटी मानकर उदाहरण बनाई जाती रहीं। किसी-न-किसी रूप में कहानी को पसन्द करने की यह संस्कारबद्ध परम्परा हिन्दी की हर नई-से-नई कहानी के साथ जुड़ी रही है। इसी कारण यदि पिछले वर्षों की कुछ चर्चित कहानियों को एकत्र कर देखा जाय तो पता चलेगा कि रूढ़ियों से मुक्त होने के तमाम दावों के बावजद

उनमें से अधिकांश कहानियों में सँवारे हुए आरम्भ, अन्त और भाषा में प्रयत्नपूर्वक ध्वनित होने वाले गुण मिलेंगे। जिन कहानियों ने अनायास आरम्भ, अन्त, चरम स्थिति की रूढ़ियों तथा भाषा के चमत्कारपूर्ण छलों को छोड़ा वे प्रायः 'राजमार्ग' से परे रखी गईं। इसका मुख्य कारण यह था कि यह 'चुनाव' हमेशा अतीत रुचि के सम्पन्न पाठकों और आलोचकों के द्वारा ही किया गया तथा आमतौर पर उसे स्वीकृत मानकर उन कहानियों के स्थान नियत कर दिये गए।

निश्चित रूप से यह सब 'ऐयाश प्रेतों का विद्रोह' या कोई सुनियोजित षड्यंत्र नहीं था बल्कि 'मोहभंग' के नाम पर एक 'भ्रम' की निरन्तरता थी जो किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। भाषा के स्तर पर इस 'छल' को पकड़ पाना आसान नहीं है, बल्कि एक अलग भ्रम की शुरुआत करने वाला भी सिद्ध हो सकता है, लेकिन इतिहास का एक छोटा-सा अंतराल भाषा के स्तर पर ही इस 'भ्रम' को काफी दूर तक तोड़ता चला जाएगा। यह आश्चर्य नहीं कि यह प्रक्रिया एक सीमा तक शुरू भी हो चुकी है और जिसने 'भोगा हुआ यथार्थ', 'प्रामाणिकता' तथा ऐसे अनेक मुहावरों के साथ आने वाली स्वीकृत कहानियों को सहसा उघाड़कर रख दिया है।

यही कारण है कि यह अपेक्षाकृत 'मद्धिम' कहानियों का दौर है जो सीधे-सीधे बिना किसी दावे के साथ जिन्दगी में उतरती और 'इतिहास की प्रौढ़ता' के साथ अपने को संयुक्त कर लेती हैं। 'इतिहास की प्रौढ़ता' को कहानी के सन्दर्भ में समझने के लिए 'घंटा' कहानी का एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा : **"मैंने ग़ौर किया कि पहले से स्थिति बेहतर अवश्य हुई है। पहले मैं केवल मुस्कुराता था। जैसे संसार एक चूतियापा है और मैं उसे समझ गया हूँ। हालत यहाँ तक पहुँची कि इस मुस्कुराहट के कारण मैं घोंघा समझा जाने लगा था। इस शाकाहारी मुस्कुराहट से सत्ता का तो कुछ बिगड़ता नहीं। दमदार मुस्कुराहट तो राजा की होती है, महंत की होती है, औरत की होती है और खतरों से मुक्त जिनका चमन है उनकी होती है। मुस्कुराहट गई तो अब उल्टी आने लगी है। तोड़-फोड़ मचने लगी है। भरपूर तरीके से ऐसा ही होता रहे, यह भी आसान नहीं है क्योंकि लोकतंत्र का रोमांस और नागरिक भावना को पता नहीं कब अन्दर ऐसा कचर दिया गया है कि तोड़-फोड़ तो दरकिनार हो जाते हैं बस बचा रह जाता है एक कुनकुना बुदबुद।"**

'घंटा' कहानी के पूरे स्वर के बावजूद ऊपर का उदाहरण केवल व्यंग्य नहीं है बल्कि अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक होने की 'ऐतिहासिक प्रौढ़ता' से जुड़ा हुआ है। उसे सपाट या आरोपित 'वक्तव्य' भी नहीं कह सकते क्योंकि कहानी की भीतरी स्थितियों में बहता हुआ यह 'वक्तव्य' अचानक फूट पड़ता है। यह बोध विकास का बौनापन ही कहा जायगा कि एक हद तक ज्ञानरंजन जो काम 'स्लैंग्स' के सहारे कर लेते हैं वही काम चमत्कारहीन विच्छलता से करने वाले कहानीकारों को कभी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। मसलन पत्नी के अत्याचारों से पीड़ित अथवा प्रेमिका की विमुखता से व्यथित नायकों का जो सत्कार कहानियों में आज तक किया जाता रहा है वह आश्चर्यजनक है लेकिन जो कहानियां मध्यमवर्गीय विवशताओं तथा विसंगतियों को प्रौढ़ता के साथ बिना किसी उच्छल उत्तेजना के पेश करती रही हैं उन्हें एक सिरे से चर्चा के बाहर रखा गया। रामनारायण शुक्ल, अशोक सेकसरिया और एक हद तक कामतानाथ की कहानियों के साथ प्रायः यही होता रहा है। एक अस्वाभाविक उत्तेजना का अभाव संवेदना की प्रौढ़ता का द्योतक होता है और यदि कहानी को आवश्यक रूप से उस अस्वाभाविक उत्तेजना से जोड़कर ही देखने की प्रक्रिया चलती रही तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि कहानी मौलिक रूप से अपनी विधा की सार्थकता केवल किशोर विचारों को वहन करके ही प्रमाणित कर सकती है और इस रूप में यह 'विधा' क्रमशः प्रौढ़ जगत् के लिए अनुपयुक्त तथा अनावश्यक होती जायगी। हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में इस समस्या पर नये सिरे से सोचना चाहिए क्योंकि वह या तो मुद्राओं की भाषा में 'प्रौढ़ता' का दम भर रही है या प्रौढ़ों को रिझाने वाली अपनी मौलिक 'तुतलाहट' को भी बरकरार रखती जा रही है। एक तरह से यह कहानी के समझने-बूझने की समस्या भी है जो इस दरम्यान बहिष्कृत रखी जाने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता से भी जुड़ी हुई है।

मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ (१)

इतिहास : संयोग और सार्थकता

सुरेन्द्र चौधरी

पिछले तीस वर्षों में इतिहास के भीतर जो परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों से जिस अनुपात में हमारा चिंतन और जीवन प्रभावित हुआ है उसके प्रकाश में अगर मार्क्सवाद के सम्मुख कुछ नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रश्न यह है कि ये नई समस्याएँ कहाँ तक मार्क्सवाद के लिए वास्तविक चुनौती बनती हैं और कहाँ तक कोरे विरोध के रूप में कुछ समय-सम्बन्धी प्रपंच खड़े किए गए हैं। बूर्ज्वा दुनिया जिस आत्यंतिक संकट और आत्म-विघटन से होकर गुज़र रही है, उसके भीतर यह आवश्यक है कि आत्मरक्षा के लिए वह चेष्टापन्न हो। इस चेष्टा का विस्तार ही मार्क्सवाद के विरोध को जन्म देता है। वैसे पूंजीवादी दुनिया में कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो पूरी ईमानदारी से अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, मगर प्रचलित बूर्ज्वा विचारधाराओं को भीतर अपनी संगति नहीं बैठा पाने के कारण जिन्हें उस विरासत का सही अन्दाज़ नहीं है, जो उन्हें मिलती है। वे मार्क्सवाद का कोरे सैद्धांतिक स्तर पर विरोध करते हैं। वस्तुतः दर्शन उनके लिए वस्तुओं के सत्य के रूप में महत्त्व न रखकर विचार का सत्य बन जाता है। हम विस्तार से इन स्थितियों पर विचार करेंगे। अभी यहाँ इतना ही कहूँ कि जिन दो भिन्न स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध किया जाता रहा है उनके स्रोत उस समाज में ही हैं जो एक व्यवस्था के विघटन के भीतर स्वयं भी आहत है।

आज से लगभग आठ-नौ वर्ष पहले सार्त्र ने 'युग के दर्शन' के रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार कर तथा अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद की विचारधारा मानकर संपूर्ण पूंजीवादी (बूर्ज्वा) विचारधाराओं की नींव पर ही जैसे चोट की थी। इस धक्के को बूर्ज्वा विचारधाराएँ सह नहीं सकीं जिसका परिणाम समस्त पूंजीवादी देशों में युवा पीढ़ी के आन्दोलनों में देखा जा सकता है। मगर इससे विचारधाराओं की बाहरी स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर से अब भी ये मार्क्सवाद का विरोध उसी ज़ोर से कर रही हैं। प्रस्तुत लेखमाला में मेरा उद्देश्य **समस्त बूर्ज्वा विचारधाराओं का विवेचन करना नहीं है**। मैंने अपने विवेचन को **उन मौलिक स्तरों तक सीमित कर दिया है** जहाँ मार्क्सवाद और बूर्ज्वा विचारधाराओं की टकराहट समकालीन मानस को प्रभावित करती है या **प्रभावित कर सकती है**। इसीलिए दर्शन के कोरे सैद्धांतिक सवालों पर मैंने अनावश्यक चर्चा नहीं की है। वह बहस हमें उस विस्तार में ले जाती जहाँ हमारा मूल उद्देश्य पीछे छूट जाता है।

मार्क्सवाद विरोधी बूर्ज्वा विचारधाराओं से समय-समय पर हमें टकराने की आवश्यकता न होती अगर उनसे कुछ '**ज्ञानात्मक निष्कर्ष निकाले न जाते** और उन्हें मार्क्सवाद-विरोध का एक घिनौना हथियार न बनाया जाता। मुश्किल यह है कि बूर्ज्वा विचारधाराएँ इन्हीं दो स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध करती पाई जाती हैं। इस लेखमाला में मैंने उन ज्ञानात्मक निष्कर्षों को पहचानने की कोशिश की है जिन्हें हमारे विरोधियों ने अपने मौलिक विवेचन में उपलब्ध किया है और जिनके आधार पर वे दावा करते हैं कि मार्क्सवाद को अन्तिम रूप से उन्होंने ध्वस्त कर दिया है। हम जानते हैं कि पिछले सवासौ वर्षों के इतिहास में मार्क्सवाद को हर दशक में इसी तरह बूर्ज्वा विचारधाराएँ अंतिम रूप से ध्वंस करती रही हैं और फिर भी वे नए सिरे से उसे ध्वंस करने की आवश्यकता भी महसूस करती रही हैं।

पिछले समय में मार्क्सवाद का विरोध कुछ तथाकथित भौतिकीविदों और गणितज्ञों ने किया था। माख इसी तरह के भौतिकीविद थे। मगर इधर तीस वर्षों के भीतर मार्क्सवाद का विरोध विज्ञान की ओर से उतना नहीं हुआ है जितना ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में हुआ है। **यह भी एक विशेष स्थिति**

है जिसके भीतर हमारी परिचर्या सीमित होती है। विज्ञान की तुलना में 'ज्ञानात्मक क्षेत्रों' में निष्कर्ष निकालने की छूट होती है। संभवतः इसीलिए जितने ज्ञानात्मक निष्कर्ष आज निकाले गए हैं, उतने शायद पूरे मार्क्सवाद-विरोध के इतिहास में नहीं मिलेंगे। फिर भी ये **ज्ञानात्मक निष्कर्ष** अपने **स्वरूप में एक नहीं हैं और न उनकी संगति की कोई सामान्य जमीन** ही है। इसीलिए आज जब हम बूर्ज्वा विचारधाराओं पर विचार करने लगते हैं तो सबसे पहली समस्या उस अनिश्चित विस्तार की होती है जिससे हमें साक्षात्कार करना है। स्पष्ट है कि इस अनिश्चित विस्तार से टकराने की कोई सार्थकता नहीं है। अधिक-से-अधिक हम इन ज्ञानात्मक निष्कर्षों के उन मौलिक आधारों पर विचार कर सकते हैं जिनका संबंध **'विधि की परिकल्पना'**, 'वास्तविकता और संभावना', 'अनिवार्यता और आकस्मिकता', 'इतिहास और स्वतंत्रता' आदि से है। इसका दूसरा पक्ष अधिक ठोस और ज्ञान क्षेत्र से बनता है। इस पक्ष में **'आधार और अधिस्थापत्य'** से संबद्ध विषयों-विचारों पर हमने विस्तार से लिखा है। मुख्यतः वर्ग-संघर्ष पर इसका अन्तिम पक्ष उस **भाववादी सौन्दर्यशास्त्र** का है जिससे आज अधिकांश रचनात्मक चिंताधाराएँ प्रभावित हैं।

इस प्रकार मैंने मार्क्सवाद के 'भौतिक दर्शन', 'समाज-दर्शन' और 'सौन्दर्य-शास्त्र' के संदर्भ में समस्त बूर्ज्वा विचार-धाराओं की टकराहटों को समेटने की चेष्टा की है। स्पष्ट है कि **बूर्ज्वा विचारधाराओं के अनिश्चित विस्तार के सम्मुख मेरी जानकारी की सीमाएँ** हैं और मैं अपनी सीमाओं के प्रति सहज सजग हूँ। मगर प्रश्न उस अनिश्चित विस्तार से अधिक 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' को है जिन्हें आज के वैचारिक व्यावहारिक संदर्भ में मैं विचारणीय मानता हूँ। इसीलिए अपनी सीमाओं के बावजूद मैंने यह साहस किया है। विषय की प्रस्तावना में मुझे अपनी ओर से दो-चार बातें मुख्यतः करनी हैं। पहली और मुख्य बात जो किसी दर्शन-पद्धति के सम्बन्ध में की जाती है वह कल्पित समग्रता की जमीन से की जाती है। यह 'कल्पित समग्रता' मूलतः हमारे मानसिक संयोजन का अंग होती है और आवश्यक नहीं है कि उसके भीतर ढूँढे गए कारणों को वस्तु-प्रक्रिया से संगत माना ही जाए। मूल समस्या वस्तुतः यहीं से उत्पन्न भी होती है। मार्क्सवाद के आलोचकों ने सामान्य रूप से द्वंद्ववाद की सीमा का निर्देश करते हुए यह कहा है कि 'इसके (मार्क्सवाद) भीतर की अधिकांश दार्शनिक अनिश्चितताओं के मूल में **बौद्धिक द्वन्द्ववाद** और **कारणत्वमूलक अनिवार्यता** के बीच निरंतर बदलाव है।'[1]

लेनिन के समय से जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों में आया है उसकी ओर मैं ध्यान खींचना चाहूँगा। स्पष्टतः पिछले तीस वर्षों में मार्क्सवाद विरोधी मुद्दे में एक स्थानांतरण लक्षित किया जा सकता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में मार्क्सवाद-विरोधी जो अभियान शुरू हुआ था उसमें **मार्क्सवादी पद्धति की आलोचना पर उतना बल नहीं था।** उसका विरोध सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिंतन के रूप से था, अर्थात् भूत-द्रव, भौतिक संयोजन, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के स्वरूप, मूल तत्त्व को आधिभौतिकता आदि को लेकर यह संघर्ष प्रारम्भ हुआ था। भाख और ऐवेनेटियस जैसे विचारकों ने मार्क्सवाद पर जो आघात किया था उसका मूलपक्ष यही था। वैसे **विस्तार और व्यावहारिक पक्षों** पर भी वे आक्षेप करते थे। किन्तु बीसवीं सदी के मध्य में आकर यह आलोचना **पद्धतियों पर आकर ठहर गई।** निश्चित रूप से आज की मार्क्सवाद विरोधी विचारधाराएँ पद्धति, व्यवहार और ऐतिहासिकता, अनिवार्यता आदि के प्रश्न से ज़्यादा लगाव रखती हैं। आज 'आत्मा' या चेतना की आद्यरूपता पर बहस नहीं की जाती और न इस ज़मीन से मार्क्सवाद की आलोचना की जाती है। मार्क्सवाद-विरोधी आलोचना का यह रूपांतरण अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसके साथ ही साथ **मनोगत विचार और वस्तुगत जगत् के एकात्म** को लेकर पुरानी बहसें नए अन्दाज़ में की जाने लगी हैं। विश्व-रेखांकन, प्राकृतिक दर्शन, द्वन्द्ववाद पर की जानेवाली बहसें अब द्वन्द्ववाद के 'गणितीय विरोध' पर आकर केन्द्रित हो गई हैं।

इनकी तुलना में इतिहास के केन्द्र में द्वन्द्ववाद ने कुछ आकस्मिक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे पैदा किए हैं। इसी तरह वर्ग-संघर्ष और विकास की धारणा को भी कई दृष्टियों से आज परीक्षणीय बनाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम एक मार्क्सवाद-विरोधी विद्वान् का एक उद्धरण यहाँ देना चाहेंगे।

१. रेमोंद ऐरों—'दि फ़िलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबन्ध। 'फ़िलासफिकल थॉट इन फ्रांस एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स' (१९५०)।

उन्होंने लिखा है—"इस सबमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि ऐतिहासिक परिवर्तन के मार्क्सवादी सिद्धांत की कभी निर्णायक रूप में आलोचना हुई ही नहीं। उसकी विजय इसलिए होती रही कि उसके विरोधियों ने उसकी असंगतियों और आत्म-विरोधों को कभी उद्घाटित ही नहीं किया।"[1]

मार्क्सवाद-विरोधियों का यह नया अभियान सम्भवत: इसीलिए इतिहास के क्षेत्र में आज अधिक रुचि लेने लग गया है। तनिक विस्तार में यहाँ इस पूरे आलोचना-क्षेत्र को हम देखें। फोन माइज़ेज के अनुसार ही अब तक मार्क्सवाद के 'ऐतिहासिक परिवर्तन' सम्बन्धी वर्गवादी सिद्धान्त का निर्णयात्मक विश्लेषण और आलोचना न होने का कारण भी हम समझें। और साथ-साथ इस निर्णयात्मक विश्लेषण से उन्होंने जो 'ज्ञानात्मक निष्कर्ष' निकाले हैं उन्हें भी हम यहाँ बहुत संक्षेप में देख लें।

उनका कथन है कि मार्क्सवाद-विरोधियों की समझदारी की मौलिक चूक उसी बात से स्पष्ट है कि वे मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और फ्रायड के 'चित्तविश्लेषण' या मनोविश्लेषण को जोड़कर देखते हैं जबकि ये नितान्त परस्पर-विरोधी धारणाएँ हैं। फिर कैथोलिक दर्शनों के उस व्यावहारिक रुझान को वे कोसते हैं जिसमें मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण को आत्मसात् करने की चेष्टाएँ की जा रही हैं।[2] अब हम उनके 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' पर ध्यान देंगे। अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' के चौदहवें अध्याय में उन्होंने उन 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' की व्याख्या की है जिन्हें यह सम्पूर्ण विवेचन उपलब्ध करता है। उनके अनुसार प्राकृतिक विज्ञानों में सम्भाव्य घटनाओं की भविष्यवाणी के दो आधार हैं—एक सामान्य और दूसरा सांख्यिकीय (Statistical)। मगर ये दोनों ही विधियाँ सत्यापक (Apodictic) नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि ये अनुभव पर आधारित हैं। अनुभव केवल अतीत या अतीत का होता है। भविष्यत् घटनाओं की भविष्यवाणी के लिए इन अनुभवों का उपयोग तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि पदार्थों (वस्तुओं) के संक्रमण में और शृंखला में कोई अपरिवर्तनीय, आत्मिक एकरूपता है, **अर्थात् सरल और विस्तारसूचक आगमन** (Ampliative induction) **प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञानात्मक आधार है।**[1] इस आगमनात्मक विधि का प्रयोग इतिहास अर्थात् मानवीय कर्मों के क्षेत्र के लिए उसी रूप में नहीं किया जा सकता।

1. फोन माइज़ेज, 'थियरी एण्ड हिस्टरी', पृ० १५२ (१६५८-लन्दन)।
2. उपरिवत्, पृ० १५२-१५३।

इसी प्रकार मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन के दूसरे विरोधी विद्वान का कथन है कि "इतिहास दर्शन के भीतर इतिहास का दैवीकरण अनिवार्यतः परिवर्तन और क्रान्ति का अबौद्धिक (हेतु) जस्टिफ़िकेशन बन जाता है। इतिहास के इसी दैवीकरण ने मार्क्सवादी दार्शनिक लूकाच को बोल्शेविक क्रान्ति के अबौद्धिक दैवीकरण के लिए बाध्य किया।"[2] एक तीसरे आलोचक के अनुसार इतिहास-चिंतन में अनिवार्य रूप से सभ्यताओं के मार्क्सवादी नियम की सैद्धान्तिक बहस बन्द हो गई है।[3] मार्क्सवादी ऐतिहासिक सिद्धान्त पर की जाने वाली इन बहसों पर यहाँ विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। यहाँ केवल उनकी दिशाएँ ही मैंने निर्धारित-इंगित की हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को कुछ लोग प्रारम्भ से ही अपूर्ण और साधारण मानकर खारिज करने की चेष्टा करते रहे हैं। सम्भवत: सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र इतिहास-दर्शन के समानांतर का क्षेत्र है जिसमें बूर्ज्वा विचारधाराएँ नये आवेश से मार्क्सवाद से टकराती मालूम पड़ती हैं। प्रस्तुत अंश में हमने विस्तार से इन बूर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में हम एक फ्रेंच विद्वान का महत्त्वपूर्ण वक्तव्य संक्षेप में उद्धृत करना चाहेंगे। उन्होंने लिखा है—

"युग की केन्द्रीय समस्या जिस अनेकार्थी धारणा में मूर्त हुई वह मानवीय परिस्थिति ही थी।"

इसी मानवीय परिस्थिति के सन्दर्भ में हमारा सौन्दर्यशास्त्र एक नए भावात्मक संकट से गुज़र रहा है। ऐसी स्थिति में इस मानवीय परिस्थिति की मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी धारणाओं पर विचार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। यह क्षेत्र तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र नहीं है। मगर इतिहास और समाजदर्शन का क्षेत्र तो यह है ही—मानवीय भाव-संपदाओं को इनसे अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स-

१. उपरिवत्, पृ० ३०३।
२. प्रोसिडिंग्स—११वीं अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद्—जैकोब तौबे का 'एपाथियॉमिस ऑव हिस्टरी' शीर्षक निबंध।
३. इतिहासचक्र, डॉ० लोहिया, पृ० २८ (हिन्दी अनुवाद, १६६८)।

वाद के समानान्तर चलने वाली और मार्क्सवाद के समीप आने वाली धारणाएँ प्रसंगात् यहाँ चर्चा का विषय नहीं बनाई गई हैं। उन पर पूरी गम्भीरता से विचार किया गया है। इस प्रकार यह लेखमाला एक व्यापक और सर्वांगीण उद्देश्य को ध्यान में रख कर लिखी गई है।

सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं को लेकर जो विचारणाएँ प्रकाश में आई हैं वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। शब्दावली और विषय-स्वरूप के परिवर्तनों के बावजूद सौन्दर्यशास्त्र के भीतर मौलिक रूप से चलने वाला संघर्ष ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। यानी संघर्ष की वस्तु (Content) लगभग वही है। संघर्ष का क्षेत्र ज़रूर कहीं बढ़ा है और कहीं घटा है। जिन मौलिक निष्कर्षों की ओर यह सम्पूर्ण लड़ाई इंगित करती है, वही हमारी परीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। अलग-अलग सिद्धान्तों के रूप में देखना न तो सम्भव था और न उपादेय ही। इसलिए हमने सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके निष्कर्षों को महत्त्वपूर्ण समझकर उनकी परीक्षा की है।

आशा है, विचारधाराओं की टकराहट में यह लेखमाला कुछ नए क्षेत्रों को उद्घाटित करने में सहायक होगी।

इतिहास का क्षेत्र अकेला नहीं है जहाँ उसके उद्देश्य के प्रश्न पर मतभेद है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में ऐसे विवाद आज चल रहे हैं या चलाए जा रहे हैं। सत्य की खोज बराबर हमें इसी तरह कहीं-न-कहीं ले जाकर छोड़ आया करती है जहाँ हम उसके संघटन को या तो पहचान लेने का दावा करते हैं या फिर उसे अज्ञेय मानकर संयोग अथवा नियति के हवाले कर देते हैं। **हेगेल तक आकर इतिहास की समस्या विश्वात्म अथवा आत्मचेतना में इतिहास के अन्तर्भाव की हो गई थी।** संपूर्ण जर्मन विचारधारा का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने इस अन्तर्मुक्त इतिहासवाद का विरोध किया।[1]

कुछ लोगों का विचार है कि इतिहास विज्ञान की तरह सत्य के संगठन और स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता, इतिहास की कोई धारणा इतनी पूर्ण और वस्तुगत हो ही नहीं सकती। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या विज्ञान तथ्यों के संघटन से सत्य की धारणा तैयार करता है या वस्तुतः सत्य के संगठन से साक्षात्कार करता है? खैर, विज्ञान

१. कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक ऐंगेल्स—'जर्मन आइडियालॉजी', पृ० ३९-५५ (अंग्रेज़ी संस्करण, मास्को)

के सत्य सम्बन्धी ज्ञानात्मक दावे पर यहाँ बहस नहीं करूँगा। सवाल को इतिहास तक सीमित रखूँगा। समकालीन बूर्ज्वा विचारधारा इस प्रश्न पर आत्मविभाजित मालूम पड़ती है कि इतिहास के कारणत्व की व्याख्या किस रूप में संभव है। इस सवाल को जर्मन विचारक फ़ोन माइज़ेज ने अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' में इस तरह सामने रखा है[1]—

"ज्ञानात्मक रूप से प्रकृति की विशिष्टता इस बात में देखी जाती है कि उसमें तथ्यों के उत्पादन और क्रम में एक अनिवार्य और निश्चयात्मक स्थायित्व है। दूसरी ओर जिसे हम मानवीय क्षेत्र या इतिहास कहते हैं, उसमें ऐसा कोई निश्चयात्मक और स्थायी क्रम नहीं मिलेगा।"

अपने इस निष्कर्ष को इतिहास-ज्ञान की विधि में तत्काल बदलकर वे कहते हैं[2]—"मरणशील मनुष्य नहीं जानता कि यह जगत् और वह सब जो इसमें समाहित है—किसी अपर ज्ञानशक्ति को किस रूप में ज्ञेय होगा। संभवतः ऐसा उदात्त मानस जगत् के समस्त तथ्यों की संगत, व्यापक और एकात्मक व्याख्या कर सकता। किन्तु मनुष्य—अद्यावधि—हमेशा इन किनारों के आरपार पुल बनाने में बुरी तरह असमर्थ रहा है।"

इस प्रकार बूर्ज्वा विचारधाराएँ इतिहास-विधि को एकात्मक और समाहारक मानने से इनकार करती हैं और एक द्वैत उत्पन्न करती हैं। इस द्वैत के पक्ष में उनका कहना है कि "इस विधि के द्वारा 'सार' (Essences) और आधिभौतिक संयोजन के विरोध को मिटा देना संभव है।"

सार और संयोजन के इस द्वैत ने कोई नया सवाल सामने ला खड़ा किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। मुझे तो ऐसा लगता है जैसे किसी समय में लगभग तय हो गए प्रश्न को नए सिरे से उठाया जा रहा है। समस्त भाववादी इतिहास धारणाएँ जहाँ तक पहुँच चुकी थीं, वहाँ से यह नई धारणा आगे नहीं बढ़ी मालूम पड़ती। प्रश्न यह है कि बूर्ज्वा चिन्तन के क्षेत्र में यह सवाल बार-बार क्यों पैदा किया जाता है और इस नियति की शत-शत व्याख्याएँ क्यों अनिवार्य हो जाती

१. फोन माइज़ेज—'थियरी एण्ड हिस्ट्री', भूमिका—पृ० ४, (लंदन)।
२. उपरिवत्।

है। ऊपर से तो ऐसा ही लगता है कि समकालीन चिन्तन इन सवालों को उठाने के लिए विवश है कि अनुभव उसे नए सिरे से उन सवालों से जोड़ रहा है। मगर उससे ज्यादा अनिवार्य और विवशकारी कारण संभवत: यह है कि **मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन का विरोध करना बूर्ज्वा दुनिया के लिए नए सिरे से अनिवार्य हो गया है।**

आज की बूर्ज्वा विचारधारा एक विचित्र संकट की स्थिति में है। यह संकट ज्ञान के क्षेत्रों के आत्मविभाजन का है। वह अपने ही वैज्ञानिक निष्कर्षों से इतिहास-ज्ञान को तोड़कर अलग करता हुआ जब यह कहता है कि—"दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के बीच संवाद एक स्थिति के बाद निरर्थक हो जाता है, क्योंकि वे एक-दूसरे को समझ नहीं पाते"[1]—तो हमें आश्चर्य होना स्वाभाविक है। लगभग चालीस वर्ष पहले बूर्ज्वा ज्ञानक्षेत्र में यह संकट नहीं था। कम-से-कम ऊपरी तौर पर इस संकट से राह निकाल ली गई थी। तब सारे निष्कर्ष एक भाववादी मौन में डूब गए थे। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने अज्ञेयता की एक ही मुद्रा ओढ़ ली थी! आज बूर्ज्वा विश्व का संकट फिर इस आत्मविभाजन के प्रकाश में स्पष्ट होने लग गया है—ज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में संवाद की स्थिति प्राय: नष्ट हो चली है। आज जिस तरह सत्य को अनूदित होता हुआ दार्शनिक नहीं समझ सकता, उसी तरह तथ्यों के ढाँचे के बाहर किसी 'सार' या सत्य की विशुद्ध स्थिति को वैज्ञानिक भी समझ नहीं पाता! यह विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, इतिहास के संदर्भ में यह दुर्भाग्य सामान्य विरोध से बड़ा है। यह हमें वहाँ ले जाता है जहाँ कारणत्व की खोज एक बन्द गली में ले जाकर हमें छोड़ देती है। उस बन्द गली को आप कोई भी नाम दे सकते हैं—आकस्मिकता, संयोग या नियति!

ऐल्फ्रेड श्वेत्स (Schuetz) ने कुछ वर्षों पहले इतिहास के सत्य को अपने ढँग से संयोजित करने की एक 'मौलिक चेष्टा' की थी।[2] यह चेष्टा हूसेर्ल और हाइडेगर जैसे विद्वानों से भिन्न थी। यह धारणा सार्त्र और मेरल्यो पॉन्टी की इतिहास-धारणा से भी भिन्न है। इतिहास-ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता के भीतर सामंजस्य ढूँढ़ने की यह चेष्टा अपने-आप में विराट कही गई। मैंने यह पुस्तक नहीं देखी। मगर श्वेत्स के भक्त ऐरों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे इस मौलिक और विराट् चेष्टा की रूपरेखा तो बन ही जाती है। ऐरों के अनुसार **इतिहास के सत्ता-ज्ञान का जैसा सार्थक और व्यापक आधार** इस पुस्तक में तैयार हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इस सार्थक और व्यापक आधार पर एक नजर देना असंगत न होगा। **ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता समुत्पाद्य हैं। उन्हें चेतनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध** में समझा जा सकता है। क्या ये स्थापनाएँ इतनी मौलिक हैं? क्या इतिहास को आत्मचेतना में अन्तर्मुक्त करने की चेष्टाओं से अलग इनमें कुछ है? चेतना के भीतर इतिहास के सत्य को देखने का यह प्रयत्न अगर नया है तो एक सीमित अर्थ में ही। **वर्तमान में अतीत के पुनः संघटन के इस प्रयत्न को ऐतिहासिक ज्ञान की मौलिक उद्भावना** कहना मुझे उचित नहीं मालूम पड़ता। वैसे ऐरों ने अनेक प्रचलित मुहावरों में इस ऐतिहासिक ज्ञान की अनिवार्यता को यों प्रस्तुत किया है[1]—

"मगर यह निश्चित है कि इतिहास-विज्ञान का महत्त्व इसी **स्वत:संभव ज्ञान में है।** मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी सिर्फ इसलिए नहीं है कि उसका भविष्य एक संभावना है; कि उसे अपनी नियति को चुनना ही है; कि वह एक सामाजिक परिवृत्त में घिरा है; कि वह भौतिक बुद्धि के द्वारा अपने पूर्वजों की विजय का फल भोगता है, बल्कि इसलिए कि वह अपने को दूसरों की तुलना में परिभाषित करता है—अतीत से तुलना के द्वारा।"

मार्क्स ने अपने समय में इस चेतनावाद (तब के विश्वात्मवाद या आत्मचेतनावाद) से जमकर संघर्ष किया था। उसने अपनी पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' में इसका हवाला देते हुए लिखा[2]—"ज्यों ही हम इस सक्रिय जीवन-प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं त्यों ही इतिहास मृत तथ्यों का पुंज नहीं रह जाता—जैसा अनुभववादियों के लिए है। **वह किसी कल्पित विषयी की कल्पित क्रिया भी नहीं रह जाता,** जैसा भाववादियों के यहाँ होता है।" चेतनावादियों ने अक्सर इतिहास के कारणत्व की उल्टी व्याख्या की है। या फिर

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक लेख—मार्विन फर्बर द्वारा सम्पादित-संकलित (१९५०)।
२. ऐल्फ्रेड श्वेत्स—'डर ज़िन हैफ़्ट ऑफ़्बो डर जोसियालेन वेल्ट'।

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबंध।
२. मार्क्स—'जर्मन आइडियालोजी'—पृ० ३८ (मास्को)।

उन्होंने इस 'कारणत्व' को संयोग के हाथ समर्पित कर दिया है। **मानवीय इतिहास मानवीय प्रयत्नों की एक विशिष्ट भौतिक संघटना है,** इसे चेतनावादी स्वीकार नहीं कर सकते।

मार्क्सीय इतिहास-धारणा के विरोध में सामान्यतः दो बातें कही जाती हैं। पहली यह कि मार्क्सवादी इतिहास-शास्त्र जड़ द्वन्द्ववादी है और दूसरा यह कि स्वतन्त्रता और नियति के सवाल को मार्क्सवाद अधूरे ढँग से सुलझाता है, कि उसमें इनके ढाँचों के परस्परावलंबन के लिए गुंजाइश ही नहीं है। दोनों ही आक्षेप विरोधियों की नज़र में अनुभवों की दुनिया से पैदा हुए हैं और ज्ञान के अर्थ से जुड़ते हैं।

इतिहास-सम्बन्धी विचारधाराएँ क्या सचमुच हमें इस जड़ द्वन्द्ववाद से उबारकर किसी गति और परिवर्तन के अनुभव से जोड़ती हैं? क्या इतिहास के 'कारणों' की उनकी व्याख्या सचमुच इतनी पूर्ण है? या कि उनमें 'कारणों' के प्रति निर्मम उपेक्षा का भाव है और वे केवल उसका दृश्य-सत्तात्मक संयोजन करने में लगी हैं? इन सवालों की व्याख्या से ही हमें ऊपरी आक्षेपों का उत्तर मिल जाएगा। वैसे अपनी इस निबन्धमाला में मैं अलग से भी इनका उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

फ्रेडरिक ऐंगेल्स ने जिस आडम्बरपूर्ण बकवास का हवाला आज से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व दिया था, स्थिति उससे ज़्यादा आज बेहतर नहीं है। इतिहास के प्रश्न पर जितनी आडम्बर-पूर्ण बहस आज चल रही है, उतनी शायद पहले कभी नहीं चली। इतिहास को संयोग सिद्ध करने वाली विचारधाराएँ इतिहास के आयाम को कहीं स्वयं ही झूठी साबित कर रही हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का विरोध दो अलग-अलग दृष्टियों से समकालीन चिन्तन में हुआ है। हेगेल और मार्क्स की इतिहास-सम्बन्धी धारणा को एक घोषित कर और उसे 'इतिहास-वाद' की संज्ञा देकर कार्ल पॉपर ने जो कुछ भी लिखा है[1] वह इतना अधूरा, आडम्बरपूर्ण और आत्मविरोधी है कि उस पर फिर से यहाँ विचार करना मुझे आवश्यक मालूम नहीं पड़ता। वैसे कुछ हवाबाज़ इतिहास-लेखक इस इतिहास-विरोध से प्रभावित हुए **और उन्होंने इसका उपयोग व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यवस्था और इतिहास-निरपेक्षता से जोड़कर किया।** कार्ल पॉपर और इसाइया बर्लिन ने युद्धकाल में ही कुछ ऐसे लेख लिखे थे जिनके द्वारा उन्होंने मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र का विरोध किया था।

मानवीय स्वातंत्र्येच्छा (!) को सर्वोपरि और आत्म-तंत्र घोषित करने वाले इन विद्वानों ने (!) मार्क्सवाद को व्यक्ति-विरोधी, स्वतंत्रता-विरोधी और अधोमुख कहा। हम सबसे पहले मार्क्सवादी दर्शन के इसी ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करेंगे। **क्या 'कारणत्व' और मानवीय इच्छा और स्वतंत्रता में आधारभूत विरोध है? अगर ऐसा कोई विरोध है तो इस विरोधी परिस्थिति को हम किस रूप में संघटित करके प्रत्यक्ष कर सकते हैं?** किसी कल्पित स्वातंत्र्येच्छा की ओट में सिर्फ विरोध करना अगर लक्ष्य हो तो बात दूसरी है। मार्क्स ने जर्मन आदर्शवाद की आलोचना इसी बिना पर की थी कि उसमें वास्तविक मनुष्य को कल्पित इकाइयों में बदला जा रहा था। इतिहास से ऊपर प्रतिष्ठित किसी धारणा से इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती, इसे मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था।[1] ऐसी स्थिति में कार्ल पॉपर की यह धारणा कि 'मानवीय व्यवहार में कुछ भी सम्भव है', एक निहायत अर्थहीन और अनैतिहासिक धारणा मालूम पड़ती है। ऐतिहासिक प्रक्रिया इस व्यक्ति-व्यवहार की असामान्यता को लेकर नहीं चलती। ऐसी धारणाओं से मानवीय व्यापार-क्षेत्र परस्पर स्वतंत्र नहीं हो जाता और न हमारा कार्य-क्षेत्र निरर्थक। उसे किसी दैवी (असामान्य) आत्मा की अभिव्यक्ति मानकर आज भी चला जा सकता है, इसमें मुझे पूरा सन्देह है। बेनेडेटो क्रोचे ने भी लिखा है—'व्यक्ति की धारणा हमेशा ही एक सार्वभौम अथवा सर्व-साधारण धारणा है।'[2] व्यक्तिसत्ता की धारणा और व्यक्ति सत्ता एक चीज नहीं है, यह सही है। मगर उससे यह सिद्ध करना कि इतिहास में व्यक्तियों की धारणा से काम चलाया जा सकता है मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। इस प्रश्न पर डॉ० लोहिया ने लिखा था[3]—"उद्देश्यों और व्याख्याओं की बात ही क्या, इतिहास के तथ्यों, असलियतों को भी इकट्ठा कर पाना कठिन है···मैं बहुत दिलचस्पी से जानना चाहूँगा

१. कार्ल पॉपर—पावर्टी ऑफ़ हिस्टोरिसिज़्म, प्रेगराइन संस्करण (१९५६)।

१. मार्क्स का पत्र, १८७७ की रूसी पत्रिका 'ओतेशेस्तवेन्ये जिपिस्की' से उद्धृत (इतिहासकार 'कर' द्वारा)।
२. क्रोचे—'एस्थेटिक्स', परिच्छेद ५ (अंग्रेजी अनुवाद)।
३. लोहिया—इतिहास चक्र (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३।

कि उस समय गौतम बुद्ध ने कैसा अनुभव किया होगा या उनकी उस समय क्या अनुभूति थी, जब उस युग की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी का परिचय उनसे कराया गया और उसने संघ में शामिल किए जाने का आग्रह किया था। क्या उनके मन में तनिक-सा भी कम्पन हुआ था? हमें कुछ नहीं मालूम, न जान पाना कभी सम्भव है, क्योंकि बुद्ध को छोड़कर अन्य कोई नहीं जान पाया कि क्या हुआ था···।"

प्रश्न यह नहीं है कि ऐसी समस्याएँ युग की निर्णयात्मक समस्याएँ हो सकती हैं या नहीं—प्रश्न सिर्फ इतिहास के सामूहिक कारणों का है। हर अनुभव का एक निश्चित परिवृत्त होता है, विचारों, वस्तुस्थितियों और सम्बन्धों का घेरा होता है। ऐसी स्थिति में अनेक आत्मस्वतन्त्र लगने वाले कारण उतने स्वतन्त्र रह नहीं जाते। मार्क्स की तो बात ही जाने दें, क्या क्रोचे ने भी हेगेल की आत्मवादी या दैवात्मवादी दृष्टि का विरोध नहीं किया? क्रोचे को जोज़िया रॉयस और ब्राडले के साथ हेगेलवादी करार दिया गया है। क्रोचे की आत्मिकता क्या हेगेलीय द्वंद्वात्म से एकदम भिन्न उपपत्ति नहीं है? ऐसी स्थिति में क्या हम ऐसा नहीं कह सकते कि हेगेल का निरर्थक विरोध करने वाले पॉपर जैसे विद्वान् क्रोचे की अपेक्षा ज़्यादा हेगेलवादी हैं?

इतिहास में कारणत्व के नियमों की द्वंद्वात्मक और यांत्रिक दोनों व्याख्याएँ हुई हैं। इन दोनों को एक मानकर मार्क्सवाद पर आक्षेप करना एक अज्ञानतापूर्ण प्रयत्न मात्र कहा जाएगा। विषयी और विषय के जिस परंपरित श्रेण्य-विभाजन से इतिहास-धारणाएँ सामान्यतः जुड़ी हुई हैं उसके इतिहास से भी हमारा परिचय है। इस इतिहास को थोड़ा दुहरा लेना अनावश्यक नहीं होगा। **सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का समस्त 'तत्त्वज्ञान' इस भेद को स्वीकार कर ही इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करता है।** इतिहास की श्रेण्य धारणा में मनुष्य और प्रकृति को प्रतिमुख कर देखने की एक सामान्य परिपाटी है। मनुष्य को प्रकृति के विरोध में रखकर ही समस्त इतिहास-धारणाएँ इस काल में निर्मित हुईं। **मार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के इस सरल विभाजन को अपनी इतिहास-धारणा में एक मोड़ दिया।** ड्यूहरिंग मत-खण्डन में ऐंगेल्स ने लिखा[1] : 'स्वाधीनता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्नों में निहित नहीं है, बल्कि वह उन नियमों के ज्ञान में, तथा इस ज्ञान की सहायता से निश्चित उद्देश्यों के लिए सुनियोजित ढंग से कार्य करने की जो संभावना पैदा होती है, उस संभावना में निहित है।" इतना ही नहीं, उन्होंने आगे लिखा—"यह बात बाह्य प्रकृति के नियमों के लिए भी सत्य है और उन नियमों के लिए भी जो खुद मनुष्य के शारीरिक और मानसिक अस्तित्व पर शासन करते हैं। नियमों के इन दो वर्गों को हम अधिक-से-अधिक केवल चिन्तन में ही एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं।"

यही कारण है कि इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ हम विषय-क्षेत्र से मुक्ति के रूप में नहीं लेते, बल्कि उस निर्णय की संभावना से लेते हैं जिसमें हम विषय-क्षेत्र का अधिक-से-अधिक अनुकूल उपयोग करते हैं। **इतिहास के बाहर किसी 'सार' की कल्पना मार्क्सवादी नहीं करता, स्वतन्त्रता की भी नहीं।** इतिहास और स्वतन्त्रता शीर्षक परिच्छेद में हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। स्वतन्त्रता ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, वह ऐतिहासिक विषयों के ज्ञान की आत्मा है। यहाँ ज्ञान की आत्मा को हेगेलीय दैवात्म से मिला कर नहीं देखा जाए। ऐसा समझना उसके मौलिक स्वरूप को आहत करना होगा। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के भीतर यह स्थिति साफ-साफ देखी जा सकती है। **आज ज्ञाता और ज्ञेय के विभाजन से ज्ञान का निश्चय करना संभव नहीं रह गया है।** प्रकृति को हम किसी अपर सत्ता की तरह आज अज्ञेय मानकर नहीं चलते और न उसे मनुष्य-विरोधी ही समझते हैं।

मार्क्सवादी दर्शन और इतिहास-सरणि को विधेयवादी, स्वातन्त्र्येच्छा-विरोधी और न जाने क्या-क्या कहकर हम इस ऐतिहासिक ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते। सम्भावना और मानवीय कर्म की ऐसी संगत और वैज्ञानिक व्याख्या पहले कभी प्रस्तुत नहीं हुई। सच्चाई तो यह है कि मार्क्सवाद का विरोध करने वाले विद्वान् भी इस ऐतिहासिक व्याख्या से अपने को बचाने में असमर्थ रहे हैं। **मार्क्सवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानवीय व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र की संगति और विरोध को समान महत्त्व दिया गया है।** मनुष्य के व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र के भीतर से इतिहास-गति को उपलब्ध करने वाली यह धारणा किसी भी यांत्रिक धारणा का अंग नहीं हो सकती।

इतिहास में अनिवार्यता और सार्थकता का प्रश्न

१. ऐंगेल्स—ड्यूहरिंग मत-खण्डन, पृष्ठ १६० (हिन्दी अनुवाद, मास्को।

परस्पर-विरोधी नहीं है। एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में लिखा है—"……किसी खास प्रश्न के सम्बन्ध में किसी आदमी का मत जितना अधिक स्वतन्त्र है इस मत के सार को उतनी अधिक आवश्यकता के साथ निर्धारित किया जाएगा; जबकि दूसरी ओर, अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चयता, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर-विरोधी सम्भव निर्णयों में से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है, ठीक अपने कार्य से ही स्पष्ट कर देती है कि वह स्वतन्त्र नहीं है; बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियन्त्रण में है जिसका उसे नियन्त्रण करना चाहिए था।"

स्वतन्त्रता और इतिहास के प्रश्न पर इधर अस्तित्ववादियों ने बहुत-कुछ लिखा है। समकालीन चिन्तन की समस्त धाराओं पर, मार्क्सवाद को छोड़कर इनका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा है। अस्तित्ववादियों की बुनियादी कमज़ोरी शायद यह है कि वे **विषय और विषयी के सम्बन्ध को ज्ञान-सम्बन्ध मानने से इनकार करते हैं। वे इसे अस्तित्व में सिद्ध मानते हैं।** यह व्यक्तिगत स्तर पर एक 'नाटकीय परिस्थिति' है जिसका केवल विवरण दिया जा सकता है। इस प्रकार, सामान्यतः, अस्तित्ववाद ज्ञान की सार्वभौमता को, मनुष्य के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों को, समय के भौतिक स्वरूप को और ऐतिहासिक परिस्थिति को अनिश्चित और असीमित मानवीय त्रासों में तथा स्वतन्त्र व्यक्ति-निर्णयों में बदल देता है। इन समस्याओं में केन्द्रीय समस्या ऐतिहासिक संयोग की है। इस विचित्र ऐतिह्यता के भीतर 'स्वतन्त्रता' की एक हेगेलीय पूर्ण धारणा बनाई जाती है। मानवीय स्वतन्त्रता को रहस्यमयता से भर देना अस्तित्ववादियों के अस्पष्ट चिन्तन का परिणाम है। **भाववाद से मुक्ति की उनकी सारी चेष्टाएँ यहाँ आकर व्यर्थ हो गई मालूम पड़ती हैं।** अतीत को 'डेड वेट' मानकर उनकी ऐतिह्यता केवल भविष्य में आक्षेपित होती है। भविष्य में इस प्रकार व्यक्ति को उछालकर वे स्वतन्त्रता की रहस्यवादी धारणा तैयार करते हैं।

रेमोंद ऐरों ऐतिहासिक संघटना की जिस 'दृश्यसत्तात्मक विधि' का निरूपण अपनी पुस्तक में करते हैं उसका हाल में काफी प्रचार हुआ है।[1] ऐरों की पुस्तक काफी जटिल है और उस पर समकालीन जर्मन विचार-वैचित्र्य का प्रभाव कई स्तरों पर लक्षित होता है। यूरोपीय महादेश के बाहर और भीतर उसे इसी रूप में ग्रहण किया गया है। ऐरों की तुलना में मेरल्यो पॉन्टी के इतिहास-सम्बन्धी विचार ज्यादा गम्भीर, मौलिक और स्पष्ट हैं। इंगलैंड में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस पुस्तक का अच्छा स्वागत नहीं हुआ। 'संयोग और सार्थकता' के प्रश्न पर इस पुस्तक में लम्बी बहस चलाई गई है। 'अतीत और इतिहास की धारणाएँ' शीर्षक अध्याय में ऐरों ने इतिहास के क्षैतिज नियमों और सिद्धान्तों पर विचार किया है। दूसरे खण्ड में ऐतिहासिक ज्ञान की विस्तृत चर्चा है। **वस्तुतः पुस्तक का यही हिस्सा बहस की केन्द्रीय प्रस्तावना तैयार करता है।**

इतिहास की नैतिकता का प्रश्न उठाकर यहाँ ऐरों कहते हैं कि यह नैतिकता इतिहासकार को यह छूट नहीं देती कि वह वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत को पुनर्गठित करे। इतिहास की ऐसी व्याख्याएँ, ऐरों के अनुसार, इतिहास को धारणाओं में बदल देती हैं। इतिहास की यह धारणा वस्तुपरकता के सारे दावे झूठे कर देती है। इसी सन्दर्भ में समस्त क्षैतिज इतिहास-सिद्धान्तों पर आक्षेप करते हुए ऐरों ने मार्क्सवाद पर भी आक्षेप किए हैं।

ऐतिहासिक परिस्थिति की प्रत्यक्ष जटिलता और मानवीय प्रयत्नों का इतिहास-विधायक स्वरूप हमें एक केन्द्रीय सवाल के सामने ला खड़ा करता है। इनके भीतर मार्ग ढूंढने का काम इतिहास-दर्शन की केन्द्रीय समस्या है। लेनिन जब अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म' लिख रहे थे तब वे न केवल प्राकृतिक दर्शन के सवालों से टकरा रहे थे, बल्कि वे इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धान्त की भी सचेत रूप में रक्षा कर रहे थे। अनेक भाववादी, संशयवादी और जड़-अनुभववादी धारणाएँ इस कालखण्ड में चिन्तन पर प्रभाव डाल रही थीं। ऐसी स्थिति में इतिहास में संयोग और सार्थकता का प्रश्न पूरी गम्भीरता से उभरा था। लेनिन अपने आसपास की दुनिया में डूबकर लिख रहे थे और अपने समकालीन इतिहास पर पकड़ के साथ लिख रहे थे। उनकी लड़ाई समकालीन चिन्तन के तीसरे आयाम की लड़ाई थी।

मार्क्सवाद इतिहास को धारणाओं में नहीं बदलता। उसके प्रति पूरी तरह सचेत रहकर मार्क्स ने 'जर्मन विचारधारा' में लिखा था—"इस उत्पादन-विधि को मात्र व्यक्तियों

१. ऐरों—'इन्ट्रोडक्शन टू द फिलासफ़ी ऑव हिस्ट्री' (अंग्रेजी अनुवाद, १९६१)।

के भौतिक अस्तित्व के पुनरुत्पादन के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, बल्कि यह इन व्यक्तियों के कर्म-व्यापार के निश्चित रूप हैं जो विशिष्ट ढंग से उनके जीवन को व्यक्त करते हैं—उनके पक्ष में ये स्पष्ट जीवन-विधि हैं।" ऐरों और उनसे प्रभावित दूसरे लोग सम्भवतः इस विशिष्ट जीवन-विधि को इतिहास से उत्पन्न नहीं मान पाएँगे क्योंकि **उनके लिए इतिहास मानवीय कर्म और संयोगों के बीच विभाजित** है। फिर व्यक्ति को 'ऐतिह्यता' के लिए पूरी परिस्थिति भी उन्हें यहाँ नहीं मिलेगी। जिस **'इण्टर सब्जेक्टिविटी' के भीतर वे समस्त इतिहास और मानवीय स्वतन्त्रता को देखते हैं, वह वस्तुस्थिति के रहस्यवादी रूपान्तर से ही बनती है।**

इस केन्द्रीय प्रश्न के सन्दर्भ में पैदा हुए मतान्तरों पर हम यहाँ बहस नहीं करेंगे। विषय को प्रवृत्ति में बदलकर इतिहास की जो रूपरेखा तैयार की जाती है उसकी सार्थकता पर भी हम अलग से विचार करेंगे। अभी आँरी लेफ़ेव्र के शब्दों में हम यहाँ कहना चाहेंगे—

"निश्चित रूप से ये सामाजिक सम्बन्ध किसी प्रत्यय की तरह अस्तित्ववान नहीं होते और न हवा में होते हैं। इनका भौतिक आधार होता है—उत्पादन की शक्तियाँ, उनके हथियार, यन्त्र और उनका कार्य-संयोजन।"[1]

(क्रमशः)

१. आँरी लेफ़ेव्र—'सोशियालॉजी ऑव मार्क्स', पेंगुइन संस्करण (१९६८)।

साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के सन्दर्भ में

विष्णुकान्त शास्त्री

साहित्यिक द्वन्द्व दूसरे द्वन्द्वों से कहीं अधिक दिलचस्प होते हैं, कहीं अधिक नाटकीय। साधारण जन की यह धारणा हो सकती है कि झगड़ा करना सुसंस्कृत साहित्यकारों का काम नहीं है, किन्तु सच्चाई यह है कि झगड़ों, दलबन्दियों के लिए साहित्यिक क्षेत्र बहुत उर्वर है। हाँ, इनके लिए साहित्यिकों ने नाम उच्च-स्तरीय रख छोड़े हैं असहमति, मतभेद, नवीन वाद प्रवर्त्तन, मूर्त्ति-भंजन, आत्माभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य आदि-आदि। अपनी सर्वश्रेष्ठता के विश्वासी भावप्रवण साहित्यकार के लिए किसी दूसरे को (विशेषत: किसी समसामयिक को) अपने से बढ़कर मानना कठिन हो जाता है, अतः पूर्वप्रतिष्ठित अथवा समवयस्क प्रतिष्ठाप्राप्त या अपनी प्रतिष्ठा को चुनौती दे सकने वाले नये उभरते साहित्यकार के साथ अपने को समंजित करना उसके लिए लोहे के चने चबाना है। फलत: कई बार वह अपने समवर्ती लेखकों की रचनाओं की तथाकथित दुर्बलता का उपहास करने का प्रलोभन संवरण नहीं कर पाता। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल विच्छिन्न व्यंग्योक्तियों के रूप में तात्कालिक क्षोभ-प्रकाशन को ही साहित्यिक द्वन्द्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती। साहित्यिक द्वन्द्व के लिए दीर्घकालीन ऐसी अनेक आलोचना-प्रत्यालोचना का होना आवश्यक है जिनसे वास्तविक गहरे एवं प्रायः स्थायी मनमुटाव का बोध हो। एक बार ऐसा द्वंद्व छिड़ जाने पर उसका विकास अपने ही नियमों के अनुसार होता है। हो सकता है कि कभी-कभी इनका आरंभ इकतरफे आक्रमण के कारण हो, किन्तु प्रायः मार दुतरफी होती है। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, विरोधी व्यक्तित्व या शुद्ध साहित्यिक मतभेद इनमें से एक या अनेक हेतु इन द्वन्द्वों के मूल में हो सकते हैं। अपनी उपेक्षा और दूसरे को मिलने वाली प्रतिष्ठा ईर्ष्या को और दूसरे को पछाड़कर आगे बढ़ जाने की भावना प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है। अधिक उग्रता इन्हीं दो कारणों के फलस्वरूप उभरती है। द्वन्द्वग्रस्त साहित्यिकों को भड़काकर मज़ा लेने वाले भी बहुत बड़े अंश तक ऐसे द्वन्द्व के लिए उत्तरदायी माने जाएँगे। इन्हें साहित्यिक जमालो-बीबियाँ कहना चाहिए। विवेक के क्षणों में द्वन्द्वग्रस्त साहित्यकार चाहते हैं कि द्वन्द्व को स्थगित कर दें या रोक दें, किन्तु प्राय: वे ऐसा कर नहीं पाते। बात यह है कि कृती साहित्यकारों का व्यक्तित्व प्राय: इतना जटिल, उलझा हुआ और परस्पर विरोधी तत्त्वों से युक्त होता है कि बहुत बार स्वयं उनके लिए आन्तरिक सामंजस्य बनाये रखना कठिन हो जाता है। यह भी देखा गया है कि वे ऐसे द्वन्द्वों में प्राय: तभी प्रवृत्त होते हैं जब या तो स्वयं अच्छा न लिख पाने के कारण या आर्थिक सामाजिक कारणों के फलस्वरूप वे गहरे मानसिक तनाव के शिकार रहते हैं। ये द्वन्द्व प्रतिभाशाली लेखकों के पीड़ित, उलझे हुए, क्रुद्ध, पश्चात्तापयुक्त, क्षुद्र और कभी-कभी आश्चर्यजनक उदार स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।

साहित्यिक द्वन्द्व सभी देशों और सभी कालों में होते रहे हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप डॉ० जान्सन और लार्ड चेस्टरफील्ड, थैकरे और चार्ल्स डिकेंस, इवान तुर्गनेव और दोस्तोवस्की तथा तोल्सताय, अर्नेस्ट हेमिंग्वे और शेरउड ऐंडर्सन आदि के द्वन्द्वों का उल्लेख किया जा सकता है। (देखिए, मिरिकलैंड कृत द फाइन आर्ट ऑफ़ लिट्रेरी मेहेम) हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो चन्दबरदाई और भट्ट केदार से आरम्भ कर पद्माकर और ठाकुर से होते हुए निराला और पन्त तक की (उनके बाद के लोगों का नाम लेना खतरे से खाली नहीं है) अनेकानेक साहित्यिक नोक-झोंकों की चर्चा की जा सकती है। पर इनमें से अनेक विवाद महत्त्वपूर्ण होते हुए भी दीर्घकालीन आलोचना-प्रत्यालोचना के अभाव में ठीक-ठीक द्वन्द्व संज्ञा के अधिकारी नहीं हैं।

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में सबसे रोचक, व्यापक और सच्चे अर्थों में प्रखर साहित्यिक द्वन्द्व बाबू बालमुकुन्द गुप्त और आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के मध्य हुआ था। यहीं यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि अपने देश में हुए न केवल प्राचीन काल के बल्कि आधुनिक काल के साहित्यिक द्वन्द्वों का भी प्रामाणिक एवं पूरा विवरण प्रस्तुत करना निर्भर योग्य विस्तृत सामग्री के अभाव के कारण कठिन है। विदेशों में जिस तरह साहित्यिकों के जीवन-चरित्र, आत्मकथाएँ, पत्र-संग्रह, रोज़नामचे, उनके जीवन की विशिष्ट घटनाओं के बारे में प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण आदि सुलभ हैं, उस तरह की सामग्री यहाँ कहाँ! फिर भी गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व के बारे में काफी मसाला इधर-उधर बिखरा हुआ है, जिसका उपयोग कर साहित्यिक द्वन्द्व के स्वरूप को स्पष्ट करने की सार्थक चेष्टा की जा सकती है।

"हमने समझ लिया था कि हिन्दी जाननेवालों और हिन्दी लिख सकनेवालों में न्याय का नाश हो गया, पांडित्य डूब मरा, गुणग्राहकता अस्त हो गई, लेखन-शक्ति का उच्छेद हो गया, पर अन्त में आपने हमारे इस नैराश्यपूर्ण भ्रम को दूर कर दिया।"

"क्या हम चिड़िया हैं, जो ये लोग हमारा गला घोंट देंगे?"[1] अपनी समझ से अपने ऊपर हुए अन्यायपूर्ण नृशंस आक्रमण के फलस्वरूप कुछ कातरता, कुछ रोष की व्यंजना करने वाली ये क्षोभपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी के परम समर्थ आलोचक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की हैं, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। फिर भी यह सच है कि गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व में अपने प्रमुख समर्थक (एक दृष्टि से त्राणकर्त्ता) पं० गोविन्दनारायण मिश्र को लिखे ४-३-१९०६ तथा ११-४-१९०६ के अपने पत्रों में द्विवेदीजी ने ये पंक्तियाँ लिखी थीं—

"वह (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी) समझते हैं कि हमें सबकी आलोचना करने का अधिकार मिल गया है और हमारी आलोचना कोई करे तो हमारे भाई-बन्धु जाति-धर्म की, भाई-बिरादरी की दुहाई देते हुए चारों ओर से लट्ठ लेकर सहायता के लिए आ धमकें और विद्या से नहीं तो लट्ठ से उसे सीधा कर दें। आत्माराम पर भी वही बीती। वह गरीब लठैतों के दल में घिर गया।"[1] अपनी दृष्टि के अनुसार अपने न्याययुक्त पक्ष के अन्यायपूर्ण खंडन के प्रति क्षोभ और अपनी स्थिति के प्रति सहानुभूति के उद्रेक का प्रयास बालमुकुन्द गुप्त की इन पंक्तियों में स्पष्ट है।

इन उद्धरणों से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि कितना तीखा रहा होगा वह साहित्यिक द्वन्द्व, जिसकी उत्तर वेला में ये दोनों दिग्गज इस प्रकार क्षत-विक्षत हो कराह रहे थे और दूसरों से समर्थन एवं सहयोग की कामना कर रहे थे।

किस बात पर छिड़ा था वह द्वन्द्व, कैसे हुए थे उसमें आक्रमण-प्रत्याक्रमण, क्या निकला था उसका निष्कर्ष, ये सभी सार्थक प्रश्न हैं, किन्तु इनका समाधान करने के पूर्व छोटी-सी भूमिका जरूरी है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) दोनों समवयस्क थे, दोनों अत्यन्त तेजस्वी, निर्भीक एवं दृढ़चेता व्यक्ति थे, दोनों हिन्दी के निष्ठावान् सेवक, सफल लेखक और मनस्वी पत्रकार थे। केवल इतना ही नहीं, दोनों एक-दूसरे के सहायक और स्नेही भी थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की रचनाएँ १८८९ से अप्रैल १९०१ तक समय-समय पर प्रकाशित की थीं। भारतमित्र के 'तेईसवाँ वर्ष' शीर्षक लेख में १९०१ ई० में उन्होंने लिखा था—"हम पं० श्रीधरजी पाठक तथा पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर ले जाना आप जैसे लोगों ही का काम है।"[2] दूसरी तरफ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रत्नावली के गुप्त-जी कृत अनुवाद की प्रशंसा करते हुए लिखा था—"हमको आप चाटुकार न समझें, यदि हम यह कहें कि जैसा श्रीधरजी अँगरेज़ी का अच्छा अनुवाद करके पढ़नेवालों के मन को मोहित कर लेते हैं वैसा ही आप संस्कृत का अनुवाद करके मोहित कर लेते हैं।"[3] इसके अतिरिक्त १९०० ई० में जब गुप्तजी का पं० लज्जाराम मेहता से 'शेष' के अर्थ को लेकर विवाद हुआ था तब भी द्विवेदीजी ने वामन शिवराम आप्टे की संस्कृत-अँगरेज़ी डिक्शनरी एवं पंडितराज जगन्नाथ के

१. श्री गोविन्द निबन्धावली (प्रथमावृत्ति पं० गोविन्दनारायण मिश्र को लिखित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र से, पृ० १।) तथा १-)।

१. गुप्त निबन्धावली (प्रथम भाग), पृ० ४२८।
२. बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२०।
३. वही, पृ० १२४।

रस गंगाधर से उनके अनुकूल प्रमाण देकर उनके पक्ष का समर्थन किया था। निस्सन्देह दोनों एक-दूसरे की क्षमता के कायल और प्रतिभा के प्रशंसक थे।

फिर भी विवाद छिड़ने पर गुप्तजी ने द्विवेदीजी के लिए लिखा था—"सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर-घमंडी हों, उस अभागी का विनाश ही होता है।"[1] और द्विवेदीजी ने गुप्तजी के लिए लिखा—"जो लोग 'ज्ञानलव दुर्विदग्ध' हैं, ईर्षा-द्वेष से जिनका जी जल रहा है, उनको वृहस्पति के बाप की भी बातों में पूर्वापर विरोध और संदिग्ध भाव देख पड़ेगा।"[2]

क्या इस प्रकार की कठोर भाषा के प्रयोग के द्वारा किसी सार्थक विचार-विनिमय की सम्भावना रह जाती है ? इसकी ध्वनि से यह स्पष्ट है कि शुद्ध वैचारिक मतभेद की मीमांसा दोनों में से सम्भवतः किसी को अभीष्ट भी न थी। दोनों सिद्धान्तों की ओट लेकर दूसरे को अपदस्थ करना चाहते थे, यद्यपि यह भी ठीक है कि दोनों का घोषित उद्देश्य भाषा-परिमार्जन ही था और इस विवाद से एक हद तक उस आवश्यक किन्तु उपेक्षित पहलू के बारे में विचारक, लेखक और सामान्य पाठक अधिक सचेत हुए भी। किन्तु यह दुःखद सत्य है कि इस द्वन्द्व के कारण जितनी गर्मी पैदा हुई, जितना धुआँ फैला, उतना प्रकाश नहीं।

इस द्वन्द्व का विस्फोट हुआ था नवम्बर १९०५ की सरस्वती में प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक लेख 'भाषा और व्याकरण' के फलस्वरूप। इस लेख में द्विवेदीजी ने भाषा की परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करते हुए यह मत प्रतिपादित किया था कि लिखित भाषा की एकरूपता बनाए रखने के लिए सर्वांगपूर्ण व्याकरण का प्रणयन एवं लेखकों द्वारा उसका अनुगमन आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दी में अच्छे व्याकरण के अभाव की तथा प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा भी व्याकरण-विरुद्ध भाषा-लेखन की चर्चा करते हुए कुछ सम्मान्य जीवित एवं दिवंगत लेखकों की भाषा पर भी टीका-टिप्पणी की थी। उन्होंने यह आग्रह भी व्यक्त किया था कि वाक्प्रवाह या मुहावरे की ओट लेकर व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को ठीक नहीं ठहराया जा सकता। सच कहा जाये तो इस लेख के विषय के अनुरूप ही इसकी शैली भी

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४३५।
२. वाग्विलास, पृ० १२४।

गम्भीर और विचार-प्रधान थी एवं इसमें किसी को जान-बूझकर अपमानित करने का भाव नहीं झलकता। व्याकरण-विरुद्ध रचनाओं के उदाहरण देने के पूर्व द्विवेदीजी ने लिखा था—"पर जिनकी रचना के ये उदाहरण हैं उनसे इस कारण हम शत बार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों चाहे परलोक में। इसमें बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण-विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है।"[1]

किन्तु द्विवेदीजी इसके पहले लाला सीताराम, पं० माधव प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 'ज़माना' सम्पादक दयानारायण निगम आदि से टकरा चुके थे। उनकी विद्वत्ता और दबंगपन से प्रभावित साहित्यसेवी जहाँ उन्हें श्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकार करने लगे थे वहीं उनकी कठोरता और अहम्मन्यता से क्षुब्ध साहित्यकार उनके स्फीत दर्प को चूर्ण करने का अवसर खोज रहे थे। इस लेख में भी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गदाधरसिंह, राधाचरण गोस्वामी आदि सम्मान्य लेखकों की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखाई गई थीं, इसका अर्थ उन्होंने यह निकाला कि द्विवेदीजी अपने को इन लोगों से भी बड़ा लेखक मानने लगे हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदीजी की कठोर आलोचना शैली से पहले से ही असन्तुष्ट थे। लाला सीताराम की उग्र आलोचना से द्विवेदीजी को विरत करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने लिखा था—"मेरा मतलब यह है कि किसी अच्छे लेखक से कुछ भूल भी हो तो उस पर अधिक कटाक्ष न होने पावे।"[2] फिर भारतेन्दु आदि की भूलें दिखाना तो उनके भावुक हृदय को अक्षम्य अपराध जान पड़ा। उनकी क्षोभाग्नि में आहुति डाली विशुद्धानन्द विद्यालय के संस्कृत अध्यापक पं० अक्षयवट मिश्र ने। उन्होंने गुप्तजी को सुझाया कि 'भाषा और व्याकरण' के बारे में बड़े-बड़े उपदेश देने और दूसरों के दोष दिखाने के बावजूद द्विवेदीजी स्वयं अस्थिरता के स्थान पर 'अनस्थिरता' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं जो नितान्त व्याकरण-विरुद्ध है। बाबू भगवानदास हालना के अनुसार "गुप्तजी को यह सुनकर प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छा हुआ, अब द्विवेदीजी को भी ठीक रास्ता

१. वाग्विलास, पृ० ८९-९०।
२. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२३।

दिखा दिया जायगा।"[1]

इसके बाद गुप्तजी ने अपनी अननुकरणीय व्यंग्यात्मक शैली में आत्माराम के नाम से भारतमित्र में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक दस लेख लिखे। इन लेखों में हिन्दी के पुराने लेखकों की द्विवेदीजी द्वारा बताई गई भाषा-सम्बन्धी कुछ भूलों को तो सही सिद्ध किया गया, कुछ को भाषा की पुरानी धारा के अनुरूप माना गया, कुछ को उपेक्षणीय बताया गया। फिर द्विवेदीजी के उसी लेख के अनेक वाक्यों की धज्जियाँ उड़ाकर चुनौती दी गई कि 'अनस्थिरता' को द्विवेदीजी व्याकरण द्वारा शुद्ध सिद्ध करें। ये लेख हिन्दी के 'विवादी लेखन' के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिपक्षी को महीन काटने में गुप्तजी का जवाब नहीं है। द्विवेदीजी की वाक्य-रचना में चुस्ती की सचमुच कमी थी। शिष्ट भाषा-प्रवाह के जीवन्त रूप के स्थान पर द्विवेदीजी की भाषा किताबी, भारी-भरकम और जटिल होती थी। गुप्तजी ने उस पर भी खूब फब्तियाँ कसीं। यह लेखमाला यदि इतनी विध्वंसक न होती, यदि अनस्थिरता को शुद्ध सिद्ध करने पर इतना ज़ोर न दिया जाता तो इसी विचार-क्रम में द्विवेदीजी और गुप्तजी की मान्यताओं के आधार पर व्याकरणबद्धता और शिष्ट भाषा-प्रवाह के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन हो सकता था। किन्तु दुर्भाग्य से यह विवाद विचार के स्तर से व्यक्तिगत मानापमान के स्तर पर उतर आया और 'अनस्थिरता' की शुद्धता या अशुद्धता जीत-हार की कसौटी बन गई।

शीघ्र ही यह विवाद दो व्यक्तियों के बीच का न रहकर हिन्दी जगत् के अधिकांश लेखकों का बन गया। द्विवेदीजी के समर्थकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० देवीप्रसाद शुक्ल, पं० गिरिजाप्रसाद वाजपेयी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि थे, तो गुप्तजी के पक्षधरों मे पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० अक्षयवट मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि प्रमुख थे।

गुप्तजी ने बार-बार चुनौती-भरे स्वर में यह लिखा था कि "अनस्थिरता का फैसला झटपट हो जाना चाहिए, क्योंकि वही सारी लिखा-पढ़ी की जड़ है।" अतः द्विवेदीजी के समर्थक पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अर्ध सत्य का सहारा लेते हुए हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेखमाला में अनरस, अनरीति, अनहोनी जैसे शब्दों के अनुसार ही हिन्दी व्याकरण से 'अनस्थिरता' शब्द को शुद्ध सिद्ध कर दिया। द्विवेदीजीने उन्हीं के तर्कों का सहारा लेते हुए फरवरी १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित अपने लेख में गुप्तजी को कड़ा उत्तर दिया। इसका प्रत्युत्तर गुप्तजी ने 'व्याकरण विचार', 'हिन्दी में आलोचना' (सात लेख), आत्मारामीय टिप्पण आदि के द्वारा दिया और यह फब्ती भी कसी कि द्विवेदीजी की अनस्थिरता अँगरेज़ी से भी साबित हो सकती है, क्योंकि उसमें भी अनस्क्रुपुलस, अनथाटफुल, अनसिविलाइज्ड, अनरेड, अनग्रामेटिकल आदि शब्द हैं जिनमें द्विवेदीजी महाराज का 'अन' मौजूद है। इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तृत विवेचन करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है।[1] ध्यान देने की बात यही है कि विचार-विवेचन में सत्यान्वेषण के संयत प्रयास के स्थान पर इन आलोचना-प्रत्यालोचनापरक लेखों में वैयक्तिक ऊष्मा की अनियंत्रित अभिव्यक्ति हुई है, व्यंग्यों, कटाक्षों के तेज नश्तर चुभाने की चेष्टाओं में दूसरे पक्ष के सत्यांश को अनदेखा कर दिया गया है।

आलोचना में शालीनता के परम समर्थक गुप्तजी गोविन्द नारायण मिश्र के प्रहारों से बौखलाकर उनके बारे में यहाँ तक लिख गए, "अब एक पहाड़ी खखोडर के पुराने उल्लू की गुड़मगुड़म सुनिये। बहुत दिन से यह गोबरगणेश चुपचाप था। अब उसने बंगवासी के धर्म भवन पर बैठकर अपने पट्ठों सहित बोलना शुरू किया है।"[2] यह संभवतः अपनी तुरुपचाल 'अनस्थिरता को व्याकरण-शुद्ध सिद्ध करने की चुनौती' के कट जाने से उत्पन्न क्रोध का परिणाम था। द्विवेदीजी के बारे में उन्होंने इतना कटु नहीं लिखा था, शायद इसका एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने पक्ष की जीत का पूरा भरोसा था और इसीलिए ज़रा ऊँचाई पर खड़े होकर वे एक के बाद दूसरे लेख में द्विवेदीजी की गंभीरता की, 'अपनी छटांक भर विद्या को मन भर करके दिखलाने की' उनकी श्रेष्ठता-ग्रन्थि की खिल्ली उड़ाते चले गए थे। प्रस्तुत है एक

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३५६।

१. जो इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष के बारे में पढ़ना चाहें वे 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन' में संकलित हमारा लेख 'हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन' पढ़ें।

२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४८१।

उदाहरण—"द्विवेदीजी आँधी की भाँति उठते हैं किन्तु धूल की भाँति गिरते हैं। आपकी लम्बी-चौड़ी फूँफाँ और हुल्लड़ देखकर तो यही प्रतीत होने लगता है कि न जाने कैसी भारी बात आप कहेंगे, पर पास जाते ही मालूम हो जाता है कि देहातों गुलगपाड़े से बढ़कर कुछ नहीं है।"[1]

द्विवेदीजी इन मार्मिक प्रहारों से पहले तो वास्तव में सन्नाटे में आ गये, फिर जब गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी व्याकरण के आधार पर 'अनस्थिरता' को शुद्ध सिद्ध कर दिया तब फरवरी १९०६ की सरस्वती में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से ही दूसरा लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने अपने पक्ष के प्रशंसक विद्वानों की सम्मतियाँ छापीं, अपने पक्ष का समर्थन किया और गुप्तजी की कटु आलोचना की।

एक बानगी देखिये—"शब्दों की व्युत्पत्ति उसे समझाई जाती है, जिसे समझने का शऊर होता है। जो इतना भी नहीं जानता कि 'जीव' और 'जीवन' में भेद है या नहीं, और है तो क्या है, जिसकी आँखें 'प्रकाशन' और 'प्रकटन' को देखकर दुखने लगती हैं, जिसकी समझ में 'ब' और 'व' का अन्तर अभी तक नहीं आया और जिसका पंचभूतात्मक प्रपंच भर्तृहरि का एक श्लोक सही-सही नकल तक नहीं कर सकता, उसका शब्दों की व्युत्पत्ति पूछना मानो तीन दमड़ी को दूकान रखने वाले किसी बनिये-बक्काल का जगत् सेठ राथ्सचाइल्ड या कारनेगी से उनकी सम्पत्ति का हिसाब पूछना है।"[2]

अपने नाम से प्रकाशित रचनाओं में तो वे शिष्टता की सीमा नहीं लाँघ सकते थे, अतः उन्होंने कल्लू अल्हइत के नाम से 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक एक करारा आल्हा लिखा। यह रचना एक देहाती की नाममात्र की अपनी पढ़ाई-लिखाई के बलबूते पर शहर आकर ईर्ष्या और अहंकार के मारे दूसरों की पगड़ियाँ उछालने तथा अन्य कुकृत्य करने की स्वीकारोक्ति है। कहना न होगा कि देहाती के रूप में द्विवेदीजी ने गुप्तजी को ही संकेतित किया है। इसकी कुछ संकेतपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाथ।
हमरिन गारिन के फूलन ते उनहिन के भै बोझिल माथ॥

× × ×

गुन जसु मानवु कौन चीज है सो हम अपन्यौ जानत नाहिं।
अस किरतघ्न और जो ढूँढ़ै मिली न सात बिलाइत माँहि॥

× × ×

पढ़ा गुना हम कुछौ नहींना, जो कुछ सिखा राम का नाउँ।
तहू बिरस्पति जो कुछ ब्वालै वहि मा दौरि घुसारी पाउँ॥

× × ×

हमरी नस-नस बीच बियावै इरखा और लोभ महराज।[1]

फिर अनुताप के क्षणों में वह देहाती स्वयं घोषणा करता है, "साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं।" यह पूरा आल्हा गुप्तजी की खिल्ली उड़ाने की दृष्टि से ही लिखा गया है। इससे द्विवेदीजी का उनके प्रति क्षोभ तो व्यक्त होता ही है, उनकी अपनी साहित्येतर सीमा भी प्रकट होती है। विचार के क्षेत्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण का सवाल उठाना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

गुप्तजी कब दबने वाले थे! उन्होंने इसके जवाब में तीन कविताएँ लिखीं 'गुरु घंटाल का स्वप्न', 'गुरुजी का हाल' और 'व्याकरणाचार्य'। 'गुरुजी का हाल' की कुछ चुभती हुई पंक्तियाँ देखिये—

कहो गुरूजी कैसा हाल। रह गई चोटी उड़ गयी खाल।
फैलाये कितने ही जाल। गली नहीं पर मेरी दाल॥
रही हमारी जो कुछ पोल। यारो ने सब डाली खोल।
नाहक मैं उलझा बेतौर। किया नहीं कुछ पहले गौर॥
'टिड्ढाण' की ढाल बनाई। उल्टी सीधी खूब सुनाई।
पर आखिर को मुँह की खाई। अपनी करनी आगे आई॥

गुरूजी की पोल खुल जाने पर सब उनकी हँसी उड़ाने लगे। उनको बेहाल बैठे देखकर उनके भाई-बन्द दौड़े आये।

बैठे थे हम मन को मारे। भाई-बन्द आ गये सारे।
मोटे-मोटे लट्ठ उठाये। बोले—कल्लू कस बुलवाये॥
तो संग को करि सकै मरोरि। अभी देहि हम माथा फोरि।

द्विवेदीजी का सर्वप्रथम प्रभावी समर्थन पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने गुमनाम रहकर किया था, अतः उनकी विशाल काया की चुटकी लेते हुए गुप्तजी ने लिखा—"आये पहले हाथी राम, कोई न जाने जिनका नाम।" पं० माधवराव सप्रे एवं पं० अप्पा शास्त्री ने 'अनस्थिरता' को संस्कृत व्याकरण से भी सिद्ध माना था। संभवतः इसी की ओर संकेत करते हुए गुप्तजी ने लिखा—

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४५२।
२. वाग्विलास, पृ० ३४१।

१. कविता कौमुदी (दूसरा भाग), पृ० ५२८-२९।

मरहट्ठों ने रख लई लाज। इससे जान बची है आज।
तो भी कुछ-कुछ हैं गुर्राते। चुपके-चुपके हैं चिचियाते।[1]

द्विवेदीजी के अहंकार पर कटाक्ष करते हुए गुप्तजी ने 'व्याकरणाचार्य' में लिखा—

साधो मैं व्याकरणाचारी।
घर ही के कोने में मिल गई मुझको विद्या सारी।
सबसे अधिक पसन्द मुझे है अपनी ही टिड्ढाँण॥
मेरा कहना तुम भी मानो बाबा वचन प्रमाण।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस गहरी नोक-झोंक, तेज-तर्रार उत्तर-प्रत्युत्तर, तीखे व्यंग्य विद्रूप के कारण इस साहित्यिक द्वन्द्व के दौरान प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोबिन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि-आदि के लेख, पद्य बड़े ही चित्ताकर्षक बन गये हैं और आज भी उनको पढ़ने में बड़ा मजा आता है। कितना अच्छा हो यदि इन सबको एकत्र संकलित कर ग्रन्थाकार प्रकाशित कर दिया जाये।

क्या यह सारा विवाद शुद्ध साहित्यिक मतभेद के कारण ही खड़ा हुआ था? यह ठीक है कि द्विवेदीजी और गुप्तजी की भाषा-सम्बन्धी दृष्टि में कुछ अन्तर था, एक का ज्यादा जोर व्याकरण पर था, दूसरे का शिष्ट भाषा-प्रवाह पर, किन्तु क्या उसी के कारण विचार-विवेचन में इतने वैयक्तिक आक्षेप किये जा सकते थे? साहित्यिक द्वन्द्व में तीक्ष्णता का संचार करने वाले दो प्रमुख तत्त्वों के रूप में ईर्ष्या और स्पर्धा की चर्चा इस लेख के आरम्भ में की गयी है। सच्चाई यह है कि वे दोनों तत्त्व इस द्वन्द्व में भी सक्रिय थे।

द्विवेदीजी और गुप्तजी के स्नेहपूर्ण सम्बन्धों में पहला तनाव तब आया था जब लाला सीताराम की द्विवेदीजी द्वारा की गयी कठोर आलोचनाओं के प्रति गुप्तजी ने असहमति प्रकट की थी। फिर २९ जनवरी १९०० ई० के भारतमित्र में हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की कड़ी आलोचना करते हुए द्विवेदीजी ने उसमें संकलित 'खिलौना' पुस्तक की एक कविता 'गिलहरी का व्याह' की भी गलतियाँ दिखायी थीं। 'खिलौना' के लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे, सम्भवतः उन्होंने ही रामभजराम के नाम से उसका चुटीला उत्तर लिखकर द्विवेदीजी की आलोचना को निःसार सिद्ध किया। द्विवेदीजी भी रामभजराम पर कुछ ताव खा गये, किन्तु जब उन्हें श्री श्रीधर पाठक से पता चला कि खिलौना के लेखक गुप्तजी हैं तो उन्होंने गुप्तजी को व्यक्तिगत पत्र लिखकर इस मामले को रफा-दफा करना चाहा। गुप्तजी ने अपने पत्र में यह तो लिखा कि 'खिलौना' पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है, दुःख नहीं। ऐसी बातों का मुझे ख्याल नहीं होता।[1] पर यह भी लिखा—"आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करूँ? पर शर्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन में गाँठ पड़ गयी थी। इसके बाद 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की एक-दो रचनाएँ ही छपीं और जब उनकी एक-दो रचनाओं को मर्यादा के अनुकूल न होने के कारण 'भारतमित्र' में प्रकाशित करने में गुप्तजी ने असमर्थता प्रकट की तो उनको द्विवेदीजी ने वापस मँगवा लिया और फिर 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ अपनी कोई रचना नहीं भेजी। इस समय तक गुप्तजी और द्विवेदीजी समान स्तर के ही लेखक माने जाते थे बल्कि 'भारतमित्र' जैसे प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक होने के कारण गुप्तजी का प्रभाव अधिक था। क्रमशः आलोचक के रूप में द्विवेदीजी की प्रतिष्ठा बढ़ती चली गयी। १९०३ में वे 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए और शीघ्र ही 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बन गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ रचना भेजने के लिए गुप्तजी से कभी अनुरोध नहीं किया यद्यपि वे अन्य बड़े लेखकों से आग्रहपूर्वक लेख मँगवाते रहे। द्विवेदीजी के सम्पादन-काल के पहले से ही गुप्तजी 'सरस्वती' पर छींटाकशी करते रहे, द्विवेदीजी के सम्पादक होने के बाद भी वह जारी रही, बल्कि उसमें कुछ तेजी ही आयी। इसीलिए द्विवेदीजी ने अपने दूसरे लेख में लिखा था—"जिस काया में घुसकर हमारे शूर समालोचक बाण वर्षा कर रहे हैं, उसकी शुरू ही से 'सरस्वती' पर नेक नजर रही है। आक्रमण-पर-आक्रमण उस पर होते आये हैं। पर हमने कभी उनकी तरफ ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी। नहीं मालूम क्यों, कुछ लोगों की आँख में 'सरस्वती'

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ७२१-२२।
२. वही, पृ० ७२२।

१. बा० मु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १२७।

काँटे-सी चुभती है।"[1] यही नहीं उन्होंने गुप्तजी पर 'ईर्षा-द्वेष से जलने' और 'परोत्कर्षासहिष्णु' होने का आरोप भी लगाया। गुप्तजी इससे बहुत मर्माहत हुए और उन्होंने 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक से छह लेख लिखकर अपनी सफाई दी और द्विवेदीजी से विनय की कि इस बहस में वह अपने मुकाबिल को ईर्षा-द्वेष के इल्ज़ामों से रहित करें, चाहे उसे अल्पज्ञ समझते रहें।[2] किन्तु इस लम्बी सफाई के बावजूद यह मानना कठिन है कि उनमें ईर्षा और स्पर्धा की भावना नहीं थी। 'भारतमित्र' की तुलना में 'सरस्वती' बहुत सजधज के साथ, अच्छे कागज़ पर अच्छी तरह मुद्रित होकर प्रकाशित होती थी। मासिक पत्र होने के कारण उसमें अधिक स्थायी महत्त्व की सामग्री जाती थी और हिन्दी जगत् पर उसका गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ता था। इसी द्वन्द्व के समय ही गुप्तजी ने अपने मित्र उर्दू 'ज़माना' के सम्पादक बाबू दयानारायण निगम को एक पत्र में लिखा था—"मेरे जी में हिन्दी का एक माहवार रिसाला निकालने की समाई हुई है, जिसकी बड़ी ज़रूरत है। हिन्दी में सिर्फ एक 'सरस्वती' है, जो ऊपर से परी बनी हुई है, मगर अन्दर से···।"[3] सम्पादकों ने इस पत्र का इतना ही अंश छापा है, किन्तु इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस वाक्य का शेषांश कैसा रहा होगा। भीतर की बात तो यह थी किन्तु अपनी सफाई में गुप्तजी ने लिखा था—"सरस्वती का हमारे यहाँ बड़ा आदर है।···एक चिकने कागज़ की उत्तम टाइप की बढ़िया तस्वीरोंवाली ठीक समय पर निकलने वाली हिन्दी मासिक पत्रिका किस हिन्दी प्रेमी की आँखों में काँटे-सी खटकेगी? बेहतर हो कि चुभती का हम वह अर्थ लें जो शहरवालों के रोज़मर्रह में आता है। शहरवाले अपनी बहुत पसन्द की प्यारी चीज़ को चुभती हुई कहते हैं।"[4] गुप्तजी की चुलबुली शैली की दाद देनी पड़ती है कि इस सफाई में भी वे एक गहरी चोट कर गये हैं, 'सरस्वती' के अन्य गुणों की प्रशंसा करते हुए उसमें प्रकाशित सामग्री की चर्चा भी न करना वैसा ही है जैसे किसी विद्वान की प्रशंसा उसकी विद्वत्ता के लिए न कर उसके ठाठ-बाट के लिए करना। द्विवेदीजी को नीचा दिखाने की, उनका मान-

१. वाग्विलास, पृ० १३२-३३।
२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५०५।
३. बा० गु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० २०६।
४. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५११-१२।

मर्दन करने की भावना 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेख-माला में अत्यन्त स्पष्ट है, शाब्दिक सफाई का पर्दा डालने की लाख चेष्टा करने पर भी उसे ढाँका नहीं जा सकता।

दूसरी तरफ द्विवेदीजी का अहंकार भी कुछ कम न था। लाला सीताराम पत्तनलाल, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० माधव-प्रसाद मिश्र और स्वयं बाबू बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं और कार्य-पद्धति की उनकी आलोचना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक थी। उनमें दूसरों की अज्ञता और अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का भाव झलकता ही नहीं उबलता रहता था। बाद में उन्होंने अपने को बहुत हद तक संयत कर लिया था। इस संयम के पीछे 'भाषा की अनस्थिरता' द्वन्द्व का अनुभव भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। १९२८ ई० में वाग्विलास की भूमिका में विवादी लेखन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"आत्माभिमान, परद्वेष मद, मत्सर आदि भी विकार हैं। उनके वशीभूत होकर मनुष्य कभी-कभी सकारण और कभी-कभी अकारण भी दूसरों पर आक्रमण कर बैठता है, उन्हें अपदस्थ करने की चेष्टा करता है और उनकी कुत्सा करके अपने प्रेरक विकारों का विजृम्भण करने लगता है। यह बात वह वाणी द्वारा, लेख द्वारा तथा और तरह से भी करता है।"[1] यह पूरी भूमिका केवल द्विवेदीजी के ही नहीं समस्त विवादी लेखन के मनोविज्ञान को समझने में बहुत सहायक है। विवादी लेखों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होनेवालों को वृद्ध एवं अनुभवी द्विवेदीजी की यह स्वीकारोक्ति स्मरण रखनी चाहिए—"यदि आलोचक को मनुष्य स्वभाव का यथेष्ट ज्ञान होता और यदि वह सहिष्णुता से काम लेता जैसा कि उसे चाहिए था तो इन लेखों के लिखे जाने की नौबत ही न आती।"[2] आत्मकथा शीर्षक अपने लेख में द्विवेदीजी ने और भी साफ शब्दों में स्वीकारा है—"इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रौब जमाया।"[3] द्विवेदीजी के साहित्यिक अभियानों से सामान्य परिचय रखने-वाले भी यह आसानी से समझ सकते हैं कि उस सन्दर्भ में

१. वाग्विलास, पृ० ५।
२. वही, पृ० ८।
३. संचयन, पृ० ३२।

सभा, लाला और बाबू का अर्थ है काशी नागरी प्रचारिणी सभा, लाला सीताराम तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त।

किन्तु वृद्ध गुरुजनों के पश्चात्ताप से उमंग और साहस से भरे महात्त्वाकांक्षी तरुण विशेष कुछ सीखते हैं, इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। फलतः साहित्यिक द्वन्द्व समय-समय पर ज़ोर-शोर से छिड़ता ही रहता है और छिड़ता ही रहेगा। यह ठीक है कि उससे धूल बहुत उड़ती है, किन्तु यह भी ठीक है कि अतिरंजना और एकांगिता के बावजूद उससे विचार्य विषय के विविध पक्ष भी सामने आते हैं और लोगों को चटखारा लेने का आनन्द भी मिलता है। साहित्यिक प्रगति के लिए वैचारिक द्वन्द्व तो अनिवार्य ही हैं। द्वन्द्व की प्रकृति ही ऐसी है कि उसे वैयक्तिक आक्षेपों से मुक्त रखना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। ज्ञानियों की चेतना को भी जो महामाया बलपूर्वक द्वन्द्व-मोह में प्रवृत्त कर देती है, उससे निस्तार पाकर निर्द्वन्द्व हो जाना किसी विरले भावयोगी के लिए ही सम्भव है, लेकिन तब तो वह सृष्टि की स्थिति से परे चला जाता है। सर्जना के लिए द्वन्द्व अनिवार्य है अतः साहित्यिक द्वन्द्व को कोसना बेकार है, हाँ उसके स्तर को ऊँचा उठाते रहने की चेष्टा अवश्य होती रहनी चाहिए। ●

श्वेतवाद के अँधेरे में नीग्रो चेतना

जॉन एल० कूपर

अमेरिका सामाजिक समस्याओं से घिरा मुल्क है। इन समस्याओं में श्वेत और अश्वेत के बीच की समस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। हालाँकि इस समस्या को राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों के आधार पर देखा जा सकता है, किन्तु तथ्य यह है कि श्वेत और अश्वेत के बीच फर्क का प्रमाण दोनों वर्गों के भीतर वर्णभेद के अन्तर और भिन्नताएँ हैं। ऐसी बात नहीं कि कोई अपनी उस सामाजिक-आर्थिक पद्धति की उपेक्षा कर सकता है जो अंध-हठधर्मिता और पक्षपात तथा ऐसे ही अन्य तत्त्वों को दो वर्गों के बीच जारी कर परिपोषित तथा स्थिर करती है बल्कि ये व्यवस्थाएँ तो मनुष्य के मस्तिष्क की ही उपज हैं। इस कटुता को जो अपनी क्रियात्मकता में विरासत से प्राप्त है, यदि उसके मूल प्रारूप और उद्देश्य के आधारों पर देखा जाय तो यह हमें बहुत पीछे उन व्यक्तियों के विचारों की ओर ले जाती है जो अपनी इस निर्मिति में बेहद सक्रिय थे।

श्वेत और अश्वेत के बीच स्थित समस्या का एक समाजशास्त्री कैसे अध्ययन करे—वह इसे निश्चित ही आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही देखेगा। परन्तु क्या ऐसा प्रयास समस्या के मूल और उसके मूलभूत कारणों को आलोकित कर सकता है ? सम्भवतः केवल ऐसी स्थिति में ही जब वह काफी चतुर द्रष्टा हो। पर मेरे विचार से इस समस्या का अध्ययन किसी दी गई संस्था के परिप्रेक्ष्य से नहीं किया जाना चाहिए, इसे मानवीय, आत्मिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, जो इस सामाजिक यथार्थ में अस्तित्ववान है। और अगर कोई अश्वेत को, उसकी स्थापित व्यवस्था और खासतौर से श्वेत लोगों के खिलाफ नफरत और गुस्से के प्रदर्शित रूप को समझने का प्रयास करता है तो उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह पूरी समस्या को 'मानवीय दृष्टि' का आधार लेकर अध्ययन करे। ऐसा माना गया है कि समाज मनुष्य की निर्मिति रहे हैं तथा उनका विकास मनुष्य की परिकल्पनाओं के मुताबिक होता आया है, ठीक वैसे ही जाति, वंशगत वर्ण-घृणा, पक्षपात, अपमान आदि भी उसी परिकल्पना की परिणतियाँ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जन्मने के बाद वंशगत तेजस्विता और अनिवार्यता के अनुरूप सामाजिक बनता है। सामाजिक होने की प्रक्रिया में यह वंशगत कारक बहिर्व्यक्त हो जाता है। इस तरह के अनेक व्यक्तियों से बाहर अभिव्यक्ति पाये अनेक कारक समूहीकृत हो जाते हैं। यही समूहीकरण एक सामाजिक सत्य या सामाजिक यथार्थ बन जाता है। हालांकि एक व्यक्ति अपनी निजी सामाजिक चेतना के यथार्थ को ही समाज में व्यवहृत करता है। समाजों के इसी सामूहिक सक्रिय प्रदाय द्वारा ही सामाजिक यथार्थ का रूप व्यक्तियों के समूह को शक्तिशाली नियमित शक्ति और यहाँ तक कि बाहरी दुनिया को भीषण रूप से भयभीत करने की क्षमता से सम्पन्न कर उस समाज में विरोध की क्षमता पैदा करता है। एक व्यक्ति समाज में अपने जिस यथार्थ को हस्तान्तरित करता है वह समाज में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित हो जाता है। इसीलिए एक व्यक्ति को वह प्रत्यक्ष उपस्थिति फिर से अपने विचार-जगत् से गुज़ारनी पड़ती है, लेकिन उस रूप में नहीं जिस रूप में एक व्यक्ति की हैसियत से उसने अपना निजी यथार्थ समाज में मिलाया था बल्कि उस 'सामूहिक चेतना' के रूप में उसे अन्तःस्थ करना होता है जैसे वह कोई सामाजिक क्रिया-व्यवहार हो। व्यक्तिगत यथार्थों का यह समूहीकृत रूप (चाहे व्यक्ति इसे नापसन्द ही क्यों न करता हो) व्यक्ति के निजी मौलिक यथार्थ से ज्यादा सच बन जाता है। पीटर एल० बर्गर ने कहा भी है कि हम तब तक किसी तथ्य को सामाजिक नहीं कहेंगे जब तक कि वह प्रत्यक्ष उपस्थित

न हो और जब तक वह व्यक्तियों को विवश न कर दे कि यह प्रत्यक्ष यथार्थ है।

निजी सत्यों का समूहीकरण ही सब लोगों के लिए सामाजिक यथार्थ बनता है। इसलिए भी कि मनुष्य अव्यवस्था में व्यवस्था खोजता है और एक प्रत्यक्ष समाज सामाजिक यथार्थ के रूप में मनुष्य को बसने के लिए व्यवस्थित दुनिया प्रदान करता है। परन्तु आज के समाजों की प्रक्रिया में, उनके कार्यकारी रूपों में व्यक्ति का समग्र यथार्थ सामूहिक सामाजिक सत्य को पुष्ट करने वाला होना अनिवार्य है।

जिन जटिल समाजों में आज हम रहते हैं उनमें एक व्यक्ति हमेशा अपने को सामाजिक व्यवस्था का आश्रित पाता है जो उसे बुनियादी सच्चाइयों से परिचित करा सके। किन्तु इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वह यह खोजता है कि समाज उसे सार्थकता और उद्देश्य की चेतना भी दे। समाजों का यह जटिल रूप मानव-जीवन की समग्रता को छूता जरूर है। निजी और सामाजिक ज़रूरतों का जहाँ तक मामला है, समाज में कोई व्यक्तिगत और सार्वजनिक विभाजन नहीं है। उनमें एकता है। वह हर रास्ता, जिसे व्यक्ति परम्परागत ढंग से देखता है, जिसके द्वारा वह अपनी स्थिति का अन्दाज़ा लगाता है, सामाजिक सच्चाइयों के रूप में ढल जाता है। इसलिए जब समाज एक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत सच्चाइयों के ऊपर सामाजिक यथार्थ को स्वीकार करने के लिए विवश करता है तो व्यक्ति समाज को ऐसे प्रारूप के रूप में भी स्वीकार कर लेता है जिसमें वह अपने-आपसे साक्षात कर सकता है या अपनी निजी स्थिति से परिचित हो सकता है।

अमरीका में काला आदमी भी इसी तरह के सामाजिक यथार्थ से घिरा हुआ है जो उसे विवश करता है कि वह अपने को न पहचाने और स्वीकृत सामाजिक यथार्थ में अपने को किन्हीं कारणों से जान-बूझकर उपेक्षित और अदृश्य समझे। राल्फ एलिसन ने इस संदर्भ में कहा है—"मैं एक न दिखने वाला इन्सान हूँ। नहीं मैं उन प्रेतों की तरह नहीं हूँ जिनकी प्रेत-छायाएँ एडगर एलन पो के पीछे थीं और न मैं हालीवुड सिनेजगत का 'एक्टोप्लाज़्म' हूँ। मैं अस्तित्व के तमाम सार से युक्त, मांस-मज्जा-द्रव्य-चर्मयुक्त इन्सान हूँ और मेरे बारे में कहा जा सकता है कि मेरा मस्तिष्क भी है। मैं दृश्य हूँ, समझा जा सकने वाला हूँ, सिर्फ इस मायने में कि लोग मुझे देखकर अस्वीकार कर सकें। आपने सरकस में शरीरहीन सिर देखे होंगे, ठीक ऐसे ही मुझे लगता है जैसे मैं कठोर, खंडित शीशों के दर्पणों से घिरा हुआ हूँ। जब वे मेरे पास आते हैं तो वे केवल मेरा परिवेश, अपनी परिकल्पनाओं के टुकड़ों से निर्मित प्रभाव देखते हैं। सिवा मेरे वे सब-कुछ देखते हैं, हर चीज़।

ठीक है कि काले लोग मांस-मज्जा द्रव्ययुक्त, अस्तित्व-सारयुक्त प्राणी हैं, किन्तु सामाजिक यथार्थ में आत्म-बोध और अस्तित्व केवल आदमी की शारीरिक उपस्थिति और निजी सोचने की प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होते। इसका निर्धारण उन लक्ष्यों, व्यवस्था के उन मूल्यों के द्वारा होता है जो एक खास सामाजिक-यथार्थ के संदर्भ के अपने ही ढंग के आदर्श से जुड़े हैं। अमेरिका में मनुष्य और मनुष्यता की कल्पना से मतलब श्वेत चमड़ी का आदमी है। हर काम के लिए, जरूरत के संदर्भ में वह श्वेत संसार है—ऐसा श्वेत संसार कि जो काले वर्ण के अस्तित्व से रहित है।

सामाजिक यथार्थ कौन-सी अपेक्षाएँ रखता है, इसके विपरीत वह मानव-जाति जो अमेरिका में रहती है, उस मानवीय बिम्ब के अनुसार अमेरिका में काले लोग हैं—वे काले लोग जो मनुष्य हैं, जो यथार्थ रूपाकृति धारण किए हुए हैं। अतः ये काले लोग उस समग्र बिम्ब से अलग कैसे किये जा सकते हैं, आखिर यह सामाजिक यथार्थ समाज की सारी व्यक्तिगत (निजी) सच्चाइयों की सामूहिक निर्मिति है। परन्तु यह जानने के लिए कि ऐसी अवधारणाएँ कैसे सम्भव होती हैं हमें अपने मस्तिष्क में ग्रहण करना होगा कि मानव-चेतना इन्द्रियेतर प्रक्रिया है।

काले आदमी में सामाजिक होने की क्षमताएं ठोस रूप में विद्यमान हैं। श्वेत की तरह उसे भी सामाजिक विधान में अपना निजी सामाजिक दाम लगाना है। यह एक सहधर्मी प्रकृति है। और क्योंकि यह उसके स्वभाव का एक ऐसा अंग है जिस पर उसका अपना कोई नियन्त्रण नहीं, यह एक ऐसी चीज़ है जो उसे अवश्य करनी चाहिए। यह व्यक्ति के वंशगत अवचेतन के विकास का एक पक्ष है। जब समाज व्यक्ति के निजी यथार्थ को अपने में समाविष्ट कर लेता है, जो नितान्त निजी होता है, तब वह उसे सामूहिक यथार्थ अंश के रूप में विस्तृत कर लेता है। और उस एकीकृत रूप को व्यक्ति इकाई पर थोप देता है। काला आदमी भी अपनी

निजी चेतना में सहज सामाजिक नहीं बन पाता बल्कि उल्टे वह इस अनुभव के लिए बाध्य हो जाता है कि वह एक विशेष निजी चेतना का अंग है। एक आदमी सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का आत्म-विश्लेषण तथा आत्मबोध के लिए एक ज़रूरत समझता है, समाज उसे यह अहसास देता है कि उसका विकास होगा। वह मानसिक रूप से प्रौढ़त्व प्राप्त करेगा। वह इसके विपरीत समाज की इस भूमिका को अपनी शक्ति भर अस्वीकार करेगा क्योंकि उसे लगता है कि समाज एक सही विकास से उसे अवरुद्ध कर रहा है। जैसा हम कह चुके हैं समाज एक व्यक्ति को अपना यथार्थ स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है, काले आदमी के मामले में एक दूसरी बात उभरती है, उसे वह स्वीकार नामंजूर करना चाहिए, जिसे वह इसलिए स्वीकार करता है कि उसके सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

गोरे आदमी की दुनिया में काले आदमी को अपने आत्म-बोध की रूपाकृति को बदलना होगा और वह बदलाव भी प्रतीकात्मक बदलाव होगा—काले और गोरे आदमियों की इन्हीं संज्ञाओं के भीतर विरासत में प्राप्त ऐसा प्रतीकधर्मी गुण है जो एक गुणधर्मी विरेचन उत्पन्न कर सकता है। मूल-रूप से काले और गोरे आदमी का विचार मात्र प्रतीकात्मक है। मानवता की इकाई के नाते सब मनुष्य समान गोत्र के हैं। गोरे और काले जैसी संज्ञाएँ मात्र वे सुविधाएँ हैं जिनसे मनुष्य निजी जागरूकता से उठकर अपनी व्यक्तिगत सच्चा-इयों को सामाजिक यथार्थ में प्रसारित करता है। वर्ण एक व्यक्तिगत पहचान है, रंगग्राही आँखें उस निजता को व्यक्ति तक सीमित कर देती हैं। वर्णान्धता तो चिकित्सा का विषय है। किन्तु इसी के साथ सवाल यह उठता है कि काले-गोरे वर्णों की पहचान अगर व्यक्तिगत है तो फिर काले और गोरे रंगों की आम स्वीकृति क्यों है। लोगों द्वारा यह मंजूर किया जाना कि यह गोरा है, यह काला है, मतलब ही यह रखता है कि काले और गोरे अमरीकी समाज की एक दृश्य सच्चाई है। उदाहरण के लिए अमरीकी झण्डे में लाल, सफेद और नीले तीन रंग हैं, लेकिन अमेरिका में किसी भी आदमी को दो मूल गोरे और कोले रंगों को उनके विशेष संदर्भों में, दूसरे अर्थों के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मानसिकता और सामाजिकता दो ऐसे बिन्दु हैं जो एक व्यक्ति को अमरीकी सामाजिक पद्धति में भागीदार बनाते हैं।

एक समाज में चेतना के रूपाकार और सामाजिक व्यवस्था इस तरह से निर्मित होते हैं कि वह व्यक्ति को, मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करने वाली उस आदर्श व्यवस्था में भागीदार बनने और स्वीकार करने के लिए अनुप्रेरित करती है। अमरीका में आदर्श समाज गौरांग वर्ग है। काला आदमी अपने-आपको प्रतीकात्मक ढंग से उस समाज से जोड़ सकता है, यथार्थ में वह 'गौरांग वर्ग' के मनुष्य की व्यवस्था है। तथ्य यह है कि गोरे आदमी के दावे का समर्थन करने वाला एक समाज है जबकि काले आदमी के अपने अस्तित्व के लिए सिर्फ व्यक्तिगत दावे हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण के मुताबिक हम एक पूर्ण भौतिकवादी समाज को स्वीकृति दे सकते हैं, तमाम समाजों को बेशक नहीं, जो व्यक्ति से व्यक्ति-गत यथार्थ की जगह सामूहिक यथार्थ स्वीकार करने का आग्रह करता है। यह बात उस समाज में रहने वाले मनुष्य की मानवीय जागरूकता निर्धारित करती है। इस सिलसिले में काला आदमी अपनी मानवीय दृष्टि को अस्वीकार करने की जागरूकता स्वीकार कर रहा है, जबकि चेतकर उसे वह अस्वीकार करना चाहिए जो उसकी जागरूकता को अस्वीकार करता है क्योंकि उसके पास न तो कोई मनोचेतना है और न सामाजिक व्यवस्था की समाजीकृत कोई प्रक्रिया जो उसे स्वीकार करने की छूट दे। खासतौर से ऐसे समाज में जहाँ आत्मबोध के सभी रास्ते समाज में केन्द्रित माने जाते हैं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक ज़रूरतों में विभेद नहीं होता, वहाँ गोरे समाज के बीच काला आदमी अदेखा रह जाता है क्योंकि उसके पास अपनी निजी अस्मिता की पहचान का मूल्यों और गन्तव्यों के पारिभाषिक वृत्त का कोई रास्ता उस व्यवस्था में नहीं होता, जबकि तथ्य है कि मनुष्य के रूपाकार में एक निजता हर समय विद्यमान होती है। और इसी तथ्य के मुताबिक काले आदमी को भी अपनी समग्र क्षमताओं का, अपने स्वभावानुसार प्रदर्शन करना चाहिए क्योंकि वे काले आदमी को दूसरी तरह से अपने को व्यक्त करने का मौका नहीं देंगे। नीग्रो की वर्ण-चेतना को उस समाज की बाहरी रूपरेखा से अलग अपने को पूर्ण रूप से बदलना है जिसमें वह खुद को जोड़ता है क्योंकि उस समाज ने उसके और गोरे आदमी के यथार्थ को समूहीकृत कर डाला है। काले आदमी द्वारा सामाजिक विधान से निषेध का तर्क उसके काले वर्ण पर निर्भर करता है, व्यक्ति के वंशानुक्रम प्रभावों की

सक्रियता का मतलब है अपने काले वर्ण को अस्वीकार करना। चाहे यह एक व्यक्ति-विशेष (काले आदमी) की चेतना दुर्घटना की नहीं है, परन्तु ऐसा लगता है कि काला आदमी अपनी निजता के निर्माण में है और अपने आत्मबोध के प्रभाव को शक्तिशाली बना रहा है। परन्तु ऐसा मान लेना कि काला आदमी अपनी निजता को शक्तिशाली बना रहा है केवल कल्पित सुरक्षा है जिसे असफल होना ही है क्योंकि यह निजता सिर्फ बेमानी अपील है, जो आगे चलकर एक व्यक्ति के निजी अहंकार को क्षीण करने में सहायक होती है।

राल्फ ऐलिसन की घोषणा कि वह 'अदेखा' है, स्पष्ट करती है कि वह 'अदेखा' इसलिए है कि गोरे लोग उसे अस्वीकार करते हैं। परन्तु जब कोई व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील होता है वह अपने को जानने में सक्षम होता है, उस युगचेतना से युक्त होकर जो उसकी पहचान की चेतना है। हमारे वर्तमान समाज में ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यही है कि एक व्यक्ति निर्वैयक्तिक होकर समाज को देखे और अपनी निजता का कोई परिणाम खोजे जो एक 'खुशफहम यन्त्रमानव' बनाने से बचाए। चाहे निजता का लघुतम परिणाम ही क्यों न हो, चाहे वह निजी स्वप्नों में क्यों न आता हो, जरूरी है। आखिर स्वप्न भी सर्जन की भूमिका निभाते हैं। मैं तो यहाँ यह सवाल करूँगा कि क्या काले आदमी को स्वप्न लेने की सीमित फुरसत और आज़ादी के बारे में पता भी है? 'निजता' के बोध के अभाव में कोई आदमी सिर्फ बेमतलब सपने देख सकता है। जहाँ तक मेरा अपना अनुभव है, मैं कहना चाहूँगा कि ज्यादातर काले लोगों के सपने बेमतलब हैं। ज्यादा-से-ज्यादा उनके सपने 'श्वेत होने' के हैं अर्थात् वे उनके अपने 'आत्मबोध' के सपने नहीं हैं बल्कि उस 'प्रतीक' के सपने हैं जिसका लक्षण और जिसके मूल्य 'श्वेतवाद' का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जब कोई सर्जनशीलता के संदर्भों से जोड़कर बात करता है तो वह निश्चित रूप से सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में अपना तर्क देता है। सौन्दर्य-चिन्तन सदैव सर्जनशील व्यक्ति के लिए एक अनुप्रेरण के रूप में काम करता है। अपने ही अर्थों में यह एक पुरस्कर्ता अनुप्रेरक है। सौंदर्यशास्त्र क्योंकि मूलतः व्यक्तिवादी है, वह हर आदमी (मानव) को यथार्थ को ग्रहण करने की निश्चित धारकता देता है। यथार्थ की यह धारणा सौंदर्यशास्त्रीय धारकता है। और यही धारकता आदमी को सृष्टि की समग्रता की चेतना की निजता देती है, जो छोटे अनुभव-क्षेत्रों से सामाजिक परिवेश के अनुभवों तक संचरित होती है। देखना यह है कि सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में इस सौन्दर्यशास्त्रपरक धारणा का काले आदमी के लिए क्या अर्थ है? इसका मतलब है कि काले आदमी की सामाजिक परिवेश द्वारा निर्धारित ऐन्द्रिय चेतना संभवतः एक खंडित पूर्णता है। यानी जो वह सुनता है वह असली आवाज़ की आवाज़ नहीं है, जो वह देखता है वह बिम्ब का असली बिम्ब नहीं है। इस तरह उसकी बिम्ब-ग्रहण-क्षमता तब ज्यादा विरूप और खंडित मालूम पड़ती है जब गोरी दुनिया के प्रतीकों से और सामाजिक सच्चाई के मूल्यों का उसे सामना करना पड़ता है।

अनुभव या धारणा की यह विरूपता ही काले आदमी को उस विद्यमान सामाजिक यथार्थ से परे कर देती है। ज्यादा दुःखदायी स्थिति यह है कि काला आदमी सामाजिक यथार्थ के 'वस्तुरूप' को आसानी से स्वीकार कर लेता है। यह विचार कि काले आदमी का जीवन गोरे आदमी की जातिवादी सक्रियता से मुश्किल बन गया है 'श्वेताश्वेत' की समस्या का सत्व या सार या केन्द्र नहीं है। सिर्फ इतना ही कि अश्वेत का अस्तित्व एक सामाजिक यथार्थ है, इतनी घातक सच्चाई है कि उसके मुकाबले में जातिवादी आक्रामकता उतनी घातक नहीं है।

सामाजिक सच्चाई को अस्वीकार कर अपने लिए एक किस्म की आत्म-पराजय की दुनिया बनाना अपनी खातिर राक्षसी दुनिया बनाना है। काले आदमी के व्यक्तित्व में संक्रमणकालीन द्वन्द्व की स्थिति बनाये रखने वाली शक्तियाँ इस दुनिया का उपयोग करती हैं। काले आदमी का व्यवहार उसे 'न्यूरोटिक' के नज़दीक ले आता है क्योंकि काला आदमी अपनी 'निजता' की खोज में निरन्तर भाग रहा है, वह अपनी उपस्थिति का ही भक्षण कर रहा है। जब भी काला आदमी विरोध प्रकट करता है वह अकेला पड़ जाता है। 'अकेलापन' उसकी नियति बन जाती है। काले आदमी को हीन बनाने वाली इस प्रक्रिया में अपनी असुरक्षा से सुरक्षा की ओर का आग्रह तथा बलात् आत्म-ग्लानि से नैराश्य की ओर जाना जैसी स्थितियाँ हैं।

काले आदमी की हीन भावना सामान्य भावना नहीं है। गोरी दुनिया में अपने अस्तित्व की रक्षा से लेकर आत्म-पराजय की भावना तक में काले आदमी को अपनी शारीरिक

प्रगति तक के लिए कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। शरीर की प्रगति की चेतना एक निषेधात्मक क्रिया है। वह अन्य पुरुष जैसी चेतना है। चाहे काला शरीर निश्चित वातावरण की अनिश्चितताओं से घिरा हुआ है। उसमें यह बोध कि वह भी श्वेत दुनिया का हिस्सा है, जागता नहीं है। वह गोरे आदमी पर बोझ नहीं बनना चाहता और वह यह सोचता है कि यह गोरे आदमी की दुनिया है —वह क्यों इसके बीच में आये। अगर मूल्य के रूप में स्थित श्वेतवाद विलुप्त हो जाए तो काले आदमी की वर्ण-चेतना का आग्रह भी खत्म हो जायेगा, ये दोनों विरोधी होने की वजह से ही कहीं अन्दर जुड़े हुए हैं। काले आदमी का कालापन केवल इसलिए स्पष्ट है क्योंकि वह गोरी दुनिया में रहता है। पर यह भी सच है कि श्वेतवाद का महत्त्व उसके चारों तरफ घिरे कालेपन से है।

काला आदमी इस गोरे, भौतिक संसार के ठीक बीच में स्थित है। बीच में स्थित ज़रूर है लेकिन एक भटकते हुए पिण्ड की तरह वह अपनी ही चेतना के भटकाव में भटकता हुआ पिण्ड है। अपना एक भयानक बिम्ब बनाता हुआ, वह नीग्रो रूपाकृति को धीरे-धीरे बन्द करता हुआ इसी प्रक्रिया में अपना आत्मबोध क्षीण करता जा रहा है। अन्तिम रूप से यही कहा जा सकता है कि इन प्रक्रियाओं द्वारा वह एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा कर रहा है जो काले रूपाकार और बाहरी दुनिया की सरहदें साफ-साफ कर देती है।

यौन और यौनाचार एक ऐसा माध्यम है जिसमें आदमी अपने-आपको पहचानता है। दो व्यक्तियों के बीच सबसे ज्यादा आत्मीयता यौन-समागम के अवसर पर होती है। अपनी निजी-से-निजी पद्धति में यौन अगर कोई रूपाकृति ग्रहण करता है तो वह कलात्मक ही नहीं सृजनात्मक भी हो सकती है। दूसरे शब्दों में यौन-समागम के परिणामस्वरूप जो सौन्दर्यवृत्ति जागती है वह किसी भी व्यक्ति की निजी कलात्मक उपलब्धि कही जा सकती है। माना जाता है कि हर सृजनात्मक क्रिया किसी-न-किसी तरह की आत्म-स्वीकृति और आत्मबोध की प्रक्रिया के साथ जुड़ी होती है। काले आदमी के सिलसिले में सौंदर्यवृत्ति और यौन-सम्बन्धों की निजता से उपलब्ध सृजन-दृष्टि बहुत ही मज़ेदार तथ्य प्रस्तुत करती है। काले वर्ण की वजह से काला आदमी आत्म-पराजय की भावना से पीड़ित है परन्तु इतने पर भी यौनाचार द्वारा उसके 'आत्मबोध' की आवश्यकता है। अपने को पहचानना एक ज़रूरी क्रिया ही नहीं है, आदमी के अस्तित्व के लिए भी वह ज़रूरी है। यौन-सम्बन्धों के बारे में भी काले आदमी की विचारणा इस बात यानी अपनी पहचान से जुड़ी हुई है। दूसरे आदमी के साथ सम्भोग का मतलब 'श्वेतवाद' को भोगना है। श्वेतवाद का बिम्ब ही सामाजिक यथार्थ में प्रतिनिधित्व पाने वाली मानवता है। और इस विचारणा का साफ-साफ मतलब है एक काले आदमी को 'गोरी' औरत की चाह। चाहे औरतें गोरी हों या काली परन्तु अपनी चाह की परितृप्ति के लिए इस यौनावेग का लक्ष्य 'गोरी' औरत है। आप इसे बेशक एक परिकल्पना कह सकते हैं किन्तु एक काले आदमी द्वारा 'गोरी' औरत के साथ यौन-सम्बन्धों की चाह सचमुच में, अपने ही तरीके से, गोरी दुनिया से जुड़ना और गोरा बनना है। मनुष्य की चेतना के गठन में यौन-सन्तति-सृजन के अतिरिक्त एक ऐसा मूल्य है जिसके द्वारा वह सौंदर्यात्मिक वृत्ति की प्रतिक्रिया का बोध पाता है। क्योंकि काला आदमी यह सोचता है कि मनुष्यों की दुनिया में उसकी 'ऐसी स्थिति' गोरे आदमी द्वारा निर्मित है अर्थात् जैसा वह है वैसा 'गठन' गोरी व्यवस्था द्वारा बनाया गया है, इसलिए काला आदमी गोरी औरत के गर्भाशय में प्रवेश करने की आकांक्षा लिए हुए है, जिससे वह एक नया समीकरण प्रस्तुत कर सके, श्वेतवाद के साथ मिला-जुला एक वर्ण-समीकरण।

हमारा अमरीकी समाज पूंजीवादी समाज है। यह एक ऐसा समाज है जिसका उद्देश्य मुनाफा कमाना है—वह मुनाफा जो नागरिकों द्वारा खरीदी चीज़ों से मिलता है। उस मुनाफे के लिए वह विज्ञापन द्वारा व्यक्तियों को खरीदार बनाता है। यह क्रिया एक समाज की सामाजिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। इतने ज्यादा उत्पादकों का ग्राहकों को खींचने का यह क्रम, डालर कमाने की कोशिश है जिसमें 'यौन' एक महत्त्वपूर्ण भूमिका 'आकर्षक विज्ञापक' बनने के रूप में अदा करता है। चाहे उत्पादक कुछ भी हो, पुरुष खरीदार को आकर्षित करने के लिए सदैव कोई सुन्दरी 'गोरी औरत' उस विज्ञापन में होगी। फिल्मों, पत्रिकाओं में, हर जगह, गोरी औरत का बिम्ब यौन-सौंदर्य का बिम्ब है। काले आदमी की चेतना में हर दिशा से आया यह बिम्ब अपनी जगह बनाता है। वह इस सौंदर्य-बिम्ब की उपेक्षा नहीं कर सकता, तब तक जब तक वह किसी किस्म के उन्मादी रोग से

ग्रस्त न हो। हालाँकि शताब्दियों तक गोरी औरत द्वारा घेरी सुन्दरता की ज़मीन के बीच अब काली औरत ने भी जगह बनानी शुरू की है, किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं कि काले आदमी के लिए अब भी सब तरह की परितृप्ति, यौन के सौंदर्यपक्ष के सभी कोणों के लिए गोरी औरत ही वह साधन है जिससे वह पूर्ण परितृप्ति प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें भी आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि काला आदमी नये वर्ण-समीकरण के लिए 'गोरी औरत' के साथ सम्भोग की आकांक्षा लिए हुए है। साधारण-सी बात यह है कि जिसे जानना ज़रूरी है कि गोरी औरत सिर्फ गोरे बच्चे को गर्भ में धारण करने वाली औरत नहीं है, बल्कि तर्क-सिद्ध बात यह है कि काला आदमी उस गर्भाशय में प्रवेश कर पुनर्जन्म की चाहना लिए हुए है।

परन्तु सच्चाई यह है कि जो काला आदमी गोरी औरत का सहवास पा भी लेता है, वह ज्यादा स्पष्टता से अपने 'कालेपन' की सच्चाई खोल देता है। हो सकता है यह बात केवल सामान्यीकरण हो। कुछ ऐसे काले लोग भी होंगे जो गोरी औरत के सहवास से पुनर्जन्म की इच्छा पर विजय पा लेते हैं, पर मैं कहना चाहूँगा कि ऐसे लोग बहुत कम हैं। धीरे-धीरे हर वर्ण के बीच से ऐसे लोग कम हो जाएँगे क्योंकि उनका व्यक्तित्व परिवेशगत सामाजिक यथार्थ से हमेशा अलग इकाई के रूप में स्थित होता है।

अधिकांश काले लोगों के लिए गोरी औरत का सहवास और पुनर्जन्म की वह धारणा (जैसा कि प्रतीकात्मक ढंग से मानी जाती है) नामुमकिन है, काले आदमी की यह कुंठा गुस्से में बदल जाती है और इस आत्मपीड़ा का गुस्सा आदमी की अन्तरंग अपहचान का परिणाम बनकर दूसरी दिशाओं में रूप पाता है। वह अपने 'कालेपन' को सब बातों के लिए बाधक ही नहीं दोषी भी पाता है और उस बाधा के सही अपराधी को नहीं पकड़ पाता। वह अपने ही द्वारा निर्मित उन राक्षसों से घिर जाता है जिनसे वह मुक्ति पाना चाहता है। काले आदमी की नियति चिन्ताग्रस्त, असंतुलन-भ्रष्ट चेतना की उपलब्धि है, जिसके लिए वह अभिशप्त है।

आत्मपराजय का भूत दूसरी भूत छायाओं को जन्म देता है। वह पूरी नीग्रो-चेतना पर असर डालता है। 'श्वेत-वाद के साथ सम्भोगरत' कामना में अगर सिर्फ यौनावेग हो तो काले आदमी के लिए अपने उस 'गुस्से' यानी यौन-तृप्ति की क्रिया काली औरत की तरफ मोड़ने में ज्यादा आसानी है। किन्तु वह उस प्रतीकात्मक पुनर्जन्म, अपनी आत्म-पराजय से मुक्ति पाने और अपने कालेपन को यथार्थ की स्वीकृति दिलाने में सहायक नहीं हो सकता।

अमरीकी समाजशास्त्री ग्रिअर और काब्स ने 'ब्लैक रेज' नामक अपनी पुस्तक में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि काले आदमी के गुस्से को शान्त करने का काम काले वर्ण की माँ करती है। माँ का प्रयत्न अपने बच्चे की रक्षा होता है, वह उसे जीवित रहने की शिक्षा देती है, वह गोरी दुनिया की खुशामद और दासता सिखाती है। वह माँ काले आदमी को मनुष्यता के मुताबिक आदमी बने रहने से कम बनकर रहना सिखाती है। इसका लक्ष्य सिर्फ अपने बच्चे को ज़िन्दा रखना होता है। इस बात में किसी तरह का अपमान नहीं है क्योंकि अमेरिका का इतिहास इस बात का गवाह है कि काली दुनिया में (अमरीका के काले लोगों में) माँ के डर का तर्क पूरी तरह प्रविष्ट है।

काले आदमी द्वारा माँ की उपेक्षा अभी अवचेतन में जमी है। वह सोचता है कि माँ भी कहीं-न-कहीं श्वेतवाद को जमाने वाली शक्ति है, वह ऐसी शक्ति है जो उसके कालेपन को उस पर थोपती है। क्योंकि माँ की इस भूमिका से वह धीरे-धीरे परिचित होता है, वह धीरे-धीरे काली औरत को माँ की विशेषताओं से जोड़ देता है। यही कारण है कि आत्म-घृणा को काला आदमी काली औरत के प्रति अपने व्यवहारों में हस्तान्तरित कर देता है।

हमारे समाज में एक किस्म की आत्मीयता का अभाव है। गोरे और काले बच्चों में, इस आत्मीयता से वंचित होने के कारण वह सामाजिक भावना नहीं जागती। वह अपनी ही व्यक्तिगत पर-निर्भरता का शिकार होता है। इन्हीं कारणों से अमरीकी आदमी आत्मीयता और आवेग के मामलों में कच्चा है। वह अपने हितों के विपरीत भी क्रियाशील हो सकता है। काले बच्चों को ज़रूरत अपने 'व्यक्ति' के विकास की है। जब उन्हें विकास के मौके अपने पारिवारिक परिवेश के प्यार और विश्वास से नहीं मिलते तो वे एक तरह से पंगु हो जाते हैं। वे 'आत्मबोध' का सामान्य रूप भी नहीं जानते।...अगर काले बच्चे को परिवेश की अनुकूलता और अपने संरक्षकों का उचित प्यार और मार्ग-निर्देशन मिले तो वे अपनी 'निजता' से परिचित हो सकते हैं। उस वक्त से भी

पहले जब वे अपने और पराये का बोध कर सकें। परन्तु पहले तो बच्चे के संरक्षक ही अपने 'आत्म-बोध' से परिचित नहीं होते, वे अपनी 'निजता' को व्यक्तिगत ढंग से जानने की कोशिशों में लगे होते हैं। बच्चा भी धीरे-धीरे अपने पितृ-स्वभाव का अनुकरण करने लगता है। सामाजिक सच्चाई को जाने बिना संरक्षकों की संकेतात्मक स्वीकृति मिल जाने पर बच्चा भी उसी 'वर्ण-भेद' की क्रूरता से परिचित हो जाता है और अपने बचाव और अस्तित्व के लिए उन्हीं पुराने नुस्खों का अनुकरण आरम्भ कर देता है। बच्चा समाज में अपनी उपस्थिति इन्हीं व्यतीत लक्षणों के रूप में देने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके लिए अपनी 'वर्ण-क्षमताओं' को सीमित मान लेना ही तटस्थ यथार्थ को 'निजता' की चेतना में रूपान्तरित करना बन जाता है। अगर आप काले आदमी से उसकी 'वर्ण-चेतना' का पक्ष निकाल दें तो आप उससे वह तरीका छीन लेते हैं जिससे समाज उसे खुद को स्पष्ट करने की अनुमति देता है।

अमरीका में काला आदमी भयातंक में जीने वाला प्राणी है। वह मनोविभ्रम की अन्तहीन स्थिति में रहता है। मोटे तौर से कहा जा सकता है कि वह उस हर चीज़ से डरता है जो उससे बाहर है तथा उस हर चीज से नफरत करता है जो उसके अन्दर है, जो कालेपन की प्रतीकधर्मी है। निरन्तर भयातंक के बीच रहने से उसकी चेतना भयातंक की चेतना है। बाहरी दुनिया उसके लिए तप है। काले आदमी के जाने के लिए कोई जगह बाकी नहीं, इस पर भी उसका ऐसे सामाजिक यथार्थ के सामने जीना पीड़ादायक है। उसे ऐसे जीना होगा, क्योंकि आदमी को एक समाज से जुड़ा होना होता है, उसका हिस्सा बनकर सामाजिक बनना होता है। इतिहास इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उसे अपने सामाजिक अस्तित्व के सह-अस्तित्व को स्वीकृति देनी होती है। एक बलशाली आदमी के तरीके से उसे अपनी सामाजिक प्रक्रियाओं से उस तटस्थता का प्रदर्शन करना होता है जो आत्म-पराजित व्यक्तित्व बनाती है। उसे गोरे आदमी के बिम्ब से परे उसी सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक चेतना के ढाँचों में अपने को व्यक्त करना होता है। कहना न होगा कि समस्या यही है कि काले आदमी को ऐसी सामाजिक व्यवस्था में अपनी 'निजी चेतना' को दूसरी दिशाओं की तरफ मोड़ना होगा।

काले आदमी की चेतना, एक सच्चे मार्क्सवादी लहजे में—सामाजिक यथार्थ द्वारा निर्धारित है। यह समाज-व्यवस्था, अभी अपनी निर्मिति में है, वर्ण-भेद पैदा करती है तथा गोरे आदमी की कल्पना से एक दीवार खड़ी करती है तथा काले आदमी पर वर्ण-चेतना थोपती है, क्योंकि वह शारीरिक रूप से आदमी की द्वन्द्वात्मक स्थिति का रूप है। कालापन व्यक्तियों पर थोप दिया जाता है। ये वे काले लोग हैं, जो गुलाम थे। ये वे लोग हैं जिनके कोई दावे नहीं हैं, साधारण लोग हैं। आज काले राष्ट्रवाद का जन्म 'नीग्रो-चेतना' के रूप में फैल रहा है जो गोरे आदमी के समाज का विरोधी है। इसीलिए यह नारा फैल रहा है कि 'काला-खूबसूरत' है। और उसे अपने वर्ग की अर्थनीति पर नियन्त्रण करना चाहिए। एक भौतिकवादी समाज में, मार्क्स के मुताबिक नागरिक रहते हैं व उनकी चेतना उस व्यवस्था के भौतिक उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है—लोग अपने-आपको पहचानने की प्रक्रिया में जाग रहे हैं, उनकी मानवीय चेतना उत्पादन के साथ अपनी पहचान भी कर रही है। अमेरिका एक 'उपभोक्ता' देश भी है, जीवन इस व्यवस्था के 'पदार्थ' की स्थिति में शुरू और खत्म होता है। काले लोगों की ज़िन्दगी भी शुरू होती है और खत्म हो जाती है। काले लोगों की चेतना के अनेक पहलू हैं। इस निबन्ध में हमारा लक्ष्य 'चेतना' के उन पहलुओं को छूना रहा है जिनके मनमाने अर्थ लिए गए हैं। तर्कहीनता और विवेकहीनता द्वारा कभी भी तथ्यात्मक सच्चाई का दर्शन नहीं किया जा सकता। काले आदमी देश के मूल प्रवाह से जुड़े हुए हैं किन्तु जितने हैं वे किसी भी तरह पूरे नहीं हैं। मनुष्यता की दुर्दशा के कारण अमेरिका धीरे-धीरे डूब रहा है, आज़ादी और सच्चाई से दूर डूब रहा है, उसका यह डूबना ही काले आदमी की समस्या को जटिल बना रहा है। चाहे काला और गोरा मनुष्य की अपनी परिकल्पनाएँ हैं, यह सच है कि कालेपन से जिस तरह (काले आदमी की चेतना ने) काले आदमी को दास बनाया है, श्वेत भी गोरे आदमी को दास बनायेगा। ये दोनों न केवल समस्याओं बल्कि परिणामों के घेरे में बँधे वर्ग हैं, दोनों में से बिना किसी एक के आज़ाद हुए दूसरा आज़ाद नहीं हो सकता।

अनुवादक : गंगाप्रसाद विमल

पोलिश कवि ज़िवग्निएव की पाँच कविताएँ

अनुवाद : गिरिधर राठी

□ दो बूँद

जब जंगल जल रहे हों तब गुलावों पर रोने की फ़ुरसत
कहां—**स्लोवात्स्की**

जंगलों में आग लगी थी
लेकिन उन्होंने
गुलदस्तों की तरह
अपनी गर्दनें हाथों से लपेट लीं

लोग दौड़ पड़े खंदकों की ओर—
उसने कहा उसकी बीवी के बाल ऐसे हैं
जिनकी गहराइयों में छुपा जा सकता है

एक कम्बल में ढँके हुए
उन्होंने फुसफुसाये बेहया शब्द
प्यार करने वालों का भजन

जब स्थिति बहुत बिगड़ गयी
वे एक-दूसरे की आँखों में कूद गये
और उन्हें ज़ोर से भींच लिया

इतने ज़ोर से कि जब लपटें बरौनियाँ छूने लगीं
तब भी उन्हें अहसास नहीं हुआ

अंत तक वे बहादुर रहे
अंत तक वे वफ़ादार रहे
अंत तक वे एक-जैसे रहे
चेहरे के कगार पर अटकीं
दो बूँदों की तरह

□ चीज़ें

बेजान चीज़े हमेशा ही सही होती हैं और, दुर्भाग्य से, उन पर कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। मैंने कभी भी किसी कुर्सी को पैर बदलते या बिस्तर को पिछली टाँगों पर खड़े होते नहीं देखा । और मेज़ें, जब वे थक जाती हैं तब भी, अपने घुटने मोड़ने की हिमाकत नहीं कर सकतीं । मुझे शक है कि चीज़ें उपदेश देने की नीयत से, हमें अपनी चंचलता पर निरंतर झिड़कने के लिए ऐसा करती हैं ।

□ काठ का पाँसा

काठ के पाँसे का वर्णन सिर्फ़ वाहर से हो सकता है । इसीलिए हम अभिशप्त हैं इसके सार से हमेशा-हमेशा अनभिज्ञ रहने के लिए । यदि तेज़ी से दो टुकड़ों में इसे काट दें, तब भी तुरंत ही इसका अंतस् एक दीवार बन जाता है और बिजली की तेज़ी से एक रहस्य चमड़ी में रूपांतरित हो जाता है ।

इस कारण पत्थर की गेंद, लोहे की छड़, काठ के घन के मनोविज्ञान की नींव रखना, असंभव है ।

□ मुर्ग़ी

मुर्ग़ी इसका सबसे अच्छा दृष्टांत है कि लगातार आदमियों के साथ रहने का फल क्या होता है। वह पक्षियों का फुर्तीलापन और लोच बिलकुल खो चुकी है। उसकी पूँछ उसके उभरे हुए चूतड़ पर ऐसे तनी होती है जैसे फूहड़ रुचि वाला कोई बड़ा-सा टोप। हर्षातिरेक के उसके विरल क्षण, जब वह एक टाँग पर खड़ी हो जाती है और अपनी झिल्लीदार पलकों वाली आँखें मटकाती है, निहायत ही उबकाऊ होते हैं। और तिस पर, एक अकथ्य रूप से हास्यास्पाद चीज—सफ़ेद, धब्बेदार अंडे—पर, गाने की वह पैरोडी, वे गला-फाड़ प्रार्थना-गीत !

मुर्ग़ी कुछेक कवियों की याद दिलाती है।

□ सम्राट्

बहुत पहले की बात है। एक सम्राट् था। उसकी आँखें पीली-पीली और जबड़ा खूँखार था। वह मुसाहिबों और सिपाहियों से भरे एक महल में रहता था। अकेला। रात को वह उठ-बैठता और चीखने लगता। कोई भी उसे प्यार नहीं करता था। उसे सबसे ज्यादा पसन्द था शिकार और आतंक। लेकिन वह बच्चों और फूलों के साथ तसवीरें खिंचाता था। जब वह मरा, तो किसी को भी हिम्मत नहीं हुई कि उसके चित्र हटा दे। देखिये, शायद अभी भी आपके घर उसका मुखौटा पड़ा हो।

सकी
वह
रहता
ीखने
उसे
ेकिन
था।
ीं हुई
भी

मूल्यांकन

ख़त्म नहीं होती हरी दूब

विष्णु खरे

यह हिन्दी कविता का दुर्भाग्य ही रहा है कि इसमें लगातार ढर्रे से अलग लिखते आ रहे कवियों की ऊपरी प्रवृत्तियों को ही ग्रहण कर उन्हें एक सुविधाजनक लेबल लगाकर अलग कर दिया जाता रहा। पिछले कुछ वर्षों में यह साजिश शमशेरबहादुर सिंह के साथ 'कवियों का कवि' विशेषण जोड़कर की गई, और इसके बाद 'हल्के-फुल्केपन' का लेबल लगाकर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता से छुट्टी पाने की कोशिश हुई। इधर एक ऐसा ही सुनियोजित कार्यक्रम मुक्तिबोध को भी साहित्यिक लिम्बो में भेज देने का बनाया जा रहा प्रतीत होता है।

भवानीप्रसाद मिश्र (न केवल अपनी कविता में बल्कि) आयु में भी एक प्रौढ़ कवि हैं और उन्होंने हिन्दी कविता के कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। किन्तु प्रारम्भ से ही उनकी अपनी शैली रही है जिसने बहुत धीरे-धीरे हिन्दी कविता को कहीं-न-कहीं प्रभावित अवश्य किया है। वे सरल शब्दों तथा सरल शिल्प के कवि रहे हैं—यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में शिल्प ढूंढ़ना उतना ही कठिन है जितना बोलचाल की भाषा में—यद्यपि उनमें बोलचाल की भाषा में कोई दोष मौजूद नहीं है। 'अँधेरी कविताएँ'[1] के पूर्वगामी दो संग्रहों में भवानीप्रसाद मिश्र की वही तस्वीर नजर आती थी जो उनके आलोचकों ने उन्हें बख्शी थी और जिसके आदी उनके पाठक हो चुके थे—एक भले आदमी की जो मध्यम मार्ग पर चलता है, जो पाठकों की समझ पर कतई दबाव नहीं डालता, जो रोज़मर्रा की कविताएँ लिखता है, जिसके पास कोई फैशनेबल दर्शन नहीं है और जिसकी पंक्तियाँ काव्य-प्रवृत्ति, आन्दोलन, स्कूल, सत्य अथवा सिद्धांत को उजागर करने के लिए उद्धृत नहीं की जा सकतीं। सहयोगी कवि खुश थे, एक ऐसा भी कवि है जो उनका प्रतियोगी नहीं है, आलोचक उनकी कविताओं को देखकर राहत की साँस लेते थे, और पाठक जिसे 'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ' ठीक-ठीक समझ में आता था, कम-से-कम एक कवि को समझ पाने के गर्व से पुलकित होता था।

१९६८ में उनका दूसरा संग्रह 'चकित है दुःख' प्रकाशित हुआ था जिसने यदि उनकी 'भवानी भाई' वाली इमेज को कमोबेश गहरा ही बनाया था। किन्तु यदि 'हाइ-डसाइट' या सहारा लेने दिया जाय, उस संग्रह की कुछ कविताओं में निस्संदेह कुछ ऐसा था जो उनकी कविताओं में आमतौर पर नहीं पाया जाता था—'कई बार / लगता है / बहुत लम्बी खिंच रही है / जीवन की शाम···चाहता हूँ इसलिए / कि अब न जिए / कुछ भी मेरा / न शरीर / न शरीर से किए हुए काम / मेरा तमाम / डूब जाए अपार लहराते हुए किसी सागर में' (लगता है···चाहता हूँ) 'अभी मैं लगभग एक विदूषक हूँ / किन्तु यह नाटक चुके / तो कौन जाने मेरा मन / हँसने-हँसाने पर न रुके' (इसके बाद) 'पहाड़ के ढलान पर / किसी ने मुझे धक्का दे दिया / और मेरी जिन्दगी ही बदल गई / मेरी टाँग टूट गई / और अब मैं लँगड़ाकर चलने लगा हूँ / अभिव्यक्ति अब / थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी' (अभिव्यक्ति) 'मन में / अँधेरे का / एक धब्बा था / जो / फैलता चला गया / और सब अँधेरा है' (अंधेरे का एक धब्बा) 'जैसे आज / जब शाम को / नक्कारे पर चोट पड़ी / तो न जाने कितनी गहराई में पड़ा हुआ दर्द / जैसे तड़पकर / उठ खड़ा हुआ' (जैसे आज) 'मज़ा आएगा / जब कमज़ोर और अकेला एक आदमी / गायेगा गीत / निराशा का गली-गली में / गूँथकर अँधेरे की कली-कली में / बुझती हुई चिनगारी की किरनें! / और भी मजा आएगा / जब ताकतवर लोग बगलें झाँकेंगे / जब एक अंधेरा खाएगा /

१. 'अँधेरी कविताएँ', भवानीप्रसाद मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

दूसरे सवेरा झाँकेंगे' (समाधि से लौटकर)।

निस्संदेह 'अँधेरी कविताएँ' पढ़ते हुए भवानीप्रसाद मिश्र की वह तस्वीर, जिसके हम अभ्यस्त थे, धुँधली पड़ती है और एक दूसरी ही शख्सियत धीरे-धीरे उसकी जगह लेती है। 'अँधेरी कविताएँ' का कवि जनगणमनरंजन करने वाला विदूषक नहीं है— या कहा जा सकता है कि विदूषक अवश्य है किन्तु चेहरे का बहुरंगा ग्रीन-पेन्ट अब धुल गया है, घंटियों वाली तुर्रेदार टोपी कहीं गिर चुकी है और कानों तक फटी मुस्कराहट के पुछ जाने के बाद बरसों से हँसते-हँसाते चेहरे पर खिंची रेखाएँ अब गहरी दिखाई पड़ रही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि एक अरसे तक एक प्रत्याशित भूमिका निभाने के बाद उसे बदलना एक जान-बूझकर मोल लिया जा रहा जोखिम है, किन्तु वे यह भी बखूबी जानते हैं कि यदि इस समय न बदला गया तो शायद देर हो चुकी होगी—'शब्दों में कहना है / और कहना है अभी / शुरू किए देता हूँ / तमाम जोखिमें ली हैं / एक और जोखिम लेता हूँ।'

प्रश्न उठ सकता है कि कौनसी जोखिम ? आखिर किस तरह की कविताएँ हैं ये जिन्हें लिखना कवि एक जोखिम समझ रहा है ? एक कवि जब उस मुहावरे से हटकर लिखना प्रारंभ करता है जिसके अभ्यस्त उसके पाठक तथा आलोचक हो चुके हैं तो वह उन्हें उलझन में डालता है क्योंकि अब तक जो सुविधा उन्हें उपलब्ध थी वह उनसे छिनी जा रही प्रतीत होती है और वे यह देखकर नाराज़ होते हैं कि कवि 'बिहेव' नहीं कर रहा है। अपने सुरक्षित श्रोतावर्ग को अपनी कविता में हुए किसी मूलभूत परिवर्तन के लिए तत्पर करना एक फ़िफ्टी-फ़िफ्टी जोखिम है। खैर, यदि कवि ओजस्वी है तो वह अपने श्रोतावर्ग से गुस्ताखियाँ कर सकता है और उनकी रुचियों को परिष्कृत-परिवर्तित भी कर सकता है। किन्तु समसामयिक हिन्दी कविता में भवानीप्रसाद मिश्र की पिछली और प्रस्तुत कविताएँ एक और जोखिम उठाती हैं। पिछले कुछ वर्षों के एक साथ समाज, राजनीति तथा नकार का लक्ष्य बनी हुई हिन्दी कविता भवानीप्रसाद मिश्र सरीखे कवियों से दूर ही रही है। शब्दस्फीति, अभिव्यक्ति का आत्महंता अराजकतावाद, नारेबाज़ी, विद्रोहबाज़ी तथा आन्दोलनबाज़ी के इस स्वर्णिम युग में, जहाँ अपने साप्ताहिक में अपने तथा अपनों के प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों को वर्ष के सर्वोत्तम ग्रंथ घोषित करवाना कवियों तथा कवि-आलोचकों का काव्य-धर्म बन गया हो, अपने निजी दुःख की नितान्त ईमानदार कविताएँ बगैर आँखें नटेरे और मुँह पर फेचकुर लाए लिखना एक जोखिम नहीं तो और क्या है। शब्दों के जंगल में, जिसे हिन्दी कविता कहा जाता है, इतनी सरल अभिव्यक्ति एक खतरा ही है—'जो कह सकता हूँ इन दिनों / उसमें न गाने का कुछ है / न मुसकाने का / खाली शामों में / उसे पढ़ा भर जा सकता है / उलझन भरी दृष्टि / उसके बाद गड़ायी जा सकती है / अँधेरापन समेटते हुए / आसमान पर' (शरीर और फसलें, कविता और फूल)।

घोषित रूप से 'अँधेरी कविताएँ' बहुत ही गहरे निथरे हुए दुःख की तथा जीवन के अन्त से साक्षात्कार की कविताएँ हैं, किन्तु भवानीप्रसाद मिश्र ने यह दुःख कुछ इस तरह आत्मसात् किया है कि उसका जो भी अंश कविताओं तक पहुँचता है, वह एक आत्ममुग्ध की रुग्ण चीख नहीं बन पाता, उसमें शिशिर की रात सुदूर बजते हुए किसी अनाम तन्तुवाद्य का संगीत है जो हमारे शरीर पर भय के काँटे नहीं उभारता, एक अकथ उदासी का मौन प्रदान करता है। उसमें कहीं भी घोर निराशा, अतिरंजित भय अथवा मृत्यु-प्रेम नहीं है। इन कठिन क्षणों में भी भवानीप्रसाद मिश्र उस वस्तु को नहीं भूले हैं—जिसने 'मुझे शब्द दिए हैं / और समुन्दर जिससे / लहर लेता है / क्या चीज़ है यह / जिसे छूकर हवा इठलाती है / और पौधा जिसे पाकर फूल देता है / क्या चीज़ है यह / अदम्य और कोमल और कठोर' (बेचारी चेतना)।

दुःख तथा अन्त को स्वीकारती कविताओं की साहित्य में कभी कमी नहीं रही और उनमें से अधिकांश शूरवीरता से परिपूर्ण हैं या छद्म स्वीकारवाद-स्वागतवाद से ? यह शूरवीरता और दर्शन अमावस की रात बस्ती के बाहर संदिग्ध पुल के नीचे से गुज़रने पर बजायी जाने वाली सीटी के बहुत निकट होता है। दुःख का अहसास भवानीप्रसाद मिश्र में भी है किन्तु उसमें न तो दैन्य है न पलायन—एक बहुत साफ़ तथा स्निग्ध स्वीकृति है—'गुलदस्ता / मत रखो मेरे / सिरहाने / एक छोटा फूल / दे दो हाथ में / ज्यादातर तो इसलिए / कि अब बहुत है / एक फूल भी / बल्कि फूल की पंखुरी / और थोड़ा इसलिए / कि बहुत है अब / गुलस्ता मेरे लिए' (गुलदस्ता)। बहादुरी के समीप ये पंक्तियाँ पहुँचती प्रतीत होती हैं—'अवाक् देखने की / देखते रहने की घड़ियाँ / मगर

जब आ गई हैं / तब वह भी बताएँगे करके / लगभग चुप्प गाएँगे / भर देंगे हम शोर से ऊपर सूनापन / दूना मन कर देंगे हम / सिर पर टूटती तकलीफ़ों का / ऐसे / करते ठीक गाने के दिनों का / जैसे गाकर मुक्त कंठ से' (चुप्पी गाएँगे), किन्तु इनके पीछे जो विवशता है तथा विदूषकत्व का पुट है वह इन्हें त्रासद तथा व्यंग्यपूर्ण बनाता है।

भवानीप्रसाद मिश्र की इन कविताओं सरीखी कविताओं में खतरा यह होता है कि कवि जब इन्हें शुद्ध भावनाओं के रूप में सर्वप्रथम अनुभव करता है (और यदि वह एक कमज़ोर कवि तथा कमज़ोर इन्सान होता है तो) वह इनकी करुणा में स्वयं इतना डूब जाता है कि कवि-कर्म के दूसरे तकाज़ों को भूल कच्ची भावुकता को ही कविता के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में हास्यास्पद पतन को प्राप्त होता है। वह सोचता है कि उसे 'विचलित' करने वाले ये भाव निस्सन्देह कविता होंगे ('आह से उपजा होगा गान' इत्यादि) और वह पाठक को भी 'द्रवित' करेंगे। यहीं पर 'द मैन हू सफ़र्स' तथा 'द मैन हू क्रिएट्स' का अन्तर स्पष्ट होता है। कवि, यदि वह वास्तव में कवि है तो, जब अपने 'दुःख' पर कविता लिख रहा होता है तब वह दुःख से उतना ही दूर या पास होता है जितना एक जागरूक कारीगर अपने कच्चे माल के। यह सुख की बात है कि भवानीप्रसाद मिश्र का दुःख 'सन्निपात' अथवा 'समाधि' शैली का नहीं है, यदि उनका व्यक्ति लगातार उसे भोग रहा है तो उनका कवि उसे अभिव्यक्त करने की समस्याओं से निपट रहा है—'पुरानी आदिम/चिनगारी की तरह/फिंकना चाहिए/अर्थ पुराने से पुराने शब्दों में से/नये सन्दर्भों में···सन्दर्भ पुराने हो सकते हैं/नये हो सकते हैं/यह संयोग है/कि मन मेरा/आज एक नया सन्दर्भ है/मगर फिंकना तो चाहिए/पुराने ही शब्दों से/नये इस सन्दर्भ की चिनगारी।'

यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि संग्रह में पचपन कविताएँ हैं और किसी में भी शुद्ध आह्लाद नहीं है, किन्तु दुःख का आभूषणीकरण भी अनुपस्थित है। कवि को मालूम है कि दुःख कोई अभूतपूर्व चीज़ नहीं है और न ही अकेले उन्हीं को यह प्राप्त हुई है। यही अहसास शायद उनकी व्यथा को इतना विरल, व्यक्तिमुक्त तथा काव्य-स्वीकार्य बना सका है—'सोचता हूँ/मगर विस्तार में नहीं जाता मैं/इस सोच के/क्योंकि सचमुच जितना हुआ है/उससे अधिक होता रहा है/जब से हुई है दुनिया/तब से।' गुरु-गम्भीर शब्दों से बचने की आदत भवानीप्रसाद मिश्र को आज की कविता के अधिकांश दोषों से बचा ले गई है, इसलिए मृत्यु को इन सीधे शब्दों में स्वीकारते हुए—'घड़ी राख होने की आए/बुरा इसमें कुछ नहीं है/बुरा यह है/कि मन राख होने से घबराये/मैं खुश हूँ कि वह नहीं हो रहा है।' वे शाब्दिक दार्शनिकता से मुक्त होकर कह सके हैं—'याने अब मैं/न कोई क्षण पाना चाहता हूँ/न खोना/पाने और खोने की प्रक्रिया से/उदासीन हो चुका हूँ मैं/और बचे हुए क्षणों में/अगर वे बचे ही हैं/इतना ही चाहता हूँ/कि कोई पकड़ न पाए/कि यह आदमी/वक्त काट रहा है!'

एक रचनाधर्मी कृती अपनी रचनाओं में ही जीवित रहता है और उन्हीं में मरता है—'अबाध ठीक बात/कही जा सकती है/केवल अबाध ठीक कविता में/वही कहने के लिए/ज़िन्दगी जीता रहा/और वही कहने के लिए/अब चाहता हूँ/नयी एक ज़िन्दगी / नया एक देह। कविताएँ ही कवि का पलायन होती हैं और शक्ति-स्रोत भी। जहाँ कवि कविता में मरता है, वहाँ कविता में ही उसका पुनरारोहण भी होता है—'मगर ये सब/अर्थात् विकल्प ये सारे/सातवाँ मौसम/शरीर का स्वास्थ्य/अथवा नया देह धारण/सम्भव दिखते हैं/केवल कविता में/कविता में सब-कुछ सम्भव है। जीवन की कविता में अदम्य आस्था रखते हुए, दुःखों से जूझते तथा मृत्यु की आँखों में देखते हुए भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि मृत्यु कभी नहीं होती :

> खत्म नहीं होता पेड़ों का हरहराना
> मरकर मैं क्या करूँगा
>
> खाली गुफा के सामने
> मरना होगा तो हरी दूब पर
> मरूँगा हरे झाड़ की छाया के नीचे
>
> डायरी के पन्नों पर तब तक
> सिर्फ़ तारीख नहीं
> रहेगी
>
> कविता की धारा बहेगी
> अभी और कुछ दिनों
> कुछ पहरों कुछ पलों

चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा

विष्णु खरे

यदि कहा जाए कि हिन्दी का प्रत्येक अध्यापक साहित्यकार होता है—वह भले ही 'शाला' पत्रिका स्तर का हो या 'धर्मयुग' स्तर का—तो इसे व्यंग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह एक तथ्य है। मुझे नहीं मालूम कि अमरीका और इंग्लैंड में अंग्रेज़ी के सारे अध्यापक साहित्यकार होते हैं या नहीं (भारतीय अंग्रेज़ी प्राध्यापक तो नहीं होते—जो कि शायद उनकी विवशता ज्यादा है, चुनाव कम) किन्तु देखा यह गया है कि हिन्दी का प्राध्यापक साहित्य लिखने को एम० ए० के आठ लिखित पर्चों के बाद निरन्तर चलने वाला एक नवाँ पर्चा मानता है। सम्भव है कि हिन्दी के आदि-युग में हिन्दी पाठ्यक्रम में अभिवृद्धि करने हेतु तत्कालीन आचार्यों ने इस प्रवृत्ति को न केवल आविष्कृत किया हो बल्कि प्रोत्साहित भी किया हो, किन्तु अब जबकि हिन्दी में साहित्यकार होने के लिए उस भाषा में पढ़ाना तो क्या, उसे ठीक से जानना भी अनिवार्य न रह गया हो, अधिकांश अध्यापकीय साहित्य-सृजन को यदि गैर-ज़रूरी न भी माना जाए तो कम-से-कम उसे एक संयम देने की इच्छा प्रकट करना अनुचित न होगा।

साहित्य-सृजन सरीखे पुनीत कार्य-क्षेत्र से मैं किसी को भी बहिष्कृत नहीं करना चाहता, मैं सिर्फ गलत किस्म के प्राध्यापकों को ही (वे किसी भी भाषा के क्यों न हों) साहित्य-रचना से वंचित देखना चाहता हूँ। सही किस्म की परिभाषा चूंकि कठिन है, अतएव मैं गलत को ही बखानूंगा। गलत किस्म का प्राध्यापक डॉक्टरेट को उन्नति-अस्त्र के रूप में ग्रहण करता है, प्राध्यापकीय पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए दो-एक निहायत पाठ्य-पुस्तकनुमा ग्रंथ रचता है, तत्पश्चात् साहित्य की किसी भी विधा में किसी भी कीमत पर 'अमर' होने के लिए (आवश्यक नहीं कि इसी क्रम में) कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेडियो, टेलीविज़न, फ़ीचर, अनुवाद आदि करता है। इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर वह इन विधाओं की गहराई में जाता है—कविता में 'नयी कविता', 'नवगीत', 'अकविता' एक साथ लिखता है, उपन्यास में 'सामाजिक', 'आंचलिक' तथा 'अस्तित्ववादी' उपन्यास लिखता है और कहानी में एक राकेश-कमलेश्वर-भारती स्कूल, दूसरी निर्मल वर्मा स्कूल, तीसरी श्रीकान्त वर्मा स्कूल तथा चौथी भल्ला-कालिया-बख्शी स्कूल की लिखता है। आलोचक, पहले ही कहा जा चुका है, वह होता ही है। आखिर इतिहास अब बचकर कहाँ जाएगा ?

स्पष्ट है कि इतने वैविध्य के तक़ाज़ों का असर (यदि वे वास्तविक हों तो) रचनाकार के मस्तिष्क के लिए घातक हो सकता है। किन्तु हर्ष का विषय है कि ऐसे हर कलात्मक संकट का एक हल मौजूद होता है। साहित्य के इतिहास में अमर होने के तक़ाज़ों के दबाव में लिख रहा व्यक्ति कपड़ों को आत्मा समझ तुरन्त ध्वनियों, शब्दों तथा मुहावरों की ओर दौड़ता है। हिन्दी कविता के पिछले पाँच-छः वर्षों में ही कवियों, कविताओं और कविता-पत्रिकाओं की जो बाढ़ आई है उसका अर्थ यह कतई नहीं है कि भारत एकाएक काव्यमय देश हो गया है। एक खास तरह का पोज़, एक विशिष्ट शब्द-भण्डार और कविता लिखने की वेगवती इच्छा—कविता का इससे ज्यादा आसान नुस्खा और क्या हो सकता था ? आधुनिक हिन्दी कविता की एक अदृश्य फ्रेज़-बुक तैयार होती चली गई; शब्दों का एक ऐसा कुआँ प्राप्त हो गया कि जिसके हाथ डोर और बाल्टी लगी वह कविताएँ उलीचने लगा। रामदरश मिश्र की कविताओं[1] में, जो तीन खण्डों में विभक्त हैं, यह भरसक कोशिश की गई है कि आज की कविताओं में प्रयुक्त शब्दों से कोई भी छूट न जाए :

'और 'मैं' के नीचे कुचला हुआ 'मैं'/तड़पता रहता है भीड़ में खोए किसी एकान्त के लिए/जिसे वह अपने को दे दे।'

'मैं तड़फड़ाता, अपने को नोंचता/भागता हूँ/तो एक ऊँची दीवार से टकरा जाता हूँ···और लावारिस कुत्ते की तरह/किसी पहिए से कुचलकर मर जाता हूँ'।

'क्रॉस पर टँगी हैं/सत्य, अहिंसा और न्याय की ऋचाएँ··· कुरसियों पर, तख्तों पर/मुरदे बिछे हैं···मुरदों के हाथों में सड़ते/नोटों के कफ़न से ढँके/न्याय की दुर्गन्ध टकराती है··· भगवान खड़ा किया जाता है/और हर बार उसे मार दिया जाता है···रात भर/भगवान अपनी लाशें बटोरता है।'

'हम सब भीड़ में समाज-समाज चिल्लाते हुए घूमते हैं/ और अकेले में/अपने से पूछते हैं—/समाज ?/कहाँ है समाज ?'

इन पंक्तियों में इन शब्दों से, उनके विन्यास से, मुहावरों

१. 'पक गई है धूप', रामदरश मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

से तथा विचारों की परिणति से हिन्दी का पाठक इतना अधिक परिचित हो चुका है कि पूरी कविता में सिर्फ़ पाँच-छः शब्दों पर दृष्टिपात करके ही वह उनका रुझान समझ सकता है। ये समस्त कविताएँ कई कवियों द्वारा पिछले कई वर्षों से कही जा रही चीज़ों से न तो कथ्य में भिन्न हैं और न शैली में। ये निहायत परिचित प्रतिक्रियाओं की निहायत परिचित कविताएँ हैं और किसी क्लिशे-प्रेमी पाठक को भले ही आन्दोलित कर सकें, हिन्दी के उस जागरूक श्रोता-वर्ग को संतुष्ट नहीं कर पाएँगी जो इस अभ्यस्त करतब से ऊब चुका है और कुछ नया देखना-सुनना चाहता है।

संग्रह का दूसरा खंड, स्वयं कवि के शब्दों में, गीतात्मक संवेदनाओं की कविता का है और पहला ही 'गीत' हमें चेतावनी दे देता है कि हम उसमें क्या पाने वाले हैं—

मत जाना मीत कहीं और
आज फागुनी हवाओं में बहके हैं बौर

तीसरे गीत की प्रत्येक पंक्ति एक क्लिशे है और 'अरी री' 'मरी री' वाली अत्यंत हास्यास्पद अनुभूति की एक फूहड़ कविता का निर्माण करती है—

चिटक उठी धूप, प्रिय
टूट गयी सीढ़ी
ताल में गिरी मैं
जल में तिरी मैं
अंग-अंग जल हुआ
रही न कहीं की री !

लोग आधुनिक कविता की दुरूहता की बात करते नहीं अघाते, किन्तु मैं पूछना चाहता हूँ कि 'टूट गयी सीढ़ी' तथा 'रही न कहीं की री' इस 'गीत' को किस तर्क से अर्थ प्रदान करते हैं ? साफ़ है कि यह और इस तरह के समस्त 'गीत' शब्दों के चटखारे लेकर लिखे गए हैं, जिनके पीछे मिठास पैदा करने के नाम पर शक्कर परोसने की वमनोत्तेजक कोशिश है। एक अन्य कविता में इसी तरह की अर्थहीन, घिसी-पिटी गीतात्मकता है—'कैसा-कैसा लगता है आज / जैसे चौरस्ते पर भरा-भरा घड़ा / कोई फोड़ गया हो।' मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि मैं मतिमंद हूँ यदि कोई यह समझाने को राजी हो जाए कि 'कैसा-कैसा लगना' किस तरह 'चौरस्ते पर किसी के घड़ा फोड़ने' से उत्पन्न भावना के समतुल्य है।

गीतात्मकता पैदा करने के सारे फार्मूले (जिन्हें गिनाना निस्सार है) रामदरश मिश्र की कविताओं में मौजूद हैं, किन्तु कदाचित् सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण है शब्दों को जोड़ों में प्रस्तुत करने की छायावादी हरकत। परिणामतः इस संग्रह के गीत 'चलते-चलते', 'पोर-पोर', 'भरी-भरी', 'छोटी-छोटी', 'पीले-पीले', 'कैसा-कैसा', 'भरा-भरा', 'फूली-फूली', 'पीली-पीली', 'कहाँ-कहाँ', 'रात-रात', 'आ-आ', 'लिपट-लिपट', 'अंग-अंग', 'हँसते-हँसते', 'साथ-साथ', 'समा-समा', 'खींच-खींच', 'रिस-रिस', 'तंग-तंग', 'उठ-उठ', 'टकरा-टकरा', 'बुला-बुला', 'दूर-दूर', 'रंग-रंग', 'रह-रह', 'लिख-लिख', 'छन छन', 'बह-बह', 'लौट-लौट', 'उलीच-उलीच', 'जाता-जाता', 'आती-आती', 'फूल-फूल', 'दिशा-दिशा', 'पाँती-पाँती', 'अक्षर-अक्षर', 'कली-कली', 'हवा-हवा', 'फफ्फ-फफ्फ' आदि पर टिके हुए हैं।

संग्रह का तीसरा खंड हिन्दी कविता के नवीनतम स्टंट—लम्बी कविताओं—का है। मुक्तिबोध सरीखे कवि के लिए लम्बी कविता एक अनिवार्यता होती थी, किन्तु 'अँधेरे में' के बॉक्स-ऑफ़िस हिट होते ही हिन्दी कवियों में छिपा हुआ सफलतागामी बम्बइया इस सोने के अंडे देनेवाली बत्तख के पीछे छुरी लेकर दौड़ने लगा, परिणामतः लम्बी कविता की यह विधा दिल्ली में जगह-जगह लगे हुए 'मेरा प्रयोग कीजिए' मार्का कूड़ेदानियों में बदल गई। यदि आपके मस्तिष्क में कुछ ऐसे अनुभव हैं जिन्हें ऑर्गेनाइज़ कर अर्थवान काव्य-सृजन आपके लिए कठिन हो तो नाटक+वियतनाम+सिनेमा + शिश्न+टेलीविज़न+बीजगणित+ पंचांग+जन्मकुंडली+योनि+सन्निपात शैली में सिर्फ़ एक लम्बी कविता लिखना ही पर्याप्त होगा। आज कवि-कर्म इतना आसान इसलिए भी है कि पाठकों को भी कविता के फार्मूले रट गए हैं और पतन, क्रूरता तथा सड़ाँध की एक सतही शब्द-लाघवता उन्हें कविता के बहुत भीतर जाने से रोकती है। चूँकि दौर एक विशेष तरह की प्रगल्भ कविता का है जिसके प्रमुख लक्षण मशीन-युग की भर्त्सना, तथाकथित 'पाश्चात्य' सभ्यता की निन्दा, वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक स्थिति का घृणामय आकलन वगैरह हैं, रामदरश मिश्र की कविताओं में 'सड़क चरमराकर चीख उठती है', 'एक लावारिस लाश पड़ी है / जिसकी अगल-बगल से। सफ़ेद संस्कृति की धाराएँ बह जाती हैं कतराकर', 'टेरेलिन पहने कुछ जवान बाबू', 'मेनहोल में एक बच्चे की लाश', 'पेशेवर धर्मनेता / गीता और रामायण की पंक्तियों को / पान की

पीक की तरह थूकते हुए', 'कोई गांधी उन्हें रोकता है / तो उसे गोली मार दी जाती है', 'मरी हुई मछलियाँ, सड़े अण्डे, छिपकलियाँ, मक्खियाँ', 'चीखती चिमनियाँ / टूटता हुआ आकाश / झोंपड़ियों को निगलती हुई रातें /···दीवारों पर चिपके पोस्टर कलाओं के', 'ईसा, गौतम, गांधी की प्रतिमाओं की छाया' आदि ठसाठस भरे हुए हैं, भले ही इनमें सम्बन्ध केवल कलाबाजियों से ही क्यों न स्थापित किया गया हो।

रामदरश मिश्र की ये लम्बी कविताएँ, उनकी अन्य कविताओं के समान, तथा दूसरे कई कवियों की अधिकांश ऐसी कविताओं के समान, एटीट्यूडिनाइजिंग से विस्फारित एक रूमानी पोज़ से अधिक कुछ भी नहीं हैं। शाब्दिक पराक्रम तथा एक प्रच्छन्न पवित्रता प्रत्येक पंक्ति में मिलेगी —स्वयं के विषय में कवि कुछ भी नहीं कहेगा, किन्तु इन पंक्तियों से परावर्तित हो एक आत्माभिषेकी उजियाला बार-बार उस पर छा जाएगा। ऐसी कविताओं के सृजन के बाद वह अपना रथ पृथ्वी से कुछ ऊपर चलता हुआ अनुभव करता है। इन कविताओं में कहीं भी यथार्थ को स्वीकार्य कविता बनाने की चिन्ता नहीं है, सब-कुछ ज्यों-का-त्यों दे दिया जाता है, फलतः शब्दों के रूमानी घटाटोप से साक्षात्कार होता है—

तुम्हारी बाढ़ों ने
खेतों में फैले पसीने के फूलों को निगला है
बखारों या गोदामों में बन्द राशियों को नहीं
तिजोरियों और बैंकों में बन्द जड़ सिक्कों को नहीं

और एक गन्दा काला नेता
अपने मशक जैसे मोटे पेट में भरी
गन्दी गैस निकालता रहता है
अपने घिनौने बदबूदार जबड़े से
आग धधकती है
तो वह एक खादी का मुखौटा पहन लेता है

संग्रह की दो लम्बी कविताएँ—'गाड़ी जा रही है' तथा 'फिर वही लोग' रामदरश मिश्र के समस्त प्रलोभनों और पराभवों को उजागर करती हैं। पहली कविता भारत-पाकिस्तान युद्ध से प्रेरित है और उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में बमवर्षा के बाद का यह 'मार्मिक' चित्रण है :

एक गाँव अपने हरे-भरे दामन में झुलस गया है
मंदिरों, गिरजाघरों में झुकी प्रार्थनाएँ
मस्जिदों में सोई हुई अजान की ध्वनियाँ
जबह कर दी गई हैं

तत्पश्चात् देश की भौतिक-आध्यात्मिक शक्ति का यह 'अभिभूत' कर देने वाला चित्रण :

हमारी सीमाओं की फ़ौज के पीछे
एक लम्बी फ़ौज खड़ी है—
तरह-तरह के हथियार लिए
गांधी, गौतम, राम और कृष्ण के
भरे-बादल से उठे हुए हाथ

इसके बाद हमारी बहादुर सेना की विजय-प्राप्ति का वर्णन तथा साम्राज्यवादी षड्यन्त्रकारियों के साथ चीन की साठगाँठ होने का निर्मम पर्दाफाश है और अन्त में, चूंकि रूमानी कवि का सर्वाधिक प्रिय स्वप्न कुछ भी न करते हुए जो हो रहा है उसका सक्रियतम अंग बनना होता है, ये पंक्तियाँ अप्रत्याशित नहीं हैं :

हमारी गोलियाँ शत्रु के उन्माद पर टूट रही हैं
अँधेरे की घाटियों से गुज़रती गाड़ी का यात्री मैं
आह, मैं
लगातार गोलियाँ बन छूट रहा हूँ।

'फिर वही लोग' इसी तरह की शाब्दिक वीरता, शाब्दिक भावुकता तथा शाब्दिक निरर्थकता से ओतप्रोत एक दुखदायी कविता है। इसकी पंक्तियों में वही सूचीपत्र-नुमा क्रमबद्ध भारतीय पापाचार, अत्याचार, कथनी-करनी भेद, 'भारत दुर्दशा देखी न जाई' आदि का अम्बार लगा हुआ है जिस पर लिखकर हर हिन्दी कवि अपने उत्तरदायित्व से 'इन्सटैन्ट' मुक्ति प्राप्त कर लेता है, इन तथा ऐसी पंक्तियों में कहीं भी स्वयं के अन्दर दूर तक झाँकने की, विरोधाभासों की सही पकड़ की, समूचे मानव-अस्तित्व की हास्यास्पदता तथा त्रासदी की तथा कवि-कर्म की सार्थक-निरर्थकता के अहसास की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी है। रामदरश मिश्र तथा इन जैसे कवियों का उद्देश्य शब्दों से एक 'प्रभाव' पैदा करना होता है 'अर्थ' नहीं। वे अधिक-से-अधिक शब्दों में अधिक-से-अधिक उपलब्धियाँ चाहते हैं, और शब्दों से अमरत्व चाहते हैं, शब्दों में नहीं। कहना न होगा कि ऐसे प्रत्येक अवसरवादी के हाथों शब्द अपने सारे अर्थ खोकर कबाड़खाना बन जाते हैं।

शेक्सपियर बरक्स बच्चन

विष्णु खरे

हैमलेट के बारे में कुछ भी कहना किसी पिटे हुए जुमले को दुहराना होगा। यह शायद एकमात्र नाटक है जिसने सदियों से मानव-मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, बीसियों विवादों को जन्म दिया है, जिसकी भर्त्सना भी खुलकर हुई ('मोस्ट सर्टेनली एन आर्टिस्टिक फेल्योर'—टी० एस० इलियट) और प्रशंसा में लाखों शब्द लिखे गए हैं। हैमलेट के 'संकट' में प्रत्येक युग के संशयग्रस्त संवेदनशील व्यक्तियों ने अपना 'संकट' पहचाना है और यद्यपि अपने लम्बे स्वगत कथनों से उसकी भूमिका निभाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कष्टकर अवश्य है—चारित्रिक पेचीदगियाँ अलग—पिछले तीन सौ से भी अधिक वर्षों से विश्व के श्रेष्ठतम अभिनेताओं की महत्त्वाकांक्षा हैमलेट का अभिनय कर अमर होने की रही है।

संसार की किसी भी भाषा में हैमलेट का अनुवाद[1] हो यह आश्चर्य का विषय नहीं, अभिनन्दनीय होना चाहिए क्योंकि यह अंग्रेज़ी की नहीं, समूची मानव-जाति को विरासत में मिली एक अद्भुत वस्तु है, उसी तरह जिस तरह महाभारत तथा इलियड हैं। बच्चन हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीतकार ही नहीं, अंग्रेज़ी की डॉक्टरेट लिये हुए हैं और वह भी कैम्ब्रिज से, अतएव एकबारगी तो पाठक यही सोचकर उल्लसित हो सकता है कि यदि यह हिन्दी अनुवाद मणिकांचन संयोग सरीखी अभूतपूर्व वस्तु न होगा तो दिलचस्प और आकर्षक तो होगा ही।

यह अनुवाद मुखपृष्ठ से ही दिलचस्प है। जिल्द से इसका अन्दाज नहीं लग पाता है कि यह शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद है—लगता है बच्चन का कोई नया कविता-संग्रह है जिसका नाम 'हैमलेट' है। हाँ, अन्दर अवश्य शेक्सपियर का नाम है। प्रारम्भ में अमिताभ बच्चन का एक फोटो है जिसमें वे कसियो की भूमिका में दिखाये गए हैं जो समर्पण से स्पष्ट है। 'प्रवेशिका' में शेक्सपियर तथा हैमलेट पर कुछ चर्चा के पहले बच्चन का एक अत्यन्त रोचक संस्मरण भी है कि किस तरह उन्होंने तेजीजी को फुसलाकर यह अनुवाद पूरा किया।

'प्रवेशिका' में अनुवादक ने 'सामान्य' पाठकों के अलावा ऐसे पाठकों की भी कल्पना की है जिन्होंने 'हैमलेट' को अंग्रेज़ी में पढ़ा-समझा होगा और शायद वे इस अनुवाद को मूल से मिलाकर भी देखना चाहेंगे। अब इसे एक संयोग ही कह लीजिए कि इन पंक्तियों के लेखक ने न केवल उसे मूल अंग्रेज़ी में पढ़ा-पढ़ाया भी है (इस बात में जाना बेकार है कि उसे स्वयं कितना समझ आया और दूसरों को क्या पल्ले पड़ा) इसलिए उसने जब इस अनुवाद को उठाया तो हृदय में उत्सुकता अवश्य थी कि देखें हैमलेट के अनुवाद में उपस्थित होने वाली समस्याओं का बच्चन ने किस तरह मुकाबला किया है। किन्तु 'प्रवेशिका' में पृष्ठ १३ पर अनुवादक ने शेक्सपियर के जिस 'दोष' को खोज निकाला है उसकी मौलिकता से मैं चकित रह गया। बच्चन कहते हैं, "अन्तिम दृश्य में हैमलेट की माँ अपने पुत्र को मोटा कहती है (He's fat); हैमलेट के मोटे होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता! बहुत बार अंग्रेज़ी रंगमंच पर भी मैंने दुबला-पतला हैमलेट ही देखा है। कहते हैं, शेक्सपियर के समय में जो अभिनेता हैमलेट की भूमिका अदा किया करता था वह मोटा था, इसीलिए शेक्सपियर ने उसकी माँ के मुख से उसे मोटा कहला दिया। शेक्सपियर ने रंगमंच की सीमाओं का ध्यान रखकर बहुत-से ऐसे काम किए हैं। मैंने उसे 'दुर्बल' कर दिया है। "मुझे नहीं मालूम कि बच्चन ने अनुवाद के लिए कौन-सा संस्करण इस्तेमाल किया है, किन्तु यदि वे जॉन डोवर विल्सन का संपादित हैमलेट सामने रखते तो स्पष्ट हो जाता कि इस 'फ़ैट' का अर्थ 'मोटा' नहीं बल्कि 'स्वीटी' यानी 'पसीना-पसीना' होता है, जिस अर्थ को रानी का अगला वाक्य "Here, Hamlet, take my napkin, rub thy brows" पुष्ट करता है। शेक्सपियर ने इसी अर्थ में इस शब्द को एक अन्य नाटक में भी प्रयुक्त किया है। मैं चाहूँगा कि बच्चन डोवर विल्सन की पुस्तक 'ह्वाट हैपन्स इन हैमलेट' तथा उन्हीं का सम्पादित वह महाविद्यालय-संस्करण देख जाएँ जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र इस्तेमाल करते हैं। मज़े की बात यह है कि हैमलेट के पहले अनुवादक अमृतराय अपने संस्करण में 'फ़ैट' का अनुवाद 'मोटा' कर गए हैं और उनके अनुवाद को तो किसी विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष से प्रमाण-पत्र भी प्राप्त हो चुका है।

१. 'हैमलेट,' अनुवादक : बच्चन, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, पाँच रुपये।

इस प्रारम्भिक सदमे के बाद मेरा शेक्सपियर-श्रद्धालु मन किंचित् सतर्क हुआ और उसने वही करने की सलाह दी जिसकी बच्चन को न्यूनतम आशंका थी—पंक्ति-पंक्ति मिलान —विचित्र बातें सामने आईं। होरेशियो हैमलेट के मृत पिता के विषय में कहता है—

So frowned he once, when in an angry parle
He smote the sledded Polacks on the ice.

जिसका अनुवाद बच्चन ने किया है :

इसी तरह से उनके तेवर तने हुए थे
जब जोशीली बातचीत के बीच उन्होंने
अपना घन-सा भारी फरसा बर्फ़ीली
धरती के ऊपर चला दिया था

प्रश्न उठता है 'किसके साथ जोशीली बातचीत में ?' और धरती के ऊपर फरसा चलाने से क्या फायदा ? मूल में Sledded Polacks को बच्चन न जाने क्यों सम्पादित कर गए।

लेयरटीज़ से राजा कहता है :

'You told us of some suit, what is't Laertes ?'

जिसका अनुवाद

'तुमने किसी काम पर जाने की हमसे कुछ
चर्चा की थी। लायरटीज़, काम वह क्या है ?'

किया गया है जबकि 'सूट' का अर्थ राजा के सम्मुख प्रस्तुत की जाने वाली 'प्रार्थना' या 'दरखास्त' से है।

जब होरेशियो तथा मार्सेल्स हैमलेट को उसके पिता की प्रेतात्मा दिखाई देने की घटना बतलाते हैं तो वह कहता है :

Then saw you not his face.

जिस पर होरेशियो उत्तर देता है :

O yes, my lord, he wore his beaver up.

जिसका अनुवाद होना चाहिए था, 'हाँ, श्रीमन्, उनके चेहरे पर से झिलम उठी हुई थी' अर्थात् चेहरा दीख रहा था, किन्तु बच्चन इससे विपरीत 'झिलम पड़ी थी' अनुवाद करते हैं। उधर अगले संवादों में आँखें, चेहरे का रंग, भाव आदि का वर्णन है।

जब हैमलेट होरेशियो से प्रेतात्मा की दाढ़ी के विषय में पूछता है तो होरेशियो उसके लिए 'A sable silvered' का प्रयोग करता है किन्तु 'काव्यात्मकता' लाने के प्रयास में बच्चन उसका अनुवाद 'जैसे काली रात चाँदनी में लगती है' करते हैं जो हास्यास्पद है। स्पष्ट है कि यदि काली रात है तो चाँदनी न होगी, यह तो यही कहना हुआ 'जैसा दिन रात में लगता है'।

प्रेतात्मा से हैमलेट के साक्षात्कार के दरम्यान प्रेतात्मा उससे कहती है 'Revenge his foul and most unnatural murder' जिसका अनुवाद 'छल से उसकी भद्दी हत्या का बदला ले'—शब्दों के गलत क्रम से अनर्थ पैदा करता है। तीसरे अंक में ओफ़ेलिया के साथ बातचीत में हैमलेट कहता है 'We are all arrant knaves' जिसका अनुवाद बच्चन ने 'हम ग़ज़ब के बुद्धू हैं' किया है, होना चाहिए 'हम पहले दरजे के बदमाश हैं।' इसी अंक में आगे हैमलेट ओफ़ेलिया के पैरों के पास लेट जाता है और वह कहती है 'You are merry, my Lord' जिसमें एक हल्की-सी भर्त्सना भी है किन्तु बच्चन उसे एक प्रश्न-रूप में अनूदित कर गए हैं— 'प्रसन्न तो हैं आप, श्रीमन् ?' इसी संवाद में हैमलेट कहता है 'What should a man do but be merry, for look you how cheerfully my mother looks, and my father died within's two hours' जिसके अन्तिम अंश का अनुवाद बच्चन ने अपनी शेक्सपियर को सुधारने वाली नेकनीयत से 'और मेरे पिता को मरे दो ही महीने अभी हुए हैं' किया है। वे यह पहचानना भूल गए कि शेक्सपियर यह दिखलाना चाहता था कि हैमलेट के हृदय पर वह हत्या अपनी समस्त भयावहता तथा घृण्यता में इस तरह अंकित है जैसे दो घंटे पहले ही हुई हो।

चौथे अंक के तीसरे दृश्य में एक दिलचस्प वाक़या है। हैमलेट इंग्लैंड की ओर प्रस्थान कर रहा है और उसके समक्ष केवल राजा है। दोनों के बीच संवाद इस तरह हैं—

Hamlet : Farewell, dear mother.
King : Thy loving father, Hamlet.
Hamlet : My mother-father and mother is man and wife, man and wife is one flesh, and so my mother.

इन पंक्तियों में हैमलेट के 'एंटिक डिस्पोज़ीशन' से उपजी शरारत है। हैमलेट झुकता है राजा के सामने किन्तु

कहता है 'अच्छा माँ, विदा'। इस पर राजा कुछ भौचक्का-सा होकर उसे ठीक करता है '(मैं तो) तुम्हारा चाहने वाला पिता (हूँ), हैमलेट'। तब हैमलेट व्याख्या करता है '(आप) मेरी मा (हुए क्योंकि—पिता और मा पति-पत्नी होते हैं, और (चूंकि) पति और पत्नी एक ही शरीर (माने गए हैं), इसलिए (आपको) मा (समझकर विदा लेता हूँ)।' बच्चन इस खिलवाड़ को शायद ठीक-ठीक देख नहीं पाए और उनका अनुवाद इस तरह है—

हैमलेट : विदा माँ!

राजा : तुम पिता के कितने आज्ञाकारी बेटे हो, हैमलेट!

हैमलेट : माता का। पिता और माता नर और नारी हैं न? और नारी और नर अर्धनारीश्वर हैं—एक शरीर—इसलिए माता का।

कुछ ऐसी ही गड़बड़ चौथे अंक के पाँचवें दृश्य में है। पिता की मृत्यु के बाद ओफेलिया विक्षिप्त हो चुकी है और जब उसका भाई लेयरटीज़ उसे देखता है तो शोकविह्वल हो कहता है—

"O heavens, is't possible a young maid's wits
Should be as mortal as an old man's life?
Nature is fine in love, and where it is fine,
It sends some precious instance of itself
After the thing it loves."

अन्तिम तीन पंक्तियों का अनुवाद यूं है—

"प्रेम प्रकृति का वरद हस्त है। जो इसके नीचे रहता है
उसके ऊपर वह बहुमूल्य विभव-वैभव की
वर्षा करता।"

आश्चर्य है कि बच्चन पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि उनकी इन अनूदित पंक्तियों का पूर्वगामी पंक्तियों से दूर का भी संबंध नहीं है। सही अनुवाद इस प्रकार होगा—'माता-पिता के प्रति सन्तान का प्रेम अत्यन्त कोमल होता है और वह अपनी बहुमूल्यतम सम्पत्ति (मानसिक संतुलन) का भी बलिदान अपने दिवंगत माता-पिता के प्रति स्नेह-प्रमाण के रूप में कर देता है।'

कब्रिस्तान दृश्य में लेयरटीज़-हैमलेट विवाद के समय रानी कहती है—'For love of God, forbear him' जिसका अनुवाद 'तुम्हीं करो बर्दाश्त, भला भगवान करेगा' हुआ है जबकि होना चाहिए था 'भगवान के लिए, उससे बचो!' इसी तरह मूल में जहाँ भी 'marry' का प्रयोग हुआ है, अनुवाद में बच्चन ने 'मरियम साखी' प्रयुक्त किया है। यद्यपि यह सच है कि 'marry' की उपज 'By Mary' से ही हुई है, किन्तु उसका अर्थ 'Indeed! forsooth!' होता है जो एक विस्मयादिबोधक अव्यय है और शपथ से उसका कोई संबंध नहीं है।

अनुवाद की इन तथा इस तरह की असंगतियों को उपेक्षित शायद किया भी जा सकता था, यदि अनुवादक शेक्सपियर की नाटकीयता, भाषा-गरिमा, रवानी तथा प्रभविष्णुता को अक्षुण्ण रखता। वह स्वयं पहचानता है कि शेक्सपियर की ब्लैंक वर्स एक चमत्कार से कम नहीं है। भाषा का जितना चुस्त, सघन और तनावपूर्ण प्रयोग शेक्सपियर में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, केवल शॉ ही कभी-कभी उसके आसपास पहुँचते प्रतीत होते हैं। गद्य-संवादों को छोड़कर बच्चन ने समूचे अनुवाद में रोला छन्द का प्रयोग किया है और इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रयोग से शेक्सपियर की समस्त गरिमा, औदात्य तथा नाटकीयता की हत्या हुई है। नाटक के वे वाक्य, जो उसे न पढ़े हुए लोगों को भी अपनी अर्थवत्ता की वजह से कण्ठस्थ हैं, रोले के रोलर के नीचे आकर एकदम सपाट हो गए हैं। मार्सेलस का वाक्य 'Something is rotten in the state of Denmark' बच्चन के यहाँ 'निश्चय ही डेनमार्क राज्य में कुछ गड़बड़ है' बनकर अपना सारा हॉरर तथा पूर्वाभास खो बैठा है। 'There are more things in heaven and earth, Horatio than are dreamt of in your philosophy'—'ओ होरेशियो, सुनो हमारे दर्शन की कल्पना जहाँ तक पहुँच सकी है, धरा-गगन में उससे आगे बहुत पड़ा' में अनूदित होता है। शोचनीय छन्द के प्रयोग से कई स्थलों पर बच्चन को वाक्यों के अन्त में 'है' से हाथ धोने पड़े और वे वाक्य जब पढ़ने में इतने विचित्र लगते हैं तब मंच की कल्पना तो त्रासद हो उठती है। प्रेतात्मा का हृदय-विदारक आर्त्तनाद 'O, horrible! O, horrible! most horrible!' 'बड़ी वेदना, बड़ा शोक है, महा शोक है' में परिणत हो उच्छ्वासपूर्ण उत्तरछायावादी भावुकता की गति

को प्राप्त होता है तथा अमर्ष एवं घृणा से संपृक्त 'O villain, villain, smiling, dam'ned villain' 'ओ खल 'खलखल' हँसनेवाले हत्यारे खल' की शब्दक्रीड़ा में पतित हो जाता है।

अनुवाद में नाटकीय दृश्यों को फूहड़ कैसे बनाया जा सकता है, बच्चन का यह अनुवाद इसकी पाठ्य-पुस्तक बन सकता है। फ्रांस से लौटकर आया लेयरटीज़ अपने पिता की हत्या के प्रतिकार का संकल्प ले क़रीब-क़रीब एक विद्रोह का नेतृत्व करता हुआ किले में दाखिल होता है। उसके और राजा के संवाद यूँ हैं—

Laertes...Where is my father ?
King... Dead.
Queen... But not by him.

जिनका अनुवाद बच्चन के छन्द में :

लायरटीज़...पिता कहाँ ?
राजा... मर गए।
रानी... नहीं राजा ने मारा।

हुआ है जिसमें नाटकीयता तो दम तोड़ ही चुकी है, बोनस की तौर पर बेथॉस भी है।

हैमलेट की मृत्यु पर होरेशियो के यह दो वाक्य असीम प्रेम तथा करुणा में डूबे हुए हैं :

"Now cracks a noble heart. Good night,
Sweet prince
And flights of angels sing thee to thy rest."

जिनका अनुवाद आकाशवाणी शैली में इस तरह किया गया है :

"एक महान पुरुष इस दुनिया से जाता है।
प्यारे राजकुमार, उदार, विदा देता हूँ
स्वर्गदूत लोरी गाएँ, तू सुख से सोए।"

विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना सम्भव नहीं है, किन्तु 'हैमलेट' में कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं हैमलेट की सोलिलोकीज़, उसके लम्बे स्वगत-कथन जिसमें उसके हृदय की कशमकश तथा उसके जीवन की त्रासदी उद्घाटित हुई है और एक सजग अनुवादक से यह आशा की जाती थी कि वह उनके पर्याप्त प्रभावशाली अनुवाद देगा, किन्तु बच्चन के अनुवाद इस तरह हैं :

"To be, or not to be, that is the question
Whether 'tis nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing, end them. To die, to sleep—
No more, and by a sleep to say we end
The heart-ache, and the thousand natural shocks
The flesh is heir to; 'tis a consummation
Devoutly to be wished to die to sleep !"

"अब जीना है या मरना है, तय करना है !
शाबासी किसमें है, क़िस्मत के तीरों के
आघातों को भीतर-भीतर सहते जाना,
या संकट के तूफ़ानों से लोहा लेना
औ' विरोध करके समाप्त उनको कर देना,
औ' समाप्त ख़ुद भी हो जाना ?—
मर जाना,—सो जाना,—औ' फिर कभी न जगना !
औ' सोकर मानो यह कहना, सब सिर-दर्दों,
और सैकड़ों मुसीबतों से, जो मानव के
सिर पर टूटा करतीं, हमने छुट्टी पा ली"

"O all you host of heaven ! O earth ! what else ?
And shall I couple hell ? O fie ! Hold, hold, my heart,
And you, my sinews, grow not instant cold,
But bear me stiffly up...Remember thee ?
Ay thou poor ghost whiles memory holds a seat
In this distracted globe."

"ओ, तुम सातों स्वर्ग ! ओ, धरा ! —और किसे मैं
साथ पुकारूँ ? अन्ध नरक को ? छी-छी ! छी-छी !
मेरी छाती पत्थर कर दो; देह शिराओ,
क्षण-भर को भी ढीली मत हो, तनी रहो तुम,
तना मुझे भी रक्खो ! —कैसे तुझे भुला दूँ ?
ओ दुखियारी रूह, याद जब तक न छोड़कर
जाती इस बिगड़े दिमाग को, कैसे भूल
तुझे सकता हूँ।"

अपने काव्य-नाटकों के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए इलियट ने कहीं कहा है कि काव्य-नाटक में सबसे बड़ा खतरा यह है कि हम कहीं 'नाटक' का आनन्द उठाने की बजाय उनकी 'कविता' का रस न लेने लगें। काव्य-नाटकों की 'कविता' उनके 'नाटक' की सेविका होनी चाहिए। शेक्सपियर की कविता इसीलिए सफल है कि वह नाटक को और नाटकीयता और तनाव प्रदान करती है, उनके आड़े नहीं आती। जहाँ से बच्चन के छन्द का प्रयोग प्रारम्भ होता है, वहीं से नाटक का अधःपतन भी शुरू होता है। यदि कभी इस अनुवाद का मंचन हुआ तब बच्चन को भलीभाँति ज्ञात हो जाएगा कि उनकी कविता ही नाटक की असफलता में सर्वाधिक योगदान देगी।

नाटक के तकनीकी पक्ष की ओर भी दृष्टिपात किया जा सकता है। पहले ही संकेत दिया जा चुका है कि बाज़ार में 'हैमलेट' के अच्छे विदेशी संस्करण दुर्लभ नहीं हैं और यदि अनुवाद मंचन की दृष्टि से किया जा रहा था तो अच्छा होता कि मंच-निर्देश आदि का पूरा खयाल रखा जाता। दुर्भाग्यवश कई स्थलों पर मंच-निर्देश नहीं दिए गए हैं और यदि कोई अच्छा मूल संस्करण न देखा जाय तो सामान्य पाठक के मस्तिष्क में भ्रान्तियाँ पैदा हो सकती हैं। यहाँ कोई भी उदाहरण देना सम्भव नहीं है क्योंकि मंच-निर्देशों की अपनी पेचीदगियाँ होती हैं और उनकी तर्क-संगति सिद्ध करने हेतु लम्बे विवरण की आवश्यकता होगी।

कुल मिलाकर बच्चन का अनुवादक-रूप अत्यन्त निराशाजनक है, और यदि कोई अन्य नाटककार होता, या शेक्सपियर का ही कोई दूसरा नाटक होता तो ऐसे प्रदर्शन को उपेक्षित भी किया जा सकता था, किन्तु इस अनुवाद के जरिए विश्व-साहित्य की एक अत्यन्त शक्तिवान रचना से उसका सारा आवेग खींच लिया गया है और उसे एक पालतू तथा शाकाहारी क़िस्म का 'डिरामा' बना दिया गया है। हैमलेट सरीखे नाटक का अनुवाद करने के लिए बौद्धिक तथा कलात्मक संवेदना तथा जीवन-दर्शन की दरकार है वह शायद बच्चन में नहीं है—उनमें हैमलेट की रूमानियत हो सकती है किन्तु हैमलेट का 'सेन्स ऑफ़ हॉरर' तो निस्संदेह नहीं है। फलस्वरूप बच्चन का हैमलेट अनुवाद के लिए अनुवाद होकर रह गया है। शेक्सपियर की त्रासदियों के बुरे अभिनयों को देखकर मुझे ऐसा लगता रहा है कि अन्तिम दृश्य में जो मृत शरीर मंच पर होता है, वह नायक का नहीं, शेक्सपियर का होता है। बच्चन के इस अनुवाद को खत्म करते हुए वह विचित्र-सी बात फिर दिमाग में लगातार आ रही है।

●

उत्कर्ष और पराजय के बीच

विष्णु खरे

हिन्दी कहानी के पाठक अब कहानी की घटनाहीनता तथा स्थितिग्रस्तता के एकदम आदी हो गए हैं; इसीलिए यद्यपि 'स्थितियों' के तक़ाज़े ने हिन्दी कहानी को पिता-पुत्र संघर्ष से लेकर पशु-मैथुन तक की दिलचस्प और रोमांचक विविधता प्रदान की, सामान्य पाठक अब नित नये चमत्कार की एकरसता से कुछ परेशान हो उठे तो आश्चर्य नहीं, भारतीय संदर्भ में कहानीकार को स्थितियों के लिए मोटे तौर पर तीन स्रोत प्राप्त हैं—परिवार, दफ्तर और लड़की। इन तीनों को अलग-अलग या साथ लेकर 'मैं', 'वह' और कभी-कभी तुम का आश्रय लेकर स्थितियों को किसी इस तरह उजागर करने का यत्न किया जाता है कि वे सारगर्भित ढंग से मानव-व्यापारों पर कुछ नया कहें। भारतीय समाज में चूँकि स्थितियों के थीमेटिक वैविध्य की गुंजाइश बहुत कम है—घूम-फिरकर बात एकाध दर्जन थीम्स पर आकर टिक जाती है—इसलिए कहानीकार को अपना शिल्प विशेष रूप से परिमार्जित करना पड़ा है ताकि मिलती-जुलती स्थितियों के परिचित निष्कर्षों पर लिखी गई कहानियाँ कुछ न सही तो शिल्प के स्तर पर ही उसे एक विशिष्ट व्यक्तित्व में, इसलिए कम-से-कम हिन्दी कहानियाँ पढ़ते समय यह बात मुझे सही लगी कि एक स्थिति ऐसी आ गई है जब कहानीकार चाहता है कि पाठक केवल उसकी शैली का ही आनन्द उठाएँ—कथ्य तो पहचाना होता ही है। इसी में कहीं अधिकांश हिन्दी कहानियों का आत्मकथात्मक होने का कारण छिपा हुआ है।

किस्सागोई तथा 'कलात्मक' कहानी के बीच भेद-दृष्टि की जड़ें भी शायद इसी भूमि में हैं। यह भी मान लिया गया कि किस्सागोई-वाली कहानियों से यदि कोई थीम या सत्य

१. संवाद : श्रीकान्त वर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, मूल्य चार रुपये।

उभारता है तो वह अकलात्मक है, किन्तु यदि 'कलात्मक' कहानियों से यदि कोई ऐसी चीज़ उभरती भी नहीं है तो उनका यही गुण उनके 'साहित्यिक' होने का सच्चा लक्षण है। 'कलात्मक' कहानी में अपने बिखराव के लिए 'तनाव', 'डर', 'टूटन' 'निर्वासन' आदि का कभी सच्चा और कभी झूठा आश्रय लेना पड़ा और धीरे-धीरे अपनी-अपनी सचाई में एकदम सही ये शब्द रूढ़ि बनने लगे। सॉफ़ोक्लीज, शेक्सपियर, दास्तोएव्स्की ने ग़लती से उन सदियों में जन्म लिया था जिनमें डस्ट जैकेट का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए वे कभी अपनी थीम्स को नहीं जान सके और अपनी अनभिज्ञता में डूबे हुए लिखते रहे। आज का साहित्यकार ऐसा कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता, ब्लर्ब से लेकर विज्ञापन तक वही लिखता है ताकि उसका महत्त्व कहीं ग़लत न समझ लिया जाए। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि प्रत्येक कहानीकार अपनी कहानी की थीम को पहले ही सोच लेता है—यह शायद ग़लत भी नहीं है—मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने कच्चे माल के महत्त्वपूर्ण होने की संभावना के प्रति वह इतना जागरूक रहता है कि उसकी यह जागरूकता भले ही उसे एक कलात्मकता देती हो, एक सीमा के बाद वह उसे इतना अधिक सुनियोजित, सुचिन्तित बना देती है कि स्थितियों की असलियत पर सन्देह होने लगता है। वह इन स्थितियों में इतना डूबकर लिखता है कि लगता है लिखते हुए ही वह इनके महत्त्वपूर्ण होने का सुख भोग रहा है।

जब यह होने लगता है, और हिन्दी कहानी में इधर यह बहुत चल गया है, तो एक चिन्ताजनक निष्कर्ष यह भी प्राप्त होता है कि तथाकथित ईमानदारी, अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन और टूटन के बाद कहानियों का 'मैं' या 'वह' या कोई और एक उद्धारातीत पीड़ावादी एस्थीट है जो स्थितियों के स्थितियाँ होने का मज़ा ले रहा है और उनकी नुमाइश कर रहा है। इन कहानियों में कहीं भी बहुत बड़ी घृणा, बहुत बड़ा व्यंग्य, बहुत बड़ा पाप, बहुत गहरा अकेलापन, बहुत दूरगामी शत्रुता, बहुत अविचल पूर्वग्रह नहीं पाए जाते, इन सबका आभास देता हुआ, अथवा इनकी अनुपस्थिति या एक रूमानी धुँधलका ज़रूर होता और एक अनिर्वचनीय दर्द इस तरह की कहानी के बाद उभरता है। शायद ऐसी ही परिस्थिति की वजह से हिन्दी कहानी का स्वभाव 'टफ़' नहीं हो पाया है और उसके पास हैमिंग्वे का कोई नक्काल तक नहीं है।

आज की हिन्दी कहानी को पढ़कर स्थितियों की निरर्थक मामूलियत तथा आदमी की मेरुदंडहीनता का आत्मदया-भरा चित्र ही सामने आता है। मैं साहित्य से किसी भी 'कार्य-क्रम' या 'उम्मीद' की माँग नहीं करता, किन्तु श्रीकान्त वर्मा की पहली कहानी का आधार कोई ऐसी अनाम वस्तु है जिसे 'प्रसाद' चाहता है, 'वह' उसे नहीं चाहता। प्रसाद 'उस' का मित्र था, अब अफ़सर है। 'उस' के विरुद्ध दफ़्तर के दूसरे लोग प्रसाद को यह कहकर भड़का रहे हैं कि 'वह' भी उसकी आकांक्षा रखता है। 'वह' प्रसाद को एक होटल में खाने पर निमंत्रित करता है, बातचीत होती है, दोनों ओर से कुछ सफाई पेश की जाती है, दोनों अपनी-अपनी स्थिति से कुछ नीचे आते हैं किन्तु दूसरे दिन दफ्तर में प्रसाद के कमरे में दाखिल होने पर 'उसे' यह लगता है कि प्रसाद उसे अपने सरीखा और अपना आदमी समझ रहा है और 'वह' निश्चय करता है कि इसके बाद प्रसाद के कमरे में अकेला नहीं जाएगा।

वह क्या वस्तु है जिसे एक अफ़सर चाहता है किन्तु अपने मातहत को प्रतियोगी समझ रहा है? यदि 'वह' प्रतियोगी नहीं है तो प्रसाद के बहकाए जाने से इतना चिन्तित क्यों है? क्या इसीलिए कि कॉन्फ़िडेन्शियल रिपोर्ट में खराब रिमार्क आ जाएँगे? और यदि 'वह' प्रसाद का इस दरजे का मातहत है तो प्रसाद को यदि संदेह भी हो, चिन्ता क्यों होनी चाहिए? पूरी कहानी में 'उस' की हरकतें किसी व्यक्ति द्वारा भविष्य में होने वाले काल्पनिक अपराध के लिए अंदेशे की ज़मानत लेने की तरह हैं। मैं यह मानता हूँ कि आमने-सामने बात करना अच्छा होता है, किन्तु अपने बेदाग़ होने के विषय में 'उस' ने प्रसाद से होटल में इतना पैसा तथा ज़मीर खर्च करके कहा, वह शायद एक पढ़ा-लिखा आदमी एक सतर्कतापूर्ण पत्र में ज्यादा फलदायी ढंग से कह सकता था—आखिर दोनों एक-दूसरे को पहले से जानते थे और व्यक्तिगत पत्र तो अफ़सर को भी लिखा जा सकता है। हो सकता है कि मेरे ये सारे प्रश्न 'नाइव' प्रतीत हों किन्तु सही कहानी मैं उसी को मान सकता हूँ जिसके प्रत्येक विकास-चरण की अनिवार्यता में मेरा विश्वास हो। 'संवाद' जितना समाधान नहीं देती उतनी शंकाएँ उठाती है। यह ऐसी कहानी है जिसे एक विश्वसनीय आधार की ज़रूरत है। असामान्य स्थितियों की असामान्यता तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उनके

सामान्य हल समाप्त हो गए हों। यदि ऐसा न हुआ हो, उनकी अभिव्यक्ति में थोड़ा मेलोड्रामा देखा जा सकता है।

'क़ैद', 'लड़की', 'खेल का मैदान' तथा 'बॉस' में भी स्थितियों तथा उनके कलागत एक्सप्लॉइटेशन के बीच यही अन्तर मौजूद है। इसमें सर्वाधिक शैलीग्रस्त कहानी शायद 'क़ैद' है जिसमें एक पार्क में एक व्यक्ति की मखौल-सी उड़ाती उपस्थिति 'मैं' को (इसी क्रम में) खिझाती है, आत्मदया में डुबोती है और उसी व्यक्ति के प्रति करुण बनाती है। इस कहानी का उस रहस्य-पुरुष के विषय में यह वक्तव्य "यह आदमी बड़ा घाघ है। यह इसी तरह लोगों को देखता है, झेंपता है, तौलता है और खुद कठघरे से बाहर खड़ा हुआ, सबकी व्यर्थता पर मुस्कराता है" शायद उसे श्रीकान्त वर्मा की कविताओं के 'दूसरे' व्यक्ति के समीप लाए, किन्तु इस कहानी में यह उपस्थिति इतनी ठोस तथा वास्तविक है कि इसे मोटे तौर पर भी कोई 'प्रतीक' अथवा 'मैं' का ही विस्तार मानना मुश्किल है। कुल मिलाकर यह रचना न तो कहानीहीनता की अतर्क्यता में फ़िट बैठती है और न कहानीपन की शर्तें निबाहती है।

'खेल का मैदान' एक 'लड़के' और 'लड़की' की कहानी है जो घास के मैदान में एक शाम या रात का प्रारम्भिक भाग गुजारते हैं—लम्बी प्रणयकेलि के बाद कहानी का चरण बिन्दु सहसा उपस्थित होता है: "लड़के ने अनुभव किया कि उसके मुंह से प्याज की गंध आ रही है। लड़की के मुंह से निकलकर बदबू जैसे उसके मुंह में समा गई, उसने अपनी गरदन घुमाई और मुंह दूसरी ओर कर लिया···अंधेरे में घूरते हुए उसे लगा कि वह लड़की के शरीर से छिपकली की तरह चिपका हुआ है और लड़की है भी दीवार की तरह चिकनी और ठंडी।" यह अनुभव उसे एकदम विरक्त करता है और वह उठ जाता है किन्तु कुछ दूर जाकर 'एक भय' उसमें समाने लगता है और यह निश्चय कर कि इस बार उस पर चुम्बनों की बौछार कर देगा वह वापस आता है। किन्तु 'लड़की' अब वहां नहीं है। यह किसी भी तरह बहुत बड़े मोह भंग की कहानी नहीं है और इस एकाएक विरक्ति के लिए कोई भी औचित्यपूर्ण पार्श्वभूमि खड़ी नहीं की गई है। कहानी का प्रारम्भिक तीन चौथाई हिस्सा एक पहचानी स्थिति को पहचानी भाषा में व्यक्त करता है और जिस तरह का मोड़ उसे कहानीकार ने दिया है वह किसी भी त्रासद या व्यंग्यपूर्ण अर्थ को जन्म नहीं देता, उसमें पुनः केवल एक मेलोड्रामा के आसार नजर आते हैं। श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियां किसी एक स्टेज पर पहुंचकर प्रच्छन्न आश्चर्य की तरकीब का प्रयोग भी कर लेती हैं किन्तु इससे ओ हेनरी सरीखे बदनाम परिणाम भी नहीं निकलते।

स्पष्ट है कि श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियां सफल नहीं हो सकी हैं। मैं यह नहीं कहता कि जिस तरह की कहानियां वे इन स्थितियों के जरिए लिखना चाहते थे वह लिखी ही नहीं जा सकती थीं। मुझे लगता है कि ऐसी कहानियों में श्रीकान्त अपनी सामग्री तथा अपने कलागत इरादों के बीच सही सन्तुलन तथा तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाए जिससे हुआ यह कि कई बार उन्हें अपने इरादों पर ज्यादा वजन डालना पड़ा और कभी अपनी सामग्री पर। उनके पास शैली भी है और शब्द भी हैं (यद्यपि शैली भी निलिप्तता के बावजूद कहीं-कहीं वे असंयमित हो जाते हैं) किन्तु केवल शैली और शब्दों का 'आनन्द' गलत क़िस्म की कहानियों में ही उठाया जा सकता है और मुझे पूरा विश्वास है कि वे उस तरह की कहानियां लिखने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। शब्दातिरेक की वजह से 'बॉस' बहुत कर्णकटु हो गई है, और 'संकर' अत्यन्त नीरस—जो इस संग्रह की एकमात्र अपठनीय कहानी है।

खुशी इस बात की है कि आजकल जबकि अधिकांश चालू कहानीकारों से एक भी अच्छी कहानी हासिल करना मुश्किल होता जा रहा है, श्रीकान्त वर्मा के इस संग्रह में कम-से-कम चार कहानियां ऐसी हैं जिन्हें पढ़ा जा सकता है, जो दूसरी कहानियों से निर्मित उनकी भ्रामक इमेज को निर्बल करती हैं और जो, इससे भी आगे, वास्तव में मानवीय स्थिति में एक अन्तर्दृष्टि देती हैं। 'घर', 'मिचली', 'अरथी', तथा 'रिपोर्ट' से यह स्पष्ट है कि सही सामग्री पर अपनी शैली की चुस्ती तथा संवादों के स्वाभाविक पैनेपन का इस्तेमाल करके श्रीकान्त औसत हिन्दुस्तानी आदमी की नैतिक कमज़ोरी, संवेदनशील व्यक्ति की त्रासदी, तथा सीधे यथार्थ को किस खूबी से चित्रित कर सकते हैं। 'घर' को कहानी के अलावा एक यथार्थवादी लिरिक तक कहा जा सकता है। 'घर' वहां होता है जहां एक स्त्री और पुरुष होते हों तथा दोनों तरह की भूख शान्त होती हो। उसे 'घर' कहकर कहानीकार जहां 'घर' के हमारे मानसिक चित्र पर व्यंग्य कर रहा है, वहां सम्बन्धों के उस बेलौसपन पर भी ध्यान केन्द्रित कर रहा है

जिससे बचते हुए हम तमाम संभ्रान्त लोग अपने-अपने घरों में परस्पर धोखादेही की छत के नीचे सुरक्षित हैं। 'मिचली' को मैं इसलिए एक महत्त्वपूर्ण कहानी मानता हूँ कि यह हम सब भारतीयों की कहानी है जो बिस्तरों, दफ्तरों या बसों में सब-कुछ बदल देने का संकल्प करते हैं किन्तु मुकाबले के क्षण में अपने सारे गुस्से को उसी तरह सौंपकर चले आते हैं जिस तरह 'वह' "देखिए, मेरी वजह से आपको कोई असुविधा तो नहीं होती?" कहकर चला आता है, यद्यपि 'उस' का जी फिर भी मिचला रहा होता है, इस बार शायद खुद पर ज्यादा। 'अरथी' में हॉरर तथा हास्यास्पदता, आदमी के मौलिक कमीनेपन तथा झूठ के बूमरैन्गनुमा लौटने का खासा चित्रण है। भारतीय स्थितियों पर हल्के-फुल्के ढँग से लिखने के लिए रूथ प्रवेर झाबवाला पश्चिम में काफ़ी प्रसिद्धि अर्जित कर रही हैं, किन्तु उनमें किस चीज़ की कमी है यह श्रीकान्त वर्मा की इन कहानियों को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

'रिपोर्ट' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है और हिन्दी कहानियों में उल्लेख्य भी। शहर में पुलिस एक भीड़ पर गोली चलाती है। अशोक, जो एक रिपोर्टर है और घटनास्थल पर ही था, मानता है कि पुलिस को वास्तव में मजबूर होकर गोली चलानी पड़ी थी—वाक़ई भीड़ ने आगजनी और लूटमार शुरू कर दी थी। लेकिन वह कौन-सी चीज़ है जो इन तथ्यों को झूठा सिद्ध करती है—वह अपने अखबार के लिए चश्मदीद रिपोर्ट क्यों नहीं लिख पाता है?

"प्रकाश ने एक बार फिर अपने को बटोरकर उसका नाम पूछा। उसने पाया कि वह जवाब देने की कोशिश कर रहा है, मगर उसके मुँह से बोल नहीं फूट रहे हैं। उसका बायाँ हाथ उसके पेट पर है, जहाँ से खून बह रहा है और दायाँ हाथ छलनी होकर झूल गया है। उसने अपनी आँखें मूंद ली थीं।"

अबकी बार प्रकाश ने उससे पूछा, "आपको कुछ चाहिए?" प्रकाश ने देखा कि उसने अपनी आँखें खोल ली थीं और उसे देख रहा था। फिर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

प्रकाश के पैर कांप रहे थे। उसने अपनी पैंसिल जेब में रख ली थी। उसका जी घबराने लगा था। फिर उसने देखा कि वह आदमी अपनी इच्छा शक्ति इकट्ठी कर उसकी ओर देखता हुआ कुछ बुदबुदाने लगा था। वह एक ही शब्द कह पा रहा था, "बब्बू"।

"आपका नाम बब्बू है?" प्रकाश ने बेवकूफ़ की तरह सवाल किया। उसे लगा उसके सवाल पर, वह आदमी जो मर रहा था, मुस्करा रहा है।

"बब्बू!" उसने फिर कहा। इस बार उसने अपना हाथ अपने पेट पर से हटा एक अँगुली से इशारा करने की कोशिश की। उसकी आँखों से आँसू लगातार बहने लगे थे।"

प्रकाश अपने डेस्क पर पहुँचकर बार-बार गोली बार की रिपोर्ट लिखने की कोशिश करता है किन्तु अपने लिखे हुए को फाड़कर निकल जाता है। वह समझ नहीं पाता कि तमाम तथ्यों के बावजूद उसकी रिपोर्ट में ऐसा क्या नहीं है जिससे वह अवास्तविक लग रही है।

श्रीकान्त की इस कहानी में मरते हुए व्यक्ति की विसंगत त्रासदी तो है ही, ऐसी समस्त त्रासदियों के गवाह कई प्रकाशों की वह मूक पराजय भी है जिनकी रिपोर्ट तमाम ब्यौरे के बावजूद भी अधूरी लगती है। मुझे लगता है कि इस कहानी में रचना की एक मौलिक समस्या भी उठायी गई है। लेखक, कवि और विचारक से अक्सर कहा जाता है कि वह 'देश की' अथवा 'वर्तमान' स्थिति पर कुछ लिखे। यदि वह इसे स्वीकार भी करता है तो यही पाता है कि सब-कुछ लिख जाने, कह जाने के बाद भी कुछ छूट गया है। इसलिए फिर वह यह काम समाचार सेवाओं पर ही छोड़ देता है। इस कहानी का यह इन्टरप्रिटेशन इसे कई स्तरों पर रोमांचकारी बनाता है।

इन कहानियों में श्रीकान्त वर्मा अपनी सारी शक्ति के साथ उपस्थित हैं क्योंकि इनका संसार उनका ओढ़ा हुआ संसार नहीं है। यह स्थितियाँ उन्होंने अन्तरंगता से पहचानी हैं और उनकी प्रतिभा अपने सुखद वैविध्य में इनमें अभिव्यक्ति पा सकी है। संग्रह की अन्य कहानियों में 'इन्टैलैक्ट' की सायास उपस्थिति उन्हें कहानियाँ बनने से रोकती है। फिलहाल यही कहा जा सकता है कि संग्रह की इन्हीं चार कहानियों से यह आश्वासन प्राप्त होता है कि श्रीकान्त वर्मा की ख्याति संदिग्ध नहीं है। सही कलाकार अपने उत्थान और पतन से बखूबी परिचित होता है और यह तो कोई कह नहीं सकता कि श्रीकान्त वर्मा 'क' तरह की कहानियाँ लिखें और 'ख' तरह की नहीं। हाँ, इतना संकेत अवश्य किया जा सकता है कि वे अपनी प्रतिभा की सही अभिव्यक्ति को पहचानें तथा उसके एवं अपने पाठकों के साथ इतने खतरनाक अनुपात में अन्याय न करें। ●

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

●

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' अपने त्रैमासिक पत्र 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं। —सं०

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्य होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमाम या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी ख़ास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूँगा/दूँगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।



दिनांक.................

हस्ताक्षर.....................

पूरा पता.....................

....

पोस्ट.....................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन.....................

—यहाँ से काटिये—

आगामी अंक में

- 'कविता में विचारशीलता का ह्रास' पर अशोक वाजपेयी का निबन्ध तथा उस पर 'संवाद' जिसमें श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मलयज, कमलेश, प्रयाग शुक्ल, राजीव सक्सेना तथा कुछ अन्य कवि भाग ले रहे हैं।

- **निबंध** : 'बिंब-प्रक्रिया'—रामस्वरूप चतुर्वेदी

  'भाषा और सर्जनात्मकता'—रमेशचन्द्र शाह

  'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति'—यशदेव शल्य

  'एबसर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण'—देवकीनन्दन द्विवेदी

- मेंडेल्स्टाम की कविताओं का कमलेश-कृत अनुवाद।

- **पुस्तक समीक्षा** : तीन अपाहिज (विपिनकुमार अग्रवाल), दो अकालगढ़ (बलवंत सिंह), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय), आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (रमेश कुंतल मेघ) तथा अन्य पुस्तकें।



हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक
आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी

की

लोकप्रिय पुस्तकें अब
नयी सज्जा में उपलब्ध

बाणभट्ट की आत्मकथा

• हिन्दी-साहित्य की भूमिका

हिन्दी साहित्य का परिचय कराने वाली बेजोड़ पुस्तक। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और प्राकृत के साहित्य की चर्चा से परिपुष्ट। वैदिक, जैन, बौद्ध-साहित्यों के परिचय से संयुक्त।

• बाणभट्ट की आत्मकथा

'आत्मकथा' शैली में लिखा गया द्विवेदी जी का यह उपन्यास हिन्दी-साहित्य को एक अविस्मरणीय देन है। श्री हर्षदेव और बाणभट्ट के ग्रन्थ इस कथा के प्रधान उपजीव्य हैं। फिर भी शैली और चिन्तन की मौलिकता ने इस 'कथा' को बेजोड़ बना दिया है।

• कल्पलता

द्विवेदीजी के ये निबन्ध शुष्क नहीं हैं। कल्पलता के निबन्ध विद्वानों और सामान्य पाठकों, दोनों को ही रुचिकर प्रतीत हुए हैं। नया संस्करण।

• कालिदास की लालित्य योजना

कालिदास की लालित्य-योजना में उस महाकवि के सभी ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर आचार्यवर ने कालिदास की साहित्य-गरिमा को उजागर किया है। कालिदास के कृतित्व पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक।

आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का
सम्पूर्ण साहित्य हम से मंगाइये।



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
फैज़ बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

70

